दर्शन-दिग्दर्शन

राहुल सांकृत्यायन

किताब-महल

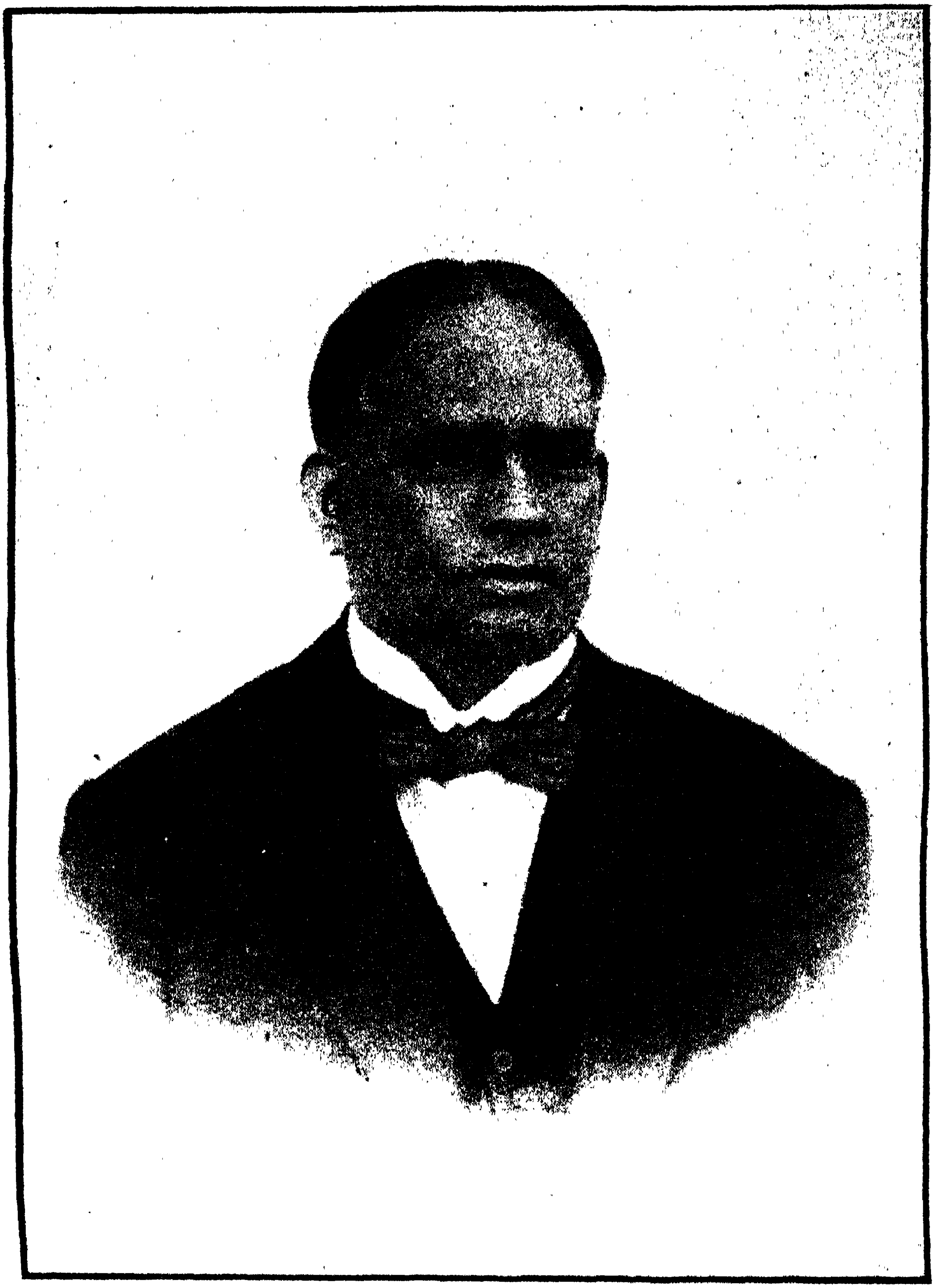
इलाहाबाद

१९४४

प्रकाशक—किताब-महल
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण
मूल्य १२ रु०

मुद्रक—जे० के० शर्मा
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद



डा० काशी प्रसाद जायसवाल

समर्पण

का० प्र० जायसवालकी स्नेह-पूर्ण स्मृतिमें

जिनके शब्द पुस्तक लिखते वक्त

बराबर कानोंमें गूँजते थे, और

जिन्हें सुनानेकी उत्कंठा-

में कितनी ही बार मैं

भूल जाता था, कि

सुनने वाला

चिर-निद्रा-

विलीन

है।

भूमिका

मानवका अस्तित्व पृथ्वीपर यद्यपि लाखों वर्षोंसे है, किन्तु उसके दिमाग की उड़ानका सबसे भव्य-युग ५०००-३००० ई० पू० है, जब कि उसने खेती, नहर, सौर-पंचांग आदि आदि कितने ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा समाजकी कायापलट करनेवाले आविष्कार किए। इस तरहकी मानव-मस्तिष्ककी तीव्रता हम फिर १७६० ई० के बादसे पाते हैं, जब कि आधुनिक आविष्कारोंका सिलसिला शुरू होता है। किन्तु दर्शनका अस्तित्व तो पहिले युगमें था ही नहीं, और दूसरे युगमें वह एक बूढ़ा बुजुर्ग है, जो अपने दिन बिता चुका है; बूढ़ा होनेसे उसकी इज्जत की जाती जरूर है, किन्तु उसकी बातकी ओर लोगोंका ध्यान तभी खिचता है, जब कि वह प्रयोग-आश्रित चिन्तन—साइंस—का पल्ला पकड़ता है। यद्यपि इस बातको सर राधाकृष्णन् जैसे पुराने ढर्रेके "धर्म-प्रचारक' माननेके लिए तैयार नहीं हैं, उनका कहना है—

"प्राचीन भारतमें दर्शन किसी भी दूसरी साइंस या कलाका लग्गू-भग्गू न हो, सदा एक स्वतंत्र स्थान रखता रहा है।"[1] भारतीय दर्शन साइंस या कलाका लग्गू-भग्गू न रहा हो, किन्तु धर्मका लग्गू-भग्गू तो वह सदासे चला आता है, और धर्मकी गुलामीसे बदतर गुलामी और क्या हो सकती है?

३०००-२६०० ई० पू० मानव-जातिके बौद्धिक जीवनके उत्कर्ष नहीं अपकर्षका समय है; इन सदियोंमें मानवने बहुत कम नए आविष्कार किए। पहिलेकी दो सहस्राब्दियोंके कड़े मानसिक श्रमके बाद १०००-७०० ई० पू० में, जान पड़ता है, मानव-मस्तिष्क पूर्ण विश्राम लेना चाहता

---

[1] Indian Philosophy, vol. I., p. 22

था, और इसी स्वप्नावस्थाकी उपज दर्शन है; और इस तरहका प्रारंभ निश्चय ही हमारे दिलमें उसकी इज़्ज़त को बढ़ाता नहीं घटाता है। लेकिन, दर्शनका जो प्रभात है, वही उसका मध्याह्न नहीं है। दर्शनका सुवर्णयुग ७०० ई० पू० से बादकी तीन और चार शताब्दियाँ हैं, इसी वक्त भारतमें उपनिषद्से लेकर बुद्ध तकके, और यूरोपमें थेल्से लेकर अरस्तू तकके दर्शनोंका निर्माण होता है। यह दोनों दर्शन-धाराएँ आपसमें मिलकर विश्वकी सारी दर्शन-धाराओंका उद्गम बनती हैं—सिकन्दरके बाद किस तरह यह दोनों धाराएँ मिलती हैं, और कैसे दोनों धाराओंका प्रतिनिधि नव-अफलातूनी दर्शन आगे प्रगति करता है, इसे पाठक आगे पढ़ेंगे।

दर्शनका यह सुवर्णयुग, यद्यपि प्रथम और अन्तिम आविष्कारयुगोंकी समानता नहीं कर सकता, किन्तु साथ ही यह मानव-मस्तिष्ककी निद्राका समय नहीं था। कहना चाहिए, इस समयका शक्तिशाली दर्शन अलग-थलग नहीं बल्कि एक बहुमुखीन प्रगतिकी उपज है। मानव-समाजकी प्रगतिके बारेमें हम अन्यत्र[१] बतला आए हैं, कि सभी देशोंमें इस प्रगतिके एक साथ होनेका कोई नियम नहीं है। ६०० ई० पू० वह वक्त है, जब कि मिश्र, मसोपोतामिया और सिन्धु-उपत्यकाके पुराने मानव अपनी आसमानी उड़ानके बाद थककर बैठ गए थे; लेकिन इसी वक्त नवागंतुकोंके मिश्रणसे उत्पन्न जातियाँ—हिन्दू और यूनानी—अपनी दिमागी उड़ान शुरू करती हैं। दर्शन-क्षेत्रमें यूनानी ६००-३०० ई० पू० तक आगे बढ़ते रहते हैं, किन्तु हिन्दू ८०० ई० पू०के आसपास थककर बैठ जाते हैं। यूरोपमें ३००ई०पू० में ही अँधेरा छा जाता है; और १६०० ई० में १९ शताब्दियोंके बाद नया प्रकाश (पुनर्जागरण) आने लगता है, यद्यपि इसमें शक नहीं इस लंबे कालकी तीन शताब्दियों—९००-१२०० ई०—में दर्शनकी मशाल बिलकुल बुझती नहीं, बल्कि इस्लामिक दार्शनिकोंके हाथमें वह बड़े जोरसे जलती रहती है, और पीछे उसीसे आधुनिक यूरोप अपने दर्शनके प्रदीपको

---

[१] "मानव-समाज"।

जलानेमें सफल होता है। उधर दर्शनकी भारतीय शाखा ४०० ई० पू०की बादकी चार शताब्दियोंमें राखकी ढेरमें चिंगारी बनी पड़ी रहती है। किन्तु ईसाकी पहिलीसे छठी शताब्दी तक—विशेषकर पिछली तीन शताब्दियोंमें—वह अपना कमाल दिखलाती है। यह वह समय है, जब कि पश्चिममें दर्शनकी अवस्था अब्तर रही है। नवींसे बारहवीं सदी तक भारतीय दर्शन इस्लामिक दर्शनका समकालीन ही नहीं समकक्ष रहता है, किन्तु उसके बाद वह ऐसी चिर-समाधि लेता है, कि आजतक भी उसकी समाधि खुली नहीं है। इस्लामिक दर्शनके अवसानके बाद यूरोपीय दर्शनकी भी यही हालत हुई होती, यदि उसने सोलहवीं सदीमें[१] धर्मसे अपनेको मुक्त न किया होता।—सोलहवीं सदी यूरोपमें स्कोलास्तिक—धर्मपोषक—दर्शनका अन्त करती है, किन्तु भारतमें एकके बाद स्कोलास्तिक दाकतर पैदा होते रहे हैं, और दर्शनकी इस दासताको वह गर्वकी बात समझते हैं। यह उनकी समझमें नहीं आता, कि साइंस और कलाका सहयोगी बननेका मतलब है, जीवित प्रकृति—प्रयोग—का जबर्दस्त आश्रय ग्रहण कर अपनी सृजनशक्तिको बढ़ाना; जो दर्शन उससे आजादी चाहता है, वह बुद्धि, जीवन और खुद आजादीसे भी आजादी चाहता है।

विश्वव्यापी दर्शनकी धाराको देखनेसे मालूम होगा, कि वह राष्ट्रीयकी अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय ज्यादा है। दार्शनिक विचारोंके ग्रहण करनेमें उसने कहीं ज्यादा उदारता दिखलाई, जितना कि धर्मने एक दूसरे देशके धर्मोंको स्वीकार करनेमें। यह कहना गलत होगा, कि दर्शनके विचारोंके पीछे आर्थिक प्रश्नोंका कोई लगाव नहीं था, तो भी धर्मोंकी अपेक्षा वह बहुत कम एक राष्ट्रके स्वार्थको दूसरेपर लादना चाहता रहा; इसीलिए हम जितना गंगा, आमू-दजला और नालंदा-बुखारा-बगदाद-कार्दोवाका स्वतंत्र स्नेह-पूर्ण समागम दर्शनोंमें पाते हैं, उतना साइंसके क्षेत्रसे अलग कहीं नहीं पाते। हमें अफसोस है, समय और साधनके अभावसे हम चीन-जापानकी दार्शनिक

---

[१] देखिए परिशिष्ट "दार्शनिकोंका काल-क्रम"।

धाराको नहीं दे सके; किंतु वैसा होनेपर भी इस निष्कर्षमें तो कोई अन्तर नहीं पड़ता कि दर्शनक्षेत्रमें राष्ट्रीयताकी तान छेड़नेवाला खुद धोखेमें है और दूसरोंको धोखेमें डालना चाहता है।

मैंने यहाँ दर्शनको विस्तृत भूगोलके मानचित्रपर एक पीढ़ीके बाद दूसरी पीढ़ीको सामने रखते हुए देखनेकी कोशिश की है, मैं इसमें कितना सफल हुआ हूँ, इसे कहनेका अधिकारी मैं नहीं हूँ। किन्तु मैं इतना ज़रूर समझता हूँ कि दर्शनके समझनेका यही ठीक तरीका है, और मुझे अफसोस है कि अभी तक किसी भाषामें दर्शनको इस तरह अध्ययन करनेका प्रयत्न नहीं किया गया है।—लेकिन इस तरीकेकी उपेक्षा ज़्यादा समय तक नहीं की जा सकेगी, यह निश्चित है।

पुस्तक लिखनेमें जिन ग्रंथोंसे मुझे सहायता मिली है, उनकी तथा उनके लेखकोंकी नामावली मैंने पुस्तकके अन्तमें दे दी है। उनके ग्रंथोंका मैं जितना ऋणी हूँ, उससे कृतज्ञता-प्रकाशन द्वारा मैं अपनेको उऋण नहीं समझता—और वस्तुतः ऐसे ऋणके उऋण होनेका तो एक ही रास्ता है, कि हिन्दीमें दर्शनपर ऐसी पुस्तकें निकलने लगें, जिससे "दर्शन-दिग्दर्शन"को कोई याद भी न करे। प्रत्येक ग्रंथकारको, मैं समझता हूँ, अपने ग्रंथके प्रति यही भाव रखना चाहिए।—अमरता? बहुत भारी भ्रमके सिवा और कुछ नहीं है।

पुस्तक लिखनेमें पुस्तकों तथा आवश्यक सामग्री सुलभ करनेमें भदन्त आनंद कौसल्यायन और पंडित उदयनारायण तिवारी, एम० ए०, साहित्य-रत्नने सहायता की है, शिष्टाचारके नाते ऐसे आत्मीयोंको भी धन्यवाद देता हूँ।

सेंट्रल जेल, हजारीबाग
२५-३-१९४२

राहुल सांकृत्यायन

दर्शन-दिग्दर्शन

विषय-सूची

१. यूनानी दर्शन

प्रथम अध्याय

२. इस्लामिक दर्शन

द्वितीय अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ठ अध्याय

पूर्वी इस्लामी दार्शनिक (२)

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

पूर्वार्ध

१—यूनानी दर्शन

दर्शन-दिग्दर्शन

प्रथम अध्याय

१—यूनानी दर्शन

यूनान या यवन एक प्रदेशके कारण पड़ा सारे देशका नाम है, जिस तरह कि सिन्धुसे हिन्दुस्तान और पारससे पारस्य (ईरान)। वस्तुतः इवन या यवन उन पुरियों (अथेन्स आदि)का नाम था, जो कि क्षुद्र-एसिया (आधुनिक एसियाई तुर्की) और युरोपके बीचके समुद्रमें पड़ती थीं। इन पुरियोंके नागरिक नाविक-जीवन और व्यापारमें बहुत कुशल थे; और इसके लिये वे दूर-दूर तककी सामुद्रिक और स्थलीय यात्रायें करते रहते थे। ईसापूर्व छठीं-सातवीं शताब्दियोंमें इन यवनी पुरियोंकी यह सरगर्मी ही थी, जिससे बाहरी दुनियाको इनका पता लगा और उन्हींके नामपर सारा देश यवन या यूनान कहा जाने लगा।

यूनान उस वक्त व्यापारके लिये ही नहीं, शिल्प और कलाके लिये भी विख्यात था और उसके दक्ष कारीगरोंके हाथोंकी बनी चीजोंकी बहुत माँग थी। यवन व्यापारी दूसरे देशोंमें जाकर, सिर्फ सौदेका ही परिवर्तन नहीं करते थे, बल्कि विचारोंका भी दान-आदान करते थे, जो कि ईसा-पूर्वकी तीसरी-दूसरी सदियोंके 'कार्ला' आदि गुफाओंमें अंकित उनके बौद्ध मठोंके लिये दिये दानोंसे सिद्ध है। किन्तु यह पीछेकी बात है, जिस समयकी बात हम कह रहे हैं, उस समय मिश्र, बाबुलकी सभ्यतायें बहुत पुरानी और सम्माननीय समझी जाती थीं। यवन सौदागरोंने इन पुरानी

सभ्यताओंसे प्राकृतिक-विज्ञान, ज्योतिष, रेखा-गणित, अंक-गणित, वैद्यककी कितनी ही बातें सीखीं और सीखकर एक अच्छे शिष्यकी भाँति उन्हें आगे भी विकसित किया। इसी विचार-विनिमयका दूसरा परिणाम था यूनानी-दर्शनकी सबसे पुरानी शाखा-युनिक सम्प्रदाय (थेल, अनक्सिमन्दर, अनक्सिमन, आदि) का प्रादुर्भाव।

§१–तत्त्वजिज्ञासु युनिक दार्शनिक (६०० से ४०० ई० पू०)

युनिक दार्शनिकोंकी जिज्ञासाका मुख्य लक्ष्य था उस मूलतत्त्वका पता लगाना, जिससे विश्वकी सारी चीजें बनी हैं। वे सिर्फ कल्पनाके ही आकाशमें उड़नेवाले नहीं थे, बल्कि उनमें, **अनक्सिमन्दरको** हम उस वक्तकी ज्ञात दुनियाका नकशा बनाते देखते हैं, यही नकशा बहुत समय तक व्यापारियोंके लिये पथ-प्रदर्शकका काम देता रहा। इस प्रकार हम देखते हैं, कि ये दार्शनिक व्यवहार या वैज्ञानिक प्रयोगोंसे अपनेको अलग-थलग रखना नहीं चाहते थे।

उपनिषद्के दार्शनिकोंको भी हम इससे एक सदी पहले यह बहस करते पाते हैं कि 'विश्वका मूल उपादान क्या है—जिस एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान होता है।' हमारे यहाँ[1] किसीने अग्निको मूलतत्त्व कहा, किसीने आकाशको, किसीने वायुको, और किसीने आत्मा या ब्रह्मको। युनिक दार्शनिक थेल (६४०-५२५ ई० पू०) का कहना था, कि "पानी ही प्रथम[2] तत्त्व है। अनक्सिमन्दर (६१०-५४५ ई० पू०) का कहना था, कि भूतोंके जिन स्थूल सान्त-रूपको हम देखते हैं, मूलतत्त्वको उनसे अत्यन्त सूक्ष्म होना चाहिए। उसने इसका नाम 'अनन्त' और 'अनिश्चित' रखा। इसी 'अनन्त' और 'अनिश्चित' तत्त्वसे आग, हवा, पानी, मिट्टी—मूलतत्त्व बने हैं। अनक्सिमन (५९०-५२५ ई० पू०) भी पानीको मूलतत्त्व मानता था।

---

[1] **देखो पृष्ठ** ४५२ **(अग्नि)**, ४८० **(वायु)**। [2] **(आप एव अग्र आसन्)**

इन पुराने युनिक दार्शनिकोंमें हम एक खास बात यह देखते हैं, कि वह यह प्रश्न नहीं उठाते, कि इन तत्त्वोंको किसने बनाया! उनका प्रश्न है 'ये कैसे बने?' भारतमें इनके समकालीन **चार्वाक** और **बुद्धको** भी किसी बनानेवाले विधाताके प्रश्नको नहीं छेड़ते देखते हैं। इन युनिक दार्शनिकोंके लिए जीवन महाभूतसे अलग चीज़ न थी, जिसके लिए कि एक पृथक् **चालक** चेतनशक्तिकी ज़रूरत हो। गरजते-बादल, चलती-नदी, लहराता-समुद्र, हिलता-वृक्ष, काँपती-पृथ्वी, उनकी निर्जीवता नहीं, सजीवताको साबित करती हैं। इसीलिए भूतोंसे परे किसी **अन्तर्यामी**को जाननेका सवाल उन्होंने नहीं उठाया।

ये थे युनिक दार्शनिक, जिन्होंने पाश्चात्य दर्शनके विकासमें पहिला प्रयास किया।

§ २—बुद्धिवाद

पिथागोर (५७०-५०० ई० पू०)—युनिक दार्शनिकोंके बाद अगले विकासमें हम विचारकोंको और सूक्ष्म तर्क-वितर्ककी ओर लगे देखते हैं। युनिक दार्शनिक महाभूतोंके किनारे-किनारे आगे बढ़ते हुए मूल-तत्त्वकी खोज कर रहे थे। अब हम पिथागोर जैसे दार्शनिकोंको किनारेसे छलाँग मारकर आगे बढ़ते देखते हैं। पिथागोर भी केवल दार्शनिक न था, वह अपने समयका श्रेष्ठ गणितज्ञ था। कहते हैं, वह भारत आया—या यहाँके विचारोंसे प्रभावित हुआ था और यहींसे उसने पुनर्जन्मका सिद्धान्त (और शायद शारीरक ब्रह्मको भी) लिया था। जो भी हो, उपनिषद्के ऋषियोंकी भाँति वह भी ठोस विश्वको छोड़कर कल्पना-जगत्में उड़ना चाहता था, यह उसके दर्शनसे स्पष्ट है। इस प्रकारके दर्शनको भारतीय परम्परामें **विज्ञानवाद** कहते हैं। पिथागोर मूलतत्त्वको ढूँढ़ते हुए, स्थूल व्यक्तिको छोड़ **आकृति**की ओर दौड़ता है। उसका कहना था, महाभूत मूलतत्त्व नहीं है, न उनके सूक्ष्म रूप ही। मूलतत्त्व—पदार्थ—है आकृति या आकार। वीणाके तारकी लम्बाई और उसके स्वरका खास सम्बन्ध है।

अंगुलीसे दबाकर जितनी लम्बाई या आकारका हम इस्तेमाल करते हैं, उसीके अनुसार स्वर निकलता है। वीणाके तारकी लम्बाईके दृष्टान्तका पिथागोरके दर्शनमें बहुत ज्यादा उपयोग किया गया है। शरीरके स्वास्थ्य-के बारेमें भी उसका कहना था, "वह **आकृति** (लम्बाई, चौड़ाई, मोटाईके खास परिमाण)पर निर्भर है।" इस तरह पिथागोर इस निष्कर्षपर पहुँचा, कि 'मूलतत्त्व आकृति है।' आकृति (लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई) चूँकि संख्या (गिनती)में प्रकट की जा सकती है, इसीलिए महावाक्य प्रसिद्ध हुआ, "सभी चीजें संख्यायें हैं" और इस प्रकार हमारे यहाँके वैयाकरणोंके 'शब्द-ब्रह्म'की भाँति, पिथागोरका 'संख्या-ब्रह्म' प्रसिद्ध हुआ। उस समयके यूनानी संख्या-संकेत भी कई विन्दुओंको खास आकृतिमें रख-कर लिखे जाते थे—यही बात हमारे यहाँकी ब्राह्मी-लिपिकी संख्याओंपर भी लागू थी, जिसमें कि पाइयों की संख्या बढ़ाकर संख्या-संकेत होता था। इससे भी 'संख्या-ब्रह्म'के प्रचारमें पिथागोरके अनुयायियोंको आसानी पड़ी। विन्दु, रेखाओंको बनाते हैं; रेखायें, तलको; और तल, ठोस पदार्थ को; गोया विन्दु या संख्या ही सबकी जड़ है।

युनिक दार्शनिकोंकी विचार-धारा अगली चिन्तन-धाराको गति देकर विलीन हो गई, किंतु पिथागोरकी विचार-धाराने एक दर्शन-सम्प्रदाय चलाया, जो कई शताब्दियों तक चलता रहा और आगे चलकर अफलातूँ—अरस्तूके दर्शनका उज्जीवक हुआ।

१—अद्वैतवाद

ईरानके शहंशाह **कोरोश्** (५५०-५२६ ई० पू०)ने क्षुद्र-एसियाको जीतकर जब युनिक पुरियोंपर भी अधिकार कर लिया, तो उस वक्त कितने ही यूनानी इधर-उधर भाग गये, जिनमें पिथागोरके कुछ अनु-यायी एलिया (दक्षिणी इताली)में जा बसे। पिथागोरकी शिक्षा सिर्फ दार्शनिक ही नहीं थी, बल्कि बुद्ध और बर्द्धमानकी भाँति वह एक धार्मिक सम्प्रदायका संस्थापक था, जिसके अपने मठ और साधक होते थे। किंतु

एलियाके विचारक शुद्ध दार्शनिक पहलूपर ज्यादा जोर देते थे। इनका दर्शन **स्थिरवाद** था, अर्थात् परिवर्तन केवल स्थूल-दृष्टिसे दीखता है, सूक्ष्म-दृष्टिसे देखनेपर हम स्थिर-तत्त्वों, या तत्त्वोंपर ही पहुँचते हैं।

(१) **क्सेनोफेन्** (५७०-४८० ई० पू०)—एलियाके दार्शनिकोंमें क्सेनोफेन्का देवताओंके विरुद्ध यह वाक्य बहुत प्रसिद्ध है—"मर्त्य (मनुष्य) विश्वास करते हैं कि देवता उसी तरह अस्तित्वमें आये जैसे कि हम, और देवताओंके पास भी इंद्रियाँ, वाणी, काया है, किंतु यदि बैलों या घोड़ोंके पास हाथ होते, तो बैल, देवताओंको बैलकी शकलके बनाते; घोड़े, घोड़ेकी तरह बनाते। इथोपिया (अबीसीनिया) वाले अपने देवताओंको काले और चिपटी नाकवाले बनाते हैं और थ्रेसवाले अपने देवताओंको रक्तकेश, नील-नेत्र वाले।" क्सेनोफेन् ईश्वरको साकार, मनुष्य जैसा माननेके बिल्कुल विरुद्ध था, तथा बहुदेववादको भी नहीं चाहता था, वह मानता था, कि "एक महान् ईश्वर है, जो काया और चिन्तन दोनोंमें मर्त्य जैसा नहीं है।" वह उपनिषद्के ऋषियोंकी भाँति कहता था—"सब एकमें है और एक ईश्वर है।" इस वाक्यके प्रथम भागमें एकेश्वरवाद आया है और दूसरेमें ब्रह्म-अद्वैत। वह अपने ब्रह्म-वादके बारेमें स्पष्ट कहता है—"ईश्वर जगत् है, वह शुद्ध (केवल) आत्मा नहीं है, बल्कि सारी प्राणयुक्ति प्रकृति (वही) है।" अर्थात् वह रामानुजसे भी ज्यादा स्पष्ट शब्दोंमें ईश्वर और जगत्की अभिन्नताको मानता था, साथ ही शंकरकी भाँति प्रकृतिसे इन्कार नहीं करता था।

(२) **परमेनिद्** (५४०-४८० ई० पू०)—एलियाके दार्शनिकोंमें दूसरा प्रसिद्ध पुरुष परमेनिद् हुआ। 'न सत्से असत् हो सकता है और न असत्से सत्की उत्पत्ति कभी हो सकती'; गोया इसी वाक्यकी प्रति-ध्वनि हमें वैशेषिक[१] और भगवद्गीता[२]में मिलती है। इस तरह वह इस परिणामपर पहुँचा, कि जगत् एक, अ-कृत, अ-विनाशी, सत्य वस्तु है।

---

[१] **"नासदः सदुत्पत्तिः"।** [२] **"नासतो विद्यते भावः"** (गीता ३।१६)

गति या दूसरे जो परिवर्तन हमें जगत्में दिखलाई देते हैं, वह भ्रम हैं।

(३) ज़ेनो (४६०-३० ई० पू०)—एलियाका एक राजनीतिज्ञ दार्शनिक था। सभी एलियातिक दार्शनिकोंकी भाँति वह स्थिर अद्वैत-वादी था। बहसमें वाद, प्रतिवाद, संवाद या द्वन्द्ववादका प्रयोग पहिले-पहिल ज़ेनोहीने किया था (यद्यपि उसका वैसा करना स्थिरवादकी सिद्धिके लिये था, क्षणिक-वादके लिये नहीं), इसलिए ज़ेनोको द्वन्द्ववादका पिता कहते हैं।

सारे एलियातिक दार्शनिक, इन्द्रिय-प्रत्यक्षको वास्तविक ज्ञानका साधक नहीं मानते थे, उनका कहना था कि सत्यका साक्षात्कार चिन्तन—विज्ञान-से होता है, इंद्रियाँ केवल भ्रम उत्पादन करती हैं। वास्तविकता एक अद्वैत है, जिसका साक्षात्कार इन्द्रियों द्वारा नहीं, चिन्तन-द्वारा ही किया जा सकता है।

एलियातिकोंका दर्शन स्थिर-विज्ञान-अद्वैतवाद है।

२—द्वैतवाद

अद्वैतवादी एलियातिक चाहे स्वतः इस परिणामपर पहुँचे हों, अथवा बाहरी (भारतीय) रहस्यवादी प्रभावके कारण; किन्तु अपनेसे पहिलेवाले 'थेल' आदि दार्शनिकोंकी स्वदेशी धारासे वह बहुत भिन्नता रखते थे, इसमें संदेह नहीं। इन अद्वैतवादियोंके विरुद्ध एक दूसरी भी विचारधारा थी, जो स्थिरवादी होते हुए भी परिवर्तनकी व्याख्या अपने द्वैतवादसे करती थी—अर्थात् मूलतत्त्व, अनेक, स्थिर, नित्य हैं, किन्तु उनमें संयोग-वियोग होता रहता है, जिसके कारण हमें परिवर्तन दिखलाई पड़ता है।

(१) हेराक्लितु (५३५-४७५ ई० पू०)—हेराक्लितुका वही समय है, जो कि गौतम बुद्धका। हेराक्लितु भी बुद्धकी भाँति ही परिवर्तनवाद, क्षणिक-वादको मानता था। हेराक्लितुके ख्यालके अनुसार जगत्की सृष्टि और प्रलयके युग होते हैं। हर बार सृष्टि बनकर अन्तमें आग द्वारा उसका नाश होता है। भारतीय परम्परामें भी जल और अग्नि-प्रलयका

ज़िक्र आता है। यद्यपि उपनिषद् और उससे पहिलेके साहित्यमें उसका नाम नहीं है। बुद्धके उपदेशोंमें इसका कुछ इशारा मिलता है और पीछे वसुबन्धु आदि तो 'अग्नि-संवर्त्तनी'[१]का बहुत ज़ोरसे ज़िक्र करते हैं।

युनिक दार्शनिकोंकी भाँति ही हेराक्लितु भी एक अंतिम तत्त्व अग्निकी बात करता है; लेकिन उसका जोर परिवर्तन या परिणामवाद-पर बहुत ज़्यादा है। दुनिया निरन्तर बदल रही है, हर एक 'चीज़' दीप-शिखाकी भाँति हर वक्त नष्ट, और उत्पन्न हो रही है। चीजोंमें किसी तरहकी वास्तविक स्थिरता नहीं। स्थिरता केवल भ्रम है, जो परिवर्तनकी शीघ्रता तथा सदृश-उत्पत्ति (उत्पन्न होनेवाली चीज़ अपने से पहिलेके समान होती है)के कारण होता है। परिवर्तन विश्वका जीवन है। इस प्रकार हेराक्लितु एलियानिकोंसे बिलकुल उलटा मत रखता था। वह अद्वैती नहीं, द्वैती; स्थिरवादी नहीं, परिवर्तनवादी था।

हेराक्लितुका जन्म एफेसु[२]के एक रईस घरानेमें हुआ था, लेकिन वह समय ऐसा था, जब कि पुराने रईसोंकी प्रभुताको हटाकर, यूनानी व्यापारी वहाँके शासक बन चुके थे। हेराक्लितुके मनमें "ते हि नो दिवसा गताः"[३] की आग लगी हुई थी और वह इस स्थितिको सहन नहीं कर सकता था और समयके परिवर्तनकी जबर्दस्त हवाने उसे एक जबरदस्त परिवर्तन-वादी दार्शनिक बना दिया। शायद, यदि रईसोंका राज्य होता, तो हेराक्लितु परिवर्तनके सत्यको देख भी न पाता। हेराक्लितुने एक क्रान्ति-कारी दर्शनकी सृष्टि की, किन्तु व्यवहारमें उसकी क्रान्ति, व्यापारियोंके राज्यको उलटना भर चाहती थी। वह आजीवन रईसमिज़ाज रहा और जनतंत्रताको अत्यन्त घृणाकी दृष्टिसे देखता था, आखिर इसी जनतंत्रताने तो उसके अपने वर्गको सिंहासनसे खींचकर धूलिमें ला पटका था।

---

[१] **अभिधर्म-कोश (वसुबंधु)।** [२] Ephesus. [३] **हाय! वे हमारे दिन चले गये।**

हेराक्लितुके लेखोंके बहुत थोड़ेसे अंश मिले हैं। जगत्के निरन्तर परिवर्तनशील होनेके बारेमें वह उदाहरण देता है—"तुम उसी नदी में दो बार नहीं उतर सकते; क्योंकि दूसरे, और फिर दूसरे पानी वहाँ से सदा बह रहे हैं। जगत्की सृष्टि उसका नाश (=प्रलय) है, उसका नाश उसकी सृष्टि है। कोई चीज़ नहीं है, जिसके पास स्थायी गुण हों। संगीतका समन्वय निम्न और उच्च स्वरोंका समागम—**विरोधियोंका समागम**[१] है।"

जगत् चल रहा है, संघर्षसे; "युद्ध सबका पिता और सबका राजा है—उसके बिना जगत् खतम हो जायेगा, गति-शून्य हो मर जायेगा।"

अनित्यता या परिवर्तनके अटल नियमपर जोर देते हुए हेराक्लितु कहता है—"यह एक ऐसा नियम है, जिसे न देवताओंने बनाया, न मनुष्योंने; वह सदासे रहा है और रहेगा—एक सदा जीवित अग्नि (बनकर) निश्चित मानके अनुसार प्रदीप्त होता, और निश्चित मान के अनुसार बुझता।" **निश्चित मान** (मात्रा) या नापपर हेराक्लितुका वैसे ही बहुत जोर था, जैसा कि उसके सामयिक बुद्धका।

हेराक्लितु अनजाने ही दुनियाके ज़बर्दस्त क्रान्तिकारी दर्शन—द्वन्द्वात्मक (क्षणिक–) भौतिकवाद (मार्क्सवादीय दर्शन)का विधाता बना। बुद्ध-दर्शनका भी वही लक्ष्य था, किंतु मजहबी भूल-भुलैयोंमें वह इतना उलझ गया कि आगे विकसित न हो सका। हेगेल्ने उसे अपने दर्शनका आधार बनाकर एक सांगोपांग गंभीर आधुनिक दर्शनका रूप दिया।

हेराक्लितुके लिए मन और भौतिक तत्त्वमें किसी एकको प्रधानता देनेकी जरूरत न थी। हेगेल्ने मनको प्रधानता दी—भौतिक तत्त्व नहीं, मन या विज्ञान असली तत्त्व—परिवर्तित होते हुए भी—है, और इस प्रकार वह जगत्से मनकी ओर न जाकर मनसे जगत्की ओर बढ़नेका प्रयास करते हुए द्वन्द्वात्मकवादको विज्ञानवाद ही बना शीर्षासन करा

---

[१] Unity of opposites.

रहा था। मार्क्सने उसे इस सासतसे बचाया, और दोनों पैरोंके बल, ठोस पृथ्वीपर ला रखा—भौतिकतत्त्व, 'आसमानी' विज्ञान (मन)के विकास नहीं हैं, बल्कि विज्ञान ही भौतिक-तत्त्वोंका चरम-विकास है, ऊपरसे नीचे आनेकी ज़रूरत नहीं; बल्कि नीचेसे ऊपर जानेमें बात ज्यादा दुरुस्त उतरती है।

(२) **अनक्सागोर्** (५००-४२८ ई० पू०) अनक्सागोर्ने द्वैतवाद-का और विकास किया। उसने कहा कि हेराक्लितुकी भाँति, आग जैसे किसी एक तत्त्वको मूलतत्त्व या **प्रधान** माननेकी ज़रूरत नहीं। ये **बीज** (मूल कारण) अनेक प्रकारके हो सकते हैं और उनके मिलनेसे ही सारी चीजें बनती हैं।

(३) **एम्पेदोकल्** (४८३-३० ई० पू०) अनक्सागोर्के समकालीन एम्पेदोकल्ने मूल-तत्त्वोंकी संख्या अनिश्चित नहीं रखनी चाही, और युनिक दार्शनिकोंकी शिक्षासे फायदा उठाकर अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी—ये चार "बीज" निश्चित कर दिये। यही चारों तरहके बीज एक दूसरेके संयोग और वियोगसे विश्व और उसकी सभी चीज़ोंको बनाते और बिगाड़ते रहते हैं। संयोग, वियोग कैसे संभव है; इसके लिये एम्पे-दोकल्ने एक और कल्पना की—"जैसे शरीरमें राग, द्वेष मिलने और हटनेके कारण होते हैं, उसी तरह इन बीजोंमें राग और द्वेष मौजूद हैं।" एम्पेदोकल्की ख्याली उड़ानने इस सिलसिलेमें और आगे बढ़कर कहा कि—"मूल बीज ही नहीं खुद शरीरके अंग भी पहिले अलग-अलग थे, और फिर एक दूसरेसे मिलकर एक शरीर बन गए।" उसने यह भी कहा कि—"भिन्न-भिन्न अंगोंसे मिलकर जितने प्रकार के शरीर बनते हैं, उनमें सबसे योग्यतम ही बच रहते हैं, बाकी नष्ट हो जाते हैं—" ये विचार **सेल** और **विकास**के सिद्धान्तोंकी पूर्व झलक हैं।

(४) **देमोक्रितु** (४६०-३७० ई० पू०)—देमोक्रितु यूनानी द्वैतवादी दार्शनिकोंमें ही प्रधान स्थान नहीं रखता, बल्कि अपने **परमाणुवाद**के कारण, पौरस्त्य पाश्चात्य दोनों दर्शनोंमें उसका बहुत ऊँचा स्थान है। भारतीय दर्शन में परमाणुवादका प्रवेश यूनानियोंके संपर्कसे ही हुआ,

इसमें संदेहकी गुंजाइश नहीं; जब कि उपनिषद् और उससे पहिलेके ही साहित्यमें नहीं, बल्कि जैन और बौद्ध **पिटकोंमें** भी हम उसका पता नहीं पाते। वैशेषिकदर्शन यूनानी दर्शनका भारतीय संस्करण है। क्या जाने अथेन्सका पुर-चिह्न उल्लू ही, वैशेषिकके 'औलूक्य-दर्शन' नाम पड़नेका कारण हुआ हो। इसपर आगे हम और कहेंगे। २०० ई० पू० के आस-पास जब वैशेषिकने परमाणुवादको अपनाकर भारतीय-दर्शन-क्षेत्र-में अपनी धाक जमानी चाही; तो उसके बाद किसी भी दर्शनको उसके बिना रहना मुश्किल हो गया। मध्यकालके सभी भारतीय बुद्धिवादी-दार्शनिक—न्याय, वैशेषिक, बौद्ध और जैन—परमाणुको निजी व्याख्याके साथ अपना अंग बनाते हैं। परमाणुवादको दर्शनमें ऊँचा स्थान यद्यपि देमोक्रितु[१]की लेखनीने दिलाया, किन्तु सबसे पहिले उसका ख्याल उसके गुरु लेउकिप्पू[२] (५००-४३० ई० पू०)को आया था। देमोक्रितुका जन्म ४६० ई० पू० में (बुद्धके निर्वाणके २३ साल बाद) थ्रेसके समुद्रीतट-पर स्थित अब्देराके व्यापारी नगरमें हुआ था।

परमाणुवादी देमोक्रितु एलियातिकोंसे द्वैतवादमें भेद रखता है, किन्तु वह चरम-परिवर्तनको नहीं मानता। वास्तविकता, नित्य, ध्रुव, अपरि-वर्तनशील है। साथ ही परिवर्तन भी जो दीख रहा है, वह वस्तुओंके निरंतर गतिके कारण होता है। हाँ वास्तविक तत्त्व एक अद्वैत नहीं, बल्कि अनेक—द्वैत हैं और ये मूलतत्त्व एक दूसरेसे अलग-अलग हैं, जिनके बीचकी जगह खाली—आकाश है। मूलतत्त्व अ-तो मो न् अ-छेद्य, अ-वेध्य हैं—अ-तोमोन्से ही अंग्रेजी एटम् (=परमाणु) शब्द निकला है।

परमाणु—परमाणु अतिसूक्ष्म अविभाज्य तत्त्व है, किन्तु वह रेखा-गणितका बिन्दु या शक्ति-केन्द्र नहीं है, बल्कि उसमें परिमाण या विस्तार है; गणित द्वारा अविभाज्य नहीं, बल्कि कायिक तौरसे अविभाज्य है; अर्थात् परमाणुके भीतर आकाश नहीं है। सभी परमाणु एक आकार

---

[१] Democritus. [२] Leucippus.

परिमाण—अर्थात् एक लंबाई, चौड़ाई, मुटाई—के नहीं होते। परमाणुओंसे बने पिंडोंके आकारोंमें भेद है। परमाणुओंके आकार उनके स्थान और **क्रम**के कारण हैं। परमाणु-जगत्की आरम्भिक इकाइयाँ, ईंटें या अक्षर हैं। जैसे २, ३ का भेद **आकार**में है; ३, ६ का भेद **स्थिति**के कारण है—अगर ३का मुँह दूसरी ओर फेर दें तो वही ६ हो जायगा; ३६, ६३ का अंतर अंकके क्रम-भेदके कारण है। परमाणु गतिशून्य तत्त्व नहीं है, बल्कि उनमें स्वाभाविक गति होती है। परमाणु निरन्तर हरकत करते रहते हैं। इस तरह हरकत करते रहनेसे उनका दूसरोंके साथ संयोग होता है और इस तरह जगत् और उसके सारे पिंड बनते हैं। किसी-किसी वक्त ये पिंड आपसमें टकराते हैं, फिर कितने ही परमाणु उनसे टूट निकलते हैं। इस तरह देमोक्रितुका परमाणु-सिद्धान्त पिछली शताब्दीके यांत्रिक भौतिकवादसे बहुत समानता रखता है, और विश्वके अस्तित्वकी व्याख्या भौतिकतत्त्वों और गतिके द्वारा करता है। देमोक्रितु शब्द, वर्ण, रस, गन्धकी सत्ताको व्यवहारके लिये ही मानता है; नहीं तो "वस्तुतः न मीठा है न कड़ुवा, न ठंडा है न गरम। वस्तुतः यहाँ है परमाणु और शून्य।" इस तरह परमाणुवादी दार्शनिक बाह्य जगत् और उसकी वस्तुओंको एक भ्रम या इंद्रजालसे बढ़कर नहीं मानते।

३—सोफीवाद

कोरोश् और दारयोशके समय युनिक नगर जब ईरानियोंके हाथमें चला गया, तो कितने ही विचारके लोग इधर-उधर चले गये, यह हम बतला आये हैं। जिस तरह इस वक्त पिथागोरके अनुयायियोंने भागकर एलियामें अपना केन्द्र बनाया, उसी तरह और विचारक भी भगे, मगर उन्होंने एक जगह रहनेके बदले घुमन्तू या परिव्राजक होकर रहना पसन्द किया। इन्हें सोफी[1] या ज्ञानी कहते हैं। यद्यपि इस्लामी परिभाषामें प्रसिद्ध सूफी

---

[1]Sophist.

(अद्वैतवादी सम्प्रदाय) इसी शब्दसे निकला है, किन्तु प्राचीन यूनानके इन सोफियों और इस्लामी सूफियोंका दार्शनिक सम्प्रदाय एक नहीं है, इसलिए हम उसे यहाँ सूफी न लिख सोफी लिख रहे हैं। सोफी एक अशान्त, तितर-बितर होते समाज तथा राज्य-क्रान्तिकी उपज थे, इसलिए पहिलेसे चली आती बातोंपर उनका विश्वास कम था, उनमें ज्ञानकी बड़ी प्यास थी। वह खुद ज्ञानका संग्रह करते थे, साथ ही उसका वितरण करना भी अपना कर्त्तव्य समझते थे। उनके प्रयत्नसे ज्ञानका बहुत विस्तार हुआ, चारों ओर ज्ञानकी चर्चा होने लगी। "पुराणमित्येव न साधु सर्वं" (पुराना है इसीलिए ठीक है, यह नहीं मानना चाहिए) यह एक तरह उनका नारा था। सत्यके अन्वेषणके लिए बुद्धिको हर तरहके बन्धनोंसे मुक्त करके इस्तेमाल करनेकी बात उन्होंने लोगोंको समझाई। सोफियोंने भी अपनेसे कुछ समय पहिले गुजर गये बुद्धकी भाँति सत्यके दो भेद रूढ़ि और वास्तविक किये। रूढ़ि-सत्य ही बुद्धका संवृति (शंकरका व्यवहार) सत्य है, और वास्तविक सत्य परमार्थ-सत्य है। सोफियोंका एक महावाक्य था—"मनुष्य वस्तुओंका नाप या माप (कसौटी) है।"

सोफियोंके ज़मानेमें ही अथेन्स यूनानी दर्शनके पठन-पाठनका केन्द्र बन गया और उसने सुक्रात, अफलातूँ और अरस्तू जैसे दार्शनिक पैदा किये।

§ ३—यूनानी दर्शनका मध्याह्न

ईसा-पूर्व चौथी सदी यूनानी दर्शनका सुवर्ण-युग है। थोड़ा पहिले सुक्रातने अपने मौखिक उपदेशों द्वारा अथेन्सके तरुणोंमें तहलका मचाया था, किन्तु उसके अधूरे कामको उसके शिष्य अफलातूँ और प्रशिष्य अरस्तू-ने पूरा किया। इस दर्शनको दो भागोंमें बाँटा जा सकता है, पहिला सुक्रात गुरु-शिष्यका यथार्थवाद और दूसरा अरस्तूका प्रयोगवाद।

१—यथार्थवादी सुक्रात (४६९—३९९ ई० पू०)

सोफियोंके कितने ही विचार सुक्रात मानता था। सोफियोंकी भाँति मौखिक शिक्षा और आचार द्वारा उदाहरण देना उसे भी पसन्द थे।

वस्तुतः उसके समसामयिक भी सुक्रातको एक सोफी समझते थे। सोफियों-की भाँति साधारण शिक्षा तथा मानव-सदाचारपर वह जोर देता था और उन्हींकी तरह पुरानी रूढ़ियोंपर प्रहार करता था। लेकिन उसका प्रहार सिर्फ अभावात्मक नहीं था। वह कहता था, सच्चा ज्ञान सम्भव है बशर्तेकि उसके लिये ठीक तौरपर प्रयत्न किया जावे; जो बातें हमारी समझमें आती हैं या हमारे सामने आई हैं, उन्हें तत्सम्बन्धी घटनाओंपर हम परखें, इस तरह अनेक परखोंके बाद हम एक सच्चाईपर पहुँच सकते हैं। "ज्ञानके समान पवित्रतम कोई चीज नहीं है;"[1] वाक्यमें गीताने सुक्रातकी ही बातको दुहराया है। "ठीक करनेके लिये ठीक सोचना ज़रूर है" सुक्रातका कथन था।

बुद्धकी भाँति सुक्रातने कोई ग्रन्थ नहीं लिखा, किन्तु बुद्धके शिष्योंने उनके जीवनके समयमें कंठस्थ करना शुरू किया था, जिससे हम उनके उपदेशोंको बहुत कुछ सीधे तौरपर जान सकते हैं; किन्तु सुक्रातके उप-देशोंके बारेमें वह भी सुभीता नहीं। सुक्रातका क्या जीवन-दर्शन था, यह उसके आचरणसे ही मालूम हो सकता है, लेकिन उसकी व्याख्या भिन्न-भिन्न लेखक भिन्न-भिन्न ढंगसे करते हैं। कुछ लेखक सुक्रातकी प्रसन्न मुखता और मर्यादित जीवन-उपभोगको दिखलाकर बतलाते हैं कि वह भोगवादी[2] था। **अन्तिस्थेन** और दूसरे लेखक उसकी शारीरिक कष्टोंकी ओरसे बे-पर्वाही तथा आवश्यकता पड़नेपर जीवन-सुखको भी छोड़नेके लिये तैयार रहनेको दिखलाकर उसे सादा जीवनका पक्षपाती बतलाते हैं।

सुक्रातको हवाई बहस पसंद न थी। "विश्वका स्वभाव क्या है, सृष्टि कैसे अस्तित्वमें आई या नक्षत्र जगत्के भिन्न-भिन्न प्राकट्य किन शक्तियोंके कारण होते हैं," इत्यादि प्रश्नोंपर बहस करनेको वह मूर्ख-क्रीड़ा कहता था।

---

[1] **"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।" (गीता ४।३८)**

[2] Hedonist.

सुक्रात अथेन्सके एक बहुत ही गरीब घरमें पैदा हुआ था। गंभीर विद्वान् और ख्याति-प्राप्त हो जानेपर भी उसने वैवाहिक सुखकी लालसा न की। ज्ञानका संग्रह और प्रसार यही उसके जीवनके मुख्य लक्ष्य थे। तरुणोंके बिगाड़ने, देवनिन्दक और नास्तिक होनेका झूठा दोष उसपर लगाया गया था और इसके लिए उसे जहर देकर मारनेका दंड मिला था। सुक्रातने जहरका प्याला खुशी-खुशी पिया और जान दे दी।

२–बुद्धिवादी अफलातूँ (४२७–३४७ ई० पू०)

अफलातूँ अथेन्सके एक रईस-घरमें पैदा हुआ था। अपने वर्गके दूसरे मेधावी लड़कोंकी भाँति उसने भी संगीत, साहित्य, चित्र और दर्शनका आरम्भिक ज्ञान प्राप्त किया। ४०७ ई० पू०में जब वह २० सालका था, तभी सुक्रातके पास आया और अपने गुरुकी मृत्यु (३९९ ई० पू०) तक उसके ही साथ रहा।

कोई भी दर्शन शून्यमें नहीं पैदा होता; वह जिस परिस्थितिमें पैदा होता है, उसकी उसपर छाप होती है। अफलातूँ रईस-घरानेका था और उस वर्गकी प्रभुताका उस वक्तके यूनानमें ह्रास हो चुका था; उसकी जगह व्यापारी शक्तिशाली बन चुके थे; इसलिए उस समयके समाजकी व्यवस्थासे अफलातूँ सन्तुष्ट नहीं हो सकता था, और जब अपने निरपराध गुरु सुक्रातको जनसम्मत शासकोंद्वारा मारे जाते देखा तो उसके मन-पर इसका और भी बुरा असर पड़ा। इस बातका प्रभाव हम उसके लोकोत्तरवादी दर्शनमें देखते हैं; जिसमें एक वक्त अफलातूँ एक रहस्यवादी ऋषि-की तरह दिखाई पड़ता है और दूसरी जगह एक दुनियादार राजनीतिककी भाँति। वह तत्कालीन समाजको हटाकर, एक नया समाज कायम करना चाहता है—यद्यपि उसका यह नया समाज भी इस लोकका नहीं, एक बिल्कुल लोकोत्तर समाज है। वह अपने समयके अथेन्ससे कितना असन्तुष्ट था, वह इस कथनसे मालूम होता है—"हालमें अथेन्समें जनतंत्रता चलाई गई। मैंने समझा था, यह अन्यायके शासनके स्थानपर न्यायका शासन

३. यूरोपीय दर्शन

दशम अध्याय

एकादश अध्याय

द्वादश अध्याय

उत्तरार्द्ध

(भारतीय दर्शन)

चतुर्दश अध्याय

पंचदश अध्याय

सप्तदश अध्याय

ईश्वरवादी दर्शन

अष्टादश अध्याय

अफलातूँका दर्शन—दर्शनमें अफलातूँकी प्रवृत्ति हम पहिलेके परस्पर-विरोधी दार्शनिक विचारोंके समन्वयकी ओर देखते हैं। वह सुक्रातकी इस बातसे सहमत था कि ठीकतौरसे प्रयत्न करनेपर ज्ञान (या तत्त्व-ज्ञान) सम्भव है। साथ ही वह हेराक्लितुकी रायसे भी सहमत था कि साधारण तौरसे जिन पदार्थोंका साक्षात्कार हम करते हैं वे सभी सदा बदलती, सदा बहती धारा हैं और उनके बारेमें किसी महासत्यपर नहीं पहुँचा जा सकता। वह एलियातिकोंकी भाँति एक परिवर्तनशील-जगत् (विज्ञान-जगत्)को मानता था, परमाणुवादियोंके बहुत्व (द्वैत)-वादको समर्थन करते हुए कहता था कि मूलतत्त्व—विज्ञान—बहुत हैं। इस तरह वह इस परिणामपर पहुँचा कि—"ज्ञानका यथार्थ विषय सदा—परिवर्तनशील, जगत्—प्रवाह और उसकी चीजें नहीं हैं, बल्कि उसका विषय है लोकातीत, अचल, एक-रस, इंद्रिय-अगोचर, पदार्थ, **विज्ञान** (=मन)" जो कि पिथागोरकी आकृतिसे मिलता-जुलता था। इस तरह पिथागोर, हेराक्लितु और सुक्रात तीनोंके दार्शनिक विचारोंका समन्वय अफलातूँके दर्शनने करना चाहा।

अफलातूँके लिये इंद्रिय-प्रत्यक्षका ज्ञानमें बहुत कम महत्त्व था। इंद्रिय-प्रत्यक्ष वस्तुओंकी वास्तविकताको नहीं प्रकट करता, वह हमें सिर्फ उनकी बाहरी झाँकी कराता है—राय सच्ची भी हो सकती है, झूठी भी; इसलिए सिर्फ राय कोई महत्त्व नहीं रखती, वास्तविक ज्ञान बुद्धि या चिन्तनसे होता है। इन्द्रियोंकी दुनिया एक घटिया-दर्जेकी 'नकली' वास्तविकता है, वह वास्तविकताका मोटा सा अटकल भर है।

ज्ञानकी प्राप्ति दो प्रकारके चिन्तनपर निर्भर है—(१) **विज्ञान**[१] (=मन) में बिखरे हुए **विशेषों**[२] का ख्यालमें लाना, (२) विज्ञानका **जाति**[३] या सामान्यके रूपमें वर्गीकरण करना। यह **सामान्य, विशेष** भारतीय न्याय वैशेषिक दर्शनमें बहुत आता है। वैशेषिक सूत्रोंके छ

[१] Idea. [२] Particular. [३] Archtype.

पदार्थोंमें सामान्य, विशेष, चौथे-पाँचवें पदार्थ हैं और उनका उद्गम इसी यूनानी दार्शनिक अफलातूंसे हुआ था। अफलातूं यह भी मानता था कि जो चिन्तन ज्ञानका साधन है, उसे **विज्ञान**के रूपमें होना चाहिए; बाह्यजगत्के जो प्रतिबिंब या वेदना जिसको इन्द्रियाँ लाती हैं, उसपर चिन्तन करके हम सत्य तक नहीं पहुँच सकते।

अफलातूं कुछ पदार्थोंको स्वतःसिद्ध[1] कहता था, इनमें गणित-संबंधी ज्ञान—संख्या, तथा तर्क-संबंधी पदार्थ—भाव, अभाव, सादृश्य, भेद, एकता, अनेकता—शामिल हैं। इनमेंसे कितने ही पदार्थोंका वर्णन वैशेषिकमें भी आता है।

ज्ञानकी परिभाषा करते हुए अफलातूं कहता है—"विज्ञान और वास्तविकताका सामंजस्य ज्ञान है, वास्तविकता निर्विषय नहीं हो सकती, उसका अवश्य कोई विषय होना चाहिए और वही विषय एक-रस विज्ञान है।

भाव पदार्थके बारेमें वह कहता है—सच्चा भाव स्थिर, अपरिवर्तन-शील, अनादि है, इसलिए वास्तविक ज्ञानके लिए हमें वस्तुओंके इसी स्थिर अपरिवर्तनशील सारको जानना चाहिए।

सामान्य, विशेष—जब हम इंद्रियोंसे प्राप्त प्रतिबिंबों या वेदनाओं-से नहीं, बल्कि उनसे परे शुद्ध विज्ञानसे ज्ञानको प्राप्त करते हैं, तो वस्तुओं-में हमें सार्वत्रिक (सामान्य) अपरिवर्तनशील, सारतत्त्वका ज्ञान होता है, और यही सच्चा-ज्ञान (=तत्त्वज्ञान) है। भारतमें **सामान्य**के जबर्दस्त दुश्मन बौद्ध रहे हैं, क्योंकि इसमें उन्हें नित्यवादकी स्थापनाकी छिपी कोशिश मालूम होती थी। नैयायिक, व्यक्ति, आकृति, जाति तीनोंको पदार्थ[2] मानते थे। प्रत्यक्षवादी कहते थे कि सत्ता व्यक्तियोंकी ही है, दिमागसे बाहर विज्ञान या जातिकी तरहकी किसी चीजका अस्तित्व नहीं पाया जाता; अन्तस्थेनने कहा था—"मैं एक अश्व (=घोड़ा) तो देखता

---

[1] A priory. [2] **व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थाः—न्यायसूत्र २।२।६७**

हूँ, किंतु अश्वता (सामान्य) को नहीं देखता।" पिथागोर "आकृति" पर जोर देता था, यह हम बतला चुके हैं; अफलातूँ सामान्यका पक्षपाती था। वह परिवर्तनशील विश्वकी तहमें अपरिवर्तनशील एक-रस-तत्त्वको साबित करना चाहता था, जिसके लिये सामान्य एक अच्छा हथियार था। इस रहस्यसे बौद्ध नैयायिक अच्छी तरह वाकिफ थे, इसीलिये धर्मकीर्तिको हम सामान्यकी बुरी गति बनाते देखेंगे। अफलातूँ कहता था—वस्तुओंका आदिम, अनादि, अगोचर, मूल-स्वरूप[1] वस्तुओंसे पहिले उनसे अलग तथा स्वतंत्र मौजूद था। वस्तुओंमें परिवर्तन होते हैं, किंतु इस मूल-रूपपर उसका कोई असर नहीं पड़ता। अश्व एक खास पिंड है, जिसको हम आँखोंसे देखते, हाथोंसे छूते या दूसरी इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष करते हैं; किंतु वर्तमान, भूत और भविष्यके लाखों, अनगिनत अश्वोंके भीतर अश्वपन (=अश्व-सामान्य) एक ऐसी चीज पाई जाती है, जो अश्व-व्यक्तियोंके मरनेपर भी नष्ट नहीं होती, वह अश्व व्यक्तिके पैदा होनेसे पहिले भी मौजूद रही। अफलातूँ इस अश्वता या अश्वसामान्यको अश्व-वस्तुका आदिम, अनादि, अगोचर मूल-स्वरूप, अश्ववस्तुसे पहिले, उससे अलग, स्वतंत्र, वस्तु; परिवर्तनसे अप्रभावित, एक नित्य-तत्त्व सिद्ध करना चाहता है। वह कहता है—व्यक्तिके रूपमें जिन वस्तुओंको हम देखते हैं, वह इन्हीं अनादि मूल-स्वरूपों—सामान्यों (अश्वता, गोता) के प्रतिबिंब या अपूर्ण नकल हैं। व्यक्तियाँ आती-जाती रहेंगी, किंतु विज्ञान या मूलस्वरूप (=सामान्य) सदा एक-रस बने रहेंगे, मनुष्य व्यक्तिगत तौरसे आते-जाते रहेंगे, किन्तु मनुष्यसामान्य—मनुष्य-जाति—सदा मौजूद रहेगी।

विज्ञान[2]—एक-दूसरेसे सम्बद्ध हो विज्ञान एक पूर्ण काया बनाते हैं, जिसमें भिन्न-भिन्न विज्ञानोंके अपने स्थान नियत हैं। अफलातूँका समाज दासों और स्वामियोंका समाज था, जिसमें अपने स्वार्थोंके कारण जबर्दस्त

---

[1] Archtype. [2] Idea.

आन्तरिक विरोध था। ऐसे विरोधोंको मौखिक काव्यमयी व्याख्या द्वारा अफलातूँने दूर ही नहीं करना चाहा था, बल्कि उससे कुछ सदियों पहिले भारतके ऋषियोंने भी उसी अभिप्रायसे **पुरुषसूक्त** बनाकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रकी सिर, बाहु, जाँघ, पैरसे उपमा दे, सामाजिक शान्ति कायम करनी चाही थी। दर्शन-क्षेत्रमें इस तरहकी उपमासे अफलातूँ विज्ञानोंके ऊँचे-नीचे दर्जे कायम करना चाहता है। सबसे श्रेष्ठ (=उच्चतम) विज्ञान, ईश्वर-विज्ञान है; जो कि बाकी सभी विज्ञानोंका स्रोत है। यह विज्ञान महान् है, इससे परे और कोई दूसरा महान् विज्ञान नहीं है।

दो संसार—संसारमें दो प्रकारके तत्त्व हैं, एक विज्ञान (=मन) दूसरा भौतिक तत्त्व। किन्तु इनमें विज्ञान ही वास्तविक तत्त्व है, वही अनर्घतम पदार्थ है; हर एक चीजका रूप और सार अन्तमें जाकर इसी तत्त्व (=विज्ञान) पर निर्भर है। विश्वमें वही नियमन और नियंत्रण करता है। दूसरे भौतिक तत्त्व, मूल नहीं, कार्य; चमत्कारक नहीं, सुस्त; चेतन नहीं, जड़; स्वेच्छा-गति नहीं, अनिच्छित-गतिकी शक्तियाँ है, ये इच्छा बिना ही विज्ञानके दास हैं; विज्ञानकी आज्ञापर नाचते हैं, और किसी तरह भी हो, विज्ञानकी छाप उनपर लगती है। यही **मूल-स्वरूप** (विज्ञान) सक्रिय कारण है, भौतिक तत्त्व सहयोगी कारण हैं।

ईश्वर—उच्चतम **विज्ञान** ईश्वर (विधाता=देमीउर्ग) है, यह कह आये हैं। अफलातूँ विधाताकी उपमा मूर्तिकारसे देता है। विधाता मानव-मूर्तिकारकी भाँति विज्ञान-जगत् (मानसिक दुनिया)में मौजूद नमूने (मूल-स्वरूप, सामान्य)के अनुसार भौतिक-विश्वको बनाता है। विज्ञानके अनुसार जहाँ तक ईश्वर उसके लिये सम्भव है, वह एक पूर्ण विश्व बनाता है; इतनेपर भी यदि विश्वमें कुछ अपूर्णता दिखाई पड़ती है, तो मूर्तिकारको दोष न देना चाहिए, क्योंकि आखिर उसे भौतिक तत्त्वोंपर काम करना है, और भौतिक तत्त्व विधाताकी कृतिमें बाधा डालते हैं। पीछे आनेवाले हमारे नैयायिकोंकी भाँति विधाता (=देमीउर्ग) जनक नहीं इंजीनियर (वास्तुशास्त्री) है। वह स्वयं उच्चतम विज्ञान है, किन्तु साथ ही भौतिक

तत्त्व भी पहिलेसे मौजूद हैं—भौतिक-जगत् और विज्ञान-जगत्—यह दो दुनियाएँ पहिलेसे मौजूद हैं। इन दोनोंमें संबंध जोड़ने—विज्ञानके रूपमें मौजूद **मूल-स्वरूपों** (=सामान्यों)के अनुसार भौतिक तत्त्वोंको गढनेके लिये एक हस्तीकी जरूरत थी, विधाता वही हस्ती है। वही बाह्य और अन्तर-जगत्की संधि कराता है। अफलातूँका विधाता 'शिव' (=अच्छा) है, उसकी वह सूर्यसे उपमा देता है—सूर्य वस्तुओंके बढ़ने (बनने)का भी स्रोत है और उस प्रकाशका भी जिससे उनका ज्ञान होता है। इसी तरह 'शिव' सभी वस्तु—सत्यों, और तत्संबंधी हमारे ज्ञानका भी स्रोत है।

दर्शनकी विशेषता—अफलातूँका दर्शन बुद्धिवादी है, क्योंकि वह ज्ञानके लिये इन्द्रिय-प्रत्यक्षपर नहीं, बुद्धिपर जोर देता है; प्रत्यक्ष जगत्से अलग, बुद्धिगम्य विज्ञान-जगत् उसका वास्तविक जगत् है। विज्ञानवादी तो अफलातूँ है ही, क्योंकि विज्ञान-जगत्, (=मूलस्वरूप)—ही उसके लिये एकमात्र सार है। बाह्यार्थवादी भी उसे कह सकते हैं, क्योंकि बाहरी दुनियाको वह निराधार नहीं, एक वास्तविक जगत् (=विज्ञान-जगत्)का बाहरी प्रकाश कहता है। सारी दुनियाको मिलानेवाले महा-विज्ञान (=ईश्वर)की सत्ताको स्वीकार कर वह ब्रह्मवादी भी है; किन्तु वह भौतिकवादी बिलकुल नहीं है, क्योंकि भौतिक तत्त्व और उससे बनी दुनियाको वह प्रधान नहीं गौण मानता है।

अफलातूँके सामाजिक, राजनीतिक विचारोंके बारेमें 'मानव-समाज'में कहा जा चुका है। वह समाजमें परिवर्तन चाहता था, किन्तु परिवर्तन ठोस मौजूदा समाजको लेकर नहीं, बल्कि **मूल-स्वरूप**के आधारपर।

३—वस्तुवादी अरस्तू[1] (३८४-३२२ ई० पू०)

अरस्तू बुद्ध (५६३-४८३ ई० पू०)से एक सदी पीछे स्तगिरामें पैदा हुआ था। उसका पिता निकोमाचु[2] सिकन्दरके बाप तथा मकदूनियाके

---

[1] **कृतियाँ दे० पृष्ठ ११५, २२१-३, २७०-१** [2] Nicomachus.

राजा फिलिपका राजवैद्य था। उसके बाल्य-कालमें अफलातूँकी ख्याति खूब फैली हुई थी। १७ वर्षकी उम्रमें (३६७ ई० पू०) अरस्तू अफलातूँकी पाठशालामें दाखिल हुआ और तबतक अपने गुरुके साथ रहा, जब तक कि (बीस वर्ष बाद) अफलातूँ (३४७ ई० पू० में) मर नहीं गया। फिलिपको अपने लड़के सिकन्दर (३५३-३२३ ई० पू०) की शिक्षाके लिये एक योग्य शिक्षककी जरूरत थी। उसकी दृष्टि अरस्तूपर पड़ी। विश्व-विजयी सिकन्दरके निर्माणमें अरस्तूका खास हाथ था और इसका बीज ढूँढ़नेके लिये हमें उसके गुरु अफलातूँ तथा परमगुरु सुक्रात तक जाना पड़ेगा। सुक्रात अपने स्वतंत्र विचारोंके लिये अथेन्सके जननिर्वाचित शासकोंके कोपका भाजन बना। अफलातूँ अपने समयके समाजसे असन्तुष्ट था, इसलिए उसमें परिवर्तन करके एक साम्यवादी समाज कायम करना चाहता था; लेकिन इस समाजकी बुनियाद वह धरतीपर नहीं डालना चाहता था। वह उसे 'विज्ञान-जगत्' मे लाना चाहता था, और उसका शासन लौकिक-पुरुषोंके हाथमें नहीं, बल्कि लोकसे परे ख्याली दुनियामें उड़नेवाले दार्शनिकोंके हाथमें देना चाहता था। यदि अफलातूँको पता होता कि उसके साम्यवादी समाजकी स्थापनामें एक विश्व-विजेता सहायक हो सकता है, तो १८वीं १९वीं सदीके युरोपियन समाजवादियों—प्रूधों (१८०९-६५) आदिकी भाँति वह भी साम्यवादी राजाकी तलाश करता। अरस्तू बीस साल तक अपने गुरुके विचारोंको सुनता रहा, इस-लिए उनका असर उसपर होना जरूरी था। कोई ताज्जुब नहीं, यदि अफलातूँका साम्यवादी राज्य अरस्तू द्वारा होकर सिकन्दरके पास, विश्व-राज्य या चक्रवर्ती-राज्यके रूपमें पहुँचा। बुद्ध अपने साधुओंके संघमें पूरा आर्थिक साम्यवाद—जहाँ तक उपभोग सामग्रीका सम्बन्ध है—कायम करना चाहते थे, यदि वह संभव समझते तो शायद विस्तृत समाजमें भी उसका प्रयोग करते, किन्तु बुद्धकी वस्तु-वादिता उन्हें इस तरहके तजर्बे से रोकती थी। ऐसे विचारोंको रखते भी बुद्ध, चक्रवर्तीवाद—सारे विश्वका एक धर्मराजा होना—के बड़े प्रशंसक थे। हो सकता

तत्त्व भी पहिलेसे मौजूद हैं—भौतिक-जगत् और विज्ञान-जगत्—यह दो दुनियाएँ पहिलेसे मौजूद हैं। इन दोनोंमें संबंध जोड़ने—विज्ञानके रूपमें मौजूद **मूल-स्वरूपों** (=सामान्यों)के अनुसार भौतिक तत्त्वोंको गढ़नेके लिये एक हस्तीकी जरूरत थी, विधाता वही हस्ती है। वही बाह्य और अन्तर-जगत्की संधि कराता है। अफलातूँका विधाता 'शिव' (=अच्छा) है, उसकी वह सूर्यसे उपमा देता है—सूर्य वस्तुओंके बढ़ने (बनने)का भी स्रोत है और उस प्रकाशका भी जिससे उनका ज्ञान होता है। इसी तरह 'शिव' सभी वस्तु—सत्यों, और तत्संबंधी हमारे ज्ञानका भी स्रोत है।

दर्शनकी विशेषता—अफलातूँका दर्शन बुद्धिवादी है, क्योंकि वह ज्ञानके लिये इन्द्रिय-प्रत्यक्षपर नहीं, बुद्धिपर जोर देता है; प्रत्यक्ष जगत्से अलग, बुद्धिगम्य विज्ञान-जगत् उसका वास्तविक जगत् है। विज्ञानवादी तो अफलातूँ है ही, क्योंकि विज्ञान-जगत्, (=मूलस्वरूप)—ही उसके लिये एकमात्र सार है। बाह्यार्थवादी भी उसे कह सकते हैं, क्योंकि बाहरी दुनियाको वह निराधार नहीं, एक वास्तविक जगत् (=विज्ञान-जगत्)का बाहरी प्रकाश कहता है। सारी दुनियाको मिल्लानेवाले महा-विज्ञान (=ईश्वर)की सत्ताको स्वीकार कर वह ब्रह्मवादी भी है; किन्तु वह भौतिकवादी बिलकुल नहीं है, क्योंकि भौतिक तत्त्व और उससे बनी दुनियाको वह प्रधान नहीं गौण मानता है।

अफलातूँके सामाजिक, राजनीतिक विचारोंके बारेमें 'मानव-समाज'में कहा जा चुका है। वह समाजमें परिवर्तन चाहता था, किन्तु परिवर्तन ठोस मौजूदा समाजको लेकर नहीं, बल्कि **मूल-स्वरूप**के आधारपर।

३—वस्तुवादी अरस्तू[1] (३८४-३२२ ई० पू०)

अरस्तू बुद्ध (५६३-४८३ ई० पू०)से एक सदी पीछे स्तगिरामें पैदा हुआ था। उसका पिता निकोमाचु[2] सिकन्दरके बाप तथा मकदूनियाके

---

[1] **कृतियाँ दे० पृष्ठ ११५, २२१-३, २७०-१** [2] Nicomachus.

राजा फिलिपका राजवैद्य था। उसके बाल्य-कालमें अफलातूँकी ख्याति खूब फैली हुई थी। १७ वर्षकी उम्रमें (३६७ ई० पू०) अरस्तू अफलातूँकी पाठशालामें दाखिल हुआ और तबतक अपने गुरुके साथ रहा, जब तक कि (बीस वर्ष बाद) अफलातूँ (३४७ ई० पू० में) मर नहीं गया। फिलिपको अपने लड़के सिकन्दर (३५३-३२३ ई० पू०)की शिक्षाके लिये एक योग्य शिक्षककी जरूरत थी। उसकी दृष्टि अरस्तूपर पड़ी। विश्व-विजयी सिकन्दरके निर्माणमें अरस्तूका खास हाथ था और इसका बीज ढूँढ़नेके लिये हमें उसके गुरु अफलातूँ तथा परमगुरु सुक्रात तक जाना पड़ेगा। सुक्रात अपने स्वतंत्र विचारोंके लिये अथेन्सके जननिर्वाचित शासकोंके कोपका भाजन बना। अफलातूँ अपने समयके समाजसे असन्तुष्ट था, इसलिए उसमें परिवर्तन करके एक साम्यवादी समाज कायम करना चाहता था; लेकिन इस समाजकी बुनियाद वह धरतीपर नहीं डालना चाहता था। वह उसे 'विज्ञान-जगत्' में लाना चाहता था, और उसका शासन लौकिक-पुरुषोंके हाथमें नहीं, बल्कि लोकसे परे ख्याली दुनियामें उड़नेवाले दार्शनिकोंके हाथमें देना चाहता था। यदि अफलातूँको पता होता कि उसके साम्यवादी समाजकी स्थापनामें एक विश्व-विजेता सहायक हो सकता है, तो १८वीं १९वीं सदीके युरोपियन समाजवादियों—प्रूधों (१८०९-६५) आदिकी भाँति वह भी साम्यवादी राजाकी तलाश करता। अरस्तू बीस साल तक अपने गुरुके विचारोंको सुनता रहा, इस-लिए उनका असर उसपर होना जरूरी था। कोई ताज्जुब नहीं, यदि अफलातूँका साम्यवादी राज्य अरस्तू द्वारा होकर सिकन्दरके पास, विश्व-राज्य या चक्रवर्ती-राज्यके रूपमें पहुँचा। बुद्ध अपने साधुओंके संघमें पूरा आर्थिक साम्यवाद—जहाँ तक उपभोग सामग्रीका सम्बन्ध है—कायम करना चाहते थे, यदि वह संभव समझते तो शायद विस्तृत समाजमें भी उसका प्रयोग करते, किन्तु बुद्धकी वस्तु-वादिता उन्हें इस तरहके तजर्बे से रोकती थी। ऐसे विचारोंको रखते भी बुद्ध, चक्रवर्तीवाद—सारे विश्वका एक धर्मराजा होना—के बड़े प्रशंसक थे। हो सकता

है अरस्तूने भी अपने शिष्य सिकन्दरमें बाल्य-कालहीसे अपने और अपने गुरुके स्वप्नोंको सत्य करनेके लिये चक्रवर्तीवाद भरना शुरू किया हो। अरस्तूने अथेन्स आदिके प्रजातंत्र ही नहीं देखे थे, बल्कि वह तीन महाद्वीपोंमें राज्य रखनेवाले ईरान के चक्रवर्तियोंसे भी परिचित था। सवाल हो सकता है, यदि अरस्तूने सिकन्दरमें ये भाव पैदा किये, तो उसने विश्व-विजयके साथ दूसरे स्वप्नोंका भी क्यों नहीं प्रयोग किया? उत्तर यही है कि सिकन्दर दार्शनिक स्वप्नचारी नहीं था, वह अपने सामने यूनानियोंको अपने ठोस भालों, तलवारोंसे सफलता प्राप्त करते देख रहा था, इसलिये वह अपने स्वप्नचारी परमगुरुकी सारी शिक्षायें माननेके लिये बाध्य न था।

अरस्तू सिर्फ दार्शनिक ही नहीं, राजनीतिक विचारक भी था, यह तो इसीसे पता लगता है, कि ३२३ ई० पू०में सिकन्दरकी मृत्युके समय अथेन्समें मकदूनिया और मकदूनिया-विरोधी जो दो दल हो गये थे, अरस्तू उनमें मकदूनिया-विरोधी दलका समर्थक था। शायद अब उसे अपनी गलती मालूम हुई और तलवारके एकाधिपत्यसे अथेन्सका पहिलेवाला जनतांत्रिक बनिया-राज्य ही उसे पसन्द आने लगा। इस विरोधमें अथेन्सके स्वार्थी उसके विरुद्ध हो गये और अरस्तूको जान बचाकर युबोइया भाग जाना पड़ा, जहाँ उसी साल (३२२ ई० पू०) उसकी मृत्यु हुई।

(१) दार्शनिक विचार—अरस्तूकी कृतियाँ विशाल हैं। अपने समय तक जितना ज्ञान-भंडार समाजमें जमा हो चुका था, अरस्तूके ग्रन्थ उसके लिये विश्व-कोषका काम देते हैं। यही नहीं उसने खुद भी मनुष्यके ज्ञान-भंडार-को बहुत बढ़ाया। अरस्तू अफलातूँके दार्शनिक विचारोंसे बिलकुल असहमत था, यह तो नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वह विज्ञान-जगत्से इन्कार नहीं करता था। सुक्रात और अफलातूँकी तरह, ज्ञानके लिये **विज्ञानके** महत्त्वको वह मानता था, किन्तु वह भौतिक-जगत्से अलग-थलग तथा एक मात्र प्रधान जगत् है; इसे वह माननेके लिये तैयार न था। बाहरी दुनिया (प्रत्यक्ष-जगत्)को समझनेके लिये, उसकी व्याख्याके लिये, अमर-जगत्

(विज्ञान-जगत्)की जरूरतको वह स्वीकार करता था। युनिक दार्शनिक सिर्फ भौतिक पहलूपर जोर देते थे, पिथागोर और अफलातूँ **मूलस्वरूप** या **विज्ञान** ('आकृति' या 'मूलस्वरूप')पर जोर देते थे; किन्तु अरस्तू दोनोंको अभिन्न अंग मानता था—'मूलस्वरूप' (विज्ञान) भौतिक तत्त्वोंमें मौजूद है, और भौतिक तत्त्व 'मूलस्वरूपों' (विज्ञानों)में; सामान्य (=जाति) व्यक्तियोंमें मौजूद है, इन दोनोंको अलग समझा जा सकता है, किंतु अलग नहीं किया जा सकता। अफलातूँ दार्शनिकके अतिरिक्त गणितशास्त्री भी था और गणितकी काल्पनिक बिन्दु, रेखा, संख्या आदिकी छाप उसके दर्शनपर भी मिलती है। अरस्तू प्राणिशास्त्री भी था इसलिए **विज्ञानों** और भौतिक-तत्त्वोंको अलग करके नहीं देख सकता था। विज्ञान और भौतिक-तत्त्व, स्थिरता (एलियातिक) और परिवर्तनशीलता (हेराक्लितु)का वह समन्वय करना चाहता था। वह सभी चीजोंमें **विज्ञान** (=मूलस्वरूप) और भौतिक तत्त्वोंको देखता था। मूर्तिमें संगमर्मर भौतिक तत्त्व है और उसके ऊपर जो आकृति लादी गई है, वह **विज्ञान** है, जो कि मूर्तिकारके दिमागसे निकला है। वनस्पति, पशु या मनुष्यमें शरीर भौतिक तत्त्व है, और पाचन, वेदना आदि **विज्ञान-तत्त्व**। आकृतिके बिना कोई चीज़ नहीं है; पृथ्वी, जल, आग और हवा भी बिना आकृतिके नहीं हैं; ये भी मूल गुण—रूक्षता, नमी, उष्णता, सर्दी—के भिन्न-भिन्न योगोंसे बने हैं। सांख्यके विद्यमान संस्करणमें इन्हीं मूलगुणोंको तन्मात्रा कहकर उन्हें भूतोंका कारण कहा गया, और यह अरस्तूके इसी ख्यालसे लिया गया मालूम होता है। भौतिक तत्त्व वह है जिनमें वृद्धि या विकास हो सकता है; यद्यपि यह वृद्धि या विकास एक सीमा रखता है। पत्थरका खंड किसी तरहकी मूर्ति बन सकता है, किन्तु वृक्ष नहीं बन सकता। एक पौधा या अमोला बढ़कर पीपल बन सकता है, किन्तु पशु नहीं बन सकता। इस विचार-धाराने अरस्तूको **जाति-स्थिरता**के सिद्धान्तपर पहुँचा दिया और वह समझने लगा कि जातियोंमें परिवर्तन नहीं होता। इस धारणाने अरस्तूको प्राणिशास्त्रमें और आगे नहीं बढ़ने दिया और वह उन्नी-

सवीं सदीके महान् प्राणिशास्त्रीय आविष्कार **जाति-परिवर्तन**[1] तक नहीं पहुँच सका। इतना होते हुए भी एक पाँतीमें न सही अलग-अलग पाँतियों-में हुए विकास और उनके सादृश्यकी ओर ध्यान दिये बिना वह नहीं रह सकता था। छोटी-छोटी प्राणि-जातियोंकी पाँतीसे क्रमशः आगे बढ़ती प्राणि-जातियोंके उच्च-उच्चतर विकासको उसने देखा। विज्ञान (=**मूलस्वरूप**)-रहित भौतिक तत्त्वोंका विकास उतना गहरा नहीं है, जितना कि विज्ञान-युक्त तत्त्वोंका। इस विकासका उच्चतम रूप वह है जिससे आगे विकासकी गुंजाइश नहीं। अतएव जो भौतिक तत्त्वकी परिभाषामें आ नहीं सकता, वह ईश्वर है। वह अफलातूँका अपरिवर्तनशील **विज्ञान** सिर्फ यही ईश्वर है, जो कि अरस्तूके विचारसे विधाता (कर्ता) नहीं है; क्योंकि विज्ञान और भौतिक तत्त्व हमेशासे वहाँ मौजूद थे। तो भी, जैसे भी हो, सभी वस्तुओंका खिचाव ईश्वरकी ओर है। दुनियाकी चाह वह है और उसकी उपस्थिति मात्रसे वस्तुएँ ऊँचे विकासकी ओर अग्रसर होती हैं।[2] वह विश्वका अचल चालक है, "यह उसका प्रेम ही है, जो जगत्को चला रहा है।"

अरस्तू चार प्रकारके कारण मानता है—(१) **उपादान कारण**—जैसे घड़ेके लिये मिट्टी; (२) **मूल-स्वरूप** या विज्ञान कारण—जिन नियमोंके अनुसार कार्य (=घड़ा) बनता है, (३) **निमित्त कारण**[3]—जिसके द्वारा उपादान कारण कार्यकी शकल लेता है, जैसे कुम्हार आदि; (४) **अंतिम कारण** या प्रयोजन—जिसके लिये कि कारण बना। पहिले और तीसरे कारणोंको भारतीय नैयायिकोंने ले लिया है। अरस्तूका यह भी कहना है कि हर कार्यको चारों तरहके कारणोंकी ज़रूरत नहीं, कितनोंके लिये उपादान और निमित्त कारण ही काफी होते हैं।

---

[1] देखो "विश्वकी रूपरेखा"।

[2] यह कल्पना सांख्यके पुरुषसे मिलती जुलती है, यद्यपि अनीश्वरवादी सांख्य एककी जगह अनेक पुरुष मानता है।

[3] Efficient cause.

(२) **ज्ञान**—अरस्तूका कहना था—ज्ञानकी प्राप्तिके लिये यह ज़रूरी है कि हम अपनी बुद्धिमे ज़्यादा अपनी इन्द्रियोंपर विश्वास रक्खें, और अपनी बुद्धिपर उसी वक्त विश्वास करें जब कि उसका समर्थन घटनायें करती हों। सच्चा ज्ञान सिर्फ घटनाओंका परिचय ही नहीं बल्कि यह भी जानना है कि किन वजहों, किन कारणों या स्थितियोंसे वैसा होता है। जो विद्या या दर्शन आदिम या चरम कारणपर विचार करता है, उसे अरस्तू **प्रथम दर्शन** कहता है, आज-कल उसे ही अध्यात्मशास्त्र कहते हैं। अरस्तू तर्कशास्त्रके प्रथम आचार्योंमें है। उसके अनुसार तर्कका काम वह तरीका बतलाना है, जिससे हम ज्ञान तक पहुँच सकें। इस तरह तर्क, दर्शन तक पहुँचनेके लिये सोपान (—सीढ़ी) है। चिन्तन या जिस प्रक्रियासे हम ज्ञान प्राप्त करते हैं, उसका विश्लेषण तर्कका मुख्य विषय है। तर्क वस्तुतः शुद्ध चिन्तनकी विद्या है। हमारे चिन्तनका आरम्भ सदा इंद्रिय-प्रत्यक्षसे होता है। हम पहिले विशेषको जानते हैं, फिर उससे सामान्यपर पहुँचते हैं—अर्थात् पहिले अधिक ज्ञातको जानते हैं, फिर उससे और अधिक ज्ञात और अधिक निश्चितको। हम पहिले अलग-अलग जगह रसोई-घरमें, श्मशानमें (इंजनमें भी) धुएँके साथ आगको देखते हैं, फिर हमारी सामान्य धारणा बनती है—जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ आग होती है।

अरस्तूने अपने तर्क-शास्त्रके लिये दस और कहीं आठ प्रमेय[१] (ज्ञानके विषय) माने हैं—(१) वह क्या है, यानी **द्रव्य** (मनुष्य); (२) किनसे बना है यानी **गुण**; (३) वह कितना बड़ा है यानी **परिमाण** (३॥ हाथ); (४) क्या **संबन्ध** रखता है यानी सम्बन्ध (बृहत्तर, दुगना); (५) वह कहाँ है, **दिशा** या देश (सड़क पर); (६) कब होता है यानी **काल**; (७) किस तरह है, यानी **आसन** (लेटा या बैठा); (८) किस तरह है यानी **स्थिति** (कपड़े पहिने या हथियार-बन्द);

---

[१] Category.

(९) वह क्या करता है यानी **कर्म** (पढ़ता है); (१०) क्या परिणाम है यानी **निष्क्रियता** (कुछ नहीं करता)। इनमें द्रव्य, गुण, कर्म, वैशेषिकके छः पदार्थोंमें मौजूद हैं; काल, दिशा उसके नौ द्रव्योंमें हैं; बाकीमेंसे भी कितनोंका ज़िक्र वैशेषिक और न्याय करते हैं। सिकन्दरके आक्रमणसे पहिलेके किसी भारतीय ग्रंथमें इन बातोंका विवेचन नहीं आया है; जिससे कहना पड़ता है कि यह हमारे दर्शनपर यवनआचार्योंका ऋण है। इसपर हम आगे कहेंगे।

अरस्तू **व्यक्ति** या विशेषको वास्तविक द्रव्य मानता है, हाँ यह व्यक्ति बदलता या जीर्ण होता रहता है—सभी चीजें जिनका हम साक्षात्कार कर सकते हैं, परिवर्तनशील होती हैं। भूत या विज्ञान दोनों न नये उत्पन्न होते हैं और न सदा के लिये लुप्त होते हैं, वे वस्तुओंके अनादि सनातन मूलतत्त्व हैं। परिवर्तन या वृद्धि शून्यमें नहीं हो सकती, इनका कोई आश्रय या आधार होना चाहिए। वही परिवर्तन-रहित कूटस्थ आधार भूत और विज्ञान ('मूलस्वरूप') हैं। भूत और विज्ञानके मिलनेसे ही परिवर्तन और गति (=हरकत) होती है। अरस्तू गतिके चार भेद बतलाता है—(१) द्रव्य-संबन्धी गति—उत्पादन, विनाश; (२) परिमाण-संबन्धी गति—संयोग, विभागसे पिंडके परिमाणमें परिवर्तन; (३) गुण-संबन्धी गति—एक चीज़का दूसरी चीज़में परिवर्तन—दूधका दही, पानीका बर्फ बनना; (४) देश-संबन्धी गति—एक जगहसे दूसरी जगह जाना।

अरस्तू दार्शनिक होनेके अतिरिक्त एक बहुत बड़ा प्राणि-शास्त्री भी था, यह बतला आये हैं। उसका पिता स्वयं वैद्य था और वैद्योंका प्राणि-शास्त्रसे परिचय होना ज़रूरी है। हिप्पोक्रात[1] और उसके अनुयायियोंने प्राणिशास्त्र-संबन्धी गवेषणाओं को ई० पू० पाँचवीं सदीमें आरंभ किया था। अरस्तूने उन्हें बहुत आगे बढ़ाया और एक तरह जीवन-विकास सिद्धान्तका उसे प्रवर्तक कहना चाहिए। अरस्तूके प्राणिशास्त्रीय

[1] Hippocrates.

कार्यको उसके शिष्य थ्योफ़ास्तु[1] (३९०-२८५ ई० पू०) ने जारी रखा, किन्तु आगे फिर दो सहस्र शताब्दियोंके लिये वह रुक गया। डार्विनने अरस्तूकी प्राणिशास्त्रीय गवेषणाओंकी बहुत दाद दी है।

यूनानी दार्शनिकोंका ऋणी होना हमारे यहाँके कितने ही विद्वानोंको बहुत खटकता है। वह साबित करना चाहते हैं कि भारतने बिना दूसरी जातियोंकी सहायताके ही अपने सारे ज्ञान-विज्ञानको विकसित कर लिया; और इसीलिए जिन सिद्धान्तोंके विकासके प्रवाहकी हमारे तथा यूनानियोंके सम्पर्कसे पहिले लिखे गये भारतीय साहित्यमें गन्ध तक नहीं मिलती, उसके लिये भी जबर्दस्त खींचा-तानी करते हैं। हमें याद रखना चाहिए कि जब सिकन्दर भारतमें (३२३ ई० पू०) आया था तब यूनान दर्शन, कला, साहित्य आदिमें उन्नतिके शिखरपर पहुँचा हुआ था। उस समय, और बादमें भी लाखों यूनानी हमारे देशमें आकर सदाके लिये यहीं रह गये और आज वह हमारे रक्त-मांसमें इस तरह घुल-मिल गये हैं कि उसका पता आँखसे नहीं इतिहासके ज्ञानसे ही मिलता है। जिस तरह चुपचाप यूनानियोंका रुधिर-मांस हमारा अभिन्न अंग बन गया, उसी तरह उनके ज्ञानका बहुत सा हिस्सा भी हमारे ज्ञानमें समा गया। गंधार-मूर्तिकलामें जिस तरह यवन-कलाकी स्पष्ट और गुप्त मूर्ति-कलामें अ-स्पष्ट छाप देखते हैं, उसी तरह हमें यह स्वीकार करनेसे इन्कार नहीं करना चाहिए कि हमारे मठोंमें साधु-भिक्षु और हमारी पाठशालाओंमें अध्यापक बनकर बैठे शिक्षित सभ्य यूनानी हमारे लिए अपने विद्वानोंका भी कोई तोहफ़ा लाये थे।

§ ४—यूनानी दर्शनका अन्त

शेरोनियाके युद्ध (३३८ ई० पू०)में यूनानने मकदूनियासे हार खाकर अपनी स्वतन्त्रता गँवाई। इसने यूनानकी आत्माको इतना चूर्ण कर दिया

[1] Theophrastus.

कि वह फिर न सँभल सका। अरस्तू यद्यपि ३२२ ई० पू० तक जीता रहा, किन्तु उसके बहुतसे महत्त्वपूर्ण दार्शनिक चिन्तन पहिले ही हो चुके थे। पराजित यूनान हेराक्लितु, देमोक्रितु, अफलातूँ, अरस्तूके जैसे स्वच्छन्द सजीव दर्शनको नहीं प्रदान कर सकता था—अरथीके साथ "राम-नाम-सत" ही निकलता है। यद्यपि अरस्तूकी मृत्युके बाद कई शताब्दियों तक यूनानी दर्शन प्रचलित रहा किन्तु वह "राम-नाम-सत" का दर्शन था। विपतामें पड़े लोग अपने अवसादको धर्म या आचार-सम्बन्धी शिक्षासे हटाना चाहते हैं। चाहे बुद्धिवादी स्तोइकोंको ले लीजिए या भौतिकवादी एपीकुरीयोंको अथवा सन्देहवादियोंको, सभी जीवनकी आचार और धर्म-संबन्धी समस्याओंमें उलझे हुए हैं; और उनका अवसान चित्तकी शान्ति या बाहरी बंधनोंसे मुक्तिके उपाय सोचनेके साथ होता है।

१—एपीकुरीय भौतिकवाद

एपीकुरीयोंके अनुसार दर्शनका लक्ष्य मनुष्यको सुखी जीवनकी ओर ले जाना है। इनका दर्शन देमोक्रितुके यांत्रिक परमाणुवादपर आधारित था—विश्व असंख्य भौतिक परमाणुओंकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाका परिणाम है। उसके पीछे कोई प्रयोजन या ज्ञानशक्ति काम नहीं कर रही है। हर वक्त चलते रहते एक दूसरेसे मिलते अलग होते इन्हीं परमाणुओंके योगसे मनुष्य भी बना, वह सदा परिवर्तित होता एक प्रवाह है। जीवनके अन्तमें ये परमाणु फिर बिखर जायँगे; इसलिए मनुष्यको सुख या आनन्द प्राप्त करनेका अवकाश इस जीवनसे परे नहीं मिलेगा, जिसके लिए कि उसे इस जीवनको भुला देना चाहिए। अतएव मनुष्य को आनन्द प्राप्त करनेकी कोशिश यहाँ करनी चाहिए और जो तरीके, नियम, संयम उसके जीवनको सुखमय बना सकते हैं; उन्हें स्वीकार करना चाहिए। एपीकुरीय दार्शनिक, इस प्रकार भोगवादी थे, किन्तु उनका भोगवाद सिर्फ व्यक्तिके लिये ही नहीं, समाजके लिये भी था; इसलिए उसे संकीर्ण वैयक्तिक स्वार्थ नहीं कहा जा सकता। यदि दूसरोंके

सुखवाद और इनके सुखवादमें फर्क था तो यही, कि जहाँ दूसरे परलोक—परजन्ममें वैयक्तिक सुखके चाहक थे, वहाँ एपीकुरीय इसी लोक, इसी जन्ममें मनुष्य—व्यक्ति और समाज दोनों—को सुखी देखना चाहते थे।

एपीकुरु (३४१-२७० ई० पू०)—यूनानी भोगवादका संस्थापक एपीकुरु, समोस् द्वीपमें अथेन्स-प्रवासी माँ-बापके घरमें पैदा हुआ था। अध्ययनकालमें उसका परिचय देमोक्रितुके दर्शन—परमाणुवादसे हुआ, जिसके आधारपर उसने अपने दर्शनका निर्माण किया और उसके प्रचारके लिये ३०६ ई० पू०में (बुद्धके निर्वाणसे पौने दो सौ वर्ष बाद) अथेन्समें अपना विद्यालय कायम कर मृत्यु (२७० ई० पू०) तक अध्ययन-अध्यापन करता रहा। अपने जीवनमें ही उसके बहुतसे मित्र और अनुयायी थे, और पीछे तो उनकी संख्या और बढ़ी। उनमें अपने सुखसे सुख माननेवाले भी हो सकते हैं, जिनके कि उदाहरणको लेकर दूसरोंने एपीकुरीयवादको भी चार्वाककी भाँति "ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्" माननेवाला कहकर बदनाम करना शुरू किया।

एपीकुरुका कहना था कि, "यदि अपनी इंद्रियोंपर विश्वास न करें, तो हम किसी ज्ञानको नहीं प्राप्त कर सकते। इन्द्रियाँ कभी-कभी गलत खबरें देती हैं, किंतु उन गलतियोंको पुनः-पुनः प्रयोग करके अथवा दूसरोंके तजबेंसे दूर किया जा सकता है। इस प्रकार एपीकुरु हमारे यहाँके चार्वाक-दर्शनकी भाँति प्रत्यक्ष-प्रमाणपर बहुत अधिक जोर देता था।

२—स्तोइकोंका शारीरिक(ब्रह्म)वाद

स्तोइकोंका दर्शन, क्सेनोफेन (५७०-४८० ई० पू०)के जगत्-शारीरिक-ब्रह्मवादकी ही एक शाखा थी। हम कह आये हैं कि पिथागोर स्वयं भारतीय दर्शनसे प्रभावित हुआ था, और क्सेनोफेन उसीका उत्तराधिकारी था; इस प्रकार स्तोइकोंकी शिक्षामें भारतीय दर्शनकी छाप हो, यह कोई अचरजकी बात नहीं। ३३२ ई० पू०में सिकन्दरने मिश्रमें सिकन्दरिया नगर बसाया था, जो पीछे तीनों महाद्वीपोंका जबर्दस्त व्यापारिक

केन्द्र ही नहीं बन गया, बल्कि वह तीनों द्वीपोंकी उच्चतम संस्कृति, दर्शन, तथा दूसरे विचारोंके आदान-प्रदानका भी केन्द्र बन गया। सिकन्दरिया स्तोइकोंका एक केन्द्र था, इसलिए पूर्वीय विचारोंसे परिचित होनेके लिये यहाँ उन्हें बहुत सुभीता था।

अरस्तू द्वैतवादी था, विज्ञान और भूत दोनोंको अनादि मानता था। ईश्वर उसके लिये निमित्त कारण था। स्तोइकोंने द्वैतवादमें परिवर्तन किया और रामानुजके दर्शनकी भाँति माना कि ब्रह्म (ईश्वर) अभिन्न-निमित्त-उपादान-कारण है, अर्थात् ब्रह्म और जगत् दो नहीं हैं; जगत् भगवान्का शरीर, एक सजीव शरीर है। भगवान् विश्वका आत्मा (लोगो[1]) है। जीवनके सभी बीज या कीट उसमें मौजूद हैं। उसीके भीतर सृष्टिकी सारी शक्ति निहित है।

ज़ेनो (३३६-२६४ ई० पू०)—एलियातिक ज़ेनो (४९०-३० ई० पू०)के १०६ वर्ष बाद साईप्रेसमें स्तोइक दर्शनका आचार्य दूसरा ज़ेनो पैदा हुआ था। साईप्रेस युरोपसे ज्यादा एसियाके नजदीक है, उसी तरह ज़ेनोका स्तोइक-दर्शन भी एसियाके ज्यादा नजदीक है। ३०४ ई० पू० में ज़ेनोने अपना विद्यालय 'स्तोआ पोईकिले'[2] (नुकीली अटारी) पर खोला, जिसकी वजहसे उसके सम्प्रदायका नाम ही 'स्तोइक' (नुकीला) पड़ गया। ज़ेनोके बाद स्तोइक दर्शनका आचार्य किलयन्थ[3] (२६४-२३२ ई० पू०) हुआ। वह अशोकका समकालीन था।

स्तोइक तर्कके जबर्दस्त पक्षपाती थे। उनका कहना था—"दर्शन एक खेत है; जिसकी रक्षाके लिए तर्क एक काँटोंकी बाड़ है, भौतिक-शास्त्र खेतकी मिट्टी और आचार-शास्त्र फल है।" तर्ककी बाड़का ख्याल हमारे न्यायने स्तोइकोंसे ही लेकर कहा है—"तर्क तत्त्व-निश्चयकी रक्षाके लिये काँटेका बाड़[4] है।"

---

[1] Logos. [2] Stoa Poikile. [3] Cleanthes.

[4] **"तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्।" न्यायसूत्र ४।२।५०**

स्तोइक एपीकुरीयोंसे इस बातमें एकमत थे कि हमारे सभी ज्ञानका आधार इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है।——हमारा ज्ञान या तो प्रत्यक्षसे आता है या उससे प्राप्त साधारण विचार या ज्ञानसे। किसी बातको सच तभी मानना चाहिए, जब कि वस्तुएँ उसकी पुष्टि करती हैं। साइंस (=विद्या) सच्चे निर्णयोंका एक ऐसा सुसंगठित ज्ञान है, जो एक सिद्धान्तका दूसरे सिद्धान्तसे सिद्ध होना जरूरी कर देता है।

स्तोइक उसी वस्तुको सच्ची मानते हैं, जो क्रिया करती है या जिस-पर क्रिया होती है। जो क्रिया-शून्य है उसकी सत्ताको वह स्वीकार नहीं करते। इसीलिए **शुद्ध विज्ञान** (=ईश्वर)को वह अरस्तूकी भाँति निष्क्रिय नहीं मानते। ईश्वर और जगत् जब शरीर और शारीरके तौर-पर अभिन्न हैं तो शरीर (=जगत्)की क्रिया शारीर (=ईश्वर)की अपनी ही क्रिया है। भौतिक तत्वोंके बिना शक्ति नहीं और शक्तिके बिना भौतिक तत्त्व नहीं मिल सकते, इसलिए भौतिक-तत्त्वको सर्वत्र शक्ति (=ईश्वर)से व्याप्त मानना चाहिए। यह ख्याल उपनिषद्के 'अंतर्यामीवाद'से कितना मिलता है, इसे हम आगे देखेंगे। स्तोइकोंका यह अंग-अंगी अवयव-अवयवी वाला सिद्धान्त वेदांतके सूत्रों, उसकी बौधायन-वृत्ति तथा रामानुज-भाष्यमें भी पाया जाता है। इसका यह मतलब नहीं कि शरीर-शरीरी भाव उपनिषद्में है ही नहीं। यह भाव वहाँ था, किन्तु उसे स्तोइकोंने और तर्क-सम्मत बनानेके लिये जो युक्तियाँ दीं, उनसे बादरायण, बौधायन आदिने फायदा उठाया——ऐसा मालूम होता है।

क्षुद्रसे क्षुद्र वस्तुएँ भी भगवान्के अंग हैं; वह एक और सब है। प्रकृति, ईश्वर, भाग्य, भवितव्यता एक ही हैं। जब प्रकृति ईश्वरसे अभिन्न है, तो हमारे जीवनके लिये सबसे अच्छा आदर्श प्रकृति ही हो सकती है, इसीलिए स्तोइक प्राकृतिक जीवनके पक्षपाती थे। सभी प्राणी चूँकि ईश्वर-प्रकृति-अद्वैतकी ही सन्तानें या अंग हैं, इसलिए स्तोइक विश्व-भ्रातृभावके मानने वाले थे——"सभी मनुष्य भाई-भाई हैं और ईश्वर सबका पिता है।"——एपिक्तेतुने कहा था।

स्तोइक दर्शनका प्रचार कई शताब्दियों तक रहा। रोमन सम्राट् **मर्कस् ओरेलियस्** (१२१–१८० ई०)—जो नागार्जुनका समकालीन था—स्तोइकोंका एक बहुत बड़ा दार्शनिक समझा जाता है। ईसाई-धर्मके आरम्भिक प्रचारके समय उपरले वर्गमें स्तोइकवादका बहुत प्रचार था, किन्तु ऐसे गम्भीर तर्क-कंटक-शाखा-रक्षित दर्शनको हटाकर ईसाइयतकी बच्चोंकी कहानियाँ अपना अधिकार जमानेमें कैसे सफल हुईं, इसका कारण यही था कि कहानियाँ पृथ्वीके ठोस पुत्रों—निम्न श्रेणीके मजदूरों, गुलामों—में फैलकर शक्ति बन, उनके हाथों और हृदयको संघर्ष करनेके लिए मजबूत कर रही थीं; जब कि हवामें उड़नेवाले राजाओं और अमीरोंका ब्रह्म-दर्शन गरीबोंके पसीनेकी कमाईको खाकर मोटे हुए उनके शरीरके लिए लवण-भास्करका काम दे रहा था। ख्याली जगत् और वास्तविक जगत्का जहाँ आपसमें मुकाबला होता है, वहाँ परिणाम ऐसा ही देखा जाता है।

३–सन्देहवाद

"हम वस्तुओंके स्वभावको नहीं जान सकते। इन्द्रियाँ हमें सिर्फ इतना ही बतलाती हैं कि चीज़ें कैसी देख पड़ती हैं, वह वस्तुतः क्या हैं इसे जानना सम्भव नहीं है।"

पिर्हो (३६५-२७० ई० पू०)—पिर्हो एलिस् (यूनान) में अरस्तू (३८४-३२२ ई० पू०) से उन्नीस साल बाद पैदा हुआ था। ज़ेनोकी भाँति पिर्होको भी देमोक्रितुके ग्रन्थोंने दर्शनकी ओर खींचा। जब सिकन्दरने पूर्वकी दिग्विजय-यात्रा की, तो पिर्हो भी उसकी फौजके साथ था। ईरानमें उसने पारसी धर्माचार्योंसे शिक्षा प्राप्त की थी। भारतमें भी वह कितने ही साल रहा और यहाँके एक दार्शनिक सम्प्रदाय—जिसे यूनानी लेखक 'गिम्नो-सोफी'[1] नाम देते हैं—का उसने अध्ययन किया था। गिम्नो जिनसे मिलता-जुलता शब्द मालूम होता है। बौद्ध और

[1] Gymno-sophist.

जैन दोनों अपने धर्म-संस्थापकको जिन (=विजेता) कहते हैं। लेकिन जहाँ तक पिर्होके विचारोंका सम्बन्ध है, वह बौद्ध सिद्धान्तोंका एकांगीन विकास मालूम होता है, जिन्हें कि हम ईसाकी दूसरी सदीके नागार्जुनमें पाते हैं। नागार्जुनका शून्यवाद पुराने वैपुल्यवादियोंसे विकसित हुआ है, और वैपुल्यवादियोंके होनेका पता अशोकके समय तक लगता है। अशोक पिर्होकी मृत्यु (२७० ई० पू०)से एक साल बाद (२६९ ई० पू०) गद्दीपर बैठा था। इस तरह पिर्होके भारत आनेके समय वैपुल्यवादी मौजूद थे। भारतसे पिर्हो एलिस् लौट गया। उसका विचार था—वस्तुओंका अपना स्वभाव क्या है, इसे जानना असम्भव है। कोई भी सिद्धान्त पेश किया जावे, उतनी ही मजबूत युक्ति(=प्रमाण)के साथ ठीक उससे उल्टी बात कही जा सकती है; इसलिए अच्छा यही है कि अपना अन्तिम बौद्धिक निर्णय ही न दिया जावे; जीवनको इसी स्थितिमें रखना ठीक है। नागार्जुनके वर्णनमें हम इसकी समानताको देखेंगे, किन्तु इसमें नागार्जुनको पिर्होका ऋणी न मानकर यही मानना अच्छा होगा कि दोनोंका ही उद्गम वही वैपुल्यवाद, हेतुवाद या उत्तरापथकवाद थे।

पिर्हो ज्ञानको असाध्य साबित करनेके लिए कहता है—किन्तु किसी चीजको ठीक साबित करनेके लिए या तो उसे स्वतः प्रमाण मान लेना होगा; जो कि गलत तर्क है, या दूसरी चीज़को प्रमाण मानकर चलना होगा; जिसके लिये कि फिर प्रमाणकी ज़रूरत होगी। नागार्जुनने "विग्रह-व्यावर्तनी"में ठीक इन्हीं युक्तियों द्वारा प्रमाणकी प्रामाणिकताका खंडन किया है।

ईश्वर-खंडन—पिर्होके अनुयायी स्तोइकोंके ब्रह्म (=ईश्वर)वादका खंडन करते थे। स्तोइक कहते थे—"जगत्की सृष्टिमें खास प्रयोजन मालूम होता है और वह प्रयोजन तभी हो सकता है, जब कि कोई चेतनशक्ति उसे सामने रखकर संसारकी सृष्टि करे। इस तरह **प्रयोजनवाद** ईश्वरकी हस्तीको सिद्ध करता है।" संदेहवादियोंका कहना था—"जगत्में कोई ऐसा प्रयोजन नहीं दीख पड़ता, वहाँ न बुद्धिपूर्वकता दिखाई पड़ती है, और न वह शिव सुन्दर ही है। बुद्धिपूर्वकता होती तो गलती कर-कर-

के—हजारों ढाँचोंको नष्ट कर-करके—नये स्वरूपोंकी अस्थायी हस्तीके आनेकी जरूरत नहीं होती; और दुनियाको शिव सुन्दर तो वही कह सकते हैं जो सदा स्वप्नकी दुनियामें विचरण करते हैं। यदि दुनियामें यह बातें भी नहीं होतीं, तो भी उससे ईश्वर नहीं, स्वाभाविकता ही सिद्ध होती। स्तोइक (और वेदान्ती भी) ईश्वरको विश्वात्मा मानते हैं। पिर्होके अनुयायी कहते थे कि "तब उसका मतलब है कि वह वेदना या अनुभव करता है। जो वेदना या अनुभव करता है, वह परिवर्तनशील है; जो परिवर्तनशील है, वह नित्य एक-रस नहीं हो सकता। यदि वह अपरिवर्तनशील एकरस है, तो वह एक कठिन निर्जीव पदार्थ है। और विश्वात्माको शरीरधारी माननेपर मनुष्यकी भाँति उसे परिवर्तनशील—नाशवान् तो मानना ही होगा। यदि वह शिव (अच्छा) है, तो वह मनुष्यकी भाँति आचारकी कसौटीके अन्दर आ जाता है, और यदि शिव नहीं, तो घोर है और मनुष्यसे निम्नश्रेणीका है। इस प्रकार ईश्वरका विचार परस्पर-विरोधी दलीलोंसे भरा हुआ है। हमारी बुद्धि उसे ग्रहण नहीं कर सकती, इसलिए उसका ज्ञान असम्भव है।"

पिर्होके बाद उसके दार्शनिक सम्प्रदायके कितने ही आचार्य हुए, जिनमें मुख्य थे—अर्कोसिलो[१] (३१५-२४१ ई० पू०), कर्न्योद[२] (२१३-१२९ ई० पू०), अस्कालोनका अन्तियोक[३] (६८ ई०), लारिस्साका फिलो[४] (८० ई०), क्लितोमाख[५] (११० ई०)।

संदेहवादके अनुयायी कितने ही अच्छे-अच्छे दार्शनिक विद्वान् होते रहे, किन्तु सभी स्तोइकोंकी भाँति आकाशविहारी थे; इनका काम ज्यादातर निषेधात्मक या ध्वंसात्मक था, और सामने कोई रचनात्मक प्रोग्राम नहीं था। इसलिए ईसाइयतने स्तोइकोंके साथ इन कोरे फिलासफरोंका भी खातमा कर दिया।

---

[1] Arcosilaus. [2] Carneodes. [3] Antiochus of Ascalon. [4] Philo of Larissa. [5] Clitomachus.

४—नवीन-अफ़लातूनी दर्शन

पश्चिममें यूनानी दर्शनने अपने अन्तिम दिन नव-अफलातूनी दर्शनके रूपमें देखे। यह पाश्चात्य दर्शन और पौरस्त्य योग, रहस्यवाद, अध्यात्म-शास्त्रका एक अजीब मिश्रण था और यवन-रोमन सभ्यताके पतन और बुढ़ापेको प्रकट करता था। यूनानी दर्शनोंमें हम देख चुके हैं कि अफलातूँका लोकोत्तर विज्ञानवाद धर्म और अध्यात्मविद्याके सबसे अधिक नज़दीक था।

ईसा-पूर्व पहिली सदीमें रोम-साम्राज्यमें दो बड़े-बड़े शहर थे, एक तो राजधानी **बिजन्तिउम्** या आधुनिक इस्तांबोल (कुस्तुन्तुनिया) और दूसरा मिश्रका सिकन्दरिया। दोनों पूर्व और पश्चिमके वाणिज्य ही नहीं, संस्कृति, धर्म, दर्शन, कला सबके विनिमयके स्थान थे। बिजन्तिउम् था युरोपकी भूमिपर, किन्तु उसपर पश्चिमकी अपेक्षा पूरबकी छाप ज्यादा थी। सिकन्दरियाके बारेमें कह चुके हैं कि वह व्यापारका केन्द्र ही नहीं था बल्कि विद्याके लिये पश्चिमकी नालन्दा थी। ईसा-पूर्व पहिली सदीमें लंकाके 'रत्न-माल्य चैत्य (**रुवन्वेलि स्तूप, अनुराधपुर**)के उद्घाटन-उत्सवमें सिकन्दरियाके बौद्ध भिक्षु **धर्मरक्षित**के आनेका जिक्र[1] आता है, वह यही सिकन्दरिया हो सकती है; और इससे मालूम होता है कि ईसापूर्व तीसरी सदीमें अशोककी सहायतासे जो भिक्षु विदेशों और यवनलोक (यूनानी साम्राज्य)में भेजे गये थे, उन्होंने सिकन्दरियामें भी अपना मठ कायम किया था। धर्म व्यापारका अनुगमन करता है, यह कहावत उस वक्त भी चरितार्थ थी। जहाँ-तहाँ विदेशोंमें भारतीय व्यापारी बस गये थे, जिनसे उनके धर्म-प्रचारकोंको उस देशके विचार तथा समाजके बारेमें जाननेका ही अधिक सुभीता न होता था, बल्कि ये व्यापारी उनके मठोंके बनाने और शरीर-निर्वाहके लिये मदद देते थे। यूनानके राष्ट्रीय अधःपतन और

---

[1] **महावंश २६।३६ (भदंत आनंद कौसल्यायनका हिन्दी-अनुवाद, पृष्ठ १३६)।**

निराशाके समय पूर्वीय साधुओं, योगियोंकी योग-तपस्या, संसारकी असारता परलोकवादकी ओर लोगोंका ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक था, और हम देखते हैं कि हजारों शिक्षित, संस्कृत रोमक और यवन 'सत्य और निर्वाण'के साक्षात्कारके लिए सिकन्दरियासे रेगिस्तानका रास्ता लेते हैं। वहाँ वे दरिद्रता, उपवास, योग और भजनमें अपने दिन गुजारते हैं। दुनिया छोड़कर भागनेवाले इस समुदायमें सैनिक, व्यापारी, दार्शनिक, महात्मा सभी शामिल थे। यद्यपि सिकन्दरियामें अफलातूँ ही नहीं, अरस्तूका यथार्थवादी दर्शन भी पढ़ा-पढ़ाया जाता था, किन्तु जो दुनियासे ऊब गये थे और जिन्हें सुधारका कोई रास्ता नहीं दिखाई पड़ता था, वे अफलातूँके विज्ञानवादको ही सबसे ज्यादा पसन्द करते।

पश्चिमी जगत्‌का, उस समय भारतकी ही नहीं, ईरानकी भी पुरानी संस्कृतिसे सम्बन्ध था, बल्कि पासका पड़ोसी होनेसे ईरानका सम्बन्ध ज्यादा नजदीकका था। ईरान, दर्शनकी उड़ानमें हमेशा भारतसे पीछे रहा। पिथागोर (५७०-५०० ई० पू०) और सिकन्दर (३५६-२३ ई० पू०)के समयसे ही भारत अपनी सम्पत्तिके लिये ही नहीं, दार्शनिकों और योगियोंके लिये भी मशहूर था। इसीलिए यूनानी दर्शनको नवीन अफलातूनीय दर्शनके रूपमें परिणत करनेका श्रेय भारतीय दर्शनको ही है। निराशावाद, रहस्यवाद, दुःखवाद, लोकोत्तरवाद वहीं उठते हैं, जहाँकी भूमि वहाँके समाजके नायकोंको असन्तुष्ट कर देती है—या तो बाहरके युद्ध, राज्यक्रान्ति और उनके कारण होनेवाले दुर्भिक्ष, महामारी जीवनको कड़ुवा बना देते हैं, अथवा समाजके भीतरकी विषमता—गन्दगी, समृद्धि भोगोंको 'चंचला लक्ष्मी' बना असन्तोषकर बना देती हैं। सातवीं-छठवीं सदी ई० पू०में भारतमें उपनिषत्‌का निराशावाद, रहस्यवाद, इन्हीं परिस्थितियोंमें पैदा हुआ था और समाजको बदलनेकी जगह स्थिरता प्रदान कर भारतने इन विचार-धाराओंको भी स्थिरता प्रदान की। पीछे आनेवाले बौद्ध-जैन तथा दूसरे दर्शन उसी निराशावाद और रहस्यवादके नये संस्करण हैं, आखिर सामाजिक विकासके रुक जानेपर भी बौद्धिक विकास

तो भारतीयोंका कुछ होता ही रहा, जिसकी वजहसे निराशावाद और रहस्यवादको भी नये रूप देनेकी ज़रूरत पड़ी। भारतने समाजको नया करनेमें तो सिर खपाना नहीं चाहा, क्योंकि सदियाँ बीतती गईं और गंदगियाँ जमा होती रहीं—बढ़ते कर्जको मुलतवी करनेवाले ऋणीकी भाँति उनका सफाया करना और मुश्किल हो गया। ऐसी विषम परिस्थितिमें बिल्लीके सामने कबूतरके आँख मूँदने या शुतुर्मुर्गके बालूमें मुँह छिपानेकी नीति आदमीको ज्यादा पसन्द आती है। भारतने निराशावाद-रहस्यवादको अपनाकर उसके उपनिषद्, जैन, बौद्ध, योग, वेदान्त, शैव, पाँचरात्र, महायान, तंत्र-यान, भक्तिमार्ग, निर्गुणमार्ग, कबीरपन्थ, नानक-पन्थ, सखी-समाज, ब्रह्म-समाज, प्रार्थनासमाज, आर्यसमाज, राधा-बल्लभीय, राधास्वामी आदि नये संस्करणोंका करके उसी बिल्ली-कबूतर-नीतिका अनुसरण किया।

भारतकी तरहकी परिस्थितिमें जब दूसरे देश और समाज भी आ पड़ते हैं, उस समय यही आजमूदा नुस्खा वहाँ भी काम आता है। आज युरोप, अमेरिकामें जो बौद्ध, वेदान्त, थ्योसोफी, प्रेतविद्याकी चर्चा है, वह भी वही शुतुर्मुर्गी नीति है—समाजके परिवर्तनकी जगह लोकसे 'भागने'का प्रयत्न है।

ईसापूर्व पहिली सदीका यवन-रोमका नायक-शासक समाज, भोग समृद्धिमें नाक तक डूबा, सामाजिक विषमता और गंदगीके कारण अनिश्चित भविष्य तथा अजीर्णका शिकार था। वह भी इस परिस्थितिसे जान छुड़ाना चाहता था, इसके लिये उसका स्वदेशीय नुस्खा अफलातूँका दर्शन काफी न था, उसके लिए और कड़ी बोतल जरूरी थी, जिसके लिए उन्होंने भारतीय रहस्यवाद-निराशावादको अफलातूनी दर्शनमें मिला दिया। इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष सारी दुनिया माया, भ्रम, इन्द्र-जाल है, मानस (विज्ञान) जगत् ही सच्चा है। सत्य और मानसिक शान्ति तभी मिल सकती है, जब कि मनुष्य जीवनसे अलग हो। एक लम्बे संयम-यम-नियम-के साथ, इसी जन्मकी नहीं, अनेक जन्मकी संसिद्धिके साथ उस अकथ,

अज्ञेय, रहस्यमयी दुनियाको जाननेपर, हृदयकी गाँठें टूट जाती हैं; सारे संशय छिन्न हो जाते हैं, लाखों जन्मके दोष (कर्म) क्षीण हो जाते हैं; उस पर-अपर (परले-उरले)को देख कर।"

नवीन-अफलातूनीय दार्शनिकोंमें सिकन्दरियाका फिलो यूदियो (ई० पू० २५ से ५० ई०) बहुत महत्त्व रखता है। उसने अफलातूँ और भारतीय दर्शनके साथ यहूदी शिक्षाका समन्वय करना चाहा; इसके लिए उसने यहूदी फरिश्तोंको भगवान् और मनुष्यके बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाले अफलातूनी विज्ञानका आलंकारिक रूप बतलाया।

लेकिन यह आलंकारिक व्याख्या उतनी सफल नहीं हुई; जिसपर इस कामको प्लोतिन[1] (२०५-७१ ई० पू०) ने अपने हाथमें लिया। नाशोन्मुख भव्य प्रासादके कंगूरे, मीनार, छत और दीवारें एक-एक ईंट करके गिरते हैं, वही हालत पतनोन्मुख संस्कृतिकी भी होती है। ईसाकी तीसरी सदीके आरम्भमें रोमन संस्कृति भी उस अवस्थामें पहुँच गई थी। प्लोतिन उसका ही प्रतीक था। प्लोतिन और उसके जैसे दूसरे विचारक भी वस्तु-स्थितिसे मुकाबिला करनेसे जी चुराना चाहते हैं। वह दुनियाकी सारी व्यवस्था—समाजकी गंदगियों—को जाननेकी काफी समझ रखते हैं, किन्तु अज्ञान, कायरपन या अपने समृद्धवर्गके स्वार्थके ख्यालसे उस व्यवस्थाके उलटनेमें योगदान नहीं करना चाहते उन्हें इससे अच्छी वह ख्याली-दुनिया मालूम होती है, जिसका निर्माण बड़े यत्नके साथ अफलातूँने किया था। नवीन-अफलातूनीय दर्शनकी शिक्षा थी—"सभी चीजें एक अज्ञेय परमतत्त्व[2], अनादि विज्ञान[3]से पैदा हुई हैं। परमात्मासे उनका सम्बन्ध वस्तुके तौरपर नहीं, बल्कि कल्पनाके तौर-पर है, यही कल्पना करना उस परमतत्त्वके अस्तित्वका परिचायक है। परमतत्त्वके किसी गुणको समझनेके लिये हमारे पास कोई इन्द्रिय या साधन नहीं है। उस परमतत्त्वसे एक आत्मा पैदा होता है, जिसे ईश्वर

---

[1] Plotinus. [2] Absolute. [3] Intelligence.

कहते हैं और जो विश्वका सृष्टिकर्ता है। शंकरके वेदान्तमें भी ईश्वर (परमात्मा)को परमतत्त्व मानते हैं। यह ईश्वर या "दिव्य विज्ञान" ध्यान करके[1] अपने शरीरसे विश्व-आत्माको पैदा करता है, जो कि विश्वका भी आत्मा है, दुनियाके अनगिनत जीवात्माओंका भी। दुनिया अब तैयार हो गई। किन्तु दिव्य-विज्ञानका काम इतनेसे समाप्त नहीं होता; वह लगातार आत्माओंको प्रकटकर इस देखनेकी दुनियामें भेज रहा है और जिन्होंने अपने सांसारिक कर्तव्यको पालन कर लिया है, उन्हें अपनी गोदमें वापस ले रहा है।

अफलातूंने प्रयोग या अनुभवसे ऊपर, बुद्धिको माना था; किन्तु नवीन-अफलातूनी समाधिके साक्षात्कार, आत्मानुभूति[2]को बुद्धिसे भी ऊपर मानते थे। प्लोतिनुने कहा—"उस सर्व महान् (परमतत्त्व)को बुद्धिके चिन्तनसे नहीं बल्कि अचिन्तनसे, बुद्धिसे परे जाकर जाना जा सकता है।"

इस रहस्यवादने ईसाई-धर्म और खासकर ईसाई सन्त अगस्तिन् (३५४-४३० ई०) पर बहुत प्रभाव डाला। आज भी पूर्वीय ईसाई चर्च (स्लावदेशोंकी ईसाइयत)पर भारतीय नवीन-अफलातूनीय दर्शनकी जबर-दस्त छाप है, योग, ज्ञान, वैराग्यका दौर दौरा है। पश्चिमी रोमन कैथ-लिक चर्चको सन्त तामस् अकिवना (१२२५–७४ ई०)ने जमीनपर लानेकी कुछ कोशिश की, मगर रहस्यवादसे धर्मका पिंड छूट हो कैसे सकता है?

६७ ई० पू०में रोमनोंने सिकन्दरियापर अधिकार किया। उसके बाद उसका वैभव क्षीण होने लगा। आमतौरसे दर्शनकी ओर उनकी विशेष रुचि न थी तो भी कुछ रोमनोंने यूनानी दर्शनके अध्ययन-अध्यापनमें सहायता की। सिसरो (१०६-४३ ई० पू०)का नाम इस बारेमें विशेषतः उल्लेखनीय है, उसके ग्रंथोंने पीछे भी यूनानी दर्शनको जीवित रखनेमें बहुत काम किया। लुक्रेशियो (९८-५५ ई० पू०)ने देमोक्रितुके परमाणु-वादको हम तक पहुँचानेमें बड़ी सहायता की। स्तोइक दार्शनिक सम्राट्

---

[1] "सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात्" -मनु० १।८

[2] Intuition.

मर्कस् औरेलियस् (१२१-८० ई०)का जिक्र पहले आ चुका है। यूनानी दर्शनके बारेमें अंतिम लेखनी बोयथेऊ[1] (४८०-५२४)की थी, जो कि दिग्नाग (४५० ई०) और धर्मकीर्ति (६०० ई०)के बीचके कालमें पैदा हुआ था और जिसने "दर्शनके-सन्तोष"[2] नामक ग्रन्थ लिखा था। इस ग्रंथने बहुत दिनों तक विद्यार्थियोंके लिये प्रकरण या परिचय-ग्रंथका काम दिया।

ईसाई-धर्मपर पीछे नवीन-अफलातूनीय दर्शनका असर पड़ा जरूर, किंतु शुरूमें ईसाई-धर्म प्रचारक दर्शनको घृणाकी दृष्टिसे देखते थे और ईसाके सीधे-सादे जीवन तथा गरीबोंके प्रेमकी कथायें कहकर साधारण जनताको अपनी ओर खींच रहे थे। उनका जोर, ज्ञान और वैयक्तिक प्रयत्नपर नहीं बल्कि विश्वास और आत्मसमर्पणपर था। आदिम ईसाई नेता दर्शनको खतरनाक समझते थे। ३९० ई० में लाटपादरी थेवफिलने धर्म-विरोधी पुस्तकोंका भंडार समझकर सिकन्दरियाके सारे पुस्तकालयोंको जलवा दिया। ४१५ ई० में सिकन्दरियाके ज्योतिषी थ्योन[3]की लड़की तथा स्वयं गणितकी पंडिता हिपातिया[4]का ईसाई धर्मान्धों-ने बड़ी निर्दयताके साथ वध किया। ऐसे कितने ही पाशविक वधों और अत्याचारोंसे ईसाके धर्मान्धोंको संतोष नहीं हुआ और अन्तमें ५२९ ई० में—जिस शताब्दीमें भाव्य, चन्द्रकीर्ति, प्रशस्तपाद उद्योतकर जैसे दार्शनिक तथा वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त जैसे ज्योतिषी हमारे यहाँ स्वतन्त्र चिन्तनमें लगे थे—ईसाई राजा जस्तीनियनने राजाज्ञा निकाल दर्शनके सभी विद्यालयोंको बन्द कर दिया। तबसे युरोपमें सात सौ वर्षोंकी काल-रात्रि शुरू होती है, जिसमें दर्शन विस्मृत सा हो जाता है।

५—अगस्तिन (३५३-४३० ई०)

यूनानी दर्शनके साथ शुरूमें ईसाइयतका बर्ताव कैसा रहा? इसका जिक्र हम कर चुके हैं। लेकिन तलवारसे ज्ञानकी चोट जबर्दस्त होती

---

[1] Boetheus. [2] Consocations. [3] Theon. [4] Hipatia.

है। जिस समय (३९०) लाट-पादरी थेवफिल सिकन्दरियाके पुस्तकालयोंको जला रहा था, उस समय ओरेलियो अगस्तिन ४७ वर्षका था, और यद्यपि वह अब ईसाई साधु था, किन्तु पहिलेके पढ़े दर्शनको वह भूल नहीं सकता था; इसीलिये उसने दर्शनको ईसाई-धर्मकी खिदमतमें लगाना चाहा।

अगस्तिन तगस्तेर (उत्तरी अफ्रीका) में ईसाई माँ (मोनिका) और काफिर बापसे पैदा हुआ था। साधु होनेके बाद तीन साल (३८४-८६) तक वह मिलन (इतालों) में पादरी रहा। उसने यूनानी दार्शनिकोंकी भाँति युक्तिद्वारा ईसाई-धर्मका मंडन करना चाहा—ईश्वरने दुनियाको 'असत्' से नहीं पैदा किया। अपने विकासके वास्ते यह बात उसके लिए जरूरी नहीं है। ईश्वर लगातार सृष्टि करता रहता है। ऐसा न हो तो संसार छिन्न-भिन्न हो जाय। संसार बिल्कुल ही ईश्वरके अवलंबनपर है। संसार काल और देशमें बनाया गया—यह हम नहीं कह सकते, क्योंकि जब ईश्वरने संसार बनाया उससे पहिले देश-काल नहीं थे। संसार-को बनाते हुए उसने देश-कालको बनाया! तो भी ईश्वरकी सृष्टि सदा रहनेवाली सृष्टि नहीं है। संसारका आदि है; सृष्टि सान्त, परिवर्तन-शील और नाशमान है। ईश्वर सर्व शक्तिमान् है, उसने भौतिक तत्त्वों-को भी पैदा किया।

२—इस्लामिक दर्शन

द्वितीय अध्याय

२—इस्लामिक दर्शन

पैगंबर मुहम्मद और इस्लामकी सफलता

§ १—इस्लाम

ईसाकी छठीं सदी वह समय है, जब कि भारतमें एक बहुत शक्तिशाली राज्य—गुप्त साम्राज्य—खतम होकर छोटे-छोटे राज्योंमें बँटने लगा था, तो भी अन्तिम बिखरावके लिए अभी एक सदीकी देर थी। गुप्तोंके बाद उत्तरी भारतके एक विशाल केन्द्रीकृत राज्यको पहिले मौखरियोंने और फिर अन्तमें काफी सफलताके साथ हर्षवर्द्धनने हस्तावलम्ब दिया था। जिस वक्त इस्लामके संस्थापक पैगंबर मुहम्मद अपने धर्मका प्रचार कर रहे थे, उस वक्त भारतमें हर्षवर्द्धनका राज्य था, और दर्शन-नभमें धर्मकीर्त्ति जैसा एक महान् नक्षत्र चमक रहा था।

छठी सदीका अरब हाल तकके अरबकी भाँति ही छोटे-छोटे स्वतन्त्र कबीलोंमें बँटा हुआ था। आजकी भाँति ही उस वक्त भी भेड़-ऊँटका पालना और एक दूसरेको लूटना अरबोंकी जीविकाके "वैध" साधन थे। हाँ, इतना अन्तर कमसे कम पिछले महायुद्ध (१९१४-१८ ई०)के बादसे जरूर है, कि इब्न-सऊदके शासनमें कुछ हद तक कबीलोंकी निरंकुशताको अरबके बहुतसे भागोंमें कम किया गया। पैगंबर मुहम्मदके समय अरबके कुछ भाग तथा लाल-सागरके उस पार अबीसीनियाका ईसाई राज्य था। उसके ऊपर मिश्र रोमनोंके हाथमें था। उत्तरमें सिरिया

(दमिश्क) आदि रोमन कैसर (राजधानी बिजन्तियुम् कस्तुन्तुनिया, वर्तमान इस्ताम्बूल)के शासनमें था। पूर्वमें मेसोपोतामिया (इराक) और आगे ईरानपर सासानी (पारसी) शाहंशाह शासन कर रहे थे। अरब बद्दू (खानाबदोश) कबीलोंका रेगिस्तानी इलाका था। उसके पश्चिमी भागमें मक्का (बक्का) और यस्रिब् (मदीना)के शहर वाणिज्य-मार्गपर होनेसे खास महत्त्व रखते थे। यस्रिबका महत्त्व तो उसकी तिजारत और यहूदी सौदागरोंके कारण था, किन्तु मक्का सारी अरब जातिका महान् तीर्थ था, जहाँपर सालमें एक बार लड़ाकू अरब भी हथियार हाथसे हटा रोजा रख श्रद्धापूर्वक तीर्थ करने आते थे; और इसी वक्त एक महीनेके लिए वहाँ व्यापारिक मेला भी लग जाता था।

१—पैगंबर मुहम्मद

(१) जीवनी—अरबोंका सर्वश्रेष्ठ तीर्थ होनेके कारण मक्काके काबा-मन्दिरके पुजारियों (पंडों)को उससे काफी आमदनी ही नहीं थी, बल्कि वह कुल और संस्कृतिमें अरबोंमें ऊँचा स्थान रखते थे। पैगंबर मुहम्मदका जन्म ५७० ई०में मक्काके एक पुजारी वंश—कुरैश—में हुआ। उनके माता-पिता बचपनहीमें मर गये, और बच्चेकी परवरिशका भार दादा और चाचापर पड़ा।

मक्काके पुजारी पूजा-पंडापनके अतिरिक्त व्यापार भी किया करते थे। एक बार उनके चाचा अबूतालिब जब व्यापारके लिये शामकी ओर जा रहे थे, तो बालक मुहम्मदने ऊँटकी नकेल पकड़कर ले चलनेका इतना जबर्दस्त आग्रह किया, कि उन्हें साथ ले जाना पड़ा। इस तरह होश सँभालनेसे पहिले ही इस्लामके भावी पैगंबरने आस-पासके देशों, उनकी उर्वर और मरु-भूमियों, वहाँके भिन्न-भिन्न धार्मिक रीति-रवाजोंको देखा था। जवान होनेपर व्यापार-निपुणताकी बात सुनकर उनकी भावी पत्नी तथा मक्काकी एक धनाढ्य विधवा खदीजाने उन्हें अपने कारवाँका मुखिया बनाकर व्यापार करनेके लिए भेजा। पैगंबर मुहम्मद आजन्म

अनपढ़ (उम्मी) रहे, यह बात विवादास्पद है—खासकर एक बड़े व्यापारी कारवाँके सरदारके लिए तो भारी नुकसानकी चीज हो सकती है। यदि ऐसा हो तो भी अनपढ़का अर्थ अबुद्धि नहीं होता। तरुण मुहम्मद एक तीव्र प्रतिभाके धनी थे, इसमें सन्देह नहीं, और ऐसी प्रतिभाके साथ पुस्तकोंसे भी ज्यादा वह देश-देशान्तरके यातायात तथा तरह-तरहके लोगोंकी संगतिसे फ़ायदा उठा सकते थे, और उन्होंने फायदा उठाया भी।

पैगंबर मुहम्मदके अपने वंशका धर्म अरबकी तत्कालीन मूर्तिपूजा थी, और काबाके मन्दिरमें लाल, बक्क जैसे ३६० देवता और साथ ही किसी टूटे तारेका भग्न भाग एक कृष्ण-पाषाण (हज्र असवद्) पूजे जाते थे। पत्थरके देवता प्रकृतिकी सर्वश्रेष्ठ उपज मानवकी बुद्धिका खुल्लमखुल्ला उपहास कर रहे थे, किन्तु पुरोहित-वर्ग अपने स्वार्थके लिए हर तरहकी बुद्धि सुलभ चालाकियोंसे उसे जारी रखना चाहता था। मुहम्मद साहेब उन आदमियोंमें थे, जो समाजमें रूढ़िवश मानी जाती हर एक बातको बिना ननु-नचके मानना नहीं पसन्द करते। साथ ही अपनी वाणिज्य-यात्राओंमें वह ऐसे धर्मवालोंसे मिल चुके थे, जिनके धर्म अरबोंकी मूर्ति-पूजाकी अपेक्षा ज्यादा प्रशस्त मालूम होते थे। खासकर ईसाई साधुओं और उनके मठोंकी शान्ति तथा बौद्धिक वातावरण, और यहूदियोंकी मूर्ति-रहित एक-ईश्वर-भक्ति उन्हें ज्यादा पसंद आई थी। यह तो इसीसे साबित है कि कुरानमें यहूदी पैगंबरों और ईसाको भी भगवान्‌की ओरसे भेजे गये (रसूल) और उनकी तौरात (पुरानी बाइबल) और इंजीलको ईश्वरीय पुस्तक माना गया है। उनकी महिमाको बीसियों जगह दुहराया गया, और बार-बार यह बात साबित करनेका प्रयत्न किया गया है, कि उनमें एक पैगंबरके आनेकी भविष्यवाणी है, जो कि और दूसरा नहीं बल्कि यही मुहम्मद अरबी है। तत्कालीन अरब घोर मूर्तिपूजक और बहुदेव-विश्वासी जरूर थे, किन्तु साथ ही यहूदी, ईसाई तथा आस-पासके दूसरे धर्मानुयायियोंके सम्पर्कमें आनेसे यह बात भी स्वीकार करते थे, कि इन सब देवताओंके ऊपर एक ईश्वर (यह नहीं अल्लाह) है।

कहा जा सकता कि इस अल्लाहको वह यहूदियोंके यहोबाकी भाँति बिलकुल यहूदी पुरुषोंकी भाँति लंबी सफेद दाढ़ी, नूरानी पेशानी और लंबे चोगे वाला स्वर्गस्थ व्यक्ति मानते थे, अथवा ईसाइयों—खासकर नस्तोरी ईसाइयों (जिनकी संख्या कि उस समय शाम आदि देशोंमें अधिक थी)—के निराकार-साकार-मिश्रित भगवान् पिताकी तरह। हाँ, वह इस अल्लाहकी तरफसे भेजे खास व्यक्तियों (रसूलों) और किताबोंको नहीं मानते थे—अथवा वह स्थायी रसूलों और किताबोंकी जगह कुछ समयके लिए सिर पर देवता ले आने वाले ओझों—सयानोंको रसूल और उनके भाषणोंको आस्मानी किताबका स्थान देते थे। दोनों तरहके "रसूलों" और "किताबों"के फायदे भी हैं और नुकसान भी, किन्तु यह तो साफ है कि कबीलों-कबीलोंको मिलाकर एक बड़ी अरब कौम तथा कौमों-कौमोंको मिलाकर एक बड़ी धार्मिक सल्तनत कायम करनेके लिए ओझा—सयाने जैसे रसूल और उनके इलाही वचन बिलकुल अपर्याप्त थे। मुहम्मद साहेबने व्यापारी जीवनमें देखा होगा कि अरबके कबीलोंके इलाकेमें पद-पदपर लूट-मार तथा चुँगी-करकी आफतके मारे व्यापारी परेशान थे; यदि एक कबीलेके इलाकेमें अल्ला-अल्ला करके किसी तरह जान-माल बचाकर निकल भी गये, तो आगे ही दूसरा कबीला चुँगी या भेंट उगाहने तथा मौका पाते ही छापा मारनेके लिए तैयार दिखाई पड़ता था। इसके विरुद्ध जहाँ वह रोमके कैसर या ईरानके शाहके राज्यमें प्रवेश करते, वहाँ एक वार केन्द्रीय सर्कारके फ़र्माबरदार चुँगी-कर्मचारियोंको महसूल चुकाते ही रात-दिन भयके मारे दबे जाते उनके दिलपरसे एक भारी बोझ यकायक हट जाता दिखाई पड़ता था। इस तरहके चिरव्यापी तजर्बेके बिनापर हज़रत मुहम्मद यदि सभी कबीलोंको मिलाकर एक राज्य और छापा—लूटमार एवं जंगलके कानून—जिसकी लाठी उसकी भैंस—की जगह इस्लाम (=शान्ति)का विधान चाहते हों, तो आश्चर्य ही क्या है। एक शासन और शान्ति (=इस्लाम)स्थापनको अपना लक्ष्य बनाते हुए भी मुहम्मद साहेब जैसा मानव प्रकृतिका गंभीर परख रखनेवाला व्यक्ति

सिर्फ आँख मूँदकर स्वप्न देखनेवाला नहीं हो सकता था। वह भलीभाँति समझते थे कि जिस शान्ति, व्यापार और धर्म-प्रचारमें सशस्त्र बाधाको रोकना वह चाहते हैं, वह निश्चेष्ट ईश्वर, प्रार्थना तथा हथियार रख निहत्थे बन जानेसे स्थापित नहीं हो सकती। उसके लिए एक उद्देश्यको लेकर आदमियोंकी सुसंगठित सशस्त्र गिरोहकी ज़रूरत है, जो कि अपने दृढ़ संकल्प और सुव्यवस्थित शस्त्रबलसे इस्लाम (=शान्ति)-स्थापनामें बाधा देनेवालोंको नष्ट या पराजित करनेमें सफल हो।

हाँ, तो मुहम्मद साहेबके विस्तृत तजर्बेने उन्हें बतला दिया था, कि कबीलोंको एक विस्तृत राज्य बनाने, उस विस्तृत राज्यको अपनी सीमा तथा शक्ति बढ़ानेके लिए किन-किन बातोंकी आवश्यकता है। पुरोहितोंके मारे मक्काके समाजमें उनके धर्मका विरोध करते हुए एक नये धर्मका पैगंबर बनना आसान काम न था। मुहम्मद साहेब काफी आत्मसंयमी व्यक्ति थे, ईसाई साधुओंकी भाँति हेराकी गुफाओंमें भी उन्होंने कितनी ही बार एकान्तवास किया था।

(२) नई आर्थिक व्याख्या—चाहे वह तिब्बतकी हो, अरब, या हमारे सीमा प्रान्तकी, सभी कबीला-प्रथा रखने वाली जातियोंमें पशुपालन, कृषि या वाणिज्यके अतिरिक्त लूटकी आमदनी (=माले-ग़नीमत) भी वैध जीविका मानी जाती रही है। माले-ग़नीमतको बिलकुल हराम कर देनेका मतलब था, अरबोंके पुराने भावपर ही नहीं, उनके आर्थिक आयके ज़रियेपर हमला करना—चाहे इस तरहकी आयसे सारे अरब-परिवारोंको फायदा न पहुँचता हो, किन्तु जूयेके पासेकी भाँति कभी अपनी किस्मतके पलटा खानेकी आशाको तो वह छोड़ नहीं सकते थे। हज़रत मुहम्मदने "माले-ग़नीमत" नाम रखते हुए भी उसे ईरान और रोमके देशविजयकी "भेंटों" जैसे, किन्तु उससे विस्तृत अर्थमें बदलना चाहा, तो भी मालूम होता है, अरब-प्रायद्वीपमें यह प्रयत्न कभी सफल नहीं हुआ। वहाँके लोगोंने माले-ग़नीमतका वही पुराना अर्थ समझा और ऊपरसे उसे अल्लाहके आदेशके ऐन मुताबिक समझ लिया, जिसका ही परिणाम यह था, कि

अरबसे बाहर अन्-अरबी लोग जहाँ लूट-छापाके धर्मको हटाकर शान्ति (—इस्लाम) स्थापन करनेमें बहुत हद तक समर्थ हुए, वहाँ अरबी कबीले तेरह सौ वर्ष पहिलेके पुराने दस्तूरपर आज भी करीब-करीब कायम मालूम होते हैं। जो कुछ भी हो, माले-गनीमतकी नई व्याख्या—विजयसे प्राप्त होने वाली आमदनी, जिसमेंसे ⅕ सरकारी खजाने (बैत्-उल्-माल) को मिलना चाहिए और बाकी योद्धाओंमें बराबर-बराबर बाँट देना चाहिए—विस्तृत राज्य-स्थापन करनेकी इच्छावाले एक व्यवहार-कुशल दूरदर्शी शासककी सूझ थी; जिसने आर्थिक लाभकी इच्छाको जागृत रखकर, पहिले अरबी रेगिस्तानके कठोर जीवन-वाले बद्दू तरुणों और पीछे हर मुल्कके इस्लाम-लाने वाले समाजमें प्रतारित तथा कठार-जीवी लोगोंको इस्लामी सेनामें भरती हानेका भारी आकर्षण पैदा किया; और साथ ही बढ़ते हुए बैत्-उल्-मालने एक बलशाली संगठित शासनकी बुनियाद रक्खी। माले-गनीमतके बाँटनेमें समानता तथा खुद अरबी कबीले वाले व्यक्तियोंके भीतर भाई-चारे बराबरीके ख्यालने इस्लामी "समानता"का जो नमूना लोगोंके सामने रखा, वह बहुत अंशमें कुछ समय तक और पिछले अंशमें बहुत कुछ सदा एक भारी संगठन पैदा करनेमें सफल हुआ है।

माले-गनीमतकी इस व्याख्याने आर्थिक वितरणके एक नये जबर्दस्त क्रान्तिकारी रूपको पेश किया, जिसने कि अल्लाहके स्वर्गीय इनाम तथा अनन्तजीवनके ख्यालसे उत्पन्न होने वाली निर्भीकतासे मिलकर दुनियामें वह उथल-पुथल की, जिसे कि हम इस्लामका सजीव इतिहास कहते हैं। यह सच है, कि माले-गनीमतकी यह व्याख्या कितने ही अंशोंमें दारयोश (दारा), सिकन्दर, चन्द्रगुप्त मौर्य ही नहीं दूसरे साधारण राजाओंके विजयोंमें भी मानी जाती थी; किन्तु वह उतनी दूर तक न जाती थी। वहाँ साधारण योद्धाओंमें वितरण करते वक्त उतनी समानताका ख्याल नहीं रखा जाता था; और सबसे बढ़कर कमी तो यह थी, कि विजित जातिके साधारण निःस्व लोगोंको इसमें भागीदार बननेका कोई

मौका न था। इस्लामने विजित जातिके अधिकांश धनी और प्रभु-वर्गको जहाँ पामाल किया, वहाँ अपनी शरणमें आनेवाले—खासकर पीड़ित—वर्गको विजय-लाभमें साझीदार बनानेका रास्ता बिलकुल खुला रक्खा। स्मरण रखना चाहिए, इस्लामका जिससे मुकाबिला था, वह सामन्तों-पुरोहितोंका शासन था, जो कि सामन्तशाही शोषण और दासताके आर्थिक ढाँचेपर आश्रित था। यह सही है कि इस्लामने इस मौलिक आर्थिक ढाँचेको बदलना अपना उद्देश्य कभी नहीं घोषित किया, किन्तु उसके मुकाबिलेमें अरबमें अभ्यस्त कबीलों वाले भ्रातृत्व और समानताको जरूर इस्तेमाल किया, जिससे कि उसने सीमित शासक वर्गके नीचेकी साधारण जनताके कितने ही भागको आकर्षित और मुक्त करनेमें सफलता पाई। यद्यपि इस्लामने कबीलेके पिछड़े हुए सामाजिक ढांचेसे यह बात ली थी, किन्तु परिणामतः उसने इस अर्थमें एक प्रगतिशील शक्तिका काम किया; और सड़ाँद फैलाने वाले बहुतसे सामन्त-परिवारों और उनके स्वार्थोंको नष्टकर, हर जगह नई शक्तियोंको सतहपर आनेका मौका दिया। यह ठीक है कि यह शक्तियाँ भी आगे उसी 'रफ्तार-बेढंगी'को अख्तियार करनेवाली थीं। दासों-दासियोंको मालिककी सम्पत्ति तथा युद्धमें लूटका माल बनानेके लिए अकेले इस्लामको दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि उस वक्तका सारा सभ्य संसार—चीन, भारत, ईरान, रोम—इसे अनुचित नहीं समझता था।

यहूदी और ईसाई धर्म-पुस्तकोंका पैगंबर अरबी कबीलोंकी दृष्टिसे गंभीरतापूर्वक अध्ययन किया था—यदि वह वस्तुतः अनपढ़ थे, तो उन्होंने ध्यानसे उन्हें सुना था। और फिर चालीस वर्षकी अवस्थामें खूब आगा-पीछा सोचकर उन्होंने अपनेको अल्लाहका भेजा (रसूल) घोषित किया। उनकी जीवनीकी बहुत सी बातों तथा कुरानकी शिक्षाके बारेमें मैं अपने "कुरान-सार"में लिख चुका हूँ, इसलिए उन्हें यहाँ नहीं लिखना चाहता, न वह इस पुस्तकका विषय है। पैगंबर मुहम्मदने सही मानेमें "घरसे दानारम्भ"की अंग्रेजी कहावतको चरितार्थ किया, और पहिले-

इस्लामके लिए इसलिए भी जरूरी था—एक कबीलेके इलाह को दूसरे क्यों कबूल करने लगे। फिर एक अल्लाह और नई आर्थिक व्याख्याको लेकर जबतक एकीकरण सिर्फ अरबोंके बीच था, तबतक एक भाषा, एक संस्कृति—एक जातीयता—के कारण कोई भारी दिक्कत पेश नहीं हुई; किन्तु जब अन्-अरब जातियाँ इस्लामके धार्मिक और लौकिक राज्यमें शामिल होने लगीं, तो सिर्फ एक अल्लाह तथा उसके रसूलसे काम चलने वाला न था। दो सभ्यताओंके प्रतिनिधि दो जातियोंका जब समागम चाहे खुशीसे या जबर्दस्तीसे होता है—तो दोनोंका आदान-प्रदान तो स्वाभाविक है, किन्तु जब एक दूसरेको लुप्तकर उसकी जगह लेना चाहती है, तो मामला बेढब हो जाता है, क्योंकि राज्य-शासनकी अपेक्षा संस्कृतिकी जड़ ज्यादा गहरी होती है। इसी सांस्कृतिक झगड़ेने आगे चलकर अरबोंके इस्लामी शासनको अन्-अरबी शासनमें परिणत कर दिया, यह हम अभी बतलाने वाले हैं। किन्तु, उससे पहिले हम अरब-अरब समागमकी पहिली प्रतिक्रियाका अरबोंके भीतर क्या असर पड़ा, उसे बतलाना चाहते हैं।

तीसरे खलीफा उस्मान (६४४-५६ ई०)ने सिरियाकी विजयके बाद उमैय्या-वंशके सर्दार म्वावियाको दमिश्कका गवर्नर बनाकर भेजा। दमिश्क रोमन-क्षत्रपकी राजधानी था, और वहाँका राज-प्रबंध रोमन-कानून रोमन-राज-व्यवस्थाके अनुसार होता था। म्वावियाके सामने प्रश्न था, नये मुल्कका शासन किस ढंगसे किया जाये? क्या वहाँ अरबी कबीलोंकी राज्य-व्यवस्था लागू की जाये, या रोमन सामन्तशाही व्यवस्थाको रहने दिया जाये। इस प्रश्नको तलवार नहीं हल कर सकती थी, क्योंकि शासन-परिवर्तनसे कानूनी तथा सामाजिक ढाँचेका बदलना कहीं ज्यादा मुश्किल है। फिर सामन्तशाही व्यवस्था कबीलाशाहीके आगेका विकास है, सामन्त-शाहीसे कबीलाशाहीमें ले आना मानव-समाजकी प्रगतिको पीछेकी ओर मोड़ना था। म्वावियाकी व्यावहारिक बुद्धि भलीभाँति समझ सकती थी कि ऐसा करनेके लिए सिरियाके लोगोंको पहिले बद्दू तथा अर्ध-बद्दू कबीलेमें परिवर्तित करना होगा। उसकी पैनी राजनीतिक दृष्टि बतलाती

थी कि उससे कहीं अच्छा यह है, कि रोमन सामन्ती ढाँचेको रहने दिया जावे और लोगोंको अपने शासन मानने तथा अधिकसे-अधिक आदमियोंको इस्लाममें दाखिलकर उसे मजबूत करनेका प्रयत्न किया जाये। म्वावियाने रोम-राज्यप्रणालीको स्वीकार किया।

इस्लामको जो लोग अरबियतका अभिन्न अंग समझते थे, उन्हें यह बुरा लगा। जिन्होंने पैगंबरके सादे जीवनको देखा था, जिन्होंने कबीलोंकी विलासशून्य, भ्रातृत्वपूर्ण समानताके जीवनको देखा था, उन्हें म्वावियाकी हरकत बुरी लगी। शायद गाढ़ेकी चादर ओढ़े खजूरके नीचे सोनेवाला अथवा दासको ऊँटपर चढ़ाये यरुशिलममें दाखिल होनेवाला उमर अब भी खलीफा होता, तो म्वाविया वैसा न कर सकता, किन्तु समय बदल रहा था। पैगंबरके दामाद और परम विश्वासी अनुयायी अलीको जब मालूम हुआ, तो उन्होंने इसकी सख्त निन्दाकी, इसे इस्लामपर भारी प्रहार समझ उसके खिलाफ आवाज उठाई। उनका मत था कि हमारी सल्तनत चाहे रोमपर हो या ईरानपर, वह अरबी कबीलोंकी सादगी-समानताको लिये होनी चाहिए। अलीकी आवाज अरण्य-रोदन थी। सफल शासक म्वावियासे खलीफा उस्मानको नाराज होनेकी जरूरत न थी। म्वाविया और अलीमें स्थायी वैमनस्य हो गया; किन्तु यह वैमनस्य सिर्फ दो व्यक्तियोंका वैमनस्य नहीं था, बल्कि इसके पीछे पहिले तो विकासमें आगे बढ़ी तथा पिछड़ी दो सामाजिक व्यवस्थाओं—सामन्तशाही एवं कबीलाशाही—की होड़का प्रश्न था; दूसरे दो सभ्यताओंकी टक्करके वक्त समझौते या "दोमेंसे केवल एक"का सवाल था।

अली (६५६-६१) पैगंबरके सगे चचेरे भाई तथा एक मात्र दामाद थे। अपने गुणोंसे भी वह उनके स्नेहपात्र थे, इसलिए कुछ लोगोंका ख्याल था कि पैगंबरके बाद खिलाफत उन्हींको मिलनी चाहिए थी; किन्तु दूसरी शक्तियाँ और जबरदस्त थीं, जिनके कारण अबूबकर, उमर और उस्मानके मरनेके बाद अलीको खिलाफत मिली। दमिश्कके जबर्दस्त गवर्नर म्वावियाकी उनकी अनबन थी, किन्तु कबीलोंकी बनावट मदीनामें

बैठे खलीफाको इजाज़त नहीं दे सकती थी, कि अली म्वावियाको गवर्नरी से हटाकर बनी-उमैय्या खान्दानको अपना दुश्मन बना गृहयुद्ध शुरू कर दें। अलीका शासन म्वावियाकी अर्धप्रकट बगावत तथा बाहरी सभ्यताओंसे इस्लामके प्रभावित होनेका समय था। यद्यपि अली म्वावियाका कुछ नहीं बिगाड़ सके; किन्तु, म्वावियाको अली और उनकी सन्तानसे सबसे अधिक डर था। अलीके मरनेके बाद म्वावियाने खिलाफतको अपने हाथमें करनेमें सफलता ज़रूर पाई, किन्तु पैगंबरकी एकलौती पुत्री फातमा तथा अलीके दोनों पुत्रों—हसन और हुसेन—के जीवित रहते वह कब सुखकी नींद सो सकता था। आखिर सीधे-सादे अरब तो खलीफाके शाही ठाट-बाट और अपनी अवस्थाको मुकाबिला करके म्वावियाके विरुद्ध आसानीसे भड़काये जा सकते थे। उसने हसनको तो उनकी बीबीके द्वारा जहर दिलाकर अपने रास्तेसे हटाया और हुसेनके खतरेको हटानेके लिए म्वावियाके बेटे यज़ीद ने षड्यन्त्र किया। यज़ीदने अधीनता स्वीकारकर झगड़ेको मिटा डालनेके लिए हुसेनको बड़े आग्रहपूर्वक कूफा (यही बस्राके सूबेदार यज़ीदकी उस वक्त राजधानी थी) बुलाया। रास्तेमें कर्बलाके रेगिस्तानमें किस निर्दयताके साथ सपरिवार हुसेनको मारा गया, वह दिल हिला देनेवाली घटना इतिहासके हर एक विद्यार्थीको मालूम है।

हुसैनकी शहादत दर्दनाक है। हर एक सहृदय व्यक्तिकी सहानुभूति हुसैन तथा उनके ६९ साथियोंके प्रति होनी ज़रूरी है। यज़ीदके सरकारी दबदबेके होते भी जब कर्बलाके शहीदोंके सत्तर सिर कूफामें यज़ीदके सामने रखे गये और नृशंस यज़ीदने हुसेनके सिरको डंडेसे हटाया तो एक बूढ़ेके मुँहसे यकायक आवाज निकल आई—"अरे! धीरे-धीरे! यह पैगंबरका नाती है। अल्लाहकी कसम मैंने खुद इन्हीं ओठोंको हज़रतके मुँहसे चुम्बित होते देखा था।" मानवताके न्यायालयमें हम यज़ीदको भारी अपराधी ठहरा सकते हैं; किन्तु प्रकृति ऐसी मानवता की कायल नहीं है, उसका हर अगला कदम पिछलेके ध्वंसपर बढ़ता है। आखिर अली, हुसेन या उसके अनुयायी विकासको सामन्त-शाहीसे आगेकी ओर नहीं

बल्कि पीछे खींचकर कबीलेशाहीकी ओर ले जाना चाहते थे; जिसमें यदि सफलता होती तो इस्लाम उस कला, साहित्य, दर्शनका निर्माण न कर सकता, जिसे हमने भारत ईरान, मेसोपोतामिया, तुर्की और स्पेनमें देखा, और यूनानी दर्शन द्वारा फिरसे वह युरोपमें उस पुनर्जागरणको न करा पाता; जिसने आगे चलकर वैज्ञानिक युगको अस्तित्वमें ला दुनिया की कायापलट करनेका जबर्दस्त आयोजन कराया।

४–इस्लामी सिद्धान्त

कुरानी इस्लामके मुख्य-मुख्य सिद्धान्त हैं—ईश्वर एक है, वह बहुत कुछ साकार सा है, और उसका मुख्य निवास इस दुनियासे बहुत दूर छै आसमानोंको पारकर सातवें आसमानपर है। वह दुनियाको सिर्फ "कुन्" (हो) कहकर अभावसे बनाता है। प्राणियोंमें आगसे बने फरिश्ते (देवता) और मिट्टीसे बने मनुष्य सर्वश्रेष्ठ हैं। फरिश्तोंमेंसे कुछ गुमराह होकर अल्लाहके सदाके लिए दुश्मन बन गए हैं, और वे मनुष्योंको गुमराह करनेकी कोशिश करते हैं, इन्हें ही शैतान कहते हैं। इनका सरदार इब्लीस है, जिसका फरिश्ता होते वक्तका नाम अज़ाज़ील था। मनुष्य दुनियामें केवल एक बार जन्म लेता है। और ईश्वर-वचन (कुरान)के द्वारा विहित (पुण्य) निषिद्ध (पाप) कर्म करके उसके फलस्वरूप अनंतकालके लिए स्वर्ग या नर्क पाता है। स्वर्गमें सुन्दर प्रासाद, अंगूरोंके बाग, शहद-शराबकी नहरें, एकसे अधिक सुन्दरियाँ (हूरें) तथा बहुतसे तरुण चाकर (गिल्मान) होते हैं। दया, सत्य-भाषण, चोरी न करना, आदि सर्वधर्म साधारण भले कामोंके अतिरिक्त नमाज़, रोज़ा, (उपवास), दान (ज़कात) और हज (जीवनमें एक बार काबा-दर्शन) ये चार मुख्य हैं। निषिद्ध कर्मोंमें अनेक देवताओं और उनकी मूर्तियोंका पूजन, शराब-पीना, हराम मांस (सुअर तथा कलमा बिना पढ़े मारे गये जानवरका मांस) खाना आदि है।[1]

---

[1] **विस्तारके लिये देखो मेरा "कुरानसार"।**

तृतीय अध्याय

यूनानी दर्शनका प्रवास और उसके अरबी अनुवाद

§१—अरस्तूके ग्रन्थोंका पुनः प्रचार

इस्लामिक दर्शन यूनानी दर्शन—खासकर अरस्तूके दर्शन तथा उसमें नव-अफलातूनी (पिथागोर-अफलातून-भारतीय दर्शन) दर्शनके पुटका ही विवरण और नई व्याख्या है, यह हमें आगे मालूम होगा। यद्यपि अफलातूँ (प्लातो) तथा दूसरे यूनानी दार्शनिकोंके ग्रन्थोंके भी भाषान्तर अरबीमें हुए, किन्तु इस्लामिक दार्शनिक सदा अरस्तूका अनुसरण करते रहे, इसलिए एक बार फिर हमें अरस्तूकी कृतियोंकी जीवनयात्रापर नज़र डालनी पड़ेगी, क्योंकि उसी यात्राका एक महत्त्वपूर्ण भाग इस्लामिक दर्शनका निर्माण है।

१—अरस्तूके ग्रन्थोंकी गति

अरस्तूके मरने (३२२ ई० पू०)के बाद उसकी पुस्तकें (स्वरचित तथा संगृहीत) उसके शिष्य तथा सम्बन्धी थ्योफ़ास्तु (देवभ्रात)के हाथमें आईं। थ्योफ़ास्तु स्वयं दार्शनिक और दर्शन-अध्यापनमें अरस्तूका उत्तराधिकारी था, इसलिए वह इन पुस्तकोंकी कदर जानता था। लेकिन २८७ ई० पू०में जब उसकी मृत्यु हुई, तो यह सारी पुस्तकें उसके शिष्य नेलुस्को मिलीं, और फिर १३३ ई० पू०के करीब तक उसीके खान्दानमें रहीं। इसके बीचहीमें यह खान्दान क्षुद्र-एसियामें प्रवास कर

गया, और साथ ही इस ग्रन्थराशिको भी लेता गया। लेकिन इस समय इन किताबोंको बहुत ही छिपा रखनेकी—धरतीमें गाड़कर रखनेकी कोशिश की गई, कारण यह था कि ईसा-पूर्व तीसरी-दूसरी सदीके यूनानी राजे बड़े ही विद्याप्रेमी थे (इसकी बानगी हमें भारतके यवन-राजा मिनान्दरमें मिलेगी) और पुस्तक-संग्रहका उन्हें बहुत शौक था। १३३ ई० पू०में रोमनोंने यूनान-शासित देशों (क्षुद्र-एसिया आदि) पर अधिकार किया। इसी समय नेलुस्के परिवारवाले अरस्तूके ग्रन्थोंमें पुड़िया तो नहीं बाँधने लगे थे, क्योंकि वह कागजपर नहीं लिखे हुए थे, और वैसा करनेसे उतना नफा भी न था; बल्कि उन्होंने उन्हें तहखानेसे निकालकर बाजारमें बेंचना शुरू किया। संयोगवश यह सारी ग्रन्थ-राशि अथेन्स (यूनान) के एक विद्या-प्रेमी अमीर अल्पीकनने खरीद लिया, और काफी समय तक वह उसके पास रही। ८६ ई० पू० में रोमन सेनापति सलरसेलाने जब एथेन्स विजय किया, तो उसे उस ऐतिहासिक नगरके साथ उसकी महान् देन अरस्तूकी यह ग्रन्थ-राशि भी हाथ लगी, जिसे कि वह रोममें उठा ले गया; और उसे अंधकारपूर्ण तहखानेमें रखनेकी जगह एक सार्वजनिक पुस्तकालयमें रख दिया। इस प्रकार दो शताब्दियोंके बाद अरस्तूकी कृतियोंको समझदार दिमागोंपर अपना असर डालनेका मौका मिला। अन्द्रानिकुने अरस्तूके बिखरे लेखोंको नियमानुसार क्रम-बद्ध किया।

अरस्तूकी कृतियोंकी जो तीन पुरानी सूचियाँ आजकल उपलभ्य हैं, उनमें देवजानि लारितुकी सूचीमें १४६, अनानिमुकी सूचीमें भी पुस्तकोंकी संख्या करीब-करीब उतनी ही है। किन्तु अन्द्रानिकुने जो सूची स्वयं अरस्तूके संग्रहको देखकर बनाई, उसमें उपरोक्त दोनों सूचियोंसे कम पुस्तकें हैं। पहिले दो सूचीकारोंने अरस्तू-संवाद और लेख, कथा-पुस्तकें, प्राणि-वनस्पति-सम्बन्धी साधारण लेखों, ऐतिहासिक, किस्सों, धर्म-सम्बन्धी मामूली पुस्तकोंको भी अरस्तूकी कृतियोंमें शामिल कर दिया है, जिन्हें कि अन्द्रानिकु अरस्तूके ग्रन्थ नहीं समझता। वस्तुतः हमारे यहाँ जैसे व्यास, बुद्ध, शंकरके

नामसे दूसरोंके बहुतसे ग्रंथ बनकर उनके मत्थे मढ़ दिये गये, वही बात अरस्तूके साथ भी हुई।

अरस्तूकी कृतियोंको[1] विषय-क्रमसे लगाकर जितने भागोंमें बाँटा गया है उनमें मुख्य यह हैं—(१) तर्क-शास्त्र, (२) भौतिक-शास्त्र, (३) अति-भौतिक(अध्यात्म)-शास्त्र, (४) आचार, (५) राजनीति। तर्कशास्त्रमें ही अलंकार, आचार तथा प्राणि-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ भी शामिल हैं।

२—अरस्तूका पुनः पठन-पाठन

अरस्तूके ग्रन्थोंके पठन-पाठनमें आसानी पैदा करनेके लिए सिकन्दर अफ़ादिसियस्ने विवरण लिखे। विवरण लिखते वक्त उसने अरस्तूकी असली किताबोंपर लिखनेका खूब ख्याल रखा और इसमें अन्द्रानिकुकी सूचीसे उसे मदद मिली।

सिकन्दरके साम्राज्यके जब टुकड़े-टुकड़े हुए तो मिश्र-सेनापति तालमी (अशोकके लेखोंमें तुरमाय)के हाथ आया, तबसे ४७ ई० पू० तक तालमी-वंशने उसपर शासन किया और धीरे-धीरे मिश्रकी राजधानी सिकन्दरिया (अलिकसुन्दरिया, अलसंदा) व्यापार-केन्द्रके अतिरिक्त विद्याकेन्द्र होनेमें दूसरा अथेन्स बन गई। ईसाई-धर्मका प्रचार जब रोममें बढ़ने लगा था, उस वक्त यूनानी-दर्शनके पठन-पाठनका जबरदस्त केन्द्र सिकन्दरिया थी। इस वक्त नव-अफलातूनी दर्शनका प्रचार बढ़ा यह हम पहिले बतला चुके हैं। फिलो यूदियो (ई० पू० २५-५० ई०) सिकन्दरियाका एक भारी दर्शन-अध्यापक था। ईसाकी तीसरी सदीमें प्लोतिनु (२०५-७१ ई०) सिकन्दरियामें दर्शन पढ़ाता था। ये सभी दार्शनिक रहस्यवादी नव-अफलातूनी दर्शनके अनुयायी थे, किन्तु इनके पठन-पाठनमें अरस्तूके ग्रन्थ भी शामिल थे। पोर्फुरु[2] (फोर्फोरियोस्) भी यद्यपि दर्शनमें नव-अफलातूनी था, किन्तु उसने अरस्तूके ग्रन्थोंको समझनेकी पूरी कोशिश की। इसका

[1] देखो फाराबी, पृष्ठ ११४-५ [2] Porphyry.

जन्म २३३ ई०में शाम (सिरिया)के तायर नगरमें हुआ था, किन्तु इसने शिक्षा सिकन्दरियामें प्लोतिनुके पास पाई, और यहीं पीछे अध्यापन करने लगा। इसने अरस्तूकी पुस्तकोंपर विवरण और भाष्य लिखे। तर्कशास्त्रके विद्यार्थियोंके लिए इसने एक प्रकरण ग्रन्थ ईसागोजी लिखा, जिसे अरबोंने अरस्तूकी कृति समझा। यह ग्रंथ आज भी अरबी मदरसोंमें उसी तरह पढ़ाया जाता है, जैसे संस्कृत विद्यालयोंमें तर्क-संग्रह, और मुक्तावलि।

ईसाई-धर्म दूसरे सामीय एकेश्वरवादी धर्मोंकी भाँति दर्शनका विरोधी था, भक्तिवाद और दर्शन (बुद्धिवाद)में सभी जगह ऐसा विरोध देखा जाता है। जब ईसाइयोंके हाथमें राज-शासन आया, तो उसने इस खतरेको दूर करना चाहा। किस तरह पादरी थेवफिलने ३०० ई०में सिकन्दरियाके सारे पुस्तकालयोंको जला दिया और किस तरह ४१५ ई०में ईसाइयोंने सिकन्दरियामें गणितके आचार्य हिपाशियाका बड़ी निर्दयताके साथ बध किया, इसका ज़िक्र हो चुका है। अन्तमें ईसाई राजा जस्तीनियनने ५२९ ई०में राजाज्ञा निकाल दर्शनका पठन-पाठन बिलकुल बन्द कर दिया।

§ २–यूनानी दार्शनिकोंका प्रवास और दर्शनानुवाद

१–यूनानी दार्शनिकोंका प्रवास

दर्शनद्रोही जस्तीनियनके शासनके वक्तहीसे रोमन साम्राज्यके पड़ोसमें उसका प्रतिद्वंद्वी ईरानी साम्राज्य था, जिसने अभी किसी ईसाई या दूसरे अ-सहिष्णु सामी धर्मको स्वीकार न किया था; उस समय ईरानका शाहंशाह कवद (४८७-९८ ई०) था।

मज़्दक—कवदके समय ईरानका विख्यात दार्शनिक मज़्दक मौजूद था। दर्शनमें उसके विचार भौतिकवादी थे। वह साम्यवाद और संघवादका प्रचारक था। उसकी शिक्षा थी—सम्पत्ति वैयक्तिक नहीं सांघिक होनी चाहिए, सारे मनुष्य समान और एक परिवार-सम्मिलित होने चाहिए। संयम, श्रद्धा, जीव-दया रखना मनुष्य होनेकी जवाबदेही है। मज़्दककी शिक्षाका ईरानियोंमें बड़ी तेजीसे प्रसार हुआ, और खुद कवद भी जब

उसका अनुयायी बन गया, तो अमीर और पुरोहित-वर्गको खतरा साफ दिखलाई देने लगा। मज़्दकके सिद्धान्तोंको युक्तियोंसे नहीं काटा जा सकता था, इसलिए उन्हें तलवारसे काटनेका प्रयत्न करना ज़रूरी मालूम हुआ। कवदको कैदकर उसके भाई जामास्प (४९८-५०१ ई०)को गद्दी पर बैठाया गया। पुरोहितों तथा सामन्तोंने बहुतेरा उकसाया किन्तु जामास्प भाईके खूनसे हाथ रँगनेके लिए तैयार न हुआ, जिसमें साधारण जनतामें मज़्दककी शिक्षाका प्रभाव भी एक कारण था। कवद किसी तरह जेलसे भाग गया। उस वक्त युरोप और एसियामें (भारतमें भी) मध्य-एसियाके असभ्य बद्दू-हूणोंका आतंक छाया हुआ था। कवदने उनकी सहायतासे फिर गद्दी पाई। कवदने पहिले तो मज़्दकी विचारोंके साथ वैयक्तिक सहानुभूति रखी, लेकिन जब साम्यवाद प्रयोगक्षेत्रमें उतरने लगा, तो हर समयके शिक्षित "आदर्शवादियों"की भाँति वह उसका विरोधी बन गया, और उसकी आज्ञासे हजारों साम्यवादी मज़्दकी तलवारके घाट उतारे गये।

५२९ ई०में जस्तीनियनने दर्शनके पठन-पाठनका निषेध किया था। इससे पहिले ५२१ ई०में कवदके छोटे लड़के खुशरो (५२१-७० ई०)ने बड़े-छोटे भाइयोंका हननकर गद्दी सँभाली। मज़्दकी साम्यवादी अब भी अपने प्रभावको बढ़ा रहे थे, इसलिए पुरोहितों और अमीरोंके लाड़ले खुशरोने एक लाख मज़्दकी आदर्शवादियोंका खूनकर अपनी न्यायप्रियता-का परिचय दिया; इसी सफलताके उपलक्षमें उसने नौशेरवाँ (नये-शाह) की उपाधि धारण की; अमीरों-पुरोहितोंकी दुनियाने उसे "न्यायी" (आदिल)की पदवी दी।

२—यूनानी दर्शन-ग्रन्थोंके ईरानी तथा सुरियानी अनुवाद

नौशेरवाँके इन काले कारनामोंके अतिरिक्त कुछ अच्छे काम भी हैं, जिनमें एक है, अनाथ यूनानी दार्शनिकों को शरण देना। ५२९ ई० में सात नव-अफलातूनी दार्शनिक अथेन्ससे जान बचाकर भागनेपर

मजबूर हुए, इनमें सिम्पेलु और देमासिपु भी थे। इन्होंने नौशेरवाँके राज्यमें शरण ली। शरण देनेमें नौशेरवाँकी उदार हृदयताका उतना हाथ न था, जितना कि अपने प्रतिद्वंद्वी रोमन कैसरके विरोधियोंको शरण देनेकी भावना। अपने पूर्वजोंकी भाँति नौशेरवाँका भी रोमन कैसरसे अक्सर युद्ध ठना रहता था। एक युद्धको अनिर्णयात्मक तौरपर खतम कर ५४९ ई०में उसने रोमको पराजितकर अपनी शर्तोंपर सुलह करवानेमें सफलता पाई। सुलहकी शर्तोंमें एक यह भी थी कि रोमन कैसर अपने राज्यमें धार्मिक (दार्शनिक) विचारोंकी स्वतंत्रता रहने देगा। इस संधिके अनुसार कुछ विद्वान् स्वदेश लौटनेमें सफल हुए, किन्तु सिम्पेलु और देमासियुको लौटनेकी इजाज़त न मिल सकी।

(१) ईरानी (पहलवी) भाषामें अनुवाद—नौशेरवाँने जन्देशापोरमें एक विद्यापीठ कायम किया था, जिसमें दर्शन और वैद्यककी शिक्षा खास तौरसे दी जाती थी। इस विद्यापीठमें इस समय पठन-पाठनके अतिरिक्त कितने ही यूनानी दर्शन तथा दूसरे ग्रंथों (जिनमें पौलुस् पर्सा द्वारा अनुवादित अरस्तूके तर्कशास्त्रका अनुवाद भी है)का पहलवीमें अनुवाद हुआ। अनुवादकोंमें कितने ही नस्तोरीय सम्प्रदायके ईसाई भी थे, जो कि खुद कैसर-स्वीकृत ईसाई सम्प्रदायके कोपभाजन थे।

ज़्वानवाद (ईरानी नास्तिकवाद)—यहाँ पर यह भी याद रखना चाहिए, कि ईरानमें स्वतंत्र विचारोंकी धारा पहिलेसे भी चली आती थी। नौशेरवाँसे पहिले यज़्दागिर्द द्वितीय (४३९-५७ ई०)के समय एक नास्तिकवाद प्रचलित था, जिसे ज़्वानवाद कहते हैं। ज़्वान पहलवी भाषा में काल (अरबी—दह्र) को कहते हैं। ये लोग कालको ही मूल कारण मानते थे, इसीलिए इन्हें ज़्वानवादी-कालवादी (अरबी—दह्रिया) कहते थे। नास्तिक होते भी यह भाग्यवाद के विश्वासी थे।

(२) सुरियानी (सिरियाकी) भाषामें अनुवाद—ईसवी सन्‌की पहिली सदियोंमें दुनियाके व्यापारक्षेत्रमें सिरियन (शामी) लोगोंका एक खास स्थान था। जिस तरह वे ईरानी, रोम, भारत और चीनके व्यापारमें

प्रधानता रखते थे, उसी तरह पश्चिमी एसिया, अफ़्रीका और युरोप—पश्चिममें फ़्रांस तक—का व्यापार सिरियन लोगोंके हाथमें था। बल्कि मद्रासके सिरियन ईसाई इस बातके सबूत हैं, कि सिरियन सौदागर दक्षिणी भारत तक दौड़ लगाते थे। व्यापारके साथ धर्म, संस्कृतिका आदान-प्रदान होना स्वाभाविक है, और सिरियनोंने यही बात यूनानी दर्शनके साथ की। सिरियन विद्वानोंने यूनानी सभ्यताके साथ उनके दर्शनको भी सिकन्दरिया (मिश्र), अन्तियोक (क्षुद्र-एसियाका यूनानी नगर)से लेकर ईरान (जन्देशापोर), और मेसोपोतामिया, निसिबी (ईरान, एदेस्सा) तक फैलाया। पश्चिमी और पूर्वी (ईरानी) दोनों ईसाई सम्प्रदायोंकी धर्म-भाषा सुरियानी (सिरियाकी भाषा) थी, किन्तु उसके साथ उनके मठोंमें यूनानी भाषा भी पढ़ाई जाती थी। एदेस्सा (मसोपोतामिया) भी ईसाइयोंका एक विद्याकेन्द्र था, जिसकी वजहसे एदेस्साकी भाषा (सुरियानीकी एक बोली) साहित्यकी भाषाके दर्जे तक पहुँच गई। उसके अध्यापकोंके नस्तोरीय विचार देखकर ४८९ ई०में एदेस्साके मठ-विद्यालयको बंद कर दिया गया, जिसके बाद उसे निसिबी (सिरिया)में खोला गया।

(क) निसिबी (सिरिया)—निसिबी नगर ईरानियोंके अधिकृत प्रदेशमें था, और सासानी शाहका वरदहस्त उसके ऊपर था। नस्तोरीय ईसाई सम्प्रदायके धर्मकी शिक्षाके साथ-साथ यहाँ दर्शन और वैद्यकका भी पठन-पाठन होता था। दर्शनकी ओर विद्यार्थियों और अध्यापकोंका झुकाव तथा आदर अधिक देख धर्मनेताओंको फिक्र पड़ी, और ५९० ई०में उन्होंने नियम बनाया, कि जिस कमरेमें धर्म-पाठ हो, वहाँ लौकिक विद्याका पाठ नहीं होना चाहिए।

मसोपोतामियाके इस भागमें जिसमें निसिबी, एदेस्सा तथा हरानके शहर थे, उस समय सुरियानी भाषा-भाषी था। पिछले महायुद्ध (१९१४-१८ ई०)के बाद मसोपोतामियाके सुरियानी ईसाइयोंको किस तरह निर्दयतापूर्वक कत्ल-आम किया गया था, इसे अभी बहुतसे पाठक भूले

न होंगे। आज मसोपोतामिया (ईराक) सिरिया (क्षुद्र-एसियाका एक भाग) मिश्र, मराकोमें जो अरबी भाषा देखी जाती है, वह इस्लाम और अरबोंके प्रसारके कारण हुआ। इस तरह ईसाकी प्राथमिक शताब्दियोंमें एदेस्सा और उसका पड़ोसी नगर ईरान भी सुरियानी भाषा-भाषी था।

मसोपोतामियाके इन विद्यापीठोंमें चौथीसे आठवीं सदी तक बहुतसे यूनानी-दर्शन तथा शास्त्रीय-ग्रंथोंका तर्जुमा होता रहा, जिनमें सर्जियस (४६६-५३६ ई०)के अनुवाद विषय और परिमाण दोनोंके ख्यालसे बहुत पूर्ण थे। जब मसोपोतामियापर इस्लामका अधिकार हो गया, तब भी सुरियानी अनुवादका काम जारी रहा, एदेस्साके याकूब (६४०-७०८ ई०) ने अपने अनुवाद इसी समय किये थे। इन अनुवादोंमें सब जगह मूलके अनुकरण करनेकी कोशिश की गई है, किन्तु यूनानी देवी-देवताओं तथा महापुरुषोंके स्थानपर ईसाई महापुरुषोंको रखा गया है। इस बातमें अरब अनुवाद और भी आगे तक गये। सुरियानी अनुवादोंमें अरस्तूके तर्कशास्त्रका ही अनुवाद ज़्यादा देखा जाता है, और उस वक़्तके सुरियानी विद्वान् अरस्तूको सिर्फ तर्कशास्त्री समझते थे।

इन्हीं सिरियन (सुरियानी) लोगोंने पीछे आठवीं दसवीं सदीमें बगदादके खलीफोंके शासनमें यूनानी ग्रन्थोंका सुरियानी अनुवादोंकी मददसे या स्वतन्त्र रूपमें अरबी भाषामें तर्जुमा किया। सुरियानियोंका सबसे बड़ा महत्त्व यह है, कि यूनानी अपने दर्शनको जहाँ लाकर छोड़ देते हैं, वहाँसे वह उसे आगे—विचारमें नहीं कालमें—ले जाते हैं; और अरबोंको आगेकी जिम्मेवारी देकर अपने कार्यको समाप्त करते हैं।

(ख) हरानके साबी—जब यूनान तथा दूसरे पश्चिमी देशोंमें ईसाई-धर्मके जबर्दस्त प्रचारसे यूनानी तथा दूसरे देवी-देवता भूले जा चुके थे, तब भी मेसोपोतामियाके हरान नगरमें सभ्य मूर्तिपूजक मौजूद थे। जो यूनानके दार्शनिक विचारोंके साथ-साथ देवी-देवतोंमें श्रद्धा रखते थे; किन्तु सातवीं सदीके मध्यमें इस्लामिक विजयके साथ उनके देवताओं और

देवालयोंकी खैरियत नहीं रह सकती थी, इसलिए उनकी पूजा-अर्चा चली गई, हाँ किन्तु उनके दार्शनिक विचारोंको नष्ट करना उतना आसान न था। पीछे इन्हीं साबियोंने इस्लाममें अपने दार्शनिक विचारोंको डालकर भारी गड़बड़ी पैदा की, जिसके लिए कि कट्टर मुसलमान उन्हें बराबर कोसते रहे। इन्हीं साबी लोगोंका यूनानी दर्शनके अरबी तर्जुमा करनेमें भी खास हाथ था।

३–यूनानी दर्शन-ग्रंथोंके अरबी अनुवाद (७०४–१००० ई०)

प्रथम चार अरब खलीफोंके बाद अमीर म्वाविया (६६१-८० ई०) के खलीफा बनने, कबीलाशाही (अरबी) एवं सामन्तशाही व्यवस्थाके द्वंद, और हुसेनकी शहादतके साथ कबीलाशाहीके दफन होनेकी बातका हम जिक्र कर चुके हैं। म्वावियाके वंश (बनी-उमैय्या)की खिलाफतके दिनों (६६१-७५० ई०)में इस्लाम धर्मको भरसक हर तरहके बाहरी प्रभावसे सुरक्षित रखनेकी कोशिश की गई, किन्तु जहाँ तक राज्य-व्यवस्था तथा दूसरे सांस्कृतिक जीवन-क्षेत्रका सम्बन्ध था, अरबोंने उन सभी सभ्य जातियोंसे कितनी ही बातें सीखनेकी कोशिश की, जिनके सम्पर्कमें वह खुद आये। विशेषकर दरबारी ठाट-बाट, शान-शौकतमें तो उन्होंने बहुत कुछ ईरानी शाहोंकी नकल की। उजड्ड अरबोंकी कड़ी आलोचना तथा क्रियात्मक कोपसे बचनेके लिए अमीर म्वावियाने पहिले ही चालाकीसे राजधानीको मदीनासे दमिश्कमें बदल लिया था, और इस प्रकार मदीनाका महत्त्व सिर्फ एक तीर्थका रह गया।

बनी-उमैय्याके शासनकालमें ही इस्लामी सल्तनत मध्य-एसियामें उत्तरी अफ्रीका और स्पेन तक फैल गई, यह बतला आये हैं, और एक प्रकार जहाँ तक अरब तलवारका सम्बन्ध था, यह उसकी सफलताकी चरम सीमा थी। उसके बाद इस्लाम युरोप, एसिया, भारतीय सागरके बहुतसे भागोंपर फैला जरूर, किन्तु उसके फैलानेवाले अरब नहीं अन्-अरब मुसलमान थे।

पहिली टक्करमें अरबी मुसलमानोंने कबीलाशाहीके सवालको तो छोड़ दिया, किन्तु समझौता इतनेहीपर होने वाला नहीं था। जो अन्-अरब ईरानी या शामी जातियाँ इस्लामको कबूल कर चुकी थीं, वह असभ्य बद्दू नहीं, बल्कि अरबोंसे बहुत ऊँचे दर्जेकी सभ्यताकी धनी थीं, इसलिए वह अरबकी तलवार तथा धर्म (इस्लाम)के सामने सर झुका सकती थीं, किन्तु अपनी मानसिक तथा बौद्धिक संस्कृतिको तिलांजलि देना उनके बसकी बात न थी, क्योंकि उसका मतलब था सारी जातिमेंसे बौद्धिक योग्यताको हटाकर अज्ञता—तारुण्यसे लौटकर शैशव—में जाना। यही वजह हुई, जो बनी-उमैय्याके बाद हम इस्लामी शासकोंको समझौतेमें और आगे बढ़ते देखते हैं।

म्वाविया, यजीद, उमर (२) कुशल शासक थे, किन्तु जैसे-जैसे राजवंश पुराना होता गया, खलीफा अधिक शक्तिमें हीन होते गये, यहाँ तक कि म्वावियाके आठवें उत्तराधिकारी इब्न-म्वाविया (७४४-४७ ई०)को तख्तसे हाथ धोना पड़ा। जिस कूफाका शासक रहते वक्त यजीदने हुसैनके खूनसे "अपने हाथों"को रँगा था, वहींके एक अरब-सर्दार अब्दुल् अब्बास (७४९-५४ ई०)ने अपने खिलाफतकी घोषणा की। खलीफाको कबीलेका विश्वासपात्र होना चाहिए, यह बात तो बनी-उमैय्याने ही खतम कर दी थी, और दुनियाके दूसरे राजाओंकी भाँति तलवारको अन्तिम निर्णायक मान लिया था, इसलिए अब्बासकी इस हरकतकी शिकायत वह क्या कर सकते थे? अब्बासने बनी-उमैय्याके शाहजादोंमेंसे जिन्हें पाया उन्हें कतल किया, यद्यपि यह कत्ल उतना दर्द-नाक न था, जैसा कि कर्बलाके शहीदोंका, किन्तु इतिहासके पुराने पाठको कुछ अंशोंमें "दुहराया" जरूर। इन्हीं शाहजादोंमेंसे एक—अबदुर्रहमान दाखिल पश्चिमकी ओर भाग गया, और स्पेन तथा मराकोमें अपने वंशके शासनको कुछ समय तक और बचा रखनेमें समर्थ हुआ।

अब्बासने सारे एसियाई इस्लामी राज्यपर अधिकार जमाया। आरम्भिक समयमें अब्बासी राजवंश (अब्बासियों)ने भी अपनी राजधानी

दमिश्क रखी, किन्तु अब्बासके बेटे खलीफा मंसूर (७५४-७५ ई०)ने ७६२ में बगदाद नगरको बसाया, और पीछे राजधानी भी वहीं बदल दी गई। अब खिलाफत एक तरहसे अरबी बातावरणसे हटकर अन्-अरब—ईरानी तथा सुरियानी—वातावरण में आगई, इसलिए अब्बासी खलीफोंपर बाहरी प्रभाव ज़्यादा पड़ने लगा। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि आरंभसे ही मुसलमानोंने अरबी खूनको शुद्ध रखनेका ख्याल नहीं किया, खासकर माँकी तरफसे। पैगम्बरके नाती हुसैनकी पत्नी अन्तिम ईरानी शाह यज्दगिर्द तृतीय (६३४-४२ ई०)की पुत्री हुस्नबानू थी। बनी-उमैय्या इस बारेमें और उदार थे। वही बात अब्बासियोंके बारेमें थी। इस तरह साफ है कि जिन खलीफोंको अब भी अरब समझा जाता था, उनमें भी अन्-अरब खून ही ज्यादा था। यह और वातावरण मिलकर उनपर कितना प्रभाव डाल सकते थे, यह जानना आसान है।

(१) अनुवाद-कार्य—उपरोक्त कारणोंसे बगदाद[1]के खलीफोंका पहिले खलीफोंसे विचारके सम्बन्धमें ज़्यादा उदार होना पड़ा। उनकी सल्तनतमें बुखारा, समरकन्द, बलख़, नै-शापोर, रै, बगदाद, कूफा, दमिश्क आदिमें बड़े-बड़े विद्यापीठ कायम हुए, जिनमें आरम्भमें यद्यपि कुरान और इस्लामकी ही शिक्षा दी जाती थी, किन्तु समयके साथ उन्हें दूसरी विद्याओंकी ओर भी ध्यान देना पड़ा। मंसूर (७५४-७५), हारून (७८६-८०६ ई०) और मामून (८११-३३ ई०) अरबी शालिवाहन और विक्रम थे, जिनके दरबारमें देश-विदेशके विद्वानोंका बड़ा सम्मान होता था। वे स्वयं विद्वान् थे और इनके शाहजादोंकी शिक्षा कुरान, उसकी व्याख्याओं और परंपराओं तक ही सीमित न थी, बल्कि उनकी शिक्षामें यूनानी दर्शन, भारतीय ज्योतिष और गणित भी शामिल थे। गोया इस प्रकार अब्बासी खलीफावंशमें अरबके सीधे-सादे बद्दुओंकी यदि कोई चीज बाकी

---

[1] यह नाम भी पारसी है, जिसका संस्कृत रूप होगा भग(वद्)दत्त = भगवान्‌की दी हुई।

रह गई थी, तो वह अरबी भाषा थी, जो कि उस वक्त सारे इस्लामी सल्तनतकी राजकीय तथा सांस्कृतिक भाषा थी।

यज़ीद प्रथम (६८०-७१७ ई०)के पुत्र खालिद (मृ० ७०४ ई०) को कीमिया (रसायन)का बहुत शौक था। कहते हैं, उसीने पहिले-पहिल एक ईसाई साधु द्वारा कीमियाकी एक पुस्तकका यूनानीसे अरबी भाषामें अनुवाद कराया। मंसूर (७५४-७५ ई०)के शासनमें वैद्यक, तर्कशास्त्र, भौतिक विज्ञानके ग्रन्थ पहलवी या सुरियानी भाषासे अरबीमें अनुवादित हुए। इस समयके अनुवादकोंमें इब्न-अल्-मुक़फ़्फ़ाका नाम खास तौरसे मशहूर है। मुक़फ़्फ़ा स्वयं ईरानी जातिका ही नहीं बल्कि ईरानी धर्मका भी अनुयायी था। इसने कितने ही यूनानी दर्शन-ग्रन्थोंके भी अनुवाद किये थे, किन्तु बहुतसे दूसरे प्राचीन अरबी अनुवादोंकी भाँति वह काल-कवलित हो गये, और हम तक नहीं पहुँच सके; किन्तु उन्होंने प्रथम दार्शनिक विचारधारा प्रवर्तित करनेमें बड़ा काम किया था, इसमें तो शक ही नहीं।

हारून और मामूनके अनुवादकोंमें कुछ संस्कृत पंडित भी थे, जिन्होंने वैद्यक और ज्योतिषके कितने ही ग्रन्थोंके अरबी अनुवाद करनेमें सहायता दी। इस समयके कुछ दर्शन-अनुवादक और उनके अनुवादित ग्रन्थ निम्न प्रकार हैं—

अनुवादक	काल	अनुवादित ग्रंथ	मूलकार
योहन (योहन्ना) विन्-बितरिक्	नवीं सदी	तेमाउस	अफलातूँ
,,	,,	प्राणिशास्त्र	अरस्तू
,,	,,	मनोविज्ञान	,,
,,	,,	तर्कशास्त्रके अंश	,,
अब्दुल्ला नइमल्-हिम्सी	८३५ ई०	"सोफिस्तिक"	अफलातूँ

अब्दुल्ला नइमुल्-हिम्सी	८३५ ई०	भौतिक शास्त्र-टीका[1]	फिलोपोनु
क़स्ता इब्न-लूका अल्-बलबक्की	,,	,,	,,
,,	,,	,,	सिकंदर अफ़्रा-दिसियस्

मामून (८११-३३ई०) के बाद भी अनुवादका काम जारी रहा, और उस वक्तके प्रसिद्ध अनुवादकोंमें हैं—होनेन इब्न-इस्हाक (६१० ई०) होबैश इब्न-उल्-हसन, अबूबिश्र मत्ता इब्न-यूनुस् अल्-क़न्नाई (६४० ई०) अबू-ज़क्रिया इब्न-आदी . . . मन्तिकी (६७४ ई०), अबू-अली ईसा ज़ूरा (१००८ ई०), अबुल्-खैर अल्-हसन खम्मार (जन्म ६४२ ई०)।

(२) समकालीन बौद्ध तिब्बती अनुवाद—अनुवाद द्वारा अपनी भाषाको समृद्ध तथा अपनी जातिको सुशिक्षित बनाना हर एक उन्नतिशील सभ्य या असभ्य जातिमें देखा जाता है। चीनने ईसाकी पहिली सदीसे सातवीं सदी तक हजारों भारतीय ग्रन्थोंका चीनीमें अनुवाद बड़े भारी आयोजन और परिश्रमके साथ इसीलिए कराया था। तिब्बती लोगोंकी भी अरबके बद्दुओंकी भाँति खानाबदोश अक्षर-संस्कृति-रहित असभ्य जाति थे। उन्हींकी भाँति तथा उसी समयमें स्रोङ्-चन्-गन्पो (६३०-६८ ई०) जैसे नेताके नेतृत्वमें उन्होंने सारे हिमालय, मध्य-एसिया तथा चीनके पश्चिमी तीन सूबोंको जीत एक विशाल साम्राज्य कायम किया। और एक बार तो तिब्बती घोड़ोंने गंगा-गंडकके संगमका भी पानी पिया था। अरबोंकी भाँति ही तिब्बतियोंको भी एक विस्तृत राज्य कायम कर लेने पर कबीलेशाही तरीकेको छोड़ सामन्तशाही राजनीति, और संस्कृति-की शिक्षा लेनी पड़ी, जिसमें राजनीति तो चीनसे ली। पैगंबर मुहम्मदकी तरह स्वयं धर्मचिन्तक न होनेसे स्रोङ-चन्ने चीन, भारत, मध्य-एसियामें

[1] अरस्तूकी पुस्तक।

प्रचलित बौद्ध धर्मको अपनाया; जिसने उसे सभ्यता, कला, धर्म, साहित्य आदिकी शिक्षा तेजीसे तथा बहुत सहानुभूतिपूर्वक तो दी जरूर, किन्तु साथ ही अपने दुःखवाद तथा आदर्शवादी अहिंसावादकी इतनी गहरी घूँट पिलाई कि स्रोङ-चन्के वंश (६३०-९०२ ई०)के साथ ही तिब्बती जातिका जीवन-स्रोत सूख गया। तिब्बती, अरबी दोनों जातियोंने एक ही साथ दिग्विजय प्रारंभ किया था, एक ही साथ दोनोंने विजित जातियोंसे सभ्यताकी शिक्षा प्राप्त की। यद्यपि अतिशीत-प्रधान भूमिके वासी होनेसे तिब्बती बहुत दूर तक तो नहीं बढ़े, किन्तु साम्राज्य-विस्तारके साथ वह पश्चिममें बल्तिस्तान (कश्मीर), लदाख, लाहुल, स्पिती तक, दक्खिनमें हिमालयके बहुतसे भागों, भूटान और बर्मा तक वह जरूर फैले। सबसे बड़ी समानता दोनोंमें हम यह पाते हैं, कि मंसूर-हारून-मामूनका समय (७५४-८३३ ई०) करीब-करीब वही है जो कि ठि-दे-चुग्-तन्, और ठि-स्रोङ्-दे-चन्, ठि-दे-चन्का (७४०-८७७ ई०)का है; और इसी समय अरबकी भाँति तिब्बतने भी हजारों संस्कृत ग्रन्थोंका अपनी भाषामें अनुवाद कराया, इसका अधिकांश भाग अब भी सुरक्षित है। यह दोनों जातियाँ आपसमें अपरिचित न थी, पूर्वी मध्य-एसिया (वर्तमान सिन्-क्याङ) तथा गिल्गितके पास दोनों राज्योंकी सीमा मिलती थी, और दोनों राज्यशक्तियोंमें मित्रतापूर्ण सन्धि भी हुई थी, यद्यपि इस संधिके कारण सीमान्त जातियों—विशेषकर ताजिकों—का भारी अनर्थ हुआ था।

(३) **अरबी अनुवाद**—यदि हम अनुवादकोंके धर्मपर विचार करते हैं, तो तिब्बती और अरबी अनुवादोंमें बहुत अन्तर पाते हैं। तिब्बती भाषाके अनुवादक चाहे भारतीय हों अथवा तिब्बती, सभी बौद्ध थे। यह जरूरी भी था, क्योंकि वैद्यक, छन्द काव्यके कुछ ग्रन्थोंके अतिरिक्त जिन ग्रन्थोंका अनुवाद उन्हें करना था वह बौद्ध धर्म या दर्शनपर थे। तिब्बती अनुवाद जितने शुद्ध हैं, उसका उदाहरण और भाषामें मिलना मुश्किल है। अरबी अनुवादकोंमें कुछके नाम यह है, इनमें प्रायः सभी यहूदी, ईसाई या साबी धर्मके माननेवाले थे।

जार्ज बिन-जिब्रील	ईसा बिन्-यूनस्	इब्राहीम हरानी
कस्ता बिन्-लूका	साबित बिन् क़ुर्रः	याक़ूब बिन्-इस्हाक़ किन्दी[1]
मा-सर्जियस	जोरिया हम्सी	हनैन इब्न-इस्हाक़[1]
ईसा बिन्-मार्जियस्	फीसोन सर्जिस्	अयूब रहावी
हुज्जाज बिन्-मत्र	बसील मतरान	यूसुफ तबीब
क़ब्ज़ा रहावी	हैरान	अबू-यूसुफ योहन्ना
अब्द यशूअ बिन-बह्लेज़	तदरस	बितरीक़
शेर यशूअ बिन्-क़त्रब्	सनान् बिन-साबित्	यह्या बिन्-बितरीक़
सादरी अस्क़फ़		

अ-मुस्लिम अनुवादक अपने धर्मको बदलना नहीं चाहते थे, और उनके संरक्षक इस्लामी शासकोंकी इस बारेमें क्या नीति थी इसका अच्छा उदाहरण इब्न-जिब्रीलका है । खलीफ़ा मंसूर (७५४-७५ ई०)ने एक बार जिब्रीलसे पूछा कि, तुम मुसलमान क्यों नहीं हो जाते, उसने उत्तर दिया—"अपने बाप-दादोंके धर्ममें ही मैं मरूँगा । चाहे वह जन्नत(स्वर्ग)में हों, या दोज़ख (नर्क)में, मैं भी वहीं उन्हींके साथ रहना चाहता हूँ ।" इसपर खलीफा हँस पड़ा, और अनुवादकको भारी इनाम दिया ।

---

[1] ये अरबी मुसलमान थे ।

चतुर्थ अध्याय

दर्शनका प्रभाव और इस्लाममें मतभेद

§ १–इस्लाममें मतभेद

कुरानकी भाषा सीधी-सादी थी। किसी बातके कहनेका उसका तरीका वही था, जिसे कि हर एक बद्दू अनपढ़ समझ सकता था। इसमें शक नहीं उसमें कितनी ही जगह तुक, अनुप्रास जैसे काव्यके शब्दालंकारों-का ही नहीं बल्कि उपमा आदिका भी प्रयोग हुआ है, किन्तु ये प्रयोग भी उतनी ही मात्रामें हैं, जिसे कि साधारण अरबी भाषाभाषी अनपढ़ व्यक्ति समझ सकते हैं। इस तरह जब तक पैगंबर-कालीन अरबोंके बौद्धिक तल तक बात रही, तथा इस्लामी राजनीतिमें उसीका प्रभाव रहा, तब तक काम ठीकसे चलता रहा; किन्तु जैसे ही इस्लामिक दुनिया अरबके प्रायद्वीपसे बाहर फैलने लगी और उससे वे विचार टकराने लगे, जिनका जिक्र पिछले अध्यायोंमें हो आया है, वैसे ही इस्लाममें मतभेद होना जरूरी था।

१–फ़िक़ा या धर्ममीमांसकोंका ज़ोर

पैगंबरके जीते-जी कुरान और पैगंबरकी बात हर एक प्रश्नके हल करनेके लिए काफी थी। पैगंबरके देहान्त (६२२ ई०)के बाद कुरान और पैगंबरका आचार (सुन्नत या सदाचार) प्रमाण माना जाने लगा। यद्यपि सभी हदीसों (पैगंबर-वाक्यों, स्मृतियों)के संग्रह करनेकी कोशिश शुरू हुई थी, तो भी पैगंबरकी मृत्युके बाद एक सदी बीतते-बीतते अक्ल (बुद्धि)ने

दखल देना शुरू किया, और अक्ल (=बुद्धि, युक्ति) और नक्ल (=शब्द, धर्मग्रंथ) का सवाल उठने लगा। हमारे यहाँके मीमांसकोंकी भाँति इस्लामिक मीमांसकों—फ़िक़ावाले फ़क़ीहों—का भी इसीपर जोर था, कि कुरान स्वतः प्रमाण है, उसके बाद पैगंबर-वाक्य तथा सदाचार प्रमाण होते हैं। मीमांसकोंके नित्य[1], नैमित्तिक[2] काम्य[3] कर्मोंकी भाँति फ़िक़ाने कर्मोंका भेद निम्न प्रकार किया है—

(१) नित्य या अवश्यकरणीय कर्म, जिसके न करनेपर पाप होता है, जैसे नमाज़।

(२) नैमित्तिक (वाजिब) कर्म जिसे धर्मने विहित किया है, और जिसके करनेपर पुण्य होता है, किन्तु न करनेसे पाप नहीं होता।

(३) अनुमोदित कर्म, जिसपर धर्म बहुत जोर नहीं देता।

(४) असम्मत कर्म, जिसके करनेकी धर्म सम्मति नहीं देता, किन्तु करनेपर कर्ताको दंडनीय नहीं ठहराता।

(५) निषिद्ध कर्म, जिस कर्मकी धर्म मनाही करता है, और करनेपर हर हालतमें कर्ताको दंडनीय ठहराता है।

फ़िक़ाके आचार्योंमें चार बहुत मशहूर हैं—

१. इमाम अबू हनीफ़ा (७६७ ई०) कूफा (मेसोपोतामिया) के रहनेवाले थे। इनके अनुयायियोंको हनफ़ी कहा जाता है। इनका भारतमें बहुत जोर है।

२. इमाम मालिक (७१५-९५ ई०) मदीना निवासी थे। इनके अनुयायी मालिकी कहे जाते हैं। स्पेन और मराकोके मुसल्मान पहिले सारे मालिकी थे। इमाम मालिकने पैगंबर-बचन (हदीस) को धर्मनिर्णयमें

---

[1] जिसके न करनेसे पाप होता है, अतः अवश्यकरणीय है।

[2] नैमित्तिक (अर्ध-आवश्यक) कर्म पापादिके दूर करनेके लिये किया जाता है। [3] काम्यकर्म किसी कामनाकी पूर्तिके लिये किया जाता है, और न करनेसे कोई हर्ज नहीं।

बहुत जोरके साथ इस्तेमाल किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि विद्वानों-ने हदीसोंको जमा करना शुरू किया, और हदीसवालों (अहले-हदीस)का एक प्रभावशाली गिरोह बन गया।

३. इमाम शाफ़ई (७६७-८२० ई०)ने शाफई नामक तीसरे फ़िक़ा-सम्प्रदायकी नींव डाली। यह सुन्नत (सदाचार)पर ज़्यादा जोर देते थे।

४. इमाम अहमद इब्न-हंबलने हंबलिया नामक तीसरे फ़िक़ा-संप्रदायकी नींव डाली। यह ईश्वरको साकार मानते हैं।

हनफ़ी और शाफ़ई दोनों मतोंमें क़यास—दृष्टान्त द्वारा किसी निष्कर्ष पर पहुँचना—पर ज्यादा जोर रहा है और यह साफ है, कि इमाम हनीफ़ा-को इस विचारपर पहुँचनेमें (कूफा)के बौद्धिक वायुमंडलने बहुत मदद दी। शाफ़ईने इस बातमें हनफ़ियोंसे बहुत कुछ लिया।

कुरान, सुन्नत (पैगंबरी सदाचार), क़यासके अतिरिक्त चौथा प्रमाण बहुमत (इज्माअ)को भी माना जाने लगा। इनमें पूर्व-पूर्वको बलवत्तर प्रमाण समझा गया है।

२—मतभेदों (=फितनों)का प्रारम्भ

(१) हलूल—मुस्लिम ऐतिहासिक इस्लाममें पहिले मतभेदको इब्न-सबा (सबा-पुत्र)के नामसे संबद्ध करते हैं, जो कि सातवीं सदीमें हुआ था। इब्न-सबा यहूदीसे मुसलमान हुआ था; और विरोधियोंके मुकाबिलेमें हजरत अली (पैगंबरके दामाद)में भारी श्रद्धा रखता था। इसीने हलूल (अर्थात् जीव अल्लाहमें समा जाता है)का सिद्धान्त निकाला था।

(पुराने शीआ)—इब्न-सबाके बाद शीआ और दूसरे सम्प्रदाय पैदा हुए। किन्तु उस वक्त तक इनके मतभेद दार्शनिक रूप न लेकर ज़्यादातर कुरान और पैगंबर-सन्तानके प्रति श्रद्धा और अश्रद्धापर निर्भर थे। शीआ लोगोंका कहना था कि पैगंबरके उत्तराधिकारी होनेका अधिकार उनकी पुत्री फातमा तथा अलीकी सन्तानको है। हाँ, आगे चलकर दार्श-

निक मतभेदोंसे इन्होंने फायदा उठाया और मोतज़ला तथा सूफियोंकी बहुतसी बातें लीं, और अन्तमें अरबों ईरानियोंके द्वंद्वसे फायदा उठानेमें इतनी सफलता प्राप्त की, कि ईरानमें पंद्रहवीं सदीमें जब सफावी वंश (१४९९-१७३६ ई०)का शासन कायम हुआ, तो उसने शीआ-मतको राज-धर्म घोषित कर दिया।

(२) जीव कर्म करनेमें स्वतंत्र—अबू-यूनस् ईरानी (अजमी) पैगंबरके साथियों (सहाबा)मेंसे था। इसने यह सिद्धान्त निकाला कि जीव काम करनेमें स्वतन्त्र है, यदि करनेमें स्वतन्त्र न हो, तो उसे दंड नहीं मिलना चाहिए। बनी-उमैय्याके शासनकालमें इस सिद्धान्तने राजनीतिक आन्दोलनका रूप ले लिया था। माबद बिन्-खालिक जहनीने कर्म-स्वातन्त्र्यके प्रचार द्वारा लोगोंको शासकोंके खिलाफ भड़काना शुरू किया; उसके विरुद्ध दूसरी ओर शासक बनी-उमैय्या कर्म-पारतंत्र्यके सिद्धान्तको इस्लाम-सम्मत कहकर प्रचार करते थे।

(३) ईश्वर निर्गुण (विशेषण-रहित)—जहम बिन्-सफ़वानका कहना था कि अल्लाह सभी गुणों या विशेषणोंसे रहित है, यदि उसमें गुण माने जायें तो उसके साथ दूसरी वस्तुओंके अस्तित्वको मानना पड़ेगा। जैसे, उसे ज्ञाता (ज्ञान-गुणवाला) मानें, तो यह भी मानना पड़ेगा कि वह चीजें भी सदा रहेंगी, जिनका कि ज्ञान ईश्वरको है। फिर ऐसी हालतमें इस्लामका ईश्वर-अद्वैत (तौहीद)-वाद खतम हो जायगा। अतएव अल्लाह कर्ता, ज्ञाता, श्रोता, सृष्टिकर्ता, दंडकर्ता. . .कुछ नहीं है। यह विचार शंकराचार्यके निर्विशेष चिन्मात्र (विशेषणसे रहित चेतनामात्र ही एकतत्त्व है) से कितना मिलता है, इसे हम आगे देखेंगे, किन्तु इस वक्त तक शंकर (७८८-८२० ई०) अभी पैदा नहीं हुए थे; तो भी नव-अफलातूनवाद एवं बौद्धोंका विज्ञानवाद उस वक्त मौजूद था।

(४) अन्तस्तमवाद[1] **(बातिनी)**—ईरानियों (=अजमियों)ने

---

[1] **बातिनी।**

एक और सिद्धान्त पैदा किया, जिसके अनुसार कुरानमें जो कुछ भी कहा गया है, उसके अर्थ दो प्रकारके होते हैं—एक बाहरी (जाहिरी), दूसरा बातिनी (आन्तरिक या अन्तस्तम)। इस सिद्धान्तके अनुसार कुरानके हर वाक्यका अर्थ उसके शब्दसे भिन्न किया जा सकता है, और इस प्रकार सारी इस्लामिक परंपराको उलटा जा सकता है। इस सिद्धान्तके मानने वाले ज़िन्दीक़ कहे जाते हैं, जिनके ही तालीमिया (शिक्षार्थी), मुल्हिद, बातिनी, इस्माइली आदि भिन्न-भिन्न नाम हैं। आगाखानी मुसलमान इसी मतके अनुयायी हैं।

§ २–इस्लामके दार्शनिक संप्रदाय

आदिम इस्लाम सीधे-सादे रेगिस्तानी लोगोंका भोलाभाला विश्वास था, किन्तु आगेकी ऐतिहासिक प्रगतिने उसमें गड़बड़ी शुरू की, इसका जिक्र कुछ हो चुका है। मेसोपोतामियाके बसरा जैसे नगर इस तरहके मतभेदोंके लिए उर्वर स्थान थे, यह बात भी पीछेके पन्नोंको पढ़नेवाले आसानीसे समझ सकते हैं।

१–मोतज़ला सम्प्रदाय

बसरा मोतज़लोंकी जन्म और कर्म-भूमि थी। मोतज़ला इस्लामका पहिला संप्रदाय था, जिसने दर्शनके प्रभावको अपने विचारों द्वारा व्यक्त किया। उनके विचार इस प्रकार थे—

(१) जीव कर्ममें स्वतंत्र—जीवको परतन्त्र माननेपर उसे बुरे कर्मोंका दंड देना अन्याय है, इसीलिए अबू-यूनुस्की तरह मोतज़ली कहते थे, कि जीव कर्म करनेमें स्वतंत्र है।

(२) ईश्वर सिर्फ भलाइयोंका स्रोत—इस्लामके सीधे-सादे विश्वासमें ईश्वर सर्वशक्तिमान् और अद्वितीय है, उसके अतिरिक्त कोई सर्वोपरि शक्ति नहीं है। मोतज़लोंकी तर्कप्रणाली थी—दुनियामें हम भलाइयाँ ही नहीं बुराइयाँ भी देखते हैं, किन्तु इन बुराइयोंका स्रोत भगवान् नहीं हो सकते, क्योंकि वह केवल भलाइयोंके ही स्रोत (शिव)

है। भलाइयोंका स्रोत होनेके ही कारण ईश्वर नर्क आदिके दंड नहीं दे सकता।

(३) **ईश्वर निर्गुण**—जहम् बिन्-सफ़वानकी तरह मोतज़ली ईश्वर-को निर्गुण मानते थे,—दया आदि गुणोंका स्वामी होनेपर ईश्वरके अतिरिक्त उन वस्तुओंके सनातन अस्तित्वको स्वीकार करना पड़ेगा, जिनपर कि ईश्वर अपने दया आदि गुण प्रदर्शित करता है, जिसका अर्थ होगा ईश्वर-के अतिरिक्त दूसरे भी कितने ही सनातन पदार्थ हैं।

(४) **ईश्वरकी सर्वशक्तिमत्ता सीमित**—इस्लाममें आम विश्वास था कि ईश्वरकी शक्ति असीम है। मोतज़ली पूछते थे—क्या ईश्वर अन्याय कर सकता है? यदि नहीं तो इसका अर्थ है ईश्वरकी शक्तिमत्ता इतनी विस्तृत नहीं है कि वह बुराइयोंको भी करने लगे। पुराने मोत-ज़ली कहते थे, कि ईश्वर वैसा करनेमें समर्थ होते भी शिव होनेके कारण वैसा नहीं कर सकता। पीछेवाले मोतज़ली ईश्वरमें ऐसी शक्तिका ही साफ-साफ अभाव मानते थे।

(५) **ईश्वरीय चमत्कार (=मोजज़ा) गलत**—और धर्मोंकी भाँति इस्लाममें—और खुद कुरानमें भी—ईश्वर और पैग़म्बरोंकी इच्छानुसार अप्राकृतिक घटनाओंका घटना माना जाता है। मोतज़ली चिन्तकोंका कहना था, कि हर एक पदार्थके अपने स्वाभाविक गुण होते हैं, जो कभी बदल नहीं सकते; जैसे आगका स्वाभाविक गुण गर्मी है, जो कि आगके रहते कभी नहीं बदल सकती। पैगंबरोंकी जीवनियोंमें जिन्हें हम मोजजा समझते हैं, उनका या तो कोई दूसरा अर्थ है अथवा वह प्रकृतिके ऐसे नियमोंके अनुसार घटित हुए हैं, जिनका हमें ज्ञान नहीं है और हम उन्हें अप्राकृतिक घटना कह डालते हैं।

(६) **जगत् अनादि नहीं सादि**—दूसरे मुसलमानोंकी भाँति मोतज़ला-पंथवाले भी जगत्‌को ईश्वरकी कृति मानते थे, उन्हींकी तरह ये भी जगत्‌को अभावमें भावमें आया मानते थे। इस प्रकार इस बातमें वह अरस्तूके जगत् अनादिवादके विरोधी थे।

(७) कुरान भी अनादि नहीं सादि—सनातनी मुसलमान मोत-ज़लियोंके जगत्-सादिवादसे खुश नहीं हो सकते थे, क्योंकि जिस तरह ईश्वरकृत होनेसे वह जगत्को सादि मानते थे, उसी तरह ईश्वरकृत होनेके कारण वह कुरानको भी सादि मानते थे। अल्लाहकी भाँति कुरानको अनादि माननेको मोत-ज़ली द्वैतवाद तथा मूर्ति-पूजा जैसा दुष्कर्म बतलाते थे। हम कह चुके हैं कि कर्म स्वातंत्र्य जैसे सिद्धान्तको लेकर जहनीने उमैय्या खलीफोंके खिलाफ आन्दोलन खड़ा कर दिया था, बनी-उमैय्याको खतमकर जब अब्बासीय खलीफा बने तो उनकी सहानुभूति कर्म-स्वातंत्र्य-वादियों तथा उनके उत्तराधिकारियों—मोतज़लियों—के विचारोंके प्रति होनी ज़रूरी थी। बगदादके मोतज़ली खलीफा कुरानके अनादि होनेके सिद्धान्तको कुफ़ (नास्तिकता) मानते थे, और इसके लिए लोगोंको राजदंड दिया जाता था। कुरानको सादि बतला मोतज़ली अल्लाहके प्रति अपनी भारी श्रद्धा दिखाते हों यह बात न थी, इससे उनका अभिप्राय यह था कि कुरान भी अनित्य ग्रन्थों में है, इसलिए उसकी व्याख्या करनेमें काफी स्वतन्त्रताकी गुंजाइश है; और इस प्रकार पुस्तककी अपेक्षा बुद्धिका महत्त्व बढ़ाया जा सकता है। उनका मत था—ईश्वरने जब जगत् और मानव-को पैदा किया, तो साथ ही मनुष्यमें भलाई-बुराई, सच्चाई-झुठाईके परखने तथा भगवान्को जाननेके लिए बुद्धि भी प्रदान की। इस प्रकार वह ग्रंथोक्त धर्मकी अपेक्षा निसर्ग (बुद्धि)-सिद्ध धर्मपर ज़्यादा ज़ोर देना चाहते थे। यह ऐसी बात थी, जिसके लिए सनातनी मुसलमान मोतज़लियों-को क्षमा नहीं कर सकते थे, और वस्तुतः काफिर, मोतज़ली तथा दहरिया (जड़वादी, नास्तिक) उनकी भाषामें अब भी पर्यायवाची शब्द हैं।

(८) इस्लामिक वाद-शास्त्रके प्रवर्त्तक—मोतज़ला यद्यपि ग्रंथ वादके पक्षपाती न थे, किन्तु साथ ही वह ग्रंथको प्रमाणकोटिसे उठाना भी नहीं चाहते थे। बुद्धिवादी दुनियामें, वह अच्छी तरह समझते थे कि, अरबोंकी भोली श्रद्धासे काम नहीं चल सकता; इसलिए उन्होंने ग्रन्थ (क़ुरान) और बुद्धिमें समन्वय करना चाहा, लेकिन इसका आवश्यक

परिणाम यह हुआ, कि उन्हें कितने ही पुराने विश्वासोंसे इन्कार करना पड़ा, और कुरानकी व्याख्यामें काफी स्वतन्त्रता वर्तनेकी ज़रूरत महसूस हुई। अपने इस समन्वयके कामके लिए उन्हें इस्लामी **वादशास्त्र** (इल्म-कलाम)की नींव रखनी पड़ी; जो बगदादके आरंभिक खलीफोंकी बौद्धिक नव-जागृतिके समय पसंद भले ही किया गया हो, किन्तु पीछे वह अश्अरी, ग़ज़ाली, जैसे "पुराणवादी" आधुनिकोंकी दृष्टिमें बुरी चीज मालूम हुई।

मोतज़लियोंकी इस्लामके प्रति नेकनीयतीके बारेमें तो सन्देह न करनेका यह काफी प्रमाण है, कि वह यूनानी दर्शन तथा अरस्तूके तर्कशास्त्रके सख़्त दुश्मन थे, किन्तु इस दुश्मनीमें वह बुद्धिके हथियारको ही इस्तेमाल कर सकते थे, जिसके कारण उन्हें कितनी ही बार इस्लामके "सीधे रास्ते" (सरातल-मुस्तक़ीम)से भटक जाना पड़ता था।

(९) **मोतज़ली आचार्य**—हारून-मामून-शासनकाल (७८६-८३३ ई०) दूसरी भाषाओंसे अरबीमें अनुवाद करनेका सुनहला काल था। इन अनुवादके कारण जो बौद्धिक नव-जागृति हुई, और उसके कारण इस्लामके बारेमें जो लोगोंको सन्देह होने लगा, उसीसे लड़नेके लिए मोतज़ला सम्प्रदाय पैदा हुआ था। मोतज़लाके झंडेके नीचे खड़े होकर जिन विद्वानोंने इस लड़ाईको लड़ा था, उनमेंसे कुछ ये हैं—

(क) **अल्लाफ़ अबुल्-हुज़ैल अल्-अल्लाफ़**—यह मोतज़लियोंका सबसे बड़ा विद्वान है। इसका देहान्त नवीं सदी के मध्यमें हुआ था, और इस प्रकार शंकराचार्यका सामकालीन था। शंकरकी ही भाँति अल्लाफ़ भी एक जबर्दस्त वादचतुर विद्वान तथा पूर्णरूपेण अपने मतलबके लिए दर्शनको इस्तेमाल करनेकी कोशिश करता था। ईश्वर-अद्वैतको निर्गुण सिद्ध करनेमें उसकी भी कितनी ही युक्तियाँ अपने सम-सामयिक शंकरके निर्विशेषचिन्मात्र—ब्रह्माद्वैत—साधक तर्ककी भाँति थीं। अल्लाह (ईश्वर या ब्रह्म)में कोई गुण (=विशेषण) नहीं हो सकता; क्योंकि गुण दो ही तरहसे रह सकता है, या तो वह गुणीसे अलग हो, या गुणी-

स्वरूप हो। अलग माननेसे अद्वैत नहीं, और एक ही माननेसे निर्गुण ईश्वर तथा गुण-स्वरूप ईश्वरमें शब्दका ही अन्तर होगा। मनुष्यके कर्मको अल्लाफ़ दो तरहका मानता है—एक प्राकृतिक (नैसर्गिक) या शरीरके अंगोंका कर्म, दूसरा आचार(पुण्य-पाप)-संबंधी अथवा हृदयका कर्म। आचार-संबंधी (पुण्य-पाप कहा जानेवाला) कर्म वही है, जिसे हम बिना किसी बाधाके कर सकें। आचार-संबंधी कर्म (पुण्य, पाप) मनुष्यकी अपनी अर्जित निधि है उसके प्रयत्नका फल है। ज्ञान मनुष्यको भगवान्‌की ओरसे तो भगवद्वाणी (कुरान आदि)से और कुछ प्रकृतिके प्रकाशसे प्राप्त होता है। किसी भी भगवद्वाणीके आनेसे पहिले भी प्रकृतिद्वारा मनुष्यको कर्तव्यमार्गकी शिक्षा मिलती रही है, जिससे वह ईश्वरको जान सकता है, भलाई-बुराईमें विवेक कर सकता है, और सदाचार, सच्चाई और निश्छलता-का जीवन बिता सकता है।

(ख) नज़्ज़ाम—नज़्ज़ाम, संभवतः अल्लाफ़का शागिर्द था। इसकी मृत्यु ८४५ ई०में हुई थी। कितने ही लोग नज़्ज़ामको पागल समझते थे, और कितने ही नास्तिक। नज़्ज़ामके अनुसार ईश्वर बुराई करनेमें बिलकुल असमर्थ है। वह वही काम कर सकता है, जिसे कि वह अपने ज्ञानमें अपने सेवकके लिए बेहतर समझता है। उसकी सर्वशक्तिमत्ताकी बस उतनी ही सीमा है, जितना कि वह वस्तुतः करता है। इच्छा भगवान्‌का गुण नहीं हो सकती, क्योंकि इच्छा उसीको हो सकती है, जिसे किसी चीजकी ज़रूरत—कमी—हो। सृष्टिको भगवान् एक ही बार करता है; हर एक सृष्ट वस्तुमें वह शक्ति उसी वक्त निहित कर दी जाती है, जिससे कि वह आगे अपने निर्माणक्रमको जारी रख सके। नज़्ज़ाम परमाणुवादको नहीं मानता। पिंड परमाणुओंसे नहीं घटनाओंसे बने हैं—उसके इस विचारमें आधुनिकताकी झलक दिखलाई पड़ती है। रूप, रस, गन्ध जैसे गुणोंको भी नज़्ज़ाम पिंड (पदार्थ) ही मानता है, क्योंकि गुण, गुणी अलग वस्तुएँ नहीं हैं। मनुष्यके आत्मा या बुद्धिको भी वह एक प्रकारका पिंड मानता है। आत्मा मनुष्यका अतिश्रेष्ठ भाग

है, वह सारे शरीरमें व्यापक है। शरीर उसका साधन (करण) है। कल्पना और भावना आत्माकी गतिको कहते हैं। दीन और धर्ममें किसको प्रमाण माना जाय इसमें नज़्ज़ामका उत्तर शीओं जैसा है—फ़िक़ा-की बारीकियोंसे इसका निर्णय नहीं कर सकते, यथार्थवक्ता (=आप्त) इमाम ही इसके लिए प्रमाण हो सकता है। मुसलमानोंके बहुमतको वह प्रमाण नहीं मानता। उसका कहना है—सारी जमात गलत धारणा रख सकती है, जैसा कि उनका यह कहना कि दूसरे पैगंबरोंकी अपेक्षा मुहम्मद-अरबीमें यह विशेषता थी कि वह सारी दुनियाके लिए पैगंबर बनाकर भेजे गये थे; जो कि गलत है, खुदा हर पैगंबरको सारी दुनियाके लिए भेजता है।

(ग) जहीज़ (८६९ ई०)—नज़्ज़ामका शिष्य जहीज एक सिद्ध-हस्त लेखक तथा गंभीरचेता दार्शनिक था। वह धर्म और प्रकृति-नियमके समन्वयको सत्यके लिए सबसे ज़रूरी समझता था। हर चीजमें प्रकृतिका नियम काम कर रहा है, और ऐसे हर काममें कर्ता ईश्वरकी झलक है। मानवबुद्धि कर्त्ताका ज्ञान कर सकती है।

(घ) मुअम्मर—मुअम्मरका समय ९०० ई०के आसपास है। अपने पहिलेके मोतज़िलियोंसे भी ज्यादा "निर्गुणवाद"पर उसका जोर है। ईश्वर सभी तरहके द्वैतसे सर्वथा मुक्त है, इसलिए किसी गुण-विशेषण-की उसमें संभावना नहीं हो सकती। ईश्वर न अपनेको जानता है और न अपनेसे भिन्न किसी वस्तु या गुणको जानता है, क्योंकि जानना स्वीकार करने पर ज्ञाता ज्ञेय आदि अनगिनत द्वैत आ पहुँचेंगे, मुअम्मरके मतसे गति-स्थिति, समानता-असमानता आदि केवल काल्पनिक धारणायें हैं, इनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। मनुष्यकी इच्छा कोई बंधन नहीं रखती। इच्छा ही एक मात्र मनुष्यकी क्रिया है, बाकी क्रियाएँ तो शरीरसे संबंध रखती हैं।

(ङ) अबू-हाशिम बस्री (९३३ ई०)—अबू-हाशिमका मत था, कि सत्ता और अ-सत्ताके बीचकी कितनी ही स्थितियाँ हैं, जिनमें ईश्वरके

गुण, घटनाएँ, **जाति** (=**सामान्य**)के ज्ञान शामिल हैं। सभी ज्ञानोंमें सन्देहका होना जरूरी है।

२—करामी संप्रदाय

मोतजलियोंकी कुरानकी व्याख्यामें निरंकुशताको बहुतसे श्रद्धालु मुसलमान खतरेकी चीज समझते थे। नवीं सदी ईसवीमें मोतज़लियोंके विरुद्ध जिन लोगोंने आवाज उठाई थी, उनमें करामी सम्प्रदाय भी था। इसके प्रवर्तक मुहम्मद बिन्-कराम सीस्तान (ईरान)के रहनेवाले थे। मोतज़लाने ईश्वरको साकार (स-शरीर) क्या सगुण माननेसे भी इन्कार कर दिया था, इब्न-करामने उसे बिलकुल एक मनुष्य—राजा—की तरहका घोषित किया। इब्न-तैमियाकी भाँति उसका तर्क था—जो वस्तु साकार नहीं, वह मौजूद ही नहीं हो सकती।

३—अश्अरी संप्रदाय

जिस वक्त मोतज़लियों और करामियोंके एक दूसरेके पूर्णतया विरोधी निर्गुणवाद और साकारवाद चल रहे थे, उसी वक्त एक मोतज़ली परिवारमें अबुल्-हसन अश्अरी (८७३-९३५ ई०) पैदा हुआ। उसने देखा कि मोतज़ला जिस तरहके प्रहारोंसे इस्लामको बचाना चाहते हैं, उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, इसलिए कुछ हद तक हमें मोतज़लोंके बुद्धिमूलक विचारोंके साथ जाना चाहिए; किन्तु कोरा बुद्धिवाद इस्लाम-के लिए खतरेकी चीज है, इसका भी ध्यान रखना होगा। इसी तरह परंपराकी अवहेलनासे इस्लाम पर जो अविश्वास आदिका खतरा हो सकता है, उसकी ओर भी देखना ज़रूरी है, किन्तु साथ ही बुद्धिवादके तक़ाज़ेको बिलकुल उपेक्षाकी दृष्टिसे देखना भी खतरनाक होगा, क्योंकि इसका अर्थ होगा इस्लामके प्रति शिक्षित प्रतिभाओंका तिरस्कार। इसीलिए अश्अरीने कहा कि ईश्वर राजा या मनुष्य-जैसा साकार व्यक्ति नहीं है। अश्अरी और उसके सम्प्रदायके मुख्य-मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार थे—

(१) **कार्य-कारण-नियम (=हेतुवाद)से इन्कार**—मोतज़लाका मत था, कि वस्तुके नैसर्गिक गुण नहीं बदलते, इसलिए मोजज़ा या अप्राकृतिक चमत्कार गलत हैं। दार्शनिकोंका कहना था कि कार्य-कारणका नियम अटूट है, बिना कारणके कार्य नहीं हो सकता; इसलिए ईश्वरको कर्त्ता माननेपर भी उसे कारण (=उपादान-कारण)की ज़रूरत होगी, और जगत्के उपादान कारण—प्रकृति—को मान लेनेपर ईश्वर अद्वैत तथा जगत्का सादि होना—ये दोनों इस्लामी सिद्धान्त गलत हो जायेंगे। इन दोनों दिक्कतोंसे बचनेके लिए अशुअरीने कार्य-कारणके नियमको ही माननेसे इन्कार कर दिया: कोई चीज किसी कारणसे नहीं पैदा होती, खुदाने कार्यको भी उसी तरह बिलकुल नया पैदा किया, जैसे कि उसने उससे पहिलेवाली चीजको पैदा किया था, जिसे कि हम गलतीसे कारण कहते हैं। हर वस्तु परमाणुमय है, और हर परमाणु क्षणभरका मेहमान है। पहिले तथा दूसरे क्षणके परमाणुओंका आपसमें कोई संबंध नहीं, दोनोंको उनके पैदा होनेके समय भगवान् बिना किसी कारणके (=अभाव से) पैदा करते हैं। अशुअरीके मतानुसार न सूरजकी गर्मी जलको भाप बनाती है, न भापसे बादल बनता है, न हवा बादलको उड़ाती है, न पानी बादलसे बरसता है। बल्कि अल्लाह एक-एक बूँदको अभावसे भावके रूपमें टपकाता है, अल्लाह बिना उपादान-कारण (=भाप)के सीधे बादल बनाता है....। अशुअरी सर्वशक्तिमान् ईश्वरके हर क्षण कार्यकारण-संबंधहीन बिलकुल नये निर्माणका उदाहरण एक लेखकके रूपमें उपस्थित करता है। ईश्वर आदमीको बनाता है, फिर इच्छाको बनाता है, फिर लेखन-शक्तिको; फिर हाथमें गति पैदा करता है, अन्तमें कलममें गति पैदा करता है। यहाँ हर क्रियाको ईश्वर अलग-अलग सीधे तौरसे बिना किसी कार्य-कारणके सम्बन्धसे करता है। कार्य-कारणके नियमके बिना ज्ञान भी संभव नहीं हो सकता, इसके उत्तरमें अशुअरी कहता है—अल्लाह हर चीजको जानता है, वह सिर्फ दुनियाकी चीजों तथा जैसी वह दिखाई पड़ती हैं, उन्हींको नहीं पैदा करता, बल्कि उनके

सम्बन्धके ज्ञानको भी आदमीकी आत्मामें पैदा करता है।

(२) भगवद्वाणी क़ुरान(=शब्द) एकमात्र प्रमाण—हिन्दू मीमांसकोंकी भाँति अश्अरी सम्प्रदायवाले भी मानते हैं, कि सच्चा (=निर्भ्रान्त) ज्ञान सिर्फ शब्द प्रमाण द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है; हाँ, अन्तर इतना जरूर है कि अश्अरी मीमांसकोंकी भाँति किसी अपौरुषेय शब्द-प्रमाण (=वेद)को न मानकर अल्लाहके कलाम (=भगवद्वाणी) क़ुरानको सर्वोपरि प्रमाण मानता है। क़ुरानका सहारा लिये बिना अलौकिक स्वर्ग, नर्क, फरिश्ता आदि वस्तुओंको नहीं जाना जा सकता। इन्द्रियाँ आमतौरसे भ्रान्ति नहीं पैदा करतीं, किन्तु बुद्धि हमें गलत रास्तेपर ले जा सकती है।

(३) ईश्वर सर्वनियम-मुक्त—ईश्वर सर्वशक्तिमान् कर्त्ता है। वह किसी उपादान कारणके बिना हर चीजको हर क्षण बिलकुल नई पैदा करता है, इस प्रकार वह जगत्में देखे जानेवाले सारे नियमोंसे मुक्त है, सारे नैतिक नियमोंकी जिम्मेवारियोंसे वह मुक्त है। शरह्-मुवाफ़िक़में इस सिद्धान्तकी व्याख्या करते हुए लिखा है—"अल्लाहके लिए यह ठीक है, कि वह मनुष्यको इतना कष्ट दे, जो कि उसकी शक्तिसे बाहर है। अल्लाहके लिए यह ठीक है कि वह अपनी प्रजा (=सृष्टि)को सुफल या दंड दे, चाहे उसने कोई अपराध किया हो या न किया हो। (अल्लाह-) ताला अपने सेवकोंके साथ जो चाहे करे; अल्लाहको अपने बंदोंके भावोंके ख्याल करनेकी कोई ज़रूरत नहीं। अल्लाहको भगवद्वाणी (=कुरान) द्वारा ही पहिचाना जा सकता है, बुद्धिके द्वारा नहीं।"

इस सिद्धान्तके समर्थनमें अश्अरी कुरानके वाक्योंको प्रमाणके तौरपर पेश करता है। जैसा कि—

"हुव'ल्-क़ाहिरो फ़ौक़-इबादिही" (वह अपने बंदोंपर सर्वतंत्र-स्वतंत्र है)।

"क़ुल् कुल्लुन् मिन् इन्दे'ल्लाहे" (कह 'सब अल्लाहकी ओरसे है')।

"व मा तशावून इल्ला अनँय्यशाअ'ल्लाह" (तुम किसी बातको न चाहोगे जब तक कि अल्लाह नहीं चाहे)।

इस तरह ईश्वरकी सीमा रहित सर्वशक्तिमत्ता अश्अरियोंके प्रधान सिद्धान्तोंमें एक है।

(४) देश, काल और गतिमें विच्छिन्न-विन्दुवाद—हेतुवादके इन्कारके प्रकरणमें बतला चुके हैं, कि अश्अरी न जगत्‌में कार्यकारण-नियम-को मानता, और नहीं जगत्‌की वस्तुओंको देश, काल या गतिमें किसी तरहके अ-विच्छिन्न प्रवाहके तौरपर मानता है। अंक—एक, दो, तीन . . . . . .में हम किसी तरहका अविच्छिन्न क्रम नहीं मानते। एककी संख्या समाप्त होती दोकी संख्या अस्तित्वमें आती है—पूछा जाये एकसे दोमें संख्याज्ञान सर्पकी भाँति सरकता हुआ पहुँचता है, या मेंढककी तरह कूदता; उत्तर मिलेगा—कूदता। गति देश या दिशामें वस्तुमें होती है। हम वाणको एक देशसे दूसरे देश पहुँचते देखते हैं। सवाल है यदि वाण हर वक्त किसी स्थानमें स्थित है, तो वह स्थिति—गति-शून्यता—रखता है, फिर उसे गति कहना गलत होगा। अब यदि आप दृष्ट गतिको सिद्ध करना चाहते हैं, तो एक ही रास्ता है, वह यही है, कि यहाँ भी साँपकी भाँति सरक-नेकी जगह संख्याकी भाँति गतिको भिन्न-भिन्न कुदान मानें। अकारण परमाणु एक क्षणके लिए पैदा होकर नष्ट हो जाता है, दूसरा नया अकारण परमाणु अपने देश, अपने कालके लिए पैदा होता है और नष्ट होता है। पहिले परमाणु और दूसरे परमाणुके बीच शून्यता—गति-शून्यता, देश-शून्यता है। यही नहीं हर पहिले क्षण ("अब") और दूसरे क्षण ("अब")के बीच किसी प्रकारका संबंध न होनेसे यहाँ कालिक-शून्यता है—काल जो है वह "अब" है, जो "अब" नहीं वह काल नहीं—और यहाँ दो "अब"के बीच हम कुछ नहीं पाते, जो ही कालिक-शून्यता है। अश्अरी "मेंढक-कुदान" (प्लुति)के सिद्धान्तसे ईश्वरकी सर्वशक्तिमत्ता, हेतुवाद-निषेध, तथा वस्तु-गति-देश-कालकी परमाणु-रूपता सभीको इस प्रकार सिद्ध करता है। यहाँ यह ध्यान रखनेकी बात है, कि अश्अरियोंने इस "मेंढक-कुदान", "विच्छिन्न-प्रवाह", "विन्दु-घटना", "विच्छिन्न परमाणु-सन्तति"को वस्तु-स्थितसे उत्पन्न होनेवाली किसी गुत्थीको सुलझानेके लिए

नहीं स्वीकार किया, जैसे कि हम आजके "सापेक्षतावाद" "क्वन्तम्-सिद्धान्त" अथवा बौद्धोंके क्षणिक अनात्मवाद और मार्क्सीय भौतिकवादमें पाते हैं। अश्अरी इससे मोजज़ा (=दिव्य चमत्कार), ईश्वरकी निरंकुशता आदिको सिद्ध करना चाहता है। ऐसे सिद्धान्तोंसे स्वेच्छाचारी मुसलमान शासकोंको अल्लाहकी निरंकुशताके पर्देमें अपनी निरंकुशताको छिपानेका बहुत अच्छा मौका मिलता है, इसमें सन्देह नहीं।

(५) पैग़ंबरका लक्षण— पैगंबर (=खुदाका भेजा) कौन है, इसके बारेमें मुवाक़िफ[१]ने कहा है—"(पैगंबर वह है) जिससे अल्लाहने कहा—मैंने तुझे भेजा, या लोगोंको मेरी ओरसे (संदेश) पहुँचा, या इस तरहके (दूसरे) शब्द। इस (पैगंबर होने)में न कोई शर्त है और न योग्यता (का ख्याल) है, बल्कि अल्लाह अपने सेवकोंमेंसे जिसको चाहता है, उसे अपनी कृपाका खास (पात्र) बनाता है।

(६) दिव्य चमत्कार (=मोजज़ा)—ऐसा तो कोई भी दावा कर सकता है कि मुझे खुदाने यह कह कर भेजा है, इसीके लिए अश्अरी लोग ईश्वरी प्रमाणकी भाँति दिव्य चमत्कार या मोजज़ाको पैगंबरीके सबूतके लिए जरूरी समझते हैं। मोजज़ाको सिद्ध करनेकी धुनमें इन्होंने किस तरह हेतुवादसे इन्कार किया, और खुदाके हर क्षण नये परमाणुओंके पैदा करनेकी कल्पना की, इसे हम बतला चुके हैं।

---

[१] **"मन् क़ाला लहू अर्सल्तोका औ बल्लग़्हुम् अन्नी, व नव्हहा मिन'-ल्-अल्फ़ाज़े। व ला यश्तरेतो फ़ीहे शर्तुन्, व ला एस्तेअ्दादुन् बलि'ल्लाहो यख़्तस्सो बेरह्मतेही मनँय्यशाओ मिन् एबादेही।"**

पंचम अध्याय

पूर्वी इस्लामी दार्शनिक (१)

(शारीरक ब्रह्मवादी)

§ १–अज़ीज़ुद्दीन राज़ी (६२३ या ६३२ ई०)

शारीरक ब्रह्मवाद या पिथागोरी प्राकृतिक दर्शनके इस्लामिक समर्थकोंमें इमाम राज़ी और "पवित्र-संघ" मुख्य हैं। पवित्र-संघ कई कारणोंसे बदनाम हो गया, जिससे मुसलमानोंपर उसका प्रभाव उतना नहीं पड़ सका, किन्तु राज़ी इस बातमें ज़्यादा सौभाग्यशाली था, जिसका कारण उसकी नरम दर्शनशैली थी, जिसके बारेमें हम आगे कहनेवाले हैं।

(१) **जीवनी**—अज़ीज़ुद्दीन राज़ीका जन्म पश्चिमी ईरानके रे शहरमें हुआ था। दूसरी धार्मिक शिक्षाओंके अतिरिक्त गणित, वैद्यक और पिथागोरीय दर्शनका अध्ययन उसने विशेष तौरसे किया था। वैद्यकमें तो इतना ही कहना काफी है कि वह अपने समयका सिद्धहस्त हकीम था। वादविद्याके प्रति उसकी अश्रद्धा थी, और तर्कशास्त्रमें शायद उसने अरस्तूकी एक पुस्तकसे अधिक पढ़ा न था। सरकारी हकीमके तौरपर वह पहिले रे और पीछे बगदादके अस्पतालका प्रधान रहा। पीछे उसका मन उचट गया, और देशाटनकी धुन सवार हुई। इस यात्राकालमें वह कई सामन्तोंका कृपा-पात्र रहा, जिनमें ईरानी सामानी वंशी (६००-६६६ ई०) शासक मंसूर इब्न-इस्हाक भी था, जिसको कि उसने अपना एक वैद्यक ग्रन्थ समर्पित किया है।

(साधारण विचार)—राज़ीके दिलमें वैद्यक विद्याके प्रति भारी श्रद्धा थी। वैद्यकशास्त्र हजारों वर्षोंके अनुभवसे तैयार हुआ, और राज़ीका कहना था, कि एक छोटेसे जीवनमें किसी व्यक्तिके तजर्बेसे मेरे लिए हजारों वर्षोंके तजर्बे द्वारा संचित ज्ञान ज़्यादा मूल्यवान है।

(२) दार्शनिक विचार

(क) जीव और शरीर—शरीर और जीवमें राज़ी जीवको प्रधानता देता है। जीवन (=आत्मा)-संबंधी अस्वास्थ्य शरीरपर भी बुरा प्रभाव डालता है, इसीलिए राज़ी वैद्यके लिए आत्मा (=जीव)का चिकित्सक होना भी ज़रूरी समझता था। तो भी, वह चिकित्सा बहुतसे आत्मिक रोगोंमें असफल रहती है, जिसके कारण राज़ीका झुकाव निराशावादकी ओर ज़्यादा था।—दुनियामें भलाईसे बुराईका पल्ला भारी है।

कीमिया (=रसायन) शास्त्रपर राज़ीकी बहुत आस्था थी। भौतिक जगत्के मूलतत्त्वोंके एक होनेसे उसको विश्वास था, कि उनके भिन्न प्रकारके मिश्रणसे धातुमें परिवर्तन हो सकता है। रसायनके विभिन्न योगोंसे विचित्र गुणोंको उत्पन्न होते देख वह यह भी अनुमान करने लगा था कि शरीरमें स्वतः गति करनेकी शक्ति है; यह विचार महत्त्वपूर्ण ज़रूर था, किन्तु उसे प्रयोग द्वारा उसने और विकसित नहीं कर पाया।

(ख) पाँच नित्य तत्त्व—राज़ी पाँच तत्त्वोंको नित्य मानता था—(१) कर्त्ता (=पुरुष या ईश्वर), (२) विश्व-जीव, (३) मूल भौतिक तत्त्व, (४) परमार्थ दिशा, और (५) परमार्थ काल। यह पाँचों तत्त्व राज़ीके मतसे नित्य सदा एक साथ रहनेवाले हैं। यह पाँचों तत्त्व विश्वके निर्माणके लिए आवश्यक सामग्री हैं, इनके बिना विश्व बन नहीं सकता।

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष हमें बतलाता है कि बाहरी पदार्थ—भौतिक-तत्त्व—मौजूद हैं, उनके बिना इन्द्रिय किस चीजका प्रत्यक्ष करती? भिन्न-भिन्न वस्तुओं (=विषयों)की स्थिति उनके स्थान या दिशाको बतलाती है।

वस्तुओंमें होते परिवर्तनका जो साक्षात्कार होता है—पहिले ऐसा था, अब ऐसा है—वह हमें कालके अस्तित्वको बतलाता है। प्राणियोंके अस्तित्व तथा उनकी अप्राणियोंसे भिन्नतासे पता लगता है कि जीव भी एक पदार्थ है। जीवोंमें कितनों हीमें बुद्धि—कला आदिको पूर्णताके शिखरपर पहुँचानेकी क्षमता—है, जिससे पता लगता है, कि इस बुद्धिका स्रोत कोई चतुर कर्त्ता है।

(ग) विश्वका विकास—यद्यपि राज़ी अपने पाँचों तत्त्वोंको नित्य, सदा एक साथ रहनेवाला कहता है, तो भी जब वह उनमेंसे एकको कर्त्ता मानता है, तो इसका मतलब है कि इस नित्यताको वह कुछ शर्तोंके साथ मानता है। सृष्टिकी कथा वह कुछ इस तरहसे वर्णित करता है—पहिले एक सादी शुद्ध आध्यात्मिक ज्योति बनाई गई, यही जीव (=रूह) का उपादान कारण था : जीव प्रकाश स्वभाववाले सीधे सादे आध्यात्मिक तत्त्व हैं। ज्योतिस्तत्त्व या ऊर्ध्वलोक—जिससे कि जीव नीचे आता है—को बुद्धि (=नफ़्स) या ईश्वरीय ज्योतिका प्रकाश कहा जाता है। दिनका अनुगमन जैसे रात करती है, उसी तरह प्रकाशका अनुगमन अंधकार (=तम) करता है; इसी तमसे पशुओंके जीव पैदा होते हैं, जिनका कि काम है बुद्धि-युक्त जीव (=मानव)के उपयोगमें आना।

जिस वक्त सीधी सादी आध्यात्मिक ज्योति अस्तित्वमें आई, उसके साथ ही साथ एक मिश्रित वस्तु भी मौजूद रही, यही विराट् शरीर है। इसी विराट् शरीरकी छायासे चार "स्वभाव"—गर्मी, सर्दी, रूक्षता और नमी उत्पन्न होती है। इन्हीं चार "स्वभावों"से अन्तमें सभी आकाश और पृथ्वीके पिंड—शरीर—बने हैं। इस तरह उनकी सृष्टि होनेपर भी पाँच तत्त्वोंको नित्त्य क्यों कहा? इसका उत्तर राज़ी देता है—क्योंकि यह सृष्टि सदासे होती चली आई है, कोई समय ऐसा न था, जब कि ईश्वर निष्क्रिय था। इस तरह राज़ी जगत्की नित्यताको स्वीकार कर इस्लामके सादि वादके सिद्धान्तके खिलाफ गया था, तो भी राज़ीके नामके साथ इमाम-नाम लगाना बतलाता है, कि उसके लिए लोगोंके दिलोंमें नरम स्थान था।

(घ) मध्यमार्गी दर्शन—राज़ीके समयसे पहिलेसे ऐसे नास्तिक भौतिकवादी दार्शनिक चले आते थे, जो जगत्का कोई कर्त्ता नहीं मानते थे। उनके विचारसे जगत् स्वतःनिर्मित होनेकी अपनेमें क्षमता रखता है। दूसरी ओर ईश्वर-अद्वैत (=तौहीद) वादी मुल्ला थे, जो किसी अनादि जीव, भौतिक तत्त्व,—दिशा, काल, जैसे तत्त्वके अस्तित्वको अल्लाहकी शानमें बट्टा लगनेकी बात समझते थे। राज़ी न भौतिकवादियोंके मतको ठीक समझता था, न मुल्लोंके मतको। इसीलिए उसने बीचका रास्ता स्वीकार किया—विचारको बुद्धिसंगत बनानेके लिए ईश्वरके अतिरिक्त जीव, प्रकृति, दिशा कालकी भी ज़रूरत है, और बुद्धियुक्त मानव जैसे जीवको प्रकट करनेके लिए कर्त्ताकी।

§ २—पवित्र-संघ (=अख़वानुस्सफ़ा)

मोतज़ला, करामी, अशअरी तीनों दर्शन-द्रोही थे। किन्तु इसी समय बस्रामें एक और सम्प्रदाय निकला जो कि दर्शन—विशेषकर पिथागोर-के दर्शन—के भक्त थे, और इस्लामको दर्शनके रंगमें रंगना चाहते थे। इस सम्प्रदायका नाम था "अख़वानुस्सफ़ा" (पवित्र-संघ, पवित्र मित्र-मंडली या पवित्र बिरादरी)। अख़वानुस्सफ़ा केवल धार्मिक या दार्शनिक सम्प्रदाय ही नहीं था, बल्कि इसका अपना राजनीतिक प्रोग्राम था। ये लोग दर्शनको आत्मिक आनंदकी ही चीज नहीं समझते थे, बल्कि उसके द्वारा एक नये समाजका निर्माण करना चाहते थे। इसके लिए क़ुरानमें खींचातानी करके अपने मतलबका अर्थ निकालते थे। वह दुनियामें एक उटोपियन[१] धर्मराज्य कायम करना चाहते थे।

१ पूर्वगामी इब्न-मैमून (८५० ई०)—मोतज़ला सम्प्रदायके प्रवर्त्तक अल्लाफ़का देहान्त नवीं सदीके मध्यमें हुआ था, इसी समयके आस-पास अब्दुल्ला इब्न-मैमून पैदा हुआ था। इस्लामने ईरानियों (=अजमियों)को

---

[१] Utopean.

मुसलमान बनाकर बड़ी गलती की। इस्लाममें जितने (=फ़ित्ने) पैदा हुए, मतभेद उनमेंसे अधिकांशके बानी (=प्रवर्त्तक) यही अजमी लोग थे। इब्न-मैमून भी इन्हीं "फ़ित्ना पर्वाजों"मेंसे था। दमिश्कके म्वाविया-वंश (=बनी-उमैय्या)ने पहिला समझौता करके बाहरी सभ्य आधीन जातियोंके निरन्तर विरोधको कम किया था। बगदादके अब्बासी वंशने इस दिशामें और गति की, तथा अपने और अपने शासनको बहुत कुछ ईरानी रंगमें रंग दिया—उन्होंने ईरानी विद्वानोंकी इज़्ज़त ही नहीं की, बल्कि बरामका जैसे ईरानी राजनीतिज्ञोंको महामंत्री बनाकर शासनमें सहभागी तक बनाया। किन्तु, मालूम होता है, इससे वे सन्तुष्ट नहीं थे। करमती राजनीतिक दल, जिसकाकि इब्न-मैमून नेता था, अब्बासी शासनको हटाकर एक नया शासन स्थापित करना चाहता था, कैसा शासन, यह हम आगे कहेंगे। उसके प्रतिद्वंदी इब्न-मैमूनको भारी षड्यन्त्री सिद्धान्तहीन व्यक्ति समझते थे, किन्तु दूसरे लोग थे जो कि उसे महात्मा और ऊँचे दर्जेका दार्शनिक समझते थे। उसकी मंडलीने सफेद रंगको अपना साम्प्रदायिक रंग चुना था, क्योंकि वह अपने धर्मको परिशुद्ध उज्वल समझते थे, और इसी उज्वलताको प्राप्त करना आत्माका चरम लक्ष्य मानते थे।

(शिक्षा)—करमती लोगोंकी शिक्षा थी—कर्त्तव्यके सामने शरीर और धनकी कोई पर्वाह मत करो। अपने संघके भाइयोंकी भलाईको सदा ध्यानमें रखो। संघके लिए आत्म-समर्पण, अपने नेताओंके प्रति पूर्णश्रद्धा, तथा आज्ञापालनमें पूर्ण तत्परता—हर करमतीके लिए ज़रूरी फ़र्ज़ है। संघकी भलाई और नेताके आज्ञापालनमें मृत्युकी पर्वाह नहीं करनी चाहिए।

२—पवित्र-संघ

(१) पवित्र-संघकी स्थापना—बस्रा और कूफ़ा करमतियोंके गढ़ थे। दसवीं सदीके उत्तरार्द्धमें बस्रामें एक छोटासा संघ (पवित्र-संघ) स्थापित हुआ। इस संघने अपने भीतर चार श्रेणियाँ रखी थीं।

पहिली श्रेणीमें १५-३० वर्षके तरुण सम्मिलित थे। अपने आत्मिक विकास-के लिए अपने गुरुओं (शिक्षकों)का पूर्णतया आज्ञापालन इनके लिए जरूरी था। दूसरी श्रेणीमें ३०-४० वर्षके सदस्य शामिल थे, इन्हें आध्यात्मिक शिक्षासे बाहरकी विद्याओंको भी सीखना पड़ता था। तीसरी श्रेणीमें ४०-५० वर्षके भाई थे, यह दुनियाके दिव्य कानूनके जाननेकी योग्यता पैदा करते थे, इनका दर्जा पैगंबरोंका था। चौथी और सर्वोच्च श्रेणीमें वह लोग थे, जिनकी उम्र ५० से अधिक थी। वे सत्यका साक्षात्कार करते थे, और उनकी गणना फरिश्तों—देवताओंके—दर्जेमें थी; उनका स्थान प्रकृति, सिद्धान्त, धर्म सबके ऊपर था। अपने इस श्रेणी-विभाजनमें पवित्र-संघ इब्न-मैमूनके करमती दल तथा अफलातूँके "प्रजा-तंत्र"से प्रभावित हुआ था, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु इसमें सन्देह है, कि वह अपने इस श्रेणी-विभाजनको काफी अंशमें भी कार्यरूपमें परिणत कर सका हो।

(२) **पवित्र-संघकी ग्रन्थावली और नेता**—पवित्र संघने अपने समयके ज्ञानको पुस्तकरूपमें लेखबद्ध किया था, इसे "रसायल् अख-वानुस्सफ़ा" (पवित्र-संघ-ग्रन्थावली) कहते हैं। इस ग्रन्थावलीमें ५१ (शायद शुरूमें ५० थे) ग्रन्थ हैं। ग्रन्थोंकी वर्णन-शैलीसे पता लगता है, कि इनके लेखक अलग-अलग थे और उनमें सम्पादन द्वारा भी एकता लानेकी कोशिश नहीं की गई। ग्रन्थावलीमें राजनीतिक पुटके साथ प्राकृतिक विज्ञानके आधारपर ज्ञानवादकी विवेचना की गई है। संघके नेताओं और ग्रन्थावलीके लेखकोंके बारेमें—पीछेकी पुस्तकोंमें जो कुछ मिलता है, उससे उनके नाम यह हैं—

(१) मुक़द्दसी या अबू-सुलैमान मुहम्मद इब्न-मुशीर अल्-बस्ती;
(२) जंजानी या अबुल्-हसन् अली इब्न-हारून अल्-ज़ंजानी;
(३) नह्राजूरी या मुहम्मद इब्न-अहमद अल्-नह्राजूरी;
(४) औफ़ी या अल्-औफ़ी; और
(५) रिफ़ाअ या ज़ैद इब्न-रिफ़ाअ।

पवित्र-संघ जिस वक्त (दसवीं सदीके उत्तरार्धमें) कार्यक्षेत्रमें उतरा उस वक्त तक बगदादके खलीफे अपनी प्रधानता खो बैठे थे; और जगह-जगह स्वतन्त्र शासक पैदा हो चुके थे। पोपकी भाँति बहुत कुछ धर्मगुरु समझकर मुस्लिम सुल्तान अग भी खलीफाकी इज़्ज़त करते तथा उनके पास भेंट भेजकर बड़ी-बड़ी पदवियाँ पानेकी इच्छा रखते थे। खुद बगदादके पड़ोस तथा ईरानके पश्चिमी भागमें बुवायही वंश[1]का शासन था; यह वंश खुल्लमखुल्ला शीआ-सम्प्रदायका अनुयायी था। पवित्र-संघ-ग्रंथावलीने मोतज़ला+शीआ+यूनानी दर्शनकी नींवपर अपने मन्तव्य तैयार किये थे, जिसके लिए यह समय कितना अनुकूल था, यह समझना आसान है।

(३) पवित्र-संघके सिद्धान्त—पवित्र-संघ अपने समयकी धार्मिक असहिष्णुतासे भलीभाँति परिचित था, और चाहता था कि लोग इब्राहिम, मूसा, जर्तुश्त, मुहम्मद, अली सभीको भगवान्का दूत—पैगंबर—मानें; यही नहीं धर्मको बुद्धिसे समझौता करानेके लिए वह पिथागोर, सुक्रात, अफलातूँको भी ऋषियों और पैगंबरोंकी श्रेणीमें रखता था। वह सुक्रात, ईसा तथा ईसाई शहीदोंको भी हसन-हुसेनकी भाँति ही पवित्र शहीद मानता था।

(क) दर्शन प्रधान—पवित्र संघका कहना था कि मजहबके विश्वास, आचार-नियम साधारण बुद्धिवाले आदमियोंके लिए ठीक हैं; किन्तु अधिक उन्नत मस्तिष्कवाले पुरुषोंके लिए गंभीर दार्शनिक अन्तर्दृष्टि ही उपयुक्त हो सकती है।

(ख) जगत्की उत्पत्ति या नित्यता-सम्बन्धी प्रश्न गलत—बुद्धकी भाँति पवित्र-संघवाले विचारक जगत्की उत्पत्तिके सवालको

---

[1] **(१) अली बिन्-बुवायही**, मृ० ९३२ ई०। **(२) अहमद (मुईजुद्दौला)** ९३२-९६७ ई०। **(३) अहमद (आज़ादुद्दौला)** ९६७–... **(४) मज्दुद्दौला**...

बेकार समझते थे। हम क्या हैं, यह हमारे लिए आवश्यक और लाभ-दायक है। "मानव-बुद्धि जब इससे आगे बढ़ना चाहती है, तो वह अपनी सीमाको पार करती है। अपनेको उन्नत करते हुए क्रमशः सर्व महान् (तत्त्व, ब्रह्म)के शुद्ध ज्ञान तक पहुँचना आत्माका ध्येय है, जिसे कि वह संसार-त्याग और सदाचरणमें ही प्राप्त कर सकता है।"

(ग) आठ (नौ) पदार्थ—पवित्र-संघने यूनानी तथा भारतीय दार्शनिकोंकी भाँति तत्त्वोंका वर्गीकरण किया है। सबसे पहिला तत्त्व ईश्वर, परमात्मा या अद्वैत तत्त्व है, जिससे क्रमशः निम्न आठ तत्त्वोंका विकास हुआ है।

१. नफ़स[१]-फ़आल =कर्त्ता-विज्ञान
२. नफ़स-इन्फ़आल =अधिकरण-विज्ञान या सर्व-विज्ञान
३. हैवला =मूल प्रकृति या मूल भौतिक तत्त्व
४. नफ़स-आलम =जग-जीवन (मानव जीवोंका समूह)
५. जिस्म-मुत्लक़ =परम शरीर, महत्तत्त्व
६. आलम-अफ़्लाक =फरिश्ते या देवलोक
७. अनासर-अर्बअ़ =(पृथ्वी, जल, वायु, आग) ये चार भूत
८. मवालीद-सलासा =भूतोंसे उत्पन्न (धातु, वनस्पति, प्राणी) ये तीन प्रकारके पदार्थ

कर्त्ता-विज्ञान, अधिकरण-विज्ञान, मूल प्रकृति और जग-जीवन—यह अमिश्र पदार्थ हैं। परम शरीरको लेकर आगेके चार पदार्थ मिश्रित हैं। यह मिश्रण द्रव्य और गुण (=घटना)के रूपमें होता है।

प्रथम द्रव्य हैं—मूल प्रकृति और आकृति। प्रथम गुण (=घटनायें) हैं—दिशा (देश), काल, गति, जिसमें प्रकाश और मात्राको भी शामिल कर लिया जा सकता है।

---

[१] **नफ़स—यह यूनानी शब्द नोवसका अरबी रूपान्तर है, जिसका अर्थ विज्ञान या बुद्धि है।**

मूल प्रकृति एक है, और सांख्यकी भाँति, वह सदा एकसी रहती है; जो भिन्नता तथा बहुलता पाई जाती है, उसका कारण आकृति है—पिथागोरका भी यही मत है। प्रकृति और आकृति दोनों बिल्कुल भिन्न चीजें हैं—कल्पनामें ही नहीं वस्तुस्थितिमें भी।

मूल प्रकृतिसे भी परे कर्त्ता-विज्ञान या नफ़्स-फ़आल पवित्र संघके मतमें सभी चेतन-अचेतन तत्त्वका मूल उपादान-कारण है।

(घ) मानव-जीव—मानव-जीव (=मन) नफ़्स-इन्फ़आल (अधिकरण-विज्ञान)से पैदा हुआ है। सभी मानव-जीवोंकी समष्टिको एक पृथक् द्रव्य माना गया है, जिसको "परम मानव" या "मानवताका आत्मा" कह सकते हैं। प्रत्येक मानव-जीव भूतोंसे विकसित होता है, किन्तु क्रमशः विकास करते-करते वह आत्मा बन जाता है। बच्चेका जीव (=मन) सफेद काग़ज़की भाँति कोरा होता है। पाँचों ज्ञान इन्द्रियाँ बाहरी जगत्से जिस विषयको ग्रहण करती हैं, वह मस्तिष्कके अगले भागमें पहिले उपस्थित किया जाता है, फिर बिचले भागमें उसका निश्चय (विश्लेषण) किया जाता है, और अन्तमें मस्तिष्कके पिछले भागमें संस्कारके तौरपर उसे संचित किया जाता है। बाहरी इंद्रियोंकी संख्या मनुष्य और पशुमें समान है। मनुष्यकी विशेषतायें हैं—विचार (=निश्चय शक्ति), वाणी और क्रिया।

(ङ) ईश्वर (=ब्रह्म)—कर्त्ता-विज्ञान (नफ़्स-फ़आल) ईश्वर है। इसीसे सारे तत्त्व निकले हैं, यह बतला आये हैं। इन आठों तत्त्वोंसे ऊपर ईश्वर या परम अद्वैत (तत्त्व) है। यह परम अद्वैत (ब्रह्म) सबमें है और सब कुछ है।

(च) क़ुरानका स्थान—क़ुरानको पवित्र-संघ किस दृष्टिसे देखता था, यह उनके इस वाक्यसे मालूम होता है—"हमारे पैगंबर मुहम्मद एक ऐसी असभ्य रेगिस्तानी जातिके पास भेजे गये थे, जिनको न इस लोकके सौन्दर्यका ज्ञान था और न परलोकके आध्यात्मिक स्वरूपका पता। ऐसे लोगोंके लिए दिये गये क़ुरानकी मोटी भाषाका अर्थ अधिक सभ्य

लोगोंको आध्यात्मिक अर्थमें लेना चाहिए।" इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि पवित्र-संघ ज़र्तुश्ती, ईसाई आदि धर्मोंको ज्यादा श्रद्धाकी दृष्टिसे देखता था। ईश्वरके क्रोध, नर्काग्निकी यातना, आदि बातें मूढ़ विश्वास हैं। उनके मतसे मूढ़ पापी जीव इसी जीवनमें नर्कमें गिरे हुए हैं। क़यामत (=प्रलय)को वह नये अर्थोंमें और दो तरहकी मानते हैं।—शरीरसे जीवका अलग होना छोटी क़यामत है; दूसरी महाक़यामत है, जिसमें कि सब आत्मायें ब्रह्म (अद्वैत तत्त्व)में लीन हो जाती हैं।

(छ) पवित्र-संघकी धर्म-चर्या—त्याग, तपस्या, आत्म-संयमके ऊपर पवित्र-संघका सबसे ज्यादा जोर था। बिना किसी दबावके स्वेच्छापूर्वक तथा बुद्धिसे ठीक समझकर जो कर्म किया जाता है, वही प्रशंसनीय कर्म है। दिव्य विश्व-नियमका अनुसरण करना सबसे बड़ा धर्माचरण है। इन सबसे ऊपर प्रेमका स्थान है—प्रेम जीवका परमात्मासे मिलनेके लिए बेकरारी है। इसी प्रेमका एक भाग वह प्रेम है, जो कि इस जीवनमें प्राणिमात्रके प्रति क्षमा, सहानुभूति और स्नेह द्वारा प्रकाशित किया जाता है। प्रेम इस लोकमें मानसिक सान्त्वना, हृदयकी स्वतन्त्रता देता तथा प्राणिमात्रके साथ शान्ति स्थापित करता है, और परलोकमें उस नित्य ज्योतिका समागम कराता है।

यद्यपि पवित्र-संघ आत्मिक जीवनपर ही ज्यादा ज़ोर देता है, और शरीरकी ओर उतना ख्याल नहीं करता; तो भी वह कायाकी बिलकुल अवहेलना करनेकी सलाह नहीं देता।—"शरीरकी ठीकसे देखभाल करनी चाहिए, . . जिसमें जीवको अपनेको पूर्णतया विकसित करनेके लिए काफी समय मिले।"

आदर्श मनुष्यको होना चाहिए—"पूर्वी ईरानियों जैसा सुजात, अरबों जैसा श्रद्धालु, इराकियों (=मेसोपोतामियनों) जैसा शिक्षाप्राप्त, यहूदियों जैसा गंभीर, ईसाके शिष्यों जैसा सदाचारी, सुरियानी साधु जैसा पवित्र भाववाला, यूनानियों जैसा अलग-अलग विज्ञानों (साइंसों) में निपुण, हिन्दुओं जैसा रहस्योंकी व्याख्या करनेवाला, और सूफी . . . . जैसा सन्त।"

पवित्र-संघके बहुतसे सिद्धान्त बातिनी, इस्माइली, दरूश आदि इस्लामी सम्प्रदायोंमें भी मिलते हैं, जिससे मालूम होता है, वह एक दूसरेसे तथा सम्मिलित विचारधारासे प्रभावित हुए थे।

§ ३–सूफ़ी संप्रदाय

अरबसे निकला इस्लाम भक्ति-प्रधान धर्म था, ईसाई और यहूदीधर्म भी भक्ति-प्रधान थे। यूनानी दर्शन तर्क-प्रधान था, केवल भक्ति-प्रधान धर्म बुद्धिको सन्तुष्ट नहीं कर सकता, केवल तर्क-प्रधान दर्शन श्रद्धालु भक्तको सन्तुष्ट नहीं कर सकता। समाजको स्थिरता प्रदान करनेके लिए श्रद्धालुओंकी जरूरत है, श्रद्धालुओंकी श्रद्धाको डिगाकर बिना नकेलके ऊँटकी भाँति स्वच्छन्द भागने वाली बुद्धिको फँसाना जरूरी है—इन्हीं ख्यालोंको लेकर यूनानियोंने पीछे भारतीय रहस्यवादसे मिश्रित नव-अफलातूनी दर्शनकी बुनियाद रखी थी। जब इस्लामके ऊपर भी वही संकट आया, तो उन्होंने भी उसी तैयार हथियारको इस्तेमाल किया। ईसाई साधक तथा हिन्दू-बौद्ध योगी उस वक्त भी मौजूद थे; इस्लामिक विचारक यह भी देख रहे थे कि ये योगी-साधक कितनी सफलताके साथ भक्तों और दार्शनिकों दोनोंके श्रद्धाभाजन हैं; इसीलिए इस्लामने भी सूफ़ीवाद (=तसव्वुफ़)के नामसे गृहस्थ या त्यागी फ़कीरोंकी एक जमात तैयार की।

१. **सूफ़ी शब्द**—साफ़ी (=सोफिस्त) शब्द यूनानी भाषाका है। यूनानी दर्शनके प्रकरणमें इन परिव्राजक दार्शनिकोंके बारेमें हम कह चुके हैं। आठवीं सदीमें जब यूनानी दर्शनका तर्जुमा अरबी भाषामें होने लगा, तो उसी समय सोफ़ या सोफ़ी शब्द भी दर्शनके अर्थमें अरबीमें आया, पीछे वर्णमालाके दोषसे सोफ़ी सूफ़ी हो गया।

सबसे पहिले सूफ़ीकी उपाधि अबू-हाशिम सूफ़ीको मिली, जिनका कि देहान्त ७७० ई० के आसपास (१५० हिज्री)में हुआ था। पैगंबरके जीवनकालमें विशेष धर्मात्मा पुरुषोंको 'सहाबा' (साथी) कहा जाता था।

पैगंबरके समसामयिक इन पुरुषोंको पीछे भी इसी नामसे याद किया जाता था। पीछे पैदा होनेवाले महात्माओंको पहिले ताबईन (=अनुचर) और फिर तबअ-ताबईन (=अनु-अनुचर) कहा जाने लगा। इसके बाद जाहिद (=शुद्धाचारी) और आबिद (=भक्त) और उससे भी पीछे सूफ़ीका शब्द आया। मुसलमान लेखकोंने सूफ़ी शब्दको निम्न अर्थोंमें प्रयुक्त किया है—

"सूफ़ी वह लोग हैं, जिन्होंने सब कुछ छोड़ ईश्वरको अपनाया है"—(ज़ुन्नून मिश्री)

"जिनका जीवन-मरण सिर्फ ईश्वरपर है"—(जनीद बगदादी)

"सम्पूर्ण शुभाचरणोंसे पूर्ण, सम्पूर्ण दुराचरणोंसे मुक्त"—(अबूबक्र हरीरी)

"जिस व्यक्तिको न दूसरा कोई पसन्द करे, न वह किसीको पसन्द करे"—(मंसूर हल्लाज)

"जो अपने आपको बिलकुल ईश्वरके हाथमें सौंप दे"—(रोयम्)

"पवित्र जीवन, त्याग और शुभगुण जहाँ इकट्ठा हों"—(शहाबुद्दीन सुहरावर्दी)

ग़जाली (१०५८-११११ ई०)ने सूफ़ी शब्दकी व्याख्या करते हुए कहा है, कि सूफ़ी पन्थ (=तसव्वुफ़) ज्ञान और आचरण (=कर्म)के मिश्रणका नाम है। शरीअत (=कुरानोक्त)के भक्तिमार्ग और सूफ़ी-मार्गमें यही अन्तर है, कि शरीअतमें ज्ञानके बाद आचरण (=कर्म) आता है, सूफ़ी मार्गके अनुसार आचरणके बाद ज्ञान।

२. सूफ़ी पन्थके नेता—इस्लामिक सूफ़ीवाद नव-अफलातूनी रहस्यवादी दर्शन तथा भारतीय योगका समिश्रण है, यह हम बतला चुके हैं; इस तरहका पंथ शाम, ईरान, मिश्र सभी देशोंमें मौजूद था, ऐसी हालतमें इस्लामके भीतर उसका चुपकेसे चला जाना मुश्किल नहीं है। कितने ही लोग पैगंबरके दामाद अलीको सूफ़ी ज्ञानका प्रथम प्रवर्त्तक बतलाते हैं, किन्तु म्वावियाके झगड़ेके समय हम देख चुके हैं कि अली इस्लाममें

अरबियतके कितने जबर्दश्त पक्षपाती थे; ऐसी हालतमें एक सामाजिक प्रतिक्रियावादी व्यक्तिका विचार-स्वातन्त्र्यके क्षेत्रमें इतना प्रगतिशील होना संभव नहीं मालूम होता। मालूम देता है, ईरानियोंने जिस तरह विजयी अरबोंको दबाकर अपनी जातीय स्वतंत्र भावनाओंकी पूर्तिके वास्ते अरबोंके भीतरी झगड़ेसे फायदा उठानेके लिए अली-सन्तान तथा शीआ-सम्प्रदायके साथ सहानुभूति दिखलानी शुरू की, उसी तरह इस्लामकी अरबी शरीअतसे आजाद होनेके लिए सूफ़ी मार्गको आगे बढ़ाते हुए उसे हजरत अलीके साथ जोड़ दिया।

सूफ़ी मत पहिले मुल्लाओंके भयसे गुपचुप अव्यवस्थित रीतिसे चला आता था, किन्तु इमाम ग़ज़ाली (१०५९-११११ ई०) जैसे प्रभावशाली विद्वान मुल्लाने जब खुल्लमखुल्ला उसकी हिमायतमें कलम ही नहीं उठाई, बल्कि उसकी शिक्षाओंको सुव्यवस्थित तौरसे लेखबद्ध कर दिया, तो वह धरातल पर आ गया।

३. सूफ़ी सिद्धान्त—पवित्र-संघ सूफ़ियोंका प्रशंसक था, इसका जिक्र आ चुका है। सूफ़ी दर्शनमें जीव ब्रह्मका ही अंश है, और जीवका ब्रह्ममें लीन होना यही उसका सर्वोच्च ध्येय है। जीव ही नहीं जगत् भी ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। शंकरके ब्रह्म-अद्वैतवाद और सूफ़ियोंके अद्वैतवादमें कोई अन्तर नहीं। यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है जो कि भारतमें मुसलमान सूफ़ियोंने इतनी सफलता प्राप्त की, और सफलता भी पूर्णतया शान्तिमय तरीकेसे। जीवको हक़ (=सत्, ब्रह्म) से मिलनेका एक ही रास्ता है, वह है प्रेम (=इश्क़) का। यद्यपि यह प्रेम शुद्ध आध्यात्मिक प्रेम था, किन्तु कितनी ही बार इसने लौकिक क्षेत्रमें भी पदार्पण किया है। काव्य-क्षेत्रमें—ईरानमें ही नहीं भारतमें भी—तो इस प्रेमने बड़े-बड़े कवि पैदा किये। शम्स, तब्रेज़, उमर-ख़य्याम, मौलाना रूमी, जायसी, कबीर जैसे कवि इसीकी देन हैं।

४. सूफ़ी योग—भारतीय योगकी भाँति—और कुछ तो उसीसे ली हुई—सूफ़ी योगकी बहुतसी सीढ़ियाँ हैं, जैसे—

(१) **विराग**—इष्ट-मित्र, कुटुम-कबीले, धन-दौलतसे अलग होना, सूफ़ी योगकी पहिली सीढ़ी है।

(२) **एकान्त-चिन्तन**—जहाँ मनको खींचनेवाली चीजें न हों, ऐसे एकान्त स्थानमें निवास करते ईश्वरका ध्यान करना।

(३) **जप**—ध्यान करते वक्त जीभसे भगवान्‌का नाम "अल्लाह्" "अल्लाह्" इस तरहसे जपना, कि जीभ न हिले, साथही ध्यानमें मालूम हो कि नाम जीभसे निकल रहा है।

(४) **मनोजप**—ध्यानमें दिलसे जप होता मालूम हो।

(५) **ईश्वरमें तन्मयता**—मनोजप बढ़ते हुए इतनी चित्त-एकाग्रता तक पहुँच जाये, कि वहाँ वर्ण और उच्चारणका कोई ख्याल न रहे, और भगवान् (=अल्लाह)का ध्यान दिलमें इस तरह समा जाये, कि वह किसी वक्त अपनेसे अलग न जान पड़े।

(६) **योगि-प्रत्यक्ष (=मुकाशफ़ा)**—जिस वक्त ऐसी तन्मयता हो जाती है, तब मुकाशफ़ा (=योगिप्रत्यक्ष) होता है। मुकाशफ़ा होनेपर वह सभी आध्यात्मिक सच्चाइयाँ साफ़-साफ दिखलाई देने लगती हैं, जिनको कि आदमी अभी केवल श्रद्धावश या गतानुगतिक तरीकेसे मानता आता रहा है।—पैगंबरी, आकाशवाणी (=भगवद्वाणी), फरिश्ते, शैतान, स्वर्ग, नर्क, कब्रकी यातना, सिरातका पुल, पाप-पुण्यकी तौल और न्यायका दिन आदि सारी बातें जो श्रद्धावश मानी जाती थीं, अब वह आँखोंके सामने फिरतीसी दिखलाई पड़ती हैं।

इमाम गज़ाली[1]ने मुकाशफ़ाकी अवस्थाको एक दृष्टान्तसे बतलाया है—

"एक बार रूम और चीनके चित्रकारोंमें होड़ लगी। दोनोंका दावा था, 'हम बड़े', 'हम बड़े'। तत्कालीन बादशाहने दोनों गिरोहके लिए आमने-सामने दो-दो दीवारें, हर एकको अपनी शिल्प-चातुरी दिखलानेके लिए,

---

[1] **"अह्याउल्-उलूम्"**।

निश्चित कर बीचमें पर्दा डलवा दिया, जिसमें कि वह एक दूसरेकी नक़ल न कर सके। कुछ दिनों बाद रूमी चित्रकारोंने बादशाहसे निवेदन किया कि हमारा काम खतम हो गया। चीनियोंने कहा कि हमारा काम भी खतम हो गया। पर्दा उठाया गया, दोनों (दीवारोंके चित्रों)में बाल बराबर भी फर्क न था। मालूम हुआ कि रूमियोंने चित्र न बनाकर सिर्फ दीवारको पालिश कर दर्पण बना दिया था, और जैसे ही पर्दा उठा, सामनेकी दीवारके तमाम चित्र उसमें उतर आये।"

मुकाशफ़ा (=योगिदर्शन)की पूर्व सूचना पहिले जल्दीसे निकल जाने वाली बिजलीकी चमकसे होती है, यह चमक धीरे-धीरे ठहरती हुई स्थिर हो जाती है।[१]

---

[१] अह्याउल्-उलूम्; और तुलना करो—
"नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकाशनीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तकराणि योगे।"
—श्वेताश्वतर-उपनिषद् २।११

षष्ठ अध्याय

पूर्वी इस्लामी दार्शनिक (२)

क. रहस्यवाद-वस्तुवाद

चीनके एक राजाने बुद्धको स्वप्नमें देखा था, फिर उसने बुद्धके धर्म और बौद्ध पुस्तकोंकी खोज तथा अनुवादका काम शुरू कराया। खलीफा मामून ८११-३३ ई० के बारेमें भी कहा जाता है, कि उसने स्वप्नमें एक दिन अरस्तूको देखा, स्वप्न हीमें अरस्तूने अपने दर्शनके सम्बन्धमें कुछ बातें बतलाईं, जिससे मामून इतना प्रभावित हुआ कि दूसरे ही दिन उसने क्षुद्र-एसियामें कई आदमी इसलिए भेजे कि अरस्तूकी पुस्तकोंको ढूंढ़कर बगदाद लाया जाये और वहाँ उनका अरबीमें अनुवाद किया जाये। मामूनके दर्बारमें अरस्तूकी तारीफ अकसर होती रही होगी, और उससे प्रभावित हो मामून जैसा विद्वान तथा विद्याप्रेमी पुरुष अरस्तूको स्वप्नमें देखे तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं। यूनानी दर्शन ग्रन्थोंका अरबी भाषामें किस तरह अनुवाद हुआ इसके बारेमें हम पहिले बतला चुके हैं। उस अनुवाद और दर्शन-चर्चासे कैसे इस्लाममें दार्शनिक पैदा हुए, और उन्होंने क्या विचार प्रकट किये, अब इसके बारेमें कहना है। बगदाद दर्शन-अनुवाद तथा दर्शन-चर्चा दोनोंका केन्द्र था, इसलिए पहिले इस्लामी दार्शनिकोंका पूर्वमें ही पैदा होना स्वाभाविक था। इन दार्शनिकोंमें सबसे पहिला किन्दी था, इसलिए उसीसे हम अपने वर्णनको आरम्भ करते हैं।

§ १. अबू-याकूब किन्दी (८७० ई०)

१. जीवनी—अबू-याकूब इब्न-इस्हाक अल्-किन्दी—(किन्दी वंशज इस्हाक पुत्र अबुल्-याकूब), किन्दा नामक अरबी कबीलेसे संबंध रखता था। किन्दा कबीला दक्षिणी अरबमें था, किन्तु जिस परिवारमें दार्शनिक किन्दी पैदा हुआ था, वह कई पुश्तोंसे इराक (मेसोपोतामिया)-में आ बसा था। अबू-याकूब किन्दीके जन्मके समय उसका बाप इस्हाक किन्दी कूफ़ाका गवर्नर था। किन्दीका जन्म-सन् निश्चित तौरसे मालूम नहीं है, संभवतः वह नवीं सदीका आरम्भ था। हाँ, उसकी ज्योतिषकी एक पुस्तकसे पता लगता है कि ८७० ई०में वह मौजूद था। उस समय फलित ज्योतिषके कुछ ऐसे योग घट रहे थे, जिससे फायदा उठाकर करमती दल अब्बासी-वंशके शासनको खतम करना चाहता था। किन्दीकी शिक्षा पहिले बस्रा और फिर उस समयके विद्या तथा संस्कृतिके केन्द्र बगदादमें हुई थी। प्रथम श्रेणीके इस्लामिक दार्शनिकोंमें किन्दी ही है, जिसे "अरब" वंशज कह सकते हैं, किन्तु बापकी तरफसे ही निश्चय पूर्वक यह कहा जा सकता है। बगदाद उस समय नामके लिए यद्यपि अरबी खलीफाकी राजधानी था, नहीं तो वस्तुतः वह ईरानी सभ्यता तथा यूनानी विचारोंका केन्द्र था। बगदादमें रहते वक्त किन्दीने समझा कि पुरानी अरबी सादगी तथा इस्लामिक धर्मविश्वास इन दोनों प्राचीन जातियोंकी सभ्यता तथा विद्याके सामने कोई गिनती नहीं रखती। यूनानी मस्तिष्कसे वह इतना प्रभावित हुआ था कि उसने यहाँ तक कह डाला—दक्षिणी अरबके कबीलों (जिनमें किन्दी भी सम्मिलित था)का पूर्वज कहतान यूनान (यूनानियों के प्रथम पुरुष)का भाई था। बगदादमें अरब, सुरियानी, यहूदी, ईरानी, यूनानी खूनका इतना सम्मिश्रण हुआ था, कि वहाँ जातियोंके नामपर असहिष्णुता देखी नहीं जाती थी।

किन्दी अब्बासी दर्बारमें कितने समय तक रहा, इसका पता नहीं। यूनानी ग्रन्थोंके अनुवादकोंमें उसका नाम आता है। उसने स्वयं ही अनु-

वाद नहीं किये, बल्कि दूसरोंके अनुवादोंका संशोधन और सम्पादन भी किया था। वह ज्योतिषी और वैद्य भी था, इसलिए यह भी संभव है, कि वह दर्बार में इस संबंधसे भी रहा हो। कुछ भी हो, यह तो साफ मालूम है, कि पीछे वह अब्बासी दर्बारका कृपापात्र नहीं रहा। खलीफा मुतवक्किल (८४७-६१ ई०)ने अपने पूर्वके खलीफोंकी धार्मिक उदारताको छोड़ "सनातनी" मुसलमानोंका पक्ष समर्थन किया, जिससे विचार-स्वातंत्र्यपर प्रहार होना शुरू हुआ। किन्दी भी उसका शिकार हुए बिना नहीं रह सका और बहुत समय तक उसका पुस्तकालय ज़ब्त रहा।

किन्दीकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी, अपने समयकी संस्कृति तथा विद्याओंका वह गंभीर विद्यार्थी था।—भूगोल, इतिहास, ज्योतिष, गणित वैद्यक, दर्शन—सब पर उसका अधिकार था। उसके ग्रंथ ज़्यादातर गणित, फलित ज्योतिष, भूगोल, वैद्यक और दर्शनपर हैं। यह आश्चर्यकी बात है, कि एक ओर तो किन्दी कीमियाको गलत कहकर उसके विश्वासियोंको निर्बुद्धि कहता, दूसरी ओर ग्रहोंके हाथ मनुष्यके भागको दे देना उसके लिए साइंस था।

२. धार्मिक विचार—किन्दीके समय फिर धर्मान्धताका जोर बढ़ चला था, और अपने विचारोंको खुल्लमखुल्ला प्रकट करना खतरेसे खाली न था; इसलिए जिन धार्मिक विचारोंका किन्दीने समर्थन किया है, उनमें वस्तुतः उसके अपने कितने हैं, इसके बारेमें सावधानीसे राय कायम करनेकी जरूरत है। वैसे जान पड़ता है, वह मोतजलाके कितने ही धार्मिक विचारोंसे सहमत था। नेकी और ईश्वर-अद्वैतपर उसका खास जोर था। उस समय इस्लामिक विचारकोंमें यह बात भारतीय सिद्धान्तके तौरपर प्रख्यात थी, कि बुद्धि (प्रत्यक्ष, अनुमान) ज्ञानके लिए काफी प्रमाण है, आप्त या शब्दप्रमाणकी उतनी आवश्यकता नहीं। किन्दीने मजहबियोंका पक्ष लेकर कहा कि पैगंबरी (=आप्त वाक्य) भी प्रमाण है; और फिर बुद्धिवाद तथा शब्दवादके समन्वयकी कोशिश की। भिन्न-भिन्न धर्मोंमेंसे एक बात जो कि सबमें उसने पाई, वह था नित्य, अद्वैत "मूल कारण"का

विचार। इस मूल कारणको सिद्ध करनेमें हमारा बुद्धिजनित ज्ञान पूरी तरह समर्थ नहीं है। जिसमें मनुष्य "मूल कारण" अद्वैत ईश्वरको ठीक समझ सकें, इसीलिए पैगंबर भेजे जाते हैं।

३. **दार्शनिक विचार**—किन्दीके समय नव-पिथागोरीय प्राकृतिक दर्शन (प्रकृति ब्रह्मका शरीर है, इस तरह प्रकृतिकार्य ब्रह्मका ही कार्य है) के विचार मौजूद थे। अपने ग्रंथोंमें उसने अरस्तूके बारेमें बहुत लिखा है। इस प्रकार किन्दीके दार्शनिक विचारोंके निर्माणमें उपरोक्त विचारधाराओं-का खास हाथ रहा है।

(१) बुद्धिवाद—किन्दी बुद्धिवादका समर्थन करता जरूर है, किन्तु आप्तवाद (=पैगंबरवाद)के लिए गुंजाइश रखते हुए।

(२) तत्त्व-विचार—(क) ईश्वर—जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, किन्दी जगत्को ईश्वरकी कृति मानता है। किन्दी कार्य-कारण नियम या हेतुवादका समर्थक है। कार्य-कारणका नियम सारे विश्वमें व्याप्त है, यह कहते हुए साथही वह लगे हाथों कह चलता है—इसीलिए हम तारोंकी भविष्य स्थिति तथा उससे होनेवाले (फलित-ज्योतिष प्रोक्त-) भले बुरे फलोंकी भविष्यद्वाणी कर सकते हैं। ईश्वर मूलकारण है सही, किन्तु जगत्के आगेके कार्योंके साथ वह सीधा संबंध न रखकर मध्यवर्त्ती कारणों द्वारा काम करता है। ऊपरका कारण अपने नीचेवाले कार्यको करता है, यह कार्य कारण बन आगेके कार्यको करता है; किन्तु कार्य अपनेसे ऊपरवाले कारणपर कोई प्रभाव नहीं रखता; उदाहरणार्थ—मिट्टी अपने कार्य पिंड (लोंदा)को करती (बनाती) है, पिंड घड़ेको करता है, किन्तु घड़ा कुछ नहीं कर सकता पिंड मिट्टीका कुछ नहीं कर सकता।

(ख) जगत्—ईश्वरकी कृति जगत्के दो भेद हैं, प्रकृति जगत्, और शरीर जगत्। शरीर या कायासे ऊपरका सारा जगत् प्रकृति जगत् है।

(ग) जगत्-जीवन—ईश्वर (मूलकारण) और जगत्के बीच जगत्-चेतन या जग-जीवन है। इसी जग-जीवन (=नफ़्स-आलम)से पहिले फरिश्ते या देव, फिर मानवजीव उत्पन्न होते हैं।

(घ) मानव-जीव और उसका ध्येय—जग-जीवनसे निकला मानव-जीव अपनी आदत और कामके लिए शरीर (=काया)से बँधा हुआ है, किंतु अपने निजी स्वरूपमें वह शरीरसे बिलकुल स्वतंत्र है; और इसीलिए जहाँ तक जीवके स्वरूपका संबंध है, उसपर ग्रहोंका प्रभाव नहीं पड़ता। जीव प्रकृत, अ-नश्वर पदार्थ है। वह विज्ञान (=आत्म)-लोकसे इंद्रिय-लोकमें उतरा है, तो भी उसमें अपनी पूर्वस्थितिके संस्कार मौजूद रहते हैं। इस लोकमें उसे चैन नहीं मिलता, क्योंकि उसकी बहुतसी आकांक्षाएं अपूर्ण रहती हैं, जिसके लिए उसे मानसिक अशान्ति सहनी पड़ती है। इस चलाचलीकी दुनियामें कोई चीज स्थिर नहीं है, इसलिए नही मालूम किस वक्त हमें उनका वियोग सहना पड़े, जिन्हें कि हम प्रिय समझते हैं। विज्ञानलोक (ईश्वर) ही ऐसा है, जिसमें स्थिरता है। इसलिए यदि हम अपनी आकांक्षाओंकी पूर्ति और प्रियोंसे अ-विछोह चाहते हैं, तो हमें विज्ञानकी सनातन कृपा, ईश्वरके भय, प्रकृति-विज्ञान और सुकर्मकी ओर मन और शरीरको लाना होगा।

(३) नफ़्स (=विज्ञान)—नफ़्स यूनानी शब्द है जिसका अर्थ विज्ञान या आत्मा, (=नित्य-विज्ञान) है। वह यूनानी दर्शनमें एक विचारणीय विषय है। नफ़्स (=अक्ल, विज्ञान)के सिद्धान्तपर किन्दीने जो पहिले-पहिल बहस छेड़ी, तो सारे इस्लामी दार्शनिक साहित्यमें उसकी चर्चाका रास्ता खुल गया। किन्दीने नफ़्स के चार भेद किये हैं—

(क) प्रथम विज्ञान (=ईश्वर)—जगत्में जो कुछ सनातन सत्य, आध्यात्मिक (=अ-भौतिक) है, उसका कारण और सार, परम-आत्मा ईश्वर है।

(ख) जीवकी अन्तर्हित (क्षमता)—दूसरी नफ़्स (=बुद्धि) है, मानव-जीवकी समझनेकी योग्यता या जीवकी वह क्षमता जहाँ तक कि जीव विकसित हो सकता है।

(ग) जीवकी कार्य-क्षमता (=आदत)—मानव-जीवके वह गुण या आदत जिसे कि इच्छा होनेपर वह किसी वक्त इस्तेमाल कर सकता है,

जैसे कि एक लेखककी लिखनेकी क्षमता, चित्रकारकी चित्रण-क्षमता।

(घ) जीवकी क्रिया—जिस बातसे जीवके भीतर छिपी अपनी वास्तविकता बाहरी जगतमें प्रकट होती है,—निराकार क्षमता, जिसके द्वारा साकार रूप धारण करती; इसमें कायिक, वाचिक, मानसिक तीनों तरहकी क्रियाएँ शामिल हैं।

(४) ज्ञानका उद्गम—(क) ईश्वर—किन्दी चौथी नफ़्स (विज्ञान)-को जीवका अपना काम मानता है, किन्तु दूसरी नफ़्स (=जीवकी अन्तर्हित क्षमता) को ही प्रथम नफ़्स (=ईश्वर) की देन नहीं मानता, बल्कि उस अन्तर्हित क्षमताको जीवकी कार्य-क्षमता (तीसरी नफ़्स) के रूपमें परिणत करना भी वह प्रथम नफ़्सका ही काम मानता है; इस तरह तीसरी नफ़्स —कार्य-क्षमता—भी जीवकी अपनी नहीं बल्कि ऊपरसे भेजी हुई चीज़ है। —इसका अर्थ यह हुआ कि हमारे ज्ञानका उद्गम (=स्रोत) जीव नहीं बल्कि प्रथम विज्ञान (ईश्वर) है। इस्लामिक दर्शनमें "ईश्वर समस्त ज्ञान-का स्रोत है" इस विचारकी "प्रतिध्वनि" सर्वत्र दिखाई पड़ती है। पुराना इस्लाम कर्ममें भी जीवको सर्वथा परतंत्र मानता था, ज्ञानके बारेमें तो कहना ही क्या। किन्दीने जीवकी कर्म-परतंत्रतासे उठनेवाली दार्शनिक कठिनाइयोंको समझ, उसे तो—ईश्वर सीधे अपने कार्योंके काममें दखल नहीं देता,—के सिद्धान्तसे दूर कर दिया; किन्तु साथ ही ज्ञान—जो कि दार्शनिकोंके लिए कर्मसे भी ज्यादा महत्त्व रखता है—का स्रोत ईश्वरको बनाकर इस्लामके ईश्वर-पारतंत्र्य सिद्धान्तकी पूरी तौरसे पुष्टि की।

किन्दीका नफ़्स (विज्ञान) का सिद्धान्त अरस्तूके टीकाकार सिकन्दर अफ़्रादीसियस्से लिया गया मालूम होता है; किन्तु सिकन्दरने अपनी पुस्तक "जीवके संबंधमें" साफ कहा है, कि अरस्तूके मतमें नफ़्स (=विज्ञान) तीन प्रकारका होता है। किन्दी अपने चार "प्रकार" को अफलातून और अरस्तूके मतपर आधारित मानता है। वस्तुतः यह नव-पिथागोरीय नव-अफलातूनी रहस्यवादी दर्शनोंपर अवलंबित किन्दीका अपना मत है।

(ख) इन्द्रिय और मन—नफ़्सके सिद्धान्त द्वारा ज्ञानके स्रोतको

यद्यपि किन्दी जीवसे बाहर मानता है, तो भी जब वह रहस्यवादसे नीचे उतरता है, तो वस्तु-स्थितिकी भी कद्र करना चाहता है, और कहता है—हमारा ज्ञान या तो इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है, या चिन्तन (=मनकी क्रिया कल्पना) शक्ति द्वारा। वह स्वीकार करता है, कि इन्द्रियाँ केवल व्यक्ति या भौतिक स्वरूप (=स्वलक्षण)को ही ग्रहण करती हैं, सामान्य या अ-भौतिक आकृति उनका विषय नहीं है। यही है दिग्नाग-धर्मकीर्तिका प्रत्यक्ष ज्ञान—"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं" (इन्द्रियसे प्राप्त कल्पना-रहित)। दिग्नाग-धर्मकीर्तिने सामान्य आदिको कल्पनामूलक कहकर उन्हें वस्तु-सत् माननेसे इन्कार कर दिया, यद्यपि उन्हें व्यवहारसत् माननेमें उज्र नहीं है, किन्तु ज्ञानको जीवके पास आई पराई थाती रखनेवाला किन्दी कल्पना (=चिन्तन)-शक्तिसे प्राप्त ज्ञानको वस्तु-सत् मानता है।

(ग) विज्ञानवाद—जो कुछ भी हो, अन्तमें दोनों ही ओरके भूले एक जगह मिल जाते हैं, और वह जगह वस्तु-जगत्से दूर है।—वह है विज्ञानवादकी भूल-भुलैयाँ। किन्दीने और मजबूरियोंके कारण या अनजाने **योगाचार**के विज्ञानवादको खुल्लमखुल्ला स्वीकार करना न चाहा हो, किन्तु है वह वस्तुतः विज्ञानवादी। उसका विज्ञानवाद क्षणिक है या नित्य—इस बहसमें वह नहीं गया है, किन्तु प्रथम विज्ञान (=आलय विज्ञान)-के चार भेद जो उसने किये हैं, और एकका दूसरेमें परिवर्तन बतलाया है, उससे साफ है कि वह विज्ञानको नित्य कूटस्थ नहीं मानता। बौद्ध विज्ञानवादियों (योगाचार दर्शन)की भाँति किन्दीके नफ़्सवादको भी आलय-विज्ञान (=विज्ञान-स्रोत, विज्ञान-समुद्र) और प्रवृत्ति-विज्ञान (=क्रिया परायण) विज्ञानसे समझना होगा। हाँ, तो दोनों ही ओरके भूले, "सब कुछ विज्ञान है विज्ञानके अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं" इस विज्ञानवादमें मिलते हैं, और किन्दी धर्मकीर्त्तिसे हाथ मिलाता हुआ कहता है—इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान और ज्ञेय (विषय) एक ही हैं, और इसी तरह मन (=कल्पना) द्वारा ज्ञात पदार्थ ("धर्म") भी प्रथम विज्ञान (आलय-विज्ञान) है। दोनोंमें इतना अन्तर जरूर है, कि जहाँ अपने सहधर्मियों (=मुसलमानों)के

डरके मारे दबी जाती किन्दीकी आत्माको एक सहृदय व्यक्तिके साथ एकान्त सम्मिलनमें उक्त भाव प्रकट करनेमें उल्लास हो रहा था; वहाँ सहधर्मियों (=बौद्धों)के डरके मारे दबकर अपने निज मत वस्तुवादके स्थानपर विज्ञानवादकी प्रधानताको दबी जबानसे स्वीकार करनेवाले धर्मकीर्त्तिके मनमें भारी ग्लानि हो रही थी।—और आश्चर्य नहीं, यदि किन्दीके "आलय विज्ञान" और प्रथम नफ़्स"की एकताकी बात करने-पर धर्मकीर्तिने कह दिया हो—"मैंने तो यार! जान-बूझकर असंगके 'आलय विज्ञान'का बायकाट किया है, क्योंकि वह खिड़कीके रास्ते स्थिरवाद (=अक्षणिकवाद) और ईश्वरवादको भीतर लानेवाला है।"

किन्दीका दर्शन नव-अफलातूनी पुटके साथ अरस्तूका दर्शन है।

§ २—फ़ाराबी (८७०?-९५० ई०)

१—जीवनी

किन्दीके बाद इस्लाममें दर्शनके विकासकी दूसरी सीढ़ी है अबू-नस्र इब्न-मुहम्मद इब्न-तर्खन इब्न-उज़लग, अल्-फाराबी (फाराबका रहनेवाला उज़लगके पुत्र तर्खनके पुत्र मुहम्मदका पुत्र अबू-नस्र)। अबू-नस्रका जन्म वक्षु (आमू) नदी तटवर्त्ती फराब जिलेके वसिज नामक स्थानमें हुआ था। वसिजमें एक छोटासा किला था, जिसका सेनापति अबू-नस्रका बाप मुहम्मद था। पूरे नामके देखनेसे पता लगता है, कि अबू-नस्रके बापका ही नाम मुसलमानी है, नहीं तो उसके दादा तर्खन और परदादा उज्लगके नाम गैर-मुसल्मानी—शुद्ध तुर्की—है, जिसका अर्थ है वह मुसलमान नहीं थे, और अबू-नस्र सिर्फ दो पुश्तका मुसलमान तुर्क था। फाराबीके पिताको ईरानी सेनापति कहा गया है, जिसका अर्थ यही हो सकता है, कि वह सफ़्फ़ारी (८७१-९०३ ई०) या किसी दूसरे ईरानी शासकवंशका नौकर था। फाराबीके वंशवृक्षसे यह भी पता लगता है, कि यद्यपि मध्य-एसियामें इस्लामी शासन स्थापित हुए डेढ़सौ सालसे ऊपर बीत चुके थे,

किन्तु अभी वहाँके सारे लोग—कमसे कम तुर्क—मुसलमान नहीं हुए थे। फाराबीकी दार्शनिक प्रतिभा और बुद्धिस्वातंत्र्यपर विचार करते हुए हमें ढाई सौ साल पहिले उधरसे गुज़रे ह्वेन-चाङ्के वर्णनका भी ख्याल रखना होगा, जिसमें इस प्रदेशमें सैकड़ों बड़े-बड़े बौद्ध शिक्षणालयों (संघारामों) और हजारों शिक्षित भिक्षुओंका जिक्र आता है। दो पीढ़ीके नव-मुस्लिमके होनेका मतलब है, फाराबीकी जन्मभूमिमें अभी बौद्ध (दार्शनिक) परंपरा कुछ न कुछ बची हुई थी। वक्षु-तटवर्त्ती ये तुर्क विद्या और संस्कृतिमें समुन्नत थे, इसमें तो सन्देह ही नहीं।

फाराबीकी प्रारंभिक शिक्षा अपने पिताके घरपर ही हुई होगी, उसके बाद वह बुखारा या समरकन्द जैसे अपने देशके उस समय भी ख्यातनामा विद्याकेन्द्रोंमें पढ़ने गया या नहीं, इसका पता नहीं लगता। यह भी नहीं मालूम, कि किस उम्रमें वह इस्लामकी नालन्दा—बगदाद—की ओर विद्याध्ययनके लिए रवाना हुआ। किन्दी तो जरूर उस समय तक मर चुका होगा, किन्तु राज़ी जिन्दा था। जन्म-भूमिमें बुद्धि-स्वातंत्र्यकी कुछ हलकी हवा तो उसे लगी ही होगी, बगदादमें आकर उसने योहन्ना इब्न-हैलान-की शिष्यता स्वीकार की। योहन्ना जैसे गैरमुस्लिम (ईसाई) विद्वान्को अध्यापक चुनना भी फाराबीके मानसिक झुकावको बतलाता है। बगदादमें कैसा विचार-स्वातंत्र्यका वातावरण—कमसे कम मुसलमानोंकी सनातनी जमातके बाहर—था, इसका परिचय पहिले मिल चुका है। फाराबीने दर्शनके अतिरिक्त साहित्य, गणित, ज्योतिष, वैद्यककी शिक्षा पाई थी। उसने संगीतपर भी कलम चलाई है। फाराबीको सत्तर भाषाओंका पंडित कहा जाता है। तुर्की तो उसकी मातृभाषा ही थी, फारसी उसकी जन्म-भूमिकी हवामें फैली हुई थी, अरबी इस्लामकी जबान ही थी, इस प्रकार इन तीन भाषाओंपर फाराबीका अधिकार था, इसमें तो सन्देह ही नहीं हो सकता, सुरियानी, इब्रानी, यूनानी भाषाओंको भी वह जानता होगा।

शिक्षा समाप्त करनेके बाद भी फाराबी बहुत समय तक बगदादमें रहा। नवीं सदीका अन्त होते-होते बगदादके खलीफोंकी राजनीतिक शक्तिका

भारी पतन हो चुका था। प्रान्तों, तथा देशोंमें होनेवाली राज्य-क्रान्तियोंका असर कभी-कभी बगदादपर भी पड़ता था। शायद ऐसी ही किसी अशान्तिके समय फाराबीने बगदाद छोड़ हलब (अलेप्पो)में वास स्वीकार किया। हलबका सामन्त सैफ़ुद्दौला बड़ा ही विद्यानुरागी—विशेषकर दर्शन-प्रेमी व्यक्ति था। फाराबीको ऐसे ही आश्रयदाताकी आवश्यकता थी।

फाराबी हालमें ही बौद्धसे मुसलमान हुए देश और परिवारमें पैदा ही नहीं हुआ था, बल्कि बौद्ध भिक्षुओंकी ही भाँति वह शान्ति और एकान्त जीवनको बहुत पसंद करता था। इस्लाममें सूफियोंका ही गिरोह था, जो कि उसकी तबियतसे अनुकूलता रखता था, इसीलिए फाराबी सूफियोंकी पोशाकमें रहा करता था। उसका जीवन भी दूसरे इस्लामिक दार्शनिकोंकी अपेक्षा यूनानी सोफिस्तों या बौद्ध भिक्षुओंके जीवनसे ज्यादा मिलता था।

वह उस समय हलबसे दमिश्क गया हुआ था, जब कि दिसंबर ९५० ई०में वहींपर उसका देहान्त हुआ। हलबके सामन्तने सूफीकी पोशाकमें उसकी कब्रपर फातिहा पढ़ा था। मृत्युके समय फाराबीकी उम्र अस्सी वर्षकी बतलाई जाती है। उसकी मृत्युसे १० साल पहिलेही उसके सहकारी (अनुवादक) अबू-बिश्र मत्ताका देहान्त हो चुका था। उसके शिष्य अबू-ज़करिया यह्या इब्न-आदीने ९७१ ई०में इक्कासी सालकी उम्रमें शरीर छोड़ा।

२-फाराबीकी कृतियाँ

फाराबीकी तरुणाईकी लिखी हुई वह छोटी-छोटी पुस्तकें हैं, जिनमें उसने वादविद्या और शारीरक ब्रह्मवाद (नव-पिथागोरीय) प्राकृतिक दर्शनका ज़िक्र किया है। किन्तु अपने परिपक्व ज्ञानका परिचय उसने अरस्तूके ग्रन्थोंके अध्ययन और व्याख्याओंमें दिया है; जिसके ही लिए उसे "द्वितीय अरस्तू" या "हकीम सानी" (दूसरा आचार्य) कहा गया। अरस्तूके गंभीर दर्शन, और वस्तुवादी ज्ञान (साइंस)का यूरोपके पुनर्जागरण और

उसके द्वारा आधुनिक साइंस-युगके प्रवर्त्तनमें कितना हाथ है, इसे यहाँ कहनेकी ज़रूरत नहीं; और इसमें तो शक नहीं अरस्तूको पुनरुज्जीवित करनेमें फ़ाराबीकी सेवाएं अमूल्य हैं। फाराबीने अरस्तूके ग्रन्थोंकी जो संख्या और क्रम निश्चित किया था, वह आज भी वैसा ही है। इसमें शक नहीं इनमेंसे कुछ—"अरस्तूका धर्मशास्त्र"—अरस्तूके नामपर दूसरोंकी बनाई पुस्तकें भी फाराबीने शामिल करली थीं। फाराबीने अरस्तूके तर्कशास्त्रके आठ[१], साइंसके आठ[२], अतिभौतिक (अध्यात्म) शास्त्र[३], आचारशास्त्र[४], राजनीति[५] आदि ग्रन्थोंपर टीका और विवरण लिखे हैं।

फाराबीने वैद्यकका भी अध्ययन किया था, किन्तु उसका सारा ध्यान तर्कशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र और साइंस (भौतिकशास्त्र) पर केन्द्रित था।

३—दार्शनिक विचार

ऊपरकी पंक्तियोंके पढ़नेसे मालूम है, कि फाराबीको दर्शनकी तहमें पहुँचनेका जितना अवसर मिला था, उतना उससे पहिले, तथा उसकी

---

[१] Logic—**मंतिक़**:
1. The Categories
2. The Hermeneutics
3. The first Analytics
4. The Second Analytics
5. The Topics
6. The Sophistics
7. The Rhetoric
8. The Poetics

[२] Physics—**तबीआत**:
1. Auscultatis Physica
2. De Coelo et mundo
3. De Generatioe et Corruptione
4. The Meterology
5. The Psychology
6. De Sensu et Sensato
7. The Book of Plant
8. The Book of Animals

[३] Metaphysics. [४] Ethics. [५] Politics.

सहायताको छोड़देनेपर पीछे भी, किसी इस्लामिक दार्शनिकको नहीं मिला था। वक्षुतट, मेर्व, बगदाद, हलब, दमिश्क, सभी दर्शनकी भूमियाँ थीं, और फाराबीने उनसे पूरा फायदा उठाया था।

(१) अफलातूँ-अरस्तू-समन्वय—अफलातूँका दर्शन अ-वस्तुवादी विज्ञानवादी है, और अरस्तू अपने सारे देवी-देवताओं तथा विज्ञान (नफ़्स) के होते भी सबसे ज्यादा वस्तुवादी है। फाराबी इस फर्कको समझ रहा था, और यदि निष्पक्ष साइंस भक्त होता, तो वह लीपापोतीकी कोशिश न करता, किन्तु फाराबीने अपने दिलको नव-अफलातूनी रहस्यवादी दर्शनको दे रखा था, जब कि उसका सबल मस्तिष्क अरस्तूको छोड़नेके लिए तैयार न था; ऐसी हालतमें दोनोंके समन्वय करनेके सिवा दूसरा कोई चारा न था। यही नहीं इस समन्वय द्वारा वह इस्लामके लिए भी गुंजाइश रख सका, जिससे वह काफिरोंकी गति भोगनेसे भी बच सका। फाराबीके अनुसार अफलातून और अरस्तूका मतभेद बाहरी वर्णनशैलीका है, दोनोंका भाव एक है, दोनों उच्चतम दर्शन-ज्ञानके इमाम (ऋषि) हैं। इसके कहनेकी आवश्यकता नहीं कि फाराबीके हृदयमें जो सम्मान इन दो यूनानी दार्शनिकोंका था, वह किसी दूसरेके लिए नहीं हो सकता था।

(२) तर्क—फाराबीके अनुसार तर्क सिर्फ प्रयोग (=दृष्टान्त)-सिद्ध विश्लेषण या ऊहा मात्र नहीं है। ज्ञानकी प्रामाणिकता तथा व्याकरणकी कितनी ही बातें भी तर्कके अन्तर्गत आती हैं। ज्ञात और सिद्ध वस्तुसे अज्ञात वस्तुका जानना—प्रमाण सिद्धान्त—तर्क है।

(३) सामान्य (=जाति)—यूनानी दर्शन और उससे ही लेकर पीछे भारतीय न्याय-वैशेषिक शास्त्रमें सामान्यको एक स्वतंत्र, वस्तुसत् पदार्थ सिद्ध करनेकी बहुत चेष्टा की गई है। फ़ाराबीने इसागोजी[1] पर लिखते वक्त एक जगह **सामान्यके** बारेमें अपनी सम्मति दी है—सिर्फ वस्तु

[1] पोर्फिरी (फोर्फोरियस)की पुस्तक, जो गलतीसे अरस्तूकी कृति मानी गयी।

और इन्द्रिय प्रत्यक्षमें ही नहीं, बल्कि विचारमें भी हमें **विशेष** प्राप्त होता है। इसी तरह **सामान्य** भी वस्तु-व्यक्तियोंमें केवल घटनावश ही नहीं रहता, बल्कि मनमें भी वह एक द्रव्यके तौरपर अवस्थित है। यह ठीक है कि मन वस्तुओंमेंसे लेकर सामान्य (गायपन)को कल्पित करता है; तो भी सामान्य उन वस्तु-व्यक्तियों (गाय-पिंडों) के अस्तित्वमें आनेसे पहिले भी सत्ता रखता है, इसमें शक नहीं।

(४) **सत्ता**—सत्ता क्या है, इसका उत्तर फ़ाराबी देता है—वस्तुकी सत्ता वस्तु अपने (स्वयं) ही है।

(५) **ईश्वर अद्वैत-तत्त्व**—ईश्वरके अस्तित्वको सिद्ध करनेके लिए फाराबी सत्ताको इस्तेमाल करता है। सत्ता दो ही तरहकी हो सकती है—वह या तो आवश्यक है अथवा संभव (विद्यमान) है। जिस किसी वस्तुकी सत्ता संभव (विद्यमान) है, वह संभव तभी हो सकती है, यदि उसका कोई कारण हो। इस तरह हर एक संभव सत्ता कारणपूर्वक होती है। किन्तु कारणकी शृंखलाको अनन्त तक नहीं बढ़ा सकते, क्योंकि आखिर शृंखलाको बनानेवाली कड़ियाँ अनन्त नहीं सान्त हैं। और इस प्रकार हमारे लिए **आवश्यक** हो जाता है एक ऐसी **सत्ता**का मानना, जो स्वयं कारण-रहित रहते सबका कारण है; जो कि अत्यन्त पूर्ण, अपरिवर्तनशील, आत्मतृप्त परमशिव, चेतन, परम-मन (विज्ञान) है। वह प्रकृतिके सभी शिव-सुन्दर रूपोंको—जो कि उसके अपने ही रूप हैं—प्यार करता है। इस (ईश्वरकी) सत्ताके अस्तित्वको प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह स्वयं प्रमाण तथा सत्य—वास्तविकताको अपने भीतर रखते हुए स्वयं भी वस्तुओंका मूल कारण हैं। जैसे ऐसी सत्ताका होना आवश्यक है, वैसे ही उसका एक—अद्वैत—ही होना भी आवश्यक है। दो होनेपर उसमें समानताएं, और असमानताएं दोनों होंगी, जिसके कारण एक दूसरेकी टक्करसे प्रत्येककी सरलता नष्ट हो जायेगी। परिपूर्ण सत्ताका एक होना आवश्यक है।

प्रथम सत्ता केवल एक तथा वस्तुसत् है, इसीको ईश्वर कहा जाता

है। सबके मूलकारण उस एक सत्तामें सभी वस्तुएँ एक हो जाती हैं, वहाँ किसी तरहका भेद नहीं रहता; इसीलिए ऐसी सत्ताका कोई लक्षण नहीं किया जा सकता। तो भी मनुष्य उसके लिए सुन्दर भाव प्रकट करने वाले अच्छेसे अच्छे नामोंका प्रयोग करते हैं; सुन्दरसे सुन्दर गुण या विशेषण उसके लिए प्रयुक्त करते हैं, किन्तु उन्हें काव्यकी उपमाके समान ही जानना चाहिए। परम तत्त्वके पूर्ण प्रकाशको हमारी निर्बल आँखें (=बुद्धि) देख नहीं सकतीं।—भूतोंकी अपूर्णता हमारी समझको अपूर्ण रखती है।

(६) अद्वैत तत्त्वसे विश्वका विकास—परम सत्ता, अद्वैत तत्त्व या ईश्वरसे विश्वके विकासको फ़ाराबीने छै छै सीढ़ियों और श्रेणियोंमें विभक्त किया है; जिनमें पहिले निराकार षट्क हैं—

१. सर्व शक्तिमान कर्त्ता पुरुष ईश्वर जिसके बारेमें अभी कहा जा चुका है, और जिसमें ही (पिथागोरीय) **आकृतियाँ** अनन्तकालमे वास करती हैं।

२. कर्त्ता पुरुषमे नौ फरिश्ते या देवात्मायें (आलम-अफ़लाक) प्रकट होती हैं; इनमेंसे पहिली तो कर्त्तापुरुषके समान ही है, और वह (हिरण्य-गर्भकी भाँति) दूर तक ब्रह्माण्डका संचालन करती है। इस पहिली देवात्मासे क्रमशः एकके बाद दूसरे आठों फरिश्ते, देवात्मायें या "अभिमानी" देवता प्रकट होते हैं।

यह दो श्रेणियाँ सदा एकरस बनी रहती हैं।

३. तीसरी श्रेणीमें क्रिया-परायण विज्ञान (नफ़्स) है, जिसे पवित्र-आत्मा भी कहते हैं। यही क्रिया-परायण विज्ञान (=बुद्धि) स्वर्ग (=आकाश) और पृथ्वीको मिलाती है।

४. चौथी श्रेणी जीवकी है।

बुद्धि और जीव यह दो श्रेणियाँ एकरस अद्वैत स्वरूपमें न रहकर मनुष्योंकी संख्याके अनुसार बहुसंख्यक होती हैं।

५. आकृति—पिथागोरकी आकृति जो भौतिक तत्त्वसे मिलकर भिन्न-भिन्न तरहकी वस्तुओंके बनानेमें सहायक होती है।

६. भौतिक तत्त्व—पृथवी, जल, आग, हवा निराकार रूपमें।

इनमें पहिले तीन—ईश्वर, देवात्मा, बुद्धि—सदा नफ़्स (=विज्ञान)-स्वरूप निराकार रहती हैं। पिछले तीन—जीव, आकृति, भौतिक तत्त्व—यद्यपि मूलतः निराकार—(अ-काय) हैं, तो भी शरीरको लेकर वह आपसमें संबंध स्थापित करते हैं।

दूसरे साकार षट्क हैं—

१. देव-काय—शरीरधारी फरिश्ते।

२. मनुष्य-काय—शरीरधारी मानव।

३. पशु (तिर्यक)-काय—पशु, पक्षी आदि शरीरधारी।

४. वनस्पति-काय—वृक्ष, वनस्पति आदि साकार पदार्थ।

५. धातु-काय—सोना, चाँदी आदि साकार पदार्थ।

६. महाभूत-काय—पृथवी, जल, आग, हवा साकार रूपमें।

(७) **ज्ञानका उद्गम**—किन्दीकी भाँति फ़ाराबी भी ज्ञानको मानव-प्रयत्न-साध्य वस्तु न मानकर ऊपरसे—ईश्वर द्वारा—प्रदान की गई वस्तु मानता है। जीवकी परिभाषा करते हुए फ़ाराबी कहता है—वह जो शरीर (=काया)के अस्तित्वको पूर्णता प्रदान करता है; किन्तु जीवको जो चीज पूर्णता प्रदान करती है वह **विज्ञान** (अक़्ल या नफ़्स) है, वही विज्ञान वास्तविक मानव है। यह विज्ञान (नफ़्स) शिशुके जीवमें मौजूद है, किन्तु उस वक्त वह सुप्त है, अर्थात् उसकी क्षमता अन्तर्हित होती है। इन्द्रियाँ और कल्पना शक्ति जब काम करने लगती हैं, तो बच्चेको साकार वस्तुओंका ज्ञान होने लगता है, और इस प्रकार सुप्त विज्ञान जागृत होने लगता है। किन्तु यह विज्ञान सुप्तावस्थासे जागृत अवस्थामें आना मनुष्यके अपने प्रयत्नका फल नहीं है, बल्कि यह अन्तिम नवीं देवात्मा—चन्द्र—से प्रकट होता है। देवात्मायें खुद स्वयंभू नहीं हैं, बल्कि वह अपनी सत्ताके लिए मूल-विज्ञान (ईश्वर) पर अवलंबित हैं।

(८) **जीवका ईश्वरसे समागम**—मूल-विज्ञान (=ईश्वर)में समाना यही मानवका लक्ष्य है। फ़ाराबी इसे संभव कहता है—आखिर

मनुष्यका नफ़्स (=विज्ञान, अक्ल) अपने नज़दीकके अन्तिम देवात्मा (चंद्र)से समानता रखता है, जिसमें समाना असंभव नहीं है, और देवात्मा-में समाना मूल विज्ञान (=ईश्वर)में समानेकी ओर ले जाने वाला ही कदम है।

यह समाना किस तरहसे हो सकता है, इसके लिए फ़ाराबीका मत है—इस जीवनमें सबसे बढ़कर जो बात की जा सकती है, वह है बुद्धि-सम्मत ज्ञान। किन्तु जब आदमी मर जाता है, तो ऐसे ज्ञानी जीवको उसी तरहकी पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होती है, जो कि नफ़्स (=विज्ञान)में ही संभव है। उस अवस्था—देवात्मामें समा जाने—के बाद वह पुरुष अपने व्यक्तित्व-को खो बैठता है, या वह मौजूद रहता है?—इसका उत्तर फ़ाराबी साफ तौर से देना नहीं चाहता।—मनुष्य मृत्युके बाद लुप्त हो जाता है, एक पीढ़ी-के बाद दूसरी पीढ़ी आती है।, सदृशमें सदृश, प्रत्येक अपने जैसेसे मिलता है—ज्ञानी 'जीवों'के लिए देशकी सीमा नहीं है, इसलिए उनकी संख्या-वृद्धिके लिए कोई सीमाकी जरूरत नहीं, जैसे विचारके भीतर विचार शक्तिके भीतर शक्तिके मिलनेमें किसी सीमा या परिमितिकी ज़रूरत नहीं। प्रत्येक जीव अपने और अपने-जैसे दूसरोंपर ध्यान करता है। जितना ही अधिक वह ध्यान करता है, उतना ही अधिक वह आनंद अनुभव करता है।

(९) **फलित ज्योतिष और कीमियामें अविश्वास**—फ़ाराबीका काम स्वतंत्र दार्शनिक चिन्तना उतना नहीं था, जितना कि अरस्तू जैसे महान् दार्शनिकोंके विचारोंका विशदीकरण (समझाना); इसीलिए इस क्षेत्रमें उससे बहुत आशा नहीं रखनी चाहिए। फ़ाराबी यद्यपि धर्म और रहस्य(सूफ़ी)वादसे भयभीत था, तो भी उसपर तर्क और स्वतंत्र चिंतन-ने असर किया था, जिसका ही यह फल था, कि वह फलित ज्योतिष और कीमिया (उस वक्तकी कीमिया जिसके द्वारा आसानीसे सस्ती धातुओं—ताँबे आदिको बहुमूल्य धातु—सोने—में बदलकर धनी बननेकी प्रवृत्ति लोगोंमें पाई जाती थी)को मिथ्या विश्वास समझता था।

४—आचार-शास्त्र

फ़ाराबी ज्ञानका उद्गम जीवसे बाहर मूल विज्ञान (=ईश्वर)में मानता है, इसे बतला चुके हैं, ऐसी अवस्थामें ऐसी भी संभावना थी, कि फ़ाराबी आचार—भलाई-बुराई, पुण्य-पाप—के विवेकको भी ऊपरसे ही आया बतलाता; किन्तु यहाँ यह बात स्मरण रहनी चाहिए कि फ़ाराबी **मूल विज्ञान**से विश्वकी उत्पत्तिको इस्लामके "कुन्"की भाँति अभावसे भावकी उत्पत्तिकी तरह नहीं मानता, बल्कि उसके मतमें विकास कार्य-कारण संबंधके साथ हुआ है, यद्यपि विज्ञानसे भौतिक तत्त्वकी ओरका विकास आरोह नहीं अवरोह क्रमसे है, तो भी यह अपेक्षाकृत ज्यादा वस्तुवादी है, इसमें सन्देह नहीं। कुछ भी हो, उसके "ज्ञानके उद्गम"के सिद्धान्तकी अपेक्षा आचारके उद्गमका सिद्धान्त ज्यादा बुद्धिपूर्वक है। ईश्वरवादी लोग ज्ञानको किसी वक्त मानव बुद्धिकी उपज माननेके लिए तैयार भी हो सकते हैं, किन्तु आचार—पुण्य-पाप—के विचारका स्रोत वह हमेशा ईश्वरको ही मानते हैं। फ़ाराबी इस बारेमें बिलकुल उलटा मत रखता है; वह ज्ञानका स्रोत अ-मानुषिक मानता है, किन्तु आचार-विवेकको वह मानव-बुद्धिका चमत्कार है—भले-बुरेकी तमीज़की ताकत बुद्धिमें है। ज्ञानको फ़ाराबी कर्म (=आचार)से ऊपर मानता है, इसलिए भी वह उसका उद्गम मनुष्यसे ऊँचा रखना चाहता है।

शुद्ध ज्ञानको फ़ाराबी स्वातंत्र्यकी भूमि बतलाता है; लेकिन यह शुद्ध ज्ञान ईश्वरपर निर्भर होनेसे उसीके अनुसार निश्चित है, जिसका अर्थ हुआ मानव स्वतंत्रता भी ईश्वराधीन है—यह फ़ाराबीका सीधा-सादा भाग्यवाद है—"उसके हुकुमके बिना पत्ता तक हिलता नहीं"।

५—राजनीतिक विचार

फ़ाराबीने अफलातूँके "प्रजातंत्र"को पढ़ा था, और उसका उसपर कुछ असर ज़रूर हुआ था; किन्तु वह अफलातूँके जगत्—अथेन्स और उसके

प्रजातंत्र—को अपने सामने चित्रित नहीं कर सकता था। उसकी दृष्टिमें राजतंत्रके सिवा दूसरे प्रकारका शासन संभव ही नहीं—एक ईश्वरवादी धर्मके माननेवालोंके लिए एक शासन (राजतंत्र)-वादसे ऊपर उठना बहुत मुश्किल है। इसीलिए फ़ाराबी अफलातूँके बहुतसे दार्शनिकोंके प्रजातंत्रकी जगह एक आदर्श दार्शनिक राजाके शासनको समाजका सर्वोच्च ध्येय बताता है। मनुष्य जीवन-साधनोंके लिए एक दूसरेपर अवलंबित है, और मनुष्योंमें कोई नैसर्गिक तौरसे बलशाली अधिक साधन-सम्पन्न होता है, कोई स्वभावतः निर्बल और अल्प-साधन; इसलिए, ऐसे बहुतसे लोगोंको एक बलशालीके आधीन रहना ही पड़ेगा। राज्यके भले-बुरे होनेकी कसौटी फ़ाराबी राजाके भले-बुरे होनेको बतलाता है। यदि राजा भलाइयोंके बारेमें अनभिज्ञ, उलटा ज्ञान रखनेवाला है, या दुराचारी है, तो राज्य बुरा होगा। भला राज्य वही हो सकता है, जिसका राजा (अफलातूँ जैसा) दार्शनिक है। आदर्श (दार्शनिक) राजा दूसरे अपने जैसे गुणवाले व्यक्तियोंको शासनके काममें अपना सहायक बनाता है।

फ़ाराबी एक ओर शासक राजाके निरंकुश—यदि अंकुश है तो दर्शन का—शासनवाले अधिकारको कायम रखना चाहता है, किन्तु साथ ही एक आदर्शवादी दार्शनिक होनेके कारण वह उसके कर्त्तव्य भी बतलाता है। सब कर्त्तव्यों—जिम्मेवारियों—का निचोड़ इसी विचारमें आ जाता है, कि राज्यका बुरा होना राजापर निर्भर है। मूर्ख राज्यमें प्रजा निर्बुद्धि हो, पशुकी अवस्थामें पहुँच जाती है। इसकी सारी जिम्मेवारी राजापर पड़ती है, जिसके लिए परलोकमें उसे यातना भोगनेके लिए तैयार रहना पड़ेगा। यह है कुछ विस्तृत अर्थ में—

"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवशि नरक-अधिकारी॥"—तुलसीदास

फ़ाराबीके राजनीतिक विचार व्यवहार-बुद्धिसे बिलकुल शून्य हैं, लेकिन इसके कारण भी थे। एक सफल वैद्य होनेसे वह व्यवहारके गुण-को बिलकुल जानता न हो यह बात नहीं हो सकती; यही कहा जा सकता

है, कि वह व्यवहारके जीवनसे दार्शनिक (व्यवहारशून्य मानसिक उड़ान-के) जीवनको ज्यादा पसन्द करता था। जब हम उसके जीवनकी ओर देखते हैं तो यह बात और साफ हो जाती है। उसका जीवन एक विचार-मग्न सूफी या बौद्ध भिक्षुका जीवन था। उसके पास संपत्ति नहीं थी, किन्तु मन उसका किसी राजासे कम न था। पुस्तकोंमें उसे अफलातूँ, अरस्तूका सत्संग, और तज्जन्य अपार आनंद प्राप्त होता था। अपने बाग-के फूल और चिड़ियोंके कलरव बाकी कमीको पूरा कर देते थे। यद्यपि सनातनी मुसलमान फ़ाराबीको सदा काफिर कहते थे, किन्तु वह उनके ज्ञानके तलको बहुत नीचा समझता, उनकी रायकी कोई कदर नहीं करता था। उसके लिए यह काफी सन्तोषकी बात थी, कि पारखी व्यक्ति—चाहे वह कितने ही थोड़े हों—उसकी कदर करते थे। वह उनके लिए महान् तत्त्वज्ञानी था। फ़ाराबीका शुद्ध और सादा जीवन दूसरी तरहके मजहबी पक्षपातसे शून्य व्यक्तियोंपर भी प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता था।

यह सब इसी बातको बतलाते हैं, कि दर्शनमें दूर हटे होनेपर भी फ़ाराबीमें तत्कालीन समाज या शासनको कोई डर न था।

६–फ़ाराबीके उत्तराधिकारी

फ़ाराबी जैसे एकान्तप्रिय प्रकृतिवाले विद्वान्के पास शिष्योंकी भारी भीड़ जमा नहीं हो सकती थी, इसीलिए उसके शिष्योंकी संख्या बहुत कम थी। अरस्तूके कितने ही ग्रन्थोंका अनुवादक अबू-ज़करिया यह्या इब्न-आदी—याकूबी पंथका ईसाई—उसका शिष्य था। अनुवादक होनेके सिवा आदीमें स्वयं कोई खास बात न थी; किन्तु उसका ईरानी शिष्य अबू-सुलैमान मुहम्मद (इब्न-ताहिर इब्न-बहराम अल्) सजिस्तानी एक ख्यात-नामा पंडित था। दसवीं सदीके उत्तरार्धमें सजिस्तानीकी शिष्य-मंडली-में बगदादके बड़े-बड़े विद्वान शामिल थे। सजिस्तानी-गुरु-शिष्य-मंडली-के दार्शनिक पाठ और संवादके कितने ही भाग अब भी सुरक्षित हैं, जिसमे

पता लगता है कि उनकी दिलचस्पी दर्शनके गंभीर विषयोंमें कितनी थी। तो भी फ़ाराबीकी तर्कशास्त्रकी परंपरा आगे चलकर हमारे यहाँके नव्य-नैयायिकोंकी भाँति तत्त्व-चिन्तनकी जगह शाब्दिक बहसकी ओर ज्यादा बहक गई। सजिस्तानी-शिष्यमंडली वस्तुतः तर्कको दार्शनिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त करनेके लिए साधन न समझ, उसे दिमागी कसरत और बहसके लिए बहस करनेका तरीका समझती थी। उनमें जो तत्त्वबोधकी ओर रुचि रखते थे, उनके लिए सूफियोंका रहस्यवाद था ही, जिसकी भूल-भुलैयाँके ताने-बाने तार्किकोंके तर्कसे भी ज्यादा सूक्ष्म थे। यह सूफी रहस्य-वादकी ओरका झुकाव ही था, जिसके कारण कि (जैसा कि उसके शिष्य तौहीदी १००६ ई० ने लिखा है) अबू-सुलैमान सजिस्तानीके अध्ययन-अध्यापनमें एम्पेदोकल, सुक्रात, अफलातूँ—सभी रहस्यवादी समझे जानेवाले दार्शनिकों—की जितनी चर्चा होती थी, उतनी अरस्तूकी नहीं। सजिस्तानी-शिष्य-मंडलीमें देश-जाति-धर्मकी संकीर्णताका बिलकुल अभाव था, उनका विश्वास था कि यह विभिन्नताएं बाहरी हैं, इन सबके भीतर रहनेवाला सत्य एक है।

§ ३—बू-अली मस्कविया (······-१०३० ई०)

फ़ाराबीके समयसे चलकर अब हम फिर्दोसी (९४०-१०२० ई०) (अबू रैहाँ अल्-)बैरूनी (९७३-१०४८) और महमूद गजनवी (मृ० १०३३ ई०)के समयमें आते हैं। अब विचारकी बागडोर ही नहीं शासनकी बागडोर भी नामनिहादी अरबोंके हाथसे अरब-भिन्न मुसल-मान जातियोंके हाथमें चली गई है, और वह कबीलेशाही इस्लामकी समानता और भाईचारेके भावसे प्रभावित नीचेसे उठी लोकशक्तिको नये शासकों—जिनमें कितने ही गुलामीका मजा खुद चख चुके थे, या उनके बाप-दादोंकी गुलामी उनको भूली न थी—के नेतृत्वमें संगठित कर इस्लाम-की अपूर्ण विजयको अलग-अलग पूरा करना चाहती है। यह समय है, जब कि इस्लामी तलवारका सीधा हिन्दू तलवारसे मुकाबिला होता है और

हिन्दूरक्षक पर्वतमाला हिन्दूकुशका नाम धारण करती है।—महमूद गजनवी काबुलके हिन्दूराज्यके विजयसे ही सन्तोष नहीं करता, बल्कि इस्लामके "झंडे"को बुलन्द करनेके लिए भारतपर हम्लेपर हम्ले करता है। ऊपरी दृष्टिसे देखनेपर यही शकल हमारे सामने आती है, जैसा कि हमारे विद्यालयोंके इतिहासलेखक हमारे सामने उसे पेश करते हैं; किन्तु सतहसे भीतर जानेपर यह हिन्दू और इस्लामके झंडोंके झगड़ेका सवाल नहीं रह जाता—यद्यपि यह ठीक है, कि उस समय उसे भी ऐसा ही समझा गया था।

प्रारंभिक इस्लामपर अरब कबीलाशाहीकी जबरदस्त छाप थी, इसका जिक्र पहले हो चुका है, साथ ही हम यह भी बतला चुके हैं, कि दमिश्ककी खिलाफतने उस कबीलाशाहीको पहिली शिकस्त दी, और बगदादकी खिलाफतने उसे दफना दिया।—यह बात जहाँ तक ऊपरके शासक-वर्गका संबंध है, बिलकुल ठीक है। किन्तु कबीलाशाही कुरान अब भी मुसलमानोंका मुख्य धर्मग्रन्थ था। उसकी पढ़ाईका हर मस्जिद, हर मद्रसेमें उसी तरह रवाज था। अरबी कबीलोंके भीतर सरदार और साधारण व्यक्तियोंकी जो समानता है, उसका न कुरानमें उतना स्पष्ट चित्रण था, और न उसका उदाहरण लोगोंके सामने था—बल्कि खलीफों और धनी मुसलमानोंका जो उदाहरण सामने था, वह बिलकुल उलटा रूप पेश करता था। हाँ, भाई-चारेकी बात कुरानमें साफ और बार बार दुहराई गई थी, मस्जिदमें जुमाकी नमाजके वक्त सुल्तानोंको भी इसे दिखलाना पड़ता था। जिन शक्तियोंसे मुसलमानोंका विरोध था, उनमें इस भाई-चारेका ख्याल इतना खतम हो चुका था, उनका सामाजिक संगठन सदियोंसे इस तरह विशृंखलित हो चुका था, कि "हिन्दू झंडे" या किसी दूसरे नामपर उसे लानेकी बात उस परिस्थितिमें कभी भी संभव न थी। इस्लामी झंडा यद्यपि अब विश्वव्यापी (अन्तर्राष्ट्रीय) इस्लामी कबीलका झंडा नहीं था, तो भी वह ऐसे विचारोंको लेकर हमला कर रहा था, जिससे शत्रुदेशके राजनीतिक ही नहीं सामाजिक ढाँचेको भी चोट पहुँच

रही थी; और शोषणपर आश्रित सदियोंकी बोसीदा जात-पाँतकी इमारतकी नींव हिल रही थी।

मस्कवियाका जन्म ऐसे समय में हुआ था।

१—जीवनी

मस्कवियाके जीवनके बारेमें हमें बहुत मालूम नहीं है। वह सुल्तान अदूदद्दौला (व्वायही?)का कोषाध्यक्ष था, और १०३० ई० में, जब उसकी मृत्यु हुई, तो बहुत बूढ़ा हो चुका था।

मस्कविया वैद्य था, दर्शनके अतिरिक्त इतिहास, भाषाशास्त्र उसके प्रिय विषय थे। किन्तु जिस कृतिने उसे अमर किया है, वह है उसकी पुस्तक "तहज़ीबुल-इख़्लाक़" (आचार-सभ्यता)। उसने इसके लिखनेमें अफलातूँ, अरस्तू, जालीनूस (गलेन)के ग्रन्थोंको, इस्लामिक धर्मशास्त्रके साथ मिलाकर बड़ी सफलतासे इस्तेमाल किया। वह अपने विचारोंमें अरस्तूका सबसे ज्यादा ऋणी है। मस्कवियाका यही तहज़ीबुल-इख़्लाक़ है, जिसके आधारपर ग़ज़ालीने अपने सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ "अह्या-उल्-उलूम"को लिखा। मस्कवियाने आचार-संबंधी रोगों (=दुराचार) को लोभ, कंजूसी, लज्जा आदि आठ किस्मका बतलाया है। इन रोगोंको दूर करनेके उसने दो रास्ते बतलाए हैं—(१) एक तो रोगसे उलटी औषधि इस्तेमाल की जाये, कंजूसीके हटानेके लिए शाहख़र्चीका हथियार इस्तेमाल किया जाये। (२) दूसरे, चूँकि सभी आचारिक रोगोंके कारण क्रोध और मोह होते हैं, इसलिए इन्हें दूर करनेके उपाय इस्तेमाल किये जायें।

२—दार्शनिक विचार

(मानव जीव)—मस्कविया मानव जीव और पशु जीवमें भेद करता है, खासकर ईश्वरकी ओर मनुष्यकी बौद्धिक उड़ानको ऐसी खास बात समझता है, जिससे कि पशु-जीवको मानव-जीवकी श्रेणीमें नहीं रखा जा सकता।

मानव जीव एक ऐसा अमिश्रित निराकार द्रव्य है, जो कि अपनी सत्ता, ज्ञान और क्रियाका अनुभव करता है। वह अभौतिक, आत्मिक स्वभाव रखता है, यह तो इसीसे सिद्ध है कि जहाँ भौतिक शरीर एक दूसरेसे अत्यन्त विरोधी **आकारों**—काले, सफेद......के ज्ञानों—मेंसे सिर्फ एकको ग्रहण कर सकता है, वहाँ जीव (आत्मा) एक ही समय कई "आकारों"का ग्रहण करता है। यही नहीं वह इन्द्रिय-ग्राह्य तथा इन्द्रिय-अग्राह्य दोनों प्रकारके "आकारों"को अभौतिक स्वरूपमें ग्रहण करता है—इन्द्रियसे हम कलमकी लंबाई देखते हैं, किन्तु उसका "आकार"सा स्मृतिमें सु-रक्षित होता है, वह वही भौतिक लंबाई नहीं है। इसीसे सिद्ध है कि जीव भौतिक सीमासे बद्ध नहीं है। अतएव जीवके ज्ञान और प्रयत्न शरीरकी सीमासे बाहर तककी पहुँच रखते हैं, और बल्कि वह इन्द्रिय-गोचर जगत्की सीमासे भी पार पहुँचते हैं। सच और झूठका ज्ञान जीवमें सहज होता है, इन्द्रियाँ इस ज्ञानको नहीं प्रदान करतीं। इन्द्रियाँ अपने प्रत्यक्षके द्वारा जिन विषयोंको उपस्थित करती हैं, उनकी विवेचना और निर्धारणा करते वक्त वह अपनी उसी सहज शक्तिसे काम लेती हैं। "मैं जानता हूँ" इसको जानना—"आत्म-चेतना"—इस बातका सबसे बड़ा प्रमाण है, कि जीव एक अभौतिक तत्त्व है।

३—आचार-शास्त्र

(१) **पाप-पुण्य**—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मस्कविया ज्यादा प्रसिद्ध है एक आचारशास्त्रीके तौरपर। आचार-शास्त्रमें पहिला प्रश्न आता है—शुभ (=भलाई, नेकी) क्या है ? मस्कवियाका उत्तर है—जिसके द्वारा एक इच्छावान् व्यक्ति (=प्राणी) अपने उद्देश्य या स्वभावकी पूर्णताको प्राप्त करता है। नेक (=शुभ) होनेके लिए एक खास तरहकी योग्यता या रुझान होनी ज़रूरी है। लेकिन हम जानते हैं, हर मनुष्यमें योग्यता एकसी नहीं है। स्वभावतः नेक मनुष्य बहुत कम होते हैं। जो स्वभावतः नेक हैं, वह बुरे नहीं हो सकते, क्योंकि स्वभाव, उसीको कहते हैं

जो बदलता नहीं। कितने ही स्वभावतः बुरे कभी अच्छे न होने वाले मनुष्य भी हैं। बाकी मनुष्य पहिलेपहिल न नेक होते हैं न बद, वह सामाजिक वातावरण (संसर्ग) या शिक्षा-दीक्षाके कारण नेक या बद बन जाते हैं।

शुभ (=नेकी) दो तरहका होता है—साधारण शुभ, और विशेष शुभ। इनके अतिरिक्त एक परम शुभ है, जो कि सर्व महान् सत् (=ईश्वर) और सर्व महान् ज्ञानको कहते हैं। सभी शुभ मिलकर इसी परम शुभ तक पहुँचना चाहते हैं। हर व्यक्तिको किसी विशेष शुभके करनेसे उसके भीतर आनन्द या प्रसन्नता प्रकट होती है। यह आनन्द और कुछ नहीं अपने ही मुख्य स्वभावका पूर्ण और सजीव रूपमें प्राकट्य है, अपने ही अन्तस्तम अस्तित्वका पूर्ण अनुभव है।

(२) **समाजका महत्त्व**—मनुष्य उसी वक्त शुभ(नेक) और सुखी है, जब कि वह मनुष्यकी तरह आचरण करता है—शुभाचार मानव महनीयता है। मानव-समाजके सभी व्यक्ति एक समान नहीं हैं, इसीलिए शुभ, और आनन्द (=सुख)का तल सबके लिए एकसा नहीं है। यदि मनुष्य अकेला छोड़ दिया जाय, तो स्वभावतः जो मनुष्य न नेक है न बद, उसे नेक बननेका अवसर नहीं मिलेगा, इसीलिए बहुतसे मनुष्योंका इकट्ठा (=समाजमें) रहना ज़रूरी है; और इसके लिए पहिला कर्तव्य, तथा सभी शुभाचरणोंकी नींव है मानव-जातिके लिए साधारण प्रेम, जिसके बिना कोई समाज कायम नहीं रह सकता। दूसरे मनुष्योंके साथ और उनके बीच ही मनुष्य अपनी कमियोंको दूर कर पूर्णता प्राप्त कर सकता है, इसीलिए आचार वही हो सकता है, जो कि सामाजिक आचार है। इस तरह मित्रता आत्म-प्रेम (=अपने भीतर केन्द्रित प्रेम)का सीमा-विस्तार नहीं, बल्कि आत्म-प्रेमका संकोच है, वह अपनेपनकी सीमाके बाहर, अपने पड़ोसी-का प्रेम है। इस तरहका प्रेम या मित्रता संसार-त्यागी एकान्तवासी साधुमें संभव नहीं है, यह संभव है, केवल समाज, या सामूहिक जीवन हीमें। जो एकान्तवासी योगी समझता है, कि वह शुभ (=सदाचारी) जीवन बिता रहा है, वह अपनेको धोखा देता है। वह धार्मिक हो सकता

है किन्तु आचारवान् हर्गिज़ नहीं, क्योंकि आचारवान् होनेके लिए समाज चाहिए।

(३) **धर्म (=मज़हब)**—धर्म या मजहब, मस्कवियाके विचारसे लोगोंको आचारकी शिक्षा देनेका तरीका है, उदाहरणार्थ, नमाज़ (=भगवान्‌की उपासना), और हज (=मक्काकी तीर्थयात्रा) पड़ोसी या लोक-प्रेमको बड़े पैमानेपर पैदा करनेका सुन्दर अवसर है।

सांप्रदायिक संकीर्णताका अभाव और मानव-जीवनमें समाजका बहुत ऊँचा स्थान बतलाता है, कि मस्कवियाकी दृष्टि कितनी व्यापक और गंभीर थी।

§ ४–बू-अली सीना (६८०-१०३७ ई०)

फ़ाराबी अपने शान्त अतएव निष्क्रिय स्वभावके कारण चाहे दर्शन-क्षेत्रमें उतना काम न कर सका हो, जितना कि वह अपने गंभीर अध्ययन और प्रतिभाके कारण कर सकता था, किन्तु वह एक महान् विद्वान् था, इसमें सन्देह नहीं। बू-अली सेनके बारेमें तो हम कह सकते हैं, कि उसके रूपमें पूर्वी इस्लामिक दर्शन उन्नतिकी पराकाष्ठापर पहुँचा। बू-अली सीना मस्कविया (मृत्यु १०३० ई०), फ़िर्दौसी (६४०-१०२० ई०), अल्बैरूनी (६७३-१०४८)का समकालीन था; मस्कवियासे भेंट और अल्बैरूनीसे उसका पत्र-व्यवहार भी हुआ था।

१–जीवनी

अबू-अली अल्-हुसैन (इब्न-अब्दुल्ला इब्न-)सीनाका जन्म ६८० ई० में बुख़ाराके पास अफ़्शनमें हुआ था। सीनाके परिवारके लोग पीढ़ियोंसे सरकारी कर्मचारी रहते चले आए थे। उसने प्रारंभिक शिक्षा घरपर पाई। यद्यपि मध्य-एसियाके इस भागमें इस्लामको प्रभुत्व जमाए प्रायः तीन सदियाँ हो गई थीं, किन्तु मालूम होता है, यहाँकी सभ्य जातिके लिए जितना अरबी तलवारके सामने सिर झुकाना आसान था,

उतना अपने जातीय व्यक्तित्त्व (राष्ट्रीय सभ्यता) का भुलाना आसान न था। फ़ाराबीको हम देख चुके हैं, कैसे वह इस्लामकी निर्धारित सीमाको विचार-क्षेत्रमें पसन्द न करता था; फ़ाराबी भी सीनाका ही स्वदेश-भाई था। यही क्यों, फ़ाराबी और सीनाकी मातृभूमि—वर्त्तमान उज़बकस्तान सोवियत् प्रजातन्त्र—ने कितनी आसानीसे चंद वर्षोंके भीतर धर्म और मुल्लोंसे पिंड छुड़ा लिया, और आज उज़बक मध्य-एसियाकी जातियों-में सबसे आगे बढ़े हुए माने जाते हैं; इससे यह भी पता लगता है, कि तेरह सदियोंमें इस्लामने वहाँके लोगोंकी जातीय भावनाको नष्ट करनेमें सफलता नहीं पाई। ऐसे सामाजिक वातावरणने सीनाके विचारोंके विकासमें कितना प्रभाव डाला होगा, यह आसानीसे समझा जा सकता है। सीनाने स्वयं लिखा है, कि बचपनमें मेरे बाप और चचा नफ़्सके सिद्धान्तपर बातनियोंके मतसे बहस किया करते थे, जिसे मैं बड़े ध्यानसे सुना करता।

प्रारम्भिक शिक्षाको समाप्तकर बू-अली मध्य-एसियाकी इस्लामिक नालन्दा बुखारा[1] में पढ़नेके लिए गया। वहाँ उसने दर्शन और वैद्यकका विशेष तौरसे अध्ययन किया। "होनहार बिरवानके होत चीकने पात"—की कहावतके अनुसार अभी बू-अली जब १७ वर्षका तरुण था, उसी वक्त उसने स्थानीय राजा नूह इब्न-मंसूरको अपनी चिकित्सासे रोग-मुक्त किया। इस सफलतासे उसे सबसे ज़्यादा फायदा जो हुआ वह यह था कि नूह-के पुस्तकालयका दर्वाजा उसके लिए खुल गया। तबसे सीना वैज्ञानिक अध्ययन या चिकित्सा-प्रयोगमें अपना गुरु आप बना, इसमें वह कितना सफल

---

[1] **बुखारा वस्तुतः बिहार शब्दका विकृत रूप है। नालन्दाके आर्य महाविहारकी भाँति वहाँ भी "नवविहार" नामक एक जबर्दस्त बौद्ध शिक्षणालय था; जिस तरह नालंदा जैसे विहारोंने एक प्रान्तको विहार नाम दिया, उसी तरह इस "नव विहार"ने नगरको विहार या बुख़ार नाम दिया।**

हुआ, यह अगले पृष्ठ बतलायेंगे। एक बात तो निश्चित है, कि अब तक चलते आए ढर्रेकी पढ़ाईसे इतनी कम आयुमें मुक्त हो जानेसे वह दर्शनमें टीकाकार और गतानुगतिक न बन, स्वतंत्ररूपसे यूनानी दर्शनके तुलनात्मक अध्ययनसे अपनी निजी शैलीको विकसित कर सका।

किसी महत्त्वाकांक्षी विद्वान्के लिए अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिए उस वक्त ज़रूरी था कि वह किसी शासकका आश्रय ले। सीनाको भी वैसा ही करना पड़ा। सीना, हो सकता है, अपनी प्रतिभा और विद्वत्ताके कारण किसी बड़े दरबारमें रसूख हासिल कर सकता, किन्तु उसमें आत्म-सम्मान और स्वतंत्रताका भाव इतना अधिक था, कि वह बहुत बड़े दरबारमें टिक न सकता था। छोटे दरबारोंमें वह बहुत कुछ समानताके साथ निर्वाह कर सकता था, इसलिए उसने अपनी दौड़को वहीं तक सीमित रक्खा। वहाँ भी, एक दरबारमें यदि कोई तबियतके विरुद्ध बात हुई तो दूसरा घर देखा। उसके काम भी भिन्न भिन्न दरबारोंमें भिन्न-भिन्न थे, कहीं वह शासनका कोई अधिकारी बना, कहीं अध्यापक, और कहीं लेखक। अन्तमें चक्कर काटते-काटते हमदान (पश्चिमी ईरान)के शासक शम्-सुद्दौलाका वजीर बना। शम्सुद्दौलाके मरनेके बाद उसके पुत्रने कुछ महीनोंके लिए सीनाको जेलमें डाल दिया—सीनाने खान्दान भर तो क्या उत्तराधिकारी तककी कोर्निश करनी नहीं सीखी थी। ज़ेलसे छूटनेपर वह इस्पहाँके शासक अलाउद्दौलाके दरबारमें पहुँचा। अलाउद्दौलाने जब हमदानको जीत लिया, तो अबीसीना फिर वहाँ लौट गया। यहीं १०३७ ई० में ५७ वर्षकी उम्रमें उसका देहान्त हुआ; हमदानमें आज भी उसकी समाधि मौजूद है।—हमदामन (इखबतन) ईरानके प्रथम राजवंश (मद्रवंश)के प्रथम राजा देवक (दयउक्कु, मृत्यु ६५५ ई० पू०)की राजधानी थी।

२—कृतियाँ

सीनाने यूनानी दार्शनिकोंकी कृतियोंपर कोई टीका या विवरण नहीं लिखा। उसका मत था—टीकायें और विवरण ढेरकी ढेर मौजूद हैं,

जरूरत है उनपर विचार कर स्वतन्त्र निश्चयपर पहुँचनेकी। वह जिस निश्चयपर पहुँचा, उसे अपने ग्रन्थोंमें उल्लिखित किया। उसके दर्शनके ग्रन्थोंमें तीन मुख्य हैं—

(१) शफ़ा, (चिकित्सा) (अबू-अबीद जोज़जानीको पढ़ाते वक्त तैयार हुई)। (२) इशारात (=संकेत)। (३) नजात (=मुक्ति)।

इनमें "शफ़ा"के बारेमें उसने खुद कहा है, कि मैंने यहाँ अरस्तूके विचारोंको दर्ज किया है। तो भी इसका यह मतलब नहीं, कि उसमें उसने अपनी बातें नहीं मिलाई हैं। यहाँ "पैगंबरी" "इमामपन"की जो बहस छेड़ी है, निश्चय ही उसका अरस्तूके दर्शनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी तरह "इशारात"में भी पैगंबरी, पाप (=बुराई)की उत्पत्ति, प्रार्थनाका प्रभाव, उपासना-कर्तव्य, मोजज़ा (=चमत्कार) आदिपर जो लिखा है, उसका यूनानी दर्शनसे नहीं इस्लामसे संबंध है। रोश्द (११२६-९८ ई०) सीनाका कड़ा समालोचक था, उसने जगह-जगह उदाहरण देकर बतलाया है कि सीना कितनी ही जगह अरस्तूके विरुद्ध गया, कितनी ही जगह उसने अरस्तूके भावोंको गलत पेश किया, और कितनी ही जगह अरस्तूके नामसे नई बातें दर्ज कर दीं। इन सबका अर्थ सिर्फ यही निकलता है कि सीनाकी तबियतमें निरंकुशता थी।

सीना अपने जीवनके हर क्षणको बेकार नहीं जाने देता था। १७ से ५७ वर्षकी उम्र तकके ४० वर्षोंकी एक-एक घड़ियोंका उसने पूरा उपयोग किया। दिनमें वह सर्कारी अफसरका कर्त्तव्य पूरा करता या विद्यार्थियोंको पढ़ाता, शामको मित्र-गोष्ठी या प्रेमाभिनयमें बिताता; किन्तु रातको वह हाथमें कलम, तथा नींद न आने देनेके लिए सामने मदिरा का प्याला रखे बिता देता था। समय और साधनके अनुसार उसके ग्रन्थोंका विषय होता था। जब पर्याप्त समय तथा पासमें पुस्तकालय रहता, तो वैद्यक (=हिकमत) या दर्शनपर कोई बड़ा ग्रन्थ लिखनेमें लग जाता। जब यात्रामें रहता, तो छोटी छोटी पुस्तकें लिखता। जेलमें उसने कवितायें, तथा ध्यान (=रियाज़त)पर लेखनी चलाई। उसकी कविताओं और

सूफी-निबंधोंमें बहुत ही प्रसाद गुण पाया जाता है। पद्य-रचनापर उसका इतना अधिकार था, कि इच्छा होनेपर उसने साइंस, वैद्यक और तर्ककी पुस्तकोंको भी पद्यमें लिखा। पारसी और अरबी दोनों भाषाओंपर उसका पूर्ण अधिकार था।

३—दार्शनिक विचार

सीना दार्शनिक और वैद्य (=हकीम) दोनों था। रोश्दने दर्शन-क्षेत्र-में उसकी कीर्तिछटाको मंद कर दिया, तो भी वैद्यकके आचार्यके तौर बहुत पीछे तक युरोप उसका सम्मान करता रहा।

(१) मिथ्याविश्वास-विरोध—सीना अपनेसे पहिलेके इस्लामिक दार्शनिकोंमे कहीं ज्यादा फलित-ज्योतिष और कीमिया—उस वक्तके दो जबरदस्त मिथ्या विश्वासों—का सख्त विरोधी था। वह इन्हें निरी मूढ़ता समझता था, यद्यपि इसका अर्थ यह नहीं कि आँख मूँदनेके साथ ही लोग उसके नामसे इन विषयोंपर ग्रन्थ लिखनेसे बाज आये हों।

हाँ, उसका बुद्धिवाद साइंसवेत्ताओंका बुद्धिवाद—प्रयोगसिद्ध सिद्धान्त ही सत्य—नहीं बल्कि दार्शनिकोंका बुद्धिवाद था, जिसमें कि इन्द्रियोंको गलत रास्तेपर ले जानेसे बचानेके लिए बुद्धिको तर्कके अस्त्रको चतुराईसे उपयोगपर जोर दिया गया है। तर्क बुद्धिके लिए अनिवार्यतया आवश्यक है, तर्ककी आवश्यकता सिर्फ उन्हींको नहीं है, जिनको दिव्यप्रेरणा मिली हो; जैसे अनपढ़ बद्दूको अरबी व्याकरणकी आवश्यकता नहीं।

(२) जीव-प्रकृति-ईश्वरवाद—फाराबीकी भाँति सीना प्रकृति (मूल भौतिक तत्त्व)को ईश्वरसे उत्पन्न हुआ नहीं मानता था, उसके विचारमें ईश्वर एक ऊँची हस्ती है, जिसे **प्रकृति**के रूपमें परिणत हुआ मानना उसे खींचकर नीचे लाना है, उसी तरह वह जीवको भी ईश्वरसे नीचे किन्तु प्रकृतिसे ऊपर तत्त्व मानता है। उसके मतसे ईश्वर जो सृष्टि करता है उसका अर्थ यही है, कि कर्त्ता (=भगवान) अनादि (अकृत) प्रकृतिको साकार रूप देता है। अरस्तू और सीनाके मतमें यहाँ थोड़ा अन्तर है।

अरस्तू प्रकृतिके अतिरिक्त **आकृति**को भी अनादि (=अकृत) मानता है। और सृष्टि करनेका मतलब वह यही लेता है कि कर्त्ताने प्रकृति और आकृति-को मिलाकर साकार जगत् और उसकी वस्तुएँ बनाईं। सीना प्रकृतिको ही अनादि मानता है, और आकृतिको अकृत नहीं कृत (=बनाई हुई) मानता है। निश्चय ही यह सिद्धान्त सनातनी मुसलमानोंके लिए कुफ़्रसे कम न था और यही समझकर ११५० ई० में बगदादमें खलीफा मुस्तन्जिद-ने सीनाके ग्रन्थोंको आगमें जलाया था।

(३) **ईश्वर**—अकृत (अनादि) प्रकृति निराकार है, उस अवस्थामें जगत् तथा उसकी साकार वस्तुओंका अस्तित्व नहीं हो सकता। इस नास्तित्वकी अवस्थामें जगत्को साकार अस्तित्वमें परिणत करनेके लिए एक सत्ताकी ज़रूरत है, और वही ईश्वर है। ईश्वरकी सिद्धिके लिए सीनाकी यह युक्ति अरस्तूसे भिन्न है; अरस्तूका कहना है कि प्रकृति और आकृति दोनों ही अनादि (अकृत) वस्तुएँ हैं, उनके ही मिलनेसे साकार जगत् पैदा होता है; इस मिलनके लिए गतिकी ज़रूरत है, जो गति कि चिरकालसे जगत्में देखी जाती है, इस गतिका कोई चालक (=गतिकारक) होना चाहिए, जिसको ही ईश्वर कहते हैं।

ईश्वर एक (अद्वितीय) है। उसमें बहुतसे विशेषण माने जा सकते हैं; किन्तु ऐसा मानते वक्त यह ख्याल रखना चाहिए, कि उनकी वजहसे ईश्वर-अद्वैतमें बाधा न पड़े।

(४) **जीव और शरीर**—यूनानी दार्शनिकों तथा उनके अनुयायी इस्लामी दार्शनिकोंकी भाँति सीनाने भी ईश्वरसे प्रथम विज्ञान (=नफ़्स), उससे द्वितीय विज्ञान आदिकी उत्पत्तिका वर्णन किया है, जिसको बहुत कुछ रूखी पुनरावृत्ति समझकर हम यहाँ छोड़ देते हैं। सीनाने जीवका स्थान प्रकृतिसे ऊपर रक्खा है, जो कि भारतीय दर्शन (सेश्वर सांख्य) से समानता रखता है। उस समय, जब कि काबुलमें अभी ही अभी महमूदने हिन्दू-शासन हटाकर अपना शासन स्थापित किया था, किसी घूमते-फिरते योग (सेश्वर-सांख्य) के अनुयायीसे सीनाकी मुलाकात

असंभव न थी, अथवा अरबी अनुवादके रूपमें उसके पास कोई भारतीय दर्शनकी ऐसी पुस्तक भी मौजूद हो सकती है, जिससे कि उसने इन विचारोंको लिया हो। एक बात तो स्पष्ट है, कि सीनाके दर्शनमें सबसे ज्यादा जोर जीव (आत्मा)पर दिया गया है, किसी भी दार्शनिक विवेचनाके वक्त उसकी दृष्टि सदा मानव-जीवपर रहती है। इसी जीवका ख्याल रखनेके कारण ही उसने अपने सबसे महत्त्वपूर्ण दर्शन-ग्रन्थका नाम "शफ़ा" (=चिकित्सा) रखा है, जिसका भाव है जीवकी चिकित्सा।

सीना शरीर और जीवको दो बिलकुल भिन्न पदार्थ मानता है। सभी पिंड भौतिक तत्त्वोंसे मिलकर बने हैं, मानव-शरीर भी उसी तरह भौतिक तत्त्वोंसे बना है, हाँ, वहाँ मात्राके सम्मिश्रणमें बहुत बारीकीसे काम लिया गया है। ऐसे मिश्रण द्वारा मानव जातिकी सृष्टि या विनाश यकायक किया जा सकता है। किन्तु जीव इस तरह भौतिक तत्त्वोंके मिश्रणसे नहीं बना है। जीव शरीरका अभिन्न अंश नहीं है, बल्कि उसका शरीरके साथ पीछेसे संयोग हुआ है। हरएक शरीरको अपना-अपना जीव ऊपरसे मिलता है। प्रारम्भसे ही प्रत्येक जीव एक अलग वस्तु है, शरीरमें रहते हुए सारे जीवन भर जीव अपने वैयक्तिक विकासको जारी रखता है।

मनन करना जीवकी सबसे बड़ी शक्ति है। पाँच बाहरी और पाँच भीतरी इन्द्रियाँ (=अन्तःकरण[1]) जगत्का ज्ञान विज्ञानमय जीवके पास पहुँचाती हैं, जिसका अन्तिम ज्ञानात्मक निर्णय या बोध जीव करता है।

---

[1] वेदान्तियोंके चार मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारकी भाँति सीनाने भी अन्तःकरणको पाँच भागोंमें बाँटे हैं, जो कि मस्तिष्कके आगे, बिचले और पिछले हिस्सेमें हैं, और वह हैं—(१) हिस्स-मुश्तरक (सम्मिलित अन्तःकरण); (२) हिफ़्ज मज्मुई (ज्ञानमय) प्रतिबिंबोंकी सामूहिक स्मृति; (३) इद्राक् लाशऊरा (अंशोंका होशके बिना परिचय); (४) इद्राक् शऊरा (होशके साथ संपूर्णकर परिचय); (५) हिफ़्ज मआनी (उच्च परिचयोंकी स्मृति)।

बोध-शक्ति या बुद्धि जीवकी शक्तियोंकी चरमसीमा है। पहिले बुद्धिके भीतर चिन्तनकी छिपी क्षमता रहती है, किन्तु बाहरी भीतरी इन्द्रियों द्वारा प्रस्तुत ज्ञानसामग्री उसकी छिपी क्षमताको प्रकट—कार्यक्षमताके रूपमें परिणत कर देती है; लेकिन ऊपर आकृतिदाता (द्वितीय नफ़्स)की प्रेरणा भी शामिल रहती है; वही बुद्धिको विचार प्रदान करता है। मानव जीवकी स्मृति शुद्ध निराकार कभी नहीं होती, क्योंकि स्मृतिके होनेके लिए पहिले साकार आधार ज़रूरी है।

विज्ञानमय (मानव) जीव अपनेसे नीचे (भौतिक वस्तुओं)का स्वामी है, किन्तु ऊपरकी वस्तुओंका ज्ञान उसे जगदात्मा (=द्वितीय नफ़्स) द्वारा मिलता है। इस तरह ऊपर नीचेके ज्ञानोंको पाकर मनुष्य वास्तविक मनुष्य बनता है, तो भी साररूपेण वह (मानव जीव) एक अमिश्रित, अनश्वर, अमृत वस्तु है। जबतक मानव-जीव शरीर और जगत्में रहता है, तबतक वह उनके द्वारा अधिक शिक्षित, अधिक विकसित होनेका अवसर पाता है; किन्तु जब शरीर मर जाता है, तो जीव जगदात्माका समीपी-सा ही बना रहता है। यही जगदात्माकी समीपता—समान नहीं—नेक ज्ञानी जीवोंकी धनधान्यता है। दूसरे जीवोंको यह अवस्था नहीं प्राप्त होती, उनका जीवन अनन्त दुःखका जीवन है। जैसे शारीरिक विकार रोगको पैदा करता है, उसी तरह जीवकी विकृत अवस्थाके लिए दंड होना ज़रूरी है। स्वर्ग फल भी मानव-जीवको उसी परिमाणमें मिलता है, जिस परिमाणमें कि उसने अपने आत्मिक स्वास्थ्य—बोध—को इस शरीरमें प्राप्त किया है। हाँ, उच्चतम पदपर पहुँचनेवाले थोड़े ही होते हैं, क्योंकि सत्यके शिखरपर बहुतोंके लिए स्थान नहीं है।

(५) हईकी कथा[1]—हमारे यहाँ जैसे "संकल्प सूर्योदय" जैसे नाटक या कथाएं वेदान्त या दूसरे आध्यात्मिक विषयोंको समझानेके लिए लिखी गई हैं, मीनाने भी "हई इब्न-यक़ज़ान" या "प्रबुद्ध-पुत्र जीवक"की कथाको

---

[1] **एक हईकी कथा तुफ़ैल (देखो पृष्ठ २०४)ने भी लिखी है।**

लिखकर उसी शैलीका अनुसरण किया है। जीवक अपनी बाहरी और भीतरी इन्द्रियोंकी सहायतासे पृथिवी और स्वर्गकी बातोंको जाननेकी कोशिश करता भटक रहा है। उसे उत्साहमें तरुणोंको मात करनेवाला एक वृद्ध मिलता है। यह वृद्ध और कोई नहीं, एक ज्ञानी गुरु—दार्शनिक—है; जो कि पथ-प्रदर्शककी भाँति भटकेको रास्ता बतलाना चाहता है। वृद्धका नाम है **हई**, और वह जागृत (=प्रबुद्ध)का पुत्र है। भटकते मुसाफिरके सामने दो मार्ग हैं—(१) एक पश्चिमका रास्ता है जो कि सांसारिक वस्तुओं और पापकी ओर ले जाता है; (२) दूसरा उगते सूर्यकी ओर ले जाता है, यह है सदा शुद्ध आकृतियों, और आत्माका मार्ग। हई मुसाफिरको उगते सूर्यकी ओर ले जानेवाले मार्गपर चलनेको कहता है। दोनों साथ-साथ आगे बढ़ते हुए उस दिव्य ज्ञान-वापीपर पहुँचते हैं, जो चिरतारुण्यका चश्मा है, जहाँ सौंदर्यकी यवनिका सौंदर्य, ज्योतिका घूँघट ज्योति है; जहाँ कि वह **अनन्त रहस्य** वास करता है।

(६) उपदेशमें अधिकारिभेद—जीव और प्रकृतिको भी ईश्वरकी भाँति ही सनातन मानना, कुरानकी बातोंकी मनमानी व्याख्या करना जैसी बहुतसी बातें सीनाकी ऐसी थीं, कि वह कुफ़्रके फतवेके साथ जिन्दा दफना दिया जा सकता था, इस खतरेको सीना समझता था। इसीलिए उसने इस बातपर बहुत जोर दिया है, कि सभी तरहका ज्ञान या उपदेश सबको नहीं देना चाहिए। ज्ञान प्रदान करते वक्त गुरुका काम है, कि वह अपने शिष्यकी योग्यताको देखे, और जो जिस ज्ञानका अधिकारी हो उसको वही ज्ञान दे। पैगंबर मुहम्मद अरबके खानाबदोश बद्दुओंको सभ्य बनाना चाहते थे, उन्होंने देखा कि बद्दुओंको आत्मिक आनन्द आदिकी बातें बतलाना "भैंसके सामने बीन बजाना" होगा, इसलिए उन्होंने उनसे कहा: "क़यामत (=अन्तिम निर्णय)के दिन मुर्दे जिन्दा हो उठेंगे।" बद्दुओंने समझा, हमारा यह प्रिय शरीर सदाके लिए बिछुड़नेवाला नहीं, बल्कि वह हमें फिर मिलनेवाला है और यह उनके लिए आशा और प्रसन्नताकी बात थी। इसी तरह बहिश्त (=स्वर्ग)की दूध-शहदकी नहरें, अंगूरोंके बाग, हूरें

(=अप्सरायें) बद्दुओंके चित्तको आकर्षित कर सकती थीं। मगर इन बातोंको यदि किसी ज्ञानी, योगी, दार्शनिकके सामने कहा जाय तो वह आकर्षण नहीं, घृणा पैदा करेंगी। ऐसे व्यक्ति भगवान्‌की उपासना किसी स्वर्ग या अप्सराकी कामनासे नहीं करते, बल्कि उसमें उनका लक्ष्य होता है भगवत्-प्रेमका आनन्द और ब्रह्म-निर्वाण (=नफ़्सकी आज़ादी)की प्राप्ति।

(अल्-बैरूनी ९७३-१०४८ ई०)

महमूद ग़ज़नवीके समकालीन पंडित अबू-रेहाँ अल्बैरूनीका नाम भारतमें प्रसिद्ध है। यद्यपि अपने ग्रन्थों—खासकर "अल्-हिन्द"—में उसने दर्शनका भी जिक्र किया है, किन्तु उसका मुख्य विषय दर्शन नहीं बल्कि गणित, ज्योतिष, भूगोल, मानवशास्त्र थे। उसका दार्शनिक दृष्टिबिन्दु यदि कोई था, तो यही जो कि उसने आर्यभट्ट (४७६ ई०)के अनुयायियोंके मतको उद्धृत करके कहा है—

"सूर्यकी किरणें जो कुछ प्रकाशित करती हैं, वही हमारे लिए पर्याप्त है। उनसे परे जो कुछ है, और वह अनन्त दूर तक फैला हो सकता है, लेकिन उसका हम प्रयोग नहीं कर सकते। जहाँ सूर्यकी किरणें नहीं पहुँचतीं, वहाँ इन्द्रियोंकी गति नहीं, और जहाँ इन्द्रियोंकी गति नहीं उसे हम जान नहीं सकते।"

ख. धर्मवादी दार्शनिक

§ ५–ग़ज़ाली १०५९–११११ ई०

अब हम उस युगमें हैं जब कि बगदादके खलीफ़ोंका सम्मान शासकके तौरपर उतना नहीं था, जितना कि धर्माचार्यके तौरपर। विशाल इस्लामिक राज्य छिन्न-भिन्न होकर अलग-अलग सल्तनतोंके रूपमें परिणत

हो गया था। इन सल्तनतोंमें सबसे बड़ी सल्तनत, जो कि एसियामें थी, वह थी सलेजूकी तुर्कोंकी सल्तनत। इस सल्तनतके बानी तोग्रल बेग (१०३७-६२ ई०) ने ४२६ हिज्री (१०३६ ई०)में सीस्तानकी राजधानी तूसपर अधिकार कर लिया, और धीरे-धीरे सारे ईरानको विजय करते ४४७ हिज्री (१०५४ ई०)में इराक (बगदाद वाले देश)का भी स्वामी बन गया। तोग्रलके बाद अल्प अर्सलन् (१०६२-७२ ई०), फिर बाद मलिकशाह प्रथम (१०७२-६२ ई०) शासक बना। मलिकशाहके शासनमें सलजूकी-सल्तनतका भाग्य-सूर्य मध्याह्नपर पहुँचा हुआ था। मलिकशाहके राज्यकी पूर्वी सीमा जहाँ काशगरके पास चीनसे मिलती, वहाँ पश्चिममें वह यरूशिलम और कुस्तुन्तुनिया तक फैली हुई थी। यहीं तुर्कोंके शासन-का प्रारम्भ है, जो कि अन्तमें तुर्कोंके तुर्कोंके शासन और खिलाफतका अग्रदूत बना।

इस्लामके इन चिरशासित मुल्कोंमें अब इस्लामकी प्रगतिशीलता खतम हो चुकी थी; अब वह दीन-दरिद्रोंका बंधु तथा पुराने सामन्तवंशों तथा धनी पुरोहितोंका संहारक नहीं रह गया था। अब उसने खुद सामन्त और पुरोहित पैदा किये थे, जो पहिलेसे कम खर्चीले न थे, खास कर नये सामन्त तो शौक और विलासप्रियतामें कैसरों और शहंशाहों-का कान काटते थे। (गज़ालीके समकालीन सुल्तान संजर सलजूकी-ने एक गुलाम लड़केके अप्राकृतिक प्रेममें पागल हो उसे लाखोंकी जागीर तथा सात लाख अशर्फियाँ दे दी थी)। साधारण जाँगर चलानेवाली जनताके ऊपर इससे क्या बीत रही थी, यह गजालीके उस वाक्यसे पता लगता है, जिसे कि उसने सुल्तान संजर (१११८-५७ ई०)से कहा था—"अफसोस मुसलमानों (=मेहनत करनेवाली साधारण जनता)की गर्दनें मुसीबत और तकलीफसे टूटी जाती हैं और तेरे घोड़ोंकी गर्दनें सोनेके हमेलोंके बोझसे दबी जा रही हैं।" धर्म-पुरोहितों (=मौलवियों)के बारेमें गजाली भी कहता है—"ये (मुल्ला) लोग इन्सानी सूरतमें शैतान (शया-तीन-उल्-उन्स) हैं, जो कि स्वयं पथभ्रष्ट हैं, और दूसरोंको पथभ्रष्ट करते

हैं। आजकलके सारे धर्मोपदेशक ऐसे ही हैं, हाँ, शायद किसी कोनेमें कोई इसका अपवाद हो, किन्तु मुझको कोई ऐसा आदमी मालूम नहीं।"[१]

"पंडित-पुरोहित (=उलमा)...सुलतानों और अमीरोंके वेतनभोगी बन गए थे। जिसने उनकी ज़बानें बन्द कर दी थीं। वह प्रजापर होते हर प्रकारके अन्याय, अत्याचारको, अपनी आँखों देखते और जीभ तक नहीं हिला सकते थे। सुल्तान और अमीर हदसे ज़्यादा विलासी और कामुक होते जाते थे।....किन्तु पंडित-पुरोहित रोक-टोक नहीं कर सकते थे।"[२]

१—जीवनी

मुहम्मद (इब्न-मुहम्मद इब्न-मुहम्मद इब्न-मुहम्मद) ग़ज़ालीका जन्म ४५० हिजरी (१०५८ ई०)में तूस (सीस्तान) शहरके एक भाग ताहिरान-में हुआ था। इनके घरवालोंका खान्दानी पेशा सूत कानना (=कोरी या तँतवा)का था, जिसे अरबीमें ग़ज़ल कहते हैं, इसीलिए उन्होंने अपने नामके साथ ग़ज़ाली लगाया। ग़ज़ाली छोटे ही थे, तभी उनके बापका देहान्त हो गया। ग़ज़ालीका बाप स्वयं अनपढ़ था, किन्तु उसे विद्यासे बहुत प्रेम था, और चाहता था कि उसका लड़का विद्वान् बने, इसीलिए मरते वक्त उसने मुहम्मदको उसके छोटे भाई अहमदके साथ एक दोस्तके हाथमें सौंपते हुए उनकी शिक्षाके लिए ताकीद की थी। ग़ज़ालीका घर गरीब था। उनके बापका दोस्त भी धनी न था। इसलिए बापकी छोड़ी सम्पत्तिके खतम होते ही दोनों भाइयोंको खैरातकी रोटीपर गुजारा करके अपनी पढ़ाई जारी रखनी पड़ी। शहरकी पढ़ाई खतम कर ग़ज़ालीको आगे पढ़नेकी इच्छा हुई और उसने जर्जानमें जाकर एक बड़े विद्वान् अबू-नस्र इस्माइलीकी शिष्यता स्वीकार की। उस समय पढ़ानेकी यह शैली थी, कि अध्यापक पाठ्य विषयपर जो बोलता जाता था, विद्यार्थी उसे लिखते

---

[१] "अह्याउल्-उलूम्"।

[२] 'अल्-ग़ज़ाली'—शिब्ली नेअ्मानी (१९२८ ई०), पृष्ठ १९४

जाते थे। सौभाग्यसे सातवीं सदीसे ही, जब कि अरबोंने समरकंदपर अधिकार किया, इस्लामिक देशोंमें कागजका रवाज हो गया था, यद्यपि अभी तक नालंदाके विद्यार्थी तालपत्र और लकड़ीकी पट्टीसे आगे नहीं बढ़े थे। ग़ज़ालीने इस्माइलीसे जो पढ़ा, उसे वह कागजपर लिखते गये थे। कुछ समय बाद जब वह अपने घरको लौट रहे थे तो रास्तेमें डाका पड़ा और ग़ज़ालीके और सामानमें वह खर्रे भी लुट गए। ग़ज़ालीसे रहा न गया, और उसने डाकुओंके सरदारके पास उस कागजको दे देनेके लिए प्रार्थना की। डाकू सरदारने हँसकर कहा—"तुमने क्या खाक पढ़ा है? जब तुम्हारी यह हालत है कि एक कागज न रहा, तो तुम कोरे रह गए।" किन्तु कागज उसने लौटा दिए।

ग़ज़ालीकी पढ़ाई काफी आगे तक बढ़ चुकी थी, और अब छोटे-मोटे विद्वान् उसे संतुष्ट न कर सकते थे। उस वक्त नेशापोर (ईरान) और बगदाद (इराक) दो शहर विद्याके महान् केन्द्र समझे जाते थे; जिनमें नेशापोरमें इमाम अब्दुल्मलिक हरमैन और बगदादमें अबू-इस्हाक शीराजी विद्याके दो सूर्य माने जाते थे। नेशापोर ग़ज़ालीके ही प्रान्त (खुरासान)में था, इसलिए ग़ज़ालीने नेशापोर जाकर हरमैनकी शागिर्दी स्वीकार की।

अरबोंने ईरानपर जब (६४२ ई०) अधिकार किया था, उस वक्त भी नेशापोर एक प्रसिद्ध नगर तथा शिक्षा-संस्कृतिका केन्द्र था; इसीलिए वहाँ वेहकियाके नामसे जो मदरसा खोला गया था, वह बहुत शीघ्रतासे उन्नति करके एक महान् विद्यापीठके रूपमें परिणत हो गया, और इस्लामके सबसे पुराने मदर्से निज़ामिया (बगदाद)का मुकाबिला कर रहा था। हरमैन वेहकिया तथा निज़ामिया (बगदाद)के विद्यार्थी रह चुके थे। अबुल्-मलिक, हरमैन (मक्का-मदीना)में जाकर कुछ दिनों अध्यापन करते थे, इसीलिए हरमैन उनके नामके साथ लग गया था। सुल्तान अलप अर्सलन सलजूकी (१०६२-७२ ई०)का महामंत्री पीछे निज़ामुल-मुल्क बना। वह स्वयं विद्वान्—हसन बिन्-सब्बाह (क़िल्-उल्-मौतके संस्थापक) और (उमर-खय्यामका सहपाठी)-तथा विद्वानोंकी इज़्ज़त करता था।

हरमैनकी विद्वत्ताको वह जानता था, इसलिए उसने नेशापोरमें अपने नाम-पर एक खास विद्यालय—मद्रसा निजामिया—बनवाकर हरमैनको वहाँ प्रधान अध्यापक नियुक्त किया।

ग़ज़ाली हरमैनके बहुत प्रतिभाशाली छात्रोंमें थे। हरमैनके जीवनमें ही उसके योग्य शिष्यकी कीर्ति चारों ओर फैलने लगी थी। ग़ज़ालीकी शिक्षा समाप्त हो गई थी, तो भी वह तब तक अपने अध्यापकके साथ रहे, जब तक कि ४७८ हिजरी (१०८५ या १०८७ ई०)में हरमैनका देहान्त न हो गया। ग़ज़ालीकी आयु उस वक्त अट्ठाईस सालकी थी।

ग़ज़ाली बड़े महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति थे, और महत्त्वाकांक्षाकी पूर्तिके लिए जरूरी था कि दरबारका वरदहस्त प्राप्त हो। इसलिए कितने ही सालोंके बाद ग़ज़ालीने दरबारमें जाना तै किया। निजामुल्मुल्क उनके ही शहर तूसका रहनेवाला था, और विद्वानोंका सम्मान तथा परख करनी भी जानता था। निजामुल्-मुल्कने दरबारमें आनेपर ग़ज़ालीका बड़ा सम्मान किया, और बड़े-बड़े विद्वानोंकी सभा करके ग़ज़ालीकी विद्वत्ता देखनेके लिए शास्त्रार्थ कराया। ग़ज़ाली विजयी हुए और ३४ वर्षकी उम्रमें इस्लामी दुनियाके सबसे बड़े विद्यापीठ बगदादके मद्रसा निजामिया-के प्रधानाध्यापक बनाए गए। जमादी-उल्-अव्वल ४८४ हिजरी (१०९१ या १०९३ ई०)को जब वह बगदादमें दाखिल हुए, तो सारे शहरने उनका शाहाना स्वागत किया। यद्यपि अब वास्तविक राजधानी नेशापोर थी, और बगदादका खलीफा बहुत कुछ सलजूकियोंका पेंशनख्वार-सा रह गया था, तो भी बगदाद अब भी विद्याकी नगरी थी।

४८५ हिजरी (१०९२ ई०)में मलिक शाह सलजूकी मर गया, उस वक्त उसकी प्रभावशाली बेगम तुर्कान खातूनने अमीरों और दरबारियों-को इस बातपर राजी कर लिया कि गद्दीपर उसका चार सालका बेटा महमूद (१०९२-९४ ई०) बैठे, और साथ ही खलीफाके सामने यह भी माँग पेश की, कि खुत्बा (=शुक्रवारके नमाजके बाद शासक खलीफाके नामका पाठ)भी उसीके नामसे पढ़ा जाय। पहिली बातको तो खलीफा मुक्तदरने

डर कर मान लिया, किन्तु दूसरी बातका मानना बहुत मुश्किल था; इसके लिए खलीफाने ग़ज़ालीको तुर्फान खातूनके दरबारमें भेजा, और ग़ज़ालीके व्यक्तित्व और समझाने-बुझानेका यह असर हुआ, कि तुर्फान खातूनने अपने आग्रहको छोड़ दिया।

१०९४ ई०में मुक्तदरके बाद मुस्तज़हर खलीफा बना। ग़ज़ालीपर मुस्तज़हरकी खास कृपा थी। उस वक्त बातनी (=इस्माइली) पंथका जोर फिर बढ़ने लगा था, बगदाद हीमें नहीं, और जगहोंपर भी। ग्यारहवीं सदीमें मिश्रपर फातमी खलीफोंका शासन था, वह सभी बातनी थे। काहिराका गणितज्ञ दार्शनिक अबू-अली मुहम्मद (इब्नुल्-हसन) इब्नुल-हसीम (मृत्यु १०३८ ई०) बातनी था। ईरानमें इस्माइली बातनियोंका नेता हसन बिन-सब्बा (जो कि निज़ामुल्-मुल्कका सहपाठी था)ने एक स्वर्ग (किल-उल्-मौत) कायम किया था, और उसका प्रभाव बढ़ता ही जा रहा था। ग़ज़ालीने बातनियोंके प्रभावको कम करनेके लिए एक पुस्तक लिखी, जिसका नाम खलीफाके नामपर "मुस्तजहरी" रखा।

बगदादकी परंपरा उसकी स्थापनाके समय (७६२ ई०)से ही ऐसी बन चुकी थी, कि वहाँ स्वतंत्र विचारोंकी लहरको दबाया नहीं जा सकता था। तीन सदियोंसे वहाँ ईसाई, यहूदी, पारसी, मोतज़ली, बातनी, सुन्नी सभी शान्तिपूर्वक साधारण ही नहीं बौद्धिक जीवन बिताते आ रहे थे; यकबयक खिलाफतके इस गए-गुजरे जमानेमें, सीना और रूमीमकी पुस्तकोंकी होली भले ही कभी जला दी जाये, किन्तु अब उस विचार-स्वातन्त्र्यकी लहरको दबाना उतना आसान न था। सनातनी इस्लामके जबरदस्त समर्थक अशअरीके अनुयायी ग़ज़ाली पहिले जोशमें आकर भले ही "मुस्तजहरी" लिख डालें, अथवा "मजालिसे ग़ज़ालिया"में विरोधियोंपर बड़े-बड़े वाग्-बाण बरसा जायें; किन्तु यह अवस्था देर तक नहीं रह सकती थी। ग़ज़ालीने खुद लिखा है[1]—

---

[1] "मुनक़ज़-मिनल्-ज़लाल"।

"मैं एक-एक बातनी, ज़ाहिरी, फिलसफी, (=दर्शनानुयायी), मुत्कल्लिम (=वादविद्यानुयायी), ज़िन्दीक (=नास्तिक)से मिलता था, और उनके विचारोंको जानना चाहता था। चूँकि मेरी प्रवृत्ति आरम्भसे ही सचकी खोजकी ओर थी, इसलिए धीरे-धीरे यह असर हुआ, कि आँख मूँदकर पीछे चलनेकी बान छूट गई। जो (धार्मिक) विश्वास बचपनसे सुनते-सुनते मनमें जम गए थे, उनसे श्रद्धा उठ गई। मैंने सोचा—इस तरहके अन्धानु-सरण करनेवाले (धार्मिक) विश्वास तो यहूदी, ईसाई, सभीके पास हैं. . . . और (अन्तमें) किसी बातपर विश्वास नहीं रहा। करीब दो महीने तक यही हालत रही। फिर खुदाकी मेहरबानीसे यह हालत तो जाती रही, किन्तु भिन्न-भिन्न धार्मिक विश्वासोंके प्रति सन्देह अब भी बना रहा। उस वक्त . . . चार सम्प्रदाय मौजूद थे—मुत्कल्लिम्, बातनी, फिल्सफा (=दर्शन) और सूफ़ी। मैंने एक-एक सम्प्रदायके बारेमें जानकारी प्राप्त करनी शुरू की। . . . .अन्तमें मैंने सूफ़ी मतकी ओर ध्यान दिया। जुनेद, शिब्ली, बायज़ीद, बस्तामी—सूफ़ी आचार्योंने जो कुछ लिखा था, उसे पढ़ डाला। . . . . लेकिन चूँकि यह विद्या वस्तुतः अभ्यास करनेकी विद्या है, इसलिए सिर्फ़ पढ़नेसे कुछ फल नहीं प्राप्त हो सकता था। अभ्यासके लिए तप और संयमकी जरूरत है। . . . . (सब सोचकर) दिलमें ख्याल आया, कि बगदादसे निकल खड़ा होऊँ, और सभी संबंधोंको छोड़ दूँ। . . . . (किन्तु) दिल किसी तरह मानता न था, कि ऐसे ऐश्वर्य और सम्मानको तिलांजलि दे दूँ। इस तरहकी चिन्तासे नौबत यहाँ तक पहुँची कि ज़बान रुक चली, पढ़ानेका काम बन्द हो गया, धीरे-धीरे पाचनशक्ति जाती रही, अन्तमें वैद्योंने दवा करना छोड़ दिया. . . .।"

ग़ज़ालीका अपना विश्वास पुराने इस्लामकी शरीअतपर दृढ़ था, जो कि बिलकुल श्रद्धापर निर्भर था। यह श्रद्धामय धर्मवाद पहिली अवस्था थी। इसपर बुद्धिवादने प्रहार करना शुरू किया, जिसका असर जो हुआ वह बतला चुके हैं। अब ग़ज़ालीके सामने दो रास्ते थे, एक तो बुद्धिको तिलांजलि देकर पहिलेके विश्वासपर कायम रहना; दूसरा

रास्ता था, बुद्धि जहाँ ले जाय वहाँ जाना। ग़ज़ालीने बगदादके सुख-ऐश्वर्यके जीवनको छोड़कर अपनी शारीरिक कष्ट-सहिष्णुता और त्यागका परिचय दिया; किन्तु बुद्धि अपने रास्तेपर ले जानेके लिए जो शर्त रख रही थी, वह इस त्याग और शारीरिक कष्टसे कहीं कठिन थी। उसमें नास्तिक बनकर "पंडित", मूर्ख सबकी गालियाँ सहनी पड़तीं, उसके नाम पर थू-थू होती। सत्य-शक्तिपर विश्वास न होनेसे वह यह भी ख्याल कर सकता था कि हमेशाके लिए दुनियाके सामने उसके मुँहपर कालिख पुत जायेगी; और निज़ामियाके प्रधानाध्यापकीका सुख-ऐश्वर्य ही नहीं छिनेगा बल्कि शरीरको सरेबाजार कोड़े खानेके लिए भी तैयार होना पड़ेगा। यदि बुद्धिके रास्तेपर पूरे दिलसे जानेका संकल्प करते तो ग़ज़ालीको इन सबके लिए तैयार रहना पड़ता। ग़ज़ाली न पूर्ण मूढ़ विश्वासको अपना सकते थे, और न केवल बुद्धिपर ही चल सकते थे, इसलिए उन्होंने सूफ़ियोंके रास्तेको पकड़ा, जिसमें यदि दिखावेके लिए कुछ त्याग करना पड़ता है, तो उससे कई गुना मानसिक सन्तोष, सम्मान, प्रभावका ऐश्वर्य मिलता है। दिक्कत यही थी, कि बुद्धिके प्रखर तेजको रोका कैसे जाये, इसके लिए आत्म-सम्मोह[१]की ज़रूरत थी, जो एक बुद्धिप्रधान व्यक्तिके लिए कड़वी गोली ज़रूर थी, किन्तु आ पड़नेपर आदमी आत्महत्या भी कर डालता है।

आखिर चार वर्षके बगदादके जीवनको आखिरी सलाम कह ४८८ हिजरी (१०९५ ई०)में ३८ वर्षकी उम्रमें कमली कंधेपर रख ग़ज़ालीने दमिश्कका रास्ता लिया। दमिश्कमें दो साल रहनेके बाद वह यरूशिलम आदि घूमते-घामते हजके लिए मक्का मदीना गये। मक्कामें बहुत समय तक रहे। इसी यात्रामें उन्होंने सिकन्दरिया और काहिराको भी देखा। ४९९ हिजरी (११०६ ई०)में जब वह पैगंबर इब्राहीमके जन्मस्थान खलीलामें थे, तो उसी वक्त उन्होंने तीन बातोंकी प्रतिज्ञा ली थी—

(१) किसी बादशाहके दरबारमें न जाऊँगा।

---

[१] Selfhypnotisation.

(२) किसी बादशाहके धनको स्वीकार न करूँगा।

(३) किसीसे वाद-विवाद (=शास्त्रार्थ) न करूँगा।

यरूशिलममें ईसाकी जन्मकुटी (भेड़ोंका घर, जहाँ ईसा पैदा हुए थे) में एक बार इस्मइल हाकमी, इब्राहीम शब्बाकी, अबुल्-हसन बस्री आदि सूफियोंके साथ सत्संग चल रहा था, उसी वक्त ग़ज़ालीके मुँहसे एक पद्य[1] निकला, जिसपर बस्रीको समाधि लग गई, जिससे सबपर भारी प्रभाव पड़ा और बहुतोंने अपने गरीबाँ (=कपड़ेके कोर) फाड़ डाले।

इसी जीवनमें ग़ज़ालीने अपनी सर्वश्रेष्ठ पुस्तक "अह्याउल्-उलूम" लिखी।

"हज करनेके बाद घरबारके आकर्षणने (ग़ज़ालीको) जन्मभूमिमें पहुँचाया।"[2] और फिर मेरे एक दोस्तके अपने बारेमें हालके लिखे पत्रके अनुसार ग़ज़ालीको "फिर वही....चहारदीवारी, फिर वही खूँटा, वही पगहा, वही गाय और वही बैल! बहुत दिन उन्मुक्त रहनेके बाद .... स्वयंवृत्त बंधन", लेकिन मेरे दोस्तकी भाँति ग़ज़ालीका "दम घुटने लगा" ऐसा पता नहीं लगता। आखिर सूफीवादमें वेदान्तकी भाँति यह करामात है, कि जब चाहे किसी बातका बंधन बना दे, और जब चाहे उसे मुक्त कर दे।

ग़ज़ाली अब घर-बारवाले थे। ४९९ हिजरी (११०६ ई०)के ग्यारहवें महीनेमें फिर उन्होंने नेशापोरके निज़ामिया विद्यालयमें अध्यापन शुरू किया, किन्तु वहाँ ज़्यादा दिन तक न रह सके। निज़ामुल्-मुल्क-

---

[1] "फ़िद्दैतक लौ लल्-हुब्ब कुन्तो फ़िद्दैत-नी।
व-लाकिन बे-सेहरुल्-मुक़्लतीन सब्बैत-नी॥
अतयक् लेमा ज़ाक़ सद्री अनिल्-हवा।
व लौ कुन्तो तद्‌री कैफ़ा शौक़ी अतैत-नी॥"

—अह्याउल्-उलूमकी टीका।

[2] "मुनक़्क़ज़ मिनल्-ज़लाल"।

का बड़ा बेटा फ़ख़रुल-मुल्क संजर सलजूकीका महामंत्री बना था। उस वक्त एक बातनियों (इस्माइलियों, आगाख़ाँके पूर्वज, हसन बिन-सब्बाहके अनुयायियों)का जोर बढ़ रहा था, यह बतला चुके हैं। उनके खिलाफ़ कलम ही नहीं बल्कि हुकूमतकी तलवार भी इस्तेमाल हुई, जिसपर बातनियोंने भी अपना जबरदस्त गुप्त संगठन (=असेसिन) बनाया, और ५०० हिजरी (११०७ ई०)में फ़ख़रुल्-मुल्क उनकी तलवारका शिकार हुआ। सब्बाहका "क़िल-उल्-मौत" ही नहीं नेशापोर भी असेसिनोंका गुप्त गढ़ बनता जा रहा था, इसलिए ग़ज़ालीने उसे छोड़ना ही पसन्द किया।

ग़ज़ाली अब एकान्त जीवन पसन्द करते थे, किन्तु उनसे ईर्ष्या रखने-वालोंकी भी कमी न थी। उन्होंने ग़ज़ालीकी किताबोंको उलट-पलटकर यह कहना शुरू किया कि ग़ज़ाली ज़िन्दीकों-मुल्हिदों (दो नास्तिक मतों)-की शिक्षा देता है। चाहे सुल्तान संजर खुद अप्राकृतिक अपराधका अप-राधी हो, किन्तु वह अपना यह कर्त्तव्य समझता था, कि इस्लामकी रक्षाके लिए ग़ज़ाली जैसोंकी खबर ले। संजरने ग़ज़ालीको दरबारमें हाज़िर होनेके लिए हुक्म दिया। ग़ज़ाली मशहद-रज़ा (=वर्तमान मशहद शहर) तक गया, और वहाँसे सुल्तानके पास पत्र लिखा[1]—

"बिस्त साल दर-अय्याम सुल्तान शहीद (=मलिकशाह) रोज़गार गुज़ाश्त। व अज्-ओ व-इस्पहान व बग़दाद अक़बालहा दीद, व चंद बार मियाने-सुल्तान व अमीरुल्मोमिनीन रसूल बूद् दर्-कारहाये-बुज़ुर्ग। व दर्-उलूमे-दीन नज़्दीक हफ़्ताद् किताब तस्नीफ़ कर्द। पस् दुनियारा चुनाँकि बवद् बदीद, व ब-जुम्लगी ब-यन्दाख़्त। व मुद्दते दर-बैतुल्-मुक़द्दस्, व मक्का क़याम कर्द। व बर्-सरे मशहदे-इब्राहीम ख़लीलुल्लाह अहद कर्द, कि हर्गिज़ पेश्-हेच् सुल्तान न रवद्, व माले-हेच्-सुल्तान न गीरद्, व मुनाज़िरा व तअस्सुब न कुनद्। द्वाज़्दह साल बरीं वफ़ा कर्द। व

[1] "मुकातिबात् ग़ज़ाली"।

अमीरुल्-मोमिनीन् व यमा सुल्तानाँ दुआगोमरा मअजूर दाश्तन्द। इकनूँ शुनीदम् कि अज़्-मज्लिसे-आली इशारते रफ़्ता अस्त ब-हाज़िर आम्दान। फर्माँरा ब-मश्हद आम्दम्, वँ निगह्दाश्त अहदे-ख़लीलरा बलश्करगाह न याम्दम्।"

जिसका भाव यह है कि आपके पिता मलिकशाहके शासनमें मैंने बीस साल गुजारे, अस्फ़हान (सलजूकी राजधानी) और बगदादमें (शाही) अक़बाल देखे। कितनी ही बार सुल्तान (सल्जूकी) और खलीफा (अमीरुल्मनीन्)के बीच बड़े-बड़े कामोंके लिए दूत बनकर काम किया। धर्मकी विद्याओंकी सत्तरके नज़दीक पुस्तकें लिखीं. . .मुद्दतों यरूशिलम, और मक्कामें वास किया। इब्राहीम अल्लाहके दोस्तके शहीद-स्थानपर प्रतिज्ञा की : (१) कभी किसी सुल्तानके सामने न जाना, (२) किसी सुल्तानके धनको नहीं ग्रहण करना, (३) शास्त्रार्थ और हठधर्मी नहीं करनी। बारह साल तक इस (प्रतिज्ञा)को पूरा किया। खलीफ़ा तथा सारे सुल्तानोंने (इस) दुआ करनेवाले (फ़कीर)को माफ़ किया। अब सुना है कि सरकारने सामने आनेके लिए हुक्म निकाला है। हुक्म मानकर मश्हद-रज़ा तक आया हूँ। खलील (स्थान)पर ली हुई प्रतिज्ञाके ख्यालसे लश्करगाह नहीं आया।

किन्तु ग़ज़ालीकी सारी प्रार्थना व्यर्थ गई, प्रतिज्ञाको तोड़कर उन्हें लश्करगाह ही नहीं संजरके दरबारमें जाना पड़ा। ग़ज़ालीके जनतापर प्रभाव, विद्वत्ता तथा पीछेके कामोंको देखकर संजरने उनका सम्मान किया। संजरके दरबारके दबदबेका कहते हैं, ग़ज़ालीपर इतना रोब छाया, कि वह होश-हवास खोने लगे थे। खैर, यह पीछेके लेखकोंकी कारस्तानी है, ग़ज़ालीके लिए ऐसे दरबारोंमें जाना कोई नई बात नहीं थी। संजरके बर्त्तावसे ग़ज़ालीकी जानमें जान ही नहीं आई, बल्कि उनकी हिम्मत कुछ खरी-खरी सुनानेकी भी हुई, उसीमें सुनहरी हमेलोंके भारसे घोड़ोंकी गरदन दबनेकी बात भी थी। संजरका खान्दान हन्फ़ी मतको मानता था। ग़ज़ालीपर यह भी आरोप था, कि उसने इमाम हनीफ़ाको बुरा भला

कहा है। ग़ज़ालीने अपनी सफाई देते हुए कहा—"मैंने (अपनी) किताब अह्याउल्-उलूममें लिखा है, कि मैं उन (हनीफ़ा)को फ़िक़ा (=धर्ममीमांसा-शास्त्र)में दुनियामें चुना हुआ (अद्वितीय) मानता हूँ।" ख़ैर! ग़ज़ालीने जवानीके जोशमें किसीके खिलाफ चाहे कुछ भी लिखा हो, किन्तु अब वह वैसी तबियत नहीं रखते थे। जैसे-तैसे मामला शान्त हो गया।

बगदादको जब ग़ज़ालीने छोड़ा था, तबसे उनकी विद्वत्ताकी कीर्त्ति बहुत बढ़ गई थी, और खलीफ़ा तथा बगदादके दूसरे विद्याप्रेमी हाकिम और अमीर इस बातकी बहुत जरूरत महसूस करते थे कि ग़ज़ाली फिर मद्रसा निजामियाकी प्रधानाध्यापकी स्वीकार करें। इसके लिए खलीफ़ाका सारे दरबारियोंके हस्ताक्षरसे ग़ज़ालीके पास पत्र आया। संजरके महामंत्रीने बड़े जोर शोरकी शिफारिश की, किन्तु ग़ज़ाली तैयार न हुए, और निम्न कारण बतलाते हुए माफी माँगी—(१) मेरे डेढ़ सौ विद्यार्थियोंको तूससे वहाँ जाना मुश्किल है; (२) मैं पहिलेकी भाँति अब बेबालबच्चेका नहीं हूँ, वहाँ जानेपर घरवालोंको कष्ट होगा; (३) मैंने शास्त्रार्थ तथा वाद-विवाद न करनेकी प्रतिज्ञा की है, जिससे बगदादमें बँचा नहीं जा सकता।

ग़ज़ालीकी अन्तिम पुस्तक "मुस्तफ़सी" है, जिसे उन्होंने मरनेसे एक साल पहिले ५०४ हिजरी (१११० ई०)में लिखा था। १४ जमादी द्वितीय बृहस्पतिवार ५०५ हिजरी (१६ दिसम्बर ११११ ई०)को तूसमें उनका देहान्त हुआ।

२–कृतियाँ

५०० हिजरी (११०७ ई०)के आसपास जब कि ग़ज़ालीने संजरको अपना प्रसिद्ध पत्र लिखा था, उस वक्त तक वह सत्तरके करीब पुस्तकें लिख चुके थे, यह उनके ही लेखसे मालूम होता है। उसके बादके चार सालोंमें उनका लिखना बन्द नहीं हुआ। एक तरह बीस वर्षकी आयुसे अपने ५४वें ५५वें वर्ष तक (जब कि वह मरे)—लगातार ३४, ३५ वर्ष—उनकी लेखनी चलती रही। अल्लामा शिब्ली नेअमानीने अपनी पुस्तक

"अल्‌ग़ज़ाली" में उनकी ७८ पुस्तकोंकी सूची दी है जिनमें कुछ तो कई-कई जिल्दोंमें हैं। उनके ग्रन्थ मुख्यतः फ़िक़ा (=धर्म-मीमांसा), तर्कशास्त्र, दर्शन, वाद-शास्त्र (=कलाम), सूफ़ीवाद (=अद्वैत ब्रह्मवाद) और आचार-शास्त्रसे संबंध रखते हैं।

ग़ज़ालीकी सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं—

१. अह्याउल्-उलूम् (सूफी, आचार)
२. जवाहरुल्-क़ुरान (सूफी, आचार),
३. मक़ासिदुल् फ़िलासफा (=दर्शनाभिप्राय) (दर्शन)
४. मइयारुल् इल्म (तर्क)
५. तोहाफ़तुल्-फ़िलासफा (=दर्शन-खंडन) (वाद)
६. मुस्तस्फ़ी (फ़िक़ा, धर्ममीमांसा)

अह्याउल्-उलूम् (=विद्या-संजीवनी) और तोहाफ़तुल्-फ़िलासफा (=दर्शन-खंडन) ग़ज़ालीकी दो सर्वश्रेष्ठ किताबें हैं, जिनमें अह्याउल्-उलूम्को दूसरा "क़ुरान" समझा जाता है।

(१) अह्याउल्-उलूम् (=विद्या-संजीवनी)—ग़ज़ालीके अह्याउल्-उलूम्के कुछ प्रशंसापत्र सुन लीजिए—

(क) प्रशंसापत्र—ग़ज़ालीके समकालीन तथा हरमैनके पास साथ पढ़े अब्दुल्-ग़ाफिर फ़ार्सीका कहना है—"अह्याउल्-उलूम् जैसी कोई किताब उससे पहिले नहीं लिखी गई।"

इमाम नूदी "मुस्लिम्" (हदीस)के टीकाकारका उद्‌गार है—"अह्याउल्-उलूम् क़ुरानके लगभग है।"

शेख अबू-मुहम्मद कारज़द्‌नीने कहा है—"यदि दुनियाकी सारी विद्याएँ (=उलूम्) मिटा दी जायें, तो अह्याउल्-उलूम्से सबको जिन्दा कर दूँगा।"

प्रसिद्ध सूफ़ी शेख अब्दुल्ला ईदरदसको अह्याउल्-उलूम् कंठस्थसी थी।

शेख अली दूसरे सूफ़ीने पचीस बार अह्याउल्-उलूम्का अखंड पाठ

किया, और हर बार पाठकी समाप्तिपर फ़कीरों और विद्यार्थियोंको भोज दिया।

कुतुब शाजली बहुत पहुँचे हुए सूफ़ी समझे जाते थे, एक दिन अह्याउल्-उलूम्को हाथमें लिए "जानते हो, यह क्या किताब है ?" कह बदनपर कोड़ोंकी मारका दाग दिखला कर बोले—"पहिले मैं इस किताबसे इन्कार करता था। आज रातको मुझे इमाम ग़ज़ालीने आँ-हज़रत (=पैगंबर मुहम्मद)के दरबारमे पेश किया, और इस अपराधकी सजामें मुझे कोड़े लगाए गए।"

शेख मुहीउद्दीन अकबर जगद्विख्यात सूफी गुज़रे हैं। वह अह्याउल्-उलूम्को काबा (मक्का)के सामने बैठकर पढ़ा करते थे।

यह तो खैर, "घरवालों"के मुँहसे अतिरंजित प्रशंसा होनेके कारण उतनी कीमत नहीं रखेगा, किन्तु पिछली सदीके प्रसिद्ध "दर्शन इतिहास"के लेखक जार्ज हेनरी लेविस्का कहना है—

"अगर द-कार्त (१५९६-१६५० ई०)के समयमें अह्याउल्-उलूम्का अनुवाद फ्रेंच भाषामें हो चुका होता, तो लोग यही कहते कि द-कार्तने अह्याउल्-उलूम्से चुराया है।"[1]

(ख) आधार ग्रन्थ—अह्याउल्-उलूम् या विद्याओंको संजीवित करनेवाली विद्या-संजीवनी कहिए—में यद्यपि दर्शन, आचार और सूफी ब्रह्मवाद सब मिले हुए हैं, किन्तु मुख्यतः वह आचार-शास्त्रका ग्रंथ है। आचारशास्त्रमें ग़ज़ालीके वक्त यूनानी ग्रंथोंके अनुवाद तथा स्वतंत्र ग्रंथ मौजूद थे, जिनमें दार्शनिक मस्कविया (मृ० १०३० ई०)की पुस्तक "तहज़ीबुल-इखलाक" (आचार-सभ्यता)का जिक्र भी हो चुका है। सबसे पहिले अरस्तूने इस विषयपर दो पुस्तकें (आचार-शास्त्र) लिखीं, जिनपर पोर्फोरि (फोर्फोरियस)ने टीका लिखी थी। हनैन इब्न-इस्हाकने अरस्तूकी

---

[1] History of Philosophy (G. E. Lewis, 4th edition), p. 50.

पुस्तकका अरबीमें अनुवाद किया था। मशहूर यूनानी वैद्य जालीनूस (=गलेन)ने भी इस विषयपर एक पुस्तक "मनुष्य अपने दोषोंको कैसे जान सकता है"के नामसे लिखी थी, जिसका अनुवाद भी शायद अरबीमें हो चुका था, मस्कविया (१०३० ई०)ने इसके उद्धरण अपने ग्रन्थमें जगह-जगह दिये हैं।

यूनानी पुस्तकोंसे प्रेरित होकर भिन्न-भिन्न ग्रंथकारोंने इस विषयपर अरबीमें निम्न पुस्तकें लिखीं—

१. "आराउल्-मदीनतुल्-फ़ाज़िला", फाराबी (८७०-९५०ई०) राजनीति भी है।

२. "तहज़ीबुल्-इख़लाक", मस्कविया (मृ० १०३० ई०)

३. "अकबर वल्-इस्म" बू-अली सीना (९८०-१०३७ ई०)।

यह तीनों पुस्तकें यूनानी दार्शनिकोंकी भाँति बहुत कुछ मजहबसे स्वतंत्र रहकर लिखी गई हैं।

४. "क़ूवतुल्-क़ुलूब", अबूतालिब मक्की (मजहबी ढंगपर)।

५. "ज़रिया इला मकारिमु'श्-शरीअत्" रागिब इस्फहानी (मजहबी ढंग पर)।

इन पाँच पुस्तकोंमेंसे "तहज़ीबुल्-इख़लाक" और "क़ूवतुल्-क़ुलूब"से तो बहुतसी बातें बिलकुल शब्दशः ली गई हैं।[1] और ढंग (मजहब+आचारशास्त्र) तो मक्कीकी किताब जैसा है।

(ग) लिखनेका प्रयोजन—हम बतला चुके हैं कि अह्याउल्-उलूम्-को ग़ज़ालीने उस वक्त लिखा जब कि उनपर सूफीवादका भूत बड़े जोरसे सवार था, और वह कमली ओढ़े अरब—शाम—की खाक छान रहे थे। उन्होंने ब्रह्मानंदको छोड़ इस पुस्तकको लिखनेके लिए कलम क्यों उठाई, इसका उत्तर ग़ज़ालीने स्वयं ग्रन्थके प्राक्कथनमें लिखा है—

---

[1] **अल्लामा शिब्ली नेअमानीने अपनी पुस्तक "अलग़ज़ाली" (उर्दू)में इसके कई उदाहरण दिये हैं।**

"मैंने देखा कि रोग सारी दुनियापर छा गया है, और चरम (आत्मिक पारलौकिक) सदाचारके रास्ते बंद हो गए हैं। जो विद्वान् मार्ग समझाने-वाले थे, उनसे दुनिया खाली होती जा रही है। जो रह गए हैं वह नामके विद्वान् हैं; निजी स्वार्थोंमें फँसे हुए हैं; और उन्होंने सारी दुनियाको यह विश्वास दिला रखा है, कि विद्या सिर्फ तीन चीजोंका नाम है, शास्त्रार्थ, कथा-उपदेश और फ़तवा ("व्यवस्था")। रही आख़िरत (=परलोक)की विद्या वह तो संसारसे उठ गई है, और लोग उसको भूल-भुला चुके हैं।"

इसी रोगको दूर करने या "भूल-भुलाई" (मृत) विद्याओंको संजीवन देनेके लिए ग़ज़ालीने "विद्यासंजीवनी" लिखनेके लिए लेखनी उठाई।

(घ) ग्रन्थकी विशेषता—शिब्लीने "विद्यासंजीवनी"की कई विशेषतायें विस्तारपूर्वक लिखी हैं; उनके बारेमें संक्षेपमें कहा जा सकता है—(१) ग्रंथकारने विद्वानों और साधारण पाठकों दोनोंकी समझमें आनेके ख्यालसे बहुत सीधी-सादी भाषा (अरबी)का प्रयोग किया है; साथ ही उसके दार्शनिक महत्त्वको कम नहीं होने दिया है। मस्कवियाकी किताब "अत्-तहारत्"को पढ़नेके लिए, पहिले भाषाकी दुरारोह दीवारको फाँदना पड़ेगा, तब अर्थपर पहुँचनेके लिए मग़ज़-पच्ची करनी होगी—वह नारियलके भीतर बंद मुर्खी गरी है; किन्तु ग़ज़ालीकी पुस्तक पतले छिलकोंका लँगड़ा आम है। (२) इसमें अधिकारिभेद—गृहस्थ और गृहत्यागी (=अविवाहित रहनेवाले सूफी) आदि—का पूरा ख्याल रखकर उनके योग्य आचार-नियमोंकी शिक्षा दी गई है। (३) उठने-बैठने, खाने-पीने जैसे साधारण आचारोंपर भी व्यापक दृष्टिसे लिखा गया है। (४) क्रोध, आकांक्षा आदिको सर्वथा त्यागके उपदेशसे मनुष्यकी उपयोगी शक्तियोंको कमजोर कर जो निराशावाद, अकर्मण्यता फैलाई जाती है, उसके खिलाफ काफी युक्तियुक्त बहस की गई है। यहाँ हम पिछली दो बातोंके कुछ नमूने पेश करते हैं—

१. **(साधारण सदाचार)**—मेजपर खाना खाना, छलनी (से आटा छानना), अश्नान (=साबुनका काम देनेवाली घास) और पेट भर खाना—

इन चार चीजोंके बारेमें पुराणपंथी मुसलमान विद्वान् यह कहकर नाक-भौं सिकोड़ते थे, कि यह पैगंबरके बाद पैदा हुए बुरे व्यवहार हैं। इसपर गज़ालीने लिखा—"दस्तरखान (=सामने बिछी चादर)पर खाना अच्छा है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि मन्दली (=मेज़)पर खाना बुरा या हराम है, क्योंकि इस तरहका कोई हुकुम शरीअत (=धार्मिक पुस्तकों)में नहीं आया है।....मेजपर खानेमें (फायदेकी) यह बात है, कि खाना ज़मीनसे जरा ऊँचा हो जाता है, और खानेमें आसानी होती है...। अश्नान (=घास)से हाथ धोना तो अच्छी बात है, क्योंकि इसमें सफाई और शुद्धता (रहती) है। खाना खानेके बाद हाथ धोनेका हुक्म (जो शरीअतमें है, वह) सफाईके ख्यालसे ही है, और अश्नानसे धोनेमें और ज्यादा सफाई है। पुराने जमानेमें (पैगंबरके समय) यदि इसका उपयोग नहीं किया जाता था, तो इसकी यह वजह होगी कि उस जमानेमें उसका रवाज न था, या वह मिलती न होगी। या (मिथ्याविश्वासके कारण) वह हाथ भी नहीं धोते थे, और तलवोंसे हाथ पोंछ लिया करते थे; लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि हाथ धोना ठीक नहीं।"

खानेके तरीकेमें कितनी ही बातें पश्चिमसे लेते हुए लिखा है—"खाना किसी ऊँची चीजपर रखकर खाना चाहिए। खाने बारी-बारीसे आने चाहिएँ। जूसवाला (सूप आदि) खाना पहिले आना चाहिए। यदि अधिक मेहमान आ चुके हैं, और सिर्फ एक-दो बाकी हों तो खाना शुरू कर देना चाहिए। खानेके बाद मेवे या मिठाई आनी चाहिए।" अनुकरणीय उदाहरणके तौरपर पेश करते हुए लिखते हैं—"बाज लोगोंके यहाँ यह तरीका था, कि सारे खानोंके नाम पर्चेपर लिखकर मेहमानोंके सामने पेश किये जाते थे।"

२. उद्योगपरायणता और कर्मण्यतापर ज़ोर—बच्चोंकी प्रारंभिक शिक्षामें सैर, शारीरिक व्यायाम, मर्दाना खेलोंको रखना गज़ाली जरूरी समझते हैं। उन्होंने गानेको मनबहलावकी बात कह उसके औचित्यको यह कहकर साबित किया है कि पैगंबरने खुद हब्शियोंके खेलको

देखा था। इसके अतिरिक्त मैं कहता हूँ कि खेलकूद या मनोविनोद दिलको ताजगी देता है, उससे दिमागी थकावट दूर हो जाती है। मन-का यह स्वभाव है कि जब वह किसी चीजसे घबरा जाता है, तो अंधा हो जाता है, इसलिए उसको आराम देना, इस बातके लिए तैयार करना है कि वह फिर कामके योग्य बन जाये। जो आदमी रात-दिन पढ़ा करता है उसको चाहिए कि किसी-किसी समय खाली बैठे; क्योंकि काम करनेके बाद खाली बैठना और खेल-कूद करना आदमीको गंभीर काम करनेके लिए फिर तैयार कर देता है।"

इस तरह ग़ज़ाली शरीरको कर्मण्य रखनेके लिए गाना, कसरत, खेलकूदकी सिफारिश करते हुए फिर उसके वास्ते मानसिक शक्तियोंके इस्तेमालके लिए इस प्रकार जोर देते हैं—"क्रोधकी शक्तिको नष्ट करना आचारकी शिक्षा नहीं है। आचार-शिक्षाका अभिप्राय यह है, कि आदमीमें आत्मसम्मान और सच्चा शौर्य पैदा हो, यानी न डरपोकपन आये न गुंडापन। ...क्रोधको बिलकुल नष्ट करना कैसे अभिप्रेत हो सकता है, जब कि खुद बन्दनीय पैगंबर लोग गुस्सेसे खाली न थे। आँ-हजरत (=पैगंबर मुहम्मद)ने स्वयं फरमाया है—'मैं आदमी हूँ, और मुझको भी उसी तरह गुस्सा आता है जिस तरह और आदमियोंको।' आँ-हजरतकी यह हालत थी कि जब आपके सामने कोई अनुचित बात की जाती तो आपके गाल लाल हो जाते थे, हाँ यह अन्तर जरूर था, कि गुस्साकी हालतमें भी आपके मुखारविन्दसे कोई बेजा बात नहीं निक-लती थी।"

"सन्तोष परम सुखं" पर लाठी प्रहार करते हुए ग़ज़ाली कहते हैं—"जानना चाहिए कि ज्ञान एक अवस्था पैदा करता है, और उस अवस्थासे काम लिया जाता है। कोई-कोई समझते हैं कि सन्तोषके यह माने हैं, कि जीविका-उपार्जनके लिए न हाथ पैर हिलाए जायें न कोई उपाय सोचा जाय, बल्कि आदमी इस तरह बेकार पड़ा रहे, जिस तरह चीथड़ा जमीन पर पड़ा रहता है, या मांस पटरेपर रखा रहता है। लेकिन यह मूर्खोंका

विचार है, क्योंकि ऐसा करना शरीअत (=धर्म-आज्ञा) में हराम है।.... यदि तुम इस बातका इन्तजार करो, कि खुदा तुमको रोटीके बिना तृप्त कर देगा, या रोटीको यह शक्ति दे देगा, कि वह स्वयं तुम तक चली आये, या किसी फरिश्तेको मुकर्रर कर देगा कि वह रोटीको चबाकर तुम्हारे पेटमें डाल दे, तो तुम खुदाके स्वभावसे बिलकुल अनभिज्ञ हो।"

मठोंके सन्तोषी साधु-फकीरोंके बारेमें ग़ज़ाली कहते हैं—"मठोंमें बंधानकी रोजीपर बसर करना सन्तोषसे बहुत दूर है। हाँ, यदि माँगा न जाय और भेंट-पूजापर सन्तोष किया जाय तो यह सन्तोषकी महिमा है, लेकिन जब (मठ) की प्रसिद्धि हो चुकी है, तो मठ बाज़ारकी भाँति है, और उनमें रहना बाजारमें रहना है। जो आदमी (इस तरहके) बाजारमें आता-जाता हो, वह सन्तोषी नहीं कहा जा सकता.... ।"

इस तरह ग़ज़ाली सूफी होते हुए भी, उस पंथकी अकर्मण्यताके प्रशमक नहीं थे।

(ङ) **आचार-व्याख्या**—अह्याउल्-उलूम् (विद्या-संजीवनी) में ग़ज़ालीने आचारकी व्याख्या करते हुए लिखा है, कि मनुष्य दो चीजोंका नाम है। शरीर और जीव। जिस तरह शरीरकी एक खास सूरत-शक्ल है, (वैसे ही) जीवकी भी है। फिर जिस तरह शरीरकी सूरत अच्छी या बुरी होती है, जीवकी भी होती है। जिस तरह बाहरी सूरतके ख्यालसे आदमीको सुरूप या कुरूप कहते हैं, जीवकी (आत्मिक) सूरतके ख्यालसे उसे सदाचारी या दुराचारी कहते हैं। ग़ज़ालीने आचारका संबंध सिर्फ शारीरिक क्रियाओं तक ही सीमित नहीं रखा है, बल्कि उसके लिए यह भी शर्त लगाई है, कि उसके करनेके लिए आदमीमें क्षमता तथा स्थायी झुकाव हो। ग़ज़ालीने आचारके चार मुख्य स्तंभ माने हैं। ज्ञान, क्रोध, काम-इच्छा और न्यायकी शक्तियोंको संयमपूर्वक साम्य (=बीचकी) अवस्थामें रखना। यदि यह चारों शक्तियाँ साम्य-अवस्थामें हों, तो आदमी पूरा सदाचारी होगा, यदि सिर्फ दो या एक हों तो अपूर्ण।

गलेन (=जालीनूस) आदमियोंके सदाचारी या दुराचारी होनेके

बारेमें समझता है, कि कुछ आदमी स्वभावतः सदाचारी, कुछ स्वभावतः दुराचारी होते हैं, और कुछ ऐसे हैं जो न स्वभावतः सदाचारी होते न दुराचारी; इसी तीसरी श्रेणीके आदमियोंके सुधार होनेकी संभावना है। मस्कवियाने गलेनके इसी मतको स्वीकार किया, यह हम कह चुके हैं। अरस्तूका मत इससे उलटा है—सदाचारी या दुराचारी होना मनुष्यमें स्वभावतः नहीं है, इसमें कारण शिक्षा और वातावरण है, हाँ शिक्षा और वातावरणका प्रभाव सबपर समान नहीं पड़ता। ग़ज़ाली-ने अरस्तूके मतको स्वीकार किया है। इसीलिए बच्चोंकी शिक्षापर उन्होंने खास जोर दिया है, जिसके कुछ नमूने लीजिए—

(१) **बच्चोंका निर्माण**—"बच्चेमें जैसे ही विवेचनाशक्ति प्रकट होने लगे, उसी वक्तसे उसकी देखभाल रखनी चाहिए। बच्चेको सबसे पहिले खानेकी इच्छा होती है, इसलिए शिक्षाका आरंभ यहींसे करना चाहिए। उसको सिखलाना चाहिए कि खानेसे पहिले बिसमिल्लाह पढ़ लिया करे। दस्तरखानपर जो खाना सामने और समीप हो, उसीकी ओर हाथ बढ़ाए, साथ खानेवालोंसे आगे बढ़नेकी कोशिश न करे, खाने या खानेवालोंकी तरफ़ नज़र न जमाए। जल्द-जल्द न खाए। कौरको अच्छी तरह चबाए। हाथ और कपड़ेको खानेमें लसरने न दे। उसको समझा दिया जाये कि ज़्यादा खाना बुरा है। कम खाना, मामूली खानेपर सन्तोष करने, (अपना खाना) दूसरोंको खिला देनेकी बड़ाईको उसके मनमें बिठला देना चाहिए।

"(बच्चोंको) सफ़ेद कपड़ा पहननेका शौक दिलाया जाय, और समझाया जाये कि रंगीन, रेशमी, ज़र्दोज़ी कपड़े पहनना औरतों और हिजड़ोंका काम है। जो लड़के इस तरहके कपड़ोंको पहिना करते हैं, उनके संगसे बचाया जाय। आरामतलबी और नाज-सुकुमारतासे घृणा दिलाई जाये।

"जब बच्चा कोई अच्छा काम करे, तो प्रशंसा करके उसके दिलको बढ़ाया जाये, और उसे भेंट-इनाम दिया जाये। यदि बुरी बात करते देखा

जाये तो चेतावनी देनी चाहिए, जिसमें बुरे कामोंके करनेमें दिलेर न हो जाये।....किन्तु बार-बार लजवाना नहीं चाहिए....बार-बार कहनेमें बातका असर कम हो जाता है।

"(और उसे सिखलाना चाहिए कि) दिनको सोना नहीं चाहिए। बिछौना बहुत सजा तथा ज्यादा नरम नहीं होना चाहिए....हर रोज कुछ न कुछ पैदल चलना और कसरत करनी चाहिए, जिसमें कि दिलमें अकर्मण्यता और सुस्ती न आने पावे। हाथ-पाँव खुले न रखे, बहुत जल्द-जल्द न चले; धन-दौलत, कपड़ा, खाना, कलम-दावात, किसी चीजपर अभिमान न प्रकट करे....।

"सभामें थूकना, जम्हाई-अँगड़ाई लेना, लोगोंकी तरफ पीठ करके बैठना, पाँवपर पाँव रखना, ठोड़ीके नीचे हथेली रखकर बैठना—इन बातोंसे मना करना चाहिए।

"कसम खानेसे—चाहे वह सच्ची भी हो—रोकना चाहिए। बात खुद न शुरू करनी चाहिए, कोई पूछे तो जवाब दे।....पाठशालासे पढ़कर निकले तो उसे मौका देना चाहिए कि कोई खेल खेले, क्योंकि हर वक्त पढ़ने-लिखनेमें लगे रहनेसे दिल बुझ जाता है, समझ मन्द हो जाती है, तबियत उचट जाती है।"

यह शिक्षायें मस्कवियाने अपने तहजीबुल्-इख्लाकमें यूनानी ग्रन्थोंसे लेकर दी हैं।

(२) **प्रसिद्धिके लिए दान-पुण्य गलत**—नाम और प्रसिद्धिकी लालचमें अमीर लोग दान-धर्म करते हैं, उनके बारेमें गजाली कहता है—

"इन (धनियों, अमीरों, बादशाहों)में बहुतसे लोग, मस्जिद, मद्रसे और मठ (=खानकाहें), बनवाते हैं, और समझते हैं कि यह बड़े पुण्यका काम है; यद्यपि जिस आमदनीसे उन्हें बनवाया जाता है, वह बिलकुल नाजायज तरीकेसे हुई है। यदि आमदनी जायज हो, तो भी उनका अभिप्राय वस्तुतः पुण्य नहीं बल्कि प्रसिद्धि और नामपाना होता है। उसी शहरमें ऐसी दुर्गतिमें पड़े आदमी हैं, जिनकी सहायता करना मस्जिद बनानेसे

ज्यादा सवाबका काम है, लेकिन उसकी अपेक्षा इमारत बनवानेको बेहतर समझते हैं; जिसकी वजह सिर्फ यह होती है, कि इमारतसे जो चिरस्थायी प्रसिद्धि मिलती है, वह गरीबोंको देनेसे नहीं हो सकती।

३—तोहाफ़तुल्-फ़िलासफ़ा (=दर्शन-खंडन)

(क) लिखनेका प्रयोजन—कितनेही मुसलमान इस पुस्तकके नाम और ग़ज़ालीकी सर्वप्रियताको देखकर यह समझनेकी गलती करते हैं, कि ग़ज़ालीने सचमुच दर्शनका विध्वंस (=खंडन) कर दिया। ग़ज़ालीके अपने ही विचार दर्शन छोड़ और हैं क्या? उन्होंने कभी बद्दुओंके सीधे-सादे इस्लामकी ओर लौटनेका नारा नहीं लगाया, यद्यपि उनकी कुछ सामाजिक बातों—कबीलाशाही, भाई-चारा, समानता—को वह जरूर अनुकरणीय बनाना चाहते थे। शिक्षित संस्कृत-नागरिक श्रेणीमें उस वक्त यूनानी दर्शनका बहुत सम्मान था, खुद इस्लामके भीतर "पवित्र-संघ" (अखवानस्सफ़ा), बातनी आदि सम्प्रदाय पैदा हो गये थे, जो कि अफलातूँ-अरस्तूको सूक्ष्म ज्ञानमें रसूल-अम्बियोंसे भी बड़ा समझते थे; इसलिए इस्लामके जबर्दस्त वकील ग़ज़ालीको ऐसी पुस्तक लिखना जरूरी था, जैसा कि उन्होंने स्वयं पुस्तककी भूमिकामें लिखा है—

"हमारे ज़मानेमें ऐसे लोग पैदा हो गए हैं, जिनको यह अभिमान है, कि उनका दिल-व-दिमाग़ साधारण आदमियोंसे श्रेष्ठ है। यह लोग मजहबी आज्ञाओं और नियमोंको घृणाकी निगाहसे देखते हैं। इनका ख्याल है कि अफलातूँ, अरस्तू आदि पुराने हकीम (=मुनि या आचार्य) मजहबको झूठा समझते थे। चूँकि ये हकीम ज्ञान-विज्ञानके प्रवर्तक और प्रतिष्ठापक थे, और बुद्धि तथा प्रतिभामें उनके जैसा कोई नहीं हुआ; इसलिए उनका धर्मको न मानना इस बातका प्रमाण है, कि मजहब (=धर्म) वस्तुतः झूठ और फजूल है; उसके नियम तथा सिद्धान्त मनगढ़न्त और बनावटी हैं, जो सिर्फ देखने हीमें सुन्दर और चित्ताकर्षक मालूम होते हैं। इसी वजहसे मैंने निश्चय किया कि (यूनानी) आचार्योंने आध्यात्मिक विषयपर

जो कुछ लिखा है, उसकी गलतियाँ दिखलाऊँ, और साबित करूँ कि उनके सिद्धान्त और बहसें लड़कोंके खेल हैं।"

(ख) दार्शनिक तत्त्व सभी त्याज्य नहीं—ग़ज़ाली दर्शनकी सत्यताओंको जानते थे, इसलिए दर्शनकी सभी बातोंको गलत कहना उनके लिए असंभव था, उनका तो काम था कुमारिल भट्टकी भाँति दर्शनको खंडन करते हुए भी उसीकी आड़ लेकर लचर विश्वासोंकी स्थापना करना। अस्तु अपनी स्थिति साफ करते हुए ग़ज़ाली लिखते हैं—

"दर्शनमें तीन तरहके सिद्धान्त आते हैं—(१) वह सिद्धान्त, जो केवल शब्द और परिभाषाको लेनेपर इस्लामके सिद्धान्तोंमें भेद रखते हैं, जैसे खुदा (ईश्वर)को वह द्रव्य बतलाते हैं, लेकिन द्रव्यसे उनका अभिप्राय अनित्य (वस्तु) नहीं बल्कि ऐसी वस्तुसे है, जो स्वयं बिना किसीके सहारे, अपना अस्तित्व रखती है। इस ख्यालसे खुदाको द्रव्य कहना बिलकुल ठीक है, यद्यपि शरीअत् (=इस्लामी धर्म ग्रंथ)में यह शब्द इस्तेमाल नहीं किया गया है।

"(२) वह सिद्धान्त जो इस्लामके सिद्धान्तोंके विरुद्ध नहीं है। जैसे चन्द्रमामे इस वजहसे ग्रहण लगता है, कि उसके और सूर्यके बीचमें पृथवी आ बाधक हो जाती है। ऐसे सिद्धान्तोंका खंडन करना मेरा काम नहीं है। जो लोग ऐसे सिद्धान्तोंके इन्कार और झुठलानेको इस्लामका अंग समझते हैं, वह वस्तुतः इस्लामपर अन्याय करते हैं; क्योंकि इन सिद्धान्तोंकी बुनियाद गणित-शास्त्रकी युक्तियाँ हैं, जिनको जान लेनेपर उनकी सत्यतामें कोई सन्देह नहीं रह जाता। अब अगर कोई आदमी यह साबित करे, कि ये सिद्धान्त इस्लामके विरुद्ध हैं, तो विद्याके जानकार पुरुषके मनमें स्वयं इस्लामके प्रति सन्देह पैदा हो जायगा।

"(३) तीसरे प्रकारके वे सिद्धान्त हैं, जो कि इस्लामके निश्चित सिद्धान्तोंके विरुद्ध हैं, जैसे जगत्की अनादिता, क़यामतसे इनकार आदि। यही सिद्धान्त हैं जिनसे यहाँ हमें काम है, और जिनको झूठा साबित करना हमारी (इस) पुस्तकका प्रयोजन है।"

इसपर हमारे हम-वतन अल्लामा शिब्ली फ़र्माते हैं—

"इस भूमिकाके बाद इमाम (ग़ज़ाली) साहबने दर्शनके २० सिद्धान्तोंको लिया है, और उनका खंडन किया है। लेकिन अफसोस है कि इमाम साहबकी यह मेहनत बहुत लाभदायक नहीं हुई; क्योंकि जिन सिद्धान्तोंको (उन्होंने) इस्लामके खिलाफ समझा है, उनमेंसे १७के बारेमें उन्होंने खुद पुस्तकके अन्तमें व्याख्या की है कि उनकी वजहसे किसीको काफिर नहीं बनाया जा सकता।"

(ग) बीस दर्शन-सिद्धान्त गलत—"दर्शन-खंडन"में ग़ज़ाली कितना सफल हुआ, इसपर अल्लामा शिब्लीकी राय आप पढ़ चुके, यहाँ हम यूनानी दर्शनके उन बीस सिद्धान्तोंको देते हैं (इनमेंसे बहुतसे हिन्दू-दर्शनमें भी पाये जाते हैं, इसके कहनेकी जरूरत नहीं)—

यूनानी दर्शन	ग़ज़ाली[1]
१. जगत् अनादि	गलत
२. जगत् अनंत (=नित्य)	गलत
३. ईश्वरका जगत्-कर्त्ता होना भ्रम मात्र	गलत
४. ईश्वरका अस्तित्व	सिद्ध नहीं कर सकते
५. ईश्वर एक	सिद्ध नहीं कर सकते
६. ईश्वरमें गुण नहीं	गलत
७. ईश्वरमें सामान्य और विशेष नहीं	गलत
८. ईश्वर लक्षण-रहित (=अलख) सर्व-व्यापक मात्र है	सिद्ध नहीं कर सकते
९. ईश्वर शरीर-रहित	सिद्ध नहीं कर सकते
१०. दार्शनिक	को नास्तिक होना पड़ता है
११. ईश्वर अपने सिवा औरको जानता है	साबित नहीं कर सकते
१२. ईश्वर अपनेको जानता है	साबित नहीं कर सकते

[1] "अलग़ज़ाली", पृष्ठ १०१

१३. ईश्वर व्यक्तियोंको नहीं जानता — गलत

१४. आसमान (=फरिश्ते) और प्राणी इच्छानुसार गति करते हैं — गलत

१५. आसमानकी गतिके लिए दिये गए कारण — गलत

१६. आसमान सारे (जगत्-)अवयवोंके जानकार हैं — गलत

१७. अप्राकृतिक घटना नहीं होती — गलत

१८. जीव एक द्रव्य है जो न गुण है न शरीर—साबित नहीं कर सकते

१९. जीव नित्य है — साबित नहीं कर सकते

२०. क़यामत (=प्रलय) और मुर्दोका जी उठना नहीं होना — गलत

४—दार्शनिक विचार

गजाली सभी दार्शनिक सिद्धान्तोंके विरोधी न थे, यह तो उनके लेखसे साफ हो गया; अब हम यहाँ उनके कुछ सिद्धान्तोंको देते हैं—

(१) **जगत अनादि नहीं**—यूनानी दार्शनिकोंका जगत्-नित्यतावाद इस्लामके लिए खतरेकी चीज थी, यह इस्लामके ईश्वर-अद्वैत (=तौहीद) पर ही सख्त हमला न था, बल्कि अनीश्वरवादकी ओर खींचनेवाला जबर-दस्त हथियार था; जैसा कि गजालीने "दार्शनिकको नास्तिक होना पड़ता है" अपनी प्रतिपाद्य विषयके बारेमें लिखते हुए प्रकट किया है। दार्शनिक कहते थे कि जगत् एक सान्त, गोल, किन्तु कालमें अनन्त—सदा रहनेवाला—है, सदासे वह ईश्वरसे निकलता आ रहा है, वैसे ही जैसे कि कार्य (घड़ा) अपने कारण (मिट्टी)से।

गजालीका कहना है कि जो कालमें सान्तता मानता है, उसे देशमें भी सान्तता माननी पड़ेगी। यह कहना कि हम वैसा इसलिए मानते हैं क्योंकि देश बाहरी इन्द्रियोंका विषय है, किन्तु काल आन्तरिक इन्द्रिय (=अन्तः-करण)का, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, आखिर इन्द्रिय-ग्राह्य (विषय)-को तो स्वीकार करना ही पड़ेगा। फिर जैसे देशका पिंड (=विषय)-के साथ एक संबंध है, उसी तरह कालका संबंध पिंड (=विषय)-

की गतिसे बराबर बना रहता है। काल और देश दोनों ही वस्तुओंके आपसी संबंधमात्र हैं—देश वस्तुओंकी उस स्थितिको प्रकट करता है, जो उनके साथ-साथ रहनेपर होती है, काल वस्तुओंकी उस स्थितिको बतलाता है, जो उनके एक साथ न रहनेपर (आगे-पीछे होनेसे) होती है। ये दोनों ही जगत्‌की वस्तुओं (—पिंडों, इन्द्रिय-विषयों)के भीतर और उनके साथ बने हैं, अथवा कहना चाहिए कि देश-काल हमारे मानस-प्रतिबिंबों (मनके भीतर जिन रूपोंमें वस्तुएँ ज्ञात या याद होती हैं)के पारस्परिक संबंध हैं, जिन्हें कि ईश्वरने बनाया है। इस प्रकार देश और कालमें एककी सान्तताको स्वीकार करना दूसरेकी सान्तताका नहीं करना, गलत है। दोनों ही वस्तुतः कृत और सादि हैं। और फिर सादि (देश-कालमें अवस्थित) जगत् भी सादि होगा। अतएव ईश्वरके सृजन (—जगत्-उत्पादन)में किसी जगत्-अनादिता आदिकी बात नहीं, वह जगत् बनानेमें सर्वत्र-स्वतन्त्र है।

(२) कार्यकारणवाद और ईश्वर—ग़ज़ालीके जगत्‌के आदि-अनादि होनेके बारेमें क्या ख्याल है, यह बतला चुके; किन्तु सवाल यहीं खतम नहीं हो जाता। यदि ईश्वरको सर्वतंत्र-स्वतंत्र—बिना कारण (मिट्टी)के कार्य (घड़ा) बनानेवाला—मानते हैं, तब तो कार्य-कारणका सवाल ही नहीं उठता, ईश्वर खुद हर वक्त वैसे ही बना रहा है, फिर तो इमाम अश्अरीका कार्य-कारण-रहित परमाणुवाद ठीक है। ग़ज़ालीके सामने दो मुसीबतें थीं। कार्यकारणवाद माननेपर यूनानी दार्शनिकोंकी भाँति जगत्‌को (प्रवाह या स्वरूपसे) अनादि मानना होगा; यदि कार्य-कारण-वादको न मानें तो अश्अरीके "परमाणुवाद"में फँसना पड़ेगा। आइये "तोहाफ़तुल्-फिलासफ़ा"मे उनके शब्दोंमें इस बहसको लें—

"(यूनानी) दार्शनिकोंका ख्याल है, कि कार्य और कारणका जो संबंध दिखाई पड़ता है, वह एक नित्य (—समवाय) संबंध है; जिसकी वजहसे यह संभव नहीं कि कारण (मिट्टी)के बिना कार्य (घड़ा) पाया जाये। सारे साइंस (—प्रयोग-सिद्ध ज्ञान)का आधार इसी (कार्य-कारण)वादपर है।

"लेकिन मैं (ग़ज़ाली) जो इस (वाद)के विरुद्ध हूँ, उसकी वजह यह है कि इसके माननेसे पैगंबरोंकी करामात (=दिव्य चमत्कार) गलत हो जाती है; क्योंकि यदि यह स्वीकार कर लिया जाये, कि दुनियाकी हर चीजमें 'नित्य-संबंध' पाया जाता है, तो ऐसी अवस्थामें अ-प्राकृतिक घटनाएँ (=करामात) असंभव हो जायेंगी, और धर्मका आधार अप्राकृतिक घटनाओं (करामात, या कारण बिना ईश्वरके सृष्टि करनेके सिद्धान्त) पर है।[१] . . . . (इसीलिए हम मानते हैं कि) आग और आँचमें, सूर्योदय और प्रकाशमें कोई नित्य संबंध नहीं पाया जाता, बल्कि ये सारे कार्य-कारण ईश्वरकी इच्छासे (हर क्षण नये) पैदा होते हैं।"[२]

दार्शनिक वैसा क्यों मानते हैं? इसलिए कि "जलानेवाली चीज अर्थात् आग इच्छा करके नहीं जलाती, बल्कि वह अपने स्वभावसे मजबूर है कि कपड़ेको जलावे, अतएव यह कैसे संभव है कि आग कपड़ेको जलावे, किन्तु (किसी सिद्ध पुरुषकी आज्ञा मान अपनी इच्छाको रोक) मस्जिदको न जलावे। . . . ."[३]

अब सवाल होगा कि आगके स्वभाव और उसकी मजबूरीका ज्ञान कैसे हुआ—

"साफ है कि इस प्रश्नका उत्तर सिवाय इसके और कुछ नहीं हो सकता कि आग जब कपड़ेमें लगाई जाती है तो हम सदा देखते हैं कि वह जला देती है, लेकिन हमें बार-बारके देखनेसे यदि कुछ मालूम होता है, तो वह यह है कि आगने कपड़ेको जलाया। (इससे) यह कैसे मालूम हुआ कि आग ही जलानेका कारण है। उदाहरणोंको देखो—सब जानते हैं कि विवाह-क्रियासे मानव-वंशकी वृद्धि होती है, किन्तु यह तो कोई नहीं कहता कि यह क्रिया बच्चेकी उत्पत्तिका (—नित्य संबंध होनेसे अवश्य ही—) कारण है?"[४]

---

[१] तोहाफ़तुल्-फिलासफ़ा, पृष्ठ ६४ [२] वही, पृष्ठ ६५

[३] वही, पृष्ठ ६६

[४] वही, पृष्ठ ६६

इस सारी बहसमें ग़ज़ाली कार्य-कारणवादके किलेकी दीवारमें एक छोटा सा सूराख करना चाहते हैं, जिससे सृष्टिको सादि, ईश्वरको सर्वतंत्र-स्वतंत्र तथा पैगंबरोंकी करामातको सच्ची साबित कर सकें।

ग़ज़ाली यहाँ अश्अरीके "परमाणुवाद"के बहुत पास पहुँच गए हैं। किन्तु अब फिर उनको होश आता है, और कहते हैं[1]—

"कारणोंके कारण (ईश्वर)ने अपना कौशल दिखलानेके लिए यह ढंग स्वीकार किया है, उसने कार्योंको कारणोंसे बाँध दिया है,[2] कार्य अवश्य कारणके बाद अस्तित्वमें आयेगा, यदि कारणकी सारी शर्तें पाई जायँ। यह इस तरहके कारण हैं, जिनमें कार्योंका अस्तित्व बँधा हुआ है—वह कभी उनसे अलग नहीं होता; और यह भी ईश्वरकी प्रभुता और इच्छा है।....जो कुछ आसमान और जमीनमें है, वह आवश्यक क्रम और अनिवार्य नियम (=हक़)के अनुसार पैदा हुआ है। जिस तरह वह पैदा हुआ, और जिस क्रमसे पैदा हुआ, इसके विरुद्ध और कुछ हो ही नहीं सकता। जो चीज किसी चीजके बाद पैदा हुई, वह इसी वजहसे हुई कि उसका पैदा होना इसी शर्तपर निर्भर था।...जो कुछ दुनियामें है, उससे बेहतर या उससे पूर्णतर संभव ही नहीं था। यदि संभव था और तब भी ईश्वरने उसको रख छोड़ा, और उसको पैदा करके अपने अनुग्रहको प्रकट नहीं किया, तो यह कृपासे उलटी कृपणता (=कंजूसी) है, उलटा जुल्म है। यदि वैसा संभव होनेपर भी ईश्वर वैसा करनेमें समर्थ नहीं है, तो इससे ईश्वरकी बेचारगी साबित होती है, जो कि ईश्वरताके विरुद्ध है।"

(३) **ईश्वरवाद**—ग़ज़ालीका दार्शनिकोंसे जिन बीस बातोंमें मतभेद है, उनमें तीन मुख्य हैं, एक "जगत्की अनादिता" जिसके बारेमें कहा जा चुका। दूसरा मतभेद स्वयं ईश्वरके अस्तित्वके संबंधमें है।

---

[2] **"मुसब्बबुल्-असबाब् इज्रा सनतन् बे-रब्तिल्-मुसब्बबाते बिल्-असबाबे इज्हारन् लिल्-हिकमते।"** [1] **अह्याउल्-उलूम्"।**

दार्शनिक ईश्वरको सर्वश्रेष्ठ तत्त्व माननेके लिए तैयार हैं, किन्तु साथ ही वह कहते हैं कि वह ज्ञानमय (=ज्ञानसार) है। जो (उसके) ज्ञानमें है, वही उससे निकलकर अस्तित्वमें आता है; किन्तु वह इच्छा नहीं करता, इच्छा तभी होती है, जब कि किसी बातकी कमी हो। इच्छा भौतिक पदार्थोंके भीतरकी गति है—पूर्णसत्य आत्मा (=ब्रह्म) किसी बातकी इच्छा नहीं कर सकता। इसलिए ईश्वर अपनी सृष्टिको ध्यानमें पाता है, उसमें इच्छाके लिए गुंजाइश नहीं।

किन्तु गज़ाली ईश्वरको इच्छारहित माननेको तैयार नहीं। उनके मनमें (ईश्वरकी इच्छा) सदा उसके साथ रहती है, और उसी इच्छासे वह सृष्टिको बिना किसी मजबूरी (प्रकृति-जीव तत्त्वोंके पहिलेसे मौजूद होने)के बनाता है। दार्शनिकोंके लिए ईश्वरका ज्ञान सृष्टिका कारण है, गज़ालीके लिए ईश्वरकी इच्छा; चूँकि वह इच्छापूर्वक हर चीज़-को बनाता है, इसलिए उसे सिर्फ वस्तु सामान्यका ही ज्ञान नहीं बल्कि वस्तु-व्यक्ति (=एक-एक वस्तु)का भी ज्ञान है, और इस तरह गज़ाली **भाग्यवाद**के फंदेमें फँसते हैं, और फिर कर्म-स्वातंत्र्य न होनेसे मनुष्यके उद्योगपरायण होने आदिकी शिक्षा बेकार हो जाती है।

(४) कर्मफल—ईश्वरको सर्वतंत्र-स्वतंत्र (प्रकृति-जीव तत्त्वों पर निर्भर न होना) सिद्ध करनेके लिए इस्लामके वकील गज़ालीको जगत्-का सादि होना, तथा ईश्वरको इच्छावान् मानना पड़ा; "ईश्वरेच्छा बलीयसी" माननेपर भाग्यवादसे बचना असंभव हुआ। जीवका पहिले-पहिल एक ही बारके लिए जगत्‌में उत्पन्न होना यह सिद्धान्त ऊपरकी बातों-को लेते हुए गज़ालीको और मुश्किलमें डाल देता है। आखिर खुदाने मनुष्योंकी मानसिक शारीरिक योग्यतामें भेद क्यों किया?—खैर इसका उत्तर तो वह दे नहीं सकते थे, क्योंकि उसकी न्यायताके लिए उन्हें पिथागोर या हिन्दुओंकी भाँति पुनर्जन्म मानना पड़ता, और फिर जगत्-जीव-अनादिताका सवाल उठ खड़ा होता। किन्तु इस्लामने कर्मके अनु-सार सजा-इनाम (नर्क-स्वर्ग) पानेकी जो बात कही है, उसमें भी ईश्वरपर

आक्षेप आता है। सजा (=दंड) सिर्फ दो ही मतलबमें दी जा सकती है या तो बदला लेनेके लिए, जो कि ईश्वरके लिए शोभा नहीं देता; अथवा सुधारनेके लिए किन्तु वह भी ठीक नहीं क्योंकि सुधारके बाद मनुष्यको फिर कार्यक्षेत्रमें उतरने (जगत्‌में पुनः जन्मने) का मौका कहाँ मिलता है? ईश्वरको ऐसा करनेसे अपने लिए कोई लाभकी इच्छा हो, यह बात मानना तो ईश्वरकी ईश्वरतापर भारी धब्बा होगा। इस शंकाका उत्तर ग़ज़ालीने अपनी पुस्तक "मज़्मून बः अला-ग़ैर-अहले-ही" में दिया है।—जिसका भाव यह है—स्थूल जगत्‌में कार्यकारणका जो क्रम देखा जाता है, उसमें किसीको इन्कार नहीं हो सकता। संखिया घातक है, गुलाब ज़ुकाम पैदा करता है। यह चीजें जब इस्तेमाल की जायेंगी तो उनके असर ज़रूर प्रकट होंगे। अब यदि कोई आदमी संखिया खाये और मर जाए, तो यह आक्षेप नहीं किया जा सकता, कि ईश्वरने क्यों उसको मार डाला, या ईश्वरको उसके मार डालनेमें क्या मतलब था। मरना संखिया खानेका एक अनिवार्य परिणाम है। उसने संखिया अपनी खुशीसे खाई और जब खाई, तो उसके परिणामका प्रकट होना अवश्यंभावी था। यही बात आत्मिक जगत्‌में भी है। भले बुरे जितने कर्म हैं, उनका अच्छा-बुरा प्रभाव जीवपर लगातार होता है। अच्छे कामोंसे जीवमें दृढ़ता आती है, बुरे कामोंसे गंदगी। यह परिणाम किसी तरह रुक नहीं सकते। जो आदमी किसी बुरे कामको करता है, उसी समय उसके जीवपर एक खास प्रभाव पड़ जाता है, इसीका नाम सज़ा (दंड) है। मान लो एक आदमी चोरी करता है, इस कामके करनेके साथ ही उसपर भय सवार हो जाता है। वह चाहे पकड़ा जाये या नहीं, दंडित हो या नहीं, उसके दिलपर दाग लग चुका, और यह दाग मिटाए नहीं मिट सकता। जिस तरह ईश्वरपर यह आक्षेप नहीं हो सकता कि संखिया खानेपर ईश्वरने अमुक आदमीको क्यों मार डाला, उसी तरह यह आक्षेप भी नहीं हो सकता कि बुरा काम करनेके लिए ईश्वरने दंड क्यों दिया? क्योंकि उस बुरे कामका यह अवश्यंभावी परिणाम था, इसलिए वह हुए बिना नहीं रह सकता था। ग़ज़ालीके अपने शब्द हैं—

"भगवान्‌के ग्रंथके विधि-निषेधोंके अनुसार न चलनेपर जो फल (=अज़ाब) होगा, वह क्रोध या बदला लेना नहीं है। उदाहरणार्थ जो आदमी बीवीसे प्रसंग नहीं करेगा, ईश्वर उसे सन्तान नहीं देगा, जो आदमी खाना-पीना छोड़ देगा, ईश्वर उसे भूख-प्यासकी तकलीफ देगा। पापी-पुण्यात्माका कयामत (=ईश्वरीय न्यायके दिन) की यातनाओं और सुखोंके साथ यही संबंध है। पापीको क्यों यातना दी जायेगी—यह उसी तरह कहना है कि प्राणी विषसे क्यों मर जाता है, और विष क्यों मृत्युका कारण है ?"

ईश्वरने अपने धार्मिक विधि-निषेधोंकी ज़हमतमें आदमियोंको क्यों डाला, इसके उत्तरमें ग़ज़ाली कहते हैं—

"जिस तरह शारीरिक रोगोंके लिए चिकित्सा-शास्त्र (वैद्यक) है, उसी तरह जीवके लिये भी एक चिकित्सा-शास्त्र है, और वंदनीय पैगंबर लोग उसके वैद्य हैं। कहनेका ढंग है कि बीमार इसलिए अच्छा नहीं हुआ कि वह वैद्य (की आज्ञा) के विरुद्ध गया, इस वजहसे अच्छा हुआ कि वैद्यकी आज्ञाका पालन किया। यद्यपि रोगका बढ़ना इसलिए नहीं हुआ कि रोगी वैद्य (की आज्ञा) के विरुद्ध गया; बल्कि (असली) वजह यह थी, कि उसने स्वास्थ्यके उन नियमोंका अनुसरण नहीं किया, जो कि वैद्यने उसे बताए थे।"[1]

(५) जीव (=रूह)—पैगंबर मुहम्मदको भी लोगोंने जीवके बारेमें सवाल करके तंग किया था, जिसपर अल्लाहने अपने पैगंबरको यह जवाब देनेके लिये कहा—"कह जीव मेरे रबके हुक्मसे है"[2]। जब कुरान और पैगंबर तकको इससे ज्यादा कहनेकी हिम्मत नहीं है, तो ग़ज़ालीका आगे बढ़ना खतरेसे खाली नहीं होता, इसलिए बेचारेने "अह्याउल्-उलूम्"में यह कहकर जान छुड़ानी चाही, कि यह उन रहस्योंमें है, जिनको

---

[1] "मज्नून बेः अला-ग़ैरे-अह्ले-ही" पृष्ठ १०

[2] "क़ुल् अ'र्-रूहो मिन्-अम्रे रब्बी"—क़ुरान

प्रकट करना ठीक नहीं; लेकिन "मज़नून-सग़ीर"में उन्होंने इस चुप्पीको तोड़ना ज़रूरी समझा—आखिर "रबके हुक्मसे" जीवका होना बहुओं-को सन्तोष भले ही दे सकता था, किन्तु फाराबी और सीनाके शागिर्दोंको उससे चुप नहीं किया जा सकता था; इसलिए गज़ाली दर्शनकी भाषामें कहते हैं—"वह (जीव) द्रव्य है, शरीर नहीं। उसका संबंध बदनसे है, किन्तु इस तरह कि न शरीरसे मिला न अलग, न भीतर न बाहर, न आधार न आधेय।"

द्रव्य है—क्योंकि जीव वस्तुओंको पहिचानता है, पहिचानना या पहिचान एक गुण है। गुण बिना द्रव्यके हो नहीं सकता, अतएव जीवको ज़रूर द्रव्य होना चाहिए, अन्यथा उसमें गुण नहीं रह सकता।

शरीर नहीं है, क्योंकि शरीर होनेपर उसमें लंबाई चौड़ाई होगी, फिर उसके अंश हो सकेंगे; अंश हो सकनेपर यह हो सकता है, कि एक अंशमें एक बात पाई जाये और दूसरे अंशमें उससे विरुद्ध बात जैसे लकड़ीके फट्टेमें आधेका रंग सफेद, आधेका रंग काला। और फिर यह भी संभव है, कि जीवके एक भागमें राम (जिसका कि वह जीव है)का ज्ञान हो, और दूसरे भागमें उसी रामकी बेवकूफीका। ऐसी अवस्थामें जीव एक ही समयमें एक वस्तुका जानकार भी हो सकता है, और गैरजानकार भी। और यह असंभव है।

न मिला न अलग, न भीतर न बाहर है, क्योंकि यह गुण शरीर (=पिंड)के हैं, जब जीव शरीर ही नहीं है तो वह मिला-अलग-भीतर-बाहर कैसे हो सकता है।

कुरान और आप्त पुरुषोंने जीव क्या है, इसे बतानेसे इन्कार क्यों किया, इसका उत्तर गज़ाली देते हैं—दुनियामें साधारण और असाधारण दो तरहके लोग हैं। साधारण लोगोंकी तो बुद्धिमें ही जीव जैसी चीज नहीं आयेगी, इसीलिए तो **हंबलिया** और **कर्रामिया** सम्प्रदायवाले ईश्वर-को साकार मानते हैं, क्योंकि उनके ख्यालसे जो चीज साकार नहीं उसका अस्तित्व नहीं हो सकता। जो व्यक्ति साधारण लोगोंकी अपेक्षा कुछ

विस्तृत विचार रखते हैं, वह शरीरका निषेध करते हैं, तो भी ईश्वरका दिशावान होना मानते हैं। अश्-अरिया और मोतज़ला सम्प्रदायवाले इस तरहके अस्तित्वको स्वीकार करते हैं जिसमें न शरीर हो, न दिशा। लेकिन वह इस प्रकारके अस्तित्वको सिर्फ ईश्वरके व्यक्तित्त्व तथा ईश्वरके गुणके साथ ही मानते हैं। यदि जीवका अस्तित्व भी इस तरहका हो, तो उनके विचारसे ईश्वर और जीवमें कोई अन्तर नहीं रह जायेगा। जैसे भी देखें, चूँकि जीवकी वास्तविकता क्या है यह साधारण और असाधारण दोनों प्रकारके लोगोंकी समझसे बाहरकी बात थी, इसलिए उसके बतानेसे टालमटोल की गई।

गज़ालीने जीवका जो लक्षण बतलाया है, वह यूनानी और भारतीय दर्शन जाननेवालोंके लिए नई बात नहीं है।

"न हन्यते हन्यमाने शरीरे"की आवाजमें आवाज मिलाते हुए गज़ाली कहते हैं—

"व लैस ल्-बद्नो मिन् क़वामे ज़ाते-का
फ़ इन्हदाम ल्-बदने ला यअ़्दमो-का।"

("शरीर तेरे अपने लक्षणों (स्वरूपों)में नहीं है, इसलिए शरीरका नष्ट होना तेरा नष्ट होना नहीं है।")

(६) क़यामतमें पुनरुज्जीवन—जो मनुष्य दुनियामें मरते हैं, वह क़यामत (=अन्तिम न्याय)के दिन फरिश्ता इस्राफीलके नर्रासगे (=सूर)के बजते ही उठ खड़े होंगे। इस तरहके पुनरुज्जीवनको इस्लाम भी दूसरे सामीय (यहूदी, ईसाई) धर्मोंकी भाँति मानता है। बद्दुओंमें भी कुछ वस्तुवादी थे, जो इसे ख़ामख्वाकी कवाहत समझते थे, जैसा कि बद्दू कवि अल्-हाद अपनी स्त्रीको सुनाकर कहता है—

"अमोतो सुम्म वअ़्स सुम्म नश्रा। हदीसे ख़ुराफात या उम्-अमरू"

(मरना फिर जीना फिर चलना-फिरना। अमरू की माँ! यह तो ख़ुराफातकी बातें हैं।) गज़ाली इस बातको अपने और दार्शनिकोंके बीचके तीन बड़े मतभेदोंमें मानता है। दार्शनिक सिर्फ जीवको अमर मानते हैं,

शरीरको वह नश्वर समझते हैं। इस्लाममें क़यामतमें मुर्दोंके जिन्दा उठ खड़े होनेको लेकर दो तरहके मत थे—(१) एक तो अब्दुल्ला बिन्-अब्बास जैसे लोगोंका जो कि क़यामतके बाद मिलनेवाली सारी चीजोंको आजकी दुनियाकी चीजोंसे सिर्फ नामगात्रकी समानता मानते थे—शराब होगी किन्तु उसमें नशा न होगी, आहार होगा किन्तु पेशाब-पाखाना नहीं होगा। इसी तरह शरीर मिलेगा किन्तु यही शरीर नहीं। (२) दूसरा गिरोह अश्-अरियोंका था, जो कि क़यामतवाले जिस्म क्या सभी चीजोंको इसी दुनियाकी तथा बिलकुल ऐसी ही मानते थे। इनके अलावा तीसरा गिरोह बाहरी विचारों और दर्शनसे प्रभावित सूफी लोगोंका था जो कहते थे—

"हूर-ो ख़ुल्द-ो कौसर् ए, वाअ़ज़ अगर ख़ुश्कर्दं ई।
बज़्मे मा-हम् शाहिद-ो नक़्ल-ो शराबे बेश् नेस्त॥"

(धर्मवक्ता! अप्सरा, बाग और नहर यदि स्वर्गमें हमें खुश करनेके लिए हैं, तो वह हमारी आमोदमंडली और शराबसे बेहतर तो नहीं है।)

गज़ाली तीसरे पथके पथिक होते हुए भी पहिले दो गिरोहोंको अपने साथ रखना चाहते थे—

"बहारे-आलमे-हुस्न-श् दिल-ो जाँ ताज़ मी-दारद्।
ब-रंग स्हाबे-सूरतरा ब-बू अर्बाबे-मानी-रा॥"

(उस प्रियतमके सौंदर्यकी दुनियाकी बहार अपने रंगसे सूरतके प्रेमियोंके और सुगंधसे भावके प्रेमियोंके दिलो-जानको ताजा रखती है।)

खैर! यह तो बहिश्तमें मिलनेवाली दूसरी चीजोंकी बात कही। सवाल फिर भी वहीं मौजूद है—क़यामतमें जिन्दा हो उठेको वही पुराना छोड़ा शरीर मिलेगा या दूसरा? अश्-अरियोंका कहना था—बिलकुल वही शरीर और वैसी ही आकृति (सूरत)। इसपर प्रश्न होता था—जो चीज नष्ट हो गई उसका फिर लौटकर अस्तित्वमें आना असंभव है। और फिर मान लो एक आदमी दूसरे आदमीको मारकर खा गया, और एकके शरीर-परमाणु दूसरेके शरीर-परमाणु बन गए तो हत्यारेका शरीर क़यामतमें यदि ठीक वही हो जो कि दुनियामें था, तो मारे गए

व्यक्तिका शरीर बिलकुल वैसा ही नही हो सकता।

ग़ज़ालीका मत है, कि कयामतमें मुर्दे जिन्दा हो उठेंगे, यह ठीक है, शरीर बिलकुल वही पुराना होगा यह जरूरी नहीं।

(७) सूफ़ीवाद—ग़ज़ालीका लड़खड़ाता पैर सूफीवादके सहारे सँभल गया, इसके बारेमें पहिले भी कहा जा चुका है, और उसके समकालीन किसी महाविद्वानकी गवाही चाहते हों तो अबुल्-वलीद तर्तूशीके शब्द सुनिए—

"मैंने ग़ज़ालीको देखा। निश्चय, वह अत्यन्त प्रतिभाशाली, पंडित, शास्त्रज्ञ है। बहुत समय तक वह अध्ययन-अध्यापनमें लगा रहा; किन्तु अन्तमें सब छोड़-छाड़कर सूफियोंमें जा मिला, और दार्शनिकोंके विचारों तथा मन्सूर-हल्लाज (सूफी)के रहस्य (वचनों)को मजहबमें मिला दिया। फक़ीहों (=इस्लामिक मीमांसकों) तथा वाद-शास्त्रियों (=मुतकल्लमीन्) को उसने बुरा कहना शुरू किया, और मजहबको मीमांसे निकलनेवाला ही था। उसने "अह्याउल्-उलूम्" लिखा, तो चूँकि .... पूरी जानकारी नहीं थी इसलिए मुँहके बल गिरा, और सारी किताबमें निर्बल प्रमाणवाली (मौज़ूअ) पैगंबर-वचनों(-परंपरा)को उद्धृत किया।"

तर्तूशी केवार रटन्त् पीर थे, इसलिए वह ग़ज़ालीकी दूरदर्शिता, और विचार-गांभीर्यको क्यों समझने लगे, उन्होंने तो इतना ही देखा, कि वह उनके जैसे फकीहों और मुतकल्लमीनों (=मल्लटों)के हलवे-माडेपर भारी हमला कर रहा है।

सूफीवादपर ग़ज़ालीकी कितनी आस्था थी, इसका पता उनके इन शब्दोंसे मालूम[1] होता है—

"जिसने तसव्वुफ (=सूफीवाद)का मज़ा नहीं चखा है, वह पैगंबरी क्या है, इसे नहीं जान सकता, पैगंबरीका नाम भले ही जान ले।.... सूफियोंके तरीकेके अभ्याससे मुझको पैगंबरीकी असलियत और विशेषता प्रत्यक्षकी तरह मालूम हो गई।"

---

[1] **"मुनक़्क़ज़् मिन'ल्-ज़लाल"**।

ग़ज़ालीके पहिले हीसे इस्लाममें भीतर-भीतर सूफी-मत फैल चुका था, यह हम बतला चुके हैं किन्तु ग़ज़ालीने ही उसको एक सुव्यवस्थित शास्त्रका रूप दिया। ग़ज़ालीके पहिले सूफीवादपर दो पुस्तकें लिखी जा चुकी थीं—

(१) "क़ूवतु'ल्-क़ुलूब" अबूतालिब मक्की।

(२) "रिसाला क़ेसरिया" इमाम क़ेसरी।

पहिले कुछ लोग कर्म-योग (शौच-संतोष आदि)पर जोर देते थे, और कितने ही समाधि-योग (=मुकाशफा)पर। ग़ज़ाली पहिले शख़्स थे जिन्होंने दोनोंको बड़ी ख़ूबीके साथ मिलाया, जैसे कि इतिहासका दार्शनिक इब्न-खल्दून कहता है[1]—

"ग़ज़ालीने **अह्याउल्-उलूम्**में दोनों तरीक़ोंको इकट्ठा कर दिया.... जिसका परिणाम यह हुआ कि सूफीवाद (=तसव्वुफ) भी एक बाक़ायदा शास्त्र बन गया, जो कि पहिले उपासनाका ढंग मात्र था।"

सूफियोंका "अहं ब्रह्मवाद" (अन'ल्-हक़) शंकरके ब्रह्मवाद जैसा है। सूफी बहस नहीं करना चाहते, वह जानते हैं, बुद्धिको वह दर्शनसे कुंठित नहीं कर सकते, इसीलिए रहस्यवादकी शरण लेते हैं।[2]

"ज़ौक़-ईं बादा न दानी ब-ख़ुदा ता न चशी।"

(ख़ुदाकी क़सम! जब तक नहीं पीता, तब तक वह इस प्यालेका स्वाद नहीं जान सकता।)

ग़ज़ालीका सूफीवाद क्या था, इसे हम पहिले सूफीवादके प्रकरणमें दे आए हैं, इसलिए यहाँ दुहरानेकी ज़रूरत नहीं।

(८) पैगंबरवाद—दार्शनिकोंका इस्लाम और सभी सामीय धर्मोंपर एक यह भी आक्षेप था, कि वह इस तरहकी भोली-भाली बातोंपर विश्वास करते हैं—ख़ुदा अपनी ओरसे खास तरहके आदमियों (=पैगंबरों) को तथा उनके पास अपनी शिक्षा-पुस्तक भेजता है। ग़ज़ाली पैगंबरीको ठीक साबित करते हुए कहते हैं—[1]

---

[1] "मुक़द्दमये-तारीख़"। [2] "मुनक़्क़ज़ मिन'ल्-ज़लाल"।

"आदमी जन्मते बिलकुल अज्ञ पैदा होता है। पैदा होते वक्त वह....किसी चीजसे परिचित नहीं होता। सबसे पहिले उसे स्पर्शका ज्ञान होता है, जिसके द्वारा वह उन चीजोंसे परिचय प्राप्त करता है, जो कि छूनेसे संबंध रखती हैं, फिर गर्मी-सर्दी, खुश्की-नमी, नर्मी-सख्तीको।....फिर देखनेकी शक्ति...फिर सुनने ...चखनेकी शक्ति....। इस तरह इन्द्रियाँ (तैयार हो जाती हैं)... । फिर नया युग शुरू होता है। अब उसे विवेककी शक्ति प्राप्त होती है, और वह उन चीजोंकी जानकारी प्राप्त करता है, जो इन्द्रियोंकी पहुँचसे बाहर हैं। यह युग सातवें वर्षसे शुरू होता है। उससे बढ़नेपर बुद्धि (=अक्ल)का युग आता है, जिसमें संभव-असंभव, उचित-अनुचितका ज्ञान होता है। इससे बढ़कर एक और दर्जा है, जो बुद्धिकी सीमासे भी आगे है; जिस तरह विवेक और बुद्धिके ज्ञेयों (=विषयों)की जानकारीके लिए इन्द्रियाँ बिलकुल बेकार हैं, उसी तरह इस दर्जेके ज्ञेयों (=विषयों)के लिए बुद्धि बिलकुल बेकार है। इसी दर्जेका नाम पैगंबरी (=नबूवत्) है।"

पैगंबर और उसके पास खुदाकी ओरसे भेजे संदेश (=वही)के बारेमें गज़ालीका कहना है[1]—

"मनुष्योंमें कोई इतना जड़बुद्धि होता है कि समझानेपर भी बहुत मुश्किलसे समझता है। कोई इतना तीक्ष्णबुद्धि होता है कि ज़रासे इशारेसे समझ जाता है। कोई इतना पूर्ण (प्रतिभा रखनेवाला) है, कि बिना सिखाए सारी बातें उसके मनमें पैदा होती हैं।....वंदनीय पैगंबरोंकी यही उपमा है, क्योंकि बिना किसीसे सीखे-सुने उनके मनमें सूक्ष्म बातें स्वयं खुल जाती हैं। इसीका नाम इल्हाम (=ईश्वर-संदेशका पाना) है, और श्री हजरत (मुहम्मद)ने जो यह फर्माया कि पवित्रात्माने मेरे दिलमें यह फूँका, उसका यही अभिप्राय है।"

पैगंबरीके लिए करामात (=चमत्कार)को प्रमाण माना जाता है, और

---

[1] "अह्याउ'ल्-उलूम्"।

करामातको ठीक सिद्ध करनेके लिए ग़ज़ालीकी क्या दलील है यह कार्य-कारणवादके प्रकरणमें बतलाया जा चुका है।

(९) क़ुरानकी लाक्षणिक व्याख्या—मोतज़ला और पवित्र-संघ (=अख़वानुस्सफ़ा) के वर्णनमें बतलाया जा चुका है, कि वह क़ुरानके कितने ही वाक्योंका शब्दार्थ छोड़ लाक्षणिक अर्थ ले अपने मतकी पुष्टि करते थे। इमाम अहमद बिन्-हंबल लाक्षणिक अर्थका सबसे जबरदस्त दुश्मन था। वह समझता था, कि यदि इस तरह लाक्षणिक अर्थ करनेकी आजादी दी जायेगी, तो अरबी इस्लामको सिर्फ़ क़ुरानके लफ़्ज़ोंको लेकर चाटना पड़ेगा लेकिन निम्नोक्त पैगंबर-वाक्यों (=हदीसों) में उसे भी मुख्यार्थकी जगह लाक्षणिक अर्थ स्वीकार करना पड़ा—

"(काबाका) कृष्ण-पाषाण (=संग-असवद्) ख़ुदाका हाथ है।" "मुसलमानोंका दिल ख़ुदाकी अँगुलियोंमें है।" "मुझको यमनसे ख़ुदाकी ख़ुश्बू आती है।"

सूफ़ियोंका तो लाक्षणिक अर्थके बिना काम ही नहीं चल सकता, और ग़ज़ाली किस तरह बहिश्तके बाग़ों-हूरों-शराबोंका लाक्षणिक अर्थ करते हैं, इसका वर्णन किया जा चुका है।

(१०) धर्ममें अधिकारिभेद—हर एक सूफ़ीके लिए मुल्लोंकी चोट-से बचनेके लिए बाहरसे शरीअतकी पाबन्दीकी भी जरूरत है, साथ ही तसव्वुफ़ (= सूफ़ीवाद) के प्रति सच्चा-ईमान रखनेसे उस बहुतसी शरीअत-की पाबन्दियों और विचारोंका भीतरसे विरोध करना पड़ता है। इस "भीतर कुछ बाहर कुछ" से चालाक लोगोंके मनमें सन्देह हो सकता है, इसलिए अधिकारि-भेदके सिद्धान्तकी कल्पना की गई। इसका कुछ जिक्र साधारण और असाधारण लोगके तौरपर 'क़यामतमें पुनरुज्जीवन' के प्रकरणमें आ चुका है। इस अधिकारिभेदवाले सिद्धान्तकी पुष्टिमें पैगंबरके दामाद तथा चौथे ख़लीफ़ा (शीओंके सर्वस्व) अलीका वचन उद्धृत किया जाता है[1]—

---

[1] "सहीह-बुख़ारी"।

"जो बात लोगोंकी अक़लमें आए वह उनसे बयान करो, और जो न आए उसे छोड़ दो।"

ग़ज़ालीने वैसे तो बातनी शीओंके विरुद्ध कई पुस्तकें लिखी थीं, मगर जहाँ तक अलीके इस वचनका संबंध है, वह उनसे बिलकुल सहमत थे। यहाँ अपने विरोधियोंको फटकारते हुए वह कहते हैं—

"विद्याओंके गुप्त और प्रकट दो भेद होनेसे कोई समझदार आदमी इन्कार नहीं कर सकता। इसमें सिर्फ वही लोग इन्कार करते हैं जिन्होंने बचपनमें कुछ बातें सीखीं और फिर उसीपर जम गए।"[1]

अपने मतलबको और स्पष्ट करते हुए ग़ज़ाली दूसरी जगह लिखते हैं—

"खुदाने (कुरानमें) कहा है—'बुला, अपने भगवान्के पथकी ओर हिकमत (=युक्ति) और सुन्दर उपदेशके द्वारा और ठीक तरह बहस कर।'[2] जानना चाहिए कि हिकमत (=युक्ति)के द्वारा जो लोग बुलाए जाते हैं वह और हैं; और जो नसीहत और बहसके जरिएसे बुलाए जाते हैं वह और। यदि हिकमत (=दर्शन) उन लोगोंके लिए इस्तेमाल की जाय जो कि नसीहतके अधिकारी हैं, तो उनको नुकसान होगा—जिस तरह दुधमुँहे बच्चेको चिड़ियाका गोश्त खाना नुकसान करता है। और नसीहतको यदि उन लोगोंके लिए इस्तेमाल किया जाये जो कि हिकमत (=दर्शन)के अधिकारी हैं, तो उनको घृणा होगी—जैसे कि बलिष्ठ आदमीको औरतका दूध पिलाया जाय। और नसीहत यदि पसंद लगनेवाले ढंगसे न की जाय, तो उसकी मिसाल होगी सिर्फ खजूर खानेकी आदतवाले बद्दूको गेहूँका आटा खिलाना।...."

(११) बुद्धि (=दर्शन) और धर्मका समन्वय—हम ग़ज़ालीकी जीवनीमें भी देख चुके हैं, किस तरह बगदाद पहुँचनेपर उनके हृदयमें

---

[1] "अह्याउल्-उलूम्"। [3] "क़स्तास् मुस्तक़ीम्"।

[2] "अद्ऊ इला-सबीले रब्बि-क बि'ल्-हिक्मते, व'ल्-मोअ़ज़ति'ल्-हस्नते व जादल्-हुम् बि'ल्-लती हिया अह्-सनो"।

धर्म (=मजहब) और बुद्धिका झगड़ा खड़ा हुआ, और तर्तूशीके शब्दोंमें वह "मजहबसे निकलनेवाला ही था।" किन्तु उन्होंने अपने भीतर बुद्धि और धर्ममें समन्वय (=समझौता) करनेमें सफलता पाई, उनके सूफीवाद, अधिकारिभेदवाद, लाक्षणिकव्याख्यावाद, इसी तरफ किये हुए प्रयत्न हैं। ग़ज़ालीका यह प्रयत्न खतरेसे ख़ाली न था, इसका उदाहरण तो संजरके सामने उसकी तलबीके बयानमें देख चुके हैं। ग़ज़ालीके जीवनहीमें उनकी कीर्ति इस्लामिक जगत्में दूर दूरतक फैल गई थी। किस तरह उनके शिष्य मुहम्मद (इब्न-अब्दुल्लाह) तोमरतने स्पेन-मराकोके मुसलमानोंमें "ग़ज़ाली संप्रदाय" फैलाने तथा एक नये मोहिदीन राजवंशकी स्थापनामें सफलता पाई, इसे हम आगे बतलानेवाले हैं; किन्तु तोमरतकी सफलताके पहिले ग़ज़ालीके जीवनहीमें ५०० हिजरी (११०७ ई०) में ऐसा मौका आया, जब कि स्पेनमें खलीफा अली (इब्न-यूसुफ) बिन्-वाशकीनके हुक्मसे मरियामें ग़ज़ालीकी पुस्तकों—खासकर "अह्याउल्-उलूम्"—को बड़े मजमेके सामने जलाया गया।

विरोधको देखते हुए भी ग़ज़ालीने तै कर लिया था, कि बुद्धि और धर्मके झगड़ेमें उनकी क्या स्थिति होनी चाहिए—

"कुछ लोगोंका ख्याल है, कि बौद्धिक विद्याओं तथा धार्मिक विद्याओं में (अटल) विरोध है, और दोनोंका मेल कराना असंभव है; किन्तु यह विचार कमसमझीके कारण पैदा होता है।"[1]

"जो आदमी बुद्धिको तिलांजलि दे सिर्फ (अंध-)अनुगमनकी ओर लोगोंको बुलाता है, वह मूर्ख (=जाहिल) है, और जो आदमी केवल बुद्धि-पर भरोसा करके कुरान और हदीस (=पैगंबर-वचन)की पर्वा नहीं करता वह घमंडी है। खबरदार! तुम इनमें एक पक्षके न बनना। तुमको दोनोंका समन्वय (=जामेअ) होना चाहिए, क्योंकि बौद्धिक विद्याएं आहारकी तरह हैं, और धार्मिक विद्याएं दवाकी तरह।"[2]

---

[1] "अह्याउल्-उलूम्"। [2] वही।

बौद्धिक विद्याओंके प्रति उनके यही विचार थे, जिन्होंने ग़ज़ालीको यह लिखनेके लिए मजबूर किया कि दर्शनके अंधशत्रु इस्लामके नादान दोस्त हैं—

"बहुत से लोग इस्लामकी हिमायतका अर्थ यह समझते हैं कि दर्शन-के सभी सिद्धान्तोंको धर्मके विरुद्ध साबित किया जाये। लेकिन चूँकि दर्शनके बहुतसे सिद्धान्त ऐसे हैं, जो पक्के प्रमाणोंसे सिद्ध हैं, इसलिए जो आदमी उन प्रमाणोंसे अभिज्ञ है, वह उन सिद्धान्तोंको पक्का समझता है। इसके साथ जब उसे यह विश्वास दिलाया जाता है, कि ये सिद्धान्त इस्लामके विरुद्ध हैं, तो उन सिद्धान्तोंमें सन्देह होनेकी जगह, उसे खुद इस्लाममें सन्देह पैदा हो जाता है। इसके कारण इन नादान दोस्तोंसे इस्लामको सख्त नुकसान पहुँचता है।"

ग़ज़ालीके ये विचार सनातनी विचारोंके मुसल्मानों तथा उनको हर वक्त भड़कानेके लिए तैयार मुल्लोंको अपना विरोधी बनानेवाले थे, इसे फिरसे कहनेकी जरूरत नहीं। तो भी ग़ज़ालीका प्रयत्न सफल हुआ, इसे उनके विरोधी इब्न-तैमियाके ये शब्द बतला रहे हैं—

"मुसल्मान और आँखवाले (मुल्ले?) लोग तर्क (—शास्त्रियों)के ढंगको समझते आते थे। इस (तर्क)के प्रयोगका रवाज अबू-हामिद (ग़ज़ाली)के समयसे हुआ, उसने यूनानी तर्क शास्त्रके मन्तव्योंको अपनी पुस्तक—मुस्तस्फी—में मिला लिया।"[1]

५—सामाजिक विचार

हो नहीं सकता था, कि ग़ज़ालीके जैसा उर्वर मस्तिष्क अपने विचारोंको दर्शन और धर्म तक ही सीमित रखता। यहाँ उसके समाज-संबंधी विचारोंपर भी कुछ प्रकाश डालना चाहते हैं।

(१) **राजतंत्र-संबंधी**—ग़ज़ालीने इस्लामी साहित्यमें कबीलोंके भीतरकी सादगी, भाईचारा आदिके बहुतसे उदाहरण पढ़े थे, जब वह उनसे

---

[1] "अर्-रद्द अल'ल्-मन्तिक़"।

अपने समकालीन राजाओंके आचरणसे मिलाते थे तो उनके दिलमें असन्तोषकी आग भड़के बिना नहीं रह सकती थी। इसीलिए ग़ज़ालीने अपने समयके राजतंत्रपर कितनी ही बार चोटें की हैं। जैसे—

"हमारे समयमें सुल्तानोंकी जितनी आमदनी है, कुल या बहुत अधिक हराम है, और क्यों हराम न हो? हलाल आमदनी तो ज़कात (=ऐच्छिक कर) और लड़ाई-लूट (=ग़नीमतके माल)का पाँचवाँ हिस्सा (यही दो) है। सो इन चीजोंका इस समयमें कोई अस्तित्व नहीं। सिर्फ जज़िया (अनिवार्य कर) रह गया है, जिसे ऐसे ज़ालिमाना ढंगसे वसूल किया जाता है, कि वह उचित और हलाल नहीं रहता।"[1]

ग़ज़ालीने सुल्तानके पास न जानेकी शपथ ली थी, जिसे यद्यपि संजरकी जबर्दस्तीके सामने झुककर एक बार तोड़नेकी नौबत आई, तो भी ग़ज़ाली इन सुल्तानोंसे सहयोग न रखनेको अपने ही तक सीमित न कर दूसरोंको भी वैसा ही करनेकी शिक्षा देते थे[2]—

"आदमीको सुल्तानोंके दरबारमें पग-पगपर गुनाह (=पाप) करना पड़ता है। पहिली ही बात यह है, कि शाही मकान बिलकुल जबर्दस्तीके जरिए बने होते हैं, और ऐसी भूमिपर पैर रखना पाप है। दरबारमें पहुँचकर सिर झुकाना, हाथको बोसा (=चुम्बन) देना, और ज़ालिमका सम्मान करना पाप है। दरबारमें जरदोज़ीके पर्दे, रेशमी लिबास, सोनेके बर्तन आदि जितनी चीजें आती हैं सभी हराम हैं और इनको देखकर चुप रहना पाप है। आख़िरमें बादशाहके तन-धनकी कुशल-क्षेमके लिए दुआ माँगनी पड़ती है, और यह पाप है।"

इसीलिए ग़ज़ालीकी सलाह है—

"आदमी इन सुल्तानों (=राजाओं)से इस तरह अलग-अलग रहे कि कभी उनका सामना न होने पाये। यही करना उचित है, क्योंकि इसीमें मंगल है। आदमीको यह विश्वास रखना फर्ज है, कि इन (=सुल्तानों)के

---

[1] "अह्याउल्-उलूम्"। [2] वही।

अत्याचारके प्रति द्वेष रक्खे। आदमीको चाहिए कि न वह उनकी कृपाका इच्छुक हो, और न उनकी प्रशंसा करे, न उनका हाल-चाल पूछे और न उनके संबंधियोंसे मेल-जोल रखे।"[1]

एक जगह ग़ज़ालीके निष्क्रिय असहयोगने चन्द शर्तोंके साथ कुछ सक्रियताका रूप भी लेना चाहा है—

"सुल्तानों (=राजाओं)का विरोध करनेसे यदि देशमें फसाद (=खून-खराबी) होनेका डर हो, तो (वैसा करना) अनुचित है। किन्तु अगर सिर्फ अपनी जान-मालका खतरा हो, तो उचित ही नहीं बल्कि वह बहुत ही श्लाघनीय है। पुराने बुज़ुर्ग हमेशा अपनी जानको खतरेमें डालकर स्वतंत्रताका परिचय देते थे, और सुल्तानों तथा अमीरोंको हर समय टोकते रहते थे। इस कामके लिए यदि कोई आदमी जानसे मारा जाता था, उसे सौभाग्यशाली माना जाता था, क्योंकि वह शहीदका दर्जा पाता था।"[2]

यहीं तक नहीं उनके दिलमें यह भी ख्याल काम कर रहा था, कि ऐसे राज्योंको हटाकर एक आदर्श राज्य कायम किया जाये, जिसके शासकमें जहाँ एक ओर बद्दू कबीलेके सरदारकी सादगी तथा भायप हो, वहाँ दूसरी ओर उसमें अफलातूनी प्रजातंत्रके नेता दार्शनिकों अथवा खुद ग़ज़ाली जैसे सूफीके गुण हों। इस विचारको कार्यरूपमें परिणत करनेमें ग़ज़ाली स्वयं तो असमर्थ रहे, किन्तु उनकी सलाहसे उनके शिष्य तोमरतने उसे कार्यरूपमें परिणत किया, यह हम अभी बतलानेवाले हैं।

(२) कर्बालाशाही आदर्श—ग़ज़ाली न व्यवहार-कुशल विचारक थे, न उनकी प्रकृतिमें साहस और जोखिम उठानेकी प्रवृत्ति थी। सुल्तानों-अमीरोंके दर्बारसे वह तंग थे, एक ओर सल्जूकी सुल्तान या बगदादके खलीफाके यहाँ जानेपर झुककर दोहरे शरीरसे सलाम फिर हाथपर चुंबन देना, दूसरी ओर अरबोंका पैगंबर मुहम्मदके आनेपर भी सम्मानार्थ

[1] "अह्याउल्-उलूम्"। [2] "अह्याउल्-उलूम्"।

खड़ा न होना, ग़ज़ालीके दिमागको सोचनेपर मजबूर करता था। शायद ग़ज़ाली स्वयं अमीरज़ादा या शाहज़ादा होते तो दूसरी तरहकी व्याख्या कर लिए होते; किंतु उन्हें अपने बचपनके दिन याद थे, जब कि भर्तृहरि[1]के शब्दोंमें—

"भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमं प्राप्तं न किंचित् फलं,
त्यक्त्वा जातिकुलाभिमानमुचितं सेवा कृता निष्फला।
भुक्तं मानविवर्जितं परगृहे साशंकया काकवत्।"

अनाथ ग़ज़ालीने कितने ही दिन भूखों और कितनी ही जाड़ेकी रातें ठिठुरते हुए बिताई होंगी। दूसरोंके दिए टुकड़ोंको खाते वक्त उन्होंने अच्छी तरह अनुभव किया होगा, कि उनमें कितना तिरस्कार भरा हुआ है। यद्यपि ३४ वर्षकी उम्रमें पहुँचनेपर उन्हें वह सभी साधन सुलभ थे, जिनसे कि वह भी एक अच्छे अमीरकी जिन्दगी बिता सकते थे, किन्तु यहाँ वह उसी तरह मानसिक समझौता करनेमें सफल नहीं हुए जैसे धर्मवाद और बुद्धिवादके झगड़ेमें। उन्होंने पैगंबर और उनके साथियों (सहाबा)के जीवनको पढ़ा था, उनकी सादगी, समानता उन्हें बहुत पसंद आई, और वह उसीको आदर्श मानते थे। उन्हें क्या पता था, प्रकृतिने लाखों सालके विकासके बाद मानवको कबीलेके रूपमें परिणत होनेका अवसर दिया था। अपनी बढ़ती आवश्यकता, संख्या, बुद्धि और जीवन-साधनोंने जमा होकर उसे अगली सीढ़ी सामन्तवादपर जानेके लिए मजबूर किया था। कबीलाशाही प्रभुत्वको हटाकर सामन्तशाही प्रभुत्व स्थापित करनेमें हजारों वर्षों तक जो नर-संहार होता रहा, म्आविया और अली अथवा कर्बलाका झगड़ा भी उसीका एक अंश था, किन्तु बहुत छोटा नगण्यसा अंश। इतने संघर्षके बाद आगे बढ़े इतिहासके पहिएको पीछे हटाना प्रकृतिके लिए कितना असंभव काम था, यह ग़ज़ालीकी समझमें नहीं आ सकते थे, इसीलिए वह असंभवके संभव होनेकी (करनेकी नहीं) लालसा रखता था।

[1] "वैराग्यशतक"।

उनके ग्रंथोंमें जगह-जगह उद्धृत बद्दू समाजकी निम्न घटनाएं ग़ज़ाली-के राजनीतिक आदर्शका परिचय देती हैं—

१. "एक बार अमीर म्वाविया (६६१-८० ई०)ने लोगोंकी वृत्तियाँ बन्द कर दी थीं। इसपर 'अबू-मुस्लिम खौलानीने भरे दरबारमें उठकर कहा—'ऐ म्वाविया ! यह आमदनी तेरी या तेरे बापकी कमाई नहीं है'।"

२. "अबू-मूसाकी रीति थी, कि खुत्बा (=उपदेश)के वक्त खलीफा उमर (६४२-४४ ई०)का नाम लेकर उनके लिए दुआ करते थे।.... ज़ब्बाने ठीक खुत्बा देते वक्त ही खड़े होकर कहा—'तुम अबू-बकरका नाम क्यों नहीं लेते, क्या उमर अबू-बकरसे बड़ा है ?'.... (उमरने इस बातको सुनकर) ज़ब्बाको मदीना बुलवाया। जब्बाने उमरसे पूछा—'तुमको क्या हक था, कि मुझे यहाँ बुलवाते ?'.... फिर उसने (अबू-मूसाकी खुशामद वाली) सब बात ठीक-ठीक बतलाई। उमर रोने लगे, और बोले—'तुम सचपर हो, मुझसे कसूर हुआ, माफ करना'।"

३. "हारून और सफ़ियान सौरीमें बचपनकी दोस्ती थी। जब हारून बगदादमें खलीफा (७८६-८०९ ई०) बना तो सब लोग उसको बधाई देने आए, किन्तु सफ़ियान नहीं आया। हारूनने स्वयं सफ़ियानसे मिलनेकी इच्छा प्रकट की, लेकिन उसने पर्वा न की, अन्तमें हारूनने सफ़ियानको पत्र लिखा—

"मेरे भाई सफ़ियान,.....तुमको मालूम है कि भगवान्ने सभी मुसल्मानोंमें भाईका संबंध कायम किया है। अब भी मेरे और तुम्हारे बीच पहिलेके संबंध वैसे ही हैं, मेरे सारे दोस्त मेरी खिलाफतके लिए बधाई देने मेरे पास आए और मैंने उन्हें बहुमूल्य इनाम दिये। अफसोस है कि, आप अब तक नहीं आए। मैं खुद आता, लेकिन यह खलीफाकी शानके खिलाफ है। कुछ भी हो अब अवश्य तशरीफ लाइये।"

सफ़ियानने पत्रको न पढ़कर फेंक दिया और कहा कि मैं इसे हाथ नहीं लगाना चाहता, जिसे कि ज़ालिम (=राजा)ने छुआ है। फिर उसी पत्रकी पीठपर यह जवाब दूसरेसे लिखवाया—

"बंदा निर्बल सफ़ियानकी ओरसे धनपर लट्टू हारूनके नाम। मैंने पहिले ही तुझे सूचित कर दिया था, कि मेरा तुझसे कोई संबंध नहीं। तूने अपने पत्रमें स्वयं स्वीकार किया है, कि तूने मुसलमानोंके कोषागार (=बैतु'ल्-माल)के रुपयेको ज़रूरतके बिना अनुचित तौरसे खर्च किया। इसपर भी तुझको सन्तोष नहीं हुआ, और चाहता है, कि मैं कयामतमें (=अन्तिम न्यायके दिन) तेरी फजूलखर्चीकी गवाही दूँ। हारून! तुझको कल खुदाके सामने जवाब देनेके लिए तैयार रहना चाहिए। तू तख्तपर (बैठकर) इजलास करता है, रेशमी लिबास पहिनता है। तेरे दर्वाजे-पर चौकी-पहरा रहता है। तेरे अफसर स्वयं शराब पीते हैं, और दूसरोंको शराब पीनेकी सजा देते हैं; खुद व्यभिचार करते हैं, और व्यभिचारियों-पर रोब जारी करते हैं। खुद चोरी करते हैं, और चोरोंका हाथ काटते हैं। पहिले इन अपराधोंके लिए तुझको और तेरे अफसरोंको सजा मिलनी चाहिए, फिर औरोंको।. . . . अब फिर कभी मुझको पत्र न लिखना।"

"यह पत्र जब हारूनके पास पहुँचा, तो वह (आत्मग्लानिके मारे) चीख उठा, और देर तक रोता रहा।"

ग़ज़ाली एक ओर दार्शनिक उड़ानकी आजादी चाहता था, दूसरी ओर कबीलाशाहीकी सादगी और समानता—कहाँ कबीलाशाही और कहाँ ख्यालकी आज़ादी!

(३) इस्लामिक पंथोंका समन्वय—इस्लामके भीतरी सम्प्रदायों-के झगड़ोंको दूर करना ग़ज़ालीके अपने उद्देश्योंमें था। दर्शनमें उनके जबर्दस्त विरोधी रोश्दका कहना है[1]—

"ग़ज़ालीने अपनी किताबोंमें सम्प्रदायोंमेंसे किसी खास सम्प्रदायको नहीं दूषा है। बल्कि (यह कहना चाहिए कि) वह अशअरियोंके साथ अशअरी, सूफियोंके साथ सूफी और दार्शनिकोंके साथ दार्शनिक है।"

ग़ज़ालीके वक्त इस्लाम सिन्ध और काशगरसे लेकर मराको और

---

[1] "फ़स्लु'ल्-मुक़ाला"।

स्पेन तक फैला हुआ था, इस विस्तृत भूखंडपर इस्लामसे भिन्न धर्म खतम हो गए थे, या उनमें इस्लामसे आँख मिलानेकी शक्ति नहीं रह गई थी। किन्तु खुद इस्लामके भीतर बीसियों सम्प्रदाय पैदा हो गए थे। इनमें सबसे ज़्यादा जोर तीन फिर्कोंका था—अशूअरी, हंबली और बातनी (=शीआ)। इन सम्प्रदायोंका प्रभाव सिर्फ धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित न था, बल्कि उन्होंने शासनपर अपना अधिकार जमाया था। स्पेनमें हंबली सम्प्रदायके हाथमें धार्मिक राजनीतिक शक्ति थी। बातनी (=शीआ) मिश्रपर अधिकार जमाए हुए थे। खुरासान (पूर्वी ईरान)से इराक तक अश्अरियोंका बोलबाला था। बातनी चूँकि शीआ थे, इसलिए उनके विरुद्ध अली-म्वावियाके समयसे सुलगाई आग अब भी यदि धाँय-धाँय कर रही थी, तो कोई आश्चर्य नहीं; किन्तु ताज्जुब तो यह था, कि अश्अरी और हंबली दोनों सुन्नी होनेपर भी एक दूसरेके खूनके प्यासे रहते थे। शरीफ़ अबुल्-क़ासिम (४७५ हिजरी या १०८२ ई०) बहुत बड़ा उपदेशक था। महामंत्री निजामुल्मुल्कने उसे बड़े सम्मानके साथ निजामिया (बगदाद)का धर्मोपदेष्टा बनाया था। वह मस्जिदके मेंबर (=धर्मासन) से खुले आम कहता था कि हंबली काफिर हैं। इतनेहीसे उसे सन्तोष नहीं हुआ, बल्कि उसने महाजजके घरपर जाकर ऐसी ही बातें कीं, जिसपर भारी मारकाट मच गई। अल्प अर्सलन् सल्जूकी (१०६२-७२ ई०)-के शासनकालमें शीओं और अश्अरियोंपर मुद्दतों मस्जिदके धर्मासनसे लानत (धिक्कार) पढ़ी जाती थी। निज़ामुल्-मुल्क जब महामंत्री हुआ तो उसने अश्अरियोंपर पढ़ी जानेवाली लानतको तो बंद कर दिया, किन्तु शीआ बेचारोंकी वही हालत रही। अबू-इस्हाक शीराज़ी बगदादकी विद्वन्मंडलीके सरताज थे, और वह भी हंबलियोंको बुरा-भला कहना अपना फर्ज समझते थे, इसकी ही वजहसे एक बार बगदादमें भारी मारकाट मच गई थी।

जहाँ जिस सम्प्रदायका जोर था, वहाँ दूसरेको "दशननमें जीभ बेचारी" बनकर रहना पड़ता था। इब्न-असीर मोतजला-सम्प्रदायका प्रधान नेता

और भारी विद्वान् था, उसकी मृत्यु ४७८ हिजरी (१०८५ ई०)में हुई। अपने सम्प्रदाय-विरोधियोंके डरके मारे पूरे पचास साल तक वह घरसे बाहर नहीं निकल सका था। इन झगड़ों, खून-खराबियोंकी जड़को बुरा कहते हुए ग़ज़ाली लिखते हैं—

"(धार्मिक) विद्वान् बहुत सख्त हठधर्मी दिखलाते हैं, और अपने विरोधियोंको घृणा और बेइज्जतीकी नजरसे देखते हैं। यदि यह लोग विरोधियोंके सामने नर्मी, मुलायमियत और प्रेमके साथ काम लेते, और हितैषीके तौरपर एकान्तमें उन्हें समझाते, तो (ज़्यादा) सफल होते। लेकिन चूँकि अपनी शान-शौकत (जमाने)के लिए जमातकी ज़रूरत है, जमात बाँधनेके लिए मजहबी जोश दिखलाना तथा अपने सम्प्रदाय-विरोधियोंको गाली देना ज़रूरी है, इसलिए विद्वानोंने हठधर्मीको अपना हथियार बनाया है, और इसका ही नाम धर्म-प्रेम तथा इस्लाम-विरोध-परिहार रखा है; हालाँकि यह वस्तुतः लोगोंको तबाह करना है।"[1]

पैगंबर मुहम्मदके मुँहसे कभी निकला था—"मेरे मजहबमें ७३ फिर्के (=सम्प्रदाय) हो जायेंगे, जिनमेंसे एक स्वर्गगामी होगा, बाकी सभी नरक-गामी।" इस हदीस (=पैगंबर-वाक्य)को लेकर भी हर सम्प्रदाय अपनेको स्वर्गगामी और दूसरोंको नरक-गामी कहकर कटुता पैदा करता था। ग़ज़ालीने इस्लामके इस भयंकर गृहकलहको हटानेके लिए एक ग्रंथ "तफ़क़ा बैनु'ल्-इस्लाम व'ज़्-ज़न्दक़ा" [इस्लाम और जिन्दीकों (नास्तिकों)का भेद] लिखा है; जिसमें वह इस हदीसपर अपनी राय इस तरह देते हैं—

"हदीस सही है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वह (बाकी ७२ फिर्के-वाले) लोग काफिर हैं, और सदा नरकमें रहेंगे। बल्कि इसका असली अर्थ यह है, कि वह नरकमें. . . .अपने पापकी मात्राके अनुसार. . . .रहेंगे।"

ग़ज़ालीने अपनी इस पुस्तकमें काफिर (नास्तिक) होनेके सभी लक्षणोंसे इन्कार करके कहा, कि काफिर वही है, जो मुसलमान नहीं है,

---

[1] "अह्याउल्-उलूम्"।

और "वह सारे (आदमी) मुसलमान हैं जो कलमा ('अल्लाहके सिवाय दूसरा ईश्वर नहीं, मुहम्मद अल्लाहका भेजा हुआ है')[१] पढ़नेवाला है, और मुसलमान होनेके नाते सभी भाई-भाई हैं। इन सम्प्रदायोंका जो मतभेद है, उसका मूल इस्लामसे कोई सम्बन्ध नहीं, वह गौण और बाहरी बातें हैं।"

ग़ज़ालीने अपनी इस उदाराशयताको मुसलमानों तकही सीमित नहीं रखा बल्कि उन्होंने लिखा है—

"बल्कि मैं कहता हूँ कि हमारे समयके बहुतसे तुर्क तथा ईसाई रोमन लोग भी भगवान्के कृपापात्र होंगे।"[२]

इस प्रयत्नका फल ग़ज़ालीको अपने जीवनमें ही देखनेको मिला। अश्अरियों और हंबलियोंके झगड़े बहुत कुछ बंद हो गए। बगदादके शीओं और सुन्नियोंमें ५०२ हिजरी (११०८ ई०)में सुलह हो गई, और वह आपसी मार-काट बन्द हो गई, जिससे राजधानीके मुहल्लेके मुहल्ले बर्बाद हो गए थे।

६—ग़ज़ालीके उत्तराधिकारी

अपनी पुस्तकोंकी भाँति ग़ज़ालीके शिष्योंकी भी भारी संख्या थी, जिनमें कितनेही इस्लामके धार्मिक इतिहासमें खास स्थान रखते हैं, पाठकोंके लिए अनावश्यक समझकर हम उनके नामोंकी सूची देना नहीं चाहते। ग़ज़ालीकी शिक्षाका महत्त्व इसीसे समझिए कि मुसलमानोंकी भारी संख्या आज भी उन्हेंही अपना नेता मानती है। हाँ, उनके एक शिष्य तोमरतके बारेमें हम आगे लिखनेवाले हैं, क्योंकि उसने अपने गुरुके धर्म-मिश्रित राजनीतिक स्वप्नको साकार करनेमें कुछ हद तक सफलता पाई।

---

[१] "ला इलाह इल्ल'ल्लाह मुहम्मदुर्न्-रसूलल्लाह"।

[२] "तफ़क़ा बैनु ल्-इस्लाम व'ज़्-ज़िन्दक़ा"।

सप्तम अध्याय

स्पेनके इस्लामी दार्शनिक

§ १—स्पेनकी धार्मिक और सामाजिक अवस्था

१—उमैय्या शासक

जिस वक्त इस्लामिक अरबोंने पूर्वमें अपनी विजय-यात्रा शुरू की थी, उसी समय पश्चिमकी ओर—खासकर पड़ोसी मिश्रपर—भी उनकी नजर जानी जरूर थी। मिश्रके बाद पश्चिमकी ओर आगे बढ़ते हुए वह तूनिस् और मराको (—मराकश) तक पहुँच गए। पैगंबरके देहान्त हुए एक सौ वर्ष भी नहीं हुए थे, जब कि ९२ हिजरी (७०६ ई०) में तारिक (इब्न-जियाद) लेसीने १२ हजार बर्बरी (—मराको-निवासी) सेनाके साथ स्पेनपर हमला किया। स्पेनपर उस वक्त एक गॉथिक वंशका राज्य था, जो दो हजार वर्षसे शासन करता आ रहा था—जिसका अर्थ है, वह समयके अनुसार नया होनेकी क्षमता नहीं रखता था। किसानोंकी अवस्था दयनीय थी, जमींदारोंके जुल्मोंका ठिकाना न था। दासता-प्रथाके कारण लोगोंकी दशा और असह्य हो रही थी—किसानों और दासोंके बच्चे पैदा होते ही जमींदारों और फौजी अफसरोंमें बाँट दिये जाते थे। जनता इस जुल्मसे त्राहि-त्राहि कर रही थी, जब कि तारिककी सेना अफ्रीकाके तटसे चलकर समुद्रके दूसरे तटपर उस पहाड़ीके पास उतरी जिसका नाम पीछे जब्लुल-तारिक (—तारिककी पहाड़ी) पड़ा, और जो बिगड़कर आज जिब्रालटर बन गया है। राजा रोद्रिकने तारिकका सामना करना चाहा,

किन्तु पहिली ही मुठभेड़में उसकी ऐसी हार हुई, कि निराश हो रोद्रिक नदीमें डूब मरा। दूसरे साल अफ़्रीकाके मुसलमान गवर्नर मूसा-बिन्-नसीर-ने स्वयं एक बड़ी फौज लेकर स्पेनपर चढ़ाई की, स्पेनमें किसीकी मजाल नहीं थी, कि इस नई ताकतको रोकता। तो भी मुल्कमें थोड़ी बहुत अशान्ति धर्म और जातिके नामपर कुछ दिनों तक और जारी रही। किन्तु तीन चार सालके बाद प्रायः सारा स्पेन मुसलमानोंके हाथमें आ गया—"जायदादें मालिकोंको वापस की गई, मजहबी स्वतंत्रताकी घोषणा की गई। दूसरी जातियोंको अपने धार्मिक कानूनके अनुसार जातीय मुकदमोंके फैसलेकी इजाजत दी गई।" मूसाका बेटा अब्दुल्-अजीज स्पेनका पहिला गवर्नर बनाया गया।

इसके कुछ ही समय बाद बनी-उमैय्याके शासनपर प्रहार हुआ। उसकी जगह अब्दुल्-अब्बासने अपनी सल्तनत कायम की, और उमैय्या खान्दानके राजकुमारोंको चुन-चुनकर मौतके घाट उतारा। उसी समय (७५० ई०?) एक उमैय्या राजकुमार अब्दुर्रहमान दाखिल भागकर स्पेन आया और उसने स्पेनको उमैय्यावंशके हाथसे जानेसे रोक दिया। अब्दुर्रहमान दमिश्कके सांस्कृतिक वायुमंडलमें पला था, इसलिए उसके शासनमें स्पेनने शिक्षा और संस्कृतिमें काफी उन्नति की; और पश्चिमके इस्लामिक विद्वानोंने पूर्वसे संबंध जोड़ना शुरू किया।

जब तक इस्लाम मराको तक रहा, तब तक अरबोंका संबंध वहाँके बर्बर लोगोंसे था, जो कि स्वयं बद्दूओंसे बेहतर अवस्थामें न थे। किन्तु स्पेनमें पहुँचनेपर वही स्थिति पैदा हुई, जो कि बगदाद जाकर हुई थी। दोनों ही जगह उसे एक पुरानी संस्कृत जातिके संपर्कमें आनेका मौका मिला। बगदादमें अरबोंने ईरानी बीबियोंके साथ ईरानी सभ्यतासे विवाह किया, और स्पेनमें उन्होंने स्पेनिश स्त्रियोंके साथ रोमन-सभ्यताके साथ। इसका परिणाम भी वही होना था, जो कि पूर्वमें हुआ। अभी उस परिणामपर लिखनेसे पहिले ऐतिहासिक भित्तिको जरा और विशद कर देनेकी जरूरत है।

स्पेनपर उमैय्योंका राज्य ढाई सौ सालसे ज्यादा रहा। स्पेनिश उमैय्योंका वैभव-सूर्य तृतीय अब्दुर्रहमान (९१२-६१ ई०)के शासनकालमें मध्याह्नपर पहुँचा था। इसीने पहिले-पहिल खलीफाकी पदवी धारण की थी। उसके बाद उसका पुत्र हकम द्वितीय (९६१-७६ ई०)ने भी पिताके वैभवको कायम रखा। धन और विद्या दोनोंमें अब्दुर्रहमान और हकमका शासनकाल (९१२-७६ ई०) पश्चिमके लिए उसी तरह वैभवशाली था, जिस तरह हारून मामूनका शासनकाल (७८६-८३३ ई०) पूर्वके लिए। हाँ, यह जरूर था कि स्पेनके मुसलमानी समाजमें अपने पूर्वज या अरबवासियों द्वारा शासित समाजकी अपेक्षा विद्यानुरागके पीछे सारा समय बितानेवालोंकी अपेक्षा कमाऊ लोग ज्यादा थे। अब्दुर्रहमान-की प्रजामें ईसाइयोंके अतिरिक्त यहूदियोंकी संख्या भी शहरोंमें पर्याप्त थी। कैसर हदियनने विजन्तीनसे देशनिकाला देकर पाँच लाख यहूदियोंको स्पेनमें बसाया था। ईसाई शासनमें उन्हें दबाकर रखनेकी कोशिश की जाती थी, किन्तु इस्लामिक राज्य कायम होनेपर उनके साथ बेहतर बर्ताव होने लगा, और इन्होंने भी देशकी बौद्धिक और सांस्कृतिक प्रगतिमें भाग लेना शुरू किया। स्पेनके यहूदियोंका भी धार्मिक केन्द्र बगदादमें था, जहाँ सर्कार-दर्बारमें भी यहूदी हकीमों और विद्वानोंका कितना मान था, इसका जिक्र पहिले हो चुका है। स्पेनमें पहिलेसे भी रोमन-कैथलिक जैसे धार्मिक संकीर्णताके लिये दुःख्यात सम्प्रदायका जोर था। मुसलमान आए, तो अरब और अर्ध-अरब इतनी अधिक संख्यामें आकर बस गए, कि स्पेनके शहरों और गाँवोंमें अरबी भाषा आम बोल चाल हो गई। ये अरब पूर्वके साम्प्रदायिक मतभेदोंको देखकर नहीं चाहते थे कि वहाँ दूसरे सम्प्रदाय सर उठायें। उन्होंने हंबली सम्प्रदायको स्वीकार किया था, जिसमें कुरानका वही अर्थ उन्हें मंजूर था, जो कि एक साधारण बद्दू समझता है। ईसाइयों और अरबोंकी इस पक्की किलाबंदीमें यदि कोई दरार थी, तो यही यहूदी थे, जिनका संबंध बगदाद जैसे "वायु बहै चौआई" वाले विचार-स्वातंत्र्य-केन्द्रसे था। ये लोग चुपके चुपके दर्शनकी पुस्तकोंको

पढ़ते और प्रचार करते थे। इनके अतिरिक्त कितने ही प्रतिभाशाली मुसलमान भी "निषिद्ध फल" के खानेके लिए पूर्वकी सैर करने लगे। अब्दुर्रहमान बिन्-इस्माइल ऐसे ही लोगोंमें था, जिसने पूर्वकी यात्रा की, और ईरानके साबी विद्वानोंके पास रहकर दर्शनकी शिक्षा ग्रहण की। इसीने लौटकर पहिले-पहिल पवित्र-संघ (अखवानुस्सफ़ा)-ग्रंथावलीका स्पेनमें प्रचार किया। यह ४५८ हिजरी (१०६५ ई०)में मरा था।

२—दर्शनका प्रथम प्रवेश

हकम द्वितीय स्पेनका हारून था। उसे विद्यामें बहुत प्रेम था, और दार्शनिकोंकी वह खास तौरसे बहुत इज्जत करता था। उसे पुस्तकोंके संग्रहका बहुत शौक था। दमिश्क, बगदाद, काहिरा, मर्व, बुखारा तक उसके आदमी पुस्तकोंकी खोजमें छूटे हुए थे। उसके पुस्तकालयमें चार लाख पुस्तकें थीं। इस पुस्तकालयका प्रधान पुस्तकाध्यक्ष अल-हज्जी बयान करता है कि पुस्तकालयकी ग्रंथ सूची ४४ जिल्दों—प्रत्येक जिल्दमें बीस पृष्ठ—में लिखी गई थी। हकमको पुस्तकोंके जमा करनेका ही नहीं पढ़नेका भी बहुत शौक था, पुस्तकालयकी शायद ही कोई पुस्तक हो जिसे उसने एक बार न पढ़ा हो, या जिसपर हकमने अपने हाथसे ग्रंथकारका नाम, मृत्युकाल आदि न लिखा हो; उसका दर्शनकी पुस्तकोंका संग्रह बहुत जबर्दस्त था।

हकमके मरने (९७६ ई०)के बाद उसका बारह सालका नाबालिग बेटा हश्शाम द्वितीय गद्दीपर बैठा, और काजी मंसूर इब्न-अबीआमर उसका वली मुकर्रर हुआ। आमरने हश्शामकी माको अपने काबूमें करके दो सालोंमें पुराने अफसरों और दरबारियोंको हटाकर उनकी जगह अपने आदमियोंको भर दिया। और फिर हश्शामको नाम मात्रका बादशाह बनाते हुए उसने अपने नामके सिक्के जारी किए, खुत्बे (मस्जिदमें शुक्रके उपदेश) अपने नामसे पढ़वाने शुरू किए; देशके लोग और बाहरवाले भी आमरको खलीफा समझने लगे थे। आमरने तलवारसे यह शक्ति

नहीं प्राप्त की, बल्कि यह उसकी चालबाजियोंका पारितोषिक था। इन्हीं चालबाजियोंमें एक यह भी थी कि वह अपनेको मजहबका सबसे जबर्दस्त भक्त जाहिर करता था। "उसने (इसके लिए) आलिमों और फकीहों (=मीमांसकों)का एक जलसा बुलाया। एक छोटेसे भाषणमें उनसे प्रश्न किया कि तुम्हारे ख्यालमें दर्शन और तर्कशास्त्रकी कौन-कौनसी पुस्तकें देशमें फैलकर भोले-भाले मुसलमानोंके ईमानको खराब कर रही हैं। स्पेनके मुसलमान अपनी मजहबी हठधर्मीके लिए मशहूर ही थे, और दर्शनसे उन्हें हमेशा टकराना पड़ता था। इन लोगोंने तुरन्त प्रचारके लिए निषिद्ध पुस्तकोंकी एक लंबी सूची तैयार करके इब्न-अबी-आमरके सामने रखी। आमरने उन्हें विदा कर दर्शनकी पुस्तकोंको जलानेका हुक्म दिया।"[1]

हकमका बहुमूल्य पुस्तकालय बातकी बातमें जलकर राख हो गया; जो पुस्तकें उस वक्त जलनेसे बच गई वह पीछे (१०१३ ई०) बर्बरोंके गृह-युद्धमें जल गई। हकमके शासनमें दार्शनिकोंको बहुत बड़े-बड़े दर्जे मिले थे, यह कहनेकी जरूरत नहीं कि आमरने उन्हें पहिले ही दूधकी मक्खीकी तरह निकाल फेंका। खैरियत यही थी कि आमर यहूदियोंका कत्ल-आम नहीं कर सकता था, जिससे और जबतक वह स्पेन (युरोप)की भूमिपर थे, तबतक दर्शनका उच्छेद नहीं किया जा सकता था।

३–स्पेनिश् यहूदी और दर्शन

दसवी सदीमें स्पेनकी राजधानी कार्दोवा (=कुर्तबा)की आबादी दस लाखसे ज्यादा थी, और पश्चिममें उसका स्थान वही था, जो कि पूर्वमें बगदादका। वहाँ स्पेन और मराकोके ही नहीं युरोपके नाना देशोंके गैर-मुस्लिम विद्यार्थी भी विद्या पढ़ने आया करते थे—यह कहनेकी जरूरत

---

[1] "इब्न-रोश्द" (मुहम्मद यूनस् अन्सारी फिरंगीमहली), पृष्ठ २७से उद्धृत।

नहीं कि इस वक्तकी सभ्य दुनियाके पश्चिमार्द्ध (पश्चिमी एसिया और युरोप)की सांस्कृतिक भाषा अरबी थी, उसी तरह जैसे कि प्रायः सारे पूर्वार्द्ध (भारत, जावा, चम्पा, आदि)की संस्कृत। अरबी और इब्रानी (यहूदियोंकी भाषा) बहुत नजदीककी भाषाएं हैं, इसलिए यहूदियोंको और भी सुभीता था। दर्शनके क्षेत्रमें यहूदियोंका पहिलेसे भी हाथ था, किन्तु जब हकम द्वितीयने अपने समयके प्रसिद्ध दार्शनिक हकीम हस्दा बिन-इस्हाकको अपना कृपा-पात्र बनाया, तबसे उन्होंने दर्शनके झंडेको और आगे बढ़ानेकी जद्दोजहद शुरू की। इब्न-इस्हाकने जब पहिले-पहिल अरस्तूके दर्शनका प्रचार करना शुरू किया, तो यहूदी धर्माचार्योंने फतवा निकालकर मुखालफत करनी चाही, किन्तु वह बेकार गई; और ग्यारहवीं सदी पहुँचते-पहुँचते अरस्तू स्पेनके यहूदियोंका अपना दार्शनिक-सा बन गया।

(१) **इब्न-जिब्रोल** (१०२१-७० ई०)—जिब्रोल माल्ताके एक यहूदी परिवारमें पैदा हुआ था। यह स्पेनका सबसे बड़ा और मशहूर दार्शनिक था। जिब्रोलकी प्रसिद्ध दार्शनिक पुस्तक "यन्बूउ'ल्-हयात" है। इसके दार्शनिक विचार थे—दुनियामें दो परस्पर-विरोधी शक्तियाँ हैं: भूत (मूल प्रकृति या हेवला) और आत्मा (=विज्ञान) या "आकार"। लेकिन यह दो वस्तुएं वस्तुतः एक **परमसामान्य** (परमतत्त्व)के भीतर हैं, जिसे जिब्रोल सामान्यभूत (या सामान्यप्रकृति) कहता है। जिब्रोल-के इस विचारको रोश्दने और विकसित किया है।

(२) **दूसरे यहूदी दार्शनिक**—जिब्रोलके बाद दूसरा बड़ा यहूदी दार्शनिक मूसा बिन-मामून हुआ, जिसका जन्म ११३५ ई०में कार्दोवामें हुआ था। यह एक प्रतिभाशाली विद्वान् था। तोमरतके उत्तराधिकारी अब्दुल्मोमिनने जब स्पेनपर अधिकार करके दर्शनके उत्पादन-क्षेत्र यहूदियोंपर गजब ढाना, तथा देश निकाला देना शुरू किया, तो मूसा मिश्र चला गया, जहाँ मिश्रके सुल्तान सलाहुद्दीनने उसे अपना (राज-)वैद्य बना लिया और वहीं ६०५ हिजरी (१२१२ ई०)में उसकी मृत्यु हुई।

कोई-कोई विद्वान् मूसाको रोश्दका शिष्य कहते हैं।

मूसाके बाद उसका शिष्य तथा दामाद यूसुफ-बिन्-यह्या एक अच्छा दार्शनिक हुआ।

स्पेनिश् यहूदी दर्शनप्रेमियोंकी संख्या घटनेकी जगह बढ़ती ही गई, किन्तु अब रोश्द-सूर्यके उग आनेपर वह टिमटिमाते तारे ही रह सकते थे।

४—मोहिदीन शासक

ग्यारहवीं सदीमें उमैय्या शासक इस अवस्थामें पहुँच गए थे, कि देश-की शक्तिको कायम रखना उनके लिए मुश्किल हो गया। फलतः सल्तनत-में छोटे-छोटे सामन्त स्वतंत्र होने लगे। वह समय नजदीक था, कि पड़ोसी ईसाई शासक स्पेनकी सल्तनतको खतम कर देते, उसी वक्त समुद्रके दूसरे (अफ्रीकी) तटके बर्बरोंने १०१३ ई० में हमला किया और कार्दोवाको जलाया, बर्बाद किया। उसके बाद उन्होंने मराकोमें एक सल्तनत कायम की जिसे ताशफ़ीन (मुलसमीन) कहते हैं। अली (बिन्-यूसुफ) ताशफ़ीन (—११४७ ई०) वंशका अन्तिम बादशाह था, जबकि एक दूसरे राजवंश—मोहिदीन—ने उसकी जगह ली।

(१) मुहम्मद बिन-तोमरत (मृ० ११४७ ई०)—मोहिदीन शासन-का संस्थापक मुहम्मद (इब्न-अब्दुल्लाह) बिन्-तोमरत मराकोके बर्बरी कबीले मस्मूदीमें पैदा हुआ था। उसका दावा था कि हमारा वंश अलीकी सन्तानमेंसे है। देशमें उपलभ्य शिक्षाको समाप्त कर वह पूर्वकी ओर आया और वहाँ जिन विद्वानोंसे उसने शिक्षा ग्रहण की, उनमें ग़ज़ालीका प्रभाव उसपर सबसे ज्यादा पड़ा। ग़ज़ालीके पास वह कई साल रहा, और इस समय इस्लाम और खासकर स्पेनकी इस्लामी सल्तनतकी दुरवस्थापर गुरु-चेलोंमें अकसर चर्चा हुआ करती थी। ग़ज़ाली भी एक धर्म-राजनीतिक सल्तनतका स्वप्न देख रहे थे, और इधर तोमरत भी उसी मर्जका मरीज़ था। इतिहास-दार्शनिक इब्न-खल्दून इस बारेमें लिखता है—

"जैसाकि लोगोंका ख्याल है, वह (तोमरत) ग़ज़ालीसे मिला, और

उससे अपनी योजनाके बारेमें राय ली। ग़ज़ालीने उसका समर्थन किया, क्योंकि वह ऐसा समय था, जबकि इस्लाम सारी दुनियामें निर्बल हो रहा था, और कोई ऐसा सुल्तान न था, जो कि सारे पंथ (मुसलमानों)को संगठित कर उसे कायम रख सके। किन्तु ग़ज़ालीने (अपनी सहमति तब प्रकट की, जब कि उसने, पूछकर जान लिया कि उसके पास उतना साधन और जमात है, जिसकी सहायतासे अपनी शक्ति और रक्षाका प्रबन्ध कर सकता है।"[1]

ग़ज़ालीके आशीर्वादसे उत्साहित हो तोमरत देशको लौटते हुए मिश्रमें पहुँचा। काहिरामें उसके उत्तेजनापूर्ण व्याख्यानोंसे ऐसी अशान्ति फैली, कि हुकूमतने उसे शहरसे निकाल दिया। सिकन्दरियामें चन्द दिनों रहनेके बाद वह तूनिस होता मराको पहुँचा। तोमरत पक्का धर्मान्ध था, उसके सामने जरासी भी कोई बात शरीअतके विरुद्ध होती दिखाई पड़ती, कि वह आपेसे बाहर हो जाता। मराकोके बर्बर कबीलोंमें काफी बद्दुइयत मौजूद थी, इसलिए उनके वास्ते यह आदर्श मुल्ला था, इसमें सन्देह नहीं। थोड़े ही समयमें ग़ज़ालीके शागिर्द, बगदादसे पढ़कर लौटे इस महान् मौलवी-की चारों ओर ख्याति फैल गई। वह बादशाह, अमीर, मुल्ला सबके पीछे लट्ठ लिए पड़ा था; और इसके लिए वहाँ बहुत मसाला मौजूद था। मुल्समीन (ताशकीन) खान्दानमें एक अजब रवाज था, उनकी औरतें खुले मुँह फिरती थीं, किन्तु मर्द मुँहपर पर्दा डालकर चलते थे। व्यभिचार आम था, भले घरोंकी बहू-बेटियोंकी इज्जत फौजके लोगोंके मारे नहीं बचती थी— शहरोंमें यह सब कुछ खुल्लमखुल्ला चल रहा था। शराब खुले आम बिकती थी। मामला बढ़ते देख मुल्समीन सुल्तान अली बिन्-ताशकीनने तोमरत-के साथ शास्त्रार्थ करनेके लिए विद्वानोंकी एक सभा बुलाई। शास्त्रार्थ-में तोमरतकी जीत हुई, बादशाहने उसके विचारोंको स्वीकार किया।[2]

---

[1] इब्न-खल्दून, जिल्द ५, पृष्ठ २२६ [2] स्मरण रहे यही अली बिन्-ताशकीन् था, जिसने ग़ज़ालीकी पुस्तकोंको जलवाया था।

इसपर दर्बारवाले दुश्मन बन गए, और तोमरतको भागकर अम्सामदा नामक बर्बरी कबीलेके पास शरण लेनी पड़ी। यहाँसे उसने अपने मतका प्रचार और अनुयायियोंको सैनिक ढंगपर संगठित करना शुरू (११२१ ई०) किया। इसी समय अब्दुल्मोमिन उसका शागिर्द बना। तोमरत अपने जीवनमें अपने विचारोंके प्रचार तथा लोगोंके संठनमें ही लगा रहा, उसे चंद कबीलोंके संगठनसे ज्यादा सफलता नहीं हुई, किन्तु उसके मरनेके बाद उसका शागिर्द अब्दुल्-मोमिन उसका उत्तराधिकारी हुआ, जिसने ५४२ हिजरी (११४७ ई०)में मराकोपर अधिकार कर मुल्समीनकी सल्तनतको खतम कर दिया।

(२) अब्दुल्-मोमिन (११४७-६३ ई०)—तोमरत अपनेको मोहिद् (अद्वैतवादी) कहता था, इसलिए, उसका संस्थापित शासन मोहिदों (मोहिदीन) का शासन कहा जाने लगा, और अब्दुल्-मोमिन मोहिदीनका पहिला सुल्तान था। अब्दुल्मोमिन कुम्हारका लड़का था, और सिर्फ अपनी योग्यता और हिम्मतसे तोमरतके मिशनको सफल करनेमें समर्थ हुआ था। मराकोमें इस तरह उसने अपना राज्य स्थापित कर तोमरतकी शिक्षाके अनुसार हुकूमत चलानी शुरू की। इसकी खबर उस पार स्पेनमें पहुँची। स्पेनकी सल्तनत टुकड़े-टुकड़ेमें बँटी हुई थी। इन छोटे-छोटे सुल्तानोंकी विलासिता और जुल्मसे लोग तंग थे, उन्होंने स्वयं एक प्रतिनिधि मंडल अब्दुल्मोमिनके पास भेजा। अब्दुल्मोमिनने उसका बहुत स्वागत किया, और आश्वासन देकर लौटाया। थोड़े ही समय बाद अब्दुल्मोमिनने स्पेनपर हमला किया, और स्पेनको भी मराकोकी सल्तनतमें मिला लिया।

तोमरतने अपनेको अशअरी घोषित किया था, इसलिए अब्दुल्मोमिनने भी उसे सरकारी पंथ घोषित किया, लेकिन यह अशअरी पंथ गज़ालीकी शिक्षासे प्रभावित था, इसलिए दर्शनका अंधा दुश्मन नहीं बल्कि बुद्धिकी कदर करता था। यद्यपि उसके शासनके आरम्भिक दिनोंमें सख्तीके कारण कितने ही यहूदियों और उनके दार्शनिकोंको देश छोड़कर भागना पड़ा था, किन्तु आगे अवस्था बदली। हकम द्वितीयके बाद यह पहिला

समय था जब कि दर्शनके साथ हुकूमतने सहानुभूति दिखानी शुरू की। अबूमर्दा बिन-जुह्र और इब्न-तुफैल उस वक्त स्पेनमें दो प्रसिद्ध दार्शनिक थे, अब्दुल्मोमिनने दोनोंको ऊँचे दर्जे दिये। अब्दुल्मोमिन शिक्षाका बड़ा प्रेमी था। अब तक विद्यार्थी मस्जिदोंमें ही पढ़ा करते थे, मोमिनने मद्रसोंके लिए अलग खास तरहकी इमारतें बनवाईं। उसका ख्याल था, कि जो बुराइयाँ इस्लाममें आयेदिन घुस आया करती हैं, उनके दूर करनेका उपाय शिक्षा ही है।

मोमिनके बाद (११६३ ई०) उसका पुत्र मुहम्मद ४८ दिन तक राज कर सका, और नालायक समझ गद्दीसे उतार दिया गया; उसके बाद उसका भाई याकूब मन्सूर (११६३-८४) गद्दीपर बैठा, इसमें मोमिनके बहुतसे गुण थे, कितनी ही कमजोरियाँ भी थीं, जिन्हें हम रोश्दके वर्णनमें बतलायेंगे।

§ २–स्पेनके दार्शनिक

१–इब्न-बाजा[1] (मृ० ११३८ ई०)

(१) **जीवनी**—अबू-बक्र मुहम्मद (इब्न-याहिया इब्न-अल्-सायग) इब्न-बाजाका जन्म स्पेनके सरगोसा नगरमें ग्यारहवीं सदीके अन्तमें उस वक्त हुआ था, जब कि स्पेनिश सल्तनत खतम होकर स्वतंत्र सामन्तोंमें बँटनेवाली थी। स्पेनके उत्तरमें अर्धसभ्य लड़ाकू ईसाई सर्दारोंकी अमलदारियाँ थीं, जिनसे हर वक्त खतरा बना रहता था। देशकी साधारण जनता उसी दयनीय अवस्थामें पहुँच गई थी जो कि तारिकके आने वक्त थी। मुसल्मान दर्शनके कितने प्रेमी थे, यह तो गजालीके ग्रंथोंकी होलीसे हम जान चुके हैं, ऐसी अवस्थामें बाजा जैसे दार्शनिकको एक अजनबी दुनियामें आये जैसा मालूम हो तो कोई ताज्जुब नहीं। बाजाकी कीमतको सरगोसाके गवर्नर अबू-बक्र इब्न-इब्राहीमने समझा, जो स्वयं

[1] Avempace.

दर्शन, तर्कशास्त्र, गणित, ज्योतिषका पंडित था। उसने बाजाको अपना मित्र और मंत्री बनाया, जिसका फल यह हुआ कि मुल्ला (=फकीह) और सैनिक उसके खिलाफ हो गए और वह ज्यादा दिन तक गवर्नर नहीं रह सका।

बाजाके जीवनके बारेमें सिर्फ इतना ही मालूम है कि सरगोसाकी पराजयके बाद १११८ ई०में वह शेविलीमें रहा, जहाँ उसने अपनी कई पुस्तकें लिखी। एक बार उसे अपने विचारोंके लिए जेलकी हवा खानी पड़ी, और रोश्दके बापने उसे छुड़ाया था। वहाँसे वह फेज राजदर्बारमें पहुँचा और वहीं ११३८ ई०में उसका देहान्त हुआ। कहा जाता है कि बाजाके प्रतिद्वंद्वी किसी हकीमने उसे जहर देकर मरवा दिया। अपने छोटेसे जीवनसे बाजा स्वयं ऊबा हुआ था, और अन्तिम शान्तिमें पहुँचनेके लिए वह अकसर मृत्युकी कामना करता था। आर्थिक कठिनाइयाँ तो होंगी ही, सबसे ज्यादा अखरनेवाली बात उसके लिए थी, सहृदय विचारवाले मित्रोंका अभाव और दार्शनिक जीवनके रास्तेमें पग-पगपर उपस्थित होनेवाली कठिनाइयाँ। उस वातावरणमें बाजाको अपना दम घुटता-सा मालूम होता था, और वह फाराबीकी भाँति एकान्त पसन्द करता था।

(२) **कृतियाँ**—बाजाने बहुत कम पुस्तकें लिखी हैं और जो लिखी भी हैं, उन्हें सुव्यवस्थित तौरसे लिखनेकी कोशिश नहीं की। उसने छोटी-छोटी पुस्तकें अरस्तू तथा दूसरे दार्शनिकोंके ग्रंथोंपर संक्षिप्त व्याख्याके तौरपर लिखी हैं। बाजाकी पुस्तकोंमें "तद्बीरु'ल्-मुत्वह्हद्" और "हयातु'ल्-मोतजिल" ज्यादा दिलचस्प इस अर्थमें हैं, कि उनमें बाजाने एक राजनीतिक दृष्टिकोण पेश किया है। रोश्दने इस दृष्टिकोणके बारेमें लिखा है—'इब्न'स्-सायग (बाजा)ने हयातु'ल्-मोतजिलमें एक ऐसा राजनीतिक दृष्टिकोण पेश किया है, जिसका संबंध उन मानव-समुदायोंसे है, जो अत्यन्त शान्तिके साथ जीवन व्यतीत करना चाहते हैं।"[1]

---

[1] "अल्-इत्तिसाल"।

बाजाका विचार है, कि राज्य (हुकूमत)की बुनियाद आचारपर होनी चाहिए। उसके ख्यालसे एक स्वतंत्र प्रजातंत्रमें वैद्यों और जजों (न्यायाधीशों)की श्रेणीका होना बेकार है। जब आदमी सदाचारपूर्ण जीवन बितानेके लिए अभ्यस्त हो जायेंगे, और खाने-पीने तथा आमोद-प्रमोदमें संयम और मितव्ययिताकी बान डाल लेंगे, तो ज़रूर ही वैद्योंकी जरूरत नहीं रह जायगी। इसी तरह जजोंकी श्रेणी इसलिए बेकार है कि ऐसे समाजमें व्यभिचार तथा आचारिक पतनका पता नहीं होगा; फिर मुकदमा कहाँसे आयेगा? और जज लोग फैसला क्या करेंगे?

(३) दार्शनिक विचार—बाजासे एक सदी पहिले जिब्रोल हो चुका था। ग़ज़ाली बाजासे सत्ताईस साल पहिले मरे थे। पूर्वके दूसरे दार्शनिकों खासकर फाराबीका उसपर बहुत ज़्यादा असर था। बाजाकी रायमें दिव्य प्रकाश द्वारा सत्य-साक्षात्कारके पूर्ण लाभ मात्रसे सुखी होनेकी बातसे आनंदित हो ग़ज़ाली वास्तविक तत्त्व तक नहीं पहुँच सका। दार्शनिकको ऐसे आनंदको भी छोड़ना होगा, क्योंकि धार्मिक रहस्यवाद द्वारा जो प्रतिबिंब मानसतलपर प्रकट होते हैं वह सत्यको खोलते नहीं ढाँकते हैं। किसी भी तरहकी आकांक्षासे अकंपित शुद्ध चिन्तन ही महान् ब्रह्मके दर्शनका अधिकारी बनाता है।

(क) प्रकृति-जीव-ईश्वर—बाजाके अनुसार जगत्में दो प्रकारके तत्त्व हैं—(१) एक वह जो कि गतियुक्त होता है; (२) दूसरा जो कि गति-रहित है। जो गतियुक्त है, वह पिंड (=जड़) और परिच्छिन्न (=सीमित) होता है; परिच्छिन्न शरीर होनेके कारण वह स्वयं अपने भीतर सदा होती रहती गतिका कारण नहीं हो सकता। उसकी अनन्त गतिके लिए एक ऐसा कारण चाहिए, जो कि अनन्त शक्ति या नित्य-सार हो, यही ब्रह्म (=नफ़्स) है। पिंड (=शरीर) या प्राकृतिक (जड़) तत्त्व परतः गतियुक्त होता है, ब्रह्म (=नफ़्स) स्वयं अचल रहते, पिंड (जड़ तत्त्व)को गति प्रदान करता है; (३) जीव तत्त्व इन दोनों (जड़, ब्रह्म) तत्त्वोंके बीचकी स्थिति रखता है—उसकी गति स्वतः है। पिंड और

जीवका संबंध एक दूसरेसे कैसे होता है, इस प्रश्नको बाजा महत्त्व नहीं देता, उसके लिए सबसे बड़ी समस्या है—'मानवके अन्दर जीव और ब्रह्म आपसमें कैसा संबंध रखते हैं ?''

(a) **"आकृति"**—अफलातूंकी भाँति बाजा मान लेता है कि जड़ (भूत) तत्त्व बिना "आकृति"के नहीं रह सकता, किन्तु "आकृति" बिना जड़ तत्त्वके भी रह सकती है, क्योंकि ऐसा न माननेपर विश्वके परिवर्तनकी कोई व्याख्या नहीं हो सकती—यह परिवर्तन वास्तविक आकृतियोंके आने और जानेसे ही संभव है। बाजाकी इस बातको समझनेके लिए एक उदाहरण लीजिए—घड़ा आकृति (मुटाई, गोलाई आदि) और भूत तत्त्व (मिट्टी) दोनोंके मिलनेसे बना है। जब मिट्टीसे आकृति नहीं जुड़ी थी, तब वहाँ घड़ा नहीं था। चिरकालसे मिट्टी पड़ी थी, किन्तु घड़ा वहाँ नदारद था, क्योंकि आकृति उसमें आकर नहीं मिली थी। अब आकृति आकर मिट्टीसे मिलती है, मिट्टी घड़ेका रूप धारण करती है। जब यह आकृति मिट्टीको छोड़कर चली जाती है, तो घड़ा नष्ट हो जाता है। पिथागोर, अफलातूं, अरस्तू सभी इस "आकृति" पदार्थपर सबसे ज्यादा जोर देते हैं, और कहते हैं कि वह पिंडसे बिलकुल स्वतंत्र पदार्थ है, और वही जगत्के परिवर्तनका कारण है।

(b) **मानवका आत्मिक विकास**—इन आकृतियोंके कई दर्जे हैं, सबसे निचले दर्जेमें हेवला (सक्रिय-प्रकृति)में पाई जानेवाली आकृतियाँ हैं, और सबसे ऊपर शुद्ध आत्मिक (ब्रह्म) आकृति। मानवका काम है सभी आत्मिक **आकृतियों**का एक दूसरेके साथ साक्षात्कार (बोध) करना—पहिले सभी पिंडमय पदार्थोंकी सभी बुद्धिगम्य आकृतियोंका बोध, फिर बाह्यान्तःकरणों द्वारा उपस्थापित सामग्रीसे जीवका जो स्वरूप प्रतीत होता है, उसका बोध; फिर खुद मानव-विज्ञान[1] और उसके ऊपरके कर्त्ता-विज्ञान

[1] **यूनानी दर्शनका अनुसरण करते इस्लामिक दार्शनिक जीव (=रूह)से विज्ञान (=नफ़स)को अलग मानते हैं।**

आत्माका बोध और अन्तमें ब्रह्माण्ड*के शुद्ध विज्ञानोंका बोध। इस तरह जीवके लिए वांछनीय बोधका विकास क्रम हुआ—

(१) प्राकृतिक-"आकृति"
(२) जीव-"आकृति"
(३) मानव-विज्ञान-"आकृति"
(४) क्रिया-विज्ञान-"आकृति"
(५) ब्रह्माण्ड—विज्ञान (ब्रह्म)-"आकृति"

वैयक्तिक तथा इन्द्रिय-ज्ञेय भौतिक तत्त्व—जो कि विज्ञान (=नफ़्स)-की क्रियाका अधिकरण है—से क्रमशः ऊपर उठते हुए मानव अमानुष दिव्य तत्त्व (ब्रह्म) तक पहुँचता है (मुक्ति प्राप्त करता) है।

(ख) ज्ञान बुद्धि-गम्य—गजालीने ज्ञानसे परे योगि-प्रत्यक्ष (मुका-शफ़ा)को मुक्तिका साधन बतलाया, बाजा "ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः" (ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं) के शब्दार्थका अनुयायी है; इसीलिए दिव्यतत्त्व तक पहुँचने (=मुक्ति)के लिए (रहस्यमय) सूफीवादको नहीं, दर्शनको पथप्रदर्शक मानता है। दर्शन **सामान्य**का ज्ञान है। सामान्य-ज्ञान प्राप्त होता है, विशेष या व्यक्तिके ज्ञानसे चिन्तना—कल्पना—के द्वारा, किन्तु इसमें ऊपरके बोधदायक विज्ञानकी सहायताकी भी जरूरत है। इस सामान्य या अनन्त—जिसमें कि सत्ता ("है") तथा प्रत्यक्ष विषय ("होना") एक हैं—के ज्ञानसे तुलना करनेपर, बाह्य वस्तुओंकी सभी मानस प्रतीतियाँ और चिन्तन भ्रमात्मक हैं। वास्तविक ज्ञान सामान्य ज्ञान है, जो सिर्फ बुद्धि-गम्य है। इससे पता लगा कि इन्द्रिय-गम्य ज्ञानसे सदा लिप्त मजहबी और योगिक स्वप्न (ध्यान) देखनेसे मानव-विज्ञान पूर्णता (मुक्ति)को नहीं प्राप्त हो सकता, उसे पूर्णता तक पहुँचनेका रास्ता एक ही है और वह है बुद्धिगम्य-ज्ञान। चिन्तन सर्वश्रेष्ठ आनन्द है, और उसीके लिए जो कुछ बुद्धिगम्य है, उसे जानना होता है। बुद्धिगम्य ज्ञान केवल **सामान्य**का ज्ञान

---

* आलम्-अफ़लाक् आसमानोंकी दुनिया, फरिश्ते।

है, और वही **सामान्य** वस्तुसत् है, इन्द्रिय-गम्य **व्यक्ति** वस्तु-सत् नहीं है, इसलिए, इस जीवनके बाद व्यक्तिके तौरपर मानव-विज्ञानका रहना संभव नहीं। मानव-विज्ञान तो नहीं, किंतु हो सकता है, मानव-जीव (जो कि व्यक्तिका ज्ञान करता है, और उसके अस्तित्वको अपनी इच्छा और क्रियासे प्रकट करता है) मृत्युके बाद ऐसे वैयक्तिक अस्तित्वको जारी रखने तथा कर्मफल पानेकी क्षमता रखता हो। लेकिन विज्ञान (=नफ़्स) या जीवका बौद्धिक (इन्द्रियक नहीं) अंश सबमें एक है। यह सारी मानवताका **विज्ञान**—अर्थात् वह एक **बुद्धि** मानवताके भीतरका **मन** या विज्ञान ही एक मात्र नित्य सनातन तत्त्व है, और वह विज्ञान भी अपने ऊपरके **कर्त्ता-विज्ञान**के साथ एक होकर।

बाजाके सिद्धान्तको हम फाराबीमें भी अस्पष्टरूपमें पाते हैं, और बाजाके योग्य शिष्य रोश्दने तो उसे इतना साफ किया कि मध्यकालीन युरोपकी दार्शनिक विचारधारा में उसे रोश्दका सिद्धान्त कहा जाता था।

(ग) मुक्ति—विज्ञान (=नफ़्स)के उस चरम विकास—सामान्य-विज्ञानके समागम—को बहुत कम मनुष्य प्राप्त होते हैं। अधिकांश मानव अँधेरेमें ही टटोलते रहते हैं। यह ठीक है, कितनेही आदमी **ज्योति** और वस्तुओंकी रंगीन दुनियाको देखते हैं, किंतु उनकी संख्या बहुत ही कम है, जो कि देखे हुए सारका बोध करते हैं। वही, जिन्हें कि सारका बोध होता है, अनन्त जीवनको पाते तथा स्वयंज्योति बन जाते हैं।

ज्योति बनना या मुक्त होना कैसे होता है, इसके लिए बाजाका मत है—बुद्धि-पूर्वक क्रिया और अपनी बौद्धिक शक्तिका स्वतंत्र विकास ही उसका उपाय है। बुद्धि-क्रिया स्वतंत्र (=बिना मजबूरीकी) क्रिया है; वह ऐसी क्रिया है जिसके पीछे उद्देश्यप्राप्ति या प्रयोजनका ख्याल काम कर रहा है। उदाहरणार्थ, यदि कोई आदमी ठोकर लगनेके कारण उस पत्थरको तोड़ने लगता है, तो वह छोटे बच्चे या पशुकी भाँति उद्देश्य-रहित काम कर रहा है; यदि वह इसी कामको इस ख्यालसे कर रहा है, कि दूसरे उससे ठोकर न खायें, तो उसके कामको मानवोचित तथा बुद्धि-

पूर्वक कहा जायेगा।

(घ) **"एकान्तता-उपाय"**—बाजाकी एक पुस्तकका नाम "तद्-बीरुल्-मुत्वहहद्" या एकान्तताका उपाय है। आत्माकी चरम उन्नतिके लिए वह एकान्तता या एकान्तचिन्तनके जीवनपर सबसे ज़्यादा ज़ोर देता है, फ़ाराबीने इस विचारको अपनी मातृभूमि (मध्य-एसिया)के बौद्ध-विचारोंके ध्वंसावशेषसे लिया था, और बाजाने इसे फाराबीसे लिया—और इस सारे लेन-देनमें बौद्ध दुःख (निराशा)-वाद चला आये तो आश्चर्य ही क्या ? एकान्तताके जीवनके पीछे समाजपर व्यक्तिकी प्रधानताकी छाप स्पष्ट है और इसीलिए बाजा एक ऐसे अ-सामाजिक समाजकी कल्पना करता है, जिसमें वैद्यों और जजों (न्यायाधीशों)की जरूरत नहीं, जिसमें एक दूसरेकी स्वच्छंदतापर प्रहार किए बिना मानव कमसे कम पारस्परिक संपर्क रखते आत्माराम हो विहरें।—"वह पौधोंकी भाँति खुली हवामें उगते हैं, उन्हें मालीके चतुर हाथोंकी आवश्यकता नहीं, वह (अज्ञानी) लोगोंके निकृष्ट भोगों और भावुकताओंसे दूर रहते हैं। वह संसारी समाजके चाल-व्यवहारसे कोई सरोकार नहीं रखते। और चूँकि वह एक दूसरेके मित्र हैं, इसलिए उनका जीवन पूर्णतया प्रेमपर आश्रित है। फिर सत्यस्वरूप ईश्वरके मित्रके तौरपर वह अमानुष (दिव्य) ज्ञान-विज्ञानकी एकतामें विश्राम पाते हैं।[1]

२—इब्न-तुफ़ैल[2] (मृत्यु ११८५ ई०)

अब्दुलमोमिन् (११४७-६३)के शासनका जिक्र हम कर चुके हैं। उसके पुत्र यूसुफ (११६३-८४ ई०) और याकूब (११८४-९८ ई०)का शासन-काल मोहिदीन वंशके चरम-उत्कर्षका समय है। इन्हींके समय स्पेनमें फिर दर्शनका मान बढ़ा। इस वक्त दर्शनके मान बढ़नेका मतलब

---

[1] "The Philosophy in Islam" (by Dr. T. J. De Boer), pp. 180-81

[2] Abubacer.

था समाजमें शारीरिक श्रमसे मुक्त मनुष्योंकी अधिकता, और जिसका मतलब था गुलामी और गरीबीके सीकड़ोंका कमकर जनतापर भारी भार और उसके बर्दाश्त करनेके लिए मजहब और परलोकवादके अफीमकी कड़ी पुड़ियोंका उत्साहके साथ वितरण। यही समय भारतमें जयचन्द और "खंडनखंडखाद्य" (शून्यवादी वेदान्त)के कर्त्ता श्रीहर्ष कविका है।

(१) **जीवनी**—अबू-बक्र मुहम्मद (इब्न-अब्दुलमलिक) इब्न-तुफैल (अल्-कैसी)का जन्म गर्नाताके गादिस[1] स्थानमें हुआ। उसका जन्म-संवत् अज्ञात है। उसने अपनी जन्मभूमि हीमें दर्शन और वैद्यकका अध्ययन किया। बाजा (मृत्यु ११३८ ई०) शायद उस वक्त तक मर गया था, किन्तु इसमें शक नहीं बाजाकी पुस्तकोंने उसके लिए गुरुका काम किया था। शिक्षा-समाप्तिके बाद तुफ़ैल गर्नाता[2]के **अमीर**का लेखक हो गया। किन्तु तुफ़ैलकी योग्यता देर तक गर्नाताकी सीमाके भीतर छिपी नहीं रह सकती थी और कुछ समय ही बाद (११६३ ई०) सुल्तान यूसुफ़ने उसे मराको बुलाकर अपना वज़ीर और राजवैद्य नियुक्त किया। तुफ़ैल सर्कारी काम-से जो समय बँचा पाता, उसे पुस्तकावलोकनमें लगाता था। उसका अध्ययन बहुत विस्तृत ज़रूर था, किन्तु वह उन विद्वानोंमें था, जिनको अध्ययनके फलको अपने ही तक सीमित रखनेमें आनंद आता है; इसीलिए लिखनेमें उसका उत्साह नहीं था।

यूसुफके बाद याकूब (११८४-९८ ई०) सुल्तान बना, उसने भी तुफ़ैलका सम्मान बापकी तरह ही किया। इसीके शासनमें ११८५ ई०में तुफ़ैलकी मराकोमें मृत्यु हुई।

(२) **कृतियाँ**—तुफ़ैलकी कृतियोंमें कुछ कवितायें तथा "हई इब्न-यक़ज़ान" (प्रबुद्ध-पुत्र जीवक)की कथा है। "हईकी कथा" डेढ़ सौ साल पहिलेकी बू-अली सीना (९८०-१०३७ ई०) रचित "हई इब्न-यक़ज़ान"-

[1] Gaudix. [2] Granada.

की नकल नाममें जरूर है, किन्तु विचार उसमें तुफ़ैलके अपने हैं।

(३) दार्शनिक विचार—(क) बुद्धि और आत्मानुभूति[1]**—** बुद्धि-पूर्वक ज्ञानकी प्रधानताको माननेमें तुफ़ैल भी बाजामे सहमत है, यद्यपि वह उतनी दूर तक नहीं जाता, बल्कि कहीं-कहीं तो ग़ज़ालीकी भाँति उसकी टाँग लड़खड़ाने लगती है—

"आत्मानुभूति" ("योगि प्रत्यक्ष") से जो कुछ दिखाई देता है, उसे शब्दों द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह (आत्मानुभूति द्वारा देखा तत्त्व) गौरवपूर्ण ऊँचे अर्थोवाले शब्दोंके पहिनावेमें पड़कर दुनियाके चलते-फिरते पदार्थों जैसे लगने लगते हैं; जो कि सत्य (स्वरूप) आत्माके विचारसे देखनेपर उनसे कोई संबंध नहीं रखते। यही वजह है, कि कितने ही (विद्वान्) लोग अपने भावोंको प्रकट करनेमें असमर्थ रहे, और बहुतोंने इस राहमें ठोकरें खाईं।"[2]

(ख) हईकी कथा—दो द्वीप है, जिनमेंसे एकमें हमारे जैसा मानव-समाज अपनी सारी रूढ़ियोंके साथ है; और दूसरेमें एक अकेला आदमी प्रकृतिकी गोदमें आत्मविकास कर रहा है। समाजवाले द्वीपमें मनुष्यकी निम्न प्रवृत्तियोंका राज है, जिसपर यदि कोई अंकुश है तो मोटे ज्ञानवाले धर्मका बाहरी नियंत्रण। किन्तु इसी द्वीपमें इसी परिस्थितिमें पलते दो आदमी—सलामाँ और असल बुद्धिपूर्वक (बौद्धिक) ज्ञान तथा अपनी इच्छाओंपर विजय प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं। सलामाँ व्यवहारकुशल मनुष्य है, वह सार्वजनिक धर्मके अनुसार बने हुए लोगोंपर शासन करता है। **असल** मननशील तथा सन्तप्रवृत्तिका आदमी है, वह पर्यटन करते दूसरे द्वीपमें पहुँच जाता है। पहिले वह उसे एक निर्जन द्वीप समझता है, और वहाँ स्वाध्याय तथा योगाभ्यासमें लग जाता है।

लेकिन, इस द्वीपमें हई यक़्ज़ान—(प्रबुद्ध)का पुत्र हई (जीवक)—एक पूर्ण दार्शनिक विद्यमान है। हई इस द्वीपमें बचपनमें ही फेंक दिया

---

[1] Intuition. [2] रिसाला "हई बिन्-यक़्ज़ान", पृष्ठ १३६

गया था, अथवा अयोनिज प्राणीकी तरह वहीं उत्पन्न हुआ था। बचपनमें हरिनियोंने उसे दूध पिलाया, सयाना होनेपर उसे सिर्फ अपनी बुद्धिका सहारा रह गया था। उसने अपनी बुद्धिको पूरा इस्तेमाल किया, और उसके द्वारा उसने शारीरिक आवश्यकताओंकी ही पूर्ति नहीं की, बल्कि निरीक्षण और मनन द्वारा उसने प्रकृति, आसमानों (=फरिश्ते), ईश्वर और स्वयं अपनी आन्तरिक सत्ताका ज्ञान प्राप्त करते हुए ७×७ (४९) वर्ष तक उस उच्चतम अवस्थाको प्राप्त हो गया है, जिसे ईश्वरका सूफीवाला साक्षात्कार या समाधि-अवस्था कहते हैं। जब असल वहाँ पहुँचा, तो हई इसी अवस्थामें था। हईको भाषा नहीं मालूम थी, इसलिए पहिलेपहिल दोनोंको एक दूसरेके विचारोंके जाननेमें दिक्कत हुई, किन्तु जब वह दिक्कत दूर हो गई, तो उन्होंने एक-दूसरेको अपने तजर्बे बतलाये; जिससे पता लगा कि हईका दर्शन और असलका धर्म एक ही सत्यके दो रूप हैं, फर्क दोनोंमें इतना ही है कि पहिला दूसरेकी अपेक्षा कम ढँका है।

जब हई (जीवक)को मालूम हुआ, कि सामनेके द्वीपमें ऐसे लोग बसते हैं, जो अंधकार और अज्ञानमें अपना जीवन बिता रहे हैं; तो उसने निश्चित किया कि वहाँ जाकर उन्हें भी सत्यका दर्शन कराये। जब उसे उन लोगोंमें वास्ता पड़ा, तो पता लगा कि वह सत्यके शुद्ध दर्शन करनेमें असमर्थ हैं; तब उसने समझा कि पैगंबर मुहम्मदने ठीक किया जो कि उन्होंने लोगोंको पूर्ण ज्योति न प्रदान कर, उसके मोटे रूपको प्रदान किया। इस तरह हार स्वीकार कर हई अपने मित्र असलको लिये फिर अपने द्वीपमें चला गया, और वहाँ अपनी शुद्ध दार्शनिक भावनाके साथ जीवनके अन्तिम क्षण तक भगवान्की उपासना करता रहा।

सीना और तुफ़ैलके हईमें फर्क है, दोनों ही हई प्रबुद्ध-पुत्र या दार्शनिक हैं, किन्तु जहाँ सीनाका हई अपने दार्शनिक ज्ञानसे दूसरेको मार्ग बतलानेमें सफल होता है, वहाँ तुफ़ैलका हई हार मानकर मुहम्मदी मार्गकी प्रशंसा करता हुआ लौट आता है। तो भी दोनोंमें एक बात जरूर एकसी है—दोनों ही ज्ञान-मार्गको श्रेष्ठ मानते हैं।

(ग) ज्ञानीकी चर्या—हईकी चर्याके रूपमें तुफ़ैलने ज्ञानी या दार्शनिककी दिनचर्या बतलाई है। हई कर्मको छोड़ता नहीं, वह उसे करता है, किंतु इस उद्देश्यसे कि सबमें एक (अद्वैत तत्त्व)को ढूँढ़े और उस स्वयं-विद्यमान परम(-तत्त्व)से अपनेको मिला दे। हई सारी प्रकृतिको उस सर्वश्रेष्ठ सत्ता तक पहुँचनेके लिए प्रयत्नशील देखता है। हई (कुरानकी) इस बातको नहीं मानता, कि पृथिवीकी सारी वस्तुएं मनुष्यके लिए हैं। मनुष्यकी भाँति ही पशु और वनस्पति भी अपने लिए और भगवान्‌के लिए जीते हैं, इसलिए हई उचित नहीं समझता कि उनके साथ मनमाना बर्ताव करे। वह अपनी शारीरिक आवश्यकताओंको कम करके उतना ही रहने देता है, जितना कि जीनेके लिए अत्यन्त जरूरी है। वह पके फलोंको खाता है, और उनके बीजोंको बड़ी सावधानीसे धरतीमें गाड़ देता है, जिसमें किसी वनस्पति-जातिका उच्छेद न हो। कोई दूसरा उपाय न रहनेपर ही हई मांस ग्रहण करता है, और वहाँ भी वह इस बातका पूरा ख्याल रखता है, कि किसी जातिका उच्छेद न हो। "जीनेके लिए पर्याप्त, मोटेके लिए पर्याप्त नहीं" हईके आहारका नियम है।

पृथ्वीके साथ उसके शरीरका संबंध कैसा होना चाहिए, उसका निदर्शन है, हईकी यह शरीर-चर्या। लेकिन उसका जीवन-तत्त्व उसे **आसमानों** (=फरिश्ते)से संबद्ध कराता है; आसमानों (=फरिश्तों)की भाँति ही उसे अपने पास-पड़ोसके लिए उपयोगी बनना तथा अपने जीवनको शुद्ध रखना चाहिए। इसी भावको सामने रखते हुए, अपने द्वीपको स्वर्गके रूपमें परिणत करनेके लिए हई अपने पास-पड़ोसके पौधोंको सींचता, खोदता तथा पशुओंकी रक्षा करता है; अपने शरीर और कपड़ोंको शुद्ध रखनेका बहुत अधिक ध्यान रखता है; और कोशिश करता है कि, आसमानी पिंडों (ग्रहों, आदि)की भाँति ही अपनी हर एक गतिको सबकी अनुकूलताके साथ रखे।

इस तरह हई अपनी आत्माको पृथिवी और आस्मानसे ऊपर उठाते हुए **शुद्ध-आत्मा** तक पहुँचानेमें समर्थ होता है। यही वह समाधि (=आत्म-

विस्मृति)की अवस्था है, जिसे किसी भी कल्पना, शब्द, मानसप्रतिबिंब द्वारा न जाना जा सकता है, न प्रकट किया जा सकता है।

३—इब्न[1]-रोश्द (११२६-९८ ई०)

बू-अली सीनाके रूपमें जैसे पूर्वमें दर्शन अपने उच्चतम शिखरपर पहुँचा, उसी तरह रोश्द पश्चिमी इस्लामिक दर्शनका चरम विकास है। यही नहीं, रोश्दका महत्त्व मध्यकालीन युरोपीय दर्शन-चक्रको गति देकर आधुनिक दर्शनके लिए क्षेत्र तैयार करनेमें साधन होनेके कारण और बढ़ जाता है।

(१) जीवनी—अबू-वलीद मुहम्मद (इब्न-अहमद इब्न-मुहम्मद इब्न-अहमद इब्न-अहमद) इब्न-रोश्दका जन्म सन् ११२६ ई० (५२० हिजरी)में स्पेनके प्रसिद्ध शहर कार्दोवा (क़र्तवा)में एक शिक्षित परिवारमें हुआ था। कार्दोवा उस समय विद्याका महान् केन्द्र तथा १० लाखकी आबादीकी महानगरी थी। रोश्दके खान्दानके लोग ऊँचे-ऊँचे सरकारी पदोंपर रहते चले आए थे। रोश्दका दादा मुहम्मद (१०५८-११२६ ई०) फ़िका (=इस्लामिक मीमांसा)का भारी पंडित कार्दोवाका महाजज (क़ाज़ी-उल्-कुज़्ज़ात्) तथा जामा-मस्जिदका इमाम था। रोश्दका बाप अहमद (१०९४-११६८ ई०) भी अपने बापकी तरह कार्दोवाका क़ाज़ी (जज) और जामा मस्जिदका इमाम हुआ था। रोश्दका घर स्वयं एक बड़ा विद्यालय था, जहाँ उसके बाप-दादाके पास दूर-दूरके विद्यार्थी काफी संख्यामें आकर पढ़ते थे; फिर बालक रोश्दकी पढ़ाईका माँ-बापने कितना अच्छा प्रबंध किया होगा इसे कहनेकी जरूरत नहीं। रोश्दने पहिले-पहिल अपने बापसे कुरान और मोता[2] पढ़कर कंठस्थ किया, उसके बाद अरबी साहित्य और व्याकरण। बचपनमें रोश्दको कविता करनेका शौक हुआ था, और उसने कुछ पद्य-रचना भी की थी, किन्तु सयाना होनेपर उसे वह नहीं जँची, और कार्ल मार्क्सकी भाँति उसने अपनी कविताओंको आगके सिपुर्द कर दिया।

---

[1] Averroes.　[2] इमाम मालिककी लिखी फ़िक़ाकी एक पुस्तक।

दर्शनका शौक रोश्दको बचपनसे ही था। उस वक्त बाजा (११३८ ई०) जिन्दा था। रोश्दने इस तरुण दार्शनिकसे दर्शन और वैद्यक पढ़ना शुरू किया, लेकिन बाजाके मरनेके बाद उसे दूसरे गुरुओंकी शरण लेनी पड़ी, जिनमें अबू-बक्र बिन्-जजियोल और अबू-जाफ़र बिन्-हारून रजाली ऊँचे दर्जेके दार्शनिक थे।

बाजाका शागिर्द तथा स्वयं भी दर्शनका पण्डित होनेके कारण तुफ़ैल-की नजर रोश्दपर पड़नी जरूरी थी। अभी रोश्दकी विद्वत्ताका सिक्का नहीं जम पाया था, उसी वक्त तुफ़ैलने लिखा था—[1]

"बाजाके बाद जो दार्शनिक हमारे समकालीन हैं, वह अभी निर्माणकी अवस्थामें हैं, और पूर्णताको नहीं पहुँच पाये हैं, इसलिए उनकी वास्तविक योग्यता और विद्वत्ताका अंदाजा अभी नहीं लगाया जा सकता।"

रोश्दने साहित्य, फ़िक़ा (= इस्लामिक मीमांसा), हदीस (= पैगंबर-वचन) आदिका भी गंभीर अध्ययन किया था, किन्तु वैद्यक और दर्शनमें उसका लोहा लोग जल्दी ही मानने लगे। शिक्षा समाप्तिके बाद रोश्द कार्दोवामें वैद्यकका व्यवसाय और अध्यापनका काम करता रहा।

तुफ़ैल रोश्दका दोस्त था, उसने समय पाकर सुल्तान यूसुफ़से उसकी तारीफ की। रोश्दकी यूसुफ़से इस पहिली मुलाकातका वर्णन, रोश्दके एक शागिर्दसे सुनकर अब्दुल्वाहिद मराकशीने इस प्रकार किया है—

"जब मैं दरबारमें दाखिल हुआ, तो वहाँ तुफ़ैल भी हाजिर था। उसने अमीरुल्-मोमिनीन (खलीफ़ा) यूसुफ़के सामने मुझको पेश किया और वह मेरे खान्दानकी प्रतिष्ठा, मेरी अपनी योग्यता और विद्याको इतना बढ़ा चढ़ाकर बयान करने लगा, जिसके कि मैं योग्य न था, और जिससे मेरे साथ उसका स्नेह और कृपा प्रकट होती थी। यूसुफ़ने मेरी ओर देखते हुए मेरे नाम आदिको पूछा। फिर एक बारही मुझसे सवाल कर बैठा, कि दार्शनिक (अरस्तू आदि) आसमानों (= देवताओं)के बारेमें क्या राय

---

[1] "हई बिन्-यक़्ज़ान"।

रखते हैं, अर्थात् वह दुनियाको नित्य या नाशवान् मानते हैं। यह सवाल सुनकर मैं डर गया, और चाहा कि किसी बहानेसे उसे टाल दूँ। यह सोचकर मैंने कहा कि मैं दर्शनसे परिचित नहीं हूँ। यूसुफ (सुल्तान) मेरी घबराहटको समझ गया, और मेरी ओरसे फिरकर तुफैलकी ओर मुँह कर उसने इस सिद्धान्तपर बहस शुरू कर दी, और अरस्तू, अफलातूं, तथा दूसरे (दर्शनके) आचार्योंने जो कुछ इस सिद्धान्तके बारेमें लिखा है, उसे सविस्तर कहा। फिर इस्लामके वाद-शास्त्रियों (=मुत्कल्लमीन्)ने (दर्शन-) आचार्योंपर जो आक्षेप किये हैं, उन्हें एक-एक कर बयान किया। यह देखकर मेरा भय जाता रहा।...अपना कथन समाप्तकर (यूसुफ-ने) फिर मेरी ओर नजर की। अब मैंने आजादीके साथ इस सिद्धान्तके संबंधमें अपने विचार और ज्ञानको प्रकट किया। जब मैं दरबारसे चलने लगा, तो (सुल्तानने) मुझे नकद अशर्फी, खिलअत (=पोशाक), सवारीका घोड़ा और बहुमूल्य घड़ी प्रदान की।"[1]

यूसुफ पहिली ही मुलाकातमें रोश्दकी विद्वत्तासे बहुत प्रभावित हुआ। ११६६ ई० (५६५ हिजरी)में यूसुफने रोश्दको शेविल्ली (अश्बीलिया)[2]-का जज (क़ाजी) नियुक्त किया। इसी सन् (५६५ हिजरी सफ़र मास)में शेविल्लीहीमें रोश्दने अरस्तूके "प्राणिशास्त्र"की व्याख्या समाप्त की। रोश्द अपनी पुस्तकोंमें अकसर शिकायत करता है—"अपने सरकारी कामसे बहुत लाचार हूँ, मुझको इतना समय नहीं मिलता कि लिखनेके कामको शान्त चित्तसे कर सकूँ।...मेरी अवस्था बिलकुल उस आदमीकी है, जिसके मकानमें चारों तरफसे आग लग गई हो और वह परेशानी और घबराहटकी हालतमें सिर्फ मकानकी जरूरी और कीमती चीजोंको बाहर निकाल निकालकर फेंक रहा हो। अपनी ड्यूटीको पूरा करनेके लिए मुझे राज्यके नजदीक और दूरके स्थानोंका दौरा करना पड़ता है। आज राजधानी मराकश (मराको)में हूँ, तो कल कर्तबा (कार्दोवा)में और परसों

[1] "इब्न-रोश्द" (रेनाँकी फ्रेंच पुस्तक), पृष्ठ १०-११ [2] Seville.

फिर अफ़्रीका (मराको) में। इसी तरह बार-बार सल्तनतके जिलोंके दौरेमें वक्त गुजर जाता है, और साथ ही साथ लिखनेका काम भी जारी रहता है, जो कि बहुधा इस मानसिक अस्थिरताके कारण दोषपूर्ण और अधूरा रह जाता है।"[1]

राजकीय अधिकारी बननेके बाद रोश्दकी यही हालत रही, किन्तु रोश्दने दर्शनप्रेममें सीनाकी तरहका दृढ़ संकल्प और कामकी लगन पाई थी, जिसका फल हम देखते हैं इतना बहुधंदी होनेपर भी उसका उतनी पुस्तकोंका लिखना।

११८४ ई० (५८० हिजरी) में यूसुफ मर गया, उसके बाद उसका बेटा याक़ूब मंसूर गद्दीपर बैठा। तोमरत और उसके बाद अब्दुल्मोमिन-ने मोहिदीनोंमें विद्याके लिए इतनी लगन पैदा कर दी थी, कि शाहजादोंको पढ़नेके लिए बहुत समय और श्रम करना पड़ता था। याक़ूब अपने बाप और दादासे भी बढ़-चढ़कर विद्वान् और विद्वत्प्रेमी था। साथ ही वह एक अच्छा जेनरल था, और उठती हुई पड़ोसी ईसाई शक्तियोंको कई बार पराजित करनेमें सफल हुआ।

याक़ूब अपने बापसे भी ज्यादा रोश्दका सम्मान करता था, और अकसर दर्शन-चर्चाके लिए उसे अपने पास रखता था। याक़ूबके साथ रोश्दकी बेतकल्लुफी इतनी बढ़ गई थी, कि वार्तालापमें अकसर वह उसे कहता—"अस्मग्रो या अख़ी !" (सुना मेरे मित्र !)....

आखिरी उम्र रोश्द बादशाहसे छुट्टी ले कार्दोवामें रह लेखन-अध्ययन-में बिताने लगा।

११९५ ई० (५९१ हि०) में याक़ूब मंसूर अपने प्रतिद्वंदी अल्फांसोके हमलेका बदला लेनेके लिए कार्दोवा आया और वहाँ तीन दिन ठहरा, उस वक्त रोश्दके सम्मानको उसने चरम सीमा तक पहुँचा दिया। रोश्दके समकालीन एक क़ाज़ीने इस मुलाकातका वर्णन इस प्रकार किया है—

---

[1] "इब्न-रोश्द"—रेनाँ पृष्ठ १२

"मंसूर जब ५९१ हिजरी (११९५ ई०)में दशम अल्फांसोके ऊपर चढ़ाई करनेकी तैयारी कर रहा था, उस समय उसने रोश्दको मुलाकातके लिए बुलाया। दरबारमें मुहम्मद अब्दुल्‌वाहिदका बहुत प्रभाव था, वह मंसूरका दामाद और **नदीम-खास** था। इसके बेटेको मंसूरने अफ़्रीकाकी गवर्नरी दी थी। दर्बारमें अबू-मुहम्मद अब्दुलवाहिदकी कुर्सी तीसरे नंबर पर होती थी, लेकिन उस दिन मंसूरने इब्न-रोश्दको अब्दुल्-वाहिदसे भी आगे बढ़ा अपनी बगलमें जगह दी, और देर तक बेतकल्लुफीसे बातें करता रहा। बाहर रोश्दके दुश्मनोंने खबर उड़ा दी, कि मंसूरने उसके क़त्लका हुक्म दे दिया है। विद्यार्थियोंकी भारी जमात बाहर प्रतीक्षा कर रही थी, यह खबर सुनकर सब परेशान हो गये। जब थोड़ी देर बाद इब्न-रोश्द बाहर आया (और असली हालत मालूम हुई तो) उसके दोस्तोंने इस प्रतिष्ठा और सम्मानके लिए उसे बधाई दी। लेकिन आखिरमें हकीम (रोश्द)ने खुशी प्रकट करनेकी जगह अफसोस जाहिर किया, और कहा—'यह खुशीका नहीं बल्कि रंजका मौका है, क्योंकि यकबयक इस तरहकी समीपता बुरे परिणाम लायेगी।'"[1]

रोश्दकी बात सच निकली और उसके जीवनके अन्तिम चार साल वह दुःख और शोकसे पूर्ण बन गये।

(क) सत्यके लिए यंत्रणा—११९५ से ११९७ ई० तक याक़ूब मंसूर लड़ाइयोंमें लगा रहा, और अन्तमें दुश्मनोंको जबर्दस्त शिकस्त देनेके बाद उसने शेविलीमें देर तक रहनेका निश्चय किया। रोश्दके इतने बड़े सम्मानसे कितने ही बड़े-बड़े लोग उससे डाह करने लगे थे, उधर रोश्द अपने विचारोंको प्रकट करनेमें सावधानी नहीं रखता था, जिससे उनको अच्छा मौका मिला। उन्होंने रोश्दके कुछ विद्यार्थियोंको उसके विचारोंको जमा करनेमें लगाया। उनका मतलब यह था, कि इस प्रकारसे रोश्द जी खोलकर सब कुछ कह डालेगा और फिर खुद उसीके वचनसे

[1] "तबक़ातुल्-अतिब्बा", पृष्ठ ७६

उसकी बेदीनीके सबूतका एकत्रित करना मुश्किल न होगा। और हुआ भी ऐसा ही। रोश्दने अपने शागिर्दोंसे वह बातें कह डालीं जो कि मुल्लोंके उस धर्मान्ध-युगमें नहीं कहनी चाहिए थीं। दुश्मनोंको और क्या चाहिए था। उन्होंने रोश्दके पूरे व्याख्यानको खूब नमक मिर्च लगाकर सुल्तानके पास पहुँचा दिया। सबूतके लिए सौ गवाह पेश कर दिये गए। यूसुफ चाहे कितना ही दर्शनानुरागी हो, उसे अपने समकालीन जयचंदकी प्रजा न मिली थी, जिसके सामने खुले बाँग श्रीहर्ष न्यायके ऋषि गौतमको गोतम[1] (=महाबैल) कहकर निर्द्वंद घूमते-फिरते, और दर्बारमें "तांबूलद्वय" और "आसन" (कुर्सी?) प्राप्त करते। मंसूर यदि अब रोश्दका पक्ष करता तो उसे प्रजा और सेनाको दुश्मन बनाना पड़ता।

गवाहोंने गवाही दी, रोश्दके हाथके लेख पेश किये गये, जिनमेंसे एकमें रोश्दने बादशाहको अमीरुल'मोमिनीन या सुल्तान न कह "बर्बरों"के सर्दार (मलिकु'ल्-बर्बर)के मामूली नामसे याद किया था। दूसरे लेखमें रोश्दने शुक्र (=जोहरा) ताराको यूनानियोंकी भाँति सम्मान प्रकट करते हुए देवी कहा था। पहिली बातके लिए अब्दुल्ला उसूलीने रोश्दकी ओरसे बहस की, जिसका नतीजा यह हुआ कि वह भी धर लिया गया। सभी गवाहियों, सबूतोंसे यह साबित किया गया कि रोश्द बेदीन नास्तिक है। यूसुफ मजबूर था, उसने रोश्दको अपने शिष्यों और अनुयायियोंके साथ सार्वजनिक सभामें आनेका हुक्म दिया, जिसके लिए कार्दोवाकी जामा मस्जिदको चुना गया। बादशाह अपने दर्बारियोंके साथ वहाँ पहुँचा। उस भारी जल्सेकी कार्रवाईका वर्णन अन्सारीने इस प्रकार किया है—

"मन्सूरकी मजलिसमें इब्न-रोश्दका दर्शन टीका और व्याख्याके साथ पेश किया गया। कुछ डाह करनेवालोंने उसमें नमक-मिर्च भी मिला दी थी। चूँकि सारा दर्शन बेदीनी (=नास्तिकता) से भरा था, इसलिए आवश्यक था कि इस्लामकी रक्षा की जाये। खलीफा (यूसुफ)ने सारी जनताका

---

[1] "नैषधीयचरित"।

एक दर्बारमें जमा किया, जिसका स्थान पहिलेहीसे जामा मस्जिद निश्चित था।....(इस जल्सेमें) यह बतलाना था, कि इब्न-रोश्द पथभ्रष्ट और धिक्कारका पात्र हो गया है। इब्न-रोश्दके साथ क़ाज़ी अबू-अब्दुल्ला उसूली भी इसी अपराधमें धरे गये थे—उनके वार्तालापमें भी बाज वक्त बेदीनी जाहिर हुई थी। कार्रवाई जामा मस्जिदमें दोनों अपराधी उपस्थित किये गए....अबू-अली हज्जाजने खड़े होकर घोषित किया कि इब्न-रोश्द नास्तिक (=मुलहिद्) और बेदीन होगया है।"[1]

हज्जाजके व्याख्यानके बाद सुल्तानने खुद इब्न-रोश्दको इस अभिप्रायसे बुलाया कि वह जवाबदेही करे, और पूछा कि क्या ये लेख तुम्हारे हैं? यह अजब नाटक था। क्या याक़ूब मन्सूर जानता नहीं था, कि रोश्दके दार्शनिक विचार क्या हैं। क्या वर्षों उसके साथ बेतकल्लुफाना दर्शन-चर्चामें रोश्दके विचार उससे छिपे हुए थे? वह जानते हुए भी लोगोंको अपनी धर्मप्राणता दिखलाने तथा अपनी राजनीतिक स्थितिको सर्वप्रियता द्वारा दृढ़ करनेके ख्यालसे यह अभिनय कर रहा था। अच्छा होता यदि इस वक्त रोश्द भी सुक़ातके रास्तेको स्वीकार किये होता, किन्तु रोश्दका नागरिक समाज अथेन्सके नागरिक समाजसे बहुत निम्न श्रेणीका था, वह उसके साथ अधिक कमीनेपनसे पेश आता? साथ ही रोश्द सब कुछ स्वीकार भी जितने दिन और जीता उतना ही दर्शन और विचार-स्वातन्त्र्यके लिए अच्छा था। इसके अतिरिक्त रोश्दको अपने शिष्यों—अनुयायियों—मित्रोंका भी ख्याल करना जरूरी था। यह सब सोच रोश्दने भी उसी तरह अपने लेखोंसे इन्कार कर दिया, जिस तरह मंसूरने उनके पूर्वपरिचयसे इन्कारका नाटक किया था। जवाब सुनकर मंसूरने उन लेखोंके लिखनेवालेको धिक्कार (लानत) कहा, और उपस्थित जनमंडलीने "आमीन" (एवमस्तु) कहा। इब्न-रोश्दका अपराध सारी जनताके सामने साबित हो गया, उसमें शक-शुबहाकी गुंजाइश न थी। यदि सुल्तान बीचमें न होता,

---

[1] "इब्न-रोश्द व फिल्सफा"—क़ुहेल्-जोन्।

तो शायद सारी जनमंडलीने गुस्सामें आकर रोश्दकी बोटियाँ नोच डाली होतीं। लेकिन बादशाहकी रायसे सिर्फ इस सज़ापर सन्तोष किया गया, कि वह किसी अलग स्थानपर भेज दिया जाये।

रोश्दके विरुद्ध गवाही देनेवालोंमें कुछने यह भी कहा था, कि स्पेनमें जो अरबी कबीले आकर आबाद हुए हैं, इब्न-रोश्दका उनमेंसे किसीके साथ खान्दानी संबंध नहीं है, और यदि उसका संबंध है तो बनी-इस्राईल (यहूदी)के खान्दानसे। इसपर यह भी फैसला हुआ कि उसे लोसीनिया[1] (=अलेसान्ता)में भेज दिया जाये, क्योंकि यह बनी-इस्राईल(यहूदियों)की बस्ती है, और उनके अतिरिक्त दूसरी जातिके लोग वहाँ नहीं रहते।

रोश्दके दुश्मनों और मुल्लाओंने एक अर्सेसे उसके खिलाफ जो जबर्दस्त प्रचार करके लोगोंकी धर्मान्धताको उत्तेजित कर रखा था, उसे इस फैसलेके बाद भड़क उठनेका बहुत डर था। रोश्द यदि यहूदी बस्तीमें भेज दिया गया, तो यह उसके लिए अच्छा ही हुआ। लोग मुल्लोंकी बातमें आकर कुछ और कह बैठते। इसका ध्यान उन्हें शान्त करने तथा अपनेको संदेह-भाजन न बनानेके लिए मन्सूरने एक खास सरकारी विभाग कायम किया, जिसका काम था दर्शन और तर्कशास्त्रकी पुस्तकोंको एकत्रित कर उन्हें जलाना; तथा इन विद्याओंके पढ़नेवालोंको कड़ी-कड़ी सजाएँ दिलवाना। इसी समय मन्सूरने लोगोंको शान्त करनेके लिए एक फरमान (=घोषणा) लिखकर सारे मुल्कमें प्रकाशित कराया। इस सारे फर्मानको अन्सारीने अपने ग्रन्थ[2]में उद्धृत किया है, और उसके संक्षेपको इस प्रकार दिया है[3]—"पुराने जमानेमें कुछ लोग ऐसे थे, जो मिथ्याविश्वासका अनुगमन करते और हर बातमें उल्टे सीधे सवाल उठाया करते थे; तो भी आम लोग उनकी बुद्धिकी प्रखरता पर लट्टू हो गए थे। इन लोगोंने अपने विचारोंके अनुसार ऐसी पुस्तकें लिखीं जो कि शरीअत (इस्लामी धर्मग्रंथों)से

---

[1] कार्दोवाके पास एक गाँव। [2] "इब्न-रोश्द", पृष्ठ ७३-७६
[3] वहीं, टिप्पणी, पृष्ठ ७६

उतनी ही दूर थीं जितना पूर्वसे पश्चिम दूर है। हमारे समयमें भी कुछ लोगोंने इन्हीं नास्तिकों (=मुल्हिदों)की पैरवी की और उन्हीके मतके अनुसार किताबें लिखीं। यह पुस्तकें देखनेमें कुरानकी आयतों (=वाक्यावलियों)से अधिक अलंकृत हैं, लेकिन भीतरसे कुफ़ (=नास्तिकता) और जिन्दका (=धर्मविरोधी एक मत) हैं। जब हम (सुल्तान मंसूर)को उनके धोका-फरेबका हाल मालूम हुआ, तो हमने उनको दर्बारसे निकाल दिया, और उनकी किताबें जलवा दी, क्योंकि हम शरीअत और मुसलमानोंको इन नास्तिकोंके फरेबसे दूर रखना चाहते हैं. . . .या खुदा! इन नास्तिकों और उनके दोस्तोंको तबाह और बर्बाद कर।. . . .(फिर लोगोंको हुक्म दिया है कि)इन नास्तिकोंकी संगतसे वैसे ही परहेज करो जैसे विषसे करते हो, यदि कहीं उनकी कोई पुस्तक पाओ तो उसे आगमें झोंक दो, क्योंकि कुफ़की सजा आग है. . ."

तर्क और दर्शनके प्रति शिक्षित मुल्लाओंका उस वक्त क्या रुख था, वह विद्वान् इब्न-जुह्र—जिसे कि मंसूरने पुस्तकोंके जलानेका इन्चार्ज बनाया था—की इस हरकतसे पता लगेगा। दो विद्यार्थी जुह्रसे वैद्यक पढ़ रहे थे। एक दिन उनके पास कोई किताब देख जुह्रने उसे लेकर गौर किया तो मालूम हुआ, मंतिक़ (=तर्क)की किताब है। जुह्र गुस्सेमें पागल हो नंगे पैर उनके पीछे मारनेके लिए दौड़ा। उन विद्यार्थियोंने फिर जुह्रके पास जाना छोड़ दिया। कुछ दिनों बाद उन्होंने जाकर उस्तादसे कसूरकी माफी माँगी और कहा कि वस्तुतः वह पुस्तक हमारी न थी, एक दोस्तसे हमने जबर्दस्ती छीनी, और गलतीसे हमारे पास रह गई थी। जुह्रने कसूर माफ कर दिया, और नसीहत दी, कि कुरान कंठस्थ करो, फ़िक़ा (=मीमांसा) और हदीस (=पैगंबर-वचन) पढ़ो। जब उन्होंने उसे समाप्त कर लिया, तो उसने स्वयं अपने पुस्तकालयसे फोर्फोरि (=फोर्फोरियस)की पुस्तक **ईसागोजी**को लाकर कहा कि फ़िक़ा और हदीसके बाद अब इसको पढ़नेका समय है, तर्क और दर्शनमें पांडित्य प्राप्त करो, किंतु इससे पहिले दर्शनका पढ़ना तुम्हारे लिए हर्गिज़ उचित न था। इब्न-जुह्र यद्यपि बाहरसे तर्क-दर्शनकी पुस्तकोंको

"जलवाता फिरता" था, किन्तु भीतर स्वयं दर्शनके अध्ययनमें लगा रहता था। जुह्लके एक दुश्मनने रोश्दके उदाहरणसे लाभ उठाकर उसे तबाह करना चाहा। उसने मंसूरके पास बहुतसे लोगोंके हस्ताक्षरके साथ एक आवेदनपत्र भेजा कि जुह्ल स्वयं दर्शनका हामी है, उसके घरमें दर्शनकी हजारों पुस्तकें हैं। मंसूरने आवेदनपत्रको पढ़कर हुक्म दिया कि लेखकको तुरंत जेल भेज दिया जाये। वह जेल भेज दिया गया और हस्ताक्षर करनेवाले डरके मारे छिपते फिरने लगे। मुल्लोंने जनताकी आँखोंमें धूल झोंककर उनमें धर्मान्धताकी भारी आग भड़का दी थी। मंसूर जानता था, कि यह आग देर तक इसी अवस्थामें नहीं रह सकती, किन्तु इसका दबना भी तभी संभव है, जब कि इसे एक बड़ी बलि दी जाये। वह रोश्दकी बलि चढ़ा चुका था, और वह आग ठंडी पड़ गई थी। वह जानता था, कि मुल्लोंकी ताकतसे यह बाहरकी बात है, कि तुरंत ही फिर जनताको उसी तरह उत्तेजित कर सकें। इसीलिए बड़े इतमीनानके साथ उसने इन कठमुल्लोंको दबा देनेका निश्चय किया।

जिस वक्त रोश्दको निर्वासित किया गया था, उसी वक्त कितने ही दूसरे दार्शनिकों—ज़हबी, उसूली, बजाया, कफ़ीफ़, क़राबी आदि—को भी निर्वासित किया गया था। इस वक्त मुल्लोंने खुशीमें आकर सैकड़ों कवितायें बनाई थीं, जिनमेंसे कितनी ही अब भी सुरक्षित हैं।

यहूदी स्पेनमें पहिलेसे दर्शनके भंडाबर्दार थे, इसलिए लूसीनियाके यहूदियोंने जब इस नास्तिक, पतित, दार्शनिकको उस दीन-अवस्थामें देखा, तो उसे वह सर-आँखोंपर बैठानेके लिए तैयार थे। आखिर स्पेनमें एक छोटा गाँव था, जहाँके गँवार उस वक्त भी रोश्दको सत्यका शहीद समझते थे। उनके इस सम्मानकी कीमत और बढ़ जाती है, जब हम जानते हैं कि उन्हें यह मालूम न था कि लूसीनियाका यह रोश्द भविष्यमें सारी विद्या और प्रकाशकी दुनियाका पूज्य देवता बनने जा रहा है, और उस दुनियाके निर्माणकी बुनियादमें उसके विचार और अपमानकी ईंटें भी पड़ेंगी।

रोश्दके ऊपर होनेवाले अत्याचारोंके बारेमें कितनीही बातें मशहूर

हैं। एक बार वह लूसीनियामें फ्रांस भाग गया, मुल्लोंने पकड़वाकर उसे मस्जिदके दर्वाजेपर खड़ा करवाया, और यह सजा दी कि जो मस्जिदके भीतर दाखिल हो या बाहर निकले उसपर थूकता जाये। एक अपमानका वर्णन स्वयं रोश्दने लिखा है—"सबसे अधिक दुःख मुझे उस वक्त हुआ था, जब कि एक बार मैं और मेरा बेटा अब्दुल्ला कार्दोवाकी जामा मस्जिदमें नमाज़ पढ़नेके लिए गये, लेकिन न पढ़ सके। चंद गुंडोंने हल्ला मचाया, और हम दोनोंको मस्जिदसे निकाल दिया गया।"[1]

रोश्दको लूसीनियामें निर्वासित कर एक तरहसे सख्त नजरबंदीमें रखा गया था; कोई दूसरी जगहका आदमी उससे मिलने नहीं पाता था।

(ख) मुक्ति और मृत्यु—दो साल (११९७-९८ ई०) तक रोश्द उस बुढ़ापेमें अपनी दार्शनिक प्रतिभाके लिए उस शारीरिक और मानसिक यातनाको सहता रहा। मंसूर समझ रहा था, कि उसने अपने समयके लोगोंके सामने ही नहीं इतिहासके सामने कितना भारी पाप किया है, किन्तु रोश्दके बदले स्वयं बलिवेदीपर चढ़नेकी उसकी हिम्मत न थी। अब मंसूर अपने पड़ोसी ईसाई राजाओंकी अंतिम पराजय करके जहाँ उधरसे निश्चिन्त था, वहाँ उसका प्रभाव अपनी प्रजापर एक भारी विजेताके तौर-पर हो गया था, उधर मुल्लोंका जादू भी जनताके सिरसे कम हो गया था। मंसूरके इशारेसे या खुद ही सेविली (अश्बीलिया)के कुछ सभ्रांत लोगोंने गवाही दी कि रोश्दपर झूठा, बेबुनियाद इल्जाम लगाया गया था। इसपर मंसूरने इस शर्तपर छोड़नेका हुक्म दिया कि रोश्द जामा-मस्जिद-के दर्वाजेपर खड़ा होकर लोगोंके सामने तोबा करे। रोश्द जामा मस्जिदके दर्वाजेपर तब तक नंगे सिर खड़ा रखा गया, जब तक लोग नमाज़ पढ़ते रहे, (और खुदा शान्तचित्तसे उस नमाज़को सुनता भी रहा!)। इसके बाद वह कार्दोवामें बड़ी गरीबीकी जिन्दगी बिताने लगा।

---

[1] **"इब्न-रोश्द" (रेनाँ द्वारा एक पुराने लेखक अब-मुहम्मद अब्दुल् कबीर अंसारी से उद्धृत), पृष्ठ १६**

मंसूरकी आत्मा अभी भी उसे कोस रही थी, इसलिए वह रोश्दके साथ कुछ और उपकार करनेका रास्ता ढूँढ़ रहा था। इसी बीच मराकोके क़ाज़ी (जज)को उसके जुल्मके लिए बर्खास्त करना पड़ा। मंसूरने तुरंत उसकी जगह रोश्दको मुकर्रर किया। दर्शनकी पुस्तकोंके ध्वंसका हुक्म भी वापिस लिया गया, और जो दूसरे दार्शनिक निर्वासित किये गए थे, उनको बुलाकर कितनोंको बड़े-बड़े दर्जे दिये गए।

रोश्द एक साल और जीवित रहा, और अन्तमें १० दिसम्बर ११९८ ई० को मराकोमें उसका देहान्त हुआ; उसके शवको कार्दोवामें लाकर खान्दानी कब्रस्तान मक़बरा-अब्बासमें दफन किया गया।

तेईस दिन बाद (२ जनवरी, ११९९ ई०)को मंसूर भी मर गया, और साथही अपने नामपर हमेशाके लिए एक काला धब्बा छोड़ गया। वह समय जल्द आया जब स्पेनकी भूमिसे मंसूरके खान्दानका शासन ही नहीं बल्कि इस्लाम भी खतम हो गया, किन्तु रोश्दकी आवाज सारे युरोपमें गूँजने लगी।

(ग) रोश्दका स्वभाव—रोश्दके स्वभावके बारेमें इतिहास-लेखक बाजीका कहना है—

"इब्न-रोश्दकी राय बहुत मजबूत होती थी। वह जैसा ही जबर्दस्त प्रतिभाका धनी था, वैसाही दिलका मजबूत था। उसके संकल्प बहुत पक्के होते थे, और वह कष्टोंसे कभी भय नहीं खाता था।"[1]

"रोश्द गंभीरताकी मूर्ति था। ज्यादा बोलना उसके स्वभावमें न था। अभिमान उसे छू नहीं गया था। किसीको बुरा-भला कहना उसे पसंद न था। धन और पदका न उसे अभिमान था और न लोभ। वह अपने शरीरपर खर्च न करता था। दूसरोंकी सहायता करनेमें उसे बहुत आनंद आता था। चापलूसीसे उसे सख्त घृणा थी। उसकी विशालहृदयता मित्रों ही तक नहीं शत्रुओं तकके लिए खुली हुई थी। वह कहा करता

---

[1] "तबक़ातु'ल्-अतिब्बा", पृष्ठ ७९

था—'यदि हमने दोस्तोंको दिया, तो वह काम किया, जो कि हमारी अपनी रुचिके अनुकूल है। उपकार और दया उसे कहते हैं, जिसमें उन शत्रुओंतकको शामिल किया जाये, जिनको हमारी तबियत पसंद नहीं करती'।"[1]

"दया उसमें इतनी थी कि यद्यपि वर्षों वह क़ाज़ी (जज) रहा, किन्तु कभी किसीको मृत्यु-दंड नहीं दिया। यदि कोई ऐसा मौका आता, तो स्वयं न्यायासनको छोड़ दूसरेको अपना स्थानापन्न बना देता। अपने शहर कार्दोवासे उसका वैसा ही प्रेम था, जैसा कि यूनानी दार्शनिकोंका अथेन्ससे। एक बार मंसूरके दर्बारमें जुह्र और रोश्दमें अपने-अपने शहरों सेविली और कार्दोवाके संबंधमें बहस छिड़ गई। रोश्दने कहा—सेविलीमें जब कोई विद्वान् मर जाता है, तो उसके ग्रंथ-संग्रहको बेचनेके लिए कार्दोवा लाना पड़ता है, क्योंकि सेविलीमें इन चीजोंकी पूछ करनेवाले नहीं हैं; हाँ, जब कार्दोवाका कोई गायनाचार्य मर जाता है, तो उसके वाद्य-यंत्र सेविलीमें बिकनेके लिए जाते हैं, क्योंकि कार्दोवामें इन चीजोंकी माँग नहीं है"।[2]

पुस्तक पढ़नेका रोश्दको बहुत शौक था। इब्नु'ल्-अबारका कहना है कि रातके वक्त भी उसके हाथमें किताब नहीं छूटती थी। सारी-सारी रात वह किताब पढ़ा करता था। अपनी उम्रमें सिर्फ दो रातें उसने किताब पढ़े बिना बिताईं, एक शादीकी रात, दूसरी वह रात जब कि उसके बापकी मृत्यु हुई।"[3]

(२) कृतियाँ—भिन्न-भिन्न विषयोंपर रोश्दकी लिखी हुई पुस्तकोंकी संख्या साठसे ऊपर है। इब्नु'ल्-अबारके कथनानुसार वह दस हजार पृष्ठके करीब है। मौलवी मुहम्मद यूनस् अन्सारी (फिरंगीमहली)ने अपनी पुस्तक "इब्न-रोश्द" में (जो कि मेरे इस प्रकरणका मुख्य आधार है) भिन्न-भिन्न विषयोंपर रोश्दकी पुस्तकोंकी विस्तृत सूची दी है, मैं वहाँसे सिर्फ

[1] **"आसारु'ल्-अब्हार"**, पृष्ठ २२२　[2] **"नफ़हु'ल्-तैब"**, पृष्ठ २१६
[3] **"अल्-दीबाजु'ल्-मजहब"**, पृष्ठ २८४　[4] **"इब्न-रोश्द"**, पृष्ठ ११९-३०

पुस्तकोंकी संख्या देता हूँ।

(१)	दर्शन	२८
(२)	वैद्यक	२०
(३)	फ़िक़ा	८
(४)	कलाम (वाद)-शास्त्र	६
(५)	ज्योतिष-गणित	४
(६)	व्याकरण (अरबी)	२
		६८

रोश्दने अपनी सभी पुस्तकें अरबीमें लिखी थीं, किन्तु उनमेंसे कितनोंके अरबी मूल नष्ट हो चुके हैं, और उनके इब्रानी या लातीनी अनुवाद-ही मौजूद हैं।

इब्न-रोश्दने स्वयं लिखा है कि किस तरह तुफ़ैलने उसे दर्शनकी पुस्तकोंके लिखनेकी ओर प्रेरणा दी—"एक दिन इब्न-तुफ़ैलने मुझे बुलाया। जब मैं गया तो उसने कहा कि आज अमीरु'ल मोमिनीन (यूसुफ) अफसोस करते थे कि अरस्तूका दर्शन बहुत गंभीर है, और (अरबी-) अनुवादकोंने अच्छे अनुवाद नहीं किये हैं। यदि कोई आदमी तैयार होता और उनका संक्षेप करके सुबोध बना देता। मैं तो यह काम नहीं कर सकता, मेरी उम्र अब नहीं है, और अमीरु'ल्मोमिनीनकी सेवासे भी छुट्टी नहीं। तुम तैयार हो जाओ, तो कुछ मुश्किल नहीं, तुम इस कामको अच्छी तरह कर भी सकते हो। मैंने इब्न-तुफ़ैलको वचन दे दिया, और उसी दिनसे अरस्तूकी किताबोंकी व्याख्या-टीकायें लिखनी शुरू की।"[१]

रोश्दकी दर्शन-संबंधी पुस्तकोंको तीन प्रकारसे बाँटा जा सकता है—

(१) अरस्तू तथा कुछ और यूनानी दार्शनिकोंकी पुस्तकोंकी टीकायें या विवरण।

---

[१] "इब्न-रोश्द" (रेनाँ), पृष्ठ ११

(२) अरस्तूका पक्ष ले सीना और फ़ाराबीका खंडन।

(३) दर्शनका पक्ष ले ग़जाली आदि वाद-शास्त्रियोंका खंडन।

रोश्दने अरस्तूके ग्रंथोंकी तीन प्रकारकी टीकायें की हैं—

(१) विस्तृत व्याख्या टीका—इनमें हर मूल शब्दको उद्धृत कर व्याख्या की गई है।

(२) मध्यम व्याख्या—इनमें वाक्यके प्रथम शब्दको उद्धृतकर व्याख्या की गई है।

(३) संक्षेप ग्रंथ—इनमें वाक्यको बिलकुल दिये बिना ही वह भाव को समझाता है।

अरस्तूके कुछ ग्रंथोंकी निम्न व्याख्याएं रोश्दने निम्न सालों और स्थानोंमें समाप्त कीं—

सन्	नाम पुस्तक	स्थान
११७१ ई०	अस्समाअ-वल्-आलम[1] (व्याख्या)	सेविली
११७४ ई०	खताबत-वल्-शेअर[2] (मध्यम व्याख्या)	कार्दोवा
	माव[illegible]'त्-तबीआत[3] (मध्यम व्याख्या)	कार्दोवा
११७६ ई०	अख़लाक़[4] (मध्यम व्याख्या)	कार्दोवा
११८६ ई०	तबीआत[5] (विस्तृत व्याख्या)	सेविली

इनके अतिरिक्त उसकी निम्न पुस्तकोंकी समाप्तिके समय और स्थान मालूम हैं—

११७८ ई०	जवाहरु'ल्-कौन	मराको
११७९ ई०	कश्फ़-मनाहज़ु'ल्-अवला	सेविली

[1] De Coelo et mundo (**देवात्मा और जगत्**)

[2] Rhetoric (**भाषण-शास्त्र**) Poetics (**काव्य-शास्त्र**)

[3] Metaphysics (**अध्यात्म या अतिभौतिक-शास्त्र**)

[4] Ethics (**आचार-शास्त्र**)

[5] Physics (**साइंस या भौतिक-शास्त्र**)

११९३ ई० अल्-इस्तेक़ात[1] (व्याख्या) सेविली
११९५ ई० बाज'ल्-असअला व'ल्-अजबा फ़ि'ल्-मन्तिक़् निर्वासन

अरस्तूकी निम्न पुस्तकोंपर रोश्दकी तीनों तरहकी व्याख्यायें[2] अरबी, इब्रानी, लातीनीमें से किसी न किसी भाषामें मौजूद हैं—

१. तब्इयात (भौतिक शास्त्र)
२. समाअ (देवता या फरिश्ता)
३. नफ़्स (विज्ञान या आत्म-शास्त्र)
४. माबाद्-तब्इयात् (अतिभौतिक या अध्यात्म शास्त्र)

अरस्तूके प्राणिशास्त्र (किताबु'ल्-हैवान)के पहिले दस अध्यायोंपर रोश्दकी व्याख्या नहीं मिलती। आचार-शास्त्रकी व्याख्यामें उसने लिखा है कि मुझे अरस्तूके राजनीति-शास्त्रका अरबी अनुवाद स्पेनमें नहीं मिला, इसलिए मैंने अफलातूके "प्रजातंत्र" (जमहूरियत्)की व्याख्या लिखी।[3]

---

[1] जालीनूस (गलेन)की पुस्तक

[2] रोश्दकी पुस्तकोंके हस्तलेख अधिकतर युरोपके निम्न पुस्तकालयोंमें मिलते हैं—

१—स्क्योरियल पुस्तकालय, (मद्रिदसे ४० मीलपर स्पेन); २—बिब्लियोथिक नाश्नल (पेरिस); ३—बोड्लियन लाइब्रेरी (आक्सफोर्ड, इंग्लैंड); ४—लारन्तीन पुस्तकालय (फ़्लोरेन्स, इताली); ५—लाइडेन पुस्तकालय (हालैंड)। इनमें सबसे ज्यादा ग्रंथ स्क्योरियलमें हैं। स्पेन और इतालीके पुस्तकालयोंहीमें अरबी लिपिके कुछ हस्तलेख हैं, नहीं तो इब्रानी और लातीनीके अनुवाद या इब्रानी-लिपिमें अरबी भाषाके ग्रंथ ही ज्यादा मिलते हैं। हिन्दुस्तानमें हमारे प्रान्तके आरा शहरकी एक मस्जिदके पुस्तकालयमें रोश्दके दो संक्षेप ग्रंथ बारेम्नियास और प्रथम अनालोतिकापर हैं।

[3] सब मिलाकर अरस्तूकी निम्न पुस्तकोंपर रोश्द कृत टीकायें हैं—

टीकायें—१—बुर्हान् (मन्तिक़), २—समाअ-व-आलम, ३—तब्इयात,

रोश्दके दार्शनिक विचारोंको जाननेके लिए उसके दर्शन-संबंधी "संक्षेप" (तल्ख़ीस) फाराबी, तथा सीनापर आक्षेप और वाद-शास्त्रके खंडन देखने लायक हैं, जो बदकिस्मतीसे किसी जीवित भाषामें बहुतही कम छपे हुए हैं ।[1]

रोश्दकी किसी पुस्तककी विशेष तौरसे विवेचना यहाँ संभव नहीं है,

४—नफ़्स, ५—माबाद-तब्इयात् ।

संक्षेप—६—खतावत्, ७—शेअ्र ८—तौलीद-व-इन्हलाल, ९—आसार-अल्इया, १०—अख़लाक़, ११—हिस्स्-व-महसूस, १२—हैवान, १३—तव-ल्लुद-हैवान ।

इनमें १,६,७; मन्तिक़ (=तर्कशास्त्र)की आठ पुस्तकोंमें से हैं। २,३, ४,८,९,११,१३—तब्-इयात (=भौतिकशास्त्र)की आठ पुस्तकोंमेंसे; ५वीं पुस्तक अतिभौतिकशास्त्र है, और १०वीं आचार-शास्त्र ।

संक्षेपोंमें—

१—तलख़ीस-मंतक़ियात् (तर्कशास्त्र-संक्षेप)

२—तलख़ीस-तब्इयात् (भौतिशास्त्र-संक्षेप)

३—तलख़ीस्-माबाद-तब्इयात् (अतिभौतिकशास्त्र-संक्षेप)

४—तलख़ीस्-अख़लाक़ (आचारशास्त्र-संक्षेप)

५—शरह्-जम्हूरियत् (प्रजातंत्रकी व्याख्या)

वादशास्त्रियोंके खंडन—

१—तोहाफ़तुल्-तोहाफ़तुल्-फ़िलासफ़ा (दर्शन-खंडन-खंडन) यह प्रधान-तया ग़ज़ालीके तोहाफ़तुल्-तोहाफ़त (दर्शन-खंडन)का खंडन है ।

२—फस्लुल्-मुक़ाल ।

३—कश्फ़ुल्-अद्ला ।

अरस्तूके तर्कको ग़लत समझनेके लिए फ़ाराबीके विरुद्ध रोश्दने तीन पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें "तलख़ीस-मोक़ालात्-फ़ाराबी फिल्मन्तिक़" मुख्य हैं । सीनाकी पुस्तक "शफ़ा"की ब्रह्म-विद्या (इल्मु'ल्-इलाही)पर आक्षेप किया है ।

इसलिए इसके लिए पाठक आगे आनेवाले उद्धरणोंसे ही संतोष करें।

(३) दार्शनिक विचार—रोश्दके लिए अरस्तू मनुष्यकी बुद्धिका उच्चतम विकास था, वह अपना काम बस यही समझता था, अरस्तूके दर्शनको ऐसे रूपमें प्रकट करे, जिसमें उसके तत्वज्ञानके समझनेमें गलती न हो; इसीलिए वह कितनी ही बार फ़ाराबी और सीनाकी गलतियोंको दिखलाता है। फाराबी "द्वितीय अरस्तू"के नामसे मशहूर हुआ, किन्तु रोश्द अरस्तूको जिस ऊँचाईपर पहुँचा समझता था, वहाँ पहुँचना किसीकी शक्तिसे बाहर समझता था, और शायद वह यदि यह सुनता तो बहुत खुश होता कि पीछेकी दुनियाने उसे (अरस्तू) "भाष्यकार"की उपाधि दी है।

सबसे पहिले हम उन बातोंके बारेमें कहना चाहते हैं जिनके बारेमें रोश्द और ग़ज़ाली तथा दूसरे "वादशास्त्रियों"का झगड़ा था—

(क) ग़ज़ालीका खंडन—रोश्दका समय ठीक वही है, जो कि श्री हर्षका। श्रीहर्षका दार्शनिक ग्रंथ "खंडन-खंड-खाद्य" (खंडरूपी खाँडका आहार या खंडन रूपी मिठाई) है, और रोश्दके ग्रंथका नाम भी उससे मिलता-जुलता "तोहाफतु'ल्-तोहाफ़तु'ल्-फ़िलासफा" (दर्शन-खंडन-खंडन) संक्षेपमें तोहाफ़तु'ल्-तोहाफ़त् (खंडन-खंडन) है, "खंडन-खाद्य" और, "खंडन-खंडन"-में नाम सादृश्य बहुत ज्यादा ज़रूर है, किन्तु, इससे दोनोंके प्रतिपाद्य विषयोंको एक समझनेकी गलती नहीं करनी चाहिए; दोनोंमें यदि और कोई समानता है, तो यही कि दोनों ऐसे युगमें पैदा हुए, जिसमें खंडनपर खंडन बड़े जोरसे चल रहे थे। श्रीहर्ष अपने "खंडन" को "धर्मकीर्ति"[१] और उन जैसे तर्क-शास्त्रियों तथा वस्तुवादी दार्शनिकोंके खिलाफ इस्तेमालकर "शून्य-ब्रह्म-वाद" स्थापित करना चाहता है। उसका समकालीन रोश्द ग़ज़ालीके द्विविधात्मक "ब्रह्मवाद"का खंडनकर वस्तुवादी "विज्ञानवाद"—जो कि

---

[१] **"दुराबाध इव धर्मकीर्त्तेः पन्थाः, तदत्रावहितेन भाव्यम"—खंडन-खंड-खाद्ये।**

धर्मकीर्तिके वादके बहुत नजदीक है—की स्थापना करना चाहता था। अर्थात् पूर्व और पश्चिमके दोनों महान् दार्शनिकोंमें एक (श्रीहर्ष) वस्तुवादको हटाकर अ-वस्तुवाद (विज्ञानवाद, शून्यवाद) कायम करना चाहता था, दूसरा (रोश्द) अवस्तुवाद (सूफी ब्रह्मवाद)को हटाकर वस्तुवादकी स्थापना कर रहा था। और दोनोंके प्रयत्नोंका आगे हम परिणाम क्या देखते हैं? श्रीहर्षकी परंपरा ब्रह्मवादके मायाजालमें उलझकर भारतके मृतोत्पन्न समाजको पैदा करती है, और रोश्दकी परम्परा पुनर्जागरणके संघर्षमें भाग लेकर नवीन युरोपके उत्पादनमें सफल होती है। भारतमें यदि ग़ज़ाली और श्रीहर्ष परंपरा सर्वमान्य रही, तो उसके कार्य-कारण संबंध भी दिखाई पड़ते हैं।

(a) **दर्शनालोचना ग़ज़ालीकी अनधिकार-चेष्टा**—एक बार अपनी स्मृतिको ताजा करनेके लिए इस्लामिक वाद-शास्त्र(=कलाम)पर नजर दौड़ानी चाहिए। मोतज़लाने "वाद"को अपनाया, फिर अबुल्-हसन-अश्-अरीने बस्रामें इसी हथियारको लेकर मोतज़लापर प्रहार करना शुरू किया। अश्अरीके अनुयायी अबूबक्र बाकलानीने बादमें थोड़ी दर्शनकी पुट देनी चाही, जिसमें ग़ज़ालीके गुरु इमाम हर्मैनने अपनी प्रतिभा-का ही सहारा नहीं दिया, बल्कि ग़ज़ाली जैसे शागिर्दको तैयार करके दे दिया। ग़ज़ालीने सूफीवाद, दर्शनवाद, कुरानवाद, बुद्धिवाद, अ-बुद्धिवाद, कबीलाशाही जनतंत्रवाद. . . .क्या क्या नहीं मिलाकर एक चूंचूंका मुरब्बा "वाद" (कलाम)के नामपर तैयार किया, जिसका नमूना हम देख चुके हैं। ग़ज़ालीके "दर्शन-खंडन"के खंडनमें उस जैसेही नामपर रोश्दका "दर्शन-खंडन-खंडन" लिखना बतलाता है, कि रोश्दको ग़ज़ालीका चूंचूंका मुरब्बा पसंद नहीं आया। रोश्द अपनी पुस्तक "कश्फ़ुल्-अदला"[1] में ग़ज़ालीके इस चूंचूंके मुरब्बेके बारेमें लिखता है—

"इस्लाममें सबसे पहिले **बाहरी** (मतवालों)ने फ़साद (झगड़ा, मतभेद)

---

[1] **पृष्ठ ७२**

पैदा किया, फिर मोतज़लाने, फिर अश्अरियोंने, फिर सूफियोंने और सबसे अन्तमें ग़ज़ालीने। पहिले उस (ग़ज़ाली)ने "मक़ासिदुल्-फ़िलासफ़ा" (दर्शनाभिप्राय) एक पुस्तक लिखी। जिसमें (यूनानी-)आचार्योंके मतोंको खोलकर बिना घटाये बढ़ाये नकल कर दिया। उसके बाद "तोहाफतु'ल्-फ़िलासफ़ा" (दर्शन-खंडन) लिखा, जिसमें तीन सिद्धान्तोंके बारेमें दार्शनिकोंको काफिर बनाया। उसके बाद "जवाहरु'ल्-कुरान"में ग़ज़ालीने खुद बतलाया, कि "तोहाफ़तु'ल्-फ़िलासफ़ा" (दर्शन-खंडन) केवल लड़ाई-भिड़ाई (=जदल)की किताब है, और मेरे वास्तविक विचार "मज़्नून-बे:-अला-गैरे-अह्लेही"में हैं। इसके बाद ग़ज़ालीने "मिश्कातु'ल्-अन्वार" एक किताब लिखी, जिसमें ज्ञानियोंके मर्तबोंकी व्याख्या करके यह साबित किया कि सभी ज्ञानी असली सत्यसे अपरिचित हैं; इसमें अपवाद सिर्फ वह हैं, जो कि महान् सिर्जनहारके संबंधके दार्शनिक सिद्धान्तोंको ठीक मानते हैं। यह कहनेके बाद भी कितनी ही जगह ग़ज़ालीने यह बतलाया है कि ब्रह्म-ज्ञान(इल्म-इलाही) केवल चिन्तन और मननका नाम है; और इसी लिए "मुनक्क़ज़-मिन'ल्-ज़लाल" में (अरस्तू आदि) आचार्योंपर ताना कसा है, और फिर स्वयं ही यह साबित किया है, कि ज्ञान एकान्तवास तथा चिन्तनसे प्राप्त होता है। सारांश यह कि ग़ज़ालीके विचार इतने विभिन्न और अस्थिर हैं, कि उसके असली विचारोंका जानना मुश्किल है।"

ग़ज़ालीने "तोहाफ़तुल्-फ़िलासफ़ा"की भूमिकामें[1] अपने जमानेके दार्शनिकोंको जो फटकारा है और उनके २० सिद्धान्तोंका खंडन किया है, उसके उत्तरमें रोश्द "खंडन-खंडन"[2]में लिखता है—

"(दार्शनिकोंके) इन सिद्धान्तोंकी जाँच सिर्फ वही आदमी कर सकता है, जिसने दर्शनकी किताबोंको ध्यानपूर्वक पढ़ा है (ग़ज़ाली सीनाके अतिरिक्त कुछ नहीं जानता था), ग़ज़ाली जो यह आक्षेप करता है, इसके दो कारण हो सकते हैं,—या तो वह सब बातोंको जानता है, और फिर आक्षेप करता

---

[1] देखो पृष्ठ १६१ [2] तोहाफ़तु'त्-तोहाफ़त्,' पृष्ठ ३४

है, और यह दुष्टताका काम है; या वह अनभिज्ञ है, तो भी आक्षेप करता है, और यह मूर्खोंको ही शोभा देता है। लेकिन ग़ज़ालीमें दोनों बातें नहीं मालूम होतीं। मालूम यह होता है, कि बुद्धिके अभिमानने उसे इस पुस्तकको लिखनेके लिए मजबूर किया। आश्चर्य नहीं यदि उसकी मंशा इस तरह लोगोंमें प्रिय होनेकी रही हो।"

(b) **कार्य-कारण-नियम अटल**—ग़ज़ालीने प्रकृतिमें कार्य-कारण नियमको माननेसे यह कहकर इन्कार कर दिया कि वैसा मान लेनेपर "करामात (=अक़लके ख़िलाफ अप्राकृतिक घटनाएँ) गलत हो जावेंगी, और धर्मकी बुनियाद करामातपर ही है।"[1]

इसके उत्तरमें रोश्द कहता है—

"जो आदमी कार्य-कारण-नियमसे इन्कार करता है, उसको यह माननेकी भी ज़रूरत नहीं कि हर एक कार्य किसी न किसी कर्तासे होता है। बाकी यह बात दूसरी है, कि सर्सरी तौरसे जिन कारणोंको हम देखते हैं, वह काफी ख्याल न किए जायें; किन्तु इससे कार्य-कारण-नियम (=इल्लियत) पर असर नहीं पड़ता! असल सवाल यह है कि चूँकि कुछ ऐसी चीजें भी हैं जिनके कारण या सबबका पता नहीं लगता, इसलिए क्या एकदम कार्य-कारण-नियमसे ही इन्कार कर दिया जाये। लेकिन यह बिलकुल गलत बात है। हमारा काम यह है, कि अनुभूत (वस्तु)से अन्-अनुभूत (अज्ञात)की खोज करें, न कि यह कि (एक वस्तुके) अन्-अनुभूत होनेकी वजहसे जो अनुभूत (ज्ञात है) उससे भी इन्कार कर दें।....

"आखिर ज्ञानका प्रयोजन क्या है? सिर्फ यही कि अस्तित्व रखनेवाले (पदार्थों)के कारणोंका पता लगावें। लेकिन जब कारणोंहीसे बिल्कुल इन्कार कर दिया गया, तो अब बाकी क्या रहा? तर्कशास्त्रमें यह बात प्रमाण-कोटि तक पहुँच गई है, कि हर कार्यका एक कारण होता है; फिर यदि कारण और हेतुसे ही इन्कार कर दिया गया, तो इसका नतीजा या

---

[1] "तोहाफतुल्-फ़िलासफ़ा, पृष्ठ ६४

तो यह होगा, कि कोई वस्तु मालूम (=ज्ञात) न रहेगी, या यह कि किसीको पक्का मालूम (=ज्ञात) न (मानना) होगा, और सभी ज्ञात (वस्तुओं)को काल्पनिक कहना पड़ेगा। इस तरह 'पक्का (सच्चा) ज्ञान' दुनियामें रह न जायेगा।"[1]

"कश्फ़ुल्-अदला"[2] में इसी विषयपर बहस करते हुए रोश्द कहता है—

"यदि कार्य-कारण (नियम)से बिलकुल इन्कार कर दिया जाये अर्थात् यह मान लिया जाये कि जगत्का वर्तमान (कार्य-कारण-) स्थितिसे किसी दूसरी स्थितिके रूपमें बदलना संभव है, और जगत्में कोई अटल संबंध नहीं है; तो शिल्पी (=हकीम)के शिल्प (=हिकमत)के लिए क्या बाकी रह जायेगा? शिल्प तो नाम ही इसका है, कि सारा जगत् क्रम और नियमका अनुसरण करे। लेकिन जब मनुष्यके सारे काम संयोगवश हर अंगसे किये जा सकते हैं—अर्थात् आँखके ज्ञानका आँखसे, कानके विषयका कानसे, रसनाके विषयका रसनासे कोई अटल संबंध नहीं है, तो मनुष्यके ढाँचेमें ईश्वरकी कारीगरी या शिल्पका कौनसा नमूना बाकी रहेगा।....अगर वर्तमान नियम पलट जाये—यानी जो चीज पश्चिमकी ओर गति कर रही है, वह पूर्वकी ओर, और जो पूर्वकी ओर गति कर रही है वह पश्चिमकी ओर गति करने लगे, आग ऊपर उठनेकी जगह नीचे उतरने लगे, मिट्टी नीचे उतरनेकी जगह ऊपर चढ़ने लगे, तो फिर क्या (ईश्वरकी) कारीगरी और शिल्प झूठा न हो जायेगा।"

(c) **धर्म-दर्शन-समन्वयका ढंग ग़लत**—ग़ज़ाली भी बुद्धि और धर्म अथवा दर्शन और धर्ममें समन्वय (समझौता) करानेके पक्षपाती हैं, और रोश्द भी, किन्तु दोनोंमें भारी अन्तर यह है। "इब्न रोश्द मजहबको विद्या (=दर्शन)के मातहत समझता है, और ग़ज़ाली विद्याको मजहबके मातहत। रोश्द लिखता है[3]—"जब कोई बात प्रमाण (=बुर्हान)से

---

[1] "तोहाफ़तु'त्-तोहाफ़त्", पृष्ठ १२२ [2] पृष्ठ ४१

[3] "फ़स्लु'ल्-मुक़ाल", पृष्ठ ८

सिद्ध हो गई, तो मजहब (की बात) में ज़रूर नई व्याख्या (=तावील) करनी होगी।"

(ख) जगत् आदि-अन्त-रहित—अरस्तू तथा दूसरे यूनानी दार्शनिक जगत्को अभावसे उत्पन्न नहीं बल्कि अनादिकालसे चला आता, तथा अनन्तकाल तक चला जानेवाला मानते थे; ग़ज़ाली और इस्लामका इसपर एतराज़ था। रोश्दने इस विषयको साफ करते हुए अपने ग्रंथ "अतिभौतिक शास्त्र-संक्षेप"[1] में लिखा है—

"जगत्की उत्पत्तिके सिद्धान्तपर दार्शनिकोंके दो परस्पर विरोधी मत हैं। (१) एक पक्ष उत्पत्तिसे इन्कार करता है, और विकास-नियमका माननेवाला है, और (२) दूसरा पक्ष विकाससे इन्कार करता है और उत्पत्ति होनेको मानता है। विकासवादियोंका मत है, कि उत्पत्ति इसके सिवा और कुछ नहीं है कि बिखरे हुए परमाणु इकट्ठे हो मिश्रित रूप स्वीकार कर लेते हैं। ऐसी अवस्थामें निमित्तकारण (ईश्वर) का कार्य सिर्फ इतना ही होगा कि भौतिक परमाणुओंको शकल देकर उनके भीतर पारस्परिक भेद पैदा करे। इसका अर्थ यह हुआ कि ऐसी अवस्थामें कर्त्ता उत्पादक (=स्रष्टा) नहीं रहा; बल्कि उसका दर्जा गिर गया, और वह केवल चालकके दर्जेपर रह गया।

"इसके विरुद्ध उत्पत्ति या सृष्टिके पक्षपाती मानते हैं, कि उत्पादकने भूत (=प्रकृति) की जरूरत रखे बिना जगत्को उत्पन्न किया। हमारे (इस्लामिक) वाद-शास्त्री (मुत्कल्लमीन, ग़ज़ाली आदि) और ईसाई दार्शनिक इसी मतको मानते हैं।...

"इन दोनों मतोंके अतिरिक्त भी कुछ मत हैं, जिनमें कम या अधिक इन दो विचारोंमेंसे किसी एक विचारकी झलक पाई जाती है। उदाहरणार्थ (१) इब्न-सीना यद्यपि विकासवादियोंसे इस बातमें सहमत है, कि (जगत्-उत्पत्ति) केवल भूत (=प्रकृति) के शकल-सूरत पकड़नेका नाम है;

---

[1] "तल्ख़ीस्-माबाद'-तबइआत", अध्याय १, ४

लेकिन 'सूरत' (='आकृति')की उत्पत्तिके प्रश्नपर वह अरस्तूसे मत-भेद रखता है। अरस्तू कहता है कि प्रकृति(=भूत) और आकृति दोनों अनुत्पन्न (=नित्य) हैं, लेकिन इब्न-सीना प्रकृतिको अनुत्पन्न तथा आकृतिको उत्पन्न (=अनित्य) मानता है; इसीलिए उसने जगत्-उत्पादकका नाम **आकृति-कारक शक्ति** रखा है। इस प्रकार इस (सीना)के मतके अनुसार प्रकृति केवल (कार्य-)अधिकरण[1]का नाम है—उत्पत्ति या कार्यकी सामर्थ्य[2] (स्वतः) उसमें बिलकुल नहीं है। (२) इसके विरुद्ध देमासियुस्[3] और फाराबीका मत है कि बाज अवस्थाओंमें स्वयं **प्रकृति** भी (जगत्-) उत्पत्तिका काम कर सकती है। (३) तीसरा मत अरस्तूका है। उसके मतका संक्षेप यह है—स्रष्टा (=उत्पादक) नहीं प्रकृतिका स्रष्टा है और नहीं आकृतिका, बल्कि इन (प्रकृति, आकृति)दोनोंसे मिलकर जो चीजें बनती हैं, उनका स्रष्टा है।—अर्थात् प्रकृति[4]में गति पैदाकर उसकी आकृति—शकल—को यहाँ तक बदल देता है, कि जो अन्तर्हित शक्तिकी अवस्थामें होती है, वह कार्य-पन (=कार्य-अवस्था)में आ जाती है। स्रष्टाका कार्य बस इतना ही है। इस तरह उत्पत्तिकी क्रियाका यह अर्थ हुआ, कि प्रकृतिको गति देकर अन्तर्हित, अ-प्रकट) शक्ति(की अवस्था)से कार्य(के रूप)में ले आना।—अर्थात् सृष्टि वस्तुकी गति-क्रिया है। किन्तु, गति गर्मीके बिना नहीं पैदा हो सकती। यही कारण है कि जल—और पृथिवी—मंडलमें जो गर्मी छिपी (=निहित) है, उसीसे रंग-रंगके वनस्पतियों और प्राणियोंकी उत्पत्ति होती रहती है। नेचरके ये सारे कार्य नियम—क्रम—के साथ होते हैं; जिसको देखकर यह ख्याल होता है कि कोई **पूर्णबुद्धि** इसका पथ-प्रदर्शन कर रही है, यद्यपि दिमागको इसके बारेमें किसी इन्द्रिय या मानसिक-ज्ञानका पता नहीं। इस बातका अर्थ यह हुआ, कि अरस्तूके मतमें जगत्-स्रष्टा

---

[1] इन्फ़आल। [2] सलाहियत्। [3] सामस्तियुस् (नौशेरवांकालीन)।
[4] प्रकृति यहाँ सांख्यकी प्रकृतिके अर्थमें नहीं बल्कि मूल भौतिकतत्त्व-के अर्थमें प्रयुक्त है।

आकृति—शकल—का उत्पादक नहीं है; और हम उसको उनका उत्पादक मानें, तो यह भी मानना पड़ेगा, कि वस्तुका होना अ-वस्तुसे (अभावसे भावका) होना हो गया।

"इब्न-सीनाकी गलती यह है, कि वह आकृतियोंको उत्पन्न मानता है, और हमारे (इस्लामिक) वादशास्त्रियोंकी गलती यह है, कि वह वस्तु-को अ-वस्तु (=अ-भाव)से हुई मानते हैं। इसी गलत सिद्धान्त—वस्तुका अ-वस्तुसे होना—को स्वीकार कर हमारे वादशास्त्रियोंने जगत्-स्रष्टाको एक ऐसा पूर्ण (सर्वतंत्र-) स्वतंत्र कर्त्ता मान लिया है, जो कि एक ही समयमें परस्पर-विरोधी वस्तुओंको पैदा किया करता है। इस मतके अनुसार न आग जलाती है, और न पानीमें तरलता और आर्द्रता (=स्नेह)की सामर्थ्य है। (जगत्में) जितनी वस्तुएं हैं, वह अपनी-अपनी क्रियाके लिए जगत्-स्रष्टाके हस्तक्षेपपर आश्रित हैं। यही नहीं, इन लोगोंका ख्याल है, कि मनुष्य जब एक ढेला ऊपर फेंकता है, तो इस क्रियाको उसके अंग—अवयव-स्वयं नहीं करते, बल्कि जगत्-स्रष्टा उसका प्रवर्त्तक और गतिकारक होता है। इस प्रकार इन लोगोंने मनुष्यकी क्रिया-शक्तिकी जड़ही काट डाली।"

इसी तत्त्वको अन्यत्र समझाते हुए रोश्द लिखता है[1]—

(a) **प्रकृति**—"(जगत्-)उत्पत्ति केवल गतिका नाम है; किन्तु गतिके लिए एक गतिवालेका होना जरूरी है। यह गतिवाला जब केवल (अन्तर्हित) क्षमता या योग्यताकी अवस्थामें है, तो इसीका नाम मूल भूत (प्रकृति) है, जिसपर हर तरहकी आकृतियाँ पिन्हाई जा सकती हैं, यद्यपि वह अपने निजी रूप (=स्वभाव)में हर प्रकारकी आकृतियों—शकलों—से सर्वथा रहित रहता है। उसका कोई तर्कसम्मत लक्षण नहीं किया जा सकता, वह केवल क्षमता—योग्यता—का नाम है। यही वजह है, जगत् पुरातन—अनादि—है, क्योंकि जगत्की सारी वस्तुएं अस्तित्वमें आनेसे पहिले क्षमता—योग्यता—की अवस्थामें थीं, अ-वस्तु (=अ-भाव)-

[1] **"तल्खीस्-तब्इयात" (भौतिक-शास्त्र संक्षेप)।**

से वस्तु (=भाव) का होना असंभव है।"

"प्रकृति सर्वथा अनुत्पन्न (=अनादि) और अ-नश्वर (=न नाश होने लायक) है; दुनियामें पैदाइशका न-अन्त होनेवाला क्रम जारी है। जो वस्तु (अन्तर्हित) क्षमता या योग्यताकी अवस्थामें होती है, वह क्रिया-अवस्थामें ज़रूर आती है, अन्यथा दुनियामें बाज चीजोंको कर्त्ताके बिना ही रह जाना पड़ेगा। गतिके पहिले स्थिति या स्थितिके पहिले गति नहीं होती, बल्कि गति स्वयं आदि-अन्त-रहित है। उसका कर्त्ता स्थिति (=गति-शून्यता) नहीं है, बल्कि गतिके कारण स्वयं एक दूसरेके कारण होते ह।

(b) **गति सब कुछ**—जगत्का अस्तित्त्व भी गतिहीसे कायम है। हमारे शरीरके अन्दर जो तरह-तरह के परिवर्तन होते हैं उन्हींसे हम इस दुनियाका अंदाजा लगाते हैं, यही परिवर्नन गतिके भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। यदि जगत् एक निर्जीव यंत्रकी भाँति स्थिर (=गति-शून्य) हो जाये, तो हमारे दिमाग से दुनियाका ख्याल भी निकल जायेगा। स्वप्नावस्थामें हम दुनियाका अंदाजा अपने दिमाग और ख्यालकी गतियोंसे करते हैं। और जब हम मधुर स्वप्नमें बेखबर (=सुषुप्त) रहते हैं, उस समय दुनियाका ख्याल भी हमारे दिलसे निकल जाता है। सारांश यह है कि यह गतिहीका चमत्कार है, जो कि आरम्भ और अन्तके विचार हमारे दिमागमें पैदा होते हैं। यदि गतिका अस्तित्व न होता, तो जगत्में उत्पत्तिका जो यह लगातार प्रवाह जारी है, उसका अस्तित्व भी न होता, अर्थात् दुनियामें कोई चीज मौजूद नहीं हो सकती।"[1]

(ग) **जीव**—नफ़्स[2] या विज्ञानका सिद्धान्त अरस्तूके लिए जितना महत्त्वपूर्ण है, रोश्दके लिए वह उससे भी ज्यादा है, क्योंकि उसने इसीके ऊपर अपने एक-विज्ञानता[3]के सिद्धान्तको स्थापित किया है। लेकिन जिस तरह जगत्के समझनेके लिए प्रकृति (=मूल तत्त्व) और गति एवं

---

[1] **"तल्खीस-तब्-इयात"** (**भौतिक-शास्त्र-संक्षेप**)।

[2] **यूनानी नव्स** (Nous)=**अक़्ल**। [3] **"वहदत्-अक़्ल।"**

गतिका स्रोत ईश्वर जानना जरूरी है, उसी तरह ईश्वर कर्त्ता-नफ़्स या कर्त्ता-विज्ञान[1] जो कि नफ़्सों (=विज्ञानों)का नफ़्स (विज्ञान) और सभी नफ़्सोंके उद्गम तक पहुँचनेके पहिले प्रकृति और ईश्वर (=नफ़्स)के बीचके तत्त्व जीव (रूह)के बारेमें जानना जरूरी है।

(a) **पुराने दार्शनिकोंका मत**—पुराने यूनानी दार्शनिक जीवके बारेमें दो तरहके विचार रखते थे, एक वह जो कि जीवको भूत (=प्रकृति)-से अलग नहीं समझते थे जैसे एम्पेदोकल (४८३-३० ई० पू०), एपीकुरु (३४१-२७० ई० पू०)। और दूसरे दोनोंको अलग-अलग मानते थे, इनमें मुख्य हैं अनखागोर (५००–४२८ ई० पू०), अफलातून (४२७–३७० ई० पू०)। पुराने यूनानी दार्शनिक इस बातपर एकमत थे, कि जीवमें ज्ञान और स्वतःगति यह दो बातें अवश्य पाई जाती हैं। अखीमनके मतमें जीव सदा गतिशील तथा आदि-अन्तहीन (=नित्य) पदार्थ है। क्षणिकवादी हेराक्लितु (५३५-४२५ ई० पू०)के मतमें जीव सारे (भौतिक) तत्त्वोंसे श्रेष्ठ और सूक्ष्म है, इसीलिए वह हर तरहकी परिवर्तनशील चीजोंको जान सकता है। देवजेन (४२१–३२२ ई० पू०) जीवके मूल तत्त्वको वायुका सा मानता है, जीव स्वयं उसकी दृष्टिमें सूक्ष्म तथा ज्ञानकी शक्ति रखता है। परमाणुवादी देमोक्रितु (४६०-३७० ई० पू०)के मतमें जीव कभी न स्थिर होनेवाली सतत गतिशील, तथा दुनियाकी दूसरी चीजोंको गति देनेवाला तत्त्व है, भौतिकवादी एम्पेदोकल (४८३-४३० ई० पू०) के मतमें जीव दूसरी मिश्रित वस्तुओंकी भाँति चार महाभूतोंसे बना है। आपसमें मत-भेद जरूर है, किन्तु सिर्फ पिथागोर[2] (५७०-५०० ई० पू०) और जेनो[3] (४९०-४३० ई० पू०)को छोड़ सुक्रात (४६९-३९९ ई०

[1] **नफ़स फअ़्आल** =Active Reason.

[2] **संख्या ब्रह्मके सिद्धान्तमें जीवको भी शामिलकर उसे अ-भौतिक संख्या-तत्त्व मानता था।**

[3] **वह जीवको संख्या जैसी एक अ-भौतिक वस्तु मानता था।**

पू०)से पहिलेवाले सारे यूनानी दार्शनिक जीव और भूत (=प्रकृति) को अलग-अलग तत्त्व नहीं समझते।

(b) **अफलातूँका मत**—अफलातूँने इस बातपर ज्यादा जोर दिया कि जीव और भूत अलग-अलग तत्त्व हैं। मानव शरीरके भीतरके जीव उसके मतमें तीन प्रकारके हैं—(१) **विज्ञानीय जीव**[1] जो कि मनुष्यके मस्तिष्कके भीतर सदा गतिशील रहता है; (२) दूसरा **पाशविक जीव** हृदयमें रहता है, और नश्वर है। इससे आदमीको क्रोध और वीरताकी प्राप्ति होती है। (३) पाशविक जीवसे भी नीचे **प्राकृतिक** (=वानस्पतिक) जीव है; क्षुधा, पिपासा, मानुषिक कामना आदिका उद्गम यही है। वानस्पतिक (=प्राकृतिक) और पाशविक जीव आमतौरसे आत्मिक जीवके आधीन काम करते हैं, किन्तु कभी-कभी वह मन-मानी करने लगते हैं, तब अक्ल (=विज्ञान) बेचारी असमर्थ हो जाती है, और आदमीके काम अबुद्धि-पूर्वक कहे जाते हैं।

(c) **अरस्तूका मत**—अरस्तू जीवके बारेमें अपने गुरु अफलातूँके इस मत (भूतसे जीवका एक भिन्न द्रव्य होना)से सहमत नहीं है। अरस्तूका पुराने दार्शनिकोंपर यह आक्षेप है कि वह जीवका ऐसा लक्षण नहीं बतलाते जो कि वानस्पतिक (प्राकृतिक), पाशविक, और आत्मिक तीनों प्रकारके जीवोंपर एकसा लागू हो।[2] अरस्तू अपना लक्षण करते हुए कहता है कि भूत (=प्रकृति) क्रियाका आधार[3] (=क्रिया-अधिकरण) मात्र है, और जीव केवल क्रिया या **आकृति**[4] है। भूत और जीव अथवा प्रकृति और आकृति परस्पर-संबद्ध तथा एक दूसरेके पूरे अंश हैं, इन दोनोंके योगको ही प्राकृतिक (=भौतिक) पिंड[5] कहा जाता है। अभाव या अंधकारमें पड़ी प्रकृति (=भूत)को जीव (=आकृति) प्रकाशमें लाता है, दूसरी ओर

---

[1] **रूहे-अक्ली।** [2] **"प्राणिशास्त्र", अध्याय २**

[3] **इन्फ़आल**, Receptive. [4] Form, **सूरत।**

[5] Physical body, **जिस्म-तबई।**

जीव भी प्रकृतिका मुखापेक्षी है, क्योंकि वह प्रकृतिमें उन्हीं बातोंका प्रकाश ला सकता है, जिसकी योग्यता उसमें पहिलेसे मौजूद है।

अरस्तू भी अफ़लातूंकी ही भाँति जीवके तीन भेद बतलाता है—(१) **वानस्पतिक जीव** जिसका काम प्रसव और वृद्धि है, और जो वनस्पतियोंमें पाया जाता है। (२) **पाशविक जीव** जिसमें प्रसव और वृद्धिके अतिरिक्त पहिचान[1]की भी शक्ति है, यह सभी पशुओंमें पाई जाती है। (३) **मानुषिक जीव** बाकी दोनों जीवोंमें श्रेष्ठ है, इसमें प्रसव, वृद्धि, पहिचानके अतिरिक्त बुद्धि, चिन्तन या विचारकी शक्ति भी है, यह सिर्फ मनुष्यमें है। प्राणिशास्त्रका पिता अरस्तू चाहे डार्विनी विकासवाद तक न पहुँचा हो, किन्तु वह एक तरहके विकासको वनस्पति—पशु—मनुष्यमें क्रमशः होने जरूर मानता है; जैसा कि उसके जीव संबंधी पूर्व-पूर्वके गुणोंको लेते हुए उत्तर-उत्तरमें नये गुणोंके विकाससे मालूम हो रहा है। अरस्तू जीव (=आकृति)को प्रकृतिसे अलग अस्तित्व रखनेवाली वस्तु नहीं मानता, यह बतला आए हैं। वह यह भी मानता है, कि जीव-व्यक्तियोंके रूपमें प्रकट होते हैं, और व्यक्तिके खातमेके साथ उनका भी खातमा हो जाता है। अरस्तू जीवकी सीमाको यहाँ समाप्त कर नफ़्स या आत्माकी सीमामें दाखिल होता है, यह जरा ठहरकर बतलायेंगे। गोया अरस्तूका वर्गीकरण हुआ प्रकृति—आकृति (=जीव)—विज्ञान (=नफ़्स), जिनमें प्रकृति और आकृति अभिन्न-सहचारिणी सखियाँ हैं, उपनिषद्का त्रैतवाद प्रकृति, आकृति (=जीव)के सखित्वको न मानकर आकृतिको आत्मा बना आत्मा-(परम-) आत्माको सखा बनाता है।[2] किंतु जिस तरह हमने यहाँ साफ-साफ करके इस वर्गीकरणको दिखलाया, अरस्तू अपने लेखोंमें उतना साफ नहीं है। कहीं वह मानुषिक जीवको जीव कोटिमें रख, उसे प्रकृति-सहचर तथा व्यक्तिके साथ उत्पत्तिमान और नाशमान मानता है, और कहीं

[1] **अद्राक।** [2] **"द्वा सुपर्णा सयुजा सखायाः"—श्वेताश्वतर (४।६) और मुंडकउपनिषद् (३।१।१)**

वानस्पतिक और पाशविक जीवकी बिरादरीसे निकालकर उसे नातिक-विज्ञान[1] लोकमें लाना चाहता है। वह जीवन ही नातिक-विज्ञान[1] है।

नातिक-विज्ञान—विज्ञानीय जीव या नातिक-विज्ञान नीचेके तत्त्वों (प्रकृति, आकृति)से श्रेष्ठ है, और वही सभी चीजोंका ज्ञाता[2] है—मानो नातिक-विज्ञान ऊपरसे नीचेकी दुनियामें खास उद्देश्यसे भेजा जाता है। उसका इस दुनियाकी (प्राकृतिक या आकृतिक) व्यक्तियोंसे कोई अपनापन नहीं; वह अवयवको नहीं अवयवी, सामान्य तथा आकृतिका ज्ञान रखता है। इसीके द्वारा मनुष्य इन्द्रियोंकी दुनियाके परे ज्ञान-गम्य दुनियाको जाननेमें समर्थ होता है। किन्तु ज्ञान-गम्य दुनियाका ठीक-ठीक पता अतिमानुष विज्ञानों (=ऊपरकी नफ़्सों)को ही होता है, अतः नातिक विज्ञान एक दर्पण है, जिसके द्वारा मनुष्य ऊपरकी विज्ञानीय दुनियाके प्रतिबिंबको देख सकता है।

इन्द्रिय-विज्ञान—नातिक-विज्ञान अवयवका ज्ञान नहीं करता, वह अति मानुष विज्ञानों[3]की भाँति केवल अवयवी, आकृति या सामान्यका ज्ञान करता है; यह कह आए हैं। इसलिए अवयव या व्यक्तिके ज्ञानके लिए अरस्तूने एक और विज्ञानकी कल्पना की है, जिसका नाम इन्द्रिय-विज्ञान है। आगको छूकर गर्मीका ज्ञान इन्द्रिय-विज्ञानका काम है। इन्द्रिय-विज्ञानोंका कार्यक्षेत्र निश्चित है, शरीरमें उनका सीमित स्थान है; नातिक-विज्ञान न तो अवयव या शरीरके किसी भागमें समाया हुआ है, न शरीरके भीतर एक जगह सीमित होकर बैठा है; न उसके लिए बाह्य विषयोंकी पाबंदी है, और न उसकी क्रियाके लिए देश-काल या कमी-बेशीकी। वह भौतिक वस्तुओंपर बिलकुल आश्रय नहीं करता।

नातिक-विज्ञान—जीव और शरीरके पारस्परिक संबंध तथा शरीरके उत्पत्ति विनाशके साथ जीवके उत्पत्ति-विनाशकी बात कह आए हैं; किन्तु नातिक-विज्ञान, जैसा कि अभी बतलाया गया, शरीरसे बिलकुल अलग है

---

[1] नफ़्स-नातिक़ा, या रूहे-अक़्ली नतक़=Noetic (यूनानी)=ज्ञान।
[2] मुद्रिक। [3] अजरामे-अलूइया।

जिस तरह अपनी क्रियाके आरंभ करनेमें वह शरीरपर अवलंबित नहीं, उसी तरह शरीरके नष्ट हो जानेपर भी उसमें परिवर्तन नहीं होता; वह नित्य सनातन है।

नातिक विज्ञानके अरस्तूने दो भेद बतलाए हैं—क्रिया-विज्ञान[1], और अधिकरण-विज्ञान[2], क्रिया-विज्ञान वस्तुओंको ज्ञात—मालूम—होने योग्य बनाता है, यह अतिमानुष विज्ञानोंका नातिक-विज्ञान है, जिसके भागीदारोंमें मानव जाति भी है। अधिकरण-विज्ञान ज्ञात (वस्तुओं)से प्रभावित हो उनके प्रतिबिंबको अपने भीतर ग्रहण करता है, यह मानव-व्यक्तियोंका विज्ञान है; पहिलेका गुण क्रिया और प्रभाव है, दूसरेका गुण है प्रभावित होना। ये दोनों ही तत्त्व मौजूद रहते हैं, किंतु अधिकरण-विज्ञानका प्रकाश=प्राकट्य क्रिया-विज्ञानके बाद होता है। क्रिया-विज्ञान अधिकरण-विज्ञानसे श्रेष्ठ है, क्योंकि क्रिया-विज्ञान शुद्ध विज्ञानीय शक्ति[3] है, किन्तु अधिकरण-विज्ञान चूँकि उससे प्रभावित होता है, इसलिए उसमें पिंड (=शरीर)का भी मेल है[4]। अरस्तूके नफ़्स (=विज्ञान)-संबंधी विचारों का संक्षेप है—

(१) क्रिया-विज्ञान और अधिकरण-विज्ञान एक नहीं भिन्न-भिन्न हैं।

(२) क्रिया-विज्ञान नित्य और अधिकरण विज्ञान नश्वर है।

(३) क्रिया-विज्ञान मानव व्यक्तियोंसे भिन्न है।

(४) क्रिया-विज्ञान आदमीके भीतर भी है।

अरस्तू-टीकाकार सिकन्दर अफ़्दिसियुस् और देमासियुस् (५४९ ई०) दोनों अरस्तूसे भिन्न विचार रखते हैं। वह क्रिया-विज्ञानको मानवसे बिलकुल अलग मानते हैं, क्रिया-विज्ञानको देमासियुस् भेदक-विज्ञान कहता है, और उसीको सिकंदर कारण-कारण कहता है।

---

[1] **नफ़्स-फ़ेअली** Active reason. [2] **नफ़्स-इन्फ़आली,** Material or Receptive Nous (Reason).
[3] **अक़ली क़ूवत्।** [4] The Anine **प्राणि-शास्त्र (किताबुल्-हयात्)।**

(घ) रोश्दका विज्ञान (=नफ़्स) वाद—ऊपरके विवरणसे अरस्तूके निम्न-विचार हमें मालूम हैं। तत्व मुख्यत: तीन हैं—प्रकृति, जीव (=आकृति) और विज्ञान (=नफ़्स)। जीवके वह तीन भेद मानता है, जिनमें मानुष (=विज्ञानीय) जीवको विज्ञानकी तरफ खींचना चाहता है। विज्ञान (=नफ़्स)के वह सिर्फ दो भेद मानता है—क्रिया-विज्ञान और अधिकरण-विज्ञान।

लेकिन, रोश्दके वर्णनसे नफ़्स(=विज्ञान)के पाँच भेद मिलते हैं—(१) प्राकृतिक विज्ञान[1] या भूतानुगत विज्ञान; (२) अभ्यस्त-विज्ञान[2]; (३) ज्ञाता-विज्ञान[3]; (४) अधिकरण-विज्ञान और (५) क्रिया-विज्ञान।

सिकन्दर और अरब दार्शनिक प्राकृतिक-विज्ञान और अधिकरण-विज्ञानको एक समझते हैं, किन्तु रोश्द कभी-कभी प्राकृतिक-विज्ञानको क्रिया-विज्ञान आत्माके अर्थमें लेता है, और उसे अनादि अनुत्पन्न मानता है, और कहीं इससे भिन्न मानता है। देमासियुस् अभ्यस्त-विज्ञान और ज्ञाता-विज्ञानको एक मानता है, क्योंकि अक़्ल(=विज्ञान)को अक़्ल ही पैदा कर सकती है, माद्दा (=प्रकृति) अक़्ल (=विज्ञान)को नहीं पैदा कर सकता; अतएव सारी ज्ञान रखनेवाली वस्तुएं सिर्फ क्रिया-विज्ञानसे ही उत्पन्न हैं। इस बातकी और पुष्टि करते हुए वह कहता है—यद्यपि सभी अक़्ल(=नफ़्स या विज्ञान) अक़्ल-फ़आल (कर्ता-विज्ञान)से उत्पन्न हैं, लेकिन ज्ञानकी शक्ति हर व्यक्तिमें उसकी अभ्याससे प्राप्त ज्ञान-योग्यताके अनुसार होती है; इस-लिए ज्ञाता-विज्ञान और अभ्यस्त विज्ञानमें अन्तर नहीं रहा; अर्थात् ज्ञाता-विज्ञान भी वही है जो कि अभ्यास-प्राप्त होता है। देमासियुस्के इस मतके विरुद्ध रोश्द अभ्यस्त-विज्ञानमें दोनों बातें मानता है—एक ओर उसे वह ईश्वर (=कर्त्ता-विज्ञान)[4]का कार्य बतलाता है, और इस प्रकार उसे अनादि और अ-नश्वर मानता है, और दूसरी ओर उसे आदमीके अभ्यासका परि-णाम कहता है, जिससे वह उत्पन्न तथा नश्वर है।

---

[1]अक़्ल-हेवलानी। [2]अक़्ल-मुस्तफ़ाद। [3]अक़्ल मुद्रिक। [4]अक़्ले-फ़आल।

नाम अलग-अलग रखते हुए भी अरस्तू तथा उसके दूसरे टीकाकारोंकी भाँति रोश्द वस्तुतः नफ़्सों (=अक्लों, विज्ञानों) के भेदको न मानकर नफ़्सकी एकताको स्वीकार करता है। वह कहता है—यह ठीक है कि चूँकि विज्ञान (=नफ़्स) अनेक भिन्न-भिन्न आकार-प्रकारोंको स्वीकार करनेकी शक्ति रखता है, इसलिए जहाँ तक उसके अपने स्वरूपका संबंध है, उसे आकार-प्रकार-से रहित होना चाहिए—अर्थात् अपने असली स्वरूपमें विज्ञान (=नफ़्स) ज्ञान-योग्यताका नाम है। लेकिन यह कहनेका कोई अर्थ नहीं कि सिर्फ योग्यताके अस्तित्वको स्वीकार कर मनुष्यमें क्रिया-विज्ञानके होनेसे इन्कार कर दिया जाये। और जब हम मनुष्यमें क्रिया-विज्ञानको मानते हैं, तो यह भी मानना पड़ेगा, कि विज्ञान[1] अपने स्वरूपमें किसी विशेष आकार-प्रकार-के साथ मूर्तिमान् हो गया—"**क्रिया** सिर्फ (अ-प्रकट, अन्तर्हित) योग्यताके प्रकाशका नाम है", वह किसी विशेष आकार-प्रकारके साथ मूर्तिमान् होनेका नाम नहीं है। अतएव यह कहनेके लिए कोई कारण नहीं मालूम होता, कि आध्यात्मिक या (आन्तरिक) संभवनीयता या योग्यताको तो स्वीकार किया जाये, किन्तु वाह्य क्रियावत्ता या प्रकाशको स्वीकार न किया जाये। ऐसी अवस्थामें, ज्ञान या प्रतीतिका अर्थ सिर्फ ज्ञान योग्यता नहीं, बल्कि ज्ञान-घटना है। जबतक आध्यात्मिक या अधिकरण-संबंधी, और वाह्य या क्रिया-संबंधी विज्ञानोंके पारस्परिक प्रभाव—अर्थात् शक्तिमत्ता और क्रियावत्ता—एकत्रित न होंगे, तबतक ज्ञान अस्तित्वमें आ नहीं सकता। यह ठीक है, कि अधिकरण-विज्ञान[2] में अनेकता या बहुसंख्यकता है, और वह मानव-शरीरकी भाँति नश्वर है, तथा क्रिया-विज्ञान अपने उद्गमके ख्यालसे मनुष्यसे अलग और अनश्वर है।

दोनों (क्रिया और अधिकरण-) विज्ञानोंमें उपरोक्त भेद रहते भी दोनोंका एकत्रित होनेका न तो यह अर्थ है, कि क्रिया-विज्ञान व्यक्तियोंकी अनेकताके कारण अनेक हो जाये, और न इसका यह अर्थ है कि व्यक्तियोंकी

---

[1] Nous (**नफ़्स**), **अक्ल**। [2] **अक़्ल-इन्फ़आली**।

अनेकता खतम हो जाये, और वह क्रिया-विज्ञानकी एकतामें विलीन हो जायें। इसका अर्थ सिर्फ यही है, कि क्रिया-विज्ञानके (अनादि सनातन) अंशोंमें मानवता बाँट दी गई है—अर्थात् क्रिया और अधिकरण-विज्ञानोंके एकत्रित होनेका सिर्फ यह अर्थ है, कि मनुष्यके मस्तिष्ककी बनावट जिस तरह एक-सी योग्यताओंकी प्रदर्शिका है, उससे मानवजातिको **क्रिया-विज्ञान**के अंशोंका मिश्रण होता रहता है। ये अंश अपने स्वरूपमें अ-नश्वर और चिरस्थायी हैं। इनका अस्तित्व मानव व्यक्तियोंके साथ बँधा नहीं है। बल्कि, यदि कभी मानव-व्यक्तिका अस्तित्व न रह जाये, उस अवस्थामें भी इनका काम इसी तरह जारी रहता है, जिस तरह मानव व्यक्तियोंके भीतर। इस असंभव कल्पनाकी भी आवश्यकता नहीं। सारा विश्व **परम-विज्ञान**[1]के प्रकाशमान कणोंसे प्रकाशित है। प्राणी, वनस्पति, धातु और भूमिके भीतर-बाहरके भाग—सभी जगह इसी परम-विज्ञानका शासन चल रहा है। परम विज्ञान जैसे इन सब जगहोंमें प्रकाशमान है, वैसे ही मनुष्यमें भी, क्योंकि मनुष्य भी उसी **प्रकाशमान विश्व**का एक अंश है। जिस तरह मानवता सारे मनुष्योंमें एक ही है, उसी तरह सारे मनुष्योंमें एक विज्ञान भी पाया जाता है। इसका अर्थ यह हुआ, कि व्यक्ति-संख्या-भेदसे शून्य तथा विश्व-शासक परम-विज्ञान जब क्रियापनका वस्त्र पहनता है, तो भिन्न-भिन्न किस्मोंमें प्रकाशित होता है—कहीं वह प्राणीमें प्रकाशित होता है, कहीं देवताओंमें[2], और कहीं मनुष्यमें; इसीलिए व्यक्ति स्वरूप नश्वर है, किन्तु मानवता-विज्ञान[3] चिरन्तन तथा अनश्वर है, क्योंकि वह उस विज्ञानका एक अंश है।

उपरोक्त कथनसे यह भी सिद्ध होता है कि क्रिया-विज्ञान और मानवता-विज्ञान दोनोंके अनादि होनेपर मानवता कभी नष्ट न होगी—मानवमें ज्ञान (=दर्शन, साइंस आदि)का प्रकाश सदा होता रहेगा।

(ङ) सभी विज्ञानोंका परमविज्ञानमें समागम—रोश्दके कहे

---

[1] अक़्ल-मुल्लक़्। [2] अफ़लाक। [3] नफ़से-इन्सानियत्।

पाँच विज्ञानोंका[1] नाम हम बतला चुके हैं। रोश्द उनको समझाते हुए कहता है कि (१) प्राकृतिक विज्ञानका[2] अस्तित्व मनुष्यके पैदा होनेके साथ होता है, उस वक्त वह सिर्फ ज्ञानकी योग्यता या संभावनाके रूपमें रहता है आयुके बढ़नेके साथ (अन्तर्हित) योग्यता क्रियाका रूप लेती है, और इस विकासका अन्त (२) **अभ्यस्त-विज्ञान**की[3] प्राप्तिपर होता है, जो कि मानव-जीवनकी चरम सीमा है। लेकिन अभ्यस्त-विज्ञान विज्ञानका चरम-स्थान नहीं है। हाँ, प्रकृतिमें लिप्त रहते उसका जो विकास हो सकता है, उसका चरम विकास कह सकते हैं। उसके आगे प्राकृतिक जगत्‌से ऊपर उठता वह शुद्ध **विज्ञान जगत्**की ओर बढ़ता है, जितना वह विज्ञान-जगत्‌के करीब पहुँचता जाता है, उतना ही उसका विज्ञान-जगत्‌से समागम होता जाता है। इस अवस्थामें पहुँचकर विज्ञान हर प्रकारकी वस्तुओंका ज्ञान स्वयं प्राप्त कर लेता है। अर्थात् ज्ञाता-विज्ञानकी[4] अवस्थामें पहुँच जाता है। यही वह अवस्था है, जहाँ 'मैं-तुम'के भेद उठ जाते हैं, और मनुष्य कर्त्ता-विज्ञान[5] (=ईश्वर)का पद प्राप्त कर लेता है। चूँकि कर्त्ता-विज्ञानके अन्दर सब तरहकी वस्तुएं मौजूद हैं, इसलिए मनुष्य भी मूर्त्तिमान् "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"[6] बन जाता है।

[कर्त्ता (परम) विज्ञान ही सब कुछ]—अरस्तू कहता है—"ज्ञान ही विज्ञानका स्वरूप है, और ज्ञान भी मामूली इन्द्रिय-विषयोंका नहीं बल्कि सनातन गुण रखनेवाली चीजों—विज्ञानमय (=विज्ञान-जगत्)—का। तब स्पष्ट है कि नफ़्सोंका नफ़्स (=विज्ञानोंका विज्ञान) अर्थात् कर्त्ता-विज्ञान (ईश्वर)का स्वरूप ज्ञानके सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता। ईश्वरमें जीवन है, और उसका जीवन केवल ज्ञान-क्रिया होनेका नाम है। कर्त्ता-विज्ञान सनातन शिव और केवल मंगल (-मय) है; और ज्ञानसे बढ़कर कोई शिवता (=अच्छाई) नहीं हो सकती। ("नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह

---

[1] अक़्ल। [2] अक़्ल-हेवलानी। [3] अक़्ल-मुस्तफ़ाद। [4] अक़्ले-मुद्रिक्। [5] अक़्ल-फ़अ़ाल। [6] "हमा-ओ-स्त" (सब वह है)।

विद्यते") अतः ईश्वर इस शिवताका स्रोत है। किन्तु उसके ज्ञानमें विज्ञाता और विज्ञेयका भेद नहीं, क्योंकि वहाँ उसके स्वरूपके सिवा और कोई चीज मौजूद भी नहीं है, और है भी तो उसके अन्दर। अतएव वह (=कर्त्ता-विज्ञान, ईश्वर) यदि अपनेसे भिन्न चीजका ज्ञान भी करे, तो भी अपने स्वरूपके ज्ञानके सिवा और हो नहीं सकता। इस तरह वह स्वयं ही ज्ञाता और ज्ञेय दोनों है; बल्कि यों कहना चाहिए कि उसका ज्ञान, ज्ञानके ज्ञानका नाम है, क्योंकि उस अवस्थामें ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञातामें कोई भी भेद नहीं है—जो ज्ञान है वही ज्ञाता है, जो ज्ञाता है वही ज्ञेय है, और इसके अतिरिक्त सारी चीजें 'नास्ति' हैं।[1]

रोश्द आचार-शास्त्रमें संक्षेपमें फिर अपने विज्ञान-अद्वैतवादपर लिखता है[2]—

"ज्ञान—प्रतीति—के अतिरिक्त और जितनी शिवतायें (=अच्छाइयाँ) हैं, उनमेंसे कोई भी स्वतः वांछनीय नहीं होती, और न किसीसे आयुमें वृद्धि होती है। वह सबकी सब नश्वर हैं, किंतु यह शिवता (-ज्ञान) अनश्वर है; सबकी सब दूसरोंकी वांछा पूरी करती हैं, किंतु यह (ज्ञान) स्वयं अपनी वांछा है, उसको छोड़ किसी वांछाका अस्तित्व नहीं। लेकिन मुश्किल यह है, कि ज्ञानोंका उच्चतम पद मनुष्यकी पहुँचसे बाहर है—मनुष्य सिरसे पैर तक भौतिकतासे घिरा हुआ है, वह मानवताकी चहारदीवारीके भीतर रहते उन पदों तक किसी तरह पहुँच नहीं सकता। हाँ, उसके भीतर ईश्वर (=कर्त्ता-विज्ञान)की ज्योति जग रही है, यदि वह उसकी ओर बढ़नेकी कोशिश करे—मानवताकी पोशाक (=आवरण)को उतारकर—अपने अपनत्व (=मैंपन)को नष्ट कर दे, तो निस्संदेह केवल शिवकी प्राप्ति उसे हो सकती है।....लोग कहते हैं कि मनुष्यको मनुष्यकी तरह जीवन-यापन करना चाहिए, चूँकि वह स्वयं भौतिक है, इसलिए भौतिकतासे ही उसे नाता रखना

---

[1] "माबाद-तबइयात्", पृष्ठ २५५

[2] "तल्खीस किताबे-अख़लाक़", पृष्ठ २९६

चाहिए। लेकिन यह ठीक नहीं है। हर जातिकी शिवता (=अच्छाई) सिर्फ उसी चीजमें होती है, जिससे उसके आनंदमें वृद्धि होती हो, और जो उसके अनुकूल हो। अतएव मनुष्यकी शिवता यह नहीं है, कि वह कीड़ों-मकोड़ोंकी तरह (प्रवाहमें) बह जाये। उसके भीतर तो ईश्वरकी ज्योति जगमगा रही है, वह उसकी ओर क्यों न ख्याल करे, और ईश्वरसे वास्तविक समागम क्यों न प्राप्त करे—यही तो वास्तविक शिवता[1] और उसका अमर जीवन है। "उस पदकी क्या प्रशंसा की जाये? वह आश्चर्यमय पद है, जहाँपर पहुँचकर बुद्धि आत्मविभोर हो जाती है, लेखनी आनंदातिरेकमें रुक जाती है, जिह्वा स्खलित होने लगती है, और शब्द अर्थोंके पर्दोंमें छिप जाते हैं। जबान उसके स्वरूपको किस तरह कहे, और लेखनी चलना चाहे तो भी किस तरह चले?"

(च) परमविज्ञानकी प्राप्तिका उपाय—यद्यपि ऊपरके उद्धरण-की भाषा और कुछ-कुछ आशयसे भी—आदमीको भ्रम हो सकता है, कि रोश्द सूफीवादके योग-ध्यानको कर्त्ता-विज्ञान (=ईश्वर)के समागमके लिए जरूरी समझता होगा; किन्तु, ध्यानसे देखनेसे मालूम होगा, कि उसका परमविज्ञान-समागम ज्ञानकी प्राप्तिपर है। इस्लामिक दार्शनिकोंमें रोश्द सबसे ज्यादा सूफीवादका विरोधी है। वह योग, ध्यान, ब्रह्मलीनता[2]को बिलकुल झूठी बात कहता है। मनुष्यकी शिवता उसी योग्यताको विकसित करनेमें है, जिसे लेकर वह पैदा हुआ, और वह है ज्ञानकी योग्यता। आदमीको उसी वक्त शिवता प्राप्त होती है, जब वह इस योग्यताको उन्नत कर पदार्थोंकी वास्तविकताके तह तक पहुँच जाता है। सूफियोंका आचार-उपदेश बिलकुल असत्य और बेकार है। मनुष्यके पैदा होनेका प्रयोजन यह है, कि इन्द्रिय-जगत्पर विज्ञान-जगत्का रंग चढ़ाये। बस इसी एक उद्देश्यके प्राप्त हो जानेपर मनुष्यको स्वर्ग मिल जाता है, चाहे उसका कोई भी मजहब क्यों न हो। "दार्शनिकोंका असली मजहब है

---

[1] सआदत्। [2] फ़ना-फ़िल्लाही।

विश्वके अस्तित्वका अध्ययन, क्योंकि ईश्वरकी सर्वश्रेष्ठ उपासना केवल यही हो सकती है, कि उसकी सृष्टि—कारीगरी—का वास्तविक ज्ञान प्राप्त किया जाये; यह ईश्वरके परिचय करने जैसा है। यही एक कर्म है, जिससे ईश्वर खुश होता है। सबसे बुरा कर्म वे करते हैं, जो कि ईश्वरकी बहुत ही श्रेष्ठ उपासना करनेवालेको काफिर कहते, तथा परेशान करते हैं।"[1]

(छ) मनुष्य परिस्थितिका दास—मनुष्य काम करनेमें स्वतंत्र है या परतंत्र; दूसरे कितने ही दार्शनिकोंकी भाँति रोश्दने भी इस प्रश्नपर कलम उठाई है। इसपर कुछ कहनेसे पहिले संकल्पको समझना जरूरी है, क्योंकि कर्म करनेसे पहिले संकल्प होता है अथवा संकल्प स्वयं ही एक कर्म—मानस-कर्म—है।

(a) **संकल्प**—संकल्पके बारेमें रोश्दका मत है—संकल्प मनुष्यकी एक आत्मिक (=मानसिक) अवस्था है, जिसका उद्देश्य यह है, कि मनुष्य कोई कर्म करे। लेकिन, मनुष्यके संकल्पकी उत्पत्ति उसके भीतरसे नहीं होती, बल्कि उसकी उत्पत्ति कितने ही बाहरी कारणोंपर निर्भर है। यही नहीं कि इन बाहरी कारणोंसे हमारे संकल्पमें दृढ़ता पैदा होती है, बल्कि हमारे संकल्प-की कायमी और सीमा भी इन्हीं कारणोंपर निर्भर है। संकल्प राग या द्वेष इन दो मानसिक अवस्थाओंका है, जो कि बाहर किसी लाभदायक या हानि-कारक वस्तुके अस्तित्व या ख्यालसे हमारे भीतर पैदा होती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि एक हद तक संकल्पका अस्तित्व बाहरी कारणों ही पर निर्भर है—जब कोई सुन्दर वस्तु हमारी आँखके सामने आती है, अवश्य ही हमारा आकर्षण उसकी ओर होता है; जब कोई असुन्दर या भयानक वस्तुपर हमारी निगाह पड़ती है, तो उससे विराग होता है। मनकी इसी राग-द्वेष या आकर्षण-विराग वाली अवस्थाका नाम संकल्प है। जब तक हमारे मनको उकसानेवाली कोई बात सामने नहीं आती, उस वक्त तक संकल्प भी अस्तित्वमें नहीं आता, यह स्पष्ट है।

---

[1] History of Philosophy (G. E. Lewis) Vol. 1

(b) **संकल्पोत्पादक बाहरी कारण**—(१) बाहरी कारण संकल्पके उत्पादक होते हैं, यह तो बतलाया; किन्तु यह भी ख्याल रखना है, कि इन बाहरी कारणोंका अस्तित्व भी क्रम-रहित—व्यवस्था-शून्य—नहीं होता; बल्कि ये स्वयं बाहरवाले अपने कारणोंके आधीन होते हैं। इस प्रकार हमारे भीतर संकल्पका आना क्रम-शून्य तथा बे-समय नहीं होता; बल्कि (२) कारणोंके क्रम (=परम्परा)की भाँति संकल्पोंकी भी एक क्रमबद्ध शृंखला होती है। जिसकी प्रत्येक कड़ी कारणोंकी शृंखलाकी भाँति बाहरी कड़ीसे मिली होती है। इसके अतिरिक्त (३) स्वयं हमारी शारीरिक व्यवस्था—जिसपर कि बहुत हद तक हमारे संकल्प निर्भर करते हैं—भी एक खास व्यवस्थाके आधीन है। ये तीनों कार्य-कारण शृंखलामें एक दूसरेसे जकड़ी हुई हैं। इन तीनों शृंखलाओंके सभी अंश या कड़ियाँ मनुष्यकी अक्लकी पहुँचसे बाहर हैं। हमारे शरीरकी व्यवस्थामें जो परिवर्त्तन होते हैं, वे सभी हमारे ज्ञान या अधिकारसे बाहर हैं। इसी तरह बाहरी जगत्की जो क्रियाएं या प्रभाव हमारे मानसिक जीवनपर काम करते हैं, वह असंख्य होनेके अतिरिक्त हमारे ज्ञान या अधिकारसे बाहर रहते, हमपर काम करते हैं। इस तरह इन बाहरी क्रियाओं या प्रभावोंमेंसे अधिकांशको संचित करना क्या उनका ज्ञान प्राप्त करना भी मनुष्यकी शक्तिसे बाहरकी बात है। यही वजह है, कि मनुष्य परिस्थितिके सामने लाचार और बेबस है। वह चाहता कुछ है, और होता कुछ है।

(४) **सामाजिक विचार**—हम देख चुके हैं, कि रोश्द जहाँ विज्ञान (=नफ़्स)को लेता है, तो ज्ञानकी हल्कीसी चिनगारीको भी परम विज्ञानसे आई बतलाकर सबको विज्ञानमय बतलाता है। साथ ही प्रकृति (=भूत) से न वह इन्कार करता है, और न उसे विज्ञानका विकार या माया बतलाता है; बल्कि परिस्थितिवादमें तो विज्ञान-ज्योतिसे युक्त मानवको वह जिस प्रकार प्रकृतिसे लाचार बतलाता है, उससे तो अपने क्षेत्रमें प्रकृति उसके लिए विज्ञानसे कम स्वतंत्र नहीं है। इन्हीं दो तरहके विचारोंको लेकर उसके समर्थकोंका विज्ञानवादी और भौतिकवादी दो दलोंमें

बँट जाना बिलकुल स्वाभाविक था। यदि रोश्दको विज्ञानवाद भी पसंद था तो इसमें तो शक नहीं कि वह ग़ज़ाली आदिके सूफीवाद या शंकर आदिके अद्वैत-ब्रह्मवादकी तरहका नहीं था, जिसमें जगत् ब्रह्ममें कल्पित सिर्फ माया या अध्यास मात्र हो। लेकिन रोश्दके सामाजिक विचारोंकी जो बानगी हम देने जा रहे हैं, उससे जान पड़ता है, कि भौतिकवाद और व्यवहार-वादपर ही उसका जोर ज्यादा था।

(क) समाजका पक्षपाती—समाजके सामने व्यक्तिको रोश्द कितना कम महत्त्व देता था, यह उसके इस विचारसे साफ हो जाता है—मानवजातिकी अवस्था वनस्पतिकी भाँति है। जिस तरह किसान हर साल बेकार तथा निष्फल वृक्षों और पौधोंको जड़से उखाड़ फेंकते हैं, और सिर्फ उन्हीं वृक्षोंको रहने देते हैं, जिनसे फल लेनेकी आशा होती है; उसी तरह यह बहुत आवश्यक है कि बड़े-बड़े नगरोंकी जन-गणना कराई जाये, और उन व्यक्तियोंको क़त्ल कर दिया जाये, जो बेकार जीवन बिताते हैं, और कोई ऐसा पेशा या काम नहीं करते जिनसे जीवन-यापन हो सके। सफाई और स्वास्थ्य-रक्षाके नियमानुसार नगरोंको बसाना सरकारका कर्त्तव्य है, और यह तबतक संभव नहीं है, जबतक कि काम करनेमें असमर्थ, लूले, लँगड़े और बेकार आदमियोंसे शहरोंको पाक न कर दिया जाये[1]।

रोश्दने अरस्तूके "राजनीति-शास्त्र"के अभावमें अफलातूँके "प्रजा-तंत्र"पर विवरण लिखा था, और इस बारेमें अफलातूनके सिद्धान्तोंसे बहुत हद तक सहमत था। नगरको फज़ूलके आदमियोंसे पाक करना, अफलातूँके दुर्बल बच्चोंको मरनेके लिए छोड़ देनेका अनुकरण है। स्वास्थ्य-रक्षा, आनुवंशिकता और सन्तान-नियंत्रण द्वारा, बिना क़त्ल किये भी, अगली पीढ़ियोंको कितना बेहतर बनाया जा सकता है, इसे रोश्दने नहीं समझा। तो भी उस वक़्तके ज्ञानकी अवस्थामें यह क्षम्य हो सकता है; किन्तु उनके

---

[1] "इब्न-रोश्द" (रेनाँ, २४७) अन्सारी द्वारा उद्धृत, पृष्ठ २६२

लिए क्या कहा जाय, जो कि आज क़त्ल-आमके द्वारा "हीन" जातियोंका संहार कर "उच्च" जातिका विस्तार करना चाहते हैं।

रोश्द मूर्ख शासकों और धर्मान्ध मुल्लोंके सख्त खिलाफ़ था। मुल्लोंको वह विचार-स्वातंत्र्यका दुश्मन होनेसे मानवताका दुश्मन मानता था। अपने समयके शासकों और मुल्लाओंका उसे बड़ा तल्ख तजर्बा था, और हकामकी (हस्तलिखित) चार लाख पुस्तकोंकी लाइब्रेरीकी होली उसे भूलनेवाली न थी। इस तरह दुनियामें अंधेर देखते हुए भी वह फाराबी या बाजाकी भाँति वैयक्तिक जीवन या एकान्तताका पक्षपाती न था। समाजमें उसका विश्वास था। वह कहता था कि वैयक्तिक जीवन न किसी कलाका निर्माण कर सकता है न विज्ञानका। वह ज्यादासे ज्यादा यही कर सकता है, कि समाजकी पहिलेकी अर्जित निधिसे गुज़ारा करे, और जहाँ-तहाँ नाममात्रका सुधार भी कर सके। समाजमें रहना, तथा अपनी शक्तिके अनुसार सारे समाजकी भलाईके लिए कुछ करना हर एक आदमीका फ़र्ज़ होना चाहिए। इसीलिए वह स्त्रियोंकी स्वतंत्रता चाहता है। मजहबवालोंकी भाँति सदाचार नियमको वह "आसमानसे टपका" नहीं मानता था, बल्कि उसे बुद्धिकी उपज समझता था; न कि वैयक्तिक स्वार्थके लिए वैयक्तिक बुद्धिकी उपज। राष्ट्र या समाजकी भलाई उसके लिए सदाचारकी कसौटी थी। धर्मके महत्त्वको भी वह सामाजिक उपयोगिताके ख्यालसे स्वीकार करता था। आमतौरसे दर्शनसे भिन्न और उलटी राय रखनेके कारण धर्मकी असत्यतापर रोश्दका विश्वास था, किन्तु अफलातूंके "भिन्न-भिन्न धातुओंसे बने आदमियोंकी श्रेणियाँ होने"को प्रोपेगंडा द्वारा हृदयांकित करनेकी भाँति मजहबको भी वह प्रोपेगंडाकी मशीन समझता था, और उस मशीनको इस्तेमाल करनेसे उसे इन्कार नहीं था, यदि वह अपने आचार-नियमों द्वारा समाजकी बेहतरी कर सके।

(ख) स्त्री-स्वतन्त्रतावादी—मुल्समीन शासकोंके यहाँ स्त्रियाँ मुंह

[1] देखो "मानव-समाज" पृष्ठ १२०-१

खोले सरे-आम घूमती थीं, और मर्द मुंहपर पर्दा रखते थे, ऐसा करके इस्लाम-ने दिखला दिया कि वह इस पार उस पार दोनों चरम-पंथोंमें जा सकता है। किंतु, इसका यह अर्थ नहीं कि मुल्समीन रानियाँ और राजकुमारियाँ आर्थिक स्वातंत्र्य—जो ही कि वास्तविक स्वातन्त्र्य है—की अधिकारिणी थीं; और फिर यह रवाज सिर्फ़ राजवंश तक सीमित था। रोश्द वस्तुतः स्त्रियोंकी स्वतंत्रता चाहता था, क्योंकि वह इसीमें समाजका कल्याण समझता था। यह भी स्मरण रहना चाहिए, कि इस बातमें अफलातूँ भी इतना उदार नहीं था।

रोश्दकी रायमें स्त्री और पुरुषकी मानसिक तथा शारीरिक शक्तियोंमें कोई मौलिक भेद नहीं है, भेद यदि कहीं मिलेगा तो वह कुछ कमी-बेशी ही का। कला, विद्या, युद्ध-चातुरीमें जिस तरह पुरुष दक्षता प्राप्त करते हैं, उसी तरह स्त्रियाँ भी प्राप्त कर सकती हैं; पुरुषोंके कंधेसे कंधा मिलाकर वह समाजकी हर तरहसे सेवा कर सकती हैं। यही नहीं, कितनी ही विद्याएं—कलाएं—तो स्त्रियोंके ही लिए प्रकृतिकी ओरसे सुरक्षित हैं;—उदाहरणार्थ संगीतकी व्यवस्था और चरम विकास तभी हो सकता है, जब कि स्त्रियाँ उसमें हस्तावलंब दें। युद्धमें स्त्रियोंकी दक्षता कोई काल्पनिक बात नहीं है। अफ्रीकाकी कितनी ही बद्दू-रियासतोंमें स्त्रियोंकी रण-चातुरीके बहुत अधिक उदाहरण मिलते हैं, जिनमें स्त्रियोंने युद्ध-क्षेत्रमें सिपाही और अफ़सरके कर्त्तव्यको बड़ी सफलतासे पूरा किया। इसी तरह इसके भी कितने ही उदाहरण हैं, जब कि शासन-यंत्र स्त्रीके हाथमें रहा, और राज्य-प्रबंध ठीकसे चलता रहा। स्त्रियोंके लिए स्थापित की गई आजकलकी व्यवस्था बहुत बुरी है, इसके कारण स्त्रियोंको अवसर नहीं मिलता, कि वह अपनी योग्यताको दिखला सकें। आजकी व्यवस्थाने तै कर दिया है कि स्त्रियोंका कर्त्तव्य सिर्फ़ यही है, कि सन्तान बढ़ावें, और बच्चोंका पालन-पोषण करें। लेकिन इसीका परिणाम है, जो कि एक हद तक उनकी छिपी हुई स्वाभाविक शक्ति लुप्त होती चली जा रही है। यही वजह है, कि हमारे देश (=स्पेन) में ऐसी स्त्रियाँ बहुत कम दिखलाई

पड़ती हैं, जो किसी बातमें भी समाजमें विशेष स्थान रखती हों। उनका जीवन वनस्पतियोंका जीवन है, खेतीकी भाँति वह अपने पतियोंकी सम्पत्ति हैं। हमारे देश (=स्पेन) में जो दरिद्रता दिन-पर-दिन बढ़ रही है, उसका भी कारण स्त्रियोंकी यही दुरवस्था है। चूँकि हमारे देशमें स्त्रियोंकी संख्या पुरुषोंसे अधिक है, और स्त्रियाँ अपने दिनोंको अधिकतर बेकार गुजारती हैं, इसलिए वह अपने श्रमसे परिवारकी सम्पत्तिको बढ़ानेकी जगह मर्दोंपर भार होकर जिन्दगी बसर करती हैं।

रोश्दके ये विचार बतलाते हैं, कि क्यों वह युरोपीय समाजमें तूफान लाने तथा उसे एक नई दिशाकी ओर धक्का देनेमें सफल हुआ।

४–यहूदी दार्शनिक

क–इब्न-मैमून (११३५–१२०८ ई०)

यद्यपि इब्न-मैमून मुसलमान घरमें नहीं, बल्कि इब्न-जिब्रोलकी भाँति यहूदी घरमें पैदा हुआ था, तो भी इस्लामिक दर्शन या दार्शनिकसे हमारा अभिप्राय यहाँ कुरानी दर्शनसे नहीं है, बल्कि ऐसी विचारधारासे है, जो अरबसे निकले उस क्षीण स्रोतमें दूसरी नई-पुरानी विचार-धाराओंके मिलनेसे बनी। इसीलिए हमने जिब्रोल—जो कि स्पेनिश इस्लामिक दर्शनधाराका प्रारम्भक था—के बारेमें पहिले लिखा, और अब इब्न-मैमूनके बारेमें लिखते हैं, जिसके साथ यह धारा प्रायः बिलकुल खतम हो जाती है।

(१) जीवनी—मूसा इब्न-मैमूनका जन्म रोश्दके शहर कार्दोवामें ११३५ ई० में हुआ था। बचपनमें ही वह बहुत तेज बुद्धि रखता था, और जब वह अभी बिलकुल तरुण था, तभी उसने बाबुल और यरूशिलमकी **तालमूदों**[1]पर विवरण लिखे, जिसकी वजहसे यहूदियोंमें उसका बहुत

---

[1] यहूदियोंके धर्म-ग्रंथ जो बाइबलसे निचले दर्जेके समझे जाते हैं, और जिन्हें उनके धर्माचार्योंने यरूशिलम या बाबुलके प्रवासमें बनाया।

सम्मान होने लगा। मैमूनने दर्शन किससे पढ़ा, इसमें मतभेद है। कुछ लेखक उसे रोश्दका शिष्य कहते हैं, और वह अपने दार्शनिक विचारोंमें रोश्दका अनुगामी था, इसमें सन्देह नहीं है; लेकिन वह स्वयं अपनी पुस्तक "दलाला" में सिर्फ इतना ही लिखता है, कि उसने इब्न-बाजाके एक शिष्यसे दर्शन पढ़ा। मोहिदीनके प्रथम शासक अबुल्मोमिन (११४७-६३ ई०) के शासनारंभमें यहूदियोंकी जो बुरी अवस्था हुई थी, उसी समय मैमून मिश्र भाग गया। पीछे वह मिश्रके नये शासक तथा शीयोंके ध्वंसक सलाहुद्दीन अयूबीका राजवैद्य बना। मिश्रमें आनेपर उसे रोश्दके ग्रंथोंको पढ़नेका शौक हुआ। ११९१ ई० में वह अपने योग्य शिष्य यूसुफ इब्न-यह्याको लिखता है—"मैं अरस्तूपर लिखी इब्न-रोश्दकी सारी व्याख्याओंको एकत्रित कर चुका हूँ, सिर्फ "हिस्स व महसूस" (=इन्द्रियके ज्ञान और ज्ञेय) की पुस्तक अभी नहीं मिली। वस्तुतः इब्न-रोश्दके विचार बहुत ही न्याय-सम्मत होते हैं, इसलिए मुझे उसके विचार बहुत पसंद हैं; किन्तु अफसोस है, कि समयाभावसे मैं उसकी पुस्तकोंका अध्ययन नहीं कर सका हूँ।"

मैमूनने ही सबसे पहिले रोश्दके महत्त्वको समझा, और उसकी वजहसे यहूदी विद्वानोंने उसके दर्शनके अध्ययन-अध्यापनका काम ही अपने हाथमें नहीं लिया, बल्कि उन्हींके इब्रानी और लातीनी अनुवादोंने युरोपकी अगली विचार-धाराके बनानेका भारी काम किया।

मैमूनका देहान्त ६०५ हिजरी (=सन् १२०८ ई०) में हुआ।

(२) दार्शनिक विचार—रोश्दने जिस तरह दर्शनके बुद्धि-प्रधान हथियारसे इस्लामके मजहबी वाद-शास्त्रियोंकी खबर ली, मैमूनने वही काम यहूदी वाद-शास्त्रियोंके साथ किया। रोश्दकी "तोहाफतु'त्-तोहाफ़त्" (=खंडन-खंडन) की भाँति ही उसकी पुस्तक "दलाला" ने यहूदी धर्मवादियों-पर प्रहारका काम किया। यहूदियोंके कितने ही सिद्धान्त इस्लामकी तरहके थे, और उनके खंडनमें मैमूनने रोश्दकी तरह ही सरगर्मी दिखलाई; बल्कि ईश्वरके बारेमें तो वह रोश्दसे भी आगे गया, और उसने कहा कि ईश्वरके बारेमें हम सिर्फ इतना ही कह सकते हैं, कि वह "यह नहीं" है "ऐसा

नहीं है"। यह बतलाना तो हमारी सामर्थ्यके बाहर है, कि उसमें अमुक-अमुक गुण हैं; क्योंकि यदि हम ईश्वरके गुणोंको साफ तौरसे बतला सकें, तो वह संसारकी चीजें जैसा हो जायेगा। वह यहाँ तक कहता है, कि ईश्वरको "असंग-अद्वैत" (=वहदहू-लाशरीक) भी नहीं कह सकते, क्योंकि अद्वैत भी एक गुण है। यद्यपि मैमून "जगत्की अनादिता"को स्वयं नहीं मानता था, किन्तु ऐसा माननेवालेको वह नास्तिक कहनेके लिए तैयार न था।

विज्ञान (=नफ्स)के सिद्धान्तमें मैमूनका रोश्दसे मतभेद था। वह मानता था, कि प्राकृतिक-विज्ञान[1], अभ्यस्त-विज्ञान[2]से ज्ञान प्राप्त करता है, और अभ्यस्त-विज्ञान कर्त्ता-विज्ञान[3] (=ईश्वर)से। विद्या (=दर्शन)को वह भी रोश्दकी भाँति ही बहुत महत्त्व देता था—मनुष्यकी चरमोन्नति उसकी विद्यासंबंधी उन्नतिपर निर्भर है, और यही ईश्वरकी सच्ची उपासना है।[4] विद्याके द्वाराही आदमी अपने जीवनको उन्नत कर सकता है; किन्तु, इस साधनका उपयोग सबके लिए आसान नहीं, इसलिए मूर्खों और अ-विद्वानोंकी शिक्षाके लिए ईश्वर पैगंबरोंको भेजता है।

ख—यूसुफ़ इब्न-यह्या (११९१ ई०)

जीवनी—यूसुफ इब्न-यह्या मराकोका रहनेवाला यहूदी था। यहूदियोंके निर्वासनके जमानेमें वह भी मिश्र चला आया, और मूसा इब्न-मैमूनसे उसने दर्शनका अध्ययन किया। यूसुफ भी अपने गुरुकी भाँति ही रोश्दके दर्शनका बड़ा भक्त था। रोश्दके प्रति अपनी भक्तिको उसने एक पत्रमें प्रकट किया है, जिसे उसने अपने गुरु मैमूनको लिखा था—

"मैंने आपकी प्रिय पुत्री सुरैयाको ब्याह-संदेश दिया। उसने

---

[1] अक्ल-माद्दी। [2] अक्ल-मुस्तफ़ाद। [3] अक़्ल-फ़आल।

[4] मैमूनसे दो सदी पहिले ब्राह्मण नैयायिक उदयनाचार्य (९८४ ई०) ने भी "उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता" (कुसुमांजलि) कहा था।

तीन शर्तोंके साथ मुझ गरीबकी प्रार्थना स्वीकार की—(१) स्त्रीधन (=मेहर) देनेकी जगह में अपने दिलको उसके हाथ बेच डालूँ; (२) शपथ-पूर्वक सदा प्रेम करनेकी प्रतिज्ञा करूँ; (३) वह षोड़शी कुमारियोंकी तरह मुझे आलिंगन करना पसंद करे। मैंने विवाहके बाद तीनों शर्तें पूरी करनेकी उससे प्रार्थना की। बिना किसी उज्रके वह राजी हो गई। अब हम दोनों पारस्परिक प्रेमके आनंद लूट रहे हैं। ब्याह दो गवाहोंकी उपस्थितिमें हुआ था : एक स्वयं आप—मूसा इब्न-मैमून—थे, और दूसरे थे इब्न-रोश्द।"

सारे पत्रको यूसुफने आलंकारिक भाषामें लिखा है। सुरैया वस्तुतः मैमूनकी कोई औरस पुत्री नहीं थी, बल्कि मैमून द्वारा प्रदत्त दर्शन-विद्याको ही वह उसकी प्रिय पुत्री कह रहा है, और इस "पाणिग्रहण"के करानेमें रोश्दका भी हाथ वह स्वीकार करता है।

यूसुफ जब हलब् (=अलेप्पो, सीरिया) में रहता था, तो उसकी जमाल-उद्दीन क़ुफ़्तीसे बहुत दोस्ती थी। जमालुद्दीन लिखता है—"एक दिन मैंने यूसुफसे कहा—यदि यह सच है कि मरनेके बाद जीवको इस दुनियाकी खबर मिलती रहती है, तो आओ हम दोनों प्रतिज्ञा करें कि हममेंसे जो कोई पहिले मरे, वह स्वप्नमें आकर दूसरेसे मृत्युके बादकी हालतकी सूचना दे। ....इसके थोड़े ही समय बाद यूसुफ मर गया। अब मुझको फिक्र पड़ी, कि यूसुफ स्वप्नमें आये और मुझे परलोककी बात बतलाये। प्रतीक्षा करते-करते दो वर्ष बीत गए। अन्तमें एक रात उसके दर्शनका सौभाग्य हुआ। मैंने देखा कि वह एक मस्जिदके आँगनमें बैठा हुआ है, उसकी पोशाक उजली है। उसे देखते ही मैंने पुरानी प्रतिज्ञाकी याद दिलाई। पहिले वह मुस्कराया, और मेरी ओरसे उसने मुँहको दूसरी ओर फेर लिया। लेकिन मैंने आग्रहपूर्वक कहा कि प्रतिज्ञा पूरी करनी होगी। लाचार हो कहने लगा—अवयवी (=पूर्ण ब्रह्म) अवयवमें समा गया, और अवयव (=शरीर-परमाणु) अवयव हीमें रह गया।"[1]

---

[1] "अखबारु'ल्-हुक्मा क़ुफ़्ती", पृष्ठ २५८

यूसुफ इब्न-यह्याकी प्रसिद्धि एक लेखकके तौरपर नहीं है। उसने अपने गुरुके काम—रोश्दके दर्शनका पठन-पाठन द्वारा यहूदियोंमें प्रचार—को खूब किया। यहूदियोंमें इस प्रचारका यह नतीजा हुआ, कि उनमें धर्मकी ओरसे उदासीनता होने लगी। यह अवस्था देख यहूदी धर्माचार्य मैमूनियोंके विरोधी हो गए, और १३०५ ई०में बारसलोना (स्पेन)के बड़े यहूदी धर्माचार्य सुलेमान इब्न-इद्रीसने फतवा जारी किया कि जो आदमी २५ वर्षकी आयुसे पहिले दर्शनकी पढ़ाई करेगा वह बिरादरीसे निकाल दिया जावेगा।

युरोपमें दर्शनके प्रचार—विशेषकर रोश्दके ग्रंथोंके अनुवाद-द्वारा—यहूदी विद्वानोंने किस तरह किया इसे हम अगले अध्यायमें कहेंगे।

५–इब्न-खल्दून (१३३२–१४०६ ई०)

[सामाजिक-अवस्था]—तेरहवीं सदीमें जब कि इस्लामने भारतपर अधिकार कर पूर्वमें अपने राज्यका विस्तार किया, उसी समय पच्छिममें उठती हुई युरोपीय जातियोंके प्रहारके कारण उसे स्पेन छोड़कर हटना पड़ा। लेकिन यह छोड़ना सिर्फ शासनके क्षेत्रमें ही नहीं था, बल्कि इस्लाम-धर्मको भी उसीके साथ जिब्राल्तरके जलतटको छोड़ अफ़्रीका लौटना पड़ा, जहाँ अब भी मराकोपर इस्लामी ध्वजा फैला रही है, और जिसकी राजधानी फ़ेजकी बनी काले फुँदनेवाली लाल टोपियाँ अब भी तुर्की टोपी-के नामसे भारतके कितने ही मुसलमानोंके सिरोंपर देखी जाती हैं। कबीलाशाही युगके यहूदी धर्मने राजनीतिक विजयमें जिस तरह धर्मको भी शामिल किया था, उसे सामन्तशाही युगका ईसाई-धर्म स्वीकार करनेमें असमर्थ था, और उसने कबीलाशाही मनोवृत्तिको छोड़ भिन्न-भिन्न राष्ट्रोंमें केवल धार्मिक भावको लेकर अपना प्रसार किया। धार्मिक प्रचारके साथ राजनीतिक प्रभाव विस्तार भी पीछे हुआ, बल्कि युरोपके कितने ही जर्मन, स्लाव आदि सामन्तोंने तो ईसाइयतको स्वीकारकर उसका प्रचार अपनी प्रजामें इसलिए जोरसे किया कि उससे कबीलाशाही स्वतंत्रताका खात्मा

होता है, और निरंकुश ईश्वरके प्रतिनिधि सामन्तके शासनकी पुष्टि होती, तो भी ईसाइयतमें दूसरेके देशपर आक्रमण कर उसे जीतनेके लिए जहाद (धर्म-युद्ध) छोड़नेकी गुंजाइश नहीं थी। शुद्ध कबीलाशाही समाजमें धर्म, राजनीति, और बहुत हद तक अर्थनीति भी सामाजिक जीवनके अभिन्न अंशसे होते हैं, इसलिए कबीला जो कुछ भी करता है उसके पीछे सिर्फ एक लक्ष्यको रख करता है यह नहीं कहा जाता। इस्लाम कबीलाशाही अरबमें पैदा हुआ था, किंतु वह सामन्तशाही प्रभावसे वंचित नहीं बल्कि बहुत हद तक प्रभावित था, जहाँ तक उसके धर्मका संबंध था; हाँ, प्रारंभमें आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि उसकी बहुत कुछ कबीलाशाही थी। हर कबीलेका ईश्वर, धर्म तथा जातीयताके साथ इतना संबद्ध होता है, कि उसे दूसरे कबीलेको दिया नहीं जा सकता है; इस्लाम इस बारेमें एक गैर-कबीलाशाही धर्म था, उसका ईश्वर और धर्म सिर्फ कुरैशके कबीलेके ही नहीं, सिर्फ अरब भाषा-भाषी कबीलों हीके लिए नहीं बल्कि दुनियाके सभी लोगोंके लिए था। इस तरह धर्ममें गैर-कबीलाशाही होते भी, युद्धनीति और राजनीतिमें उसने कबीलाशाहीका अनुसरण करना चाहा। राज(=शासन)-नीतिमें किस तरह स्वावियाने कबीलाशाही—जिसे कितने ही लोग जनतंत्रता समझनेकी भारी गलती करते हैं—को तिलांजलि दी, इसका हम जिक्र कर चुके हैं। लेकिन युद्धनीतिमें कबीलाशाही मनोभावको इस्लामने नहीं छोड़ा—जहाद और माल-गनीमत(=लूटका धन)का औचित्य उसीके निदर्शन हैं। अरब कबीले कबीलाशाही सार्वदैशिक नियमके अनुसार जहाद और गनीमतको ठीक समझते थे; किन्तु इस्लाम जिस सामन्तशाही धर्मका प्रचार कर रहा था, उसमें ज्यादा विशाल दृष्टिकी जरूरत थी, जिसे कि ईसाई या बौद्ध जैसे दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय धर्मोंने स्वीकार किया था। इस्लामको वैसा बननेके लिए इतिहासने भी मजबूर किया था। पैगंबर मुहम्मदने अपनी पैगंबरीके आरंभिक (मक्कावाले) वर्षोंमें इस्लामके लिए जो नीति स्वीकार की थी, वह बहुत कुछ ईसाइयों जैसी युक्ति और प्रेमके साथ धर्मको समझानेकी थी; किन्तु जब कुरैशके जुल्मसे 'बचनेके लिए' वह भागकर मदीना आये

और वहाँ भी वही खतरा ज्यादा जोरके साथ दिखलाई देने लगा, तो उन्हें तलवार उठानी पड़ी। हर तलवारके पीछे कोई नारा जरूर होना चाहिए, वहाँके लोग कबीलेशाही नारेको ही समझते थे—जो कि जहाद और माल-गनीमतका नारा हो सकता था—पैगंबरको भी वही नारा स्वीकार करना पड़ा। और जब एक बार इस नारेपर अल्लाहकी मुहर लग गई, तो हर देश और कालमें उसे स्वीकार करनेसे कौन रोक सकता है? इस्लाम अरबसे बाहर गया, साथ ही इस "जहाद" (रक्षात्मक ही नहीं धन जमा करनेके लिए भी आक्रमणात्मक युद्ध)के नारेको भी लेता गया। इस्लामका नेतृत्व अरबी कबीलों तथा अरबी सामन्तोंके हाथसे निकलकर गैर-अरब लोगोंके हाथमें चला गया, तो भी उन्होंने इस नारेको अपने मतलबके लिए इस्तेमाल किया।

यह भी पीछे कहा जा चुका है कि इस्लामने एक छोटेसे कबीलेसे बढ़ते-बढ़ते अनेक जाति-व्यापी "विश्व कबीला" बनानेका आदर्श अपने सामने रखा था। कबीला होनेके लिए एक धर्म, एक भाषा, एक जाति, एक संस्कृति, एक देश, (भौगोलिक स्थिति) होनेकी जरूरत है। इस्लामने इस स्थितिके पैदा करनेकी भी कोशिश की। आज मराको, त्रिपोली, मिश्र, सीरिया, मेसोपोतामियामें (पहिले स्पेन और सिसलीमें भी) जो अरबी भाषा बोली जाती है, वह बहुत कुछ उसी एक भाषा बनानेका नतीजा है। अरबी भाषामें ही नमाज पढ़नेकी सख्ती भी उसी मनोभावको बतलाती है। ईरान, शाम, तुर्किस्तान (मध्य-एसिया) आदि देशोंकी जातीय संस्कृतियों तथा साहित्योंको एक ओरसे नेस्त-नाबूद करनेका प्रयत्न भी एक कबीला-स्थापनाका फल था। प्रारंभिक अरब मुस्लिम विजेता बड़ी ईमानदारीके साथ इस्लामके इस आदर्शको पूरा करना चाहते थे। उनको क्या मालूम था, कि जिस कामको वह करना चाहते हैं, उसमें उनका मुका-बिला वर्तमान पीढ़ीकी कुछ जातियाँ ही नहीं कर रही हैं, बल्कि उनकी पीठपर प्रकृति भी है, जो सामन्तवादी जगत्को कबीलाशाही जगत्में बदल देनेके लिए इजाजत नहीं दे सकती। आखिर भयंकर नरसंहार और क़ुर्बा-नियोंके बाद भी एक कबीला (=जन) नहीं बन सका।

हाँ, सामन्तशाही युगके निवासियोंके लिए "जहाद"का नारा अजब-सा लगा। वे लोग लड़ाइयाँ न लड़ते हों यह बात नहीं थी; किन्तु वह लड़ाइयाँ राजाओंके नेतृत्वमें राजनीतिक लाभके लिए होती थीं। उनमें ईश्वरकी सहायता या वरदान भी माँगा जाता था, लेकिन लड़नेवाले दोनों फ़रीक़ दिलमें समझते थे, कि ईश्वर इसमें तटस्थ है। जो धार्मिक थे वह यह भी मानते थे कि जिधर न्याय है, ईश्वर उधर ही पलड़ा भारी करना चाहेगा। यह समझना उनके लिए मुश्किल था, कि वह जो लड़ाई लड़ रहे हैं, वह ईश्वरकी लड़ाई है। इस्लामके जहादियोंने किस तरह अपने झंडोंको दूर-दूर तक गाड़नेमें सफलता पाई, इसको यहाँ कहनेकी ज़रूरत नहीं। यहाँ हमें सिर्फ़ इतना बतलाना है कि इस्लामी जहादके मुकाबिलेमें युरोपकी जातियोंको भी उसीकी नक़लपर ईसाई जहाद (=सलीबी जंग)[1] लड़ने पड़े। ये ईसाई जहादसे भी कितने अधिक भयंकर थे, यह इसीसे पता लगता है, कि जहाँ मुस्लिम स्पेनमें कितने ही स्पेनिश ईसाई परिवार बँच गये थे, वहाँ ईसाई स्पेनमें कोई भी पहिलेका मुसलमान नहीं रह गया।

इस्लामके इस युगके एक दार्शनिकका हम यहाँ जिक्र करते हैं।

(१) जीवनी—इब्न-खल्दूनका जन्म १३३२ ई०में उत्तरी अफ़्रीकाके तूनिस् नगरमें हुआ था। उसका परिवार पहिले सेविली (स्पेन)का रहनेवाला था। इस प्रकार हम उसे प्रवासी स्पेनिश मुसलमान कह सकते हैं। तूनिस्में ही उसने शिक्षा पाई। उसका दर्शनाध्यापक एक ऐसा व्यक्ति था, जिसने पूर्वमें भी शिक्षा पाई थी, और इस प्रकार उसके शिष्यको सेविली, तूनिस् और पूर्वकी शिक्षाओंसे लाभ उठानेका मौका मिला।

शिक्षा समाप्त करनेके बाद खल्दून कभी किसी दरबारमें नौकरी करता और कभी देशोंकी सैर करता रहा। वह कितनी ही बार भिन्न-भिन्न सुल्तानोंकी ओरसे अफ़्रीका और स्पेनमें राजदूत भी रहा। राजदूत बनकर

[1] Crusade.

कुछ समय वह 'क्रूर' पीतरके दरबारमें सेविलीमें भी रहा। उस वक्त पूर्वजोंकी जन्मनगरी इस्लामिक स्पेनके गौरव—सेविली—को उस तरह ईसाइयोंके हाथमें देखकर उसके दिलपर कैसा असर हुआ होगा; उसकी वजहसे उसके दिमागको जो सोचना पड़ा था, उसी सोचनेका फल हम उसके इतिहास-दर्शनमें पाते हैं। तैमूरका शासन उस वक्त मध्य-एसियामें भूमध्य-सागरके पूर्वी तट तक था, और दमिश्क भी उसकी एक राजधानी थी। खल्दून दमिश्कमें तैमूर (मंगोल, थि-मुर=लोहा)के दर्बारमें राजदूत बनकर भी कितने ही समय तक रहा था। १४०६ ई० में काहिरा (मिश्र)में खल्दूनका देहान्त हुआ।

(२) दार्शनिक विचार: (क) प्रयोगवाद—इस्लामिक दर्शनके इतिहासके बारेमें हमने अबतक देखा है, कि अश्अरीकी तरह कुछ लोग तो दर्शन या तर्कको इस्तेमाल करके सिर्फ यही साबित करना चाहते थे कि दर्शन गलत है, बुद्धि, ज्ञान प्राप्तिके लिए टूटी नैया है। गज़ालीकी भाँति कुछका कहना था कि दर्शनकी नैया कुछ ही दूर तक हमारा साथ दे सकती है, उसके आगे योग-ध्यान ही हमें पहुँचा सकता है। सीना और रोश्द जैसे इन दोनों तरीकोंको झूठ और बेकार कह कर बुद्धिको अपना सारथी बना दर्शनको ही एक मात्र पथ मानते थे। खल्दून, सीना और रोश्दके करीब जरूर था, किन्तु उसने जगत् और उसकी वस्तुओंको बहुत बारीकीसे देखा था, और उस बारीक दृष्टिने उसे वस्तु-जगत्के बारेमें विश्वास दिला दिया था, कि सत्य तक पहुँचनेके लिए यहाँ तुम्हें बेहतर साधन मिलेगा। उसका कहना था—दार्शनिक समझते हैं कि वह सब कुछ जानते हैं, किंतु विश्व इतना महान् है, कि उस सारेको समझना दार्शनिककी शक्तिसे बाहर है। विश्वमें इतनी हस्तियाँ और वस्तुएं हैं, वह इतनी अनगिनित है, जिनका जानना मनुष्यके लिए कभी संभव न होगा। तर्कसे जिस निष्कर्षपर हम पहुँचते हैं, वह कितनी ही बार व्यवहार या प्रयोग—वस्तुस्थिति—से मेल नहीं खाता। इससे साफ है, कि केवल तर्कके उपयोगसे सच तक पहुँचनेकी आशा दुराशा मात्र है। इसलिए साइंसवेत्ताका काम है प्रयोगसे प्राप्त अनुभवके सहारे

सत्य तक पहुँचनेकी कोशिश करे। और यहाँ भी उसे सिर्फ अपने प्रयोग, अनुभव, और निष्कर्षपर सन्तोष नहीं करना चाहिए, बल्कि पीढ़ियोंमे मानव जातिने जो ऐसे निष्कर्ष छोड़े हैं, उनसे भी मदद लेनी चाहिए। वादकी सत्यता प्रयोगके अनुसरण करनेपर है—साइंसके इस सिद्धान्तकी कितनी साफ तौरसे खल्दूनने पुष्टि की है, इसे कहनेकी जरूरत नहीं।

(ख) ज्ञान-प्राप्तिका उपाय तर्क नहीं—खल्दून जीवको स्वभावमे ज्ञान-हीन मानता है, किन्तु साथ ही यह भी कि उसमें यह शक्ति स्वाभाविक है, वह अपने तजर्बेपर मनन और व्याख्या कर सकता है। जिस वक्त वह इस तरहके मननमें लगा रहता है, उसी वक्त अक्सर एक विचार यकायक बिजलीकी तरह दिमागमें चमक उठता है, और हम अन्तर्दृष्टि—वास्तविकता—सत्य—तक पहुँच जाते हैं। इस प्रयोग, मनन, अन्तर्दृष्टिको पीछे तर्ककी भाषा (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण आदि) में क्रमबद्ध किया जा सकता है। इससे यह तो साफ है कि तर्क ज्ञानको उत्पन्न नहीं करता; वह सिर्फ उस पथको अंकित करता है, जिसे हमें मनन करते वक्त पकड़ना चाहिए था; वह बतलाता है कि कैसे हम ज्ञान तक पहुँचते हैं। तर्कका एक फायदा यह भी है, कि वह हमें हमारी भूल बतलाता है, बुद्धिको तीखी करता, और उसे ठीक तौरसे सोचनेमें सहायक होता है।

खल्दून ज्ञानके युद्धमें प्रयोगको प्रधान और तर्कको सहायक मानता है, फिर उससे इस बातकी आशा ही थी, कि वह कीमिया और फलित ज्योतिषके मिथ्या-विश्वाससे मुक्त होगा।

(ग) इतिहास-साइंस—खल्दूनका सबसे महत्त्वपूर्ण विचार है, इतिहासकी सतहसे भीतर घुसकर उसके मौलिक नियमों—इतिहास-दर्शन या इतिहास-साइंस—को पकड़ना। खल्दूनके मतसे इतिहासको साइंस या दर्शनका एक भाग कहना चाहिए। इतिहासकारका काम है घटनाओंका संग्रह करना और उनमें कार्य-कारण संबंधको ढूँढना। इस कामको गंभीर आलोचनात्मक दृष्टिके साथ बिल्कुल निष्पक्षपात होकर करना चाहिए। हर समय हमें इस सिद्धान्तको सामने रखना चाहिए कि कारण जैसा कार्य

होता है---अर्थात्, एक जैसी घटनाएं बतलाती हैं कि उनसे पूर्वकी स्थितियाँ एक जैसी थीं, अथवा सभ्यताकी एक जैसी परिस्थितियोंमें एक जैसी घटनाएं घटित होती हैं। यह बहुत संभव है, कि समयके बीतनेके साथ मनुष्यों और मानव-समाजके स्वभावमें परिवर्तन नहीं हुआ है, या बहुत ज्यादा नहीं हुआ है; ऐसा होनेपर वर्तमानका एक सजीव ज्ञान हमें अतीत संबंधी गवेषणाके लिए जबर्दस्त साधन हो सकता है। जिसे हम पूरी तौरसे जानते हैं तथा जो अब भी हमारे आँखोंके सामने है, उसकी सहायतासे हम एक गुजरे जमानेकी अल्पज्ञात घटनाके बारेमें एक निष्कर्षपर पहुँच सकते हैं। हर एक परम्पराको लेते वक्त उसे वर्तमानकी कसौटीपर कसना चाहिए, और यदि वह ऐसी बात बतलाये जो कि वर्त्तमानमें असंभव है, तो उसकी सत्यतापर संदेह होना चाहिए। वर्तमान और अतीत दो बूँदोंकी भाँति एक दूसरे जैसे हैं। किन्तु यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि यह नियम सामान्य तौरसे ही ठीक है, विस्तारमें जानेपर उसमें कई दिक्कतें हैं, और वहाँ इसके ठीक होनेके लिए घटनाओंकी आवश्यकता होगी।

सामाजिक जीवन---या समाजकी सामूहिक, भौतिक और बौद्धिक संस्कृति---खल्दूनके मतसे इतिहासका प्रतिपाद्य विषय है। इतिहासको दिखलाना है, कि कैसे मनुष्य श्रम करता, तथा अपने लिए आहार प्राप्त करता है ? क्यों वह एक दूसरेपर निर्भर रहते तथा एक अकेले नेताके अधीन हो एक बड़े समुदायका अंग बनना चाहते हैं ? कैसे एक स्थायी जीवनमें उन्हें उच्चतर कला और साइंसके विकासके लिए अवकाश और अनुकूलता प्राप्त होती है ? कैसे एक मोटे-मोटे तथा छोटे आरंभसे सुन्दर संस्कृति फूट निकलती, और फिर काल-कवलित हो जाती है ? जातियाँ अपने इस उत्थान और पतनमें समाजके निम्न स्वरूपोंसे गुजरती हैं---(१) खाना-बदोशी समाज; (२) सैनिक राजवंशके अधीनस्थ समाज; (३) नाग-रिक ढंगका समाज।

सबसे पहिला प्रश्न आदमीके लिए आहारका है। अपने आर्थिक स्वरूपों-के कारण मनुष्य और जातियाँ तीन अवस्थाओं में बँटी हैं---खानाबदोश

(अ-स्थायी-वास, घुमन्तू), स्थायी-वास पशुपालक, और कृषिजीवी। आहारकी माँग, युद्ध, लूट और संघर्ष पैदा करती है, और मनुष्य ऐसे एक राजाकी अधीनताको स्वीकार करते हैं, जो कि वहाँ उनका नेतृत्व करे। वह सैनिक नेता अपना राजवंश स्थापित करता है, जिसके लिए नगर—राजधानी—की जरूरत पड़ती है। नगरमें श्रम-विभाग और पारस्परिक सहयोग स्थापित होता है, जिससे वह अधिक सम्पत्तिमान् तथा समृद्ध होता है। किन्तु यही समृद्धि नागरिकोंको विलासिता और निठल्लेपनमें गिराती है। श्रमने सभ्यताकी प्रथमावस्थामें सम्पत्ति और समृद्धि पैदा की; किन्तु सभ्यताकी उच्चतम अवस्थामें मनुष्य दूसरे आदमियोंसे अपने लिए श्रम करवा सकता है, और अक्सर बदलेमें बिना कुछ दिये। आगे समाज और खासकर समृद्धिशाली वर्गकी आवश्यकतायें बढ़ती जाती हैं, जिसके कारण करका बोझ और बढ़ता तथा असह्य होता जाता है। समृद्धिशाली धनी वर्गका एक ओर विलासिताके कारण फ़ज़ूलखर्च होता है, और दूसरी ओर उसपर करका बोझ बढ़ता है; इस प्रकार वह अधिक और अधिक दरिद्र होता जाता है; साथ ही अस्वाभाविक जीवन बितानेके कारण उसका शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य गिरता जाता है। खल्दून स्वयं सेविली-निर्वासित इसी गिरे हुए वर्गमें पैदा हुआ था, इसलिए वह सिर्फ इसी संस्कृत प्रभुवर्गकी दुरवस्थापर आँसू बहाता है, उसे अपने आसपासके दासों और कम्मियोंके पशुसे बदतर जीवनके ऊपर नज़र डालनेकी फुरसत न थी। नागरिक जीवन उसके पुराने सैनिक रीति-रवाज अधिक सम्भ्रान्त रूप धारण कर अपनी उपयोगिता खो बैठते है, और लोग शत्रुके आक्रमणसे अपनी रक्षा नहीं कर सकते। एक समाज या एक धर्मसे संबद्ध होनेके कारण जो सामूहिक शक्ति और इरादा पहिले मौजूद था, वह जाता रहता है, और लोग ज्यादा स्वार्थी तथा अधार्मिक हो जाते हैं। भीतर ही भीतर सारा समाज खोखला बन जाता है, उसी वक्त रेगिस्तानसे कोई प्रबल खानाबदोश, या सभ्यतामें अधिक प्रगति न रखनेवाली किन्तु सामूहिक जीवनमें दृढ़ जंगली-प्राय जाति उठकर स्त्रैण नागरिकोंपर टूट पड़ती है। एक नया शासन कायम होता है, और

शनैः शनैः विजयी जाति पुरानी सभ्यताकी भौतिक तथा बौद्धिक सम्पत्तिको अपनाती है, और फिर वही इतिहास दुहराया जाता है। यह उतार-चढ़ाव जैसे परिवारमें देखा जाता है, वैसे ही राजवंश या बड़े समाजमें भी पाया जाता है; और तीनसे छै पीढ़ीमें उनका इतिहास समाप्त हो जाता है—पहिली पीढ़ी अधिकार स्थापित करती है, दूसरी पीढ़ी उसे कायम रखती है, और शायद तीसरी या कुछ और पीढ़ियाँ भी उसे सँभाले रहती हैं; और फिर अन्त आ पहुँचता है। यही सभी सभ्यताओंका जीवन-चक्र है।

जर्मन-विद्वान् अगस्ट मूलरका कहना है, खल्दूनका यह नियम ग्यारहवींसे पन्द्रहवीं सदी तकके स्पेन, मराको, दक्षिणी अफ़्रीका और सिसलीके इतिहासोंपर लागू होता है, और उन्हींके अध्ययनसे खल्दून इस निष्कर्षपर पहुँचा मालूम होता है।

खल्दून पहिला ऐतिहासिक है, जिसने इतिहासकी व्याख्या ईश्वर या प्राकृतिक उपद्रवोंके आधारपर न करके उसकी आन्तरिक भौतिक सामग्रीसे करनेका प्रयत्न किया, और उनके भीतर पाये जानेवाले नियमों—इतिहास-दर्शन—तक पहुँचनेकी कोशिश की। खल्दून अपने ऐतिहासिक लेखोंमें इतिहासकी कारण-शृंखला तक पहुँचनेके लिए जाति, जलवायु, आहार-उत्पादन आदि सभीकी स्थितिपर बारीकीसे विचार करता है; और फिर सभ्यताके जीवन-प्रवाहमें वह अपने सिद्धान्तकी पुष्टि होते देखता है। हर जगह अ-प्राकृतिक नहीं प्राकृतिक, दैवी—लोकोत्तर—नहीं, लौकिक कारणोंको ढूँढ़नेमें वह चरम सीमा तक जाता है। कारण-शृंखलाका जहाँसे आगे पता नहीं लगता, वहाँ हमें चरम कारण या ईश्वरको स्वीकार करना पड़ता है। गोया खल्दून इस तरह इतिहासकी कारण शृंखलामें ईश्वरके लानेका मतलब अज्ञता स्वीकार करना समझता है। अपने अज्ञानसे आगाह होना भी एक प्रकारका ज्ञान है, किन्तु जहाँ तक हो सकता है, हमें ज्ञानके पानेकी कोशिश करनी चाहिए। खल्दून अपने कामके बारेमें समझता है कि उसने सिर्फ मुख्य-मुख्य समस्याओंका संकेत किया है, और इतिहास-साइंसकी

प्रक्रिया तथा विषयके बारेमें सुझाव भर पेश किये हैं। लेकिन वह आशा करता है कि उसके बाद आनेवाले लोग इसे और आगे बढ़ायेंगे।

इब्न-खल्दूनकी आशा पूर्ण हुई, किन्तु इस्लामके भीतर नहीं : वहाँ जैसे उसका (अपने विचारोंका) कोई पूर्वगामी नहीं था, वैसे ही उसका कोई उत्तराधिकारी भी नहीं मिला।[1]

---

[1] The Philosophy in Islam (by G.T.J. De Boer), pp. 200-208.

अष्टम अध्याय

युरोपपर इस्लामी दार्शनिकोंका ऋण

रोश्दके बाद कैसे उसके दर्शनका मैमूनियोंने अध्ययनाध्यापन जारी रखा, इसका जिक्र पहिले हो चुका है, और हम यह भी बतला चुके हैं, कि स्पेनकी इस्लामिक सल्तनत तथा स्वयं इस्लाम भी वहाँसे ईसाई जहादोंमें खतम हो गया। इस्लामकी प्रभुता जब स्पेनमें स्थापित थी और कार्दोवा दस लाखका एक बड़ा शहर ही नहीं बल्कि विद्याका महान् केन्द्र था, उस वक्त भी पास-पड़ोसके देशोंके ईसाई-विद्यार्थी वहाँ विद्या पढ़ने आते थे (अध्ययनका माध्यम अरबी थी), और रोश्द तथा दूसरे दार्शनिकोंके विचारोंको अपने साथ ले जाते थे। लेकिन जब मोहिदीन शासकों और स्पेनिश ईसाइयोंकी अन्तिम जहादी लड़ाइयाँ होने लगीं, तो देशके हर भाग और श्रेणीके लोगों में खून-खराबी मच गई; दोनों पक्षोंमेंसे किसी भी ओर रहनेवाले यहूदी स्पेन छोड़कर भागने लगे। यह भागे हुए यहूदी या तो उत्तरी (ईसाई) स्पेनके शहरों—प्राविंस, बारसलोना, सारागोसा आदिमें बस गए, या दक्षिणी फ्रांसके मार्सेई आदि शहरोंमें चले गए। ये प्रवासी यहूदी अपने साथ अपनी विद्या और विद्याप्रेमको भी लेते गये, और कुछ ही समय बाद उनके नये निवास-स्थान भी विद्या-केन्द्र बनने लगे।

§ १. अनुवादक और लेखक

१—यहूदी (इब्रानी)

यूनानी पुस्तकोंके सुरियानी, इब्रानी फ़ार्सी और अरबी भाषाओंमें अनुवाद होनेकी बात कही जा चुकी है। अब सात सदियों बाद फिर नये

अनुवादोंका दौर शुरू होता है। यूनानी दर्शनके आधारपर अरबोंने जो दर्शन-प्रासाद खड़ा किया था, अब उसको युरोपके दर्शन अनुरागियोंके सामने रखना था, और इसमें भाग लेनेवाले थे यही प्रवासी यहूदी। यहूदी जबतक इस्लामिक स्पेनमें रहे तबतक अरबी उनकी मातृभाषा बनी हुई थी; इसलिए अनुवादकी जरूरत न थी; किन्तु जब वह दूसरे देशोंमें बस गए और वहाँ अरबीकी जगह दूसरी भाषाको उन्हें द्वितीय भाषाके तौर-पर अपनाना पड़ा; तो अरबी भाषा (अरबी भाषा क्या अरबी लिपि) को भी द्वितीय भाषाके तौरपर जारी रखना उनके लिए मुश्किल था। स्थानीय भाषाएं उतनी उन्नत न थीं, इसलिए उन्होंने जहाँ अरबीकी पुस्तकों-को इब्रानी लिपिमें उतार डाला; वहाँ उन्हें इब्रानीमें अनुवादित करना भी शुरू किया। इन अनुवादित ग्रंथोंमें रोश्दकी कृतियाँ बहुत ज्यादा थीं।

(१) प्रथम इब्रानी अनुवाद-युग—इब्रानी-अनुवादके कामको शुरू करनेवालोंमें इब्न-तैबूनके खान्दानका खास हाथ है। ये लोग इस्लामिक स्पेनसे आकर ल्योनल (उत्तरी स्पेन) में बस गये थे। इस खान्दानका पूर्व-पुरुष इब्न-तैबून दर्शन, प्राणिशास्त्र और कीमियाका एक बड़ा पंडित था। इस खान्दानका सबसे पहिला अनुवादक समुयेल इब्न-तैबून था, जिसने "दार्शनिकोंके सिद्धान्त"[1] के नाममे एक पुस्तक लिखी जो कि इब्न-रोश्दके ग्रंथोंसे शब्दशः ली गई थी। इसी समय तलीतला[2] (स्पेन)के एक यहूदी धर्माचार्य यह्या बिन्-सलामाने "तिब्बुल्-हिकमत्" (१२७८ ई०) लिखी; यह्या जर्मन राजा फ्रेडरिक द्वितीय (१२४० ई०) के दरबारमें अरबी ग्रंथोंके अनुवादका काम करता था।

समुयेलके बाद मूसा-बिन्-तैबूनने "भौतिक-शास्त्र"[3] की अधिकतर पुस्तकोंका इब्रानीमें अनुवाद किया। समुयेलके समकालीन इब्न-यूसुफ बिन्-फाखोरा (जन्म १२२६ ई०) तथा जर्सन बिन्-सुलेमानने भी अनुवाद किये। जर्सन समुयेलका संबंधी भी था, इसने इब्रानीमें बहुत ज्यादा अनुवाद किये।

---

[1] "आराउ'ल्-हुकमा"। [2] तूलों ? [3] "तब्-इयात्"।

फ़्रेडरिकके दरबारमें एक मशहूर यहूदी अनुवादक याकूब बिन्-मरियम् अबी-शम्शून था, इसने फ़्रेडरिककी आज्ञा (१२३२ ई०)से रोश्दकी बहुतसी पुस्तकोंका अनुवाद किया; जिनमें निम्न मुख्य हैं—

तर्कशास्त्र (मन्तक़ियात)-व्याख्या (१२३२ ई० नेपल्समें)
तर्क-संक्षेप (तल्ख़ीस-मन्तिक़)
तल्ख़ीस-मुहस्सर्ना (१२३१ नेपल्समें)

इनके अतिरिक्त निम्न अनुवादकोंके कुछ अनुवाद इस प्रकार हैं—

सुलेमान बिन्-यूसुफ	मुक़ाला फ़िस्-समाअ्-व-आलम्[1]	(१२५९ ई०)
जकरिया बिन्-इस्हाक	भौतिक शास्त्र-टीका	(१२८४ ई०)
	अति भौतिक शास्त्र-टीका	(१२८४ ई०)
	देवात्मा-जगत्-टीका	(१२८४ ई०)
याकूब बिन्-मशीर	तर्क-संक्षेप	(१२९८ ई०)
	प्राणिशास्त्र[2]	(१३०० ई०)

(२) **द्वितीय इब्रानी अनुवाद-युग**—चौदहवीं सदीसे इब्रानी अनुवादोंका दूसरा युग आरम्भ होता है। पहिले अनुवादकी भाषा उतनी मँजी हुई नहीं थी, और न उसमें ग्रंथकारके भावोंका उतना ख्याल रखा गया था। ये अनुवाद गोया फाराबीसे पहिलेके अरबी अनुवादों जैसे थे, लेकिन नये अनुवाद भाषा-भाव दोनोंकी दृष्टिसे बेहतर थे। इन अनुवादकोंमें सबसे पहिला है कालोनीम् बिन्-कालोनीम् बिन्-मीर[3] (जन्म १२८७ ई०) है। उसने निम्न पुस्तकोंके अनुवाद किये[4] —

---

[1] समाअ्-व-आलम्। [2] हैवानात्।

[3] यह लातीनी भी जानता था, इसने रोश्दके "खंडन-खंडन"का लातीनी भाषामें अनुवाद (१३२८ ई०) किया था।

[4] Topics, Sophistics, the Second Analytics, Physics, Mytaphysics, De Coclo et Mundo, De Generatione et Corruptione, Meteorology.

तॉपिक् (तर्क)	अरस्तू	१३१४ ई०
सोफिस्ता (तर्क)	,,	,,
अनालोतिक द्वितीय (तर्क)	,,	,,
भौतिक शास्त्र	,,	१३१७
अतिभौतिक शास्त्र	,,	,,
देवात्मा और जगत् (भौतिक शास्त्र)	,,	,,
कोन-व-फ़साद (भौतिक शास्त्र)	,,	,,
मुक़ाला फ़िल्-माहयात् (भौतिक शास्त्र)	,,	,,

इसके अतिरिक्त निम्न अनुवादकोंने भी इस युगमें इब्रानी अनुवाद[1] किये—

अनुवादक	ग्रंथ	ग्रंथकर्त्ता	अनुवाद-काल
कालोनीम् बिन्-दाऊद	खंडन-खंडन[2]	रोश्द	
अबी समुयेल बिन्-यह्या	आचार-शास्त्र	अरस्तू	१३२१
	"प्रजातंत्र"-व्याख्या	रोश्द	,,
थ्योदोर	तॉपिक	अरस्तू	१३३७
	खिताबत्[3]	अरस्तू	,,
	आचार-शास्त्र	अरस्तू	,,

इसी सदीमें निम्न अनुवादक और हुए जिन्होंने करीब सारे ही रोश्द-दर्शनको इब्रानीमें कर डाला—

इब्न-इस्हाक,
यह्य बिन्-मैमून,
मूसा बिन्-ताबूरा,
मूसा बिन्-सुलेमान
यह्या बिन्-याक़ूब,
सुलेमान बिन्-मूसा अल्-गोरी,

[1] पुस्तक-नामोंके लिए देखो पृष्ठ ११५, २२१-२३ भी।
[2] "तोहाफ़तु-त्तोहाफ़त्"। [3] Rhetoric (=भाषण-शास्त्र)

(क) ल्योन् अफ़्रीकी—इसी चौदहवीं सदी हीमें लाबी बिन्-जर्सन—जिसे ल्योन् अफ़्रीकी भी कहते हैं—ने रोश्दके दर्शनके अध्ययनाध्यापनके सुभीतेके लिए वही काम किया है, जो कि रोश्दने अरस्तूके लिए किया था। ल्योन्ने रोश्दके ग्रंथोंकी व्याख्याएं और संक्षेप लिखे। उनका एक समय इतना प्रचार हुआ था, कि लोग रोश्दके ग्रंथोंको भी भूल गए। ल्योन् भूत (=प्रकृति)को अनुत्पन्न नित्य पदार्थ मानता था। वह पैगम्बरीको मानवी शक्तियोंका ही एक भेद समझता था।

ल्योन् अफ़्रीकीके ग्रंथोंने यहूदी विद्वानोंमें रोश्दका इतना प्रचार बढ़ाया कि अरस्तूकी पुस्तकोंको कोई पढ़ना न चाहता था। इसी कालमें मूसा नारबोनीने भी रोश्दकी बहुतसी व्याख्याएं और संक्षेप लिखी।

(ख) अहरन् बिन्-इलियास्—अब तक यहूदियोंमें मजहबी लोग दर्शनसे दूर-दूर रहा करते थे, और वह सिर्फ स्वतंत्र विचार रखनेवाले धर्मोपेक्षकोंकी चीज समझा जाता था; किंतु चौदहवीं सदीके अंतमें एक प्रसिद्ध यहूदी दार्शनिक अहरन्-बिन्-इलियास् पैदा हुआ। इसने "जीवन-वृक्ष"[1] के नामसे एक पुस्तक लिखी, जिसमें रोश्दके दर्शनका जबर्दस्त समर्थन किया, जिससे उसका प्रचार बहुत ज्यादा बढ़ा।

यहूदी विद्वान् इलियास् मदीजू पेदुआ (इताली) विश्वविद्यालयमें अन्तिम प्रोफेसर था। इसने भी रोश्दपर कई पुस्तकें लिखीं।

सोलहवीं सदी पहुँचते-पहुँचते रोश्दके दर्शनके प्रभावसे विचार-स्वातंत्र्यका इतना प्रचार हो गया, कि यहूदी धर्माचार्योंको धर्मके खतम होनेका डर होने लगा। उन्होंने दर्शनका जबर्दस्त विरोध शुरू किया, और दर्शनके खिलाफ मुसलमान धर्माचार्योंके इस्तेमाल किये हुए हथियारोंको इस्तेमाल करना चाहा। इसी अभिप्रायसे अबी-मूसा अल्-मशीनोने १५३८ ई० में गजालीकी पुस्तक "तोहाफतुल्-फ़िलासफ़ा" (=दर्शन-खंडन) का इब्रानी अनुवाद प्रकाशित किया। अफलातूनके दर्शनको धर्मके ज्यादा

---

[1] "शज्रुल्-हयात्"।

अनुकूल देखकर उन्होंने अरस्तूकी जगह उसका प्रचार शुरू किया। अब हम बेकन् (१५६१-१६२६), हॉब्स (१५८८-१६७९ ई०) और द-कार्त (१५९६-१६५० ई०) के जमानेके साथ दर्शनके आधुनिक युगमें पहुँच जाते हैं; जिसमें अन्तिम यहूदी दार्शनिक स्पिनोज़ा (१६३२-७७ ई०) हुआ जिसने यहूदियोंके पुराने दर्शन और द-कार्तके सिद्धान्तोंको मिलाकर आधुनिक युरोपके दर्शनकी बुनियाद रखी, और तबसे दर्शन धर्मसे स्वतंत्र हो गया।

स्पिनोजापर इस्राईली (८५०-९५० ई० के बीच), सादिया (८९२-९४२ ई०), वाकिया (१०००-१०५० ई०) इब्न-जब्रोल (१०२०-७० ई०), मैमून (११३५-१२०४ ई०), गेरसूनी (१२८८-१३४४ ई०) और क्रस्का (१३४०-१४१० ई०) के ग्रंथोंका बहुत असर पड़ा था।

२—ईसाई (लातीनी)

ईसाई जहादों (=सलीबी युद्धों) का जिक्र पहिले हो चुका है। तेरहवीं सदीमें ये युद्ध स्पेन हीमें नहीं हो रहे थे, बल्कि उस वक्त सारे यूरोपके ईसाई सामन्त मिलकर यरोशिलम और दूसरे फिलस्तीनी ईसाई तीर्थ-स्थानोंके लौटानेके बहानेसे लड़ाइयाँ लड़ रहे थे। इन लड़ाइयोंमें भाग लेनेके लिए साधारण लोगोंसे ज्यादा उत्साह यूरोपीय सामन्त दिखाते थे। कितनी ही बार तो एक सामन्त दूसरे सामन्त या राजासे अपने प्रभाव और प्रभुत्वको बढ़ानेके लिए युद्धमें सबसे आगे रहना चाहता था।

(१) **फ्रेडरिक द्वितीय (१२४० ई०)**—जर्मन राजा फ्रेडरिक द्वितीय सलीबी युद्धोंके बड़े बहादुरोंमेंसे था। जब युरोपीय ईसाइयोंने यरोशिलमपर छठा हमला किया, तो फ्रेडरिक उसमें शामिल था। धर्मके बारेमें उसकी सम्मति बहुत अच्छी न थी, तो भी अपने ही कथनानुसार, वह उसमें इसलिए शामिल हुआ कि अपने मूर्ख सिपाहियों और जनतापर प्रभुत्व बढ़ाये।—इस बातमें वह हिटलरका मार्ग-दर्शक था। फ्रेडरिककी प्रारम्भिक जिन्दगीका काफ़ी भाग सिसलीमें बीता था। सिसली द्वीप सदियोंतक अरबोंके हाथमें रहनेसे अरबी संस्कृतिका केन्द्र बन गया था। फ्रेडरिकका

अरब विद्वानोंसे बहुत मेल-जोल था और वह अरबी भाषाको बहुत अच्छी तरहसे बोल सकता था। अरबी सभ्यताका वह इतना प्रेमी हो गया था कि उसने भी हरम (=रनिवास) और ख्वाजा-सरा (=हिजड़े दरोगा) कायम किये थे। ईसाइयतके बारेमें उसकी राय थी—"चर्चकी नींव दरिद्रावस्थामें रखी गई थी, इसीलिए आरम्भिक युगमें सन्तोंसे ईसाई दुनिया खाली न रहती थी; लेकिन अब धन जमा करनेकी इच्छाने चर्च और धर्माचार्योंके दिलको गंदगीसे भर दिया है।" वह खुल्लमखुल्ला ईसाई-धर्मका उपहास करता था, जिससे नाराज होकर पादरियोंने उसे शैतानका नाम दे रखा था। पोप इन्नोसेंत चतुर्थकी प्रेरणासे ल्योन्समें एक धर्म-परिषद् (कौंसिल) बैठी, जिसने फ़ेडरिकको ईसाई बिरादरीसे छाँट दिया।

जिस वक्त सलीबी युद्ध चल रहा था, उस वक्त भी फ़ेडरिकका दार्शनिक कथा-संवाद जारी रहता था। मुसलमान विद्वान् बराबर उसके दरबारमें रहते थे। मिश्रके सुल्तान सलाह-उद्दीनसे उसकी वैयक्तिक मित्रता थी, जो उन युद्धके दिनोंमें भी वैसी ही बनी हुई थी, और दोनों ओरसे भेंट-उपायन आते-जाते रहते थे।

युद्धसे लौटनेके बाद उसने खुल्लमखुल्ला, दर्शन तथा दूसरी विद्याओंका प्रचार शुरू किया, सिसलीमें पुस्तकालय स्थापित किये; अरस्तू, तालमी, और रोश्दके ग्रंथोंको अनुवाद करनेके लिए यहूदी विद्वानोंको नियुक्त किया। पिपल्समें एक युनिवर्सिटीकी नींव रखी और सलर्नोके विद्यापीठका संरक्षक बना। उसने विद्या-प्रचारके लिए दूर-दूरसे अरबीदाँ विद्वानोंको एकत्रित किया। तैबून खान्दानवाले अनुवादक इसीके दरबारसे संबंध रखते थे। फ़ेडरिक स्वयं विद्वान् था और विद्या तथा संस्कृतिमें सिरमौर उस समयकी अरबी दुनियाको उसने नजदीकसे देखा था, इसलिए वह चाहता था कि अपने लोगोंको भी वैसा ही बनाये। आक्सफोर्डके एक पुस्तकालयमें 'मसायल्-सक़्लिया' नामक एक अरबी हस्तलिखित पुस्तक है जिसके बारेमें कहा जाता है कि फ़ेडरिकने स्वयं उसे लिखा था; लेकिन वस्तुतः वह पुस्तक दक्षिणी स्पेनके एक सूफ़ी दार्शनिक इब्न-सबईनकी कृति है, जिसे उसने १२४० ई०

में फ्रेडरिकके चंद दार्शनिक प्रश्नों—जिन्हें कि उसने इस्लामिक दुनियाके दूसरे प्रसिद्ध विद्वानोंके पास भी भेजे थे—के उत्तरमें लिखा था। इस वक्त दक्षिणी स्पेनपर सुल्तान रशीदकी हुकूमत थी। इस हुकूमतमें उस वक्त विचार-स्वातंत्र्यकी क्या हालत थी यह सबईनके इस वाक्यसे पता लगता है—"हमारे देशमें इन विषयोंपर कलम उठाना बहुत खतरेका काम है। यदि मुल्लोंको खबर हो जाये कि मैंने इस विषयपर कलम उठाई है. तो वह मेरे दुश्मन बन जायेंगे और उस वक्त मैं दुश्मनीके हमलोंसे बच न सकूँगा।"[1]

चालीस साल तक फ्रेडरिकने चर्चके विरोधके होते हुए भी युरोपको विद्याके प्रकाशसे प्रकाशित करनेकी कोशिश जारी रखी। ज़ब वह मरा तो पोप इन्नोसेंनने सिसलीके पादरियोंके सामने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा —"आसमान और ज़मीनके लिए यह खुशीकी घड़ी है, क्योंकि जिस तूफानमें मानव जगत् फँस गया था उसमें ईसाई जगत्को अन्तिम बार मुक्ति मिली।" लेकिन फ्रेडरिकके बाद जो परिवर्तन यूरोपमें दिखाई पड़ा, उसने पोपकी रायको गलत साबित किया।

(२) **अनुवादक**—बिन्-मीरके "खंडन-खंडन" के लातीनी अनुवाद (१३२८ ई०) के बारेमें हम कह चुके हैं; किन्तु इसके पहिले हीसे अरबी ग्रंथोंके लातीनी अनुवाद शुरू हो गए थे। फ्रेडरिकका दरबारी मी काल स्कात तलेतला (स्पेन) का निवासी था, इसने अपने शहरके एक यहूदी विद्वान्की मददसे कई पुस्तकोंका लातीनी भाषामें अनुवाद किया, जिनमें कुछ हैं—

समाअ्-व-आलम्-शरह (टीका)	रोश्द	१२३० ई०
मुक़ाला फिल्-रूह (टीका)	रोश्द	,,
मुक़ाला कोन-व-फसाद	रोश्द	
जौहरुल्-कौन		

[1] **"आसारुल्-अबुहार", पृष्ठ २४१**

राजर बेकन (१२१४-९२ ई०) के अनुसार स्कात अरबी भाषा बहुत कम जानता था और उसने दूसरोंकी सहायतासे ही अनुवाद किये थे। कुछ भी हो, स्कात पहिला आदमी है जिसने ईसाई दुनियाके सामने पहिले-पहिल रोश्दके दर्शनको, उस वक्तकी चर्चकी भाषा लातीनीमें पेश किया। राजर बेकन खुद अरबी जानता था, उसने रोश्दके दर्शनको अपने देश इंगलैण्ड-में फैलानेके लिए क्या किया, यह हम आगे कहेंगे।

फ़ेडरिकके दर्बारके दूसरे विद्वान् हरमनने निम्न दर्शन ग्रंथोंका लातीनी-में अनुवाद किया—

भाषण[1]-टीका	फाराबी	१२५६ (तलेतला[2])
अलंकार[3]-संक्षेप	रोश्द	१२५६ (तलेतला)
आचार[4]-संक्षेप	रोश्द	१२४० ई० (तलेतला)

तेरहवीं सदीके अन्त होते-होते तक रोश्दके सभी दार्शनिक ग्रंथोंका लातीनी भाषामें अनुवाद हो गया था।

---

[1] Rhetoric. [2] Toledo. [3] Rhetoric. [4] Ethics.

नवम अध्याय

यूरोपमें दर्शन-संघर्ष

संत अगस्तिन् (३५३-४३० ई०) के दर्शन प्रेमके बारेमें हम पहिले कह चुके हैं; किंतु अगस्तिन्का प्रेम अगस्तिन् तक ही रह गया। उसके बाद यद्यपि ईसाई-धर्म यूरोपमें बड़े जोरसे फैला; किन्तु ईसाई साधु या तो लोगोंको अपनी तोतारटनपर विश्वास करते, मठोंको दान-पुण्य करनेका उपदेश देते, और छोटे-बड़े महन्त बन मौज लूट रहे थे; अथवा कोई-कोई सब छोड़ एकान्तवासी बन ध्यान-भक्तिमें लगे हुए थे—विद्याका दीपक एक तरहसे बुझ चुका था।

§ १. स्कोलास्तिक

आठवीं सदीमें जब शार्लमान (=चार्लस) यूरोपका महान् राजा हुआ तो उसने यह हालत देखी। साथ ही उसने यह खतरा भी देखा कि बाहरसे देख-सुनकर आये लोगोंके द्वारा धर्मपर संदेहकी दृष्टि डालनेकी ओर प्रवृत्ति भी चुपके-चुपके बढ़ रही है। शार्लमानने इसके प्रतीकारके लिए मूर्ख-उजड्ड साधुओंसे भरे ईसाई-मठोंमें पढ़े-लिखे साधुओंको बैठा बच्चोंकी शिक्षाका प्रबंध किया, और नये-नये मठ भी कायम किये। इन पाठशालाओंमें सिर्फ धर्म हीकी शिक्षा नहीं दी जाती थी, बल्कि, ज्यामिति, अंकगणित, ज्योतिष, संगीत, साहित्य, व्याकरण, तर्क—इन "सात उदार कलाओं"की भी पढ़ाई होती थी। बढ़ते हुए बुद्धिवादको कुंठित कर धर्मका अनुसरण करनेके ही लिए वहाँ तर्ककी पढ़ाई होती थी। शार्लमानका यह प्रयत्न उसी वक्त हो रहा था जब कि भारतके नालंदाकी कीर्ति सारी दुनियामें

फैली हुई थी, और उसमें भी शार्लमानकी भाँति ही राजाओं और सामन्तोंने दिल खोलकर गाँव और धन दे रहे थे। नालंदाके अतिरिक्त और भी विद्यापीठ तथा "गुरुकुल" थे जिनमें विद्या, विशेषकर दर्शनकी चर्चा होती थी। हमारे यहाँ हीकी तरह शार्लमान द्वारा स्थापित विद्यापीठोंमें भी ग्रंथोंको कंठस्थ तथा शास्त्रार्थ करना—विद्याध्ययनका मुख्य अंग था। यहाँ यह कहनेकी जरूरत नहीं कि भारतके इतने बड़े शिक्षा-प्रयत्न क्यों निष्फल हुए, और वह क्यों फिर अंधकारकी कालरात्रिमें चला गया— वस्तुतः भारतमें उस वक्त भी शिक्षाको सार्वजनिक करनेका प्रयत्न नहीं हुआ और न बाद ही, विद्या-प्रचार थोड़ेसे लोगों—शासकों और धर्माचार्यों—में ही सीमित रहा।

शार्लमानके मरनेके बाद यद्यपि उसके स्थापित मठों, विद्यापीठोंमें शिथिलता आ गई, तो भी ईसाई यूरोपकी छातीपर—स्पेनमें—इस्लाम काला साँप बनकर लोट रहा था, वह सिर्फ़ तलवारके बल पर ही अपने प्रभुत्वका विस्तार नहीं कर रहा था, बल्कि पुराने यूनान और पूरबके पुराने ज्ञान-भंडारको अपनी देनके साथ युरोपके ज्ञान-पिपासुओंमें वितरित कर रहा था। ऐसी अवस्थामें ईसाई-धर्म अच्छी तरह समझता था कि उसकी रक्षा तभी हो सकती है जब कि वह भी अपनी मददके लिए विद्याके हथियारको अपनावे।

शार्लमानके इन मठीय विद्यालयोंको स्कोल (=स्कूल, पीठ) कहा जाता था, और इनमें धर्म और दर्शन पढ़ानेवाले अध्यापकोंको **स्कोलास्तिक आचार्य**[1] कहा जाता था। पीछे धर्मकी रक्षाके समर्थकके तौरपर जिस मिश्रित दर्शन (वाद-शास्त्र)को उन्होंने विकसित किया, उसका नाम भी स्कोलास्तिक दर्शन पड़ गया। इस वाद-दर्शनका विकास ईसाई धर्माचार्योंके उस प्रयत्नके असफल होनेका पक्का प्रमाण था जो कि बुद्धिवाद और दर्शनकी ओर बढ़ती हुई रुचिको दबानेके लिए वह पशुबलसे गला घोटकर

[1] Doctors Scholastic.

कर रहे थे। इस नये प्रयत्नसे उन्हें इतनी आशातीत सफलता हुई कि जिस समय (बारहवीं सदीके अन्तमें) नालंदा, उडन्तपुरी, विक्रमशिला, जगत्तला आदिके महान् विद्यापीठ भारतमें आगकी नज़र किये जा रहे थे, उसी समय यूरोपमें आक्सफोर्ड, केम्ब्रिज, पेरिस, सोरबोन्, बोलोना, सलेर्नो आदिमें नये मठीय विश्वविद्यालय क़ायम किये जा रहे थे।

स्कोलास्तिक विद्वानोंमें जान स्काट्स एरिगेना (८१०-७७ ई०), सन्त अन्से(ल्)म् (१०६३-११०६ ई०), रोसेलिन्[1] (१०५१-११२१ ई०) अबेलार्द (१०७६-११४२ ई०) ज्यादा प्रसिद्ध हैं।

१. जान स्काट्स एरिगेना[2] (८१०-७७ ई०)

एरिगेना इंगलैण्डमें पैदा हुआ था और स्कोलोंके प्रयत्नके पहिले फलोंमें था। उसे अरस्तूका वस्तुवादी दर्शन पसन्द था। उस वक़्त यूनानी दार्शनिकोंके ग्रंथ सिर्फ़ एसियाई भाषाओंमें ही मिलते थे, लेकिन एरिगेना अरबी भाषासे बिलकुल अनभिज्ञ था। संभव है सुरियानी भाषा पढ़ने या सुरियानी ईसाई विद्वानोंकी संगतिका उसे अवसर मिला हो।

एरिगेनाके मुख्य सिद्धान्त थे, अद्वैत विज्ञानवाद और जगत्की अनादिता। यह दोनों ही सिद्धान्त ईसाई-धर्मके विरुद्ध थे, इसे यहाँ बतलानेकी आवश्यकता नहीं। एरिगेना अपनी पुस्तक "जगत्की वास्तविकता"में अपने सिद्धान्तके बारेमें लिखता है—"जगत्के अस्तित्वमें आनेसे पहिले सभी चीज़ें **पूर्ण-विज्ञान**के भीतर मौजूद थीं, जहाँसे निकल-निकलकर उन्होंने अलग-अलग रूप धारण किये लेकिन जब ये रूप नष्ट हो जायेंगे तो वे फिर उसी **पूर्ण विज्ञान**में जाकर मिल जायेंगी, जहाँसे कि वह निकली थीं। इसमें संदेह नहीं यह वसुबंधु (४०० ई०) की "विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि" (त्रिशंतिका) की इस कारिकाका भावार्थ है—

("आलय विज्ञान रूपी समुद्रसे) वीची तरंगकी तरह उन (जगत्की

---

[1] Roscellinus. [2] जान अपंचीना।

चीज़ों) की उत्पत्ति कही गई है।"[1]

एरिगेनाका **पूर्ण-विज्ञान** योगाचार (विज्ञानवाद) का **आलय-विज्ञान** है, जिसमें क्षणिकताके अटल नियमके अनुसार नाश-उत्पाद वीची-तरंगकी तरह होता रहता है। एरिगेनासे पहिले यह सिद्धान्त यूरोपकेलिए अज्ञात था। हमने देखा है, पीछे रोश्दने भी इसी विज्ञानवादको अपनी व्याख्याके साथ लिया है। धर्मांधता-युगके दूसरे दार्शनिकोंकी भाँति एरिगेना भी धर्म और दर्शनका समन्वय करना चाहता था।

२. अमोरी और दाविद

एरिगेनाके विचार-बीज पश्चिमी यूरोपके मस्तिष्कमें पड़ जरूर गये, किन्तु उनका असर जल्दी दिखाई नहीं दिया। दसवीं सदीमें अमोरी और उसका शागिर्द दाविद दे-देनिन्तो प्रसिद्ध दार्शनिक हुए। अमोरीके सिद्धान्त जिब्रोल (१०२१-७० ई०) से मिलते हैं जो कि अभी तक पैदा न हुआ था। दाविद जगत्की उत्पत्ति मूल हेवला[2] (=प्रकृति)से मानता है। हेवला स्वयं शकल-सूरतसे रहित है, यह एरिगेनाके पूर्ण विज्ञानका ही शब्दान्तरसे व्याख्यान है, यद्यपि मूल प्रकृतिके रूपमें वह वाह्यार्थवाद—प्राकृतिक (=वास्तविक) दुनियाके बहुत करीब आ जाता है।

३. रोसेलिन् (१०५१-११२१ ई०)

दाविद और अमोरीके दर्शनने वाह्यार्थवाद (=प्राकृतिक जगत्की वास्तविकता)की ओर कदम बढ़ाया था। स्कोलास्तिक डाक्टर रोसेलिन्ने उसके विरुद्ध **नाम** (=अ-रूप) **वाद** पर जोर दिया और कहा कि एक प्रकारकी सभी व्यक्तियोंमें जो समानताएं (=सामान्य) पाई जाती हैं, उनका अस्तित्व उन व्यक्तियोंसे बाहर नहीं है।

---

[1] **"वीची-तरंग-न्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्त्तिता।"—त्रिंशिका (वसुबंधु)**
[2] Hyla. [3] Nominalism.

§ २. इस्लामिक दर्शन और ईसाई चर्च

रोश्दके ग्रंथोंका पठन-पाठन तथा पीछे उनके अनुवादोंकी प्रगतिके बारेमें हम बतला चुके हैं। यह हो नहीं सकता था कि एरिगेना, अमोरी आदिके प्रयत्नके कारण पहिलेहीसे कान खड़े किये ईसाई धर्मके क्षेत्रपर उसका असर न पड़ता।

१. फ्रांसिस्कन संप्रदाय

रोश्दके दर्शनका सबसे ज्यादा प्रभाव ईसाइयोंके फ़्रांसिस्कन संप्रदायपर पड़ा। इस संप्रदायके संस्थापक—उस वक्त काफ़िर और पीछे सन्त—फ़्रांसिस्ने तेरहवीं सदीमें विलासितामें सरतक डूबे पोप और उसके महन्तोंके विरुद्ध बग़ावतका झंडा खड़ा किया था। फ़्रांसिस्का जन्म असिसी (इताली)में १२१९ ई० में हुआ था। उसने विद्या पढ़नेकेलिए तीव्र प्रतिभा ही नहीं पाई थी, बल्कि आसपासके दीन-हीनोंकी व्यथा समझने लायक हृदय भी पाया था। "सादा आचार और उच्च विचार"—उसका आदर्श था। महन्तोंकी शान-शौकत और दुराचारसे वह समझ रहा था कि ईसाई-धर्म रसातलको जानेवाला है; इसलिए उसने गरीबीकी जिन्दगी बितानेवाले शिक्षित साधुओंका एक गिरोह बनाया जिसे ही पीछे फ़्रांसिस्कन संप्रदाय कहा जाने लगा। फ़्रांसिस् जैसे विद्वान्‌को ऐसी गरीबीकी जिन्दगी बिताते देख लोगोंका उधर आकर्षित होना स्वाभाविक ही था—खासकर उस वक्तके विचार-संघर्षके समयमें—और थोड़े ही समयमें फ़्रांसिसके साथियोंकी संख्या पाँच हज़ार तक पहुँच गई।

(१) **अलेकज़ेंडर हेस**—अलेकज़ेंडर हेस (तेरहवीं सदी) फ़्रांसिस्कन संप्रदायका साधु था। इसने पेरिसमें शिक्षा पाई थी। हेसने अरस्तूके अति-भौतिक-शास्त्र[1]पर विवरण लिखा था। अपने विवरणमें उसने सीना और

[1] Metaphysics.

ग़ज़ालीके मतोंको बड़े सम्मानके साथ उद्धृत किया है; किन्तु उसी संबंधके रोश्द-के विचारोंके उद्धृत नहीं करनेसे पता लगता है कि वह उनसे परिचित न था।

(२) राजर बैकन (१२१४-९२ ई०)—(क) जीवनी—आक्स-फोर्ड विश्वविद्यालय फ़्रांसिस्कन संप्रदायका गढ़ था, और वहाँ रोश्दके दर्शनका बहुत सम्मान था। राजर बैकन नालंदा-विक्रमशिलाके ध्वंस (१२०० ई०) के चंद ही सालोंके बाद इंगलैण्डमें पैदा हुआ था। उसने पहिले आक्सफ़ोर्ड में शिक्षा पाई थी; पीछे पेरिसमें जाकर डाक्टरकी उपाधि प्राप्त की। वह लातीनी तो जानता ही था, साथ ही अरबी और यूनानीसे भी परिचित था। इन भाषाओंका जानना—ख़ासकर अरबीका जानना—उस वक़्तके विद्या-भ्यासीकेलिए बहुत ज़रूरी था। पेरिससे लौटनेपर वह साधु (फ़्रांसिस्कन) बना। यद्यपि उसके विचार मध्यकालीनतासे मुक्त न थे, तो भी उसने वेध, प्रयोग, तथा परीक्षणके तरीकोंपर ज्यादा जोर दिया, पुस्तकों तथा शब्दप्रमाणपर निर्भर रहने को ज्ञानकेलिए बाधक बतलाया। वह स्वयं यंत्र और रसायन शास्त्रकी खोजमें समय लगाता था, जिसके लिए स्वार्थी पादरियोंने लोगोंमें मशहूर कर दिया कि वह जादूगर है। जादूगरीके अपराधमें उस वक़्त यूरोपमें लाखों स्त्री-पुरुष जलाये जाते थे। खैर, राजर उससे तो बच गया; किन्तु उसके स्वतंत्र विचारोंको देखकर पादरी जल बहुत रहे थे, और जब इसकी ख़बर रोममें पोपको पहुँची, तो उसने भी इसके बारेमें कुछ करनेकी कोशिश की, किन्तु वह तबतक सफल नहीं हुआ जबतक कि १२७८ ई० में फ़्रांसिस्कन संप्रदायका एक महंथ जेरोम डी-एसल् राजरका दुश्मन नहीं बन गया। राजर बैकन नास्तिकता और जादूगरीके अपराधमें जेलमें डाल दिया गया। उसके दोस्तोंकी कोशिशसे वह जेलसे मुक्त हुआ और १२९२ ई० में आक्सफोर्डमें मरा। पादरियोंने उसकी पुस्तकोंको आगमें जला दिया, इसलिए रॉजर बैकनकी कृतियोंसे लोगोंको ज्यादा फ़ायदा नहीं हो सका।

(ख) दार्शनिक विचार—सीना और रोश्दके दार्शनिक विचारोंसे रॉजर बहुत प्रभावित था। एक जगह वह लिखता है—

"इब्न-सीना पहला आदमी था, जिसने अरस्तूके दर्शनको दुनियामें प्रकाशित किया; लेकिन सबसे बड़ा दार्शनिक इब्न-रोश्द है, जो इब्न-सीनासे अकसर मतभेद प्रकट करता है। इब्न-रोश्दका दर्शन एक समय तक उपेक्षित रहा; किन्तु अब (तेरहवीं सदीमें) दुनियाके करीब-करीब सारे दार्शनिक उसका लोहा मानते हैं। कारण यही है, कि अरस्तूके दर्शनकी उसने ठीक व्याख्या की है। यद्यपि कहीं-कहीं वह उसके विचारोंपर कटाक्ष भी करता है; किन्तु सिद्धान्ततः उसके विचारोंकी सत्यता उसे स्वीकृत है।"

राजर दूसरे फ़ांसिस्कनोंकी भाँति रोश्दका समर्थक था; और वह कर्त्ता-विज्ञान[1]को जीवसे अलग एक स्वतंत्र सत्ता मानता, तथा उसीका नाम ईश्वर बतलाता था[2]—

"कर्त्ता-विज्ञान एक रूपमें ईश्वर है, और एक रूपमें फरिश्तों (=देवात्माओं)के तौर पर। (दोमिनिकन संप्रदायवाले कहते हैं, कि) कर्त्ता-विज्ञान नातिक-विज्ञान[3] (=जीव)की एक अवस्थाका नाम है; लेकिन यह ख्याल ठीक नहीं जान पड़ता। मनुष्यका नातिक-विज्ञान स्वयं ज्ञान प्राप्त करनेमें असमर्थ है, जबतक कि दैवी साधन उसके सहायक न हों। और वह सहायक किस तरह होते हैं? कर्त्ता-विज्ञानके द्वारा, जो कि मनुष्य तथा ईश्वरके बीच संबंध पैदा करानेवाला, और मनुष्यसे अलग स्वतः सत्तावान् एक अ-भौतिक द्रव्य है।

(३) दन् स्कातस्—राजर बेकनके बाद अरबी दर्शनका समर्थक दन् स्कातस् था। पहिले स्कातस् अक्विनाका अनुयायी था, किन्तु पीछे अक्विनाके इस बातसे असहमत हो गया, कि ईश्वरका मनुष्यके कर्मोंपर कोई अधिकार नहीं। अक्विना और स्कातसके इस विवादकी प्रतिध्वनि सारे

---

[1] **अक़्ल-फ़आल** (Creative Reason)

[2] Ibn Roshd (Renan), pp. 154, 155

[3] Nautic nouse.

स्कोलास्तिक दर्शनमें मिलती है। तामस्के विरुद्ध स्कातस्की यह भी राय थी, कि मूलभूत (=प्रकृति) अनादि है, आकृतिके उत्पन्न होनेसे प्रकृतिका उत्पन्न होना जरूरी नहीं है, क्योंकि प्रकृति आकृतिके बिना भी पाई जाती है। ईश्वरका सृष्टिकरनेका यही मतलब है, कि प्रकृतिको आकृतिकी पोशाक पहना दे। स्कातस् रोश्दके अद्वैत-विज्ञानको माननेसे ही इन्कार नहीं करता था; बल्कि इस सिद्धान्तके प्रारंभको मनुष्यताकी सीमाके भीतर रखना नहीं चाहता था। स्कातस्ने ही पहिले-पहिल रोश्दको उसके अद्वैतवादके कारण घोर नास्तिक घोषित किया, जिसको लेकर पीछे यूरोपमें रोश्दकी पैगंबरीके अन्दर नास्तिकोंका गिरोह क़ायम हो गया।

२–दोमिनिकन्-सम्प्रदाय

जिस तरह ईसाइयोंका फ़ांसिस्कन सम्प्रदाय रोश्द और इस्लामिक दर्शनका जबर्दस्त समर्थक था, उसी तरह दोमिनिकन् सम्प्रदाय उसका जबर्दस्त विरोधी था। इस सम्प्रदायका संस्थापक सन्त दोमिनिक ११७० में पैदा हुआ था, और १२२१ ई० में मरा—गोया वह भारतके अन्तिम बौद्ध संघराज तथा विक्रंशिलाके प्रधानाचार्य शाक्यश्रीभद्र (११२७-१२२५ ई०) का समकालीन था। फ़ांसिस्कन सम्प्रदाय रोश्दके दर्शनका जबर्दस्त विरोधी था, यह बतला चुके हैं।

(१) अल्बर्तस् मग्नस् (११९३-१२८० ई०)—अल्बर्तस् मग्नस् उसी समय पैदा हुआ था, जब कि दिल्लीपर अभी हालमें तुर्की झंडा फहराने लगा था। वह उसी साल (१२२१ ई०) दोमिनिकन संप्रदायमें साधु बना, जिस साल कि सन्त दोमिनिक मरा था; और फिर बोलोन् (फ़ांस) विश्वविद्यालयमें प्रोफ़ेसर हुआ। अरबी दार्शनिकोंके खंडनमें इसने कितनी ही पुस्तकें लिखी थीं, तो भी वह इब्न-सीनाका प्रशंसक, और रोश्दका दूषक था। रोश्दका विरोधी तथा अरस्तूका जबर्दस्त समर्थक ताम्स अक्विना इसीका शिष्य था। अल्बर्तस्ने स्वयं भी रॉजर बेकन और दन स्कातस्के रोश्द-समर्थक विचारोंका खंडन किया, तो भी

वह ज्यादा एकान्तप्रिय था; और उसके कामको उसके शिष्य अक्विनाने पूरा किया।

(२) तामस् अक्विना (१२२५-७४ ई०) (क) जीवनी—तामस् अक्विना इतलीके एक पुराने सामन्त वंशमें १२२५ ई० में (जिस साल कि नेपाल, तिब्बत, आदिकी खाक छानकर अपनी जन्मभूमि कश्मीरमें शाक्य श्रीभद्रने शरीर छोड़ा) पैदा हुआ था। उसकी शिक्षा केसिनो और नेपल्स-में हुई, मगर अन्तमें वह अल्बर्तस् मग्नस्की विद्याकी प्रसिद्धि सुन, बोलोञ् विश्वविद्यालयमें अल्बर्तस्के शिष्योंमें सम्मिलित हो गया। विद्या समाप्त करनेके बाद पेरिस विश्वविद्यालयमें धर्म, दर्शन और तर्कशास्त्रका प्रोफेसर नियुक्त हुआ। १२७२ ई० में जब पोप ग्रेगरी दशमने रोमन[1] और यूनानी[2] चर्चमें मेल करानेके लिए एक परिषद् बुलाई थी, तो तामस् अक्विनाने एक पुस्तक लिखकर परिषद्के सामने रखी थी, जिसमें यूनानी चर्चके दोष बतलाये थे। मेल तो नहीं हो सका, किन्तु इस पुस्तकके कारण अक्विनाका नाम बहुत मशहूर होगया। परिषद्के दो वर्ष बाद (१२७४ ई०) अक्विनाका देहान्त हो गया।

(ख) दार्शनिक विचार—अक्विना अपने समयमें रोश्द-विरोधी दोमिनिकन विचारकोंका अगुआ था। धर्ममें वह कितना कट्टर था, यह तो इसीसे मालूम है, कि ग़ज़ालीकी भाँति विशालहृदयता दिखलाते हुए सारे ईसाई सम्प्रदायोंको मिलानेके काममें पोप ग्रेगरीके प्रयत्नके असफल होनेसे जिसे सबसे खुशी हुई, वह अक्विना था। फ़ांसिस्कन यद्यपि रोश्दके दर्शनके समर्थक थे, किन्तु इसलिए नहीं कि वह प्रगति-शील विचारोंका वाहक है, बल्कि इसलिए कि वह वस्तुवादसे ज्यादा अद्वैत-विज्ञानवाद[3]का समर्थक है। इसके विरुद्ध रोश्दका विरोधी

---

[1] रोमन कैथलिक (रोमवाले उदारवादी)

[2] ग्रीक अर्थोडक्स (यूनानवाले सनातनी), जिसके अनुयायी पूर्वी यूरोपके स्लाव (रूस आदि) देशोंमें ज्यादा रहे हैं। [3] वहदत्-अक़्ल।

अक्विना अपने गुरु अल्बर्तस्की भाँति वस्तुवादका समर्थक था। अक्विनाका गुरु अल्बर्तस् मग्नस् पहिला आदमी था, जिसने अरस्तूके वस्तुवादी दर्शनकी ओर अपना ध्यान आकर्षित किया। मध्यकालकी गाढ़ निद्रासे यूरोपको जगानेमें चंगेज़के हमलेने मदद पहुँचाई। चंगेज़की तलवारके साथ बारूद, कागज, कुतुबनुमा आदि व्यवहारकी बड़ी सहायक चीजोंने पहुँचकर भी इस प्रत्यक्ष दुनियाका मूल्य बढ़ा दिया था, इस प्रकार अक्विनाका इस ओर झुकाव सिर्फ आकस्मिक घटना न थी।

जान लेविस् अक्विनाके बारेमें लिखता है[1]—"उसने बिखरे हुए भिन्न-भिन्न विचारोंको एकत्रित कर एक सम्बद्ध पूर्ण शरीरके रूपमें संगठित किया, और फिरसे आविष्कृत और प्रतिष्ठापित हुए अरस्तूके बौद्धिक दर्शनसे जोड़ दिया। (इस प्रकार) उसने जो सामाजिक, राजनीतिक, दार्शनिक रचना की, वह चार सौ वर्षों तक युरोपीय सभ्यताका आधार रही, और तीन सौ साल तक यूरोपके अधिक भाग तथा लातीनी अमेरिकामें एक ज़बर्दस्त—यद्यपि पतनोन्मुख—शक्ति बनी रही।

"(अक्विना द्वारा किया गया) ईसाई दर्शनका नया संस्करण अधिक सजीव, अधिक आशावादी, अधिक दुनियावी, अधिक रचनात्मक था। ....यह अरस्तूका पुनरुज्जीवन था।"

अक्विना और मग्नस्की नई विचारधाराके प्रवाहित करनेमें कम कठिनाई नहीं हुई। पुराने ढर्रेके ईसाई विद्वान् अरस्तूके वस्तुवादी दर्शनका इस प्रकार स्वागत धर्मके लिए खतरेकी चीज समझते थे। लेकिन भौतिक परिस्थिति नये विचारोंके अनुकूल थी, इसलिए अक्विनाकी जीत हुई। अक्विनाका प्रधान ग्रंथ **सुम्मा थेवलोगी**[2] एक विश्वकोष है। अक्विनाका दर्शन अब भी रोमन कैथलिक सम्प्रदायका सर्वमान्य दर्शन है।

(a) **मन**—अक्विना सारे ज्ञानकी बुनियाद तजर्बे (=अनुभव)को

---

[1] Introduction to Philosophy by John Lewis, p. 35.

[2] Summa Theologies=**ब्रह्मविद्या-संक्षेप**।

बतलाता था—"सभी चीजें जो बुद्धिमें हैं, वह (कभी) इन्द्रियोंमें थीं।" मन इन्द्रियोंके पाँच रोशनदानोंसे रोशन है। कोई चीज स्वयं बुरी नहीं है, बल्कि चीजोंके आधार बुरे होते हैं। इस प्रकार अक्विना इंद्रियों, शरीरकी वेदनाओं, और साधारण मनुष्यके अनुभवोंको तुच्छ या हेय नहीं, बल्कि बड़े महत्त्वकी चीज समझता था।

(b) **शरीर**—मनुष्यको तभी हम जान सकते हैं जब कि हम सारे मनुष्यत्वको लेकर विचार करें। बिना शरीरके मनुष्य, मनुष्य नहीं है, उसी तरह जैसे कि मनके बिना वह मनुष्य नहीं। मनुष्य मनुष्य तभी है, जब मन और शरीरका योग हो।

भौतिक तत्त्व अ-मूर्त्त, कच्चे पदार्थ हैं जिनसे कि सारी चीजें बनी हैं। वही भौतिक तत्व भिन्न-भिन्न **वास्तविकताओं**के रूपमें संगठित किये जा सकते हैं, जीवन-चिन्तनवाला मानव इन्हीं वास्तविकताओंमेंसे एक है। भौतिक तत्वोंकी विशेषता यह है कि वह नये परिवर्तन, नये संगठन, नये गुणोंको अस्तित्वमें ला सकते हैं। अक्विना यहाँ अनजाने मार्क्सीय भौतिकवादकी ओर बहक गया है। यदि गुणात्मक परिवर्तन हो सकता है, तो भौतिक तत्व चेतनाको भी पैदा कर सकते हैं।

मनुष्यको अपना या अपनी चेतनाका ज्ञान पीछे होता है। वह क्या है, इसे भी पीछे जानता है। सबसे पहिले मनुष्य (अपनी इन्द्रियोंसे) वस्तुको देखता है, और वह जानता है कि मैं "देख रहा हूँ," जिसका अर्थ है कि वह कोई चीज देख रहा है। यहाँ "है" मौजूद है; और मन बाहरी वस्तुके सिर्फ संस्कारको नहीं बल्कि उसकी सत्ताको पूरी तौरपर जानता है। अपने या अपनी चेतनाके बारेमें मनुष्यका ज्ञान इसके बाद और इसके आधार पर होता है, इसलिए बाहरी वस्तुओंसे इन्कार करना ज्ञानके आधारसे इन्कार करना है।

(c) **द्वैतवाद**—अक्विनाकी दुनिया दो भागोंमें विभक्त है—(१) रोज-बरोज हम जिस जगत्को इन्द्रियोंसे देख रहे हैं; (२) और उसके भीतर बसनेवाला **मूलरूप** (विज्ञान)। शुद्धतम और सर्वश्रेष्ठ **विज्ञान** ईश्वर

है—यही अरस्तूका दर्शन है। ईश्वरके अतिरिक्त कितने ही विशेष विज्ञान हैं, जिन्हें जीव कहा जाता है, और जो देव (=फरिश्ते), मानुष, आदिकी आत्माओंके रूपमें छोटे-बड़े दर्जोंमें बँटे हैं। इन विज्ञानोंमें देवों, मनुष्योंके अतिरिक्त वह आत्मायें भी शामिल हैं, जो नक्षत्रोंका संचालन करती हैं।

अक्विनाकी सबसे बड़ी कोशिश थी धर्म और दर्शनके समन्वय करनेकी। उसका कहना था, दर्शन और धर्म दोनोंके लिए अपना-अपना अलग कार्यक्षेत्र है, उन्हें एक दूसरेके काममें बाधा नहीं डालनी चाहिए। अगस्तिन् (रोश्द भी) सारे ज्ञानको भगवानके प्रकाशकी देन मानता था, किन्तु अक्विना इन्द्रिय-प्रत्यक्षके महत्त्वको स्वीकार करता था।

अक्विना नवीन अरस्तू-दर्शनके हिमायती दोमिनिकन साधु-सम्प्रदायसे संबंध रखता था। फ्रांसिस्कन साधु उसका विरोध करते थे। उनके विद्वान् दन स्कातस् (१२६५-१३०८) और ओकम्‌वासी विलियम (मृ० १३४६ ई०) इस बातके विरोधी थे कि धर्म और दर्शनमें समन्वय किया जाये। दर्शन और पदार्थ ज्ञानके लिए एक बात सच्ची हो सकती है, किन्तु वही बात धर्मके अनुसार असत्य हो सकती है। सत्यका साक्षात्कार इन्द्रियों और अनुभवसे नहीं, बल्कि आत्मासे होता है। शिव (=अच्छा) सत्यसे ऊपर है, और शिव वही है, जिसके लिए भगवान्‌का वैसा आदेश है। मनुष्यका कर्तव्य है, भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना। बुरे समझे जानेवाले कर्म भी अच्छे हो जाते हैं, यदि वह भगवान्‌की सेवाके लिए हों। चर्च या धर्म-सम्प्रदायके द्वारा ही हमें भगवान्‌का आदेश मिलता है, इसलिए धर्मके हिमायतियोंका कहना था, कि चर्च और उसका अध्यक्ष पोप पृथ्वीपर वही अधिकार रखते हैं, जो कि भगवान् ईसामसीह विश्वपर।

(३) **रेमोंद मार्तिनी**—अक्विनाके बाद रेमोंद मार्तिनी दोमिनिकनोंकी ओरसे विज्ञवाद और रोश्दके विरोधका आरंभ हुआ। इसने अपने काममें ग़ज़ालीकी पुस्तकोंसे मदद ली; यद्यपि ग़ज़ाली स्वयं सूफी अद्वैतवादी था, किन्तु उसके चूँचूँके मुरब्बेमें क्या नहीं था? मार्तिनी इस अन्दाजमें सचके बहुत करीब था, कि रोश्दने अपने अद्वैत विज्ञान

(वहदत्-अक्ल)-वादको अरस्तूसे नहीं अफलातूंसे लिया है।

(४) **रेमोंद लिली**—(१२२४-१३१५ ई०)—इस्लामी जहादोंके जवाबमें प्रारंभ हुई ईसाई जहादोंकी बात हम कह चुके हैं। बारहवीं-तेरहवीं सदियोंमें जहाँ बाहरी दुनियामें ये जहाद चल रहे थे, वहाँ भीतरी दुनियामें भी विचारात्मक जहाद चल रहे थे, जिसे कि लाखों स्त्री-पुरुषोंको नास्तिक और जादूगर होनेके इल्ज़ाममें जलाये जानेके रूपमें देखते हैं। [हमें इसके लिए युरोपवालोंको ताना देनेका हक नहीं है, क्योंकि वाण (६०० ई०) की तीव्र आलोचनासे लेकर बेंटिक (१८३५ ई०)के सती कानून तकमें धर्मके नामपर पागल करके जिन्दा जलाई जानेवाली स्त्रियोंकी तादाद गिनी जाये तो वह उससे कई गुना ज्यादा होती है]—कहीं रॉजर बैकनकी पुस्तकोंके जलाये जानेके रूपमें और कहीं दोमिनिकन और फ़्रांसिस्कनके वाद-विवादके रूपमें। रेमोंद लिली ऐसे ही समयमें इतालीके एक समृद्ध परिवारमें पैदा हुआ था। पहिले तो उसका जीवन बहुत विलासितापूर्ण रहा, किन्तु यकायक उसने अपनेको सुधारा, और उसे धुन सवार हो गई, कि इस्लामको दुनियासे नेस्तनाबूद करना चाहिए। वह युरोपके सारे ईसाइयोंको सलीबी लड़ाइयोंमें शामिल देखना चाहता था। इसके लिए उसने १२८७ ई०में पोप होनोरियस्के दरबारमें पहुँचकर अपने विचार रखे—इस्लामको खतम करनेके लिए एक भारी सेना तैयार की जाये, इस्लामी देशोंमें काम करने लायक विद्वानोंको तैयार करनेके लिए विश्वविद्यालय कायम किये जायें, और रोश्दकी पुस्तकोंको धर्म-विरोधी घोषित कर दिया जाये। वहाँ सफल न होनेपर उसने फ़्रांस, इताली, स्विटजर्लैंड आदिमें इसके लिए दौरा किया। १३११ ई०में ईसाइयोंकी एक बड़ी सभा वीना (आस्ट्रिया)में हुई, वहाँ भी वह पहुँचा; किन्तु वहाँ भी असफल रहा। इसी निराशामें वह १३१५ ई०में मर भी गया। रेमोंद विद्वान् था, उसने रोश्द और दूसरे दार्शनिकोंकी पुस्तकोंको पढ़ा था, और कुछ लिखा भी था, इसलिए उसके इस्लाम-विरोधी विचार-बीज धरतीमें पड़े हुए समयकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

§ ३–इस्लामिक दर्शन और विश्वविद्यालय

१. पेरिस और सोरबोन्

फ्रांसिस्कन सम्प्रदायका कार्यक्षेत्र अपने गढ़ आक्सफोर्डसे इंग्लैंड भर हीमें सीमित था। पश्चिमी यूरोपमें इस्लामिक दर्शनका प्रचारकेन्द्र पेरिस था। पेरिसमें एक बड़ा सुभीता यह भी था, कि यहाँ स्पेनसे प्रवासित उन यहूदियोंकी एक काफी संख्या रहती थी, जिन्होंने रोश्द तथा दूसरे दार्शनिकोंके ग्रंथोंको अरबीसे अनुवाद करनेमें बहुत काम किया था। रोश्द-दर्शनके समर्थकों और विरोधियोंके यहाँ भी दो गिरोह थे। सोरबोन् विश्वविद्यालय रोश्द-विरोधियोंका गढ़ था, और पास ही पेरिस-विश्वविद्यालय समर्थकोंका। पेरिसके कला (आर्ट)-विभागका प्रधानाध्यापक सीजर ब्राबँत (मृ० १२८४ ई०) रोश्दका जबर्दस्त हामी था। अपने इन विचारोंके लिए धर्म-विरोधी होनेके अपराधमें उसे जेल भेज दिया गया, और ओर्बीतो[1] के जेलमें उसकी मृत्यु हुई। अब भी पेरिसमें उसकी दी हुई अरबीकी दार्शनिक पुस्तकोंकी काफी संख्या है।

पेरिस विश्वविद्यालयके विरुद्ध सोरबोन् धर्मवादियोंका गढ़ था—और शायद इसीलिए आज भी वह भाग (जो कि अब पेरिस नगरके भीतर आगया है) लातीनी मुहल्ला कहा जाता है। सोरबोन्पर पोपकी विशेष कृपा होनी ही चाहिए, और उसी परिमाणमें पेरिस पर कोप। सोरबोन्-वालोंकी कोशिशसे पोपने पेरिस विश्वविद्यालयके नाम १२१७ ई० में फर्मान निकाला कि ऐसे शास्त्रार्थ न किये जायें, जिनमें फसादका डर हो। वस्तुतः यह फर्मान अरबी दर्शन संबंधी वाद-विवादको रोकनेका एक बहाना मात्र था। पीछेके पोपोंने भी इस तरहके फर्मान जारी करके अरबी दर्शनके अध्ययन-नाध्यापनको ही धर्म-विरुद्ध ठहरा दिया। १२६९ ई० में सोरबोन्वालोंकी

[1] Orbicto.

कोशिशसे एक धर्म-परिषद् बुलाई गई, जिसने निम्न सिद्धान्तोंके मानने-वालोंपर नास्तिकताका फतवा दे दिया—

(१) सभी आदमियोंमें एक ही विज्ञान है;
(२) जगत् अनादि है;
(३) मनुष्यका वंश किसी बाबा आदम तक खतम नहीं हो जाता;
(४) जीव शरीरके साथ नष्ट हो जाता है;
(५) ईश्वर व्यक्तियोंका ज्ञान नहीं रखता;
(६) बंदों(=आदमियों)के कर्मपर ईश्वरका कोई अधिकार नहीं;
(७) ईश्वर नश्वर वस्तुको नित्य नहीं बना सकता।

यह सब कुछ होनेपर भी पेरिस-विश्वविद्यालयमें इस्लामिक दर्शनका अध्ययन बंद नहीं हुआ।

२. पेदुआ विश्वविद्यालय

यूरोपमें सिसली द्वीप और स्पेन इस्लामिक शासन-केन्द्र थे, इसलिए इनके ही रास्ते इस्लामिक विचारों (दर्शन)का भी यूरोपमें पहुँचना स्वाभाविक था। सिसली द्वीप इतालीके दक्षिणमें है, यहाँसे ही वे विचार इतालीमें पहुँचे, उनके स्पेनसे फ्रांस जानेकी बात हो चुकी है। इतालीमें भी पेदुआके विद्यापीठने इस्लामिक दर्शनके अध्ययन द्वारा अपनी कीर्तिको सारे यूरोपमें फैला दिया।—खासकर रोश्दके दर्शनके अध्ययनकेलिए तो यह विश्वविद्यालय सदियों तक प्रसिद्ध रहा। यहाँ रोश्दपर कितने ही विवरण और टीकायें लिखी गईं। तेरहवीं सदीसे रोश्दके दर्शनके अन्तिम आचार्य दे-क्रिमोनी (मृत्यु १६३१ ई०) तक यहाँ इस्लामिक दर्शन पढ़ाया जाता रहा। यहाँके इस्लामिक दर्शनके प्रोफेसरोंमें निम्नका नाम बहुत प्रसिद्ध है—

पीतर-द-वानो
जीन दे-जाँदन
फ़ा अरबानो

पाल दी-वेनिस्—(मृत्यु १४२९ ई०)
गाइतनो—(मृत्यु १४६५ ई०)
इलियास् मदीजू—(१४७७ ई०)
वेरोना
ज्वाबीला—(१५६४-८९ ई०)
पंदेसियो
सीज़र क्रिमोनी—(मृ० १६३१ ई०)

सोलहवीं सदीमें इब्न-रोश्दकी पुस्तकोंके नये लातीनी अनुवाद हुए, इस काममें पेदुआका खास हाथ रहा। इन अनुवादकोंमें पेदुआका प्रोफ़ेसर वेरोना भी था, जिसने कुछ पुस्तकोंका अनुवाद सीधे यूनानीसे किया था। पंदेसियोके व्याख्यानोंके कितने ही पुराने नोट अब भी पेदुआके पुस्तकालयमें मौजूद हैं।

[**क्रिमोनी**]—ज्वाबीलाका शागिर्द सीज़र क्रिमोनी इस्लामिक दर्शनका अन्तिम ही नहीं, बल्कि वह बहुत योग्य प्रोफ़ेसर भी था। इसके लेक्चरोंके भी कितने ही नोट उत्तरी इतालीके अनेक पुस्तकालयोंमें मिलते हैं। ज्वाबीलाकी भाँति इसका भी मत था, कि ग्रह नक्षत्रोंकी गतिके सिवा ईश्वरके अस्तित्वका कोई सबूत नहीं। रोश्दकी भाँति यह भी मानता था, कि ईश्वरको सिर्फ़ अपना ज्ञान है, उसे व्यक्तियोंका ज्ञान नहीं है। मनुष्यमें सोचनेकी शक्ति कर्त्ता-विज्ञानसे आती है। यह ऐसे विचार थे, जिन्हें ईसाई-धर्म नास्तिकता कहता था। क्रिमोनी उनसे बचनेकी कोशिश कैसे करता था, इसका उदाहरण लीजिए—[1] "इस पुस्तकमें मैं यह कहना नहीं चाहता, कि जीवके बारेमें हमारा क्या विश्वास होना चाहिए। यहाँ मैं सिर्फ़ यह बतलाना चाहता हूँ, कि जीवके बारेमें अरस्तूके क्या विचार थे। यह स्मरण रहे कि दर्शनकी आलोचना मेरा काम नहीं है, इस कामको सन्त तामस् आदिने अच्छी तरह पूरा किया है।" लेकिन इसपर भी

[1] रोश्दके "किताबुन्'नफ़्स"की व्याख्याकी भूमिका।

३ जूलाई १६१६ ई० को उसके नाम पेदुआके सरकारी अफसरका हुक्मनामा आया—"लेतरन कौंसिल सारे प्रोफ़ेसरोंको सजग करती है, कि दर्शनके जो सिद्धान्त धर्मके खिलाफ़ हैं, (पढ़ाते वक़्त) उनका खंडन भी वह करते जायें; और जब किसी विषयका उद्धरण देने लगें तो इस बातका ख्याल रखें, कि विद्यार्थियोंपर उसका बुरा असर न पड़े। चूँकि आप इस आज्ञाका ख्याल नहीं रखते, इसलिए मेरा फ़र्ज है, कि मैं बार-बार आपका ध्यान इधर आकर्षित कराता रहूँ।" क्रिमोनीने इसके उत्तरमें एक लंबा पत्र लिखा—"मुझे विश्वविद्यालयकी ओरसे सिर्फ़ इसलिए वेतन मिलता है, कि मैं अरस्तूके दर्शनकी शिक्षा दूँ। यदि विश्वविद्यालय इस कामकी जगह कोई दूसरा काम लेना चाहता है, तो मैं त्यागपत्र देनेके लिए तैयार हूँ, वह स्वतंत्र है किसी दूसरेको उस कामपर लगाले। मैं तो जबतक प्रोफ़ेसरके पदपर रहूँगा, अपने पद-कर्त्तव्यके विरुद्ध कोई काम नहीं कर सकता।"

क्रिमोनीकी मृत्यु (१६३१ ई०) के साथ इस्लामिक दर्शनका ही पठन-पाठन खतम नहीं होता, बल्कि पुरानी दुनिया ही बदल जाती है। क्रिमोनीके बाद लसीतो (मृत्यु १६५६ ई०) प्रोफ़ेसर हुआ, जिसपर नवीन दर्शनका प्रभाव दिखाई देने लगता है। उसके बाद अंगार्द प्राचीन यूनानी दर्शनकी पढ़ाई करता है। १७०० ई० में फार्देलाके साथ पेदुआमें पुराना सिलसिला टूट जाता है, और वहाँ प्राचीन दर्शनकी जगह दे-कार्तका दर्शन पाठ्य-पुस्तकोंमें दाखिल होता है।

§४. इस्लामिक दर्शनका यूरोपमें अन्त

दन स्कातस्ने किस तरह रोश्दकी शिक्षाको मनुष्यतासे गिरी हुई बतलाया, यह हम कह चुके हैं। इसकी वजहसे रोश्द जहाँ धार्मिक क्षेत्रमें बदनाम हुआ, वहाँ हर तरहकी स्वतंत्रताके चाहनेवाले लोग—खासकर बुद्धि-स्वातंत्र्यवादी—रोश्दके झंडेके नीचे खड़े होने लगे, और रोश्दके नामपर जगह-जगह दल बनने लगे। इन्हीं दलोंमेंसे एक उन लोगोंका था,

जिन्होंने अपना नाम "स्वतंत्रताके पुत्र" रखा था। ये लोग विश्वको ही ईश्वर मानते थे, और विश्वकी चीज़ोंको उसका अंश। ईसाई चर्चके न्यायालयोंसे इनको आगमें जलानेकी सजा होती थी और ये लोग ख़ुशी-ख़ुशी आगमें गिरकर जान दे देते थे। "स्वतंत्रताके पुत्रों" में बहुत सी स्त्रियाँ भी शामिल थीं, उन्होंने भी अग्निपरीक्षा पास की।

पादरी लोग इस अधार्मिकताके ज़िम्मेवार फ़्रेडरिक और इब्नरोश्दको ठहराते थे। तो भी इस विरोधसे रोश्दके दर्शन—अथवा पुराने दर्शन—का कुछ नहीं बिगड़ा।

चौदहवीं सदीमें तुर्कोंने बेज़न्तीनके ईसाई राज्यपर आक्रमण कर अधिकार जमाना शुरू किया। हर ऐसे युद्ध—राजनीतिक अशांति—में लोगोंका तितर-बितर होना ज़रूरी है। कुस्तुन्तुनिया (आजका इस्तांबूल) का नाम उस वक़्त बेज़न्तीन था, और प्राचीन रोमन सल्तनतके उत्तराधिकारी होनेसे उसका जहाँ सम्मान ज्यादा था, वहाँ वह विद्या और संस्कृतिका एक बड़ा केन्द्र भी था। ईसाई धर्मके दो सम्प्रदायों—उदार (=कैथलिक) और सनातनी (=आर्थोडाक्स)—में सनातनी चर्चका पेत्रियार्क (=महापितर या धर्मराज) यहीं रहता था। जिस तरह कैथलिक चर्चकी धर्मभाषा लातीनी थी, उसी तरह पूर्वी सनातनी चर्चकी धर्मभाषा यूनानी थी। तुर्कोंके इस आक्रमणके समय वहाँसे भागनेवालोंमें कितने ही यूनानी साहित्यके पंडित भी थे। वे बहुमूल्य प्राचीन यूनानी पुस्तकोंके साथ पूर्वसे भागकर इतालीमें आ बसे। इन पुस्तकोंको देखकर वहाँके पंडितोंकी आँखें खुल गईं; यदि जैसे मानो तिब्बती चीनी अनुवादों-दर-अनुवादोंके सहारे पढ़ते रहनेवाले भारतीय विद्वानोंके हाथमें असंगकी "योगचर्याभूमि"[1], वसुबंधुकी "वादविधि", दिग्नागका "प्रमाणसमुच्चय", धर्मकीर्तिका "प्रमाणवार्त्तिक"[2] और "प्रमाणविनिश्चय" मूल संस्कृतमें मिल

[1] मूल संस्कृत पुस्तक मुझे तिब्बतमें मिली है।

[2] तिब्बत और नेपालमें मिली, और इसे मैंने सम्पादित भी कर दिया है।

जावें। अब लोगोंको क्या जरूरत थी, कि वे मूल यूनानी पुस्तकको छोड़ यूनानी न जाननेवाले लेखकोंकी टीकाओं और संक्षेपोंकी मददसे उन्हें पढ़नेकी कोशिश करें।

पिदारक (१३०४-७४ ई०)—रेमोंद लिली (१२२४-१३१५)ने इस्लामको उखाड़ फेंकनेकी बहुत कोशिश की थी, किन्तु वह उसमें सफल नहीं हुआ, तो भी उसकी वसीयतके एक हिस्से—यूरोपसे इस्लामिक दर्शनके अध्ययनाध्यापनको खतम करने—की पूर्त्तिकेलिए तस्केनीमें पिदारकका जन्म हुआ। बापने उसे वकील बनाना चाहा था, किन्तु उसका उसमें दिल नहीं लगा, और अन्तमें वह पेदुआमें आगया। पिदारक लातीनी और यूनानी भाषाओंका पंडित था, दर्शन और आचार-शास्त्रपर उसकी पुस्तकें आज भी मौजूद हैं। "जहादवाद"ने युरोपके दिमागपर कितना जहरीला असर किया था, यह पिदारकके इस विचारसे मालूम होगा : अरबोंने कला और विद्याकी कोई सेवा न की, उन्होंने यूनानी संस्कृति और कलाकी कुछ बातोंको कायम जरूर रखा। पिदारक कहता था कि जब यूनानी संस्कृति और विद्याकी मूल वस्तुएं हमें प्राप्त हो गई हैं, तो हमें अरबोंकी जूठी पत्तल चाटनेसे क्या मतलब। अरबोंसे उसे कितनी चिढ़ थी, यह उसके एक पत्रसे पता लगेगा, जिसे उसने अपने एक मित्रको लिखा था—"मैं तुमसे इस कृपाकी आशा रखता हूँ, कि तुम अरबोंको इस तरह भुला दोगे, जैसे संसारमें उनका अस्तित्व कभी था ही नहीं। मुझे इस जातिकी जातिसे घृणा है। यह भलीभाँति याद रखें, कि यूनानने दार्शनिक, वैद्य, कवि और वक्ता पैदा किये। दुनियाकी वह कौनसी विद्या है, जिसपर यूनानी विद्वानोंकी पुस्तकें न मौजूद हों। लेकिन अरबोंके पास क्या है ?—सिर्फ़ दूसरोंकी बची-खुंची पूंजी। मैं उनके यहांके वैद्यों, दार्शनिकों, कवियोंसे भली प्रकार परिचित हूँ, और यह मेरा विश्वास है, कि अरब कौमसे कभी भलाईकी उम्मीद नहीं की जा सकती।.......तुम ही बताओ, यूनानी भाषाके वक्ता देमस्थनीज़के बाद सिसरो, यूनानी कवि होमरके बाद वर्जिल, यूनानी ऐतिहासिक हेरोदोतस्के बाद तीतस् लेवीका जन्म दुनियामें कहाँ

हुआ ? ....हमारी जातिके काम बाज़ बातोंमें दुनियाकी सभी जातियोंके कारनामोंसे बढ़-चढ़कर हैं। यह क्या बेवकूफ़ी है, कि अपनेको अरबोंसे भी हीन समझते हो। यह क्या पागलपन है, कि अपने कारनामोंको भुलाकर अरबोंकी स्तुति—प्रशंसा—के नशेमें डूब गये हो। इतालीकी बुद्धि और प्रतिभा ! क्या तू कभी गाढ़ निद्रासे नहीं जागेगी ?"

पिदारकके बाद "इतालीकी प्रतिभा" जगी, और यूनानी दर्शनके विद्वानोंने—जो कि पूरबसे भाग-भागकर आये थे—जगह-जगह ऐसे विद्यालय स्थापित किये, जिनमें यूनानी साहित्य और दर्शनकी शिक्षा सीधे यूनानी पुस्तकोंसे दी जाती थी। आरम्भके यूनानी अध्यापकोंमें गाज़ा (मृ० १४७८ ई०) जार्ज दे-त्रेपरविंद (मृत्यु १४८४ ई०) जार्ज स्कोलारियस् ज्यादा प्रसिद्ध हैं।

४ नवम्बर सन् १४९७ ई० की तारीख पेदुआ और इतालीके इतिहासमें अपना "खास" महत्त्व रखती है। इसी दिन प्रोफ़ेसर ल्युनियस्ने पेदुआके विश्वविद्यालय-भवनमें अरस्तूके दर्शनको उस भाषा द्वारा पढ़ाया, जिसमें नौ सौ साल पहिले खुद अरस्तू अथेन्समें पढ़ाया करता था। प्राचीनता-पंथियोंको गर्व हुआ कि उन्होंने कालकी सुईको पीछे लौटा दिया, किन्तु वह उनके बसकी बात नहीं थी, इसे इतिहासने आगे साबित किया।

४ नवम्बर १४९७ ई०के बाद भी रोश्दका पठन-पाठन पेदुआमें भी जारी रहा यह बतला चुके हैं। सत्रहवीं सदीमें जेसुइत-पंथियोंने रोश्दपर भी हमला शुरू किया, किन्तु सबसे ज़बर्दस्त हमला जो चुपचाप हो रहा था; वह था साइंसकी ओरसे, गेलेलियोकी दुरबीन, न्यूटनके गुरुत्वाकर्षण और भापके इंजनके रूपमें।

३. यूरोपीय दर्शन

३. यूरोपीय दर्शन

दशम अध्याय

सत्रहवीं सदीके दार्शनिक

(विचार-स्वातन्त्र्यका प्रवाह)

[ल्योनार्दो दा-विन्ची (१४५१-१५१९)]—नवीन यूरोपके स्वतंत्र-विचारक और कलाकारका एक नमूना था दा-विन्ची; जिसकी कला (चित्र) में ही नहीं, लेखोंमें भी नवयुगकी ध्वनि थी, किन्तु वह अपने ग्रंथोंको उस वक्त प्रकाशित कर पोप और धर्माचार्योंके कोपका भाजन नहीं बनना चाहता था, इसलिए उसके वैज्ञानिक ग्रन्थ उस वक्त प्रकाशमें नहीं आये।

१४५५ ई०में छापेका आविष्कार ज्ञानके प्रचारमें बड़ा सहायक साबित हुआ, निश्चय ही छापेके बिना पुस्तकों द्वारा ज्ञानका प्रचार उतनी शीघ्रतासे न होता, जितना कि वह हुआ। पोप-पुरोहित परिश्रमसे देरमें लिखी दो-चार कापियोंको जलवा सकते, किन्तु छापेने सैकड़ों हजारों कापियोंको तैयार कर उनके प्रयत्नको बहुत हद तक असफल कर दिया।

पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदियाँ हमारे यहाँ सन्तों और सूफियोंको पैदा कर दुनियाकी तुच्छता—अतएव दुनियाकी समस्याओंके भुलाने—का प्रचार कर रही थीं; लेकिन इसी समय यूरोपमें बुद्धिको धर्म और रूढ़ियोंसे स्वतंत्र करनेका प्रयत्न बहुत जोखिम उठाकर हो रहा था। लारेंजो वाला (१४०८-५७ ई०) ने खुलकर शब्दोंके धनी धर्म-रूढ़िके हिमायती दार्शनिकोंपर प्रहार किया। उसका कहना था, शब्दोंके दिमाग़ी तर्कको छोड़ो और सत्यकी खोजकेलिए वस्तुओंके पास जाओ। कोलम्बस (१४४७-१५०६),

वास्को-दा-गामा (१४६९-१५२४) ने अमेरिका और भारतके रास्ते खोले। परासेल्सस् (१४९३-१५४१) और फ़ान् हेल्मोन्ट (१५७७-१६४४) ने पुस्तक पत्रेकी गुलामीको छोड़ प्रकृतिके अध्ययनपर जोर दिया। उस वक़्तके विश्वविद्यालय धर्मकी मुट्ठीमें थे, और साइंस-संबंधी गवेषणाकेलिए वहाँ कोई स्थान न था; इसीलिए साइंसकी खोजोंकेलिए स्वतंत्र संस्थाएँ स्थापित करनी पड़ी। लेलेसिओ (१५७७-१६४४) ने ऐसी गवेषणाओंकेलिए नेपल्समें पहिली रसायनशाला खोली। १५४३ में वेसालियस् (१५१५-६४ ई०)ने शरीरशास्त्रपर साइंस सम्मत ढंगसे पहिली पुस्तक लिखी, इसमें उसने कल्पनाकी जगह हर बातको शरीर देखकर लिखनेकी कोशिश की। धर्म बहुत परेशानीमें पड़ा हुआ था, वह मृत्युके डरसे साइंसकी प्रगतिको रोकना चाहता था। १५३३ ई०में सर्वेतस् और १६०० ई०में ग्योर्दिनो ब्रूनो आगमें जलाकर साइंसके शहीद बनाये गये। यह वह समय था, जब कि भारतमें अकबर उदारतापूर्वक साइंसवेत्ताओंके खूनके प्यासे इन ईसाई पुरोहितों और दूसरे धर्मियोंके साथ समानताका बर्ताव करते हुए सबकी धार्मिक शिक्षाओंको सुनता तथा एक नये धर्म द्वारा उनके समन्वय करनेके प्रयत्नमें लगा हुआ था। सोलहवीं सदीके पोथी-विरोधी प्रयोग-हिमायती विद्वानोंमें "मोंताञ्"[1] (१५६१-१६२६), तायचो ब्राहे (१५४६-१६०१) के, सांशज[2] (१५६२-१६३२)के नाम खास तौरसे उल्लेखनीय हैं।

पन्द्रहवीं सदीके विचार-स्वातंत्र्य और सोलहवीं सदीके भौगोलिक, खगोलिक आविष्कारोंने कूप-मंडूकताके दूर करनेमें बहुत मदद की, और इस प्रकार सत्रहवीं सदीके युरोपमें कुछ खुली हवा सी आने लगी थी। इस वक़्तके दार्शनिकोंकी विचारधारा दो प्रकारकी देखी जाती है। (१) कुछका कहना था, कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, और तजर्बा (प्रयोग) ही ज्ञानका एक-मात्र आधार है, इन्हें **प्रयोगवादी** कहते हैं। बेकन, हाब्स, लॉक, बर्कले, ह्यूम, प्रयोगवादी दार्शनिक थे; (२) दूसरे दार्शनिक ज्ञानको इन्द्रिय या

---

[1] Montaigne. [2] Sanchez.

प्रयोग-गम्य नहीं बुद्धिगम्य मानते थे। इन्हें **बुद्धिवादी** कहा जाता है; द-कार्त, स्पिनोजा, लाइप्निट्ज इस प्रकारके दार्शनिक थे।

§ १–प्रयोगवाद[1]

प्रयोगवाद प्रयोग या तजर्बेको ज्ञानका साधन बतलाता है, किन्तु प्रयोगके जरिये जिस सच्चाईको वह सिद्ध करता है, वह केवल भौतिक तत्त्व, केवल विज्ञानतत्त्व—अर्थात् अद्वैत भी हो सकता है—अथवा भौतिक और विज्ञान दोनों तत्त्वोंको माननेवाला द्वैतवाद भी। हॉब्स, टोलैण्ड, अद्वैती-भौतिकवादी थे, स्पिनोजा अद्वैती-विज्ञानवादी; और बैकन, द-कार्त, लीप्नित्ज़ द्वैतवादी थे।

१. अद्वैत-भौतिकवाद

(१) हॉब्स (१५८८-१६७९ ई०)—टामस हॉब्सने अध्ययन आक्सफोर्डमें किया। पेरिसमें उसका परिचय देकार्तसे हुआ। जो देश उद्योग-धंधे और पूँजीवादका बानी बनने जा रहा था, यह जरूरी था, कि उसका नंबर स्वतंत्र-विचारकोंमें भी पहिला हो; इसलिए सत्रहवीं सदीके आरंभमें बैकन (१५६१-१६२६) का विचार-स्वातंत्र्यका प्रचार और मध्ययुगीनताका विरोध करना; तथा हॉब्स, लॉक जैसे दार्शनिकोंका उसे आगे बढ़ाना, कोई आकस्मिक घटना न थी। बैकन दार्शनिक विचारोंमें प्रगतिशील था, किन्तु यह जरूरी नहीं है, कि दार्शनिक प्रगतिशीलता राजनीतिमें भी वही स्थान रखे। जब इंगलैंडमें सामन्तवादके खिलाफ क्रामवेलके नेतृत्वमें जनताने क्रान्तिका झंडा उठाया, तो हॉब्स क्रान्ति-विरोधियोंके दलमें था। ३० जनवरी १६४९ को शाहजहाँके समकालीन राजा चार्लस्का शिरश्छेदकर जनताने सामन्तवादियोंपर विजय पाई। हॉब्स जैसे कितने ही व्यक्ति उससे सन्तुष्ट नहीं हुए। नवम्बर १६५१ में हॉब्स फ़ांस भाग गया, लेकिन उसे यह समझनेमें देर न लगी, कि

---

[1] Empiricism.

गुजरा ज़माना नहीं लौट सकता, और उसी साल लौटकर उसने अधिनायक ओलिवर क्रामवेल (१५६६-१६५८) से समझौता कर लिया।

हॉब्स लोकोत्तरवादका विरोधी था। उसके अनुसार दर्शन कारणोंसे कार्य और कार्योंसे कारणके ज्ञानको बतलाता है। हम इन्द्रियोंके साक्षात्कार द्वारा वस्तुका ज्ञान (-सिद्धान्त) प्राप्त कर सकते हैं; या इस प्रकारके सिद्धा-न्तसे वस्तुके ज्ञानको भी पा सकते हैं।

दर्शन गति और क्रियाका विज्ञान है, ये गति-ज्ञान प्राकृतिक पिंडोंके भी हो सकते हैं, राजनीतिक पिंडोंके भी। मनुष्यका स्वभाव, मानसिक जगत्, राज्य, प्राकृतिक घटनाएं उन्हीं गतियोंके परिणाम हैं।

ज्ञानका उद्‌गम इन्द्रियोंकी वेदना (=प्रत्यक्ष) है, और वेदना मस्तिष्क या किसी इसी तरहके आभ्यान्तरिक तत्त्वमें गतिके सिवा और कुछ नहीं है। जिसे हम मन कहते हैं, वह मस्तिष्क या सिरके भीतर मौजूद इसी तरहके किसी प्रकारके भौतिक पदार्थकी गतिमात्र है। विचार या प्रतिबिंब, मस्तिष्क और हृदयकी गतियाँ—अर्थात् भौतिक पदार्थोंकी गतियाँ—हैं। भौतिक तत्त्व और गति ये मूलतत्त्व हैं, वे जगत्‌की हर एक वस्तु—जड़, चेतन सभी—की व्याख्या करनेके लिए पर्याप्त हैं।

हॉब्सने ईश्वरके अस्तित्वका साफ तौरसे इन्कार नहीं किया, उसका कहना था कि मनुष्य "ईश्वरके बारेमें कुछ नहीं जान सकता।"

अच्छा, बुरा—पाप, पुण्य—हॉब्सके लिए सापेक्ष बातें हैं, कोई पर-मार्थतः न अच्छा है न परमार्थतः बुरा।

हॉब्स अरस्तूकी भाँति मनुष्यको सामाजिक प्राणी नहीं, बल्कि "मानव भेड़िया" कहता था। मनुष्य हमेशा धन, मान, प्रभुता, या शक्तिकी प्रति-योगितामें रहता है; उसका झुकाव अधिकके लोभ तथा द्वेष और युद्धकी ओर होता है। जब उसके रास्तेमें दूसरा प्रतियोगी आता है, तो फिर उसे मार डालने, अधीन बना लेने, या भगा देनेकी कोशिश करता है।

(२) टोलैंड (१६७०-१७२१ ई०)—हॉब्सकी भाँति उसका देश-भाई टोलैंड भी भौतिकवादका हामी, तथा बर्कलेके विज्ञानवादका विरोधी

था। भौतिक तत्त्व गतिशून्य नहीं बल्कि सक्रिय द्रव्य या शक्ति हैं। भौतिक तत्त्व शक्ति है, और गति, जीवन, मन, सब इसी शक्तिकी क्रियाएं हैं। चिन्तन उसी तरह मस्तिष्ककी क्रिया है, जिस तरह स्वाद जिह्वाका।

२—अद्वैत विज्ञानवाद

स्पिनोज़ा (१६३२-७७ ई०)—बारुच दे-स्पिनोज़ा हालेंडमें एक धनी यहूदी परिवारमें पैदा हुआ था। उसने पहिले इब्रानी साहित्यका अध्ययन किया, पीछे फ्रेंच दार्शनिक द-कार्तके ग्रंथोंको पढ़कर उसकी प्रवृत्ति स्वतंत्र दार्शनिक चिन्तनकी ओर हुई। उसके धर्मविरोधी विचारोंसे उसके सधर्मी नाराज हो गये और उन्होंने १६३६ ई० में उसे अपने धर्म-मन्दिरसे निकाल बाहर किया, जिससे स्पिनोजाको अम्स्टर्डम् छोड़नेपर बाध्य होना पड़ा। जहाँ-तहाँ धक्के खाते अन्तमें १६६९ में (औरंगजेबके शासनारंभ कालमें) वह हागमें जाकर बस गया, जहाँ उसकी जीविकाका ज़रिया चश्मेके पत्थरोंको घिसना था। शताब्दियों तक स्पिनोज़ाको नास्तिक समझा जाता था, और ईसाई, यहूदी दोनों उससे घृणा करनेमें होड़ लगाये हुए थे।

स्पिनोजा पहिला दार्शनिक था, जिसने मध्यकालीन लोकोत्तरवाद तथा धर्म-रूढ़िवादको साफ शब्दोंमें खंडन करते हुए बुद्धिवाद और प्रकृतिवादका जबर्दस्त समर्थन किया : हर तरहके शास्त्र या धर्मग्रंथके प्रमाणसे बुद्धि ज्यादा विश्वसनीय प्रमाण है। धर्मग्रंथोंको भी सच्चा साबित होनेके लिए उसी तरह बुद्धिकी कसौटीपर ठीक उतरना होगा, जिस तरह कि दूसरे ऐति-हासिक लेखों या ग्रंथोंको करना पड़ता है। बुद्धिका काम है यह जानना कि, भिन्न-भिन्न वस्तुओंमें आपसका क्या संबंध है। प्राकृतिक घटनाएं परस्पर संबद्ध हैं। यदि उनकी व्याख्याकेलिए प्रकृतिसे परेकी किसी लोकोत्तर चीजको लाते हैं, तो वस्तुओंका वह आन्तरिक संबंध विच्छिन्न हो जाता है, और सत्य तक पहुँचनेकेलिए जो एक जरिया हमारे पास था, उसे ही हम खो देते हैं। इस तरह बुद्धिवाद और प्रकृतिवाद (=भौतिक-वादी प्रयोगवाद) दोनोंका हम स्पिनोजाके दर्शनमें संमिश्रण पाते हैं।

लेकिन स्पिनोज़ाके प्रकृति (=भौतिक)-वाद और हॉब्सके भौतिकवादमें अन्तर है। हॉब्स शुद्ध भौतिकवादी था। वह सबकी व्याख्या भौतिक तत्वों और उसकी शक्ति या गतिसे करता था; किन्तु इसके विरुद्ध स्पिनोज़ा स्तोइकों या ब्रह्म-जगत्-अद्वैतवादी वेदान्तियोंकी भाँति "यह सब ईश्वर (=ब्रह्म) है, और ईश्वर (=ब्रह्म) यह है।" इस तरह उसका जोर भौतिकतत्त्व पर नहीं बल्कि आत्मतत्त्वपर था।

(परमतत्त्व)—एक सान्त वस्तु अपनी सत्ताके लिए दूसरे अनगिनित तत्त्वोंपर निर्भर है, और इन आधारभूत तत्त्वोंमेंसे भी प्रत्येक दूसरे अनगिनित तत्त्वोंपर निर्भर हैं। इस तरह एकका आधार दूसरा, दूसरेका आधार तीसरा. . . .मानते जानेपर हम किसी निश्चयपर नहीं पहुँच सकते। कोई ऐसा तत्त्व होना चाहिए, जो स्वयंसिद्ध, स्वयं अपना आधार हो, जो सभी आधेयों, घटनाओंको अवलम्ब दे। लेकिन, ऐसे स्वतः सिद्ध तत्त्वके ढूँढ़नेकेलिए हमें प्रकृतिसे परे किसी स्रष्टाकी जरूरत नहीं। प्रकृति या सृष्टि स्वयं इस काम तथा ईश्वरकी आवश्यकताको पूरी करती है। इस तरह प्रकृति या ईश्वर स्वयं सर्वमय, अनन्त और पूर्ण है, इससे परे कुछ नहीं है, न कोई लोकोत्तर तत्त्व है। प्रकृति भी गतिशून्य नहीं बल्कि सक्रिय परिवर्तनशील है—सभी तरहकी शक्तियाँ वही है। हर एक अंतिम शक्ति, ईश्वरका गुण है। मनुष्य इन गुणोंमेंसे सिर्फ़ दो गुणोंको जानता है—विस्तार (=परिमाण) और चिन्तन; और यही दोनों हैं भौतिक और मानसिक शक्तियाँ। सभी भौतिक पिंड और भौतिक घटनाएं विस्तार-गुणकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएं हैं, और सभी मन तथा मानसिक अनुभव चिन्तन गुणकी। चूँकि, विस्तार और चिन्तन दोनों एक परमतत्त्वके गुण हैं—इसलिए भौतिक मानसिक पदार्थोंके संबंधमें कोई कठिनाई नहीं है। जितनी सान्त स्थितियाँ हमें दृष्टिगोचर होती हैं, वह भ्रम या माया नहीं बल्कि वास्तविक हैं—उस वक़्त जब कि वह घटित हो रही हैं, और उस वक़्त भी जब कि वह लुप्त होती हैं, तब भी उनका अत्यंताभाव नहीं होता, क्योंकि वह एक परमतत्त्व मौजूद रहता है, जिसमें कि अनेक बदलते और फिर बदलते रहते हैं।

३. द्वैतवाद

लॉक (१६३२-१७०४ ई०)—जॉन लॉकने आक्सफोर्डमें दर्शन, प्राकृतिक विज्ञान और चिकित्साका अध्ययन किया था। बहुत सालों तक (१६६६-८३ ई०) इंगलैंडके एक रईस (अर्ल शाफ़्ट्सबरी) का सेक्रेटरी रहा।

प्रयोग या अनुभवसे परे कोई स्वतःसिद्ध वस्तु है, लॉक इससे इन्कारी था। हमारा ज्ञान हमारे विचारोंसे परे नहीं पहुँच सकता। ज्ञान तभी सच हो सकता है, जब कि हमारे विचारोंको वस्तुओंकी सत्त्यता स्वीकार करती हो—अर्थात् विचार प्रयोगके विरुद्ध न जाते हों।

(१) तत्त्व—मानसिक और भौतिक तत्त्व—प्रत्यक्ष-सिद्ध और अप्रत्यक्ष-सिद्ध—दो पादर्थ तो हैं ही, इनके अतिरिक्त एक तीसरा आत्मतत्त्व ईश्वर है। अपनी प्राकृतिक योग्यताका ठीक तौरसे उपयोग करके हमें ईश्वर का ज्ञान हो सकता है।

अपने कामोंके बुरे होनेके बारेमें हमारी जो राय है—जो कि हमारे सीखे आचारज्ञानसे तैयार होती है—इसीको आत्माकी पुकार कहा जाता है; वह इससे अधिक कुछ नहीं है। आचार-नियम स्वयंभू[1] (=स्वतः उत्पन्न) नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उन्हें न स्वयंभू देखा जाता है, और न सर्वत्र एक समान पाया जाता है। ईश्वर-संबंधी विचार भी स्वयंभू नहीं है। यदि ऐसा होता तो कितनी ही जातियोंको ईश्वरके ज्ञानसे वंचित अथवा उसके जाननेके लिए उत्सुक न देखा जाता। इसी प्रकार आग, सूर्य, गर्मीके ज्ञान भी सीखनेसे आते हैं, स्वयंभू नहीं हैं।

(२) मन—मन पहिले-पहिल साफ़ स्लेट जैसा होता है, उसमें न कोई विचार होते हैं, न कोई छाप या प्रतिबिंब (=वासना)। ज्ञानकी सामग्री हमें अनुभव (=प्रयोग) द्वारा प्राप्त होती है, अनुभवके ऊपर हमारे ज्ञानकी इमारत खड़ी है।

---

[1] Innate.

लॉक कहता है **कारण** वह चीज है, जो किसी दूसरी चीजको बनाता है; और कार्य वह है जिसका आरम्भ किसी दूसरी चीज़से है ।

इन्द्रियोंसे प्राप्त वेदना या उसपर होनेवाला विचार ही हमें देश-काल-विस्तार, भेद-अभेद, आचार तथा दूसरी बातोंके संबंधका ज्ञान देते हैं; यही हमारे ज्ञानकी सामग्रीको प्रस्तुत करते हैं ।

लॉक चाहता था, कि दर्शनको कोरी दिमागी उड़ानसे बचाकर प्रकृतिके अध्ययनमें लगाया जाये । जिज्ञासा करने, प्रश्नोंके हल ढूँढ़नेसे पहिले हमें अपनी योग्यताका निरीक्षण करना चाहिए, और देखना चाहिए किस और कितने विषयको हमारी बुद्धि समझ सकती है । "अपनी योग्यतासे परेकी जिज्ञासाएं अनेक नये प्रश्न, कितने ही विवाद खड़े कर देती हैं, जिससे....हमारे सन्देह ही बढ़ते हैं ।

§ २–बुद्धिवाद (द्वैतवाद)

वैसे तो स्पिनोज़ाके अद्वैती विज्ञानवादको भी बुद्धिवादमें गिना जा सकता है, क्योंकि विज्ञानवाद भौतिक जगत्की सत्ताको महत्त्व नहीं देता, किन्तु स्पिनोज़ाके दर्शनमें विज्ञानवाद और भौतिकवादका कुछ इतना सम्मिश्रण है, तथा प्रकृतिकी वास्तविकतापर उसका इतना जोर है, कि उसे केवल विज्ञानवादमें नहीं गिना जा सकता । बाकी सत्रहवीं सदीके प्रमुख बुद्धिवादी दार्शनिक द-कार्त और लाइपनिट्ज हैं, जो दोनों ही द्वैतवादी भी हैं ।

१–द-कार्त (१५९६-१६५० ई०)

रेने द-कार्तका जन्म फ्रांसके एक रईस परिवारमें हुआ था । दार्शनिकके अतिरिक्त वह कितनी ही पुरानी भाषाओंका पंडित तथा प्रथम श्रेणीका गणितज्ञ था, उसकी ज्यामिति आज भी कार्तसीय ज्यामितिके नामसे मशहूर है ।

यूरोपके पुनर्जागरण कालके कितने ही और विद्वानोंकी भाँति द-कार्त भी अपने समयके ज्ञानकी अवस्थासे असन्तुष्ट था । सिर्फ़ गणित एक विद्या

थी, जिसकी अवस्थाको वह सन्तोषजनक समझता था, और उसका कारण उसका श्रेय वह नपी-तुली नियमबद्ध प्रक्रियाको देता था। उसने गणित-के ढंगको दर्शनमें भी इस्तेमाल करना चाहा। सन्त अगस्तिनकी भाँति उसने भी "बाक़ायदा संदेह"से सोचना आरंभ किया—मैं दुनियाकी हर चीजको संदिग्ध समझ सकता हूँ, लेकिन अपने 'होने'के बारेमें सन्देह नहीं कर सकता, "मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ।" इसे सच इसलिए मानना पड़ता है, क्योंकि यह "स्पष्ट और असंदिग्ध" है। इस तरह हम इस सिद्धान्तपर पहुँचते हैं, "जिसे हम अत्यन्त स्पष्ट और असंदिग्ध पाते हैं, वह सच है।" इस तरहके स्पष्ट और असंदिग्ध अतएव सच विचार हैं—ईश्वर, रेखा-गणितके स्वयंसिद्ध, और "नहींसे कुछ नहीं पैदा हो सकता"की तरहके अनादि सत्य। यद्यपि द-कार्तने स्पष्ट और असंदिग्ध विचार होनेसे ईश्वरको स्वयंसिद्ध मान लिया था, किन्तु हवाका रुख इतना प्रतिकूल था, कि ईश्वरकी सिद्धिकेलिए अलग भी उसे प्रयत्न करना पड़ा। दृश्य जगत्-के भी "स्पष्ट और असंदिग्ध" अंशको उसने सत्य कहा। जगत् ईश्वरने बनाया है, और अपनी स्थितिको जारी रखनेकेलिए वह बिलकुल ईश्वरपर निर्भर है। ईश्वरनिर्मित जगत्के दो भाग हैं—काया या विस्तारयुक्त पदार्थ और मन या सोचनेवाला पदार्थ। आत्मा और शरीरको वह अक्विना की भाँति अभिन्न नहीं; बल्कि अगस्तिन्की भाँति सर्वथा भिन्न—एक दूसरेसे बिलकुल अलग-थलग—कहता था। यह भगवान्की दिव्य सहायता है, जिससे कि आत्मा शरीरकी गतिको उत्पन्न नहीं, बल्कि संचालित कर सकता है। द-कार्त इस प्रकार लोकोत्तरवादी तथा अगस्तिन्की भाँति ईसाई धर्मका एक ज़बर्दस्त सहायक था। शरीर और आत्मामें आपसका कोई संबंध नहीं, इस धारणाने द-कार्तको यह माननेके लिए भी मजबूर किया, कि जब दोनोंमेंसे किसी एकमें कोई परिवर्तन होता है, तो भगवान् बीचमें दखल देकर दूसरेमें भी वही परिवर्तन पैदा कर देता है।

अंग्रेज दार्शनिक हॉब्स द-कार्तका समकालीन तथा परिचित था, किन्तु दोनोंके विचारोंमें हम ज़मीन-आसमानका अंतर देखते हैं। द-कार्त पूरा

लोकोत्तरवादी, ईश्वरके इशारेपर जड़-चेतनको नाचनेवाला मानता था; किन्तु हॉब्स लोकोत्तरवादके बिलकुल खिलाफ़, हर समस्याके हलको प्रकृति में ढूँढ़नेका पक्षपाती था। स्पिनोज़ाने द-कार्तके ग्रंथोंसे बहुत फ़ायदा उठाया, 'विस्तार' और 'चिन्तन' काया और आत्माके स्वरूपोंको भी उसने द-कार्तसे लिया, किन्तु द-कार्तके दर्शनके 'ईश्वरीय यंत्रवाद'की कमज़ोरियोंको वह समझता था, इसीलिए द-कार्तके द्वैतवादको छोड़ उसने प्रकृति-ईश्वर-अद्वैत या विज्ञानवादको हॉब्सके नजदीकतर लानेकी कोशिश की।

द-कार्तके अनुसार दर्शन कहते हैं मनुष्य जितना जान सकता है, वह ज्ञान तथा अपने जीवनके आचरण, अपने स्वास्थ्यकी रक्षा, और सभी कलाओं (=विद्याओं) के आविष्कारके पूर्ण ज्ञानको। इस तरह द-कार्तकी परिभाषामें दर्शनमें लौकिक लोकोत्तर सारे ही "स्पष्ट और असंदिग्ध (=अविसंवादि) ज्ञान शामिल हैं।

ईश्वरके कामके बारेमें द-कार्तका कहना है—भगवान्ने शुरूमें गति और विश्रामके साथ भौतिक तत्त्वों (=प्रकृति) को पैदा किया। प्रकृतिमें जो गति उसने उस वक्त पैदा की, उसे उसी मात्रामें जारी रखनेकेलिए उसकी सहायताकी अब भी ज़रूरत है, इस प्रकार ईश्वरको सदा सक्रिय रहना पड़ता है।

आत्मा या सोचनेवाली वस्तु, उसे कहते हैं, जो संदेह करने, समझने, ग्रहण-समर्थन-अस्वीकार-इच्छा-प्रतिषेध करनेकी क्षमता रखती है।

गंभीर विचारक होते हुए भी द-कार्त मध्ययुगीन मानसिक बंधनोंसे अपनेको आज़ाद नहीं कर सका था, और अपने दर्शनको सर्वप्रिय रखनेके लिए भी वह धर्मवादियोंका कोपभाजन नहीं बनना चाहता था। स्वयं द-कार्तके अपने वर्गका भी स्वार्थ इसीमें था कि धर्म और उसके साथ प्राचीन समाजकी व्यवस्थाको न छेड़ा जाये।

२. लाइप्निट्ज़ (१६४६-१७१६ ई०)

गोट्फ़ीड् विल्हेल्म लाइप्निट्ज़ लीपज़िग् (जर्मनी) में एक मध्यवित्तक परिवारमें पैदा हुआ था। विश्वविद्यालयमें वह कानून, दर्शन, और गणित

का विद्यार्थी रहा।

दर्शन—लाइप्निट्ज आत्म-कणवाद[1]का प्रवर्त्तक था। उसके दर्शनमें भौतिक पदार्थ—और अवकाश भी—वस्तु सत्य[2] नहीं हैं, मन जिन्हें अनुभव करता है, उसके ये सिर्फ़ दिखावे मात्र हैं। आत्मकण (=मन, विज्ञान) ही एकमात्र वस्तु सत्य हैं। सभी **आत्मकण** विकासमें एकसे नहीं हैं। कुछका विकास अत्यन्त अल्प है, वह सुप्तसे हैं। कुछका विकास इनसे कुछ ऊँचा है, वह स्वप्न अवस्थाकी चेतना जैसे हैं। कुछका विकास बहुत ऊँचा है, वह पूरी जागृत चेतना जैसे हैं। और इन सबसे ऊँचा चरम विकास ईश्वरका है। उसकी चेतना अत्यंत गंभीर अत्यंत पूर्ण, और अत्यंत सक्रिय है। आत्मकणोंकी संख्या अनन्त और उनके विकासके दर्जे भी अनन्त हैं—उनमें इतनी भिन्नता है, कि कोई दो आत्मकण एकसे नहीं हैं। इस प्रकार लाइप्निट्ज द्वैती विज्ञानवादको मानता है।

प्रत्येक आत्मकण अपनी सत्ता और गुणके लिए दूसरे आत्मकणका मुहताज नहीं है, एक आत्मकण दूसरेको प्रभावित नहीं कर सकता। लेकिन सर्वोच्च आत्मकण ईश्वर इस नियमका अपवाद है—उसने एक तरह अपनेमेंसे इन आत्मकणोंको पैदा किया। आत्मकण अपनी क्रियाओंके संबंधमें जो आपसमें सहयोग करते दीख पड़ते हैं, वह 'पहिलेसे स्थापित समन्वय[3]-के' कारण हैं— भगवान्ने उन्हें इस तरह बनाया है, जिसमें वह एक दूसरेसे सहयोग करें।

द-कार्तका यह विचार कि ईश्वरने भौतिक तत्त्वोंमें गति एक निश्चित मात्रा में—घड़ीकी कुंजीकी भाँति—भर रखी है, लाइप्निट्जको पसंद न था, यद्यपि धर्म, ईश्वर, द्वैतवाद आदिका जहाँ तक संबंध था, वह उससे सहमत था। लाइप्निट्जका कहना था—पिंड चलते हैं, पिंड विश्राम करते हैं—जिसका अर्थ है गति आती है, और नष्ट भी होती है। यह (संसार-) **प्रवाहका सिद्धान्त**—अर्थात् प्रकृतिमें मेढक-कुदान नहीं सम-प्रवाह है—के

[1] Monadism. [2] Objective reality. [3] Harmony.

खिलाफ़ जाता है। संसारमें कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, जो क्रिया नहीं करता। जो क्रिया नहीं करता वह है ही नहीं, लाइप्निट्ज़ने इस कथन द्वारा अपनेसे हजार वर्ष पहिलेके बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्तिकी बातको दुहराया। "अर्थ क्रियामें जो समर्थ है वही ठीक सच है।"[1]

लाइप्निट्ज़ विस्तारको नहीं, बल्कि शक्तिको शरीरका वास्तविक गुण कहता है, बिना शक्तिके विस्तार नहीं हो सकता, अतएव शक्ति मुख्य गुण है।

अवकाश या देश[2] सापेक्ष पदार्थ है, उसकी परमार्थ सत्ता नहीं है। वस्तुएं जिसमें स्थित हैं वह देश है, और वह वस्तुओंके नाशके साथ नाश हो जाता है। शक्तियाँ देशपर निर्भर नहीं हैं, किन्तु देश अपनी सत्ताकेलिए शक्तियोंपर अवश्य-निर्भर है। इसलिए वस्तुओं (=आत्मकणों)के बीचमें तथा उनसे परे देश नहीं हो सकता; जहाँ शक्तियाँ खतम होती हैं, वहाँ देश भी खतम होता है। देशकी यह कल्पना आइनस्टाइनके सापेक्षतावाद[3] के बहुत समीप है।

(१) **ईश्वर**—लाइप्निट्ज़के अनुसार दर्शन भगवान् तक पहुँचाता है; क्योंकि दर्शन भौतिक और यांत्रिक सिद्धान्तोंकी व्याख्या करना चाहता है, उसकी उस व्याख्याके बिना चरम कारण भगवान्को हम मान ही नहीं सकते। भगवान् स्वनिर्मित गौण या उपादान-कारणों द्वारा सभी चीज़ोंको बनाता है। भगवान्ने दुनिया कोई अच्छी तो नहीं बनाई है—इसका जवाब लाइप्निट्ज़ देता है—भई! दुनियाको भगवान्ने उतना अच्छा बनाया है, जितनी अच्छी कि वह बनाई जा सकती थी—इसमें जितना संभव हो सकता है, उतने वैचित्र्य और पारस्परिक समन्वय हैं। यह ठीक है कि यह पूर्ण नहीं है, इसमें दोष हैं। किन्तु, भगवान् सीमित रूपमें कैसे अपने स्वभावको व्यक्त कर सकता था? दोष (=बुराइयाँ) भी अनावश्यक नहीं हैं। चित्रमें जैसे काली

---

[1] "**अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थं सत्**"—**प्रमाणवार्त्तिक।**

[2] Space. [3] **देखो "विश्वकी रूपरेखा" में सापेक्षतावाद**

जमीनकी आवश्यकता होती है, उसी तरह अच्छाइयों (=शिव)को व्यक्त करनेकेलिए बुराइयोंकी भी ज़रूरत है। यहाँ समाजके अत्याचार उत्पीड़नके समर्थनकेलिए लाइप्निट्ज़ कैसी कायरतापूर्ण युक्ति दे रहा है!! यदि अपनी अच्छाइयोंको दिखलानेकेलिए ईश्वरने चंद व्यक्तियोंको अपना कृपापात्र और ९० सैकड़ाको पीड़ित, दुखी, नारकीय बना रखा है, तो ऐसे भगवान्से "त्राहि माम्।"

(२) **जीवात्मा**—जीव अगणित आत्मकणोंमें एक है—यह बतला चुके हैं। आत्माको लाइप्निट्ज़ अचल एकरस मानता है।—"आत्मा मोम नहीं है, जो कि उसपर ठप्पा (=वासना) मारा जा सके। जो आत्मा को ऐसा मानते हैं, वह आत्माको भौतिक पदार्थ बना देते हैं।" आत्माके भीतर भाव (सत्ता), द्रव्य, एकता, समानता, कारण, प्रत्यक्ष, कार्यकारण, ज्ञान, परिमाण—यह सारे ज्ञान मौजूद हैं। इनकेलिए आत्मा इन्द्रियोंका मुहताज नहीं है।

(३) **ज्ञान**—बुद्धिसंगत ज्ञान तभी संभव है, जब हम कुछ सिद्धान्तोंको स्वयंभू सिद्ध मान लें, जिसमें कि उनके आधारपर अपनी युक्तियोंको इस्तेमाल किया जा सके। समानता (=सादृश्य) और विरोध इन्हीं स्वयंभू सिद्धान्तोंमें हैं। शुद्ध चिन्तनके क्षेत्रमें सच्चाईकी कसौटी यही समानता और विरोध है। प्रयोग (=तजर्बे)के क्षेत्रमें सच्चाईकी कसौटी पर्याप्त युक्ति ही स्वयंभू सिद्धान्त है। **दर्शन**का मुख्य काम ज्ञानके मौलिक सिद्धान्तों—जोकि साथ ही सत्यताके भी मौलिक सिद्धान्त या पूर्वनिश्चय हैं—का आविष्कार करना है।

हॉब्स और द-कार्त दोनों बिलकुल एक दूसरेके विरोधीवादों—प्रकृति-वाद और लोकोत्तरवाद—को मानते थे। स्पिनोज़ाका दिल द-कार्तके साथ था, दिमाग़ हॉब्सके साथ, जिससे वह द-कार्तकी मदद नहीं कर सका, और उसका दर्शन नास्तिकता और भौतिकवादकेलिए रास्ता साफ़ करनेका काम देने लगा। लाइप्निट्ज़ चाहता था, कि दर्शनको बुद्धिसंगत बनानेके लिए मध्य-युगीनतासे कुछ आगे ज़रूर बढ़ना चाहिए, किन्तु इतना नहीं

कि स्पिनोज़ाकी भाँति लोग उसे भौतिकवादी कहने लगें। साथ ही ईश्वर, आत्मा, सृष्टि आदिके धार्मिक विचारोंको भी वह अपने दर्शनमें जगह देना चाहता जिसमें कि सभ्य समाज उसे एक प्रतिष्ठित दार्शनिक समझे। इन्हीं विचारोंसे प्रेरित हो स्पिनोज़ाके समन्वय—प्रकृति-ईश्वर-अद्वैत तत्त्व—को न मान, उसने **आत्मकण** सिद्धान्त निकाला, जिसमें स्पिनोज़ाका विज्ञानवाद भी था और द-कार्तका द्वैतवादी, ईश्वरवाद भी।

एकादश अध्याय

अठारहवीं सदीके दार्शनिक

न्यूटन (१६४२-१७२७ ई०) के सत्रहवीं सदीके आविष्कार गुरुत्वाकर्षण (१६५७ ई०) और विश्वकी यांत्रिक व्याख्याने सत्रहवीं सदी और आगेकी दार्शनिक विचार-धारापर प्रभाव डाला। अठारहवीं सदीमें हर्शल (१७३८-१८२२ ई०) ने न्यूटनके यांत्रिक सिद्धान्तके अनुसार शनिकी कक्षासे और परे वरुण[1] ग्रह तथा शनिके दो उपग्रहोंका (१७८९ ई०) आविष्कार किया। इसके अतिरिक्त उसने एक दूसरेके गिर्द घूमनेवाले ८०० युग्म (=जुड़वें) तारे खोज निकाले, जिससे यह भी सिद्ध हो गया कि न्यूटनका यांत्रिक सिद्धान्त सौरमंडलके आगे भी लागू है। शताब्दीके अन्त (१७९९ ई०) में लाप्लास्‌ने अपनी पुस्तक **खगोलीय यंत्र**[2] लिखकर उक्त सिद्धान्तकी और पुष्टि की। इधर भौतिक साइंस[3]ने भी ताप, ध्वनि, चुम्बक, बिजलीकी खोजोंमें नई बातोंका आविष्कार किया। रम्‌फोर्डने सिद्ध किया कि ताप भी गतिका एक भेद है। हॉक्सबीने १७०५ ई० में प्रयोग करके पहिले-पहिल बतलाया, कि ध्वनि हवापर निर्भर है, हवा न होनेपर ध्वनि नहीं पैदा हो सकती।

रसायन-शास्त्रमें प्रीस्टली (१७३३-१८०४ ई०) और शीले (१७४२-८६ ई०)ने एक दूसरेसे स्वतंत्र रूपेण आक्सीजनका आविष्कार किया। कवेन्डिश (१७३१-१८१०)ने आक्सीजन और हाइड्रोजन मिलाकर साबित किया कि पानी दो गैसोंसे मिलकर बना है।

---

[1] Uranus. [2] Celestial Mechanics. [3] Physics.

इसी शताब्दीमें हटन (१७२६-९७ ई०) ने अपनी पुस्तक **पृथिवी-सिद्धान्त**[1] लिखकर भूगर्भ साइंसकी नीव डाली; और जेनेर (१७४९-१८९३ ई०) ने चेचकके टीकेका आविष्कारकर बीमारियोंकी पहिलेसे रोकथामका नया तरीका चिकित्साशास्त्रमें प्रारम्भ किया।

अठारहवीं सदीमें साइंसकी जो प्रगति अभी हम देख चुके हैं, हो नहीं सकता था, कि उसका प्रभाव दर्शनपर न पड़ता। इसीलिए हम अठारहवीं सदीके दार्शनिकोंको सिर्फ हवामें उड़ते नहीं देखते, बल्कि सन्देहवादी ह्यूम् ही नहीं विज्ञानवादी बर्कले और कान्टको भी प्रयोगकी पूरी सहायता लेते हुए अपने काल्पनिकवादका समर्थन करना चाहते हैं।

§ १. विज्ञानवाद

अठारहवीं सदीके प्रमुख विज्ञानवादी दार्शनिक बर्कले और कान्ट हैं।

१—बर्कले (१६८५-१७५३ ई०)

जार्ज बर्कलेका जन्म आयरलैंडमें हुआ था, और शिक्षा डब्लिनके ट्रिनिटी कालेजमें। १७३४ ई०में वह क्लोनाय्का लाट-पादरी बना।

बर्कलेके दर्शनका मुख्य प्रयोजन किसी नये तत्त्वका अन्वेषण नहीं था। उसकी मुख्य मंशा थी, भौतिकवाद और अनीश्वरवादसे ईसाई-धर्मकी रक्षा करना। इस प्रकार वह अठारहवीं सदीका अगस्तिन् और सीमित अर्थमें ईसाईयोंका अॅक्विना था। हाब्सका भौतिकवादी दर्शन तथा विचार-स्वातन्त्र्य संबंध दूसरी शिक्षाएं धीरे-धीरे शिक्षित बुद्धिवादी दिमागोंपर असर कर ईसाइयतकेलिए खतरा पैदा कर रही थीं। सत्रहवीं और अठारहवी सदीमें भी जिस तरहकी प्रगति साइंसमें देखी जा रही थी, उससे धर्मका पक्ष और निर्बल होता जा रहा था, तथा यह साबित हो रहा था कि प्रकृति और उसके अपने नियम हर बौद्धिक समस्याके हलके

---

[1] Theory of the Earth.

लिए पर्याप्त हैं। यद्यपि इस लहरको रोकनेकेलिए द-कार्त, स्पिनोज़ा और लाइप्निट्ज़के दर्शन भी सहायक हो सकते थे, किन्तु भौतिक-तत्त्वोंके अस्तित्वको वे किसी न किसी रूपमें स्वीकार करते थे। बिशप् (=लाट-पादरी) बर्कलेने भौतिकतत्त्वोंके अस्तित्वको ही अपने दर्शन-द्वारा मिटा देना चाहा—न भौतिकतत्त्व रहेंगे, न भौतिकवादी सर उठायेंगे।

बर्कलेका कहना था : मुख्य या गौण गुणोंके संबंधमें जो हमारे विचार या वेदनाएं हैं, वह किन्हीं वास्तविक बाह्यतत्त्वोंकी प्रतिकृति या प्रतिबिंब नहीं हैं, वह सिर्फ़ मानसिक वेदनाएं हैं; और इनमें अधिक कुछ नहीं है। विचार विचारोंसे ही सादृश्य रख सकते हैं, भौतिक पदार्थों और उनके गुणों—गोल, पीला, कड़वा आदि—से इन अभौतिक विचारों या मानस प्रति-बिंबोंका कोई सादृश्य नहीं हो सकता। इसलिए भौतिक पिंडोंके अस्तित्वको माननेकेलिए कोई प्रमाण नहीं। ज्ञानका विषय हमारे विचार हैं, उनसे परे या बाहर कोई भौतिकतत्त्व ज्ञानका वास्तविक विषय नहीं है। "मनसे बाहर चाहे वह स्वर्गकी संगीत मंडली हो, अथवा पृथिवीके सामान हों, मन (=विज्ञान)को छोड़ वहाँ कोई दूसरा द्रव्य नहीं, (मानसिक) ग्रहण ही उनकी सत्ताको बतलाता है। जब उन्हें कोई मनुष्य नहीं जान रहा है, तो या तो वे हैं ही नहीं, अथवा वे किसी **अविनाशी आत्माके** मनमें है।" भौतिक पिंड अपने गुणानुसार नियमित प्रभाव (आग, ठंडक) पैदा करते हैं, यदि भौतिक तत्त्व नहीं है, तो सिर्फ़ विचारसे यह कैसे होता है?—बर्कलेका उत्तर था कि यह "प्रकृतिके विधाताके द्वारा स्वेच्छासे बनाए उस संबंध"का यह परिणाम है, जिसे उसने भिन्न-भिन्न विचारोंके बीच कायम किया है। बर्कले के अनुसार सत्यके तत्त्व हैं: भगवान्, उसके बनाए आत्मा, और भिन्न-भिन्न विचार जो उसकी आज्ञानुसार विशेष अवस्थाओंमें पैदा होते हैं।

२. कान्ट (१७२४-१८०४ ई०)

इम्मानुयेल कान्ट कोइनिक्सबर्ग (जर्मनी)में एक साधारण कारी-गरके घर पैदा हुआ था। उसका बाल्य धार्मिक वातावरणमें बीता था।

प्रायः सारा जीवन उसने अपने जन्मनगर और उसके पड़ोस हीमें बिताया और इस प्रकार देशभ्रमणके संबंधमें वह एक पूरा कूपमंडूक था।

हॉब्स, स्पिनोज़ा, द-कार्त, लाइप्‌निट्‌ज़के, बर्कले दर्शनोंमें या तो भौतिक तत्त्वोंको ही मूल तत्त्व होनेपर जोर दिया गया था, अथवा प्रकृतिकी उपेक्षा करके विज्ञान (=चेतना)को ही एकमात्र परमतत्त्व कहा गया। कान्टके समय तक विज्ञानका विकास और उसके प्रति शिक्षितोंका सम्मान इतना बढ़ गया था, कि वह उसकी अवहेलना करके सिर्फ़ विज्ञानवादपर सारा ज़ोर नहीं खर्च कर सकता था—यद्यपि घूमफिरकर उसे भी वहीं पहुँचना था—,और भौतिकवादका तो वह पूर्ण विरोधी था ही। ह्यूमकी भाँति इन दोनों वादोंपर सन्देह करनेको ही वह अपना वाद बनाना पसन्द नहीं करता था। उसके दर्शनका मुख्य लक्ष्य था—ह्यूमके सन्देहवाद, और पुरानी दार्शनिक रूढ़िको सीमित करना, तथा सबसे बढ़कर वह भौतिकवाद, अनीश्वरवादको नष्ट करना चाहता था। अपनेको बुद्धिवादी साबित करनेकेलिए वह भाग्यवाद, भावुकतावाद, मिथ्या-विश्वासका भी विरोधी था। कान्टके वक्त यूरोपका विचारशील समाज मध्ययुगीन मानस-बंधनोंसे ही मुक्त नहीं हो गया था, बल्कि उसने मध्ययुगके आर्थिक ढाँचे—सामन्तवाद—को भी दो प्रमुख देशों, इंग्लैंड (१४६५-१६००) और फ़्रांस (१७८६)में विदा कर पूँजीवादकी ओर ज़ोरसे क़दम उठाया था। इंग्लैंडमें अंग्रेज़ी सामन्तवादकी निरंकुशता चार्लस प्रथमके साथ ही १६४६ में खतम कर दी गई थी। वहाँ सवाल सिर्फ़ एक मुकुटके धूलमें लोटनेका नहीं था, बल्कि मुकुटके साथ ही सनातन मर्यादाओंके प्रति लोगोंकी आस्था उठने लगी थी। अठारहवीं सदीमें अब फ़्रांसकी बारी थी। सामन्तवाद और उसके पिट्ठू धर्मसे दबते-दबते लोग ऊब गए थे। उनके इस भावको व्यक्त करनेकेलिए फ़्रांसने वोल्तेर(१६६४-१७७८), और रूसो (१७१२-७८ ई०) जैसे ज़बर्दस्त लेखक पैदा किये। वोल्तेर धर्मको अज्ञान और धोखेकी उपज कहता था। उसके मतसे मजहब होशियार पुरोहितोंका जाल है, जिन्होंने कि मनुष्यकी मूर्खता और पक्षपातको इस्तेमालकर इस तरह उनपर शासनका एक नया तरीका निकाला

है। रूसो, वोल्तेरसे भी आगे गया, और उसने कला और विज्ञानको भी शौकीनी और कामचोरपनकी उपज बतलाया, और कहा कि आचारिक पतनके यही कारण हैं। "स्वभावसे सभी मनुष्य समान हैं। यह हमारा समाज है, जिसने वैयक्तिक सम्पत्तिकी प्रथा चला उन्हें अ-समान बना दिया—और आज हम उसमें स्वामी-दास, शिक्षित-अशिक्षित, धनी-निर्धन, पा रहे हैं। एक बड़ा रईस बैरन् दोलबाश (१७१२-७८ ई०) कह रहा था—"आत्मा कोई चीज़ नहीं है, चिन्तन मस्तिष्ककी क्रिया है, भौतिकतत्त्व ही एकमात्र अमर वस्तु है।"

ऐसी परिस्थितिमें कान्ट समझता था, कि यूरोपके मुक्त होते विचारोंको ईसाइयतकी तंग चहारदीवारीके अन्दर बंद नहीं किया जा सकता, इसलिए चहारदीवारीको कुछ बढ़ाना चाहिए, और ईश्वर, कर्मस्वातंत्र्य तथा आत्माके अमरत्व—धर्मके इन मौलिक सिद्धान्तोंकी रक्षा करनेकी कोशिश करनी चाहिए। इन्हींको लेकर कान्टने अपने प्रखर तर्कके ताने-बाने बुनकर एक जबर्दस्त जाल तैयार किया। उसने कहा : तजर्बेपर निर्भर मानव-बुद्धि बहुत दूर तक जा सकती है, इसमें शक नहीं; किन्तु उसकी गति अनन्त तक नहीं हो सकती। उसकी दौड़की भी सीमा है। ईश्वर, परलोक या परजीवन मानवके तजर्बेकी सीमासे बाहरकी—सीमापारीय—चीजें हैं, इसलिए उनके बारेमें कोई तर्क-वितर्क नहीं किया जा सकता, तर्कसे न उनका खंडन ही किया जा सकता है, न उन्हें सिद्ध ही किया जा सकता है। उन्हें **श्रद्धा**वश माना जा सकता है—सैद्धान्तिक तौरसे यह श्रद्धा भले ही कमज़ोर मालूम होती है, मगर **व्यवहार**मूलक होनेसे वह काफी प्रबल है।—अर्थात् ईश्वर, तथा परजन्मके विश्वास समाज और व्यक्तिमें शान्ति और संयमका प्रचार करते हैं, जो कि इनके माननेकेलिए काफी कारण हैं।

(१) **ज्ञान**—वास्तविक ज्ञान वह है, जो कि सार्वदैशिक, तथा आवश्यक हो। इन्द्रियाँ हमारे ज्ञानके लिए मसाला जमा करती हैं, और मन अपने स्वभावके अनुकूल तरीकोंसे उन्हें क्रमबद्ध करता है। इसीलिए जो ज्ञान हमें मिलता है वह वस्तुएं—अपने—भीतर जैसी हैं, वैसा नहीं होता,

बल्कि विचारोंके क्रम-संबंधी सार्वदेशिक और आवश्यक ज्ञानके तौरपर होता है। गोया वस्तुएं-अपने-भीतर क्या हैं, इसे हम नहीं जान सकते—यह है कान्टका **सन्देहवाद**। साथ ही, हमारे ज्ञानमें जो कुछ आता है वह तजर्बे या प्रयोगसे आता है—यहाँ वह **प्रयोगवादी** सा मालूम होता है। लेकिन, मन बाहरी बातोंकी कोई पर्वाह न करके, **अपने** तजर्बोंपर **चिन्तन** करता है, और उन्हें अपने स्वभावके अनुसार **ग्रहण** करता है—यह बाह्यार्थसे असंबद्ध मनका अपना निर्णय बुद्धिवाद है। प्रयोगवाद, सन्देहवाद, और बुद्धिवाद तीनोंको सिर्फ़ अपने मतलबके लिए कान्टने इस्तेमाल किया है, और इसका मतलब विचारको बड़ी सीमाबंदीके परे जानेसे रोकना है।

(२) **निश्चय**—ज्ञान सदा निश्चयके रूपमें प्रकट होता है—हम ज्ञानमें चाहे किसी बातकी स्वीकृति (=विधि) करते हैं, या निषेध करते हैं। तो भी प्रत्येक निश्चय **ज्ञान** नहीं है। जो निश्चय "सार्वदेशिक और आवश्यक" नहीं है, वह साइंस-सम्मत नहीं हो सकता। यदि उस निश्चयका कोई अपवाद भी है, तो वह सार्वदेशिक नहीं रहेगा; यदि कोई विरोधी भी आ सकता है तो वह आवश्यक नहीं।

(३) **प्रत्यक्ष**—किसी वस्तुके प्रत्यक्ष करनेकेलिए जरूरी है कि वहाँ भौतिक तत्त्व या उसके भीतर जो कुछ भरा (वेदना), और आकार (=रंग, शब्द, भार) हों। इन्हें बुद्धि एक ढाँचे—या देश-कालके चौकठे—में क्रम-बद्ध करती है, तब हमें किसी वस्तुका प्रत्यक्ष होता है। आत्मा (=मन) सिर्फ़ वेदनाओंको प्राप्त करता है, वह सीधे पदार्थों (=विषयों) तक नहीं पहुँच सकता, और न विषय सीधे मन (=आत्मा) तक पहुँच सकते। फिर अपनी एक विशेष शक्ति—आत्मानुभूति[1]—द्वारा उन्हें वह प्रत्यक्ष करता है। तब वह अपनेसे बाहर देश और कालमें रंगको देखता है, शब्दको सुनता है।

---

[1] Intuition.

देश, काल—मनकी बनावट ही ऐसी है, कि वहाँ कोई वैसी वस्तु न होने पर भी देश और कालका प्रत्यक्ष करता है—वह वस्तुओंको ही देश और कालमें (अर्थात् देश-कालके साथ) प्रत्यक्ष नहीं करता, बल्कि खुद देश-कालको स्वतंत्र वस्तु के तौर पर प्रत्यक्ष करता है। हमारी आन्तरिक मानस-क्रिया कालकी सीमाके भीतर अर्थात् एकके बाद दूसरा करके होती है; और बाहरी इन्द्रिय-ज्ञान देशकी सीमाके भीतर होता है, अर्थात् हम उन्हीं चीजोंका प्रत्यक्ष कर सकते हैं, जिनका कि हमारी इन्द्रियोंसे संबंध है। देश और काल वस्तु-सत्य अर्थात् बिना दूसरेकी सहायताके खुद अपनी सत्ताके धनी नहीं हैं, और नहीं वस्तुओंके गुण या संबंध ही हैं। वे तरीके या प्रकार जिनसे कि हमारी इन्द्रियां विषयोंको ग्रहण करती हैं, इन्द्रियोंके स्वरूप या क्रियाएं हैं। देश और काल आत्मानुभूतिमे ही जाने जाते हैं, वे बाहरी इन्द्रियोंके विषय नहीं हैं—इसका मतलब है, कि यदि आत्मानुभूति या देश-कालके प्रत्यक्षीकरणकी शक्ति रखनेवाले सत्त्व जगत्में न होते तो निश्चय ही जगत् हमारे लिए देशकालवाला न रह जाता। बिना देशके हम वस्तुका ख्याल भी नहीं कर सकते, और न बिना वस्तुके हम देशका ख्याल कर सकते, इसलिए वस्तुओं या बाहरी दुनिया-संबंधी विचारके लिए देशका होना जरूरी है। कालके बारेमें भी यही बात है।

(४) **सीमापारी**—इस प्रकार देश-काल इन्द्रियोंसे संबंध नहीं रखते, वह अनुभव (=नजर्बे) की चीजें नहीं हैं, बल्कि उनकी सीमासे परे—**सीमापारी**[1]—चीजें हैं। सीमापारी होते इन्द्रिय-अगोचर होते भी वस्तुओंके ज्ञानसे वह चीजें कितना नित्य संबंध रखती हैं, यह बतला आए हैं।

(५) **वस्तु-अपने-भीतर**[2]—बाहरी जगतका संबंध—सन्निकर्ष—इन्द्रियोंसे होता है, इन्द्रियां उनकी सूचना मनको देती हैं, मन उनकी व्याख्या स्वेच्छापूर्वक खुद करता है। इन्द्रियोंका सन्निकर्ष वस्तुओंके बाहरी दिखावेसे होता है। फिर मन वस्तुके बारेमें जो व्याख्या करता है

---

[1] Transcental.　　[2] Thing-in-itself, Ding-an-sich.

वह इसी दिखावेकी सूचनाके बलपर होता है। इसलिए **वस्तु-अपने-भीतर** क्या है, यह ज्ञान इन्द्रिय या तजर्बेका विषय नहीं है, वह इन्द्रियकी सीमासे परेकी—इन्द्रिय-सीमा-पारी—है। प्रत्यक्षसे या तो वस्तुओंकी आभा हमें मिलती है, या उनके संबंधका ज्ञान होता है, लेकिन वस्तु-अपने-भीतर क्या है, इसे न वह आभा बतला सकती है; न सम्बन्ध। वस्तु-अपने-भीतर (=वस्तु-सार) अज्ञेय है, उसे इन्द्रियाँ नहीं जान सकतीं। हाँ, उसके होनेका पता दूसरी तरहसे लग सकता है, वह है आन्तरिक आत्मानुभूति, जो इन्द्रियोंसे यह कहती है—'तुम्हारे आनेकी सीमा यहीं तक है, इससे आगे जानेका तुम्हें अधिकार नहीं।'

(आत्मा)—हम आत्माका ज्ञान—साक्षात्कार नहीं कर सकते, किन्तु उसके अस्तित्वपर मनन किया जा सकता है। हम इसपर चिन्तन कर सकते हैं—ज्ञान सम्भव ही नहीं है, जबतक कि एक स्वयंचेतन, विचारोंको स्मृतिके रूपमें जोड़नेवाला तत्त्व आत्मा न हो। किन्तु इस आत्माको सीधे इन्द्रियोंकी सहायतासे हम नहीं जान सकते, क्योंकि वह **सीमा-पारी,** इन्द्रिय-अगोचर है।

इस तरह सीमापारी वस्तुओंका होना भी संभव है। वस्तु-अपने-भीतर या **वस्तुसार**[१] भी इसी तरह अज्ञेय है, किन्तु वह है जरूर, अन्यथा इन्द्रिय तथा विषयके संबंधसे जो वेदना होती है, वह निराधार होगी—आखिर बाहरी जगत् या वस्तुकी जिस आभाका ज्ञान हमें होता है, उसके पीछे कोई वस्तुसार जरूर है, जो कि मनसे परेकी चीज है, जो हमारी इन्द्रियोंको प्रभावित करता है, और हमारे ज्ञानके लिए **विषय** प्रस्तुत करता है। इस आधार वस्तु-अपने-भीतर (वस्तुसार)के बिना वह झाँकी ही नहीं मिलती, जिसकी बुनियादपर कि हमारा सारा ज्ञान खड़ा है।

कान्ट बुद्धि और समझके बीच फरक करता है।—समझ वह है जो कि इन्द्रिय द्वारा लाई सामग्री—वेदना—पर आधारित है। लेकिन

---

[१] Nomena.

बुद्धि समझसे परे जाती है, और इन्द्रिय-अगोचर ज्ञान—जिस ज्ञानका कि कोई प्रत्यक्ष विषय नहीं है जो शुद्ध बोध रूप है—को उपलब्ध करना चाहती है। मन या बुद्धिकी साधारण क्रियाको समझ कहते हैं। वह हमारे तजर्बे—विषय-साक्षात्कारों—को समान रूपसे तथा नियमों और सिद्धान्तों के अनुसार एक दूसरेके साथ संबंध कराती है, और इस प्रकार हमें निश्चय प्रदान करती हैं।

निश्चय—समझ जिन निश्चयोंको हमारे सामने प्रस्तुत करती है, कान्टने उनके बारह भेद गिनाये हैं—

(१) **सामान्य निश्चय**—जैसे सारी धातुएं तत्त्व हैं।

(२) **विशेष निश्चय**—जैसे कुछ वृक्ष आम हैं।

(३) **एकत्व निश्चय**—जैसे अकबर भारतका सम्राट् था। इन तीन निश्चयोंमें चीजें गुण-विभाग-योग, बहुत्व, एकत्व—के रूपमें देखी जाती हैं।

(४) **स्वीकारात्मक निश्चय**—जैसे गर्मी एक प्रकारकी गति है।

(५) **नकारात्मक निश्चय**—जैसे मनमें विस्तार परिमाण नहीं है।

(६) **असीम निश्चय**—जैसे मन अ-विस्तृत है। इन तीन निश्चयोंमें वास्तविकता (भाव), अभाव, और सीमाके रूपमें गुण-विभाग दिखाई देते हैं।

(७) **स्पष्ट निश्चय**—जैसे देह भारी है।

(८) **आशंसात्मक निश्चय**—जैसे यदि हवा गर्म रही तो तापमान बढ़ेगा।

(९) **विकल्पात्मक०**—जैसे द्रव्य या तो ठोस होते हैं या तरल, या गैसीय। ये तीनों निश्चय संबंधों—नित्य (समवाय या अयुतसिद्ध)-संबंध, आधार (और संयोग)-संबंध, कार्यकारण-संबंध, समुदाय (सक्रिय निष्क्रियके आपसी)-संबंध—को बतलाते हैं।

(१०) **सन्देहात्मक निश्चय**—जैसे 'हो सकता है यह जहर हो।'

(११) **आग्रहात्मक निश्चय**—'यह जहर है।'

(१२) **सुपरीक्षित निश्चय**—'हर एक कार्यका कोई कारण होता है।

ये तीनों निश्चय संभव-असंभव, सत्ता-असत्ता, आवश्यकता-संयोग—इन स्थितियोंको बतलाते हैं।

ये गुण-संबंध, स्थिति, इन्द्रिय-गोचर विषयोंमें ही हैं, इन्द्रिय-अगोचर (सीमापारी)में नहीं।

वस्तुसार (वस्तु-अपने-भीतर), अमर आत्मा, कर्मस्वातंत्र्य, ईश्वर यदि हमारी **समझ**के विषय नहीं हैं, तो उससे उनका न होना साबित नहीं होता। उनके अस्तित्वको हमें बुद्धि नहीं बतलाती है, क्योंकि वह **सीमापारी** पदार्थ हैं। तो भी आचारिक कानून भी हमें बाध्य करते हैं, कि हम ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार करें, नहीं तो अहिंसा, सत्यभाषण, चोरी-न-करना, आदि आचारोंके पालन करनेमें नियंत्रण नहीं रह जायेगा।

इस प्रकार कान्टने भी वही काम करना चाहा जो कि बिशप बर्कलेने किया था। हाँ, जहाँ बर्कलेने "समझ"का आश्रय ले भौतिकतत्वोंके अस्तित्वका खंडन तथा विज्ञानका समर्थन किया; वहाँ कान्टने भौतिक तत्वोंके ज्ञानकी सच्चाईपर सन्देह पैदाकर उनके अस्तित्वको खतरेमें डाल दिया और ईश्वर-आत्मा-मनके चूँचूँके मुरब्बे—वस्तु-अपने-भीतर या वस्तुसार—को इन्द्रियोंसे परे—सीमा-पारी—बना, ईश्वर-आत्मा-धर्म-आचार (और समाजके वर्तमान ढाँचे)को शुद्ध बुद्धिसे "सिद्ध" करनेकी कोशिश की।

किन्तु क्या बुद्धि और भौतिक प्रयोगके अस्यको कुंठित कर कान्ट अपने अभिप्रायमें सफल हुआ? मुमकिन है बुद्धि और भौतिक तजर्बेसे जिन्हें सरोकार नहीं, वह ऐसा समझनेकी गलती करें; किन्तु कान्टके तीक्ष्ण तर्कका क्या परिणाम हुआ, इसे मार्क्सके समकालीन जर्मन विचारक हेनरिख **हाइने**के शब्दोंमें सुनिए—

"तब (कान्टके वाद)से सोचनेवाली बुद्धिके क्षेत्रसे ईश्वर निर्वासित हो गया। शायद कुछ शताब्दियाँ लगें जब कि उसकी मृत्यु-सूचना सर्व-साधारण तक पहुँचे; लेकिन हम तो यहाँ देरसे इस संबंधमें शोक कर रहे हैं। आप शायद सोच रहे हैं, कि अब (शोक करनेकेलिए कुछ नहीं है), सिवाय इसके कि (अपने-अपने) घर जायें?

"अभी नहीं, अपनी कसम ! अभी एक पीछे आनेवाली चीज़का अभिनय करना है। दुःखान्त नाटकके बाद प्रहसन आ रहा है।"

"अब तक इम्मानुयेल कान्ट एक गंभीर निठुर दार्शनिकके तौरपर सामने आया था। उसने स्वर्ग(-दुर्ग)को तोड़कर सारी सेनाको तलवारके घाट उतार दिया। विश्वका शासक (ईश्वर) बेहोश अपने खूनमें ही तैर रहा है। वहाँ दयाका नाम नहीं रहा। वही हालत पितृतुल्य शिवता, और आजके कष्टोंकेलिए भविष्यमें मिलनेवाले सुफलकी है। आत्माकी अमरता अपनी आखिरी साँस गिन रही है ! उसके कंठमें मृत्युकी यंत्रणा ध्वनित हो रही है ! और बूढ़ा भगवानदास पास खड़ा है, उसका छत्ता उसकी बाँह में है। वह एक शोकपूर्ण दर्शक है—व्यथा जनित पसीनेसे उसकी भौएं भीगी हैं, उसके गालोंपर अश्रुबिन्दु टपक रहे हैं।

"तब इम्मानुयेल कान्टका दिल पसीजता है; और अपनेको दार्शनिकोंमें महान् दार्शनिक ही नहीं बल्कि मनुष्योंमें भलामानुष प्रकट करनेकेलिए वह आधी भलमनसाहतसे और आधा व्यंगके तौरपर सोचता है—

"बूढ़े भगवानदासकेलिए एक देवताकी जरूरत है, नहीं तो बेचारा सुखी नहीं रह सकेगा; और वस्तुतः लोगोंको इस दुनियामें सुखी रहना चाहिए। व्यावहारिक साधारण बुद्धिका यह तकाजा है।

"अच्छी बात, ऐसा ही हो क्या पर्वाह ! **व्यावहारिक बुद्धि**को किसी ईश्वर या और किसीके अस्तित्वकी स्वीकृति देने दो।"

"परिणामस्वरूप कान्ट सैद्धान्तिक और व्यावहारिक बुद्धिके भेदपर तर्क-वितर्क करता है, और व्यावहारिक बुद्धिकी सहायतासे उसी देवता (=ईश्वर)को फिर जिला देता है, जिसे कि सैद्धान्तिक बुद्धिने लाशके रूपमें परिणत कर दिया था।[1]

"शुद्ध बुद्धि"के लिखनेके बाद "व्यावहारिक बुद्धि" लिखकर कान्टने जो लीपापोती करनी चाही, हाइनने यहाँ उसका सुन्दर खाका खींचा है।

---

[1] (Germany, Heine; works, Vol. V.)

§ २. सन्देहवाद

ह्यूम (१७११-७६ ई०)—डेविड ह्यूम् एडिनबर्ग (स्काटलेंड)में, कान्टसे १३ साल पहिले पैदा हुआ था। इसने कानूनका अध्ययन किया था। पहिले जेनरल सेन्टक्लेर फिर लार्ड हर्टफोर्डका सेक्रेटरी रहा, और अन्तमें १७६७-९में इंगलेंडका अण्डर-सेक्रेटरी (=उपमंत्री) रहा। इस प्रकार ह्यूम् शासक वर्गका सदस्य ही नहीं, खुद एक शासक तथा सम्पत्तिवाली श्रेणीसे संबंध रखता था। मध्यम तथा उच्चवर्गीय शिक्षित लेखक सदा यह दिखलाना चाहते हैं, कि वह वर्ग और वर्गस्वार्थसे बहुत ऊपर उठे हुए हैं; लेकिन कोई भी आँख रखनेवाला इस धोकेमें नहीं आ सकता। अक्सर जान-बूझकर—कभी-कभी अनजाने भी—लेखक अपनी चेष्टाओंसे उस स्वार्थकी पुष्टि करते हैं, जिससे उनकी "दाल-रोटी" चलती है। हम बिशप् बर्कलेको देख चुके हैं, कि किस तरह बुद्धिकी आँखमें धूल झोंक, प्रत्यक्ष—अनुमानगम्य—बुद्धिगम्य—भौतिक तत्त्वोंसे इन्कारकर उसने लंबे-चौड़े आकर्षक विज्ञानतत्त्वका समर्थन किया। और जब लोग वस्तु-सत्यको छोड़ इस ख्याली विज्ञानको एक मात्र तत्त्व मानकर आंख मूंद झूमने लगे, तो फिर ईश्वर, धर्म, आत्मा, फिरिश्तोंको चुपकेसे सामने ला बैठाया। कान्टको बर्कलेकी यह चेष्टा कुछ बोदी तथा गँवारूपन लिये हुए मालूम हुई। उसने उसे और ऊपरी तलपर उठाया। भौतिक तत्व साधारण बुद्धि (=समझ) गम्य है, उनकी सत्ता भी आंशिक सत्य हो सकती है, किन्तु असली तत्त्व वस्तु-अपने-भीतर (=वस्तुसार) है, जिसकी सत्ता शुद्ध-बुद्धिसे सिद्ध होती है। समझ द्वारा ज्ञेय वस्तुओंसे कहीं अधिक सत्य है, शुद्ध-बुद्धिगम्य वस्तुसार। तर्क, तजर्बे, समझ, साधारण बुद्धिके क्षेत्रकी सीमा निर्धारित कर उनकी गतिको रोक कान्टने समझसे परे एक सुरक्षित क्षेत्र तैयार किया, और इस प्रशान्त, झगड़े-झंझट-रहित स्थानमें लेजाकर ईश्वर, आत्मा, धर्म, आचार (वैयक्तिक सम्पत्ति, सड़ी सामाजिक व्यवस्था) को बैठा दिया। यह था कान्टकी अप्रतिम प्रतिभाका चमत्कार।

आइये अब हम इंगलैण्डके टोरी शासक (अन्डर-सेक्रेटरी) ह्यूमको भी देखें। कान्टसे पहिलेके साइंसजन्य विचार-स्वातंत्र्यके प्रवाहमें पुरानी नींवकी रक्षा करनेके लिए पहिलेके दार्शनिकोंके प्रयत्नको उसने देखा था, और यह भी देखा था, कि वस्तु-जगत् और उससे प्राप्त सच्चाइयाँ इतनी प्रबल हैं, कि उनका सामना उन हथियारोंसे नहीं किया जा सकता, जिनसे द-कार्त, लाइप्-निट्ज, बर्कलेने किया था। भौतिक तत्त्वोंको गलत साबित करनेसे ह्यूम् सहमत था, किन्तु इसे वह फ़जूलकी जवाबदेही समझता था, कि सामने देखी जानेवाली वस्तुको तो इन्कार कर दिया जाये, और इन्द्रिय अनुभवसे परे किसी चीज़—विज्ञान—को सिद्ध करनेकी जिम्मेवारी ली जाये। ह्यूम पूँजीवादी युगके राजनीतिज्ञोंका एक अच्छा पथप्रदर्शक था। उसने कहा—भौतिकतत्त्वोंको सिद्ध मत होने दो; विज्ञानको सिद्ध करके जिस ईश्वर या धर्मको लाना चाहते हो, वह समाजके ढाँचेको क्रान्तिकी लपटमें बचानेके लिए ज़रूरी हैं, किन्तु उनका नाम लेते ही लोग हमारी नेकनीयतीपर शक करने लगेंगे, इसलिए अपनेको और सच्चा साबित करनेके लिए उनपर भी दो चोट लगा देनी चाहिए और इस प्रकार अपनेको दोनोंसे ऊपर रखकर मध्यस्थ बना देना चाहिए। यदि एक बार हम भौतिक तत्वोंके अस्तित्वमें सन्देह पैदा कर देंगे और बाहरी प्रकाशको रोक देंगे, तो फिर अँधेरेमें पड़ा जनसमुद्र किस्मतपर बैठ रहेगा। और फिर इस सन्देहवादमें हमारी हानि ही क्या है—उससे न हमारे क्लाइव झूठे हो सकते हैं और न माखन-रोटी या शम्पेन ही।

अब जरा इस मध्यस्थ, दूधका दूध पानीका पानी करनेवाले राज-मंत्रीकी दार्शनिक उड़ानको देखिए।

(१) **दर्शन**—हम जो कुछ जान सकते हैं, वह है हमारी अपनी मानसिक छाप—संस्कार। हमें यह अधिकार नहीं है कि भौतिक या अभौतिक तत्त्वोंकी वास्तविकता सिद्ध करें। हम उतनेहीको जान सकते हैं, जितनोंको कि इन्द्रियाँ और मन ग्रहण करते हैं, और इस क्षेत्रमें भी सम्भावनामात्रके बारेमें हम कह सकते हैं। इस अनुभव (=प्रत्यक्ष, अनुमान) से बढ़कर ज्ञान प्राप्त करनेका हमारे पास कोई साधन नहीं है।

(२) **स्पर्श**—हमारे ज्ञानकी सारी सामग्री बाहरी (वस्तु द्वारा प्राप्त) और भीतरी वस्तुओंके स्पर्शों[१]—छापों—से प्राप्त होती है। जब हम देखते, अनुभव, प्यार, शत्रुता, इच्छा या संकल्प करते हैं, यानी हमारी सभी वेदनाएं, आसक्तियाँ और मनोभाव जब आत्मामें पहिले-पहिल प्रकट होते हैं, तो हमारे सबसे सजीव साक्षात्कार स्पर्श ही हैं। बाहरी स्पर्श या वेदनाएं आत्माके भीतर अज्ञात कारणोंसे उत्पन्न होती हैं। भीतरी स्पर्श अधिकतर हमारे विचारोंसे आते हैं, अर्थात् एक स्पर्श हमारी इन्द्रियोंपर चोट करता है, और हम सर्दी-गर्मी, सुख-दुख अनुभव करते हैं।

(३) **विचार**—स्पर्शोंके बाद ज्ञानसे संबंध रखनेवाली दूसरी महत्त्वपूर्ण चीज़ विचार[२] हैं। हमारे विचार बिलकुल ही भिन्न-भिन्न असंबद्ध संयोगवश मिले पदार्थ नहीं हैं। एक दूसरेसे मिलते वक्त उनमें एक खास दर्जे तक नियम और व्यवस्थाकी पाबन्दी देखी जाती है। वह एक तरहकी एकताके सूत्रमें बद्ध दीख पड़ते हैं, जिन्हें कि हम **विचार-संबंध** कहते हैं।

(४) **कार्य-कारण**—कार्य कारणसे एक बिलकुल ही अलग चीज़ है, कारणको हम कार्यमें हर्गिज नहीं पा सकते। कार्य-कारणके संबंधका ज्ञान हमें निरीक्षण और अनुभवसे होता है। कार्य-कारणका संबंध यही है, कि एकके बाद दूसरा आता है—कार्य-नियत-पूर्व-वृत्ति कारण, कारण-नियत-पश्चाद्-वृत्ति कार्य—हम यहाँ एक घटनाके बाद दूसरीको होते देखते हैं।

(५) **ज्ञान**—हम सिर्फ प्रत्यक्ष (साक्षात्) मात्र करते हैं, हम इससे अधिक किसी चीज़का पूर्ण ज्ञान रखते हैं, यह गलत है। जो प्रत्यक्ष है, वही वह वस्तु नहीं है, जिसकी कि एक तेज झाँकी हमें उस रूपमें मिलती है। वस्तुकी सिर्फ बाहरी सतह और उसमें भी एक भाग मात्रका प्रत्यक्ष होता है। दार्शनिक विचार या आत्मानुभूतिसे और अधिक जान सकेंगे, इसकी कोई आशा नहीं, क्योंकि दार्शनिक निर्णय और कुछ नहीं, सिर्फ नियमित तथा शोधित साधारण जीवनका प्रतिबिंब मात्र है। इस तरह

---

[१] Impressions. [२] Ideas.

हमारा ज्ञान **सतही**—ऊपर-ऊपरका है, और उससे किसी चीजकी वास्तविकता स्थापित नहीं की जा सकती।

(६) **आत्मा**—"जब मैं खूब नजदीकसे उस चीजपर विचार करता हूँ, जिसे कि मैं **अपनी आत्मा** कहता हूँ, तो वहाँ सदा एक या दूसरी तरहका प्रत्यक्ष (=अनुभव) सामने आता है। वहाँ कभी मैं **अपनी आत्मा**को नहीं पकड़ पाता।" आत्मापर भीतरसे चिन्तन करनेपर वहाँ मिलता है—गर्मी-सर्दी, प्रकाश-अन्धकार, राग-द्वेष, सुख-पीड़ाका अनुभव। इन्हें छोड़ वहाँ शुद्ध अनुभव कभी नहीं मिलता। इस प्रकार **आत्मा**को साबित नहीं किया जा सकता।

(७) **ईश्वर**—जब ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं देखा जा सकता, तो उसके होनेका प्रमाण क्या है? उसके गुण आदि। किन्तु ईश्वरके स्वभाव, गुण, आज्ञा और भविष्य योजनाके संबंधमें कुछ भी कहनेके लिए हमारे पास कोई भी साधन नहीं है। घड़ेमे कुम्हार—अर्थात् कार्यसे कारण—के अनुमानसे हम ईश्वरको सिद्ध नहीं कर सकते। जब हम एक घरको देखते हैं, तो पक्की तौरसे इस निश्चयपर पहुँचते हैं, कि इसका कोई बनानेवाला मिस्त्री या कारीगर था। क्योंकि हमने सदा मकान-जातिके कार्योंको कारीगर-जातिके कारणों द्वारा बनाये जाते देखा है। किन्तु विश्व-जातिके कार्योंको ईश्वर-जातिके कारणों द्वारा बनते हमने कभी नहीं देखा, इसलिए यहाँ घर और कारीगरके दृष्टान्तसे ईश्वरको नहीं सिद्ध कर सकते। आखिर अनुमानमें, जिस जातीय कार्यको जिस जातीय कारणसे उत्पन्न होता देखा गया, उसी जातिके भीतर ही रहना पड़ता है। ईश्वर पूर्ण, अचल, अनन्त है, ये ऐसे गुण हैं, जिन्हें निरन्तर परिवर्त्तनशील—क्षण-क्षण पैदा होने तथा मरनेवाला—मन नहीं जान सकता; जब एक मन दूसरे क्षण रहता ही नहीं, तो नया आनेवाला मन कैसे जान सकता है, कि ईश्वरका अमुक गुण पहिले भी मौजूद था। मनुष्य अपने परिमित ज्ञानसे ईश्वरका अनुमान कर ही नहीं सकता, यदि उसके अज्ञानसे, अनुमान करनेका आग्रह किया जाये, तो फिर यह **दर्शन** नहीं हुआ।

विश्वके स्वभावसे ईश्वरके स्वभावका अनुमान बहुत घाटेका सौदा रहेगा। कार्यके गुणके अनुसार ही हम कारणके गुणका अनुमान कर सकते हैं। कार्य-जगत् अनन्त नहीं सान्त, अनादि नहीं सादि है, इसलिए ईश्वरको भी सान्त और सादि मानना पड़ेगा। जगत् पूर्ण नहीं अपूर्ण, क्रूरता, संघर्ष, विषमतासे भरा हुआ है; और यह भी तब जब कि ईश्वरको अनन्तकालसे अभ्यास करते हुए बेहतर जगत्के बनानेका मौक़ा मिला था। ऐसे जगत्का कारण ईश्वर तो और अपूर्ण, क्रूर, संघर्ष-विषमता-प्रेमी होगा।

मनुष्यकी शारीरिक और मानसिक सीमित अवस्थाओंके कारण सदाचार, दुराचारका भी उसपर दोष उतना नहीं आ सकता; आखिर वह ईश्वर हीकी देन है।

(८) **धर्म**—अटकलबाज़ी, कुतूहल, या सत्यताका शुद्ध प्रेम भी धर्म और ईश्वर-विश्वासको पैदा करता है, किंतु इनके मुख्य आधार हैं—सुखके लिए भारी चिन्ता, भविष्यकी तकलीफोंका भय, बदला लेनेकी जबर्दस्त इच्छा, पान-भोजन और दूसरी आवश्यक चीजोंकी भूख।

ह्यूम्ने यद्यपि बर्कले, कान्ट जैसोंके तर्कोंपर भी काफी प्रहार किया है, और दर्शनको धर्मका चाकर बननेसे रोकना चाहा; किन्तु दूसरी तरफ ज्ञानको असंभव मानकर उसने कोई भावात्मक दर्शन नहीं पेश किया। दर्शनका प्रयोजन सन्देह मात्र पैदा करना नहीं होना चाहिए, क्योंकि जीवनके होनेमें सन्देहकी गुंजाइश नहीं है।[1]

§ ३–भौतिकवाद

अठारहवीं सदीमें भौतिकवादी विचारों, तथा सामाजिक परिवर्तन संबंधी ख्याल जोर पकड़ रहे थे, इसे हम कह चुके हैं। इस शताब्दीमें

---

[1] **साधु शान्तिनाथ भी अपने** "Critical Examination of the philosophy of Religion" (2 vols.)**में ह्यूमका ही अनुसरण करते हैं।**

भौतिकवादी दार्शनिक भी काफी हुए थे, जिनमें प्रमुख थे—हर्टली (१७०४-५७ ई०), ला मेत्री (१७०९-५१), हल्वेशियो (१७१५-७१), दा-अलेम्बर (१७१७-८३), द्'ोल्बाश् (१७२३-८९), दीदेरो (१७३१-८४), प्रीस्टली (१७३३-१८०४), कबानी (१७५७-१८०८)।

भौतिकवादका समर्थन सिर्फ दार्शनिकोंके प्रयत्नपर ही निर्भर नहीं था, बल्कि सारा साइंस—साइंसदानोंके वैयक्तिक विचार चाहे कुछ भी हों—भौतिकवादी प्रवृत्ति रखता था, इसीलिए यह अकेला अस्त्र दार्शनिकोंके हजारों दिमागी तर्कोंको काटनेके लिए पर्याप्त था। इसीलिए अठारहवीं सदीकी भौतिकवादी प्रगति इसपर निर्भर नहीं है कि उसके दार्शनिकोंकी संख्या कितनी है, या वह कितने शिक्षितोंको प्रिय हुआ।

हर्टली मनोविज्ञानको शरीरका एक अंश मानता था। दे-कार्त यद्यपि द्वैतवादी ईश्वर-विश्वासी कट्टर कैथलिक ईसाई था, लेकिन उसके दर्शनने अनजाने फ़्रांसमें भौतिकवादी विचारोंके फैलानेमें सहायता की। दे-कार्तका मत था कि निम्न श्रेणीके प्राणी चलते-फिरते यंत्र भर हैं; यदि प्राणीके सभी अंग ठीक जगहपर लगे हों, तो बिना आत्माके सिर्फ इन्द्रियों द्वारा उत्पादित उत्तेजनासे भी शरीर चलने फिरने लगेगा। इसीको लेकर ला-मेत्री और दूसरे फ़्रेंच भौतिकवादियोंने आत्माको अनावश्यक साबित किया, और कहा कि सभी सजीव वस्तुएं भौतिक तत्वोंसे बने चलते-फिरते स्वयं वह यंत्र हैं। ला मेत्रीने कहा—जब दूसरे प्राणी, दार्शनिक दे-कार्तके मतसे, बिना आत्माके भी चल-फिर, सोच-समझ सकते हैं, तो मनुष्यमें ही आत्माकी क्यों जरूरत है? सभी प्राणी एक ही विकासके नियमोंका अनुसरण करते हैं, अन्तर है तो उनके विकासके दर्जेमें। कबानीके ग्रन्थ फ़्रांसमें भौतिकवादके प्रचारमें सहायक हुए थे। उसकी कितनीही कहावतें बहुत मशहूर हैं। "शरीर और आत्मा एक ही चीज हैं।" "मनुष्य ज्ञानतंतुओंका गट्ठा है।" "पित्ता जिस तरह रस-प्रस्राव करता है, वैसे ही दिमाग विचारोंका प्रस्राव करता है।" "भौतिक तत्त्वोंके नियम मानसिक आचारिक घटनाओंपर भी लागू हैं।"

भौतिकवादपर एक आक्षेप किया जाता था, कि उसके अनुसार ईश्वर, परलोकका न डर होनेसे दुनियामें दुराचार फैलने लगेगा, लोग स्वार्थान्ध हो दूसरेकी धन-सम्पत्तिको लूटनेमें नहीं हिचकिचायेंगे। किन्तु, अठारहवीं सदीने इसका जवाब भौतिकवादियोंके आचार-विचारसे दे दिया। ये भौतिकवादी सबसे ज्यादा वैयक्तिक सम्पत्ति और सामाजिक असमानताके विरोधी थे, व्यक्ति नहीं सारे समाजके कल्याणपर जोर देते थे। हेल्वेशियो ने कहा था—प्रबोधपूर्ण आत्म-स्वार्थ, आचारकी सबसे अधिक दृढ़ बुनियाद बन सकता है।

द्वादश अध्याय

उन्नीसवीं सदीके दार्शनिक

अठारहवीं सदी साइंसका प्रारंभिक काल था, लेकिन उन्नीसवीं सदी उसके विकासके विस्तार और गति दोनोंमें ही पहिलेसे तुलना न रखती थी। अब साइंस पर्वतका आरंभिक चश्मा नहीं बल्कि एक महानदी बन गया था। अब उसे दर्शनकी पर्वाह नहीं थी, बल्कि अपनी प्रतिष्ठा कायम रखनेके लिए दर्शनको साइंसकी सहायता आवश्यक थी, और इस सहायताको बिना उसकी मर्जीके लेनेमें दर्शनने परहेज नहीं किया।

उन्नीसवीं सदीमें ज्योतिष-शास्त्रने ग्रहों-उपग्रहोंकी छान-बीन ही नहीं पूरी की, बल्कि सूर्यकी दूरी ज्यादा शुद्धतासे मालूम की। स्पेक्ट्रस्कोप (वर्ण-रश्मि-दर्शक-यंत्र) की मददसे सूर्य, तारोंके भीतर मौजूद भौतिक तत्त्वों, उनके ताप, घनता आदि तथा दूरी मालूम हुई और तारोंके बारेमें चले आते कितने ही भ्रम और मिथ्याविश्वास दूर हो गए।

गणितके क्षेत्रमें लोबाचेस्की, रीमान आदिने ओकलेदिससे अलग तथा अधिक शुद्ध ज्यामितिका आविष्कार किया।

भौतिक साइंसमें यूल, हेल्महोल्ट्ज़, केल्विन्, एडिंग्टनने नये आविष्कार किये। वैज्ञानिकोंने सिर्फ परमाणुओंकी ही छानबीन नहीं की बल्कि टाम्सन परमाणुओंको भी तोड़कर एलेक्ट्रनपर पहुँच गया।[1] बिजलीसे परिचय ही नहीं बल्कि शताब्दीके अन्त तक सड़कों और घरोंको बिजली प्रकाशित करने लगी।

रसायन-शास्त्रमें परमाणुओंकी नाप-तोल होने लगी, और हाइड्रोजन-

---

[1] देखो "विश्वकी रूपरेखा"।

को बटखरा बना परमाणु-तत्त्वोंके भार आदिका पता लगाया गया। १८२८ ई०में वोलरने सिर्फ प्राणियोंमें मिलनेवाले तत्त्व ऊरियाको रसायनशालामें कृत्रिम रूपसे बनाकर सिद्ध कर दिया, कि भौतिक नियम प्राणि-अप्राणि दोनों जगतमें एकसे लागू हैं। शताब्दीके आरंभमें ३० के करीब मूल रसायन तत्त्व ज्ञात थे, किन्तु अन्तमें उनकी संख्या ८० तक पहुँच गई।

प्राणिशास्त्रमें अनुवीक्षणसे देखे जानेवाले बेक्टीरिया और दूसरे कीटाणुओंकी खोज उनके गुण आदिने विज्ञानके ज्ञान-क्षेत्रको ही नहीं बढ़ाया, बल्कि पास्तोरकी इन खोजोंने घाव आदिकी चिकित्सा तथा, टीनबंद खाद्यपदार्थोंकी तैयारीमें बड़ी सहायता पहुँचाई। डेवीने बेहोशीकी दवा निकालकर चिकित्सकोंके लिए आपरेशन आसान बना दिया। शताब्दीके मध्यमें डार्विनके **जीवन-विकास**के सिद्धान्तने विचारोंमें भारी क्रान्ति पैदा की, और जड़-चेतनकी सीमाओंको बहुत नजदीक कर दिया।

इस तरह उन्नीसवीं सदीने विश्व-संबंधी मनुष्यके ज्ञानमें भारी परिवर्त्तन किया, जिससे भौतिकवादको जहाँ एक ओर भारी सहायता मिली, वहाँ "दार्शनिकों"की दिक्कतें बहुत बढ़ गईं। इसी तरह फिख़्टे, हेगेल्, शोपनहार जैसे विज्ञानवादियोंने भौतिकतत्त्वोंसे भी परे विज्ञानतत्त्वपर पहुँचनेकी कोशिश की। शेलिङ्, नीट्शेने द्वैतवादी बुद्धिवादका आश्रय ले भौतिकवाद-की बाढ़को रोकना चाहा। स्पेन्सरने ह्यूम्के मिशनको सँभाला और अपने अज्ञेयतावाद द्वारा समाजके आर्थिक-सांस्कृतिक ढाँचेको बरकरार रखनेकी कोशिश की। लेकिन इसी शताब्दीको मार्क्स जैसे प्रखर दार्शनिकको पैदा करनेका सौभाग्य है, जिसने साइंससे अपने दर्शनको सुव्यवस्थित किया; और उसके द्वारा दर्शनको समाजके बदलनेका साधन बनाया।

§ १–विज्ञानवाद

१–फ़िख़्टे (१७६५-१८१४ ई०)

योहन गॉटलीप् फिख़्टे सेक्सनी (जर्मनी)में एक गरीब जुलाहेके घर पैदा हुआ था।

परमतत्त्व—कान्टने बहुत प्रयत्नसे **वस्तुसार** (वस्तु-अपने-भीतर)को समझकी सीमाके पार **बुद्धि**-अगम्य वस्तु साबित किया था। फिख़्टेने कहा, कि वस्तुसार भी मनसे परेकी चीज नहीं, बल्कि मन हीकी उपज है। सारे तजर्बे तथा मनके सिर्फ आकार ही नहीं "परम-आत्मा[१]से उत्पन्न हुए हैं, बल्कि उत्पत्तिमें वैयक्तिक मनोंने भी भाग लिया है।" "परम-आत्माने अपनेको ज्ञाता (=आत्मा) और ज्ञेय (=विषय)के रूपमें विभक्त किया; क्योंकि आत्माके आचारिक विकासके लिए ऐसे बाधा डालनेवाले पदार्थोंकी ज़रूरत है, जिनको कि आत्मा अपने आचारिक प्रयत्नसे पार करे। इन्हीं कारणोंसे परम-आत्माको अनेक आत्माओंमें भी विभक्त होना पड़ता है; यदि ऐसा न हो तो उन्हें अपने-अपने कर्त्तव्योंको पूरा करनेका अवसर नहीं मिलेगा। आत्माओंके अनेक होनेपर भी वह उस एक **आचारिक विधान**के प्रकाश हैं, जिसे कि परम-आत्मा या ईश्वर कहते हैं। फिख़्टेका परमतत्त्व स्थिर नहीं, बल्कि सजीव, प्रवाह है।

ईश्वरको ठोंक-पीटकर, हर एक दार्शनिक, अपने मनका बनाना चाहता है; लेकिन सबका प्रयत्न है, इस बेचारेको खतरेसे बचाना।

(१) **श्रद्धातत्त्व**—कान्टने **आचारिक विधि**—यह आचार तुम्हें ज़रूर करना होगा—के बारेमें कहा, कि उसपर विश्वास करनेसे हम सन्देहवाद, भौतिकवाद और नियतिवाद[२]से बँचते हैं। चूँकि हम आचारिक विधानपर विश्वास रखते हैं, इसलिए हम उसे जानते हैं। यह आचारिक सच्चाई है, जो हमको आजाद बनाती है, और हमारे स्वातंत्र्यको सिद्ध करती है। कान्ट और फिख़्टेके इस दर्शनके अनुसार हम ज्ञानकी पर्वाह न कर विश्वासपर दृढ़ हो अपनी स्वतंत्रता पाते हैं—विश्वास करने न करनेमें जो हमें आजादी है! यदि हम दो तीन हजार वर्ष पहिले चंद आदमियों द्वारा अपने स्वार्थ और स्वार्थरक्षाके लिए बनाये गये आचारिक नियमोंको नहीं मानते, तो अपनी आजादी खो डालते हैं!!

---

[१] Absolute Self. [२] Determinism.

और हमारी आजादीके सबसे बड़े दुश्मन सन्देहवाद, भौतिकवाद हैं, जो कि आजादीके एकमात्र नुस्खे विश्वास (=श्रद्धा) पर कुठाराघात करते हुये बुद्धि और तजर्बेके बतलाये रास्तेपर चलनेके लिए जोर देते हैं!!! अक़्लको घबरानेकी ज़रूरत नहीं, "दर्शन"का मतलब उसे सहारा देना नहीं बल्कि उसे भूल-भुलैयामें डाल थकाकर बैठा देना है। और जहाँ अक़्लने ठोस पृथिवी और उसके तजर्बेको छोड़ा कि दार्शनिक अपने मतलबमें कामयाब हुए।

(२) **बुद्धिवाद**—साइंस-युगमें फिख़्टे साइंस, और प्रयोग (=तजर्बे) को इन्कारकर अपने दर्शनको सिर्फ उपहासकी चीज बना सकता था; इसीलिए दर्शन फिख़्टेकी परिभाषामें, सार्वदेशिक साइंस, साइंसोंका साइंस, (=विज़ेन्शाफ़्ट लेरे) है। प्रयोग और बुद्धिवादको पहिले मारकर फिख़्टे कहने चला है—यदि दर्शन तजर्बेसे सामंजस्य नहीं रखता, तो वह अवश्य झूठा है; क्योंकि दर्शनका काम है अनुभवके पूर्ण (रूप)को निकाल कर रखना, और बुद्धिकी आवश्यक क्रिया द्वारा उसकी व्याख्या करना। जो परम-आत्माको एकमात्र परमार्थ तत्त्व माने और "आचारिक" विश्वास (=श्रद्धा)को आजादीको एकमात्र पन्थ समझे, उसके मुँहसे तजर्बे और अक़्लकी यह हिमायत दिखावेसे बढ़कर नहीं है।

(३) **आत्मा**—आत्मा परम-आत्मासे निकला है, यह बतला आये हैं। आत्मा परम-आत्माकी क्रियाका प्राकट्य है। आत्माकी सीमाएं हैं। विचारमें वह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, और मननसे परे नहीं जा सकता, और व्यवहारमें वह (परम-आत्माके) विश्व-प्रयोजनसे परे नहीं जा सकता।

(४) **ईश्वर**—ईश्वर, एकमात्र परम-तत्त्व या परम-आत्मा है यह बतला आये हैं। आचारिक विधानपर कान्टकी भाँति फिख़्टेका कितना जोर था यह भी कहा जा चुका है। आचारिक विधानके ढाँचेको कायम रखनेकेलिए एक विश्व-प्रयोजन या ईश्वरकी ज़रूरत है। सच-मुच ही आचारिक विधान—जो कि सत्ताधारी वर्गके स्वार्थके यंत्र है—का समर्थन बुद्धि और प्रयोगसे नहीं हो सकता, उसके लिए ईश्वरका अवलंब

चाहिए। फिख़्टे और स्पष्ट करते हुए यह भी कहता है कि आचारिक विधानके लिए धार्मिक विश्वासकी भी जरूरत है। संसार भरमें विद्यमान आचारिक विधान (=धर्म-नियम) और उसके विधानके विपाकपर विश्वास-के बिना आचारिक विधान ठहर नहीं सकते। अन्तरात्माकी आवाज सभी विश्वासों और सच्चाइयोंकी कसौटी है। वह अभ्रान्त है। अन्तरात्माकी आवाज हमारे भीतर भगवान्‌की आवाज है। आध्यात्मिक जगत् और हमारे बीच ईश्वर बिचवई है, और वह अन्तरात्माकी आवाजके रूपमें अपना सन्देश भेजता है।

२–हेगेल् (१७७०-१८३१ ई०)

जार्ज विल्हेलम फ़्रीड्रिख़् हेगेल् स्टट्गार्ट (जर्मनी)में पैदा हुआ था। टुबिगन् विश्वविद्यालयमें उसने धर्मशास्त्र और दर्शनका अध्ययन किया। पहिले जेनामें दर्शनका प्रोफेसर हुआ, फिर १८०६-८ ई० तक बम्बेर्गमें एक समाचारपत्रका सम्पादक रहा। उसके बाद फिर अध्यापनका काम शुरू किया, और पहिले हाइडेल्बेर्ग फिर बेर्लिनमें प्रोफेसर रहा। ६१ वर्षकी उम्रमें हैजेसे उसकी मृत्यु हुई।

[विकास]—आधुनिक युगमें जो अभौतिकवादी दर्शनका नया प्रवाह आरम्भ हुआ, हेगेल्‌के दर्शनके रूपमें वह चरमसीमाको पहुँचा। उसके दर्शनके विकासमें अफलातूँ, अरस्तू, स्पिनोज़ा, कान्टका खास हाथ है। कान्टसे उसने लिया कि मन (=विज्ञान) सारे विश्वका निर्माता है। हमारे वैयक्तिक मन (=विज्ञान)विश्व-मनके अंश हैं। वही विश्व-मन हमारे द्वारा विश्वको अस्तित्वमें लानेके लिए मनन (=अभिध्यान) करता है। स्पिनोज़ासे उसने यह लिया कि आत्मिक और भौतिक तत्त्व उसी एक अनादि तत्त्वके दो रूप हैं। अफलातूँके दर्शनसे लिया—(१) विज्ञान, सामान्य विज्ञान, (आचारिक) मूल्य और यह कि पूर्णताका जगत् ही एक मात्र वास्तविक जगत् है। इन्द्रियोंका जगत् उसी **सीमा-पारी** आत्मिक जगत्‌की उपज है; (२) भौतिक जगत् आत्मिक जगत् (=परमतत्त्व)के स्वेच्छापूर्वक सीमित करनेका परिणाम है,

अर्थात् वह आत्मिक तत्त्वके उच्च स्थानसे नीचे पतन है। लेकिन इस विज्ञान-वादी पतनके साथ-साथ हेगेल्ने अरस्तूके आत्मिक विकासको भी लेना चाहा, यानी विश्वका हर एक कदम और ऊँचे विकासकी ओर उसे ले जा रहा है। हेगेल्की अपनी सबसे बड़ी देन है, यही द्वन्दात्मक[1] विकास।

(१) दर्शन और उसका प्रयोजन—हेगेल्के अनुसार दर्शनका काम है, प्रकृति और तजर्बेके द्वारा सारे जगत्को जैसा वह है, वैसा जानना; उसके भीतरके हेतुका अध्ययन करना और समझना—सिर्फ बाहरी चलायमान तथा संयोगसे उत्पन्न रूपोंका ही नहीं, बल्कि प्रकृतिके भीतर जो अनादि सार, समन्वयी व्यवस्था है, उसका भी। जगत्की वस्तुओंका कुछ अर्थ है, संसारकी घटनाएं बुद्धिपूर्वक हैं; ग्रह-उपग्रह-सौरमंडल बुद्धिसंगत नियमके अन्दर हैं, प्राणिशरीर सप्रयोजन, अर्थपूर्ण और बुद्धिसंगत है। चूँकि वास्तविकता अपने गर्भके भीतर बुद्धिसंगत है, इसीलिए अपने चिन्तन या ज्ञानकी प्रक्रियाको भी हम बुद्धिसंगत घटनाके रूपमें पाते हैं। चूँकि दर्शनका संबंध प्रकृतिका गंभीरतासे अध्ययन करना है, इसीलिए प्रकृतिके साथ दर्शनका विकास उच्च-से-उच्चतर होता जा रहा है।

(२) परमतत्त्व—हेगेल्ने कान्टके अज्ञान वस्तुसार (वस्तु-अपने-भीतर) या परमात्मतत्त्वको माननेसे इन्कार कर दिया, और उसकी जगह बतलाया, कि मन (=विज्ञान) और भौतिक प्रकृति ही परमतत्त्व है, प्रकृति किसी अज्ञात परम (-आत्म) तत्त्वका बाहरी आभास या दिखलावा नहीं, बल्कि वह स्वयं परमतत्त्व है। मन और भौतिक तत्त्व दो अलग-अलग चीजें नहीं, बल्कि परमतत्त्वके आत्मप्रकाशके एक ही प्रवाहके दो अभिन्न अंग हैं। मनके लिए एक भौतिक जगत्की ज़रूरत है, जिसपर कि वह अपना प्रभाव डाल सके, किन्तु भौतिक जगत् भी मनोमय है। "वास्तविक मनोमय[2] है, और मनोमय वास्तविक है।"

(३) द्वन्दात्मक परमतत्त्व—परमतत्त्व भौतिक और मानस जगत्से

---

[1] Dialectical evolution. [2] Rational.

अभिन्न है, इसे हेगेल् बहुत व्यापक अर्थमें इस्तेमाल करता है। परमतत्त्व स्थिर नहीं गतिशील, चल है।—जगत् क्षण-क्षण बदल रहा है; विचार, बुद्धि, समझ या सच्चा ज्ञान सक्रिय, प्रवाहित घटना, विकासकी धारा है। विकास नीचेसे ऊपरकी ओर हो रहा है; कोई चीज—सजीव या निर्जीव, निम्न दर्जे या ऊँचे दर्जेके जन्तु—अभी अविकसित, विशेषताशून्य, सम-स्वरूप रहती है; वह उस अवस्थामें विकसित, विशेषतायुक्त, हो विभक्त होती है, और कितने ही भिन्न-भिन्न आकारोंको ग्रहण करती है। गर्भ, अणुगुच्छक आदिके विकासमें इसे हम देख चुके हैं।[1] ये भिन्न-भिन्न आकार जहाँ पहिली अविकसित अवस्थामें अभिन्न=विशेषता-रहित थे, अब वह एक दूसरेसे स्वरूप और स्थितिमें ही भेद नहीं रखते, बल्कि वह एक दूसरेके विरोधी हैं। इन विरोधियोंका अपने विरोधी गुणों और क्रियाओंके कारण आपसमें द्वन्द चल रहा है, तो भी उस **पूर्ण**में वह एक है, जिसके कि वह अवयव हैं।—अर्थात् वास्तविकता अपने भीतर द्वन्द्व या विरोधी अवयवोंका स्वागत करती है। ऊपरकी ओर विकास करना वस्तुओंकी अपनी आन्तरिक "रुचि"का परिणाम है। इस तरह विकास निम्न स्थितिका प्रयोजन, अर्थ और सत्य है। निम्नमें जो छिपा, अस्पष्ट होता है, उच्च अवस्थामें वह प्रकट, स्पष्ट हो जाता है। विकासकी धारा अपनी हर एक अवस्थामें पहिलेकी अपनी सारी अवस्थाओंको लिये रहती है, तथा सभी आनेवाली अवस्थाओंकी झाँकी देती है। जगत् अपनी प्रत्येक स्थितिमें पहिलेकी उपज तथा भविष्य-द्वाणी भी है। उच्च अवस्थामें पहुँचनेपर निचली अवस्था **अभावप्राप्त**[2] (=प्रतिषिद्ध) बन जाती है—अर्थात् इस वक्त वह वही नहीं रहती, जो कि पहिले थी; तो भी पिछली अवस्था उच्च अवस्थाके रूपमें सुरक्षित है, वह ऊपर पहुँचाई गई है। यह पहुँचाना—निम्नसे ऊपरकी ओर बढ़ना, एक दूसरी विरोधी अवस्थामें पहुँचा देता है। दो रास्ते एक जगहसे फूटते हैं, किन्तु आगे चलकर उनकी दिशा एक दूसरेसे विरोधी बन जाती

---

[1] देखो मेरी "विश्वकी रूपरेखा"। [2] Negated.

है। पानीकी गति उसे बर्फ बना गतिसे उलटे (कठोर, स्थिर, ज्यादा विस्तृत) रूपमें बदल देती है। पहिली अवस्थासे उसकी बिलकुल विरोधी अवस्थामें बदल जाना इसे हेगेल् **द्वन्दात्मक घटना** कहता है।

[द्वन्दात्मकता]—द्वन्द, विरोध सभी तरहके जीवन और गतिकी जड़ है। हर एक वस्तु द्वन्द है। द्वन्द या विरोधका सिद्धान्त संसारपर शासन कर रहा है। हरएक वस्तु बदलती और बदलकर पहिलेसे विरुद्ध अवस्थामें परिणत होना चाहती है। बीजोंके भीतर कुछ और बनने, अपनेपनसे लड़ने तथा बदलनेकी 'चाह' भरी है। द्वन्द (=विरोध) यदि न होता, तो जगत्में न जीवन होता, न गति, न वृद्धि, और सभी चीजें मुर्दा और स्थिर होतीं। लेकिन, प्रकृतिका काम विरोध (=द्वन्द) तक ही खतम नहीं हो जाता; प्रकृति उसपर काबू पाना चाहती है; वस्तु अपने विरोधी रूपमें परिणत ज़रूर हो जाती है, लेकिन गति वहीं रुक नहीं जाती; वह आगे जारी रहती है, और आगे भी विरोधोंको दबाया और उनका समन्वय किया जाता है; इस प्रकार विरोधी एक पूर्ण शरीरके अवयव बन जाते हैं। विरोधी, एक दूसरेसे जहाँ तक संबंध है, आपसमें विरोधी हैं; किन्तु जहाँ तक उस अपने एक पूर्ण शरीरसे संबंध है, वे परस्पर-विरोधी नहीं हैं। वहाँ तो यही परस्परविरोधी मिलकर एक पूर्ण शरीर-को बनाते हैं।

विश्व निरन्तर होते विकासोंका प्रवाह है; यही उसके लक्ष्य या प्रयोजन हैं, वही विश्व-बुद्धिके प्रयोजन हैं। परमात्मतत्त्व[१] वस्तुतः विश्वके विकास-का परिणाम है। लेकिन यह परिणाम जितना है, उतना सम्पूर्ण नहीं है। सच्चा **सम्पूर्ण** है, परिणाम (परमात्मतत्त्व) और उसके साथ विकासका सारा प्रवाह—वस्तुएं अपने प्रयोजनके साथ खतम नहीं होतीं, बल्कि वह जो बन जाती हैं, उसीमें समाप्त होती हैं। इसीलिए दर्शनका लक्ष्य परिणाम नहीं, बल्कि उसका लक्ष्य यह दिखलाना है कि कैसे एक परिणाम दूसरे

---

[१] Absolute.

परिणामसे पैदा होता है, कैसे उसका दूसरेसे प्रकट होना अवश्यंभावी है।

वास्तविकता (परमतत्त्व) मनसे कल्पित एक निराकार ख्याल नहीं, बल्कि चलता बहता प्रवाह, एक द्वन्दात्मक सन्तान है। उसे हमारे निराकार ख्याल पूरी तौरसे नहीं व्यक्त कर सकते। निराकार ख्याल एक अंश और उत्पन्न छोटे अंशके ही बारेमें बतलाते हैं। वास्तविकता इस क्षण यह है, दूसरे क्षण वह है; इस अर्थमें वह अभावों, विरोधों, द्वन्द्वोंसे भरी हुई है; पौधा अंकुरित होता है, फूलता है, सूखता और फिर मर जाता है; मनुष्य बच्चा होता फिर तरुण, जीर्ण, वृद्ध हो मर जाता है।

(४) **द्वन्द्ववाद**—वस्तु आगे बढ़ते-बढ़ते अपनेसे उलटे विरोधी रूपमें बदल जाती है। **संपूर्ण** (=अवयवी) परस्पर विरोधी अवयवोंका योग है, यह हम कह चुके। दो विरोधियोंका समागम कैसे होता है, इसे हेगेल्ने इस प्रकार समझाया है।—हमारे सामने एक चीज़ आती है, फिर उसकी विरोधी दूसरी चीज़ आ मौजूद होती है। इन दोनोंका द्वन्द चलता है, फिर दोनोंका समन्वय हम एक तीसरी चीज़से करते हैं। इनमें पहिली बात ***वाद*** है, दूसरी ***प्रतिवाद*** और तीसरी ***संवाद***। उदाहरणार्थ—पर्मेनिदने कहा: मूल तत्त्व स्थिर, नित्य है, यह हुआ वाद। हेराक्लितुने कहा कि वह निरन्तर परिवर्तन-शील है, यह हुआ प्रतिवाद। परमाणुवादियोंने कहा, यह न तो स्थिर ही है न परिवर्तनशील ही, बल्कि दोनों है; यह हुआ संवाद।

(५) **ईश्वर**—हेगेल्का दर्शन स्पिनोजासे अधिक क्रान्तिकारी है, किन्तु ईश्वरका मोह उसे स्पिनोजासे ज्यादा है। ईश्वर सिद्ध करनेके लिए बड़ी भूमिका बाँधते हुए वह कहता है—विश्व एक पागल प्रवाह, बिल्कुल ही अर्थहीन बे-लगामसी घटना नहीं है; बल्कि इसमें नियमबद्ध विकास और प्रगति देखी जाती है। हम वास्तविकताको आभास और सार, बाह्य और अन्तर, द्रव्य और गुण, शक्ति और उसके प्राकट्य, सान्त और अनन्त, मन (=विज्ञान) और भौतिक तत्व, लोक और ईश्वरमें विभक्त करना चाहते हैं; किन्तु इससे हमें झूठे भेद और मनमानी दिमागी कल्पनाके सिवाय कुछ

हाथ नहीं आता[1] "सार ही आभास है, अन्तर ही बाह्य है, मन ही शरीर है, ईश्वर ही विश्व है।"

हेगेल् ईश्वरको विज्ञान (=विचार) कहकर पुकारता है। विश्व जो कुछ हो सकता है, वह है; अनन्तकालमें विकासकी जितनी संभावनाएं हैं, यह उनका योग है। मन वह विज्ञान है, जो कि अब तक तैयार हो चुका है।

जगत् सदा बनाया जा रहा है। विकास सामयिक नहीं निरन्तर प्रवाहित है। ऐसा कोई समय नहीं था, जब कि विकासका प्रवाह जारी न रहा हो। परमात्मतत्त्व वह सनातन है, जिसकी ओर सारा विकास जा रहा है। विकास असत्से सत्की ओर कभी नहीं हुआ। भिन्न-भिन्न वस्तुओंका विकास क्रमशः जरूर हुआ है, उनमें कुछ दूसरोंके कारण या पूर्ववर्त्ती रहीं।

(६) आत्मा—विश्व-बुद्धि या विश्व-विज्ञान[2] प्राणिशरीरमें आत्मा बन जाता है। वह अपनेको शरीरमें बन्द करता है, अपने लिए एक शरीर बनाता, एक विशेष व्यक्ति बन जाता है। यह उत्पादन अनजाने होता है। किन्तु आत्मा, जिसने अपने लिए एक प्राणिशरीर बनाया, उससे वह हो जाता है, और अपनेको शरीरसे भिन्न समझने लगता है। चेतना उसी तत्त्वका विकास है, जिसका कि शरीर भी एक प्राकट्य है। वस्तुतः हम (=आत्मा) सिर्फ उसे ही जानते हैं, जिसे कि **हम** बनाते या पैदा करते हैं। हमारे ज्ञानका विषय हमारी अपनी ही उपज है, इसीलिए वह ज्ञानमय है।

(७) सत्त्य और भ्रम—सत्त्य और भ्रमके संबंधमें हेगेल्के विचार बड़े विचित्र-से हैं। उसके अनुसार भ्रम परमसत्त्यके प्रकट करनेके लिए आवश्यक है। यदि ऐसा न होता, तो जिसे हम गलतीसे उस समय सत्त्य कहते हैं, उससे आगे नहीं बढ़ सकते। संपूर्ण सत्त्य हर तरहके संभव भ्रमपूर्ण दृष्टिविन्दुओंसे मिलकर बना है। भ्रमकी यह क्रमागत अवस्थाएं जरूरी हैं;

---

[1] "Natur hat weder kern noch schale". [2] Idea.

आगे पाये जानेवाले सत्यका यह सार है, कि पीछे पार किये सारे भ्रमोंका सत्य—वह लक्ष्य जिसकी कि खोजमें वह भ्रममें फिर रहा था—होवे। इसीलिए **परमतत्त्व**—निम्न और सापेक्ष सत्यके रूपमें ही मौजूद है। अनन्त सिर्फ सान्तके सत्यके तौरपर ही पाया जाता है। सत्य पूर्ण तभी हो सकता है, जब कि अपूर्ण द्वारा की जानेवाली खोजको पूरा करता हो।

(८) हेगेल्के दर्शनकी कमजोरियाँ—(१) हेगेल्का दर्शन विश्वको परमविज्ञान[1]के रूपमें मानता है। इस तरह बर्कलेका विज्ञानवाद और हेगेल्के दर्शनका भाव एक ही है। दोनों मन, शुद्ध-चेतनाको भौतिक, तत्त्वोंसे **पहिले** मानते हैं।

(२) हेगेल् यद्यपि विश्वमें परिवर्त्तन, प्रवाहकी बात करता है; किन्तु वास्तविक परिवर्त्तनको वह एक तरहसे इन्कार करता है। जो भविष्यमें होनेवाला है, वह पहिले हीसे मौजूद है, यह इसी बात को प्रकट करता है; और विश्वको भाग्यचक्रमें बँधा एक निरीह वस्तु बना देता है। परमतत्त्वकी एकतामें विश्वकी विचित्रताओंको वह खपा देना चाहता है, और इस तरह भिन्न-भिन्न वस्तुओंवाले जगत्के व्यक्तित्वको एक मूलतत्त्वसे बढ़कर "कुछ नहीं" कह, परिवर्त्तन तथा विकासके सारे महत्त्वको खतम कर देता है।

(३) हेगेल् कहता है, कि सभी सत्ताओंकी एकताएं, सभी बुराईसी जान पड़ती बातें वस्तुतः **अच्छी** (=शिव) हैं। ऊँचे दृष्टिकोणसे वह बुराइयोंको उचित ठहराना चाहता है, और बुराइयोंको भ्रम कहकर उनसे ऊपर उठना चाहता है। दर्शनमें उसका यह औचित्य व्यवहारमें बहुत खतरनाक है, इसके द्वारा राजनीतिक, सामाजिक अत्याचार, वैषम्य सभीको उचित ठहराया जा सकता है।

३—शोपन्हार (१७८८-१८६० ई०)—अर्थर शोपन्हार डेन्जिग्में एक धनी बैंकरके घरमें पैदा हुआ था। उसकी माँ एक प्रसिद्ध उपन्यास-

---

[1] Idea.

लेखिका थी। गोटिंगेन (१८०६-११ ई०) और बर्लिन (१८११-१३ ई०) के विश्वविद्यालयोंमें उसने दर्शन, विज्ञान, और संस्कृत-साहित्यका अध्ययन किया। कितने ही सालों तक जहाँ-तहाँ ठोकरें खानेके बाद बर्लिन विश्वविद्यालयमें उसे अध्यापकी मिली, जहाँसे १८३१में उसने अवकाश ग्रहण किया, और फिर माइन-तटवर्ती फ़्रांकफोर्त शहरमें बस गया।

[**तृष्णावाद**[1]]—कान्टका दर्शन वस्तु-अपने-भीतर (वस्तु-सार)के गिर्द घूमता है, शोपन्हारका दर्शन तृष्णा—सबके—भीतर (सर्वव्यापी तृष्णा)-के गिर्द घूमता है। वस्तुएं या इच्छाएं कोई वैयक्तिक नहीं हैं, व्यक्ति केवल भ्रम है। तृष्णासे परे कोई वस्तु-अपने-भीतर नहीं है। तृष्णा ही कालातीत, देशातीत, मूलतत्त्व और कारण-विहीन क्रिया है। वही मेरे भीतर उत्तेजना, पशुबुद्धि, उद्यम, इच्छा, भूखके रूपमें प्रकट होती है। प्रकृतिके एक अंशके तौरपर, उसके आभासके तौरपर मैं अपनेपनसे आगाह हो जाता हूँ, मैं अपनेको विस्तारयुक्त प्राणिशरीर समझने लगता हूँ। वस्तुतः यही तृष्णा मेरी आत्मा है, शरीर भी उसी तृष्णाका आभास है।

जब मैं अपने भीतरकी ओर देखता हूँ, तो मुझे वहाँ तृष्णा (मानकी तृष्णा, खानेकी तृष्णा, जीनेकी तृष्णा, न जीनेकी तृष्णा) दिखाई पड़ती है। जब मैं बाहरकी ओर देखता हूँ, तो उसी अपनी तृष्णाको शरीरके तौरपर देखता हूँ। दूसरे शरीर भी मेरे शरीरकी ही भाँति तृष्णाके प्राकट्य हैं। पत्थरमें तृष्णा अंधी शक्तिके तौरपर प्रकट होती है, मनुष्यमें वह चेतनायुक्त बन जाती है। चुम्बककी सुई सदा उत्तरकी ओर घूमती है; पिंड गिरनेपर सीधे नीचेकी ओर लंबाकार गिरता है। एक तत्त्वको जब दूसरेसे प्रभावित किया जाता है, तो स्फटिक बनते हैं। यह सब बतलाते हैं, कि प्रकृतिमें सर्वत्र तृष्णाकी जातिकी ही शक्तियाँ काम कर रही हैं। वनस्पति-जगत्‌में भी अनजाने इसी तरहकी उत्तेजना या प्रयत्न दीखते हैं—वृक्ष प्रकाशकी तृष्णा रखता है, और ऊपरकी ओर जानेका प्रयत्न करता है। वह नमीकी

[1] Will. देखो पृष्ठ ५०३-४

भी तृष्णा रखता है, जिसके लिए अपनी जड़ोंको धरतीकी ओर फैलाता है। तृष्णा या आन्तरिक उत्तेजना प्राणियोंकी वृद्धि और सभी क्रियाओंको संचालित करती है। हिंस्र पशु अपने शिकारको निगलनेकी चाह (=तृष्णा) रखता है, जिससे तदुपयोगी दाँत, नख और नस-पेशियाँ उसके शरीरमें निकल आती हैं। तृष्णा अपनी ज़रूरतको पूरा करने लायक शरीरको बनाती है; प्रहार करनेकी चाह सींग जमाती है। जीवनकी तृष्णा ही जीवनका मूल आधार है।

जड़-चेतन, धातु-मनुष्यमें प्रकट होनेवाली यह आधारभूत तृष्णा न मनुष्य है और न कोई ज्ञानी ईश्वर। वह एक अंधी चेतनारहित शक्ति है, जो कि अस्तित्वकी चाह (=तृष्णा) रखती है। वह न देशसे सीमित है, न कालसे, किन्तु व्यक्तियोंमें देश-कालसे परिसीमित हो प्रकट होती है।

होनेकी तृष्णा, जीनेकी तृष्णा, दुनियाके सारे संघर्षों, दुःख और बुराइयों की जड़ है। तृष्णा स्वभावसे ही बुरी है, उसको कभी तृप्त नहीं किया जा सकता। निरन्तर युद्ध और संघर्षकी यह दुनिया है, जिसमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी बने रहनेकी अन्धी तृष्णाएं एक दूसरेके साथ लड़ रही हैं; यह दुनिया जिसमें छोटी मछलियाँ बड़ी मछलियों द्वारा खाई जा रही हैं। यह अच्छी नहीं, बुरी दुनिया, बल्कि जितना संभव हो सकता है, उतनी बुरी दुनिया है। जीवन अंधी चाहसे अधिक और कुछ नहीं है। जबतक उसकी तृप्ति नहीं होती, तबतक पीड़ा होती है, और जब उसकी तृप्ति कर दी जाती है, तो दूसरी पीड़ाकारक तृष्णा पैदा हो जाती है। तृष्णाओंको कभी सदाके लिए सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता। हर एक फूलमें काँटे हैं। इस दुःखसे बचनेका एक ही रास्ता है, वह है तृष्णाका पूर्णतया त्याग (प्रहाण), और इसके लिए त्याग और तपस्याका जीवन चाहिए।

शोपन्हारके दर्शनपर बौद्ध दर्शन[1]का बहुत प्रभाव पड़ा है। उसके दर्शनमें तृष्णाकी व्याख्या, और प्राधान्य उसी तरहसे पाया जाता है, जैसा

---

[1] देखो आगे "बुद्ध-दर्शन" पृष्ठ ५१५,५१७

कि बुद्धके दर्शनमें। बुद्धने भी तृष्णा-निरोधपर ही सबसे ज्यादा जोर दिया है।

§ २–द्वैतवाद

निट्ज़्शे (१८४४-१९०० ई०)—फ़्रीडरिख् निट्ज़्शे जर्मन दार्शनिक था। निट्ज़्शेने कान्टसे ज्ञानकी असम्भवनीयता ली, शोपन्हारसे तृष्णा ली; किन्तु निट्ज़्शेकी तृष्णा जीनेके लिए नहीं प्रभुताके लिए है। शोपन्हार तृष्णाको त्याज्य बतलाता है, किन्तु निट्ज़्शे उसे ग्राह्य, अपने उद्देश्य—शक्तिके पानेका साधन मानता है। डार्विनसे "योग्यतम ही बँच रहते हैं" इस सिद्धान्तको लेकर उसने महान् पुरुषों हीको मानवताका उद्देश्य बतलाया।

(१) दर्शन—सोचना वस्तुतः अ-स्पष्ट साक्षात्कार है। सोचनेमें हम सिर्फ समानतापर नजर डालते हैं, और असमानताओंपर ख्याल नहीं करते; इसका परिणाम होता है, वास्तविकताका एक गलत चित्रण। कोई भी वस्तु नित्य स्थिर नहीं है—नहीं, काल, नहीं **सामान्य**, नहीं कारण-संबंध। न प्रकृतिमें कोई प्रयोजन है। न कोई निश्चित लक्ष्य है। विश्व हमारे सुखकी कोई पर्वाह नहीं करता, नहीं हमारे आचारकी। प्रकृतिसे परे कोई दैवी शक्ति नहीं है, जो हमारी सहायता करेगी। ज्ञान, शक्ति, प्रभुता पानेका हथियार है। ज्ञानके साधनोंका विकास इस अभिप्रायसे हुआ है कि उसे अपनी रक्षाके लिए हम इस्तेमाल कर सकें। दार्शनिकोंने जगत्को वास्तविक और दिखलावेके दो जगतोंमें बाँटा। जिस जगत्में मानवको जीना है, जिसके भीतर कि मानवने अपनी बुद्धिका आविष्कार किया (परिवर्त्तन, है नहींका होना, द्वैत, द्वन्द, विरोध युद्धकी दुनिया) उसी दुनियासे वह इन्कारी हो गया। वास्तविक जगत्को दिखलावेकी दुनिया, मायाका संसार, झूठा लोक कहा गया। और दार्शनिकोंने अपने दिमागसे जिस कल्पित दुनियाका आविष्कार किया, वही हो गई, नित्य, अपरिवर्त्तनशील, इन्द्रिय-सीमा-पारी। सच्ची वास्तविक

दुनियाको हटाकर झूठी दुनियाको गद्दीपर बिठाया गया। सच्चाईको खोजकर प्राप्त किया जाता है, उसे गढ़ा-बनाया नहीं जाता। किन्तु, दार्शनिकोंने अपना कर्त्तव्य—सत्यको ढूँढ़ना-छोड़, उसे गढ़ना शुरू किया।

(२) **महान् पुरुषोंकी जाति**—निट्ज़्शे कान्ट, हेगेल् आदिके दर्शनको कितना गलत बतलाता था, यह मालूम हो चुका। वह वास्तविकतावादी था, किन्तु इस दर्शनका बहुत ही खतरनाक उपयोग करता था। प्रभुता पानेके लिए ज्ञान एक हथियार है, जिसे प्रभुता पानेकी तृष्णा इस्तेमाल करती है। तृष्णा या संकल्प विश्वासपर आश्रित होता है। विश्वास झूठा है या सच्चा, इसे हमें नहीं देखना चाहिए; हमें देखना है कि वह सार्थक है या निरर्थक, उपयोगी है या अनुपयोगी। प्रभुताका प्रेम निट्ज़्शेके लिए सर्वोच्च उद्देश्य है, और महान् पुरुष पैदा करना सर्वोच्च आदर्श है—एक महान् पुरुष नहीं महान् पुरुषोंकी जाति, एक ऊँचे दर्जेकी जाति, वीरोंकी जाति। निट्ज़्शेके इसी दर्शनके अनुसार आज हिटलर जर्मनोंको "महान् पुरुषोंकी जाति" बना रहा है; ऐसी जाति बना रहा है, जो दुनियाको विजय करे, दुनियापर शासन करे, और विश्वास रखे, कि वह शासन तथा विजय करनेके लिए पैदा हुई है। इसके लिए जो भी किया जाये, निट्ज़्शे उसे उचित ठहराता है। युद्ध, पीड़ा, आफत, निर्बलोंपर प्रहार करना अनुचित नहीं है। इसीलिए शान्तिसे युद्ध बेहतर है—बल्कि शान्तिको तो मृत्युका पूर्वलक्षण समझना चाहिए। हम इस दुनियामें अपने सुख और हर्षके लिए नहीं हैं। हमारे जीवनका और कोई अर्थ नहीं, सिवाय इसके कि हम एक अंगुल भी पीछे न हटें; या तो अपनेको ऊपर उठायें या खतम हो जायें। दया बहुत बुरी चीज है, यह उस आदमीके लिए भी बुरी है जो इसे करके अपने लक्ष्यमें विचलित होता है, और उसके लिए भी, जो कि दूसरेकी दया लेकर अपनेको दूसरोंकी नजरोंमें गिराता है। दया निर्बल और बलवान् दोनोंको कमजोर करती है; यह जातिके जीवन-रसको चूस लेती है।

जन्मजात रईस व्यक्तियोंको अधिक सुभीता होना चाहिए, क्योंकि साधारण निम्न श्रेणीके आदमियोंसे उनके कर्त्तव्य ज्यादा और भारी हैं।

सर्वश्रेष्ठ आदमियोंको ही शासनका अधिकार होना चाहिए और सर्वश्रेष्ठ आदमी वही हैं, जो दया-मयासे परे हैं, खुद खतरेमें पड़ने तथा दूसरोंपर उसे डालनेके लिए हर वक्त तैयार हैं। आजके हिटलर्, गोर्यारिंग, आदि इसी तरहके सर्वश्रेष्ठ आदमी हैं।

निट्ज़्शे जनतन्त्रता, समाजवाद, साम्यवाद, अराजकवाद सबको फजूल और असम्भव बतलाता है। वह कहता है, कि यह जीवन जिस सिद्धान्त—योग्यतमका बँच रहना—पर कायम है। जो उसके बरखिलाफ हैं, वे आदर्शके विरोधी हैं। वे सबल व्यक्तियोंके विकासमें बाधा डालते हैं। "आज हमारे लिए सबसे बड़ा खतरा है यही समानताकी हवा—शान्ति, सुख, दया, आत्मत्याग, जगत्से घृणा, जनानापन, अ-विरोध, समाजवाद, साम्यवाद, समानता, धर्म, दर्शन और साइंस सभी जीवन-सिद्धान्तके विरोधी हैं, इसलिए उनसे कोई संबंध नहीं रखना चाहिए।"

निट्ज़्शे कहता है, महान् पुरुष उसी तरह दूसरोंको परास्त कर आगे बढ़ जायेंगे, जैसे कि मानुषने बनमानुषको।

§ ३–अज्ञेयतावाद

स्पेन्सर (१८२०-१९०३ ई०)—हर्बर्ट स्पेन्सर डर्बी (इंगलैण्ड)में एक मध्यमश्रेणीके परिवारमें पैदा हुआ था।

दर्शन—स्पेन्सर मानवज्ञानको इन्द्रियोंकी दुनिया तक ही सीमित रखना चाहता है, किन्तु इस दुनियाके पीछे एक अज्ञेय दुनिया है, इसे वह स्वीकार करता है। उसका कहना है—हम शान्त और सीमित वस्तुको ही जान सकते हैं; **परमतत्त्व, आदिकारण, अनन्त**का जानना हमारी शक्तिसे बाहर है। ज्ञान सापेक्ष होता है, और **परमतत्त्व**को किसीसे तुलना या भेद करके बतलाया नहीं जा सकता। चूँकि हम **परमतत्त्व**के बारेमें कोई ज्ञान नहीं पैदा कर सकते, इसलिए उसकी सत्तासे इन्कार करना भी ठीक नहीं है। विज्ञान और धर्म दोनों इस बातपर एकमत हो सकते हैं, कि सभी दृश्य जगत्के पीछे एक सत्ता, परमतत्त्व है। शक्तियाँ दो प्रकारकी होती हैं—वह शक्ति

जिससे प्रकृति हमें अपनी सत्ताका परिचय देती है; वह शक्ति जिससे वह काम करता हुआ दिखाई पड़ता है—अर्थात् सत्ता और क्रियाकी परिचायक शक्तियाँ।

(१) **परमतत्त्व** या **अज्ञेय** अपनेको दो परस्पर विरोधी बड़े समुदायोंमें प्रकाशित करता है, वह हैं : अन्तर और बाह्य, आत्मा और अनात्मा, मन और भौतिक तत्त्व।

(२) **विकासवाद**—हमारा ज्ञान, परमतत्त्वके भीतरी (मन) और बाहरी (जड़) प्रदर्शनतक ही सीमित है। दार्शनिकोंका काम है, कि उनमें जो साधारण प्रवृत्ति है, सभी चीजोंका जो सार्वदैशिक नियम है, उसे ढूँढ़ निकालें। यही नियम है विकासका नियम। विकासके प्रवाहमें हम भिन्न-भिन्न रूप देखते हैं—(१) **एकीकरण**[1], जैसे कि बादलों, बालुओंके टीले, शरीर या समाजके निर्माणमें देखते हैं; (२) **विभाजन**[2] या पिंडका उसकी परिस्थितिसे अलग कर, एक अलग भाग बनाना, तथा उसे एक संगठित पिंडका इस तरह अवयव बनाना, जिसमें अवयव अलग होते भी एक दूसरेसे संबद्ध हों। विकास और विनाशमें अन्तर है। विनाशमें विभाजन होता है, किन्तु संबद्धता नहीं। विकास भौतिक तत्त्वोंका एकीकरण और गतिका वितरण है; इसके विरुद्ध विनाश गतिको हजम करता और भौतिक तत्त्वोंको तितर-बितर करता है।

जीवन है, बाहरी संबंधके साथ भीतरी संबंधका बराबर समन्वय स्थापित करते रहना। अत्यन्त पूर्ण जीवन वह है, जिसमें बाहरी संबंधोंके साथ भीतरी संबंधोंका पूर्ण समन्वय हो।

(३) **सामाजिक विचार**—स्पेन्सरके अनुसार बड़े ही निम्न श्रेणीकी सामाजिक अवस्थामें ही सर्वशक्तिमान् समाजवादी राज्य स्वीकार किया जा सकता है। जब समाजका अधिक ऊँचा विकास हो जाता है, तो इस तरहके राज्यकी जरूरत नहीं रहती, बल्कि वह प्रगतिमें बाधा

[1] Concentration. [2] Differentiation.

डालता है। राजका काम है भीतर शान्ति रखना, और बाहरके आक्रमणसे बचाना। जब समाजवादी राज्य इससे आगे बढ़ता, तथा मनुष्यके आर्थिक सामाजिक बातोंमें दखल देता है, तो वह न्यायका खून करता है, और विकासमें आगे बढ़े व्यक्तियोंकी स्वतंत्रतापर प्रहार करता है! स्पेन्सर समाजवादके सख्त खिलाफ था, वह कहता था—वह आ रहा है, किन्तु जातिके लिए यह भारी दुर्भाग्यकी बात होगी, और बहुत दिन टिकेगा भी नहीं।

§ ४–भौतिकवाद

उन्नीसवीं सदीके दर्शनमें विज्ञानवादियोंका बड़ा जोर रहा, किन्तु मेय्, यूल, हेल्महोल्ट्ज़, श्वान आदि वैज्ञानिकोंकी खोजोंने भौतिकवादको अप्रत्यक्ष रूपसे बहुत प्रोत्साहित किया।

१—**बुख़्नेर्** (१८२४-९९)का ग्रंथ "शक्ति और **भौतिक तत्व**" भौतिकवादका एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। उसने लिखा है कि सभी शक्तियाँ गति हैं, और सभी चीजें गति और भौनिक तत्वोंके योगसे बनती हैं। गति और भौतिकतत्वोंको हम अलग समझ सकते हैं, किन्तु अलग कर नहीं सकते। आत्मा या मन कोई चीज नहीं। जीवन विशेष परिस्थितिमें भौतिक-तत्त्वोंसे ही पैदा हो जाता है। मनकी क्रिया "बाहरसे आई उत्तेजनासे मस्तिष्ककी पीली मज्जाके **सेलों** की गति है।"

मोल्शोट् (१८२२-९३ ई०), फ़ोग्ट (१८१७-९५ ई०), कज़ोल्बे (१८१९-७३ ई०), इस सदीके भौतिकवादी दार्शनिक थे। विरोधी भी इस बातको कबूल करते हैं, कि इस सदीके सभी भौतिकवादी दार्शनिक और साइंसवेत्ता मानवता और मानव प्रगतिके जबर्दस्त हामी थे।

२–लुड्विग् फ़्वेरबाख़ (१८०४–७२ ई०)

कान्टने अपनी "शुद्ध बुद्धि" या सैद्धान्तिक तर्कसे किस प्रकार धर्म, रूढ़ि, ईश्वरके चीथड़े-चीथड़े उड़ा दिये, किन्तु अन्तमें "भलेमानुष" बननेके

श्यालने—अथवा भले दार्शनिकोंकी पंक्तिसे बहिष्कृत न होनेके डरने, उसे थूकेको चाटनेके लिए मजबूर किया, यह हम बतला आये हैं। हेगेल्ने शुद्ध बुद्धि भौतिक तजर्बे (=प्रयोग)के सहारे अपने दर्शन—द्वन्दात्मक विज्ञान-वाद—का विकास किया, यद्यपि भौतिक तत्त्वोंको **विज्ञान**का विकार बतला वह उल्टे स्थानपर उल्टे परिणामपर पहुँचा। हेगेल्के बाद उसके दार्शनिक अनुयायी दो भागोंमें बँट गये, एक तो डूरिंग जैसे लोग जो भौतिकवादके सख़्त दुश्मन थे और हेगेल्के विज्ञानवादको—आगे विकसित करनेकी तो बात ही क्या उसे रोककर—प्रतिगामिताकी ओर ले जा रहे थे; और दूसरा भाग था प्रगतिगामियोंका, जो कि हेगेल्के दर्शनको रहस्यवाद और विज्ञानवादसे छुड़ा उसके वास्तविक लक्ष्य **द्वन्दात्मक** (=क्षणिक) **भौतिकवाद**पर ले जा रहे थे। फ़्वेरबाख़ इस प्रगतिगामी हेगलीय दलका अगुआ था। इसी दलमें आगे मार्क्स् और एन्गेल्स शामिल हुए।

सत्ताधारी—धनिक और धर्मानुयायी—भौतिकवादको अपना परम शत्रु समझते हैं क्योंकि वह समझते हैं कि परलोककी आशा और ईश्वरके न्यायपरसे विश्वास यदि हट गया, तो मेहनत करते-करते भूखी मरनेवाली जनता उन्हें खा जायेगी, और भौतिकवादी विचारकोंके मतानुसार भूतल-पर स्वर्ग और मानव-न्याय स्थापित करने लगेगी। इसीलिए पुरोहितोंने कहना शुरू किया, कि भौतिकवादी गंदे, इन्द्रिय-लोलुप, "अधर्म"-परायण, झूठे, अविश्वासी, "ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्"-वादी हैं; उनके विरुद्ध विज्ञानवादी संयमी, धर्मात्मा, स्वार्थत्यागी, विरागी, आदर्शवादी होते हैं।

फ़्वेरबाख़का मुख्य ग्रंथ है "ईसाइयतसार"।[1] इसमें लेखकने ईसाई धर्मकी शवपरीक्षा द्वारा सारे धर्मोंकी वास्तविकता दिखलाई है। "ईसाइयत-सार"के दो भाग हैं, पहिले भागका प्रतिपाद्य विषय है "**धर्मका सच्चा या मानव शास्त्रीय सार।**" दूसरे भागमें "**धर्मका झूठा या मजहबी**

---

[1] The Essence of Christianity.

सार" बतलाया गया है। भूमिकामें मनुष्य और धर्मके मुख्य स्वभावोंकी विवेचना की गई है। मनुष्यका मुख्य स्वभाव उसकी अपनी जातिकी चेतना **मानव-स्वभाव** है। यह चेतना कितनी है, इसका पता उसके भावुक भावों और संवेदनासे लगता है।

"तो जिसके बारेमें वह महसूस करता है, वह मानव स्वभाव क्या है, अथवा मनुष्यकी खास मानवता, उसकी विशेषता क्या है? बुद्धि, इच्छा, स्नेह।.....

"मनुष्यके अस्तित्वके आधार, उसके मनुष्य होनेके तौरपर उसकी सर्वोच्च शक्तियाँ हैं—समझना (बुद्धिकी क्रिया), इच्छा करना और प्रेम। मनुष्य है समझने, प्रेम करने और इच्छा करनेकेलिए।...

"सिर्फ वही सच्चा, पूर्ण और दिव्य है, जो कि अपने लिए अस्तित्व रखता है। किन्तु ऐसा ही तो प्रेम है, ऐसी ही तो बुद्धि है, ऐसी ही तो इच्छा है। वैयक्तिक मानवमें मनुष्यके भीतर यह दिव्यत्रयी—बुद्धि, प्रेम, इच्छा—का समागम है। बुद्धि, प्रेम, इच्छा ऐसी शक्तियाँ नहीं हैं जिनपर मनुष्यका अधिकार है। उनके बिना मनुष्य कुछ नहीं है। वह जो कुछ है वह उनकी ही वजहसे है। यही उसके स्वभावकी बुनियादी ईंटें हैं। वह न उन्हें (स्वामीके तौरपर) रखता है, न उन्हें ऐसी सजीव, निश्चायक, नियामक शक्तियाँ—दिव्य परम शक्तियाँ—बनाता है, जिनके कि प्रतिरोधके वह खिलाफ जा सके।'[1]

फ्वेरबाखने बतलाया—"मनुष्यके लिए **परमतत्त्व** (श्रेष्ठतम वस्तु) उसका अपना स्वभाव है"। "मनोभावसे जिस दिव्य स्वभावका पता लगता है, वह वस्तुतः और कुछ नहीं। वह है खुद अपने प्रति आनन्दविभोर हो प्रसन्नताकी भावना, अपने ही भीतरकी आनन्दमयता।" उसने धर्मके सारके बारेमें कहा—जहाँ "इन्द्रियोंके प्रत्यक्षमें विषय (=वस्तु)-संबंधी चेतनाको अपनी ('आत्मा'की) चेतनासे फर्क किया जा सकता है; धर्ममें

---

[1] The Essence of Christianity, p. 32

विषय-चेतना और आत्मचेतना एक बना दी जाती है।" वस्तुतः मनुष्यकी आत्मचेतनाको एक स्वतंत्र अस्तित्वके तौरपर आसमानपर चढ़ाना, धर्म है। इसी तरह उसे पूजाकी वस्तु बनाया जाता है। फ़्वेरबाख़ने इसे साफ करते हुए कहा—

"किसी मनुष्यके जैसे विचार, जैसी प्रवृत्तियाँ होती हैं, वैसा ही उसका ईश्वर होता है; जितने मूल्यका मनुष्य होता है, उतना ही उसका ईश्वर होता है, उससे अधिक नहीं। ईश्वर-संबंधी चेतना (=चिन्तन) आत्म (अपनी)-चेतना है, ईश्वर-संबंधी ज्ञान (उसका) आत्म (=अपना)-ज्ञान है। उसके ईश्वरसे तू उस मनुष्यको जानता है, और उस मनुष्यसे उसके ईश्वरको; दोनों (मनुष्य और उसका ईश्वर) एक हैं।"[1]

दिव्यतत्त्व मानवीय है, इसकी आलोचना करनेके बाद वह फिर कहता है—

"धर्म (=मजहब)-संबंधी विकास ... विशेषकर इस तरह पाया जाता है, कि मनुष्य ईश्वरको अधिकाधिक कल्पित करता है, और अधिकाधिक अपनेपर लगाता है। ईश्वरीय वाणीके संबंधमें यह बात खास तौरसे स्पष्ट है। पीछेके युग या संस्कृत जनोंके लिए जो बात प्रकृति या बुद्धिसे मिली होती है, वही बात पहिलेके युग या अ-संस्कृत जनोंको ईश्वर-प्रदत्त (मालूम होती) थी।

"इस्राइलियों (=यहूदी धर्मानुयायियों)के अनुसार ईसाई स्वतंत्र विचारवाला (=धर्मकी पाबंदीसे मुक्त) है। बातोंमें इस तरह परिवर्तन होता है। जो कल तक धर्म (=मजहब) था, आज वह वैसा नहीं रह गया है; जो आज नास्तिकवाद[2] है, कल वही धर्म होगा।"[3]

धर्मका वास्तविक सार क्या है, इसके बारेमें उसका कहना है—

"धर्म मनुष्यको अपने आपसे अलग कराता है; (इसके कारण) वह (मनुष्य) अपने सामने तथा अपने प्रतिवादीके तौरपर ईश्वरको ला रखता

---

[1] Ibid, p. 12 [2] Atheism. [3] वहीं, pp. 31-32.

है। ईश्वर वह है, जो कि मनुष्य नहीं है—मनुष्य वह है, जो कि ईश्वर नहीं है।...

"ईश्वर और मनुष्य दो विरोधी छोर हैं; ईश्वर पूर्णतया भावरूप, वास्तविकताओंका योग है; मनुष्य पूर्णतया अभावरूप, सभी अभावोंका योग है।...

"परन्तु धर्ममें मनुष्य अपने निजी अन्तर्हित स्वभावपर ध्यान करता है। इसलिए यह दिखलाना होगा, कि यह प्रतिवाद, यह ईश्वर और मनुष्य-का विभाजन—जिसे लेकर कि धर्म (अपना काम) शुरू करता है—मनुष्यका उसके अपने स्वभावसे विभाजन करना है।"[1]

अपने ग्रंथके दूसरे भागमें फ्वेरबाखने धर्मके झूठे (अर्थात् मजहबी) सारपर विवेचन करते हुए कहा है—

"धर्मके लिए संपूर्ण वास्तविक मनुष्य, प्रकृतिका वह भाग है, जोकि व्यावहारिक है, जोकि निश्चय करता है, जो कि समझ-बूझकर (स्वीकार किये) लक्ष्योंके अनुसार काम करता है....जो कि जगत्को उसके अपने भीतर नहीं सोचता, बल्कि सोचता है उन्हीं लक्ष्यों या आकांक्षाओंके संबंधसे। इसका परिणाम यह होता है कि जो कुछ व्यावहारिक चेतनाके पीछे छिपा रखा गया है, तो भी जो सिद्धान्तका आवश्यक विषय है, उसे मनुष्य और प्रकृतिके बाहर एक खास वैयक्तिक सत्ताके भीतर ले जाता है।—यहाँ सिद्धान्त बहुत मौलिक और व्यापक अर्थमें लिया गया है, जिसमें वास्तविक (जगत्-संबंधी) चिन्तन और अनुभव (=प्रयोग)के सिद्धान्त, तथा बुद्धि (=तर्क) और साइंसके (सिद्धान्त) शामिल हैं।"[2]

इसी कारणसे फ्वेरबाख जोर देता है, कि हम ईसाइयत (=धर्म)से ऊपर उठें। धर्म झूठे तौरसे मनुष्य और उसकी आवश्यक सत्ताके बीचके संबंधको उलट देता है, और मनुष्यको खुद मानवीय स्वभावके सारको पूजने उसपर विश्वास करनेके लिए परामर्श देता है। ऐसी प्रवृत्तिका विरोध

[1] वहीं, p. 33. [2] वहीं, p. 187

करते हुए फ़्वेरबाख़ बतलाता है कि "मनुष्यकी उच्चतम सत्ता, उसका ईश्वर वह स्वयं है।" "धर्मका आदि, मध्य और अन्त मानव है।" यहाँ फ़्वेरबाख़ धर्मको एक खास अर्थमें प्रयुक्त करता है—मानवता-धर्म। वह फिर कहता है—

"धर्म आत्म-चेतनाका प्रथम स्वरूप है। धर्म पवित्र (चीज) है, क्योंकि वह प्राथमिक चेतनाकी कथाएं हैं। किन्तु जो चीज धर्ममें प्रथम स्थान रखता है—अर्थात् ईश्वर—....वह खुद और सत्यके अनुसार दूसरे (दर्जेका) है क्योंकि वह वस्तुरूपेण सोचा गया मनुष्यका स्वभाव मात्र है; और जो चीज धर्मके लिए दूसरे दर्जेकी है—अर्थात् मानव—उसे प्रथम **बनाना** और **घोषित** करना होगा। **मानव**के लिए प्रेम शाखा-स्थानीय प्रेम नहीं होना चाहिए, उसे मूलस्थानीय होना चाहिए। यदि मानवीय स्वभाव **मानव**के लिए श्रेष्ठतम स्वभाव है, तो, व्यवहारतः, **मनुष्यके प्रति मनुष्यके प्रेम**को भी उच्चतम और प्रथम नियम बनाना चाहिए। **मनुष्य मनुष्यके लिए ईश्वर है**, यह महान् व्यावहारिक सिद्धान्त है; यह धुरी है, जिसपर कि जगत्का इतिहास चक्कर काटता है।"[1]

इस उद्धरणसे मालूम होता है, कि फ़्वेरबाख़ यद्यपि धर्मकी कड़ी दार्शनिक आलोचना करता है, किन्तु साथ ही आजके नास्तिकवादको कलका धर्म भी देखना चाहता है। वह भौतिकवादको धर्मके सिंहासनपर बैठाना चाहता था।—"मानव और पशुके बीचका वास्तविक भेद धर्मका आधार है। पशुओंमें धर्म नहीं है।"[2]—यह भी इसी बातको बतलाता है।

फ़्वेरबाख़ यद्यपि धर्म शब्दको खारिज नहीं करना चाहता था, किन्तु उसके विचार धर्म-विरोधी तथा भौतिकवादके समर्थक थे—खासकर धर्मके दुर्गके भीतर पहुँचकर वह वैसा ही काम करना चाहते थे। भला यह धर्म तथा सत्ताधारियोंके पिट्ठुओंको कब पसन्द आ सकता था? प्रोफेसर

---

[1] **वहीं**, pp. 270-71 [2] **वहीं**, p. 1

डूरिंगने फ़्वेरबाखके खिलाफ कलम चलाई थी, जिसका कि उत्तर १८८८ ई० में एन्गेल्सने अपने ग्रंथ "लुड्विग फ़्वेरबाख"में दिया।

३—मार्क्स् (१८१८-८३ ई०)

कार्ल मार्क्स्का जन्म राइनलैण्डके ट्रेवेज़ नगरमें हुआ था। उसने बोन, बर्लिन और जेनाके विश्वविद्यालयोंमें शिक्षा पाई। जेनामें उसने "देमोक्रितु और एपीकुरुके प्राकृतिक दर्शन" पर निबंध लिखा था, जिसपर उसे पी-एच० डी० (दर्शनाचार्य)की उपाधि मिली। मार्क्स् भौतिकवादी बननेसे पहिले हेगेल्के दर्शनका अनुयायी था। राजनीतिक, सामाजिक विचार उसके शुरू हीसे उग्र थे, इसलिए जर्मनीका कोई विश्वविद्यालय उसे अध्यापक क्यों रखने लगा। मार्क्स्ने पत्रकारकलाको अपनाया और २४ सालकी उम्रमें "राइनिश् ज़ाइटुङ" पत्रका संपादक बना। किन्तु, प्रुशियन सरकार उसे बहुत ख़तरनाक समझती थी, जिसके कारण देश छोड़कर मार्क्स्को विदेशोंमें मारा-मारा फिरना पड़ा। पहिले वह पेरिसमें रहा, फिर ब्रुशेल्स (बेल्जियम)में। वहाँकी सरकारोंने भी प्रुशियाके नाराज़ होनेके डरसे मार्क्स्को चले जानेको कहा और अन्तमें मार्क्स् १८४९ में लंदन चला गया। उसने बाकी जीवन वहीं बिताया।[1]

मार्क्स् दर्शनका विद्यार्थी विश्वविद्यालय हीसे था, और खुद भी एक प्रथम श्रेणीका दार्शनिक था; किन्तु उसके सामाजिक और राजनीतिक विचार इतने उग्र, अद्वितीय और दृढ़ थे, कि उसका नाम जितना एक समाजशास्त्र, अर्थनीति और राजनीतिके महान् विचारकके तौरपर मशहूर है, उतना दार्शनिकके तौरपर नहीं। इसमें एक कारण और भी है। कलाकी भाँति दर्शन भी बैठे-ठाले सम्पत्ति-शालियोंके मनोरंजनका विषय है। वह जिस तरहका दर्शन चाहते हैं, मार्क्स्का दर्शन वैसा नहीं है; फिर मार्क्स्को वह क्यों दार्शनिकोंमें गिनने लगे?

---

[1] विशेषके लिए देखो मेरा "मानव समाज।" ४०९-१०

मार्क्स्‌के दर्शनके बारेमें हम खास तौरसे "वैज्ञानिक भौतिकवाद" लिखने जा रहे हैं, इसलिए यहाँ दुहरानेकी जरूरत नहीं है।

(१) मार्क्सीय दर्शनका विकास—आधुनिक युगके अभौतिकवादी यूरोपीय दर्शनोंका चरम विकास हेगेल्‌के दर्शनके रूपमें हुआ, और सारे मानव इतिहासके भौतिकवादी, वस्तुवादी दर्शनोंका चरम विकास मार्क्स्‌के दर्शनमें।

प्राचीन यूनानके युनिक दार्शनिक भौतिक तत्त्वको सभी वस्तुओंका मूल, और चेतनाके लिए भी पर्याप्त समझते थे, इसीलिए उन्हें भूतात्मवादी[1] कहा जाता था। स्तोइक भी भौतिक तत्त्वसे इन्कार नहीं करते थे, किन्तु भौतिकवादका ज्यादा विकास देमोक्रितु और एपीकुरुने किया, जिनपर कि मार्क्स्‌ने विश्वविद्यालयके लिए अपना निबंध लिखा था। रोमके लुक्रेशियस्‌ने अपने समयमें भौतिकवादका झंडा नीचे गिरने नहीं दिया। मध्ययुगमें विचार-स्वातंत्र्यके लिए जैसे गुंजाइश नहीं थी, उसी तरह भौतिकवादके लिए भी अवकाश नहीं था। मध्ययुगसे बाहर निकलते ही हम युरोपमें बारुच स्पिनोज़ाको देखते हैं, जो है तो विज्ञानवादी, किन्तु उसके विचार ज्यादातर यूनानी भूतात्मवादियोंकी तरहके हैं। इंगलैण्डमें टामस् हॉब्स (१५८८-१६७९)ने भौतिकवादको जगाया। अठारहवीं सदीमें फ्रेंच क्रान्ति (१७९२ ई०)के पहिले जो विचार-स्वातंत्र्यकी बाढ़ आई थी, उसने दीदेरो, हेल्वेशियो, दोलबाश्,[2] लामेत्री, जैसे भौतिकवादी दार्शनिक पैदा किये। उन्नीसवीं सदीमें लुड्विग् फ़्वेरबाख्‌ने भौतिकवादपर कलम उठाई थी। फ़्वेरबाख्‌का प्रभाव मार्क्स्‌पर भी पड़ा था। मार्क्स्‌ने हेगेल्‌की द्वन्दात्मक प्रक्रियासे मिलाकर भौतिकवादी दर्शनका पूर्णरूप हमारे सामने पेश किया, और साथ ही दर्शनको कल्पनाक्षेत्रमें बौद्धिक व्यायाम करनेवाला न बना उसका प्रयोग समाजशास्त्रमें किया।

---

[1] Hylozoist **हुलो=हेवला, भूत, ज़ोए=जीवन, आत्मा।**

[2] **इसका मुख्य ग्रंथ** Systems de la Nature **१७७० में प्रकाशित हुआ।**

विज्ञानवादी धारा समाजशास्त्रमें धुंध और रहस्यवाद छोड़ और कुछ नहीं पैदा करती। वह समाजकी व्यवस्थामें किसी तरहका दखल देनेकी जगह ईश्वर, परमतत्त्व, अज्ञेयपर विश्वास, श्रद्धा रखनेकी शिक्षामात्र दे सकती है। लेकिन मार्क्सीय दर्शनके विचार इससे बिल्कुल उलटे हैं। मानव-जातिकी भाँति ही मानव समाज—उसकी आर्थिक, धार्मिक व्यवस्था—प्रकृतिकी उपज है। वह प्रकृतिके अधीन है, और तभी तक अपना अस्तित्व कायम रख सकता है, जबतक प्रकृति उसकी आवश्यकताओंको पूरा करती है। भौतिक उपज—खाना, कपड़ा आदि—तथा उस उपजके साधनोंपर ही मानव-समाज कायम है।

"महान् मानसिक संस्कृति," "भव्य विचार," "दिव्य चिन्तन"—चाहे कैसे ही बड़े-बड़े शब्दोंको इस्तेमाल कीजिए; हैं वह सभी भौतिक उपजकी करतूतें।

"ना कुछ देखा भाव-भजनमें ना कुछ देखा पोथी में।
कहें कबीर सुनो भाई सन्तो, जो देखा सो रोटी में॥"

अथवा—

"भूखे भजन न होय गोपाला। लेले अपनी कंठी माला॥"

दर्शनके लिए अवसर कब आया? जब कि प्रकृतिपर मनुष्यकी शक्ति ज्यादा बढ़ी, मनुष्यके श्रमकी उपजमें वृद्धि हुई; उसका सारा समय खाने-पहननेकी चीजोंके संपादनमें ही नहीं लगकर कुछ बचने लगा, तथा बैठे-ठाले व्यक्तिके लिए दूसरे भी काम करनेको तैयार हुए। जब इस तरह आदमी कामसे मुक्त रहता है, उसी समय वह सोचने, तर्क-वितर्क करने, योजना बनाने, "भव्य संस्कृति," "ब्रह्म-ज्ञान" पैदा करनेमें समर्थ हो सकता है। और जगहोंकी भाँति समाजमें भी भौतिक तत्व या प्रकृतिही मनकी माँ है, मन प्रकृतिका जनक नहीं।

भौतिकवाद "मानस-जीवन"की विशेषताओंकी व्याख्या जितना अच्छी तरह कर सकता है, विज्ञानवाद वैसा नहीं कर सकता; क्योंकि विज्ञानवाद समझता है, कि विचार या विज्ञानका पृथिवी और उसकी वस्तुओंसे कोई

संबंध नहीं है, वह अपने भीतरसे उत्पन्न होना है। हेगेल् अपने "दर्शन-इतिहास"में कैसी ऊल-जलूल व्याख्या करता है—"यह अच्छा (=शिव), यह बोध....ईश्वर है। ईश्वर जगत्पर शासन करता है। उसके संस्कारका स्वरूप, उसकी योजनाकी पूर्ति विश्व इतिहास है।" बूढ़े ईश्वरने एक ही साथ बाबा आदम, बीबी हौआ, अथवा ऋषि-मुनि, वेश्याएं, हत्यारे, कोढ़ी, पैदा किये; साथ ही भूख और दरिद्रता, आतशक और ताड़ीको पापियों-के दंडके लिए पैदा किया। उन्हें खुद उस तरहका पैदा किया गया हो, कि वह उन पापोंको करें, और फिर न्यायका नाटय किया जाये और उन्हें दंड दिया जाये, क्या मजाक है!! और वह भी एक दिनका नहीं, अनादिसे अनन्त कालतक यह प्रहसन-लीला चलती रहेगी। यह है ईश्वर, जिसे कि **विज्ञानवादी** दार्शनिक फाटकसे नहीं खिड़कीके रास्ते द्रविड़-प्राणायाम द्वारा हमारे सामने रखना चाहते हैं।

यूनानी दार्शनिक पर्मेनिद—इलियातिकोंके नेता—की शिक्षा थी, कि हर एक चीज अचल-अनादि, अनन्त, एकरस, अपरिवर्तनशील, अविभाज्य, अविनाशी है। जेनो (३३६-२६४ ई० पू०)ने बाणके दृष्टान्तको देकर सिद्ध करना चाहा, कि बाण हर क्षण किसी न किसी स्थानपर स्थित है, इसलिए उसकी गति भ्रमके सिवा कुछ नहीं है। इस प्रकार जिसके चलनेको लोग आँखोंसे साफ देखते हैं, उसने उससे भी इन्कार कर स्थिरवादको दृढ़ करना चाहा। इसके विरुद्ध हेराक्लितुको हम यह कहते देख चुके हैं, कि संसारमें कोई ऐसा पदार्थ नहीं जो गतिशील न हो। 'हर एक चीज वह रही है, कोई चीज खड़ी नहीं है ("पान्त रेह")। उसी नदीमें हम दो बार नहीं उतर सकते, क्योंकि दूसरी बार उतरने वक्त वह दूसरी ही नदी होगी। उसके साथी क्रातिलोने कहा, "उसी नदीमें दो बार उतरना असंभव है, क्योंकि नदी लगातार बदल रही है।" परमाणुवादी देमोक्रितुने गति—खासकर परमाणुओंकी गति—को सभी वस्तुओंका आधार बतलाया। हेगेल्ने गति तथा भवति (=अ-वर्तमानका वर्तमान होना)का समर्थन किया।

(२) दर्शन—गति, परिवर्तनवाद हेगेल्के दर्शनका आधार है हेगेल्के इस गतिवादका और संस्कार करके मार्क्स्ने अपने दर्शनकी स्थापना की। विश्व और उसके सजीव—निर्जीव वस्तुओं और समाजको भी दो दृष्टियोंसे देखा जाता है, एक तो पर्मेनिद या जेनोकी भाँति उन्हें स्थिर अचल मानना—स्थिरवाद; दूसरे हेराक्लितु और हेगेल्का गतिवाद (क्षणिक वाद (=क्षण-क्षण परिवर्तनवाद)। प्रकृति स्थिरवादके विरुद्ध है, इसे जैसे राहका सीधा सादा बटोही कह सकता है, वैसे ही आइन्स्टाइन भी बतलाता है। जिन तारोंको किसी समय अचल और स्थिर समझा जाता था, आज उनके बारेमें हम जानते हैं, कि वह कई हजार मील प्रति घंटेकी चालसे दौड़ रहे हैं। पिडोंके अत्यंत सूक्ष्म अंश परमाणु दौड़ रहे हैं, और उनके भी सबसे छोटे अवयव एलेक्ट्रन परमाणुके भीतर चक्कर काटते तथा कक्षामें दूसरी कक्षाकी ओर भागते देखे जाते हैं। वृक्ष, पशु आज वही नहीं हैं, जैसा कि उन्हें "ईश्वरने" कभी बनाया था। आजके प्राणी वनस्पति बिल्कुल दूसरे हैं, इसे आप भूगर्भशास्त्रसे जानते हैं। आज कहाँ पता है, उन महान् सरीसृपोंका जो तिमहले मकानके बराबर ऊँचे तथा एक पूरी मालगाड़ी-ट्रेनके बराबर लम्बे होते थे[1]। करोड़ों वर्ष पहिले यह पृथिवी जिनकी थी, आज उनका कोई नामलेवा भी नहीं रह गया। उस समय न आमका पता था, न देवदारका, न उस वक्तके जंगलोंमें हिरन, भेड़, बकरी, गाय, या नीलगायका पता था। वानर, नर-वानर और नर तो बहुत पीछे आये। सर्वशक्तिमान् खुदा बेचारा सृष्टि बनाते वक्त उन्हें बनानेमें असमर्थ था। आज मनुष्य प्रयोग करके इस लायक हो गया है, कि वह यार्कशायरके सूअरों, अनरस-स्ट्राबरी, काले गुलाबको पैदा कर उनकी नसलको जारी रख सकता है।

इस प्रकार इसमें कोई शक नहीं है, कि विश्वमें कोई स्थिर वस्तु नहीं है। मैं जिस चीड़के वक्सकी चौकी बनाकर इस वक्त लिख रहा हूँ, वह भी क्षण-

---

[1] देखो "विश्वकी रूपरेखा।"

क्षण बदल रही है, किन्तु बदलना जिन परमाणुओं, एलेक्ट्रनोंके रूपमें हो रहा है, उन्हें हम आँखोंसे देख नहीं सकते। यदि हमारी आँखोंकी ताकत करोड़गुना होती है, तो हम अपनी इस छोटीसी "चौकी"को उड़ते हुए सूक्ष्म कणोंका समूह मात्र देखते। ये कण बहुत धीरे-धीरे, और अलग-अलग समय "चौकी"की सीमा पार करते हैं, इसीलिए चौकीको जीर्ण-शीर्ण होकर टूटने-में अभी देर लगेगी, शायद तबतक यहाँ देवलीमें रहकर लिखनेकी मुझे जरूरत नहीं रहेगी।

निरन्तर गतिशील भौतिकतत्त्व इस विश्वके मूल उपादान हैं। किसी बाह्य दृश्यको देखते वक्त हमको बाहरी दिखलावटी स्थिरताको नहीं लेना चाहिए, हमें उसे उसके भीतरकी अवस्थामें देखना चाहिए। फिर हमें पता लग जायगा, कि गतिवाद विश्वका अपना दर्शन है। गतिवादको ही द्वन्द्ववाद भी कहते हैं।

(क) **द्वन्द्ववाद**[1]—हेराक्लितु और हेगेल्—और बुद्धको भी ले लीजिये—गतिवाद, अनित्यतावाद, क्षणिकवादके आचार्य थे, दर्शनकी व्याख्या करते वक्त वे द्वन्द्ववादपर पहुँचे। हेराक्लितुने कहा—"विरोधिता (=द्वंद्व) सभी मुखोंकी माँ है।" हेगेल्ने कहा "विरोध वह शक्ति है, जो कि चीजोंको चालित करती है।" विरोध क्या है? पहिलीकी स्थितिमें गड़बड़ी पैदा करना। इसे द्वंद्ववाद इसीलिए कहा जाता है, क्योंकि इस वादमें परिवर्तनका कारण वस्तुओं, सामाजिक संस्थाओंमें पारस्परिक विरोध या द्वन्द्वको मानते है। हेगेल्ने द्वन्द्ववादको सिर्फ विचारोंके क्षेत्र तक ही सीमित रखा, किन्तु मार्क्सने इसे समाज और, उसकी संस्थाओं तथा दूसरी जगहोंमें भी एकसा लागू बतलाया। वाद, प्रतिवाद, संवादका दृष्टान्त हम दे चुके हैं।[2] द्वन्द्व-वादके इन अवयवोंका उपयोग प्राणिविकासमें देखिए : लंकाशायरमें सफेद रंगके तेलचट्टे जैसे फतिंगे थे। वहाँ मिलें खड़ी हो जाती हैं, जिनके धुएँसे धरती, वृक्ष, मकान सभी काले रंगके हो जाते हैं। जितने तेलचट्टे अब भी

---

[1] Dialectic. [2] देखो "वैज्ञानिक भौतिकवाद" पृष्ठ १४

सफेद हैं, उन्हें उस काली जमीनमें दूरसे ही देखकर पक्षी तथा दूसरे कृमि-भक्षी प्राणी खा रहे हैं, डर है, कि कुछ ही समयमें "तैलचट्टे" नामशेष रह जायेंगे। उसी समय उसी धुएंका एक ऐसा रासायनिक प्रभाव पड़ता है, कि उनमें **जाति-परिवर्तन** होकर स्थायी पुश्तोंके लिए काले तैलचट्टे पैदा हो जाते हैं। धीरे-धीरे उनकी औलाद बढ़ चलती है। इस बीचमें सफेद तैलचट्टे बड़ी तेजीके साथ भक्षक प्राणियोंके पेटमें चले जाते हैं। दस वर्ष बाद लोग प्रश्न करते हैं—"पहिले यहां सफेद तैलचट्टे बहुत थे, कहाँ गये वह? और ये काले फतिंगे कहांसे चले आये?" यहां भी द्वन्द्ववाद हमारे काम आता है।—(१) सफेद "तैलचट्टा" था, (२) फिर प्रतिकूल परिस्थिति—सभी चीजोंका काला होना—उपस्थित हुई और परिस्थिति-का उनसे द्वन्द्व चला; (३) अन्तमें जाति-परिवर्त्तनसे काले तैलचट्टे पैदा हुए, जिनका रंग काली परिस्थितिमें छिप जाता है, और भक्षकोंको उनके ढूँढ़नेमें काफी श्रम और समय लगाना पड़ता है। इसलिए वह बचकर बढ़ने लगते हैं। पहिली अवस्था **वाद**, दूसरी विरोधी अवस्था **प्रतिवाद** है, दोनोंके द्वंद्वसे तीसरी नई चीज जो पैदा हुई, वह **संवाद** है। संवादकी अवस्थामें जो काला फतिंगा हमारे सामने आया है, वह वही सफेद फतिंगा नहीं है—उसकी अगली पीढ़ियां सभी काले फतिंगोंकी हैं। वह एक नई चीज, नई जाति है। यह ऊपरी चमड़ेका परिवर्त्तन नहीं बल्कि अन्तस्तमका परिवर्त्तन, आनुवंशिकताका परिवर्त्तन (=जाति-परिवर्त्तन) है। इस परिवर्त्तनको **"द्वन्द्वात्मक परिवर्त्तन"**[1] कहते हैं।

हमने देखा कि गति या क्षणिकवादको मानते ही हम द्वन्द्व या विरोधपर पहुँच जाते हैं। ऊपरके फतिंगेवाले दृष्टान्तमें हमने फतिंगे और परिस्थिति-को एक समय देखा, उस वक्त इन दो विरोधियोंका समागम द्वन्द्वके रूपमें हुआ। गोया द्वन्द्ववाद इस प्रकार हमें विरोधियोंके समागम[2] पर पहुँचाता है। वाद, प्रतिवादका झगड़ा मिटा **संवादमें**, जिसे कि द्वंद्वात्मक परिवर्त्तन

---

[1] Dialectical change. [2] Union of opposits.

हमने बतलाया। यह परिवर्त्तन मौलिक परिवर्त्तन है। यहाँ वस्तु ऊपरसे ही नहीं बल्कि अपने गुणोंमें परिवर्त्तन हो जाती है—जैसे कि अगली सन्तानों तकके लिए भी बदल गये लंकाशायरके तेलचट्टोंने दिखलाया। इसे **गुणात्मक-परिवर्त्तन** कहते हैं। वादको मिटाना चाहता है प्रतिवाद, प्रतिवादका प्रतिकार फिर संवाद करता है। इस प्रकार वादका अभाव प्रतिवादसे होता है, और प्रतिवादका अभाव संवादसे अर्थात् संवाद अभावका अभाव या **प्रतिषेधका प्रतिषेध**[1] है। बिच्छूका बच्चा माँको खाकर बाहर निकलता है, यह कहावत गलत है, किन्तु "प्रतिषेधका प्रतिषेध"को समझने-केलिए यह एक अच्छा उदाहरण है। पहिले दादी बिच्छू थी, उसको खतम (=प्रतिषेध) कर माँ बिच्छू पैदा हुई, फिर उसे भी खतमकर बेटी बिच्छू पैदा हुई। पहिली पीढ़ीका प्रतिषेध दूसरी पीढ़ी है, और दूसरीका तीसरी पीढ़ी प्रतिषेधका प्रतिषेध है। चाहे विचारोंका विकास हो चाहे प्राणीका विकास, सभी जगह यह प्रतिषेधका प्रतिषेध देखा जाता है।

विरोधि-समागम, गुणात्मक-परिवर्त्तन, तथा प्रतिषेधका प्रतिषेधके बारेमें हम अपनी दूसरी पुस्तकोंमें लिखनेवाले हैं, इसलिए यहाँ इसे इतने पर ही समाप्त करते हैं।

(ख) विज्ञानवादकी आलोचना—विज्ञानवादियोंमें चाहे कान्टको लीजिए या बर्कलेको, सबका जोर इसपर है, कि साइंसवेत्ता जिस दुनिया पर प्रयोग करते हैं, वह गलत है। साइंसवेत्ताको वास्तविक दुनिया क्या है, इसे जानते ही नहीं, वास्तविक दुनिया (=विज्ञान जगत्)का जो आभास मन उत्पन्न करता है, वह तो सिर्फ उसीको जान सकते हैं। वह कार्य-कारणको साबित नहीं कर सकते। लोहासे आपको दागा जा रहा है। आप यहाँ क्या जानते हैं? लोहेका लाल रंग, और बदनमें आँच। रंग और आँचके अतिरिक्त आप कुछ नहीं जानते और यह दोनों मनकी कल्पना है। इस प्रकार साइंसके नियम या संभावनाएं मनकी आदत मात्र हैं।

---

[1] Negation of negation. [2] "वैज्ञानिक भौतिकवाद" पृष्ठ ७३

मार्क्स्वादका कहना है: आप किसी चीजको जानते हैं, तो उसमें विचार जरूर शामिल रहता है, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि आप लाल और आँच मात्र ही जानते हैं। ज्ञानका होना ही असंभव हो जायगा, यदि वस्तुकी सत्तासे आप इन्कार करते हैं। जिस वक्त आप ज्ञानके अस्तित्वको स्वीकार करते हैं, उसी वक्त ज्ञाता और ज्ञेयको भी स्वीकार कर लेते हैं; बिना जानने-वाले और जानी जानेवाली चीजके जानना कैसा ? बिना उसके संबंधके हम ख्यालमात्रसे विश्वके अस्तित्वके जानकार नहीं होते; फिर यह अर्थ कैसे होता है, कि आप सिर्फ़ अपने विचारोंके ही जानकार हैं। इन्द्रिय और विषयका जब सन्निकर्ष (=योग) होता है, तो पहिले-पहिल हमें वस्तुका अस्तित्वमात्र ज्ञात होता है—प्रत्यक्षको दिग्नाग और धर्मकीर्तिने भी कल्पना-अपोढ़ (=कल्पनासे रहित) माना है। लाल रंग, और आँच तो पीछेकी कल्पना है, जिसे वस्तुतः प्रत्यक्षमें गिनना ही नहीं चाहिए, प्रत्यक्ष—सारे ज्ञानोंका जनक—हमें पहिले-पहिल वस्तुके अस्तित्वका ज्ञान कराता है। यह ठीक है कि हम विषयको पूर्णतया नहीं जानते, उसके बारेमें सब कुछ नहीं जानते; लेकिन उसके अस्तित्वको अच्छी तरह जानते हैं, उसमें तो शककी गुंजाइश नहीं। इन्द्रिय-साक्षात्कार हमें थोड़ासा वस्तुके बारेमें बत-लाता है, और जो बतलाता है वह सापेक्ष होता है। विज्ञानवादमें यदि कोई सचाई हो सकती है, तो यही **सापेक्षता** है, जो कि सभी ज्ञानोंपर लागू है।

प्रकृति बाह्य पदार्थके तौरपर मौजूद है, यह निश्चित है। लेकिन वह पूर्णरूपेण क्या है, यह उसका रहस्य है, जिसका खोलना उसके स्वभावमें नहीं है। हमें वह परिस्थितियोंको बतलाती है, उन परिस्थितियोंके रूपमें हम प्रकृतिको देखते हैं। सभी प्रत्यक्ष विशेष या वैयक्तिक प्रत्यक्ष है, जो कि खास परिस्थितियोंमें होता है। शुद्ध प्रत्यक्ष—विशेष विषय और परिस्थिति से रहित—कभी नहीं होता। हम सदा वस्तुओंके विशेष रूपको ही प्रत्यक्ष करते हैं। हम सीधी छड़ीको पानीमें खड़ा करनेपर वक्र (टेढ़ी मेढ़ी), छोटी या लाल प्रकाशसे प्रकाशित देखते हैं। यह वक्रता, छोटापन

और लाली सिर्फ़ छड़ीका रूप नहीं है, बल्कि उस परिस्थितिमें देखी गई छड़ीके रूप हैं।

अतएव ज्ञान वास्तविकताका आभास है, किन्तु आभासमात्र नहीं है। वह दृष्टिकोण और ज्ञाताके प्रयोजन—इसीलिए ऐतिहासिक विकासकी खास अवस्था—से बिल्कुल सापेक्ष है; देश-कालकी परिस्थितिको हटा कर वस्तुका ज्ञान नहीं हो सकता। "प्रकृतिका ज्ञान होता ही नहीं", और "वह सदा सापेक्ष ही होता है" इसमें उतना ही अन्तर है, जितना "हाँ" और "नहीं" में। मार्क्सवाद सापेक्ष ज्ञानको बिल्कुल संभव मानता है, जिससे साइंसकी गवेषणाओंका समर्थन होता है; विज्ञानवाद वस्तुकी सत्तासे ही इन्कार करके ज्ञानको असंभव बना देता है, जिससे साइंसको भी वह त्याज्य ठहराता है।

(ग) भौतिक वाद और मन—जब हम विज्ञानवादके गंधर्व-नगरसे नीचे उतरकर जरा वास्तविक जगत्में आते हैं, तो फिर क्या देखते हैं—भौतिक तत्त्व, प्राकृतिक जगत् मनकी उपज नहीं है, बल्कि भौतिक तत्त्वकी उपज मन है। पृथिवी प्रायः दो अरब वर्ष पुरानी है। जीव कुछ करोड़ वर्ष पुराने, लेकिन उन जीवोंके पास "जगत् बनानेवाला" मन नहीं था। मनुष्यकी उत्पत्ति ज्यादासे ज्यादा १० लाख वर्ष तक ले जाई जा सकती है, किन्तु जावा, चीन या नेअन्डर्थल मानवके पास भी ऐसा मन नहीं था, जो "विश्व"को बनाता। विश्व "बनानेवाला" मन सिर्फ़ पिछले ढाई हजार वर्षमें दार्शनिकोंकी पिनक में पैदा हुआ। गोया दो अरब वर्षमें कुछ लाख वर्ष पहिले तक किसी तरहके मनका पता नहीं था, और इस सारे समयमें भौतिक तत्त्व मौजूद थे। फिर इस हालके बच्चे मनको भौतिक तत्वोंका जनक कहना क्या बेटेको बापका बाप बनाना नहीं है? मूल भौतिकतत्त्वोंसे परमाणु, अणु, अणु-गुच्छक, फिर आरंभिक निर्जीव क्षुद्र पिंड, तथा जीव-अजीवके बीचके **विरस**[1] और बेक्टीरिया जैसे एक सेलवाले अत्यन्त सूक्ष्म सत्त्व बने। एक सेलवाले

[1] Virus.

प्राणियोंसे क्रमशः विकास होते-होते अस्थि-रहित, अस्थिधारी, स्तनधारी जीव, यहाँ तक कि कुछ लाख वर्ष पहिले मनुष्य आ मौजूद हुआ। यह सारा सिलसिला यह नहीं बतलाता, कि आरम्भमें मन था, उसने सोचा कि जगत् हो जाये, और उसकी कल्पना जगत् रूपमें देखी जाने लगी। सारा साइंस तथा भूगर्भशास्त्र एवं **विकास** सिद्धान्त हमें यही बतलाते हैं, कि भौतिक तत्त्व प्राणीसे पहिले मौजूद थे, प्राणी बादकी परिस्थितिकी उपज है। मन प्राणीकी भी पिछली अवस्थामें उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार साफ है कि मन भौतिक तत्त्वोंकी उपज है।

उपज होनेका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए, कि मन भौतिक तत्त्व है। भौतिक तत्त्व सदा बदल रहे हैं, जिससे परिस्थितिमें गड़बड़ी, विरोध (=द्वन्द्व) शुरू होता है, जिससे द्वन्द्वात्मक परिवर्त्तन—गुणात्मक-परिवर्त्तन—होता है। गुणात्मक-परिवर्त्तन हो जानेके बाद हम उसे "वही चीज" नहीं कह सकते, क्योंकि गुणात्मक-परिवर्त्तन एक बिल्कुल नई वस्तु हमारे सामने उपस्थित करता है। मन इसी तरहका भौतिकतत्त्वोंमें गुणात्मक-परिवर्त्तन है। वह भौतिक तत्त्वोंसे पैदा हुआ है, किन्तु भौतिक तत्त्व नहीं है।

त्रयोदश अध्याय

बीसवीं सदीके दार्शनिक

बीसवीं सदीमें साइंसकी प्रगति और भी तेज हुई। मनुष्य हवामें उसी तरह बेधड़क उड़ने लगा है, जिस तरह अबतक वह समुद्रमें "तैर" रहा था। उसके कानकी शक्ति इतनी बढ़ गई है, कि वह हजारों मीलों दूरके शब्दों—खबरों, गानों—को सुनता है। उसकी आँखकी ज्योति इतनी बढ़ रही है, कि हजारों मील दूरके दृश्य भी उसके सामने आने लगे हैं, यद्यपि इसमें अभी और विकासकी जरूरत है। पिछली शताब्दीने जिन शकलों और स्वरोंको अचल पत्थरकी मूर्ति तथा गुफाकी प्रतिध्वनिकी भाँति हमारे पास पहुँचाया था, अब हम उन्हें अपने सामने सजीव-सा चलते-फिरते, बोलते-गाते देखते हैं। अभी हम इसे प्रतिचित्र और प्रति-ध्वनिके रूपमें देख रहे हैं, लेकिन उस समयका भी आरंभ हो गया है, जिसमें आमतौरसे रक्त-मांसके रूपको सीधे अपने सामने सजीवता प्रदर्शन करते देखेंगे। यह सभी बातें कुछ शताब्दियाँ पहिले दैवी चमत्कार, अमानुषिक सिद्धियाँ समझी जाती थीं।

मनुष्यका एक ज्ञान-क्षेत्र है, और एक अज्ञान-क्षेत्र। उसका अज्ञानक्षेत्र जब बहुत ज्यादा था, तब ईश्वर, धर्मकी बहुत गुंजाइश थी। अज्ञान-क्षेत्रके खंडोंको जब ज्ञानने छीनकर अपना क्षेत्र बनाना चाहा, तो अज्ञान-क्षेत्रके वासियों—धर्म और ईश्वरकी स्थिति खतरेमें पड़ गई। उस वक्त अज्ञान-राज्य की हिमायतकेलिए "दर्शन"का खास तौरसे जन्म हुआ। उसका मुख्य काम था, खुली आँखोंमें धूल झोंकना—नामसे बिल्कुल उल्टा जो बात दर्शनने ईसा-पूर्व सातवीं-छठी सदीमें अपने जन्मके समयकी थी, वही उसने अब

भी उठा रखा है। इसमें शक नहीं, दर्शनने कभी-कभी धर्म और ईश्वरका विरोध किया है, किन्तु वह विरोध नामका था, वह बदली हुई परिस्थितिके अनुसार "अर्ध तजहिं बुध सर्बस जाता" की नीतिका अनुसरण करनेकेलिए था।

बीसवीं सदीने **सापेक्षता, क्वन्तम्**के सिद्धान्त, एलेक्ट्रन, न्यूट्रन, एक्स-रे, आदि कितने ही साइंसके क्रान्तिकारी सिद्धान्त प्रदान किये हैं, इसका वर्णन हम "विश्वकी रूपरेखा" में कर चुके हैं। इन सबने ईश्वर, धर्म, परमात्म-तत्त्व, **वस्तु-अपने-भीतर,** विज्ञानवाद सभीकेलिए खतरा उपस्थित कर दिया है, किन्तु ऐसे संकटके समय दार्शनिक चुप नहीं है। उसके जिस रूपका पर्दा खुल गया है, उससे तो लोगोंको भरमाया नहीं जा सकता; इसलिए धर्म, ईश्वर, चिरस्थापित आचारका पोषण, उनके जरिये नहीं हो सकता। कान्टको हम देख चुके हैं, कैसे बुद्धि-सीमा-पारी वस्तु-अपने-भीतरको मनवाकर उसने धर्म, ईश्वर, आचार सबको हमारे मत्थे थोपना चाहा। यही बात फिख्टे, हेगेल्, स्पेन्सरमें भी हम देख चुके हैं।

बीसवीं सदीके दार्शनिकोंमें कहीं राधा कृष्णन्के "लौटो उपनिषदोंकी ओर" की भाँति, "लौटो कान्टकी ओर" कहते हुए जर्मनीमें कोहेन, विन्डेल्-बान्ट, हुस्सेर्लको देख रहे हैं; कहीं युकेन और बर्गसोंको अध्यात्म-जीवन-वाद और सृजनात्मक जीवनवादका प्रचार करते देखते हैं। कहीं विलियम् जेम्सको "प्रभाव (मनुष्यमाप) वाद"[1], बर्टेंड रसलको भूत और विज्ञान दोनोंसे भिन्न अनुभयवादको पुष्ट करते पा रहे हैं। ये सभी दार्शनिक अतीतके मोहमें पड़े हैं।—"ते हि नो दिवसा गताः"[2] बड़ी बुरी बीमारी है। किन्तु यह सभी बातें दिमागी बुनियादपर नहीं हो रही हैं। मानव समाजके प्रभुवोंके वर्गस्वार्थका यह तकाजा है, कि वह अतीत न होने पाये, नहीं तो वर्तमानकी मौज उनके हाथसे जाती रहेगी।

यहाँ हम बीसवीं सदीके शरीरवाद[3], विज्ञानवाद, द्वैतवाद, अनुभयवाद-का कुछ परिचय देना चाहते हैं।

---

[1] Pragmatism. [2] **"हाय ! वे हमारे दिन चले गये"**। [3] Organism.

§१–ईश्वरवाद

१–ह्वाइटहेड् (जन्म १८६१ ई०)

ए० एन्० ह्वाइटहेड् इंगलैंडके मध्यम श्रेणीके एक धर्म-विश्वासी गणितज्ञ हैं।

दर्शन—ह्वाइटहेड्को इस बातका बहुत क्षोभ है, कि प्रत्यक्ष करनेमें इतनी समृद्ध प्रकृति "शब्दहीन, गंधहीन, वर्णहीन, व्यर्थ ही निरन्तर दौड़ते रहनेवाला भौतिकतत्त्व" बना दी गई। ह्वाइटहेड् अपने दर्शन—शरीरवाद—द्वारा प्रकृतिको इस अधःपतनसे बचाना चाहता है। उसका दर्शन **कार्य**-गुणों—शब्द, गंध, वर्ण आदि—को ही नहीं, बल्कि मनुष्यके कला, आचार, धर्म संबंधी जीवनमें संबंध रखनेवाली बातोंका समर्थन करना चाहता है, साथ ही अपनेको विज्ञानका समर्थक भी जतलाना चाहता है। हमारे तजर्बे (—अनुभव) सदा साकार घटनाओंके होते हैं। यह घटनाएं अलग-अलग नहीं, बल्कि एक **शरीर**के अनेक अवयवोंकी भाँति हैं। शरीर अपने स्वभावसे सारे अवयव, तत्त्व या घटनाओंको प्रभावित करता है। ह्वाइटहेड् यहाँ **शरीर**को जिस अर्थमें प्रयुक्त करता है, वह सारे वस्तु-सत्य—वास्तविकता—का बोधक है, और वह सिर्फ चेतन प्राणी शरीर तक ही सीमित नहीं है। सारी प्रकृतिका यही मूल स्वरूप है। ह्वाइटहेड्के अनुसार भौतिकशास्त्र अतिसूक्ष्म "शरीर" (एलेक्ट्रन, परमाणु आदि)का अध्ययन करता है, और प्राणिशास्त्र बड़े "शरीर"का। ह्वाइटहेड् प्राणी-अप्राणीके ही नहीं मन और कायाके भेदको भी नहीं मानता। मन शरीरका ही एक खास घटना-प्रबंध है, और उसका प्रयोजन है उच्च क्रियाओंका संपादन करना। भौतिकशास्त्रकी आधुनिक प्रगतिको लेते हुए ह्वाइटहेड् **मन** या कायाको वस्तु नहीं घटनाओं—बदलती हुई वास्तविकता—को विश्वका सूक्ष्मतम अवयव या इकाई मानता है। इकाइयों और उनके पारस्परिक संबंधका योग विश्व है। बड़ी **घटनाएं** छोटी घटनाओंकी अवयवी

(=अवयव वाले) हैं, और अन्तमें सबके नीचे मूल आधार या इकाई परमाणुवाली **घटनाएं** हैं। इस प्रकार ह्वाइटहेड् वास्तविकताको प्रवाह या दीपकलिकाकी भाँति निरन्तर परिवर्त्तनशील मानता है, किन्तु साथ ही आकृति को स्थायी मानकर एक नित्य पदार्थ या अफलातूंके **सामान्य**को साबित करना चाहता है, "न बचनेवाले प्रवाहमें एक चीज है, जो बनी रहती है, नित्यताको नष्ट करनेमें एक तत्त्व है जो कि प्रवाहके रूपमें बँच रहता है।"

जिसे एक वस्तु या व्यक्ति कहा जाता है, वह वस्तुतः घटनाओंका समाज, या व्यवस्थित प्रवाह है, और उसमें कार्यकारण-धारा जारी रहती है। सूक्ष्मतम इकाई, परमाणु आदिकी घटना, विश्वमें सारी दूसरी प्राथमिक—परमाणवीय—घटनाओंसे अलग-थलग नहीं, बल्कि परस्पर-संबद्ध घटनाओंका संगठित परिवार है। और इस पारस्परिक संबंध और संगठनके कारण यह कहा जा सकता है, कि "हर एक चीज हर समय हर जगह है।"[२] प्रत्येक प्राथमिक (=परमाणवीय) **घटना**, अपनेसे पहिलेकी प्राथमिक घटनाकी उपज है, और उसी तरह आनेवाली **घटना**की पूर्वगामिनी है। इस प्रकार प्रत्येक प्राथमिक घटना, प्रवाहरूप होनेपर भी "पदार्थरूपेण अविनाशी" है।

ईश्वर—विश्वका "साथ होना", संबद्ध होना ही ईश्वर है। अलग-अलग वस्तुमें ईश्वर नहीं है, बल्कि वह उनका आधार "शरीर" है। "विश्व पूर्ण एकताके लानेमें तत्पर सान्तोंका बहुत्व है।" ईश्वर "भौतिक बहुत्वकी खोजमें तत्पर दृष्टिकी एकता है, वह वेदना (=एहसास)केलिए बंसी या अंकुशी, तथा इच्छाकी अनन्त भूख है।"

अपने सारे "साइंस-सम्मत" दर्शनका अन्त, ह्वाइटहेड, ईश्वर धर्म और आचारके समर्थनमें करता है। यह क्यों?

---

[१] Form.

[२] **मिलाओ जैन-दर्शन पृष्ठ४६६-७**

२. युकेन् (१८४६-१९२६)

यह जर्मन दार्शनिक था।

युकेनके अनुसार सर्वोच्च वास्तविकता **आत्मिक जीवन**[1], या **सजीव आत्मा** है। यह आत्मिक जीवन प्रकृति (=विश्व)से ऊपर है, किन्तु वह उसमें इस तरह व्याप्त है, कि उसकेलिए सीढ़ीका काम दे सकता है। यह **आत्मिक जीवन** कूटस्थ एकरस नहीं, बल्कि अधिक ऊँची अधिक गंभीर आत्मिकताकी ओर बढ़ रहा है। ऐसी चमत्कारिक (योग जैसी) प्रक्रियाएं हैं, जिनकी सहायतासे मनुष्य **आत्मिक जीवन**का ज्ञान प्राप्तकर सकता है; मनुष्य स्वयं इस **आत्मिक जीवन**की प्रगतिमें सहायक हो सकता है। साइंस, कला, धर्म, दर्शन आदिकी अन्तःप्रेरणा इसी **आत्मिक जीवन**की तरफसे मिलती है, **और** वह उसकी प्रगतिमें भाग लेता है। सत्य मनुष्यकी कृति नहीं है, वह **आत्मिक लोक**में मौजूद है, जिसका मनुष्यको पता भर लगाना है। ऐसे स्वयंसिद्ध, स्वयंभू सत्यकी जरूरत है, क्योंकि उसके बिना श्रद्धा संभव नहीं है। सत्य मनुष्यकी नाप है, मनुष्य सत्यकी नाप नहीं है। सत्य बाध्य करके अपने अस्तित्वको मनवाता है। सत्य आत्मिक जीवनके अस्तित्वका प्रमाण है। उसका दूसरा प्रमाण यह है, जो कि कष्टके वक्त लोग आत्मिक लोक या स्वर्गिक राज्यकी शरण लेते हैं।

प्रकृति भी उपेक्षणीय नहीं है। इसके भीतर भी काफी बोध है। मनुष्यका मन स्वयं प्रकृतिकी उपज है। तो भी प्रकृति मन (=आत्मा)से नीचे है, अधिक-से-अधिक यही कह सकते हैं कि प्रकृति **आत्मिक जीवनके** मार्गकी पहिली मंजिल है। **आत्मिक जीवन** प्रकृतिकी उपज नहीं, बल्कि उसका मौलिक आधार तथा अन्तिम लक्ष्य है।

आत्मिक जीवनका ज्ञान साइंस या बौद्धिक तर्क-वितर्कसे नहीं हो सकता, इसके लिए आत्मिक अनुभव—उस **आत्मिक जीवन**की अपने भीतर

[1] Spiritual Life.

सर्वत्र उपस्थितिके अनुभव—की जरूरत है ।

यही **आत्मिक जीवन** ईश्वर है । धर्म मानव जीवनको **आत्मिक जीवन**के उच्च शिखरपर ले जाता है, उसके बिना मनुष्यका अस्तित्व खोखला सारहीन है । यूकेन्ने इस प्रकार भौतिकवादके प्रभावको हटाकर दम तोड़ते ईश्वर और धर्मको हस्तावलंब देना चाहा ।

§ २—अन्-उभयवाद

१. बेर्गसाँ (१८५९-१९४१ ई०)

फ्रेंच दार्शनिक था । हाल (१९४० ई०) में जर्मनी द्वारा फ्रांसके पराजित होनेके बाद उसकी मृत्यु हुई ।

बेर्गसाँकी कोशिश है, कि प्रकृति और प्राकृतिक नियमोंको इन्कार किये बिना विश्वकी आध्यात्मिकताको सिद्ध किया जाये । इसके दर्शनकी विशेषता है परिवर्त्तन (=क्षणिकता), क्रिया, स्वतंत्रता, सृजनात्मक विकास[1], स्थिति[2], आत्मानुभूति । बेर्गसाँके दर्शनको आमतौरसे "परिवर्तनका दर्शन" या "सृजनात्मक विकास" कहते हैं ।

(१) **तत्त्व**—बेर्गसाँके अनुसार असली तत्त्व न भौतिक है, न मन (=विज्ञान), बल्कि इन दोनोंसे भिन्न अन्-उभय तत्त्व है, जिसमें ही भौतिक तत्त्व तथा मन दोनों उपजते हैं । यह मूल तत्त्व सदा परिवर्त्तन-शील, घटना-प्रवाह, लहराता जीवन, सदा नये रूपको और बढ़ रहा जीवन है ।

(२) **स्थिति**—बेर्गसाँ स्थिति को मानता है, किन्तु स्थिरताकी स्थिति को नहीं बल्कि प्रवाहकी स्थितिको । "स्थिति अतीतकी लगातार प्रगति है, जो कि भविष्यके रूपमें बदल रही है, और जैसे-जैसे वह आगे बढ़ रही है वैसे-ही-वैसे उसका आकार विशाल होता जा रहा है ।" इस प्रकार बेर्गसाँ

[1] Creative evolution. [2] Duration.

यहाँ खामखाह "स्थिति" शब्दको घसीट रहा है, क्योंकि स्थिति परिवर्तनसे बिल्कुल उलटी चीज है। वह और कहता है—"हमने अपने अत्यन्त बाल्यसे जो कुछ अनुभव किया है, सोचा और चाहा है; वह यहाँ हमारे वर्त्तमान के ऊपर झुक रहा है, और वर्त्तमान जिससे तुरन्त मिलनेवाला है।... जन्मसे लेकर—नहीं, बल्कि जन्मसे भी पहिलेसे क्योंकि अनुवंशिकता भी हमारे साथ है—जो कुछ जीवनमें हमने किया है, उस इतिहासके सारके अतिरिक्त हम और हमारा स्वभाव और है ही क्या? इसमें सन्देह नहीं कि हम अपने भूतके बहुत छोटेसे भागको सोच सकते हैं, किन्तु....हमारी चाह, संकल्प, क्रिया अपने सारे भूतको लेकर होती है।" बेर्गसाँ इसे स्थिति कहता है। यह सारे अतीतका वर्त्तमानमें साराकर्षण है। स्थितिके कारण सिर्फ वास्तविक और निरन्तर परिवर्तन ही नहीं होता, बल्कि प्रत्येक नया परिवर्त्तन, कुछ ताजगी कुछ नवीनता लिए होता है। इसीलिए इसे सृजनात्मक विकास कहते हैं। आध्यात्मिकता (=आत्मतत्त्व) इसी प्रकारकी स्मृतिको कहते हैं; वह इस प्रकारकी निरन्तर क्रिया है, जिसमें कि अतीत वर्त्तमानमें व्याप्त है। कभी-कभी इस क्रियामें शिथिलता हो जाती है, जिससे भौतिक तत्त्व या प्रकृति पैदा होती है। चेतना (=विज्ञान) बाह्यता की अपेक्षाके बिना व्यापनको कहते हैं; और प्रकृति बिना व्यापककी बाह्यताको कहते हैं।

जीवनके विकासकी तीन भिन्न-भिन्न तथा स्वतंत्र दिशायें हैं—वानस्पतिक, पशुबौद्धिक, बौद्धिक, जो कि क्रमशः वनस्पति, पशु और मनुष्यमें पाई जाती हैं।

(३) **चेतना**—चेतना या आत्मिकताको, बेर्गसाँ स्मृतिसे संबद्ध मानता है, प्रत्यक्षीकरणसे नहीं। चेतना मस्तिष्ककी क्रिया नहीं, बल्कि मस्तिष्कका वह औजारके तौरपर इस्तेमाल करता है। "कोट और खूँटी, जिसपर कि वह टँगा है, दोनोंका घनिष्ट संबंध है, क्योंकि यदि खूँटीको उखाड़ दें, तो कोट गिर जायेगा, किन्तु, इससे क्या यह हम कह सकते हैं कि खूँटीकी शकल जैसी होती है, वैसी ही कोटकी शकल होती है?"

(४) **भौतिकतत्त्व**—बेर्गसाँके अनुसार भौतिकतत्त्वोंका काम है जीवन-समुद्रको अलग-अलग व्यक्तियोंमें बाँटना, जिसमें कि वह अपने स्वतंत्र व्यक्तित्वको विकसित कर सकें। प्रकृति इस विकासमें बाधा नहीं डालती, बल्कि अपनी रुकावट द्वारा उन्हें और उत्तेजितकर कार्यक्षम बनाती है। प्रकृति एक ही साथ "बाधा, साधन और उत्तेजना" है। जीवन सिर्फ़ समाजमें ही पहुँच सन्तुष्ट होता है। सर्वोच्च और अत्यन्त सजीव मनुष्य वह है "जिसका काम स्वयं जबर्दस्त तो है ही, साथ ही दूसरे मनुष्यके कामको भी जो जबर्दस्त बनाता है; जो स्वयं उदार है, और उदारताकी अँगीठीको जलाता है।"

(५) **ईश्वर**—जीवनका केन्द्रीय प्रकाश-प्रसरण ईश्वर है। ईश्वर "निरन्तर जीवन-क्रिया, स्वतन्त्रता है।"

(६) **दर्शन**—दर्शन, बेर्गसाँके अनुसार, सदासे वास्तविकताका प्रत्यक्षदर्शन—आत्मानुभूति—रहा और रहेगा।—यह बात बिल्कुल शब्दशः ठीक है। आत्मानुभूति[1] द्वारा ही हम "स्थिति", "जीवन", "चेतना" का साक्षात्कार कर सकते हैं। परमतत्त्व[2] तभी अपने आपको हमारे सामने प्रकट करेगा, जब कि हम कर्म करनेके लिए नहीं बल्कि उसके साक्षात्कार करने ही केलिए साक्षात्कार करना चाहेंगे।

इस प्रकार बेर्गसाँके दर्शनका भी अवसान आत्म-दर्शन, और ईश्वर-समर्थनके साथ होता है।

२. बर्टरंड रसल् (जन्म १८७२ ई०)

अर्ल रसल एक अंग्रेज लार्ड तथा गणितके विद्वान् विचारक हैं।

रसलका दर्शन "अन-उभयवाद" कहा जाता है—अर्थात् न प्रकृति मूलतत्त्व है, न विज्ञान, मूलतत्त्व यह दोनों नहीं है। यदि दार्शनिक गोलमोल न लिखकर स्पष्ट भाषामें लिखें, तो उन्हें दार्शनिक ही कौन

---

[1] Intuition. [2] Absolute.

कहेगा। दार्शनिककेलिए जरूरी है, कि वह सन्ध्या-भाषामें अपने विचार प्रकट करे, जिसमें उसकी गिनती रात-दिन दोनोंमें हो सके। रसलके दर्शनको, वह खुद "तार्किक परमाणुवाद", "अनुभयवादी अद्वैतवाद" "द्वैतवाद", "वस्तुवाद" कहता है।

रसल कहीं-कहीं हमारे सारे अनुभवोंका विश्लेषण प्रकृतिके मूलतत्त्व परमाणुओंके रूपमें करता है। दर्शन साइंसका अनुयायी हो सकता है, साइंस-की जगह लेनेका उसका अधिकार नहीं है। वस्तुओं, घटनाओंका बहुत्व विज्ञान और व्यवहार-बुद्धि दोनोंसे सिद्ध है, इसलिए दर्शनको उनसे इन्कारी नहीं होना चाहिए। किन्तु इसका मूल क्या है, इसपर विचार करते हुए रसल कहता है—विज्ञानवादका सारे बाहरी बहुत्वोंको मानसिक कहना ठीक नहीं, क्योंकि यह साइंसका अपलाप है। साथही भौतिकवादके भी वह विरुद्ध है। मूलतत्त्व तरंग—शक्ति या केवल किरण प्रसरण[१] नहीं है। मूलतत्त्व न विज्ञान है, न भौतिक तत्व, वह दोनोंसे अलग "अन्-उभय-तत्त्व" है, लेकिन "अनुभयतत्व" एक नहीं **घटनाओं**की एक किस्म है। या तत्वोंकी एक जाति है। "जगत् अनेक शायद परिसंख्यात, या असंख्य तत्त्वोंका समूह है। ये तत्त्व एक दूसरेके साथ विभिन्न संबंध रखते हैं, और शायद उनके गुणोंमें भी भेद हैं। इन तत्त्वोंमेंसे प्रत्येकको 'घटना' कहा जा सकता है।"

रसलके अनुसार "दर्शन जीवनके लक्ष्यको निश्चित नहीं कर सकता, किन्तु वह दुराग्रहों, संकीर्ण दृष्टिके अनर्थोंसे हमें बचा सकता है।"

§ ३. भौतिकवाद

बीसवीं सदीका समाजवाद जैसे मार्क्सका समाजवाद है, वैसे ही बीसवीं सदीका भौतिकवाद मार्क्सीय भौतिकवाद है। मार्क्सवादके कहनेसे यह नहीं समझना चाहिए, कि वह स्थिर और अचल एकरस

---

[१] Radiation.

है। विकास मार्क्स्वादका मूल सूत्र है, इसलिए मार्क्सवादीय भौतिक दर्शन का भी विकास हुआ है। मार्क्स्वाद भौतिक दर्शनके बारेमें हम आगे अपने "वैज्ञानिक भौतिकवाद"में सविस्तर लिखने जा रहे हैं। इसलिए उसे यहाँ दुहरानेकी जरूरत नहीं।

§४–द्वैतवाद

बीसवीं सदीमें नई-नई खोजोंने साइंसकी प्रतिष्ठा और प्रभावको और बढ़ा दिया, इसीलिए केवल बुद्धिवादी दार्शनिकोंकी जगह आज प्रयोग-वादियोंकी प्रधानता ज्यादा है।

विलियम् जेम्स (१८४२-१९१० ई०)—विलियम् जेम्सका जन्म अमेरिकाके मध्यमवर्गीय परिवारमें हुआ था। दर्शन और मनोविज्ञानका वह प्रोफ़ेसर रहा। जिस तरह बुद्धके तृष्णावाद(=क्षय)वादने शोपनहारके दर्शनको प्रभावित किया, उसी तरह बुद्धके अनात्मवादी मनोविज्ञानने जेम्स पर प्रभाव डाला था।

जेम्सको भौतिकवादी तथा विज्ञानवादी दोनों प्रकारके अद्वैतवाद पसन्द न थे। भौतिक अद्वैतवादके विरुद्ध उसका कहना था कि यदि सभी चजें—मनुष्य भी—आदिम नीहारिकाओं या अतिसूक्ष्म तत्वोंकी उपज मात्र हैं, तो मनुष्यकी आचारिक जिम्मेवारी(=दायित्व), कर्म-स्वातंत्र्य, वैयक्तिक प्रयत्न और महत्त्वाकांक्षाएं बेकार हैं। यह स्पष्ट है कि भौतिकवादका विरोध करते वक्त उसके सामने सिर्फ़ यांत्रिक भौतिकवाद था। वैज्ञानिक भौतिक-वाद जिस प्रकार गुणात्मक परिवर्तन द्वारा बिल्कुल नवीन वस्तुके उत्पादनको मानता है, और परिस्थितिके अनुसार बदलती किन्तु और भी बढ़ती जिम्मे-वारियोंको अज्ञान और भयके आधारपर नहीं बल्कि और भी ऊँचे तलपर—ज्ञानके प्रकाशमें—मनुष्य होनेका नाता मानता है, और उसकेलिए बड़ीसे बड़ी कुर्बानी करनेकेलिए आदमीको तैयार करता है इससे स्पष्ट है, कि वह "आचारिक जिम्मेवारियों"की उपेक्षा नहीं करता; किन्तु "आचा-रिक जिम्मेवारियों"से यदि जेम्सका अभिप्राय पुराने आर्थिक स्वार्थों और

उसपर आश्रित समाजके ढाँचेको कायम रखनेसे मतलब है, तो निश्चय ही वह इस तरहकी जिम्मेवारीको उठानेकेलिए तैयार नहीं है। शायद, जेम्सको यदि पिछला महायुद्ध—और खासकर वर्त्तमान युद्ध—देखनेका मौका मिला होता, तो वह अच्छी तरह समझ लेता कि सामाजिक स्वार्थकी अवहेलना करते अन्धी वैयक्तिक लिप्सा—जिसे कर्म-स्वातंत्र्य, प्रयत्न, महत्त्वाकांक्षा आदि जो भी नाम दिया जावे—मानवको कितना नीचे ले जा सकती है।

(१) **प्रभाववाद**[1]—जेम्सके दिलमें साइंसके प्रयत्नों, उसकी गवेषणाओं और सच्चाइयोंके प्रति बहुत सम्मान था, इसलिए वह कोरे मस्तिष्ककी कल्पनाओं या विज्ञानवादको महत्त्व नहीं दे सकता था। उसका कहना था, किसी वाद, विश्वास या सिद्धान्तकी सच्चाईकी कसौटी वह **प्रभाव** या व्यावहारिक परिणाम जो हमपर या जगत्पर पड़ता दिखाई पड़ता है। **प्रभावपर** जोर देनेके ही कारण जेम्सके दर्शनको **प्रभाववाद**[1] भी कहते हैं।

(२) **ज्ञान**—ज्ञान एक साधन है, वह जीवनकेलिए है, जीवन ज्ञानकेलिए नहीं है। सच्चा ज्ञान या विचार वह है, जिसे हम हजम कर सकें, यथार्थ साबित कर सकें, और जिसकी परीक्षा कर सकें।

यह कहना ठीक नहीं है, कि जो कुछ बुद्धिपूर्वक है, वह वस्तु-सत् है। जो कुछ **प्रयोग या अनुभवमे सिद्ध** है, वह वस्तु-सत् है। अनुभवसे हमें सिर्फ़ उसी अनुभवको लेना चाहिए, जो कि कल्पनासे मिश्रित नहीं किया गया, जो शुद्धता और मौलिक निर्दोषितासे युक्त है। वस्तु-सत् वह शुद्ध अनुभव है, जो मनुष्यकी कल्पनासे बिल्कुल स्वतंत्र है, उसकी व्याख्या बहुत मुश्किल है। यह वह वस्तु है, जो कि अभी-अभी अनुभवमें घुस रही है, किन्तु अभी उसका नामकरण नहीं हुआ है; अथवा, यह अनुभवमें कल्पनारहित[2] ऐसी आदिम उपस्थिति है, जिसके बारेमें अभी कोई श्रद्धा

---

[1] Pragmatism.

[2] "**कल्पना-अपोढ**"—**दिङ्नाग और धर्मकीर्ति**।

या विश्वास उत्पन्न नहीं हो पाया है; जिसपर कोई मानवी कल्पना चिपकाई नहीं गई है।

(३) **आत्मा नहीं**—मानसी वृत्तियों और कायाको मिलानेवाले माध्यम—आत्मा—का मानना बेकार है, क्योंकि वहाँ ऐसे स्वतंत्र तत्त्व नहीं हैं, जिनको मिलानेकेलिए किसी तीसरे पदार्थकी जरूरत हो। **वास्तविकता**, एक अंशमें हमारी वेदनाओं[1]का निरन्तर चला आता प्रवाह है, जो आते और विलीन होते जरूर हैं, किन्तु आते कहाँसे हैं, इसे हम नहीं जानते; दूसरे अंशमें वह वे संबंध है, जो कि हमारी वेदनाओं या मनमें उनके प्रतिबिंबोंके बीच पाये जाते हैं; और एक अंशमें वह पहिलेकी सच्चाइयाँ हैं।

(४) **सृष्टिकर्त्ता . . . . नहीं**—प्रकट घटनाओंके पीछे कोई छिपी हुई **वस्तु नहीं** है, **वस्तु-अपने-भीतर** (वस्तुसार), **परमतत्व, अज्ञेय** कल्पनाके सिवा कोई हस्ती नहीं रखते। यह बिलकुल फजूल बात है, कि हम मौजूद स्पष्ट वास्तविकताकी व्याख्या करनेकेलिए एक ऐसी कल्पित वास्तविकताका सहारा लें, जिसको हम ख्यालमें भी नहीं ला सकते, यदि हम खुद अपने अनुभवसे ही निकले कल्पित नियमोंका सहारा न लें। मनसे परे भी सत्ता है, इसे जेम्स इन्कार नहीं करता था लेकिन साथ ही; शुद्ध आदिम अनुभवको वह मनःप्रसूत नहीं बल्कि वस्तु-सत् मानता था—आदिकालीन तत्त्व ही विकसित हो चेतनाके रूपमें परिणत होते हैं।

(५) **द्वैतवाद**—जेम्सका उग्र प्रभाववाद द्वैतवादके पक्षमें था—अनुभव हमारे सामने बहुता, भिन्नता, विरोधको उपस्थित करता है। वहाँ न हमें कहीं पता मिलता है कूटस्थ विश्वका, नहीं परमतत्त्व (=ब्रह्म)-वादियों अद्वैतियोंके उस पूर्णतया संगठित परस्पर स्नेहबद्ध जगत्-प्रबंधका, जिसमें कि सभी भेद और विरोध एक मत हो जायें। अद्वैतवाद, हो सकता है, हमारी ललित भावनाओं और चमत्कार-प्रिय भावुकताओंको अच्छा मालूम हो; किन्तु

[1]Sensations.

वह हमारी चेतना-संबंधी गुत्थियोंको सुलझा नहीं सकता; बल्कि बुराइयों (=पाप)के संबंधकी एक नई समस्या ला खड़ा करता है—अद्वैत शुद्धतत्त्वमें आखिर जीवनकी अशुद्धताएं, शुद्ध अद्वैत विश्वमें विषमताएं—क्रूरताएं कहाँसे आ पड़ीं ? अद्वैतवाद इस प्रश्नके हल करनेमें असमर्थ है, कि कूटस्थ एकरस अद्वैत तत्त्वमें परिवर्त्तन क्यों होता है। सबसे भारी दोष अद्वैत-वादमें है, उसका भाग्यवादी (=नियतिवादी) होना—वह एक है, उसकी एक इच्छा है, वह एकरस है, इसलिए उसकी इच्छा—भविष्य—नियत है। इसके विरुद्ध द्वैतवाद प्रत्यक्षसिद्ध घटनाके प्रवाहकी सत्ताको स्वीकार करता है, उसकी तथता (=जैसा-है-वैसेपन)का समर्थक है, और, कार्य-कारण संबंध (=परिवर्त्तन)या इच्छा-स्वातंत्र्य (=कर्म-स्वातंत्र्य)की पूर्णतया संगत व्याख्या करता है—द्वैतवादमें परिवर्त्तन, नवीनताकेलिए स्थान है।

(६) **ईश्वर**—जेम्स भी उन्नीसवीं सदीके कितने ही उन दब्बू, अधि-कारारूढ़-वर्गसे भयभीत दार्शनिकोंमें है, जो एक वक्त सत्यसे प्रेरित होकर बहुत आगे बढ़ जाते हैं, फिर पीछे छूट गये अपने सहकर्मियोंकी उठती अँगु-लियोंको देखकर "किन्तु, परन्तु" करने लगते हैं। जेम्सने कान्टके वस्तु-अपने-भीतर, स्पेन्सरके अज्ञेय, हेगेल्के तत्त्वको इन्कार करनेमें तो पहिले साहस दिखलाया; किन्तु फिर भय खाने लगा कि कहीं "सभ्य" समाज उसे नास्तिक, अनीश्वरवादी न समझ ले। इसलिए उसने कहना शुरू किया—**ईश्वर** विश्वका एक अंग है, वह सहानुभूति रखनेवाला शक्तिशाली मददगार है, तथा महान् सहचर है। वह हमारे ही स्वभावका एक चेतन, आचार-परायण व्यक्तित्वयुक्त सत्ता है, उसके साथ हमारा समागम हो सकता है, जैसा कि कुछ अनुभव (यकायक भगवानसे वार्तालाप, या श्रद्धासे रोगमुक्ति) सिद्ध करते हैं।—तो भी यह ईश्वरवादी मान्यताएं पूर्णतया सिद्ध नहीं की जा सकतीं, लेकिन यही बात किसी दर्शनके बारेमें भी कही जा सकती है।—किसी दर्शनको पूर्णतया सिद्ध नहीं किया जा सकता, प्रत्येक दर्शन श्रद्धा करनेकी चाहपर निर्भर है। श्रद्धाका सार

या समझ महसूस करना नहीं है, बल्कि वह है चाह—उस बातके विश्वास करनेकी चाह, जिसे हम साइंसके प्रयोगों द्वारा न सिद्ध कर सकते और न खंडित कर सकते हैं।

उत्तरार्ध

४—भारतीय दर्शन

४. भारतीय दर्शन

चतुर्दश अध्याय

प्राचीन ब्राह्मण-दर्शन (१०००–६०० ई० पू०)

हम बतला चुके हैं कि दर्शन मानव मस्तिष्कके बहुत पीछेकी उपज है। यूरोपमें दर्शनका आरंभ छठीं सदी ईसा पूर्वमें होता है। भारतीय दर्शनका आरंभ-समय भी करीब-करीब यही है, यद्यपि उसकी स्वप्न चेतना वेदके सबसे पिछले मंत्रोंमें मिलती है, जो ईसा पूर्व दसवीं सदीके के आस-पास बनते रहे।

प्राकृतिक मानव जब अपने अज्ञान एवं भयका कारण तथा सहारा ढूंढने लगा, तो वह देवताओं और धर्म तक पहुँचा। जब सीधे-सादे धर्म-देवता-संबंधी विश्वास उसकी विकसित बुद्धिको सन्तुष्ट करनेमें असमर्थ होने लगे, तो उसकी उड़ान दर्शनकी ओर हुई। प्राकृतिक मानवको यात्राके आरंभसे धर्म तक पहुँचनेमें भी लाखों वर्ष लगे थे, जिससे मालूम होता है कि मनुष्यकी सहज बुद्धि प्रकृतिके साथ-साथ रहना ज्यादा पसन्द करती है। शायद धर्म और दर्शनको उतनी सफलता न हुई होती।। यदि मानव समाज अपने स्वार्थके कारण वर्गोंमें विभक्त न हुआ होता। वर्ग-स्वार्थको जगत्‌की परिवर्त्तनशीलता द्वारा परिचालित सामाजिक परिवर्तनसे जबर्दस्त खतरा रहता है, इसलिए उसकी कोशिश होती है कि परिवर्तित होते जगत्‌में अपने-को अक्षुण्ण रक्खे। इन्हीं कारणोंसे पितृसत्ताक समाजने धर्मकी स्थायी बुनि-याद रक्खी, और प्राकृतिक शक्तियों एवं मृत-जीवित प्राणियोंके आतंकसे उठाकर उसे वैयक्तिक देवताओं और भूतोंके रूपमें परिणत किया। शोषक

वर्गकी शक्तिके बढ़नेके साथ अपने समाजके नमूनेपर उसने देवताओं की परम्परा और सामाजिक संस्थाओंकी कल्पना की। यूरोपीय दर्शनोंके इतिहासमें हम देख चुके हैं, कि कैसे विकासके साथ स्वतंत्र होती बुद्धिको घेरा बढ़ाते हुए लगातार रोक रखनेकी कोशिश की गई। लेकिन जब हम दर्शनके उस तरहके स्वार्थपूर्ण उपयोगके बारेमें सोचते हैं, तो उस वक्त यह भी ध्यानमें रखना चाहिए कि दर्शनकी आड़में वर्ग-स्वार्थको मजबूर करनेका प्रयत्न सभी ही दार्शनिक जान-बूझकर करते हैं यह बात नहीं है; कितने ही अच्छी नियत रखते भी आत्म-संमोहके कारण वैसा कर बैठते हैं।

§ १. वेद (१५००–१००० ई० पू०)

"मानव-समाज" में हम बतला आये हैं, कि किस तरह आर्योंके भारतमें आनेसे पूर्व सिन्धु-उपत्यकामें असीरिया (मसोपोतामिया) की समसामयिक एक सभ्य जाति रहती थी, जिसका सामन्तशाही समाज अफ़गानिस्तानमें दाखिल होनेवाले आर्योंके **जन**प्रभावित पितृसत्ताक समाजसे कहीं अधिक उन्नत अवस्थामें था। असभ्य लड़ाकू जन-युगीन जर्मनोंने जैसे सभ्य संस्कृत रोमनों और उनके विशाल साम्राज्यको ईसाकी चौथी शताब्दीमें परास्त कर दिया, उसी तरह इन आर्योंने सिन्धु-उपत्यकोंके नागरिकोंको परास्त कर वहाँ अपना प्रभुत्व १८०० ई० पू०के आसपास जमाया। यह वही समय था, जब कि—थोड़े ही अन्तरसे—पश्चिममें भी हिन्दी-यूरोपीय जातिकी दूसरी शाखा यूनानियोंने यूनानको वहाँके भूमध्यजातीय निवासियोंको हराकर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। यद्यपि एकसे देश या कालमें मानव प्रगतिकी समानताका कोई नियम नहीं है, तो भी यहाँ कुछ बातोंमें हिन्दी-यूरोपीय जातीय दोनों शाखाओं—यूनानियों और हिन्दियों—को हम दर्शन-क्षेत्रमें एक समय प्रगति करते देख रहे हैं; यद्यपि यह प्रगति आगे विषम गति पकड़ लेती है। हाँ, एक विशेषता ज़रूर है, कि समय बीतनेके साथ हिन्दी-आर्योंकी सामाजिक प्रगति रुक गई, जिससे उनके समाज-शरीरको सुखंडी मार गई। इसका यदि कोई महत्त्व है तो यही कि उनका समाज जीवित फोसील बन

गया, आज वह चार हजार वर्ष तककी पुरानी बेवकूफियोंका एक अच्छा म्यूज़ियम है, जब कि यूनानी समाज परिस्थितिके अनुसार बदलता रहा—आज जहाँ नव्य शिक्षित भारतीय भी वेद और उपनिषद्के ऋषियोंको ही अनन्तकाल तकके लिए दार्शनिक तत्त्वोंको सोचकर पहिलेसे रख देनेवाला समझते हैं; वहाँ आधुनिक यूरोपीय विद्वान अफलातूँ और अरस्तूको दर्शनकी प्रथम और महत्त्वपूर्ण ईटें रखनेवाले समझते हुए भी, आजकी दर्शन विचार-धाराके सामने उनकी विचारधाराको आरंभिक ही समझता है।

प्राचीन सिन्धु-उपत्यकाकी सभ्यताका परिचय वर्तमान शताब्दीके द्वितीयपादके आरम्भसे होने लगा है, जब कि मोहेनजो-डरो, और हड़प्पाकी खुदाइयोंमें उस समयके नगरों और नागरिक जीवनके अवशेष हमारे सामने आये। लेकिन जो सामग्री हमें वहाँ मिली है, उससे यही मालूम होता है, कि मेसोपोतामियाकी पुरानी सभ्य जातियोंकी भाँति सिन्धुवासी भी सामन्तशाही समाजके नागरिक जीवनको बिता रहे थे। वह कृषि, शिल्प, वाणिज्यके अभ्यस्त व्यवसायी थे। ताम्र और पित्तलयुगमें रहते भी उन्होंने काफ़ी उन्नति की थी। उनका एक सांगोपांग धर्म था, एक तरहकी चित्र-लिपि थी। यद्यपि चित्र-लिपिमें जो मुद्राएं और दूसरी लेख-सामग्री मिली है, अभी वह पढ़ी नहीं जा चुकी है; लेकिन दूसरी परीक्षाओंसे मालूम होता है कि सिन्धु-सभ्यता असुर और काल्दी सभ्यताकी समसामयिक ही नहीं, बल्कि उनकी भगिनी-सभ्यता थी, और उसी तरहके धर्मका ख्याल उसमें था। वहाँ लिंग तथा दूसरे देव-चिह्न या देव-मूर्तियाँ पूजी जाती थी, किन्तु जहाँतक दर्शनका संबंध है, इसके बारेमें इतना ही कहा जा सकता है कि सिन्धु-सभ्यतामें उसका पता नहीं मिलता। यदि वह होता तो आर्योंको दर्शनका विकास शुरूसे करनेकी जरूरत न होती।

१. आर्योंका साहित्य और काल

आर्योंका प्राचीन साहित्य वेद, जैमिनि (३०० ई०)के अनुसार मंत्र और ब्राह्मण दो भागोंमें विभक्त है। मंत्रोंके संग्रहको संहिता कहते हैं।

ऋग्, यजुः, साम, अथर्वकी अपनी-अपनी मंत्रसंहिताएं हैं, जो शाखाओं के अनुसार एकसे अधिक अब भी मिलती हैं। बहुत काल तक—बुद्ध (५६३-४८३ ई० पू०)के पीछे तक—ब्राह्मण (और दूसरे धर्मवाले भी) अपने ग्रंथोंको लिखकर नहीं कंठस्थ करके रखते थे; और इसमें शक नहीं, उन्होंने जितने परिश्रमसे वेदके छन्द, व्याकरण, उच्चारण और स्वर तकको कंठस्थ करके सुरक्षित रखा, वह असाधारण बात है। तो भी इसका मतलब यह नहीं कि आज भी मंत्र उसी रूपमें, शुद्धसे-शुद्ध छपी पोथीमें भी, मौजूद हैं। यदि ऐसा होता तो एक ही शुक्ल यजुर्वेद संहिताके माध्यन्दिन और काण्व शाखाके मंत्रोंमें पाठभेद न होता। आर्योंके विचारों, सामाजिक व्यवस्थाओं तथा आरंभिक अवस्थाकेलिए जो लिखित सामग्री मिलती है, वह मंत्र (=संहिता), ब्राह्मण, आरण्यक तीन भागोंमें विभक्त है। वैदिक साहित्य तथा कर्मकाण्डके संरक्षक ब्राह्मणोंके तत् तत् मतभेदोंके कारण अलग-अलग संप्रदाय हो गये थे, इन्हींको शाखा कहा जाता है। हर एक शाखाकी अपनी-अपनी अलग संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक थे; जैसे (कृष्ण) यजुर्वेदकी तैत्तिरीय शाखाकी तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण और तैत्तिरीय आरण्यक। आज बहुतसी शाखाओंके संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक लुप्त हो चुके हैं।

वेदोंमें सबसे पुरानी ऋग्वेद मंत्र-संहिता है। ऋग्वेदके मंत्रकर्ता ऋषियों में सबसे पुराने विश्वामित्र, वशिष्ठ, भारद्वाज, गोतम (=दीर्घतमा), अत्रि आदि हैं। इनमें कितने ही विश्वामित्र, वशिष्ठकी भाँति हैं समसामयिक परस्पर, और कुछमें एक दो पीढ़ियोंका अंतर है। अंगिराके पौत्र तथा बृहस्पतिके पुत्र भरद्वाजका समय[1] १५०० ई० पू० है। भारद्वाज उत्तर-पंचाल (=वर्तमान रुहेलखंड)के राजा दिवोदास्के पुरोहित थे। विश्वामित्र दक्षिण-पंचाल (=आगरा कमिश्नरीका अधिक भाग)से संबंद्ध थे। वशिष्ठका संबंध कुरु (=मेरठ और अम्बाला कमिश्नरियोंके अधिक भाग)-राजके

[1] देखिए मेरा "सांकृत्यायन-वंश।"

पुरोहित थे। सारा ऋग्वेद छै सात पीढ़ियोंके ऋषियोंकी कृति है, जैसा कि बृहस्पतिके इस वंशसे पता लगेगा—

(अंगिरा)
|
बृहस्पति (१५२० ई० पू०)
|
भरद्वाज (१५०० ई० पू०)
|
(विदथी)
|
नर (१४६० ई० पू०)
|
(संकृति १४४० ई० पू०)
|
गौरवीति (१४२० ई० पू०) (रन्तिदेव)

इनमें बृहस्पति, भारद्वाज, नर और गौरवीति ऋग्वेदके ऋषि हैं। बृहस्पतिसे गौरवीति (=सांकृत्यायनोंके एक प्रवर पुरुष) तक छै पीढ़ियाँ होती हैं। मैंने अन्यत्र[1] भारद्वाजका काल १५०० ई० पू० दिखलाया है, और पीढ़ीके लिए २० वर्षका औसत लेनेपर बृहस्पति (१५२० ई० पू०)से गौरवीति के समय (१४२० ई० पू०)के अंदर ही ऋषियोंने अपनी रचनाएं कीं। ऋषियोंकी परम्पराओंपर नजर करनेपर हम इसी नतीजेपर पहुँचते हैं कि ऋग्वेदका सबसे अधिक भाग इसी समय बना है। ब्राह्मणों और आरण्यकोंके बननेका समय इससे पीछे सातवीं और छठीं सदी ईसा पूर्व तक चला आता है। प्राचीन उपनिषदोंमें सिर्फ एक (ईश) मंत्र-संहिता (शुक्ल यजुर्वेद)का भाग (अन्तिम चालीसवाँ) अध्याय है; बाकी सातों ब्राह्मणोंके भाग हैं, या आरण्यकोंके।

---

[1] देखिए मेरा "सांकृत्यायनवंश।"

ऋग्वेद प्रधानतया कुरु, उत्तर-दक्षिण-पंचाल देशों अर्थात् आजकलके पश्चिमी युक्त-प्रान्तमें बना, जो कि आर्योंके भारतमें आगमनके बाद तीसरा बसेरा है—पहिला बसेरा मंज़िल काबुल और स्वात नदियोंकी उपत्यकाओं (अफ़गानिस्तान)में था, दूसरा सप्त-सिन्धु (पंजाब)में, और यह तीसरा बसेरा पश्चिमी युक्त-प्रान्त या यमुना-गंगा-रामगंगाकी मैदानी उर्वर उपत्यकाओंमें। इतना कहनेसे यह भी मालूम हो जायगा कि क्यों प्रयाग और सरस्वती (घाघर)के बीचके प्रदेशको पीछे बहुत पुनीत, अधिकांश तीर्थोंका क्षेत्र तथा आर्यावर्त्त कहा गया।

वेदसे आर्योंके समाजके विकासके बारेमें जो कुछ मिलता है, उससे जान पड़ता है कि "आर्यावर्त्त"में बस जानेके समय तक आर्योंमें कुरु, पाँचाल जैसे प्रभुताशाली सामन्तवादी राज्य कायम हो चुके थे; कृषि, ऊनी वस्त्र, तथा व्यापार खूब चल रहा था। तो भी पशुपालन—विशेषकर गोपालन, जो कि मांस, दूध, हल चलाना तीनोंकेलिए बहुत उपयोगी था—उनकी आर्थिक उपजका सबसे बड़ा ज़रिया था। चाहे सुवास्तु और सप्तसिंधुके समय—जो कि इससे तीन-चार सदी पहिले बीत चुका था—की ध्वनियाँ वहाँ कहीं-कहीं भले ही मिल जायें, किन्तु उनपर ऋग्वेद ज्यादा रोशनी नहीं डालता। इस समयके साहित्यसे यही पता लगता है, कि आर्यावर्त्तमें बसनेकी आरंभिक अवस्थामें उनके भीतर "वर्ण" या जातियाँ बनने जरूर लगी थीं, किन्तु अभी वह तरल या अस्थिर अवस्थामें थीं। अधिक शुद्ध रक्तवाले आर्य ब्राह्मण या क्षत्रिय थे। केवल विश्वामित्र ही राज-पुत्र (=क्षत्रिय) होते ऋषि नहीं हो गए, बल्कि ब्राह्मण भरद्वाजके पौत्रों सुहोत्र और शुनहोत्रकी अगली सारी सन्तानें क्रमशः कुरु और पंचालके क्षत्रिय शासक थीं। भरद्वाजके प्रपौत्र संकृतिका पुत्र रन्तिदेव भी राजा और क्षत्रिय था। इस प्रकार इस समय (=कुरु-पंचालकालमें) जहाँ तक ब्राह्मण क्षत्रियों—शासकों तथा पुरोहितों—का संबंध है, वर्ण-व्यवस्था कर्म पर निर्भर थी। ब्राह्मण क्षत्रिय हो सकता था और क्षत्रिय ब्राह्मण हो सकता था। आगे जिस वक्त राजाओंकी संरक्षकतामें पुश्तैनी पुरोहित—ब्राह्मण—तथा

ब्राह्मणोंके विधानके अनुसार क्षत्रिय आनुवंशिक योद्धा और शासक बनते जा रहे थे; उस वक्त भी सप्तसिन्धु तथा काबुल-स्वातमें ब्राह्मणादि भेद नहीं कायम हुआ। पूरबमें भी मल्ल-वज्जी आदि प्रजातंत्रोंमें भी यही हालत थी, यह हम अन्यत्र[1] बतला चुके हैं। इसी पुरोहित-शाहीके कारण इन देशोंके आर्योंको—जो रक्तमें "आर्यावर्त्त"के ब्राह्मण-क्षत्रियों (=आर्यों)से कहीं अधिक शुद्ध थे—व्रात्य (=पतित) कहा जाता था। किन्तु यह "क्रियाके लोप" या "ब्राह्मणके अदर्शनसे नहीं" था, बल्कि वहाँ वह अपने साथ लाई पुरानी व्यवस्थापर ज्यादा आरूढ़ रहना चाहते थे। आर्योंकि सामन्तवादके चरम विकासकी उपज ब्राह्मणादि भेदको मानना नहीं चाहते थे।

ऋग्वेदके आर्यावर्त्त (१५००-१००० ई० पू०)में, जैसा कि मैं अभी कह चुका, कृषि और गोपालन जीविकार्जनके प्रधान साधन थे। युक्त-प्रान्त अभी घने जंगलोंसे ढँका था, इसलिए उसके वास्ते वहाँ बहुत सुभीता भी था। उस वक्तके आर्योंका खाद्य रोटी, चावल, दूध, घी, दही, मांस—जिसमें गोमांस (बछड़ेका मांस, प्रियतम)—बहुप्रचलित खाद्य थे; मांस पकाया और भुना दोनों तरहका होता था। अभी मसाले और छौंक-बघाड़का बहुत जोर न था। गर्मागर्म सूप (मांसका रस) जो कि हिन्दी-युरोपीय जातिके एक जगह रहनेके समयका प्रधान पेय था, वह अब भी वैसा ही था।[2] सोम (=भाँग)का रस हिन्दी-ईरानी कालसे उनके प्रिय पानोंमें था, वह अब भी मौजूद था। पानके साथ नृत्य उनके मनोरंजनका एक प्रिय विषय था। देशवासी लोहार(=ताम्रकार), बढ़ई(=रथकार), कुम्हार अपने व्यवसायको करते थे। सूत (ऊनी) कातना और बुनना

---

[1] "वोल्गासे गंगा" पृष्ठ २१६-१८। [2] संकृतिके पुत्र दानी रन्तिदेवके दो सौ रसोइये, प्रतिदिन दो हजारसे अधिक गायोंके मांसको पकाकर भी, अतिथियोंसे विनयपूर्वक कहते थे—"सूपं भूयिष्टमश्नीध्वं नाद्य मांसं यथा पुरा।" महाभारत, द्रोण-पर्व ६७।१७,१८। शान्ति-पर्व २९।२८

प्रायः हर आर्यगृहमें होता था। ऊनी कपड़ोंके अतिरिक्त चमड़ेकी पोशाक भी पहनी जाती थी।

सिन्धुकी पुरानी सभ्यतामें मेसोपोतामिया और मिश्रकी भाँति वैयक्तिक देवता तथा उनकी प्रतिमाएं या संकेत भी बनते थे किन्तु आर्योंको वह पसन्द न थे—खासकर अपने प्रतियोगी सिन्धुवासियोंकी लिंगपूजाको घृणाकी दृष्टिसे देखते हुए, वह उन्हें "शिश्नदेवाः" कहते थे। आर्यावर्त्तीय आर्योंके देवता इन्द्र, वरुण, सोम, पर्जन्य आदि अधिकतर प्राकृतिक शक्तियाँ थे। उनके लिए बनी स्तुतियोंमें कभी-कभी हमें कवित्व-कलाका चमत्कार दिखाई पड़ता है, किन्तु वह सिर्फ कविताएं ही नहीं बल्कि भक्तकी भावपूर्ण स्तुतियाँ हैं। वायुकी स्तुति करते हुए ऋषि कहता है[1]—

"वह कहाँ पैदा हुआ और कहाँसे आता है ?
वह देवताओंका जीवनप्राण, जगत्‌की सबसे बड़ी सन्तान है।
वह देव जो इच्छापूर्वक सर्वत्र घूम सकता है।
उसके चलनेकी आवाजको हम सुनते हैं, किन्तु उसके रूपको नहीं।"

२. दार्शनिक विचार

(१) ईश्वर—ऋग्वेदके पुराने मंत्रोंमें यद्यपि इंद्र, सोम, वरुणकी महिमा ज्यादा गाई गई है, किन्तु उस वक्त किसी एक देवताको सर्वेसर्वा माननेका ख्याल नहीं था। ऋषि जब भी किसी देवताकी स्तुति करने लगता तन्मय होकर उसीको सब कुछ सभी गुणोंका आकर कहने लगता। किन्तु जब हम ऋग्वेदके सबसे पीछेके मंत्रों (दशम मंडल) पर पहुँचते हैं, तो वहाँ बहुदेववादसे एकदेववादकी ओर प्रगति देखते हैं। सभी जातियोंके देव-लोकमें उनके अपने समाजका प्रतिबिंब होता है। जहाँ आरंभकालमें देवता, पितृसत्ताक समाजके नेता पितरोंकी भाँति छोटे-बड़े शासक थे; वहाँ आगे नियंत्रित सामन्त या राजा बनते हुए, अन्तमें

[1] ऋग्वेद १०।१६८।३,४

वह निरंकुश राजा बन जाते हैं—निरंकुश जहाँ तक कि दूसरे देवव्यक्तियोंका संबंध है; धार्मिक, सामाजिक, नियमोंसे भी उन्हें निरंकुश कर देना तो न ब्राह्मणोंको पसन्द होता, न प्रभु वर्गको। प्रजाके अधिकार जब बहुत कम रह गए, और राजा सर्वेसर्वा बन गया, उसी समय (६००-५०० ई० पू०) "देव" राजाका पर्यायवाची शब्द बना।

देवावलीकी ओर अग्रसर होनेपर एक तो हम इस ख्यालको फैलते देखते हैं, कि ब्राह्मण एकही (उस देवताको) अग्नि, यम, सूर्य कहते हैं।[1] दूसरी ओर एकाधिकारको प्रकट करनेवाले प्रजापति, वरुण जैसे देवताओंको आगे आते देखते हैं। ब्रह्म (नपुंसकलिंग) व्यापार-प्रधान कालके उपनिषदोंमें चलकर यद्यपि देवताओंका देवता, एक अद्वितीय निराकार शक्ति बन जाता है; किन्तु जहाँ ऋग्वेदका ब्रह्मा (पुंलिंग) एक साधारण सा देवता है, वहाँ ब्रह्म (नपुंसक)का अर्थ भोजन, भोजनदान, सामगीत, अद्भुत शक्तिवाला मंत्र, यज्ञपूर्ति, गान-दक्षिणा, होता (पुरोहित)का मंत्रपाठ, महान् आदि मिलता है। प्रजापति ऋग्वेदके अन्तिमकालमें पहुँचकर महान् एकदेवता सर्वेश्वर बन जाता है; उसके क्रम विकास पर भी यदि हम गौर करें, तो वह पहिले प्रजाओंका स्वामी, एक विशेषण मात्र है। ऋग्वेदकी अन्तिम रचना दशम मंडलमें प्रजापतिके बारेमें कहा गया है[2]—

"हिरण्य-गर्भ (सुनहरे गर्भवाला) पहिले था, वह भूतका अकेला स्वामी मौजूद था।"

"वह पृथिवी और इस आकाशको धारण करता था, उस (प्रजापति) देवको हम हवि प्रदान करते हैं।"

वरुण तो भूतलके शक्तिशाली सामन्त राजाका एक पूरा प्रतीक था। और उसकेलिए यहाँ तक कहा गया—

---

[1] **"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।"**
ऋ० १।१६४।४६

[2] **ऋग् १०।१२**

"दो (आदमी) बैठकर जो आपसमें मंत्रणा करते हैं, उसे तीसरा राजा वरुण जानता है।"

(२) आत्मा—वैदिक ऋषि विश्वास रखते थे कि आत्मा (=मन) शरीरसे अलग भी अपना अस्तित्व रखता है। ऋग्वेदके एक मंत्र[1]में कहा गया है कि वह वृक्ष, वनस्पति, आन्तरिक्ष सूर्य आदिसे हमारे पास चली आये। वेदके ऋषि विश्वास करते थे कि इस लोकसे परे भी दूसरा लोक है, जहाँ मरनेके बाद सुकर्मा पुरुष जाता है, और आनन्द भोगता है। नीचे पातालमें नर्कका अन्धकारमय लोक है, जहाँ अधर्मी जाते हैं। ऋग्वेदमें मन, आत्मा और असु जीवके वाचक शब्द हैं, लेकिन आत्मा वहाँ आमतौरसे प्राणवायु या शरीरकेलिए प्रयुक्त हुआ है। वैदिक कालके ऋषि पुनर्जन्मसे परिचित न थे। शायद उनकी सामाजिक विषमताओंके इतने जबर्दस्त समालोचक नहीं पैदा हुए थे, जो कहते कि दुनियाकी यह विषमता—गरीबी-अमीरी, दासता-स्वामिता, जिससे चंदको छोड़कर बाकी सभी दु:खकी चक्कीमें पिस रहे हैं—सख्त सामाजिक अन्याय है, और उसका समाधान कभी न दिखाईदेनेवाले परलोकसे नहीं किया जा सकता। जब इस तरहके समालोचक पैदा हो गए, तब उपनिषत्-कालके धार्मिक नेताओंको पुनर्जन्मकी कल्पना करनी पड़ी—यहाँकी सामाजिक विषमता भी वस्तुत: उन्हीं जीवोंको लौटकर अपने कियेको भोगनेकेलिए है। जिस सामाजिक विषमताको लेकर समाजके प्रभुओं और शोषकोंके बारेमें यह प्रश्न उठा था; पुनर्जन्मसे उसी विषमताके द्वारा उसका समाधान—बड़े ही चतुर दिमागका आविष्कार था, इसमें सन्देह नहीं।

ऋग्वेदके बारेमें जो यहाँ कहा गया, वह बहुत कुछ साम और यजुर्वेद पर भी लागू है। ७५ मंत्रोंको छोड़ सामके सभी मंत्र ऋग्वेदसे लेकर यज्ञोंमें गानेकेलिए एकत्रित कर दिये गए हैं। (शुक्ल-) यजुर्वेद संहिताके भी बहुतसे मंत्र ऋग्वेदसे लिये गए हैं; और कितने ही नये मंत्र भी हैं।

---

[1] ऋग्वेद १०।५८

यजुर्वेद यज्ञ या कर्मकांडका मंत्र है, और इसीलिए इसके मंत्रोंको भिन्न-भिन्न यज्ञोंमें उनके प्रयोगके क्रमसे संगृहीत किया गया है। अथर्ववेद सबसे पीछेका वेद है। बुद्धके वक्त (५६३-४८३ ई०) तक वेद तीन ही माने जाते थे। सुपठित पंडित ब्राह्मणको उस वक्त "तीनों वेदोंका पारंगत"[1] कहा जाता था। अथर्ववेद "मारन-मोहन-उच्चाटन" जैसे तंत्र-मंत्रका वेद है।

(३) दर्शन—इस प्रकार जिसे हम दर्शन कहते हैं, वह वैदिक कालमें दिखलाई नहीं पड़ता। वैदिक ऋषि धर्म और देववादमें विश्वास रखते हैं। यज्ञो-दान द्वारा अब और मरनेके बाद भी, वह सुखी रहना चाहते थे। इस विश्वकी तहमें क्या है? इस चलके पीछे क्या कोई अचल शक्ति है? यह विश्व प्रारंभमें कैसा था? इन विचारोंका धुँधला सा आभास मात्र हमें ऋग्वेदके नासदीय सूक्त[1] और यजुर्वेदके अन्तिम अध्याय[2]में मिलता है। नासदीय सूक्तमें है—

"उस समय न सत् (=होना) था न अ-सत्।
न अन्तरिक्ष था न उसके परे व्योम था।
किसने सबको ढाँका था? और कहाँ? और किसके द्वारा रक्षित?
क्या वहाँ पानी अथाह था? ॥१॥
तब न मृत्यु था न अमर मौजूद;
रात और दिनमें वहाँ भेद न था।
वहाँ वह एकाकी स्वावलंबी शक्तिसे श्वसित था,
उसके अतिरिक्त न कोई था उसके ऊपर ॥२॥
अंधकार वहाँ आदिमें अँधेरेमें छिपा था;
विश्व भेदशून्य जल था।
वह जो शून्य और खालीमें छिपा बैठा है।

---

[1] "तिण्णं वेदानं पारगू"। ऋग् १०।१२९
[2] यजुः अध्याय ४० (ईश-उपनिषद्)।

वही एक (अपनी) शक्तिसे विकसित था ॥३॥
तब सबसे पहिली बार कामना उत्पन्न हुई;
जो कि अपने भीतर मनका प्रारंभिक बीज थी।
और ऋषियोंने अपने हृदयमें खोजते हुए,
अ-सत्‌में सत्‌के योजक संबंधको खोज पाया ॥४॥

× × ×

वह मूल स्रोत जिससे यह विश्व उत्पन्न हुआ,
और क्या वह बनाया गया या अकृत था,
(इसे) वही जानता या नहीं जानता है, जो कि उच्चतम द्यौलोकसे शासन करता है, जो सर्वदर्शी स्वामी है।" ॥७॥

यहाँ हम उन प्रश्नोंको उठते हुए, देखते हैं जिनके उत्तर आगे चलकर दर्शनकी बुनियाद कायम करते हैं। विश्व पहिले क्या था?—इसका उत्तर किसीने सत् अर्थात् वह सदासे ऐसा ही मौजूद रहा—दिया। किसीने कहा कि वह अ-सत्=नहीं मौजूद अर्थात् सृष्टिसे पहिले कुछ नहीं था। इस सूक्तके ऋषिने पहिले **वादके प्रतिवाद**का प्रतिवाद (प्रतिषेध) करके—"नहीं सत् था, नहीं असत्"—द्वारा अपने **संवाद**को पेश किया। उसने उस विश्वसे पहिलेकी शून्य अवस्थामें भी एक सत्ताकी कल्पनाकी, जो कि उस मृत-शून्य जगत्‌में भी सजीव थी। आरंभमें "विश्व भेद-शून्य जल था", यह उपनिषद्‌के "यह जल ही पहिले था"[1] का मूल है। **ऋषि**की इस जिज्ञासा और उत्तरसे पता लगता है, कि विश्वका मूल ढूँढ़ते हुए, वह कभी तो प्रकृतिके साथ चलना चाहता है, और थेल्‌की भाँति, किन्तु उससे कुछ सदियों पूर्व, जलको सबका मूल मानता है। दूसरी ओर प्रकृतिका तट छोड़ वह शून्यमें छलाँग मार एक रहस्यमयी शक्तिकी कल्पना करता है, जो कि उस "शून्य और खालीमें बैठी" है। अन्तमें रहस्यको और गूढ़ बनाते हुए, विश्वके सर्वदर्शी शासकके ऊपर विश्वके कृत या अकृत होने तथा उसके

[1] **"आप एव इदमग्र आसुः" बृहदारण्यक** ५।५।१

बारेमें जानने न जाननेका भार रखकर चुप हो जाता है। इस लंबी छलांगमें साहस भी है, साथ ही कुछ दूरकी उड़ानके बाद थकावटसे फिर घोंसलेकी ओर लौटना भी देखा जाता है। जो यही बतलाते हैं कि कवि (=ऋषि) अभी ठोस पृथ्वीको बिल्कुल छोड़नेकी हिम्मत नहीं रखता।

ईश-उपनिषद् यद्यपि संहिता (यजुर्वेद)का भाग है, तो भी वह काल और विचार दोनोंसे उपनिषद्-युगका भाग है, इसलिए उसके बारेमें हम आगे लिखेंगे।

§ २–उपनिषद् (७००-१०० ई० पू०)

क–काल

वैसे तो निर्णयसागर-प्रेस (बंबई)ने ११२ उपनिषदें छापी हैं, किन्तु यह बढ़ती संख्या पीछेके हिन्दू धार्मिक पंथोंके अपनेको वेदोक्त साबित करनेकी धुनकी उपज है। इनमें निम्न तेरहको हम असली उपनिषदोंमें गिन सकते हैं, और उन्हें कालक्रमसे निम्न प्रकार विभाजित किया जा सकता है—१. प्राचीनतम उपनिषदें (७०० ई० पू०)—

(१) ईश, (२) छंदोग्य, (३) बृहदारण्यक।

२. द्वितीयकालकी उपनिषदें (६००-५०० ई० पू०)—

(१) ऐतरेय, (२) तैत्तिरीय।

३. तृतीयकालकी उपनिषदें (५००-४०० ई० पू०)—

(१) प्रश्न, (२) केन, (३) कठ, (४) मुंडक, (५) मांडूक्य।

४. चतुर्थकालकी उपनिषदें (२००-१०० ई० पू०)—

(१) कौषीतकि, (२) मैत्री, (३) श्वेताश्वतर।

जैमिनिने वेदके मंत्र और ब्राह्मण दो भाग बतलाये हैं, यह हम कह चुके हैं। मंत्र सबसे प्राचीन भाग है, यह भी बतलाया जा चुका है। ब्राह्मणोंका मुख्य काम है, मंत्रोंकी व्याख्या करना, उनमें निहित या उनके पोषक आख्यानोंका वर्णन करना, यज्ञके विधि-विधान तथा उसमें मंत्रोंके प्रयोगको बतलाना। ब्राह्मणोंके ही परिशिष्ट आरण्यक हैं, जैसे (शुक्ल-)

यजुर्वेदके शतपथ (=सौ रास्तोंवाले) ब्राह्मणका अन्तिम भाग वृहदारण्यक-उपनिषद्, एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण उपनिषद् है। लेकिन सभी आरण्यक-उपनिषद् नहीं हैं; हाँ, किन्हीं-किन्हीं आरण्यकोंके अन्तिम भागमें उपनिषद् मिलती हैं—जैसे ऐतरेय-उपनिषद् ऐतरेय-आरण्यकका और तैत्तिरीय उपनिषद् तैत्तिरीय-आरण्यकके अन्तिम भाग हैं। ईश-उपनिषद्, यजुर्वेद-संहिता (मंत्र)के अन्तमें आती है, दूसरी उपनिषदें प्रायः किसी न किसी ब्राह्मण या आरण्यकके अन्तमें आती हैं, और ब्राह्मण खुद जैमिनिके अनुसार वेदके अन्तमें आते हैं, आरण्यक ब्राह्मणके अन्तमें आते हैं, यह बतला चुके हैं। इन्हीं कारणोंसे उपनिषदोंको पीछे वेदान्त (=वेदका अन्त, अन्तिम भाग) कहा जाने लगा।

वैसे उपनिषद् शब्दका अर्थ है पास बैठकर गुरुद्वारा अधिकारी शिष्यको बतलाया जानेवाला रहस्य। ईशको छोड़ देनेपर सबसे पुरानी उपनिषदें छांदोग्य और बृहदारण्यक गद्यमें हैं, पीछेकी उपनिषदें केवल पद्य या गद्यमिश्रित पद्यमें हैं।

ख—उपनिषद्-संक्षेप

उपनिषद्के ज्ञात और अज्ञात दार्शनिकोंके आपसमें विचार भिन्नता रखते हैं। उनमें कुछ आरुणि और उसके शिष्य याज्ञवल्क्यकी भाँति एक तरहके अद्वैती विज्ञानवादपर जोर देते हैं, दूसरे द्वैतवादपर जोर देते हैं, तीसरे शरीरके रूपमें ब्रह्म और जगत्की अद्वैतताको स्वीकार करते हैं। उपनिषद् इन दार्शनिकोंके विचारोंके उनकी शिष्य-परंपरा और शाखा-परंपरा द्वारा अपूर्ण रूपसे याद करके रखे गये संग्रह हैं; किन्तु, इस संग्रहमें न दार्शनिककी प्रधानता है, न द्वैत या अद्वैतकी; बल्कि किसी वेदकी शाखामें जो अच्छे-अच्छे दार्शनिक हुए, उनके विचारोंको वहाँ एक जगह जमाकर दिया गया। ऐसा होना जरूरी भी था, क्योंकि प्रत्येक ब्राह्मणको अपनी शाखाके मंत्र, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् (, कल्प, व्याकरण)का पढ़ना (=स्वाध्याय) परम कर्त्तव्य माना जाता था।

उपनिषद्के मुख्य विषय हैं, लोक, ब्रह्म, आत्मा (=जीव,) पुनर्जन्म, मुक्ति—जिनके बारेमें हम आगे कहेंगे। यहाँ हम मुख्य उपनिषदोंका संक्षेपमें परिचय देना चाहते हैं।

१. प्राचीनतम उपनिषदें (७०० ई० पू०)

(१) **ईश-उपनिषद्**—ईश-उपनिषद् यजुर्वेद-संहिताका अन्तिम (चालीसवाँ) अध्याय है, यह बतला आये हैं। यह अठारह पद्योंका एक छोटा सा संग्रह है। चूँकि इसका प्रथम पद्य (मंत्र) शुरू होता है "ईशावास्य"से इसलिए इसका नाम ही **ईश** या **ईशावास्य** उपनिषद् पड़ गया। इसमें वर्णित विषय है, ईश्वरकी सर्वव्यापकता, कार्य करनेकी अनिवार्यता, व्यवहार-ज्ञान (अविद्या)मे परमार्थ ज्ञान (=ब्रह्म-विद्या)की प्रधानता, ज्ञान और कर्मका समन्वय। प्रथम मंत्र बतलाता है—

"यह सब जो कुछ जगतीमें जगत् है, वह ईशसे व्याप्त है; अतः त्यागके साथ भोग करना चाहिए। दूसरेके धनका लोभ मत करो।"

वैयक्तिक सम्पत्तिका ख्याल उस वक्त तक इतना पवित्र और दृढ़ हो चुका था, साथ ही धनी-गरीब, कमकर-कामचोरकी विषमता, इतनी बढ़ चुकी थी, कि उपनिषद्-कर्ता अपने पाठकके मनमें तीन बातोंको बैठा देना चाहता है—(१) ईश सब जगह बसा हुआ है, इसलिए किसी "बुरे" कामके करते वक्त तुम्हें इसका ध्यान और ईशसे भय खाना चाहिए; (२) भोग करो, यह कहना बतलाता है कि अभी वैराग्य बिना नकेलके ऊँटकी भाँति नहीं छूट पड़ा था; जीवनकी वास्तविकता और उसके लिए जरूरी भोग-सामग्री अभी हेय नहीं समझी गई थी। हाँ, वैयक्तिक सम्पत्तिके ख्यालसे भी यह जरूरी था कि निर्धन कमकर वर्ग "भोग करो" का अर्थ स्वच्छन्द-भोगवाद न समझ ले, इसलिए उनपर नियंत्रण करनेके लिए त्यागपर भी जोर दिया गया। और (३) अंतमें मंत्रकर्ताने वैयक्तिक सम्पत्तिकी पवित्रताकी रक्षाके लिए कहा—"दूसरेके धनका लोभ मत करो।" उस कालके वर्ग-युक्त (शोषक-शोषित निठल्ले-कमकर) समाजकेलिए इस

मन्त्रका यही अर्थ था; यद्यपि व्यक्तियोंमेंसे कुछकेलिए इसका अर्थ कुछ बेहतर भी हो सकता था, क्योंकि यहाँ त्यागके साथ भोगकी बात उठाई गई थी। लेकिन उसकेलिए बहुत दूर तक खींच-तान करनेकी गुंजाइश नहीं है। ईशके व्याप्त होने तथा दूसरेके धनको न छूनेकी शिक्षा समर्थ है, वहाँ भय पैदा करनेकेलिए जहाँ राजदंड भी असमर्थ है। आजके वर्ग-समाजकी भाँति उस कालके वर्गसमाजके शासन- यंत्र (= राज्य)का प्रधान कर्तव्य था, वर्ग-स्वार्थ—शोषण और वैयक्तिक सम्पत्ति—की रक्षा करना। मंत्रकर्त्ताने अपनी प्रथम और अन्तिम शिक्षाओंसे राज्यके हाथोंको मजबूत करना चाहा। यदि ऐसा न होता, तो आजसे भी अत्यन्त दयनीय दशावाले दास-दासियों (जिन्हें बाजारोंमें ले जाकर सौदेकी तरह बेंचा-खरीदा जाता था) और काम करते-करते मरते रहते भी खाने-कपड़ेको मुहताज कम्मियोंकी ओर भी ध्यान देना चाहिए था। ऐसा होनेपर कहना होता—"जगतीमें जो कुछ है, वह ईशकी देन, सबके लिए समान है, इसलिए मिलकर भोग करो, ईशके उस धनमें लोभ मत करो।"[1]

उपनिषद्-कालके आरंभ तक आर्योंके ऊपरी वर्ग—शासक, पुरोहित वर्ग—में भोग और विलास-प्रधान जीवन उस सीमा तक पहुँच गया था; जहाँ समाजकी भीतरी विषमता, अन्दर-अन्दर कुढ़ते उत्पीड़ित वर्गके मूक रोष, और शोषकोंकी अपने-अपने लोभकी पूर्तिकेलिए निरन्तर होते पारस्परिक कलह, शोषक धनिक वर्गको भी सुखकी नींद सोने नहीं देते, और हर जगह शंका एवं भय उठते रहते हैं। इन सबका परिणाम होता है, निराशावाद और अकर्मण्यता। राज्य और धर्म द्वारा शासन करनेवाले वर्गको अकर्मण्यतासे हटानेकेलिए दूसरे मंत्रमें कहा गया है—

"यहाँ काम करते ही हुए सौ वर्ष जीनेकी इच्छा रक्खो।

---

[1] ईशदत्तं इदं सर्वं यत् किंच जगत्यां जगत्।
तेन समाना भुंजीथा मा गृधः तस्य तद्धनम्॥

(बस) यही और दूसरा (रास्ता) तुम्हारे लिए नहीं, नरमें कर्म नहीं लिप्त होता।" उपनिषद्कार स्वयं, यज्ञोंके व्यर्थके लम्बे-चौड़े विधिविधानके विरुद्ध एक नई धारा निकालनेवाले थे[1]—"यज्ञके ये कमज़ोर बेड़े हैं।.. इसे उत्तम मान जो अभिनन्दन करते हैं, वे मूढ़ फिर-फिर बुढ़ापे और मृत्युके शिकार बनते हैं। अविद्याके भीतर स्वयं वर्त्तमान (अपनेको) धीर और पंडित माननेवाले....मूढ़ (उसी तरह) भटकते हैं, जैसे अंधे द्वारा लिये जाये जाते अंधे। इष्ट (=यज्ञ) और पूर्त्त (=परार्थ किए जानेवाले कूप, तालाब) निर्माण आदि कर्मको सर्वोत्तम मानते हुए (उससे) दूसरेको (जो) अ-मूढ़ अच्छा नहीं समझते, वे स्वर्गके ऊपर सुकर्मको अनुभव कर इस हीनतर लोकमें प्रवेश करते हैं।"

उपनिषद्की प्रतिक्रियासे कर्मकांडके त्यागकी जो हवा उठी, उसके कारण नेतृवर्ग कहीं हाथ-पैर ढीला कर मैदान न छोड़ भागे, इसीलिए कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीते रहनेकी इच्छा करनेका उपदेश दिया गया।

(२) छान्दोग्य उपनिषद् (७०० ई० पू०); (क) संक्षेप—छान्दोग्य और बृहदारण्यक न सिर्फ़ आकार हीमें बड़ी उपनिषदें हैं, बल्कि काल और प्रथम प्रयासमें भी बहुत महत्त्व रखती हैं। छान्दोग्यके प्रधान दार्शनिक उद्दालक आरुणि (गौतम)का स्थान यदि सुक्रातका है, तो उनके शिष्य याज्ञवल्क्य वाजसनेय उपनिषद्का अफलातूँ है। हम इन दोनों उपनिषदोंके इन दोनों दार्शनिकों तथा कुछ दूसरोंपर भी आगे लिखेंगे, तो भी इन उपनिषदोंके बारेमें यहाँ कुछ संक्षेपमें कह देना जरूरी है।

बृहदारण्यककी भाँति छांदोग्य पुरानी और संधिकालीन उपनिषद् है, इसीलिए कर्मकांड-प्रशंसाको इसने छोड़ा नहीं है। बल्कि पहिले दूसरे अध्याय तो उपनिषद् नहीं ब्राह्मणका भाग होने लायक है। उपनिषद्के सामवेदी होनेसे सामगान और ओम्की महिमा इन अध्यायोंमें गाई गई है।

---

[1] मुंडक० १।२।७-११

हाँ, प्रथम अध्यायके अंतमें दाल रोटीके लिए "हावु" "हावु" (=सामगान-का अलाप) करनेवाले पुरोहितोंका एक दिलचस्प मज़ाक किया गया है। बक दाल्भ्य—जिसका दूसरा नाम ग्लाव मैत्रेय भी था—कोई ऋषि था। वह वेदपाठकेलिए किसी एकांत स्थानमें रह रहा था। उस समय एक सफेद कुत्ता वहाँ प्रकट हुआ। फिर कुछ और कुत्ते आगये और उन्होंने सफेद कुत्तेसे कहा कि हम भूखे हैं, तुम साम गाओ, शायद इससे हमें कुछ भोजन मिल जाये। सफेद कुत्तेने दूसरे दिन आनेकेलिए कहा। दाल्भ्यने कुत्तोंकी बात सुनी थी। वह भी सफेद कुत्तेके सामगानको सुननेकेलिए उत्सुक था। दूसरे दिन उसने देखा कि कुत्ते आगे-पीछे एक की पूँछ दूसरेके मुँहमें लिए बैठकर गा रहे थे—'हिं ! ओम्, खावें, ओम्, पीयें, ओम्, देव हमें भोजन दें। हे अन्न देव ! हमारे लिए अन्न लाओ, हमारे लिए इसे लाओ, ओम्।" इस मज़ाकमें सामगायक पेटके लिए यज्ञके वक्त एकके पीछे एक दूसरे अगलोंका वस्त्र पकड़े हुए पुरोहितोंके साम-गायनकी नकल उतारी गई है।

तीसरे अध्यायमें आदित्य (=सूर्य)को देव-मधु बतलाया गया है। **चौथे** अध्यायमें रैक्व, सत्यकाम जाबाल और सत्यकामके शिष्य उपकोसल-की कथा और उपदेश हैं। **पाँचवें** अध्यायमें जैवलि और अश्वपति कैकेय (राजा)के दर्शन हैं। **छठे** अध्यायमें उपनिषद्के प्रधान ऋषि आरुणिकी शिक्षा है, और यह अध्याय सारे छांदोग्यका बहुत महत्त्वपूर्ण भाग है। शतपथ ब्राह्मणसे पता लगता है कि आरुणि बहुत प्रसिद्ध ऋषि तथा याज्ञवल्क्यके गुरु थे। **सातवें** अध्यायमें सनत्कुमारके पास जाकर नारदके ब्रह्मज्ञान सीखनेकी बात है। **आठवें** तथा अंतिम अध्यायमें आत्माके साक्षात्कारकी युक्ति बतलाई गई है।

(ख) ज्ञान—छांदोग्य कर्मकांडसे नाता तोड़नेकी बात नहीं करता, बल्कि उसे ज्ञानकांडसे पुष्ट करना चाहता है; जैसा कि इस उद्धरणसे मालूम होगा[1]—

---

[1] छांदोग्य ५।१९-२४

"प्राणके लिए स्वाहा। व्यान, अपान, समान, उदानके लिए स्वाहा। जो इसके ज्ञानके बिना अग्नि होम करता है, वह अंगारोंको छोड़ मानो भस्ममें ही होम करता है। जो इसे ऐसा जानकर अग्निहोत्र करता है, उसके सभी पाप (=बुराइयाँ) उसी तरह दूर हो जाते हैं, जैसे सरकंडेका घूआ आगमें डालनेपर। इसलिए ऐसे ज्ञानवाला चाहे चांडालको जूठ ही क्यों न दे, वह वैश्वानर-आत्मा (=ब्रह्म)में आहुति देना होता है।"

"विद्या और अविद्या तो भिन्न-भिन्न हैं। (किन्तु) जिस (कर्म)को (आदमी) विद्या (=ज्ञान)के साथ श्रद्धा और उपनिषद्के साथ करता है, वह ज्यादा मजबूत होता है।"[1]

मनुष्यकी प्रतिभा एक नये क्षेत्रमें उड़ रही थी, जिसके चमत्कारको देखकर लोग आश्चर्य करने लगे थे। लोगोंको आश्चर्य-चकित होनेको ये दार्शनिक कम नहीं होने देना चाहते थे। इसलिए चाहते थे कि इसका ज्ञान कमसे कम आदमियों तक सीमित रहे। इसीलिए कहा गया है—

"इस ब्रह्मको पिता या तो ज्येष्ठ पुत्रको उपदेश करे या प्रिय शिष्यको। किसी दूसरेको (हर्गिज) नहीं, चाहे (वह) इसे जल-सहित धनसे पूर्ण इस (पृथ्वी)को ही क्यों न दे देवे, 'यही उससे बढ़कर है, यही उससे बढ़कर है।'

(ग) धर्माचार—छांदोग्यके समयमें दुराचार किसे कहते थे, इसका पता निम्न पद्यसे लगता है—

"सोनेका चोर, शराब पीने वाला, गुरु-पत्नीके साथ व्यभिचार करने वाला और ब्रह्महत्या करनेवाला, ये चार और इनके साथ (संसर्ग या) आचरण करनेवाले पतित होते हैं।"[2]

सदाचार तीन प्रकारके बतलाये गये हैं—[3]

"धर्मके तीन स्कन्ध (=वर्ग) हैं—यज्ञ, अध्ययन (=वेदपाठ) और दान। यह पहिला तप ही दूसरा (स्कन्ध है), ब्रह्मचर्य (रख) आचार्य-

---

[1] छांदोग्य १।१।१० [2] वहीं ५।१०।६ [3] वहीं, २।२३।१

कुलमें बसना—आचार्यके कुलमें अपनेको अत्यन्त छोटा करके (रहना)। ये सभी पुण्य लोक (वाले) होते हैं। (जो) ब्रह्ममें स्थित है वह अमृतत्व (मुक्ति) को प्राप्त होता है।"

(घ) **ब्रह्म**—ब्रह्मको ज्ञानमय चिह्नों या प्रतीकोंमें उपासना करनेकी बात छांदोग्यमें सबसे ज्यादा आई है। इनके बारेमें सन्देह उठ सकते थे कि यह ब्रह्मकी उपासनाएं हैं या जिन प्रतीकों—आदित्य, आकाश आदिकी उपासना करने—को कहा गया है। वहां अलग-अलग देखना है। और उसी रूपमें उनकी उपासना करनेको कहा गया है। बादरायणने अपने वेदान्त-सूत्रोंके काफ़ी भागको इसीकी सफाईमें खर्च किया है, यह हम आगे देखेंगे। इन उपासनाओंमेंसे कुछ इस प्रकार हैं—

(a) **दहर**—हृदयके क्षुद्र (=दहर) आकाशमें ब्रह्मकी उपासना करनेकेलिए कहा गया है—[1]

"इस ब्रह्मपुर (=शरीर)में जो दहर (=क्षुद्र) पुंडरीक (=कमल) गृह है। इसमें भीतर (एक) दहर आकाश है, उसके भीतर जो है, उसका अन्वेषण करना चाहिए, उसकी ही जिज्ञासा करनी चाहिए।.... जितना यह (बाहरी) आकाश है, उतना यह हृदयके भीतरका आकाश है। दोनों द्यु (नक्षत्र)-लोक और पृथ्वी उसीके भीतर एकत्रित हैं—दोनों अग्नि और वायु, दोनों सूर्य और चन्द्रमा, दोनों बिजली-तारे और इस विश्वका जो कुछ यहां है तथा जो नहीं, वह सब इसमें एकत्रित है।"

(b) **भूमा**—सुखकी कामना हर एक मनुष्यमें होती है। ऋषिने सुखको ही प्राप्त करनेका प्रलोभन दे, भारी (भूमा)-सुखकी ओर खींचते हुए कहा—

"जब सुख पाता है तब (उसके लिए प्रयत्न) करता है। अ-सुखको प्राप्तकर नहीं करता; सुखको ही पाकर करता है। सुखकी ही जिज्ञासा करनी चाहिए।...जो कि भूमा (=बहुत) है वह सुख है, थोड़ेमें सुख नहीं होता।

---

[1] छां० ८।१।१-३

भूमाकी ही जिज्ञासा करनी चाहिए। जहाँ (=ब्रह्ममें) न दूसरेको देखता, न दूसरेको सुनता, न दूसरेका विजानन करता (जानता), वह भूमा है। जहाँ दूसरेको देखता, सुनता, विजानन करता है, वह अल्प है। जो भूमा है वह अमृत है, जो अल्प है वह मर्त्य (=नाशमान)। 'हे भगवन्! वह (=भूमा) किसमें स्थित है।' 'अपनी महिमामें या (अपनी) महिमामें नहीं।' गाय-घोड़े, हाथी-सोने, दास-भार्या, खेत-घरको यहाँ (लोग) महिमा कहते हैं। मैं ऐसा नहीं कह रहा हूँ। वही (=भूमा ब्रह्म) नीचे वही ऊपर, वही पश्चिम, वही पूरब, वही दक्षिण, वही उत्तरमें है; वही यह सब है।... वह (=ज्ञानी) इस प्रकार देखते, इस प्रकार मनन करते और इस प्रकार विजानन करते आत्माके साथ रति रखनेवाला, आत्माके साथ क्रीड़ा और आत्माके साथ जोड़ीदारी रखनेवाला, आत्मानंद स्वराड् (=अपना राजा) होता है, वह इच्छानुसार सारे लोकोंमें विचरण कर सकता है।"[1]

इसी भाँति आकाश[2], आदित्य[3], प्राण[4], वैश्वानरआत्मा[5], मनु[6], ज्योति[7] आदिको भी प्रतीक मानकर ब्रह्मोपासनाकी शिक्षा दी गई है।

(क) सृष्टि—विश्वके पीछे कोई अद्भुत शक्ति काम कर रही है, और वह अपनेको बिलकुल छिपाए हुए नहीं है, बल्कि विश्वकी हर एक क्रिया उसीके कारण दृष्टिगोचर हो रही है उसी तरह जैसे कि शरीरमें जीवकी क्रिया देखी जाती है; लेकिन वस्तुओंके बनने-बिगड़नेसे मानवके मनमें यह भी ख्याल पैदा होने लगा कि इस सृष्टिका कोई आरम्भ भी है, और आरम्भ है तो उसके पहिले कुछ था भी या बिलकुल कुछ नहीं था। इसका उत्तर इस तरह दिया गया है—

"हे सौम्य (प्रिय)! यह पहिले एक अद्वितीय सद् (=भावरूप) ही था। उसीको कोई कहते हैं—'यह पहिले एक अद्विती असद् (=अभाव

[1] छां० ७।२२-२५
[2] वहीं १।९।१; ७।१२।१
[3] वहीं ३।१९।१-३
[4] वहीं १।११।५;
[5] वहीं ५।१८।१;
[6] वहीं ८।४।१-२
[7] वहीं ३।१३
[8] वहीं ६।२।१-४

रूप) ही था। इसलिए अ-सत्से सत् उत्पन्न हुआ।' लेकिन, सोम्य! कैसे ऐसा हो सकता है—'कैसे अ-सत्से सत् उत्पन्न होगा।' सोम्य! यह पहिले एक अद्वितीय सद् ही था। उसने ईक्षण (=इच्छा) किया—'मैं बहुत हो प्रकट होऊँ।' उसने तेज (=अग्नि)को सिरजा। उस तेजने ईक्षण किया...., उसने जलको सिरजा...उस जलने...अन्नको सिरजा।"

इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि (१) यहाँ उपनिषत्कार असत्से सत्की उत्पत्ति नहीं मानता, अर्थात् वह एक तरहका **सत्यकार्यवादी** है; (२) भौतिक तत्त्वोंमें आदिम या मूलतत्त्व तेज (=अग्नि) है।

(च) मन (a) भौतिक—मन आत्मासे अलग और भौतिक वस्तु है, इसी ख्यालसे यहाँ हम **मन**को अन्नसे बना सुनते हैं—[1]

"खाया हुआ अन्न तीन तरहका बनता (=परिणत होता) है। उसका जो स्थूल धातु (=सत्त्व) है, वह पुरीष (=पायखाना) बनता है, जो बिचला वह मांस और जो अतिसूक्ष्म वह मन (बनता है)।....सोम्य! मन अन्नमय है।....सोम्य! दहीको मथनेपर जो सूक्ष्म (अंश है) वह ऊपर उठ आता है; वह मक्खन (=सर्पिः) बनता है। इसी तरह सोम्य! खाये जाते अन्नका जो सूक्ष्म अंश है, वह ऊपर उठ आता है, वह मन बनता है।

(b) सुप्तावस्था—इन आरंभिक विचारकोंके लिए गाढ़ निद्रा और स्वप्नकी अवस्थायें बहुत बड़ा रहस्य ही नहीं रखती थी, बल्कि इनसे उनके आत्मा-परमात्मा संबंधी विचारोंकी पुष्टि होती जान पड़ती थी। इसीलिए बृहदारण्यकमें कहा गया—[2]

"जब वह सुषुप्त (=गाढ़ निद्रामें सोया) होता है तब (पुरुष) कुछ नहीं महसूस (=वेदना) करता। **हृदय**से पुरीतत[3]की ओर जानेवाली

---

[1] छां० ६।५,६ [2] बृह० २।१।१९

[3] **पुरीतत हृदयके पास अथवा पृष्ठ-वंशमें अवस्थित किसी चक्र को कहते थे, जहाँ स्वप्न और गाढ़-निद्रामें जीव चला जाता है।**

७२ हजार हिता नामवाली नाड़ियाँ हैं। उनके द्वारा (वहाँ) पहुँचकर पुरीततमें वह सोता है, जैसे कुमार (बच्चा) या महाराजा या महा ब्राह्मण आनन्दकी पराकाष्ठाको पहुँच सोये, वैसे ही यह सोता है।"

इसी बातको छांदोग्यने इन शब्दोंमें कहा है—[1]

"जहाँ यह सुप्त अच्छी तरह प्रसन्न हो स्वप्नको नहीं जानता, उस वक्त इन्हीं (=हिता नाड़ियों)में वह सोया होता है।"

इसीके बारेमें[2]—

"उद्दालक आरुणिने (अपने) पुत्र श्वेतकेतुको कहा—'स्वप्नके भीतर (की बातको) समझो। . . . . जैसे सूतसे बँधा पक्षी दिशा दिशामें उड़कर दूसरी जगह स्थान न पा, बंधन(-स्थान)का ही आश्रय लेता है। इसी तरह सोम्य! वह मन दिशा-दिशामें उड़कर दूसरी जगह स्थान न पा प्राणका ही आश्रय लेता है। सोम्य! मनका बंधन प्राण है।"

सुषुप्ति (=गाढ़ निद्रा)में आदमी स्वप्न भी नहीं देखता, इस अवस्थाको आरुणि ब्रह्मके साथ समागम मानते हैं।[3]

"जब यह पुरुष सोता है (=स्वपिति), उस समय सोम्य! वह सत् (=ब्रह्म)के साथ मिला रहता है। 'स्व-अपीति' (=अपनेको मिला) होता है, इसीलिए इसे 'स्वपिति' कहते हैं।"

जब हम रोज इस तरह ब्रह्म-मिलन कर रहे हैं, किन्तु इसका ज्ञान और लाभ(=मुक्ति) हमें क्यों नहीं मिलती, इसके बारेमें कहा है—[4]

"जैसे क्षेत्रका ज्ञान न रखनेवाले छिपी हुई सुवर्ण निधिके ऊपर ऊपर चलते भी उसे नहीं पाते, इसी तरह यह सारी प्रजा (=प्राणी) रोज-रोज जाकर भी इस ब्रह्मलोकको नहीं प्राप्त करती, क्योंकि वह अनृत (=अ-सत्य, अज्ञान)से ढँकी हुई है।"

(छ) मुक्ति और परलोक—इन प्रारंभिक दार्शनिकोंमें जो अद्वैतवादी भी हैं, उन्हें भी उन अर्थोंमें हम अद्वैती नहीं ले सकते, जिनमें कि

---

[1] छां० ८।६।३; [2] वहीं ६।८।१,२ [3] वहीं ६।८।१ [4] वहीं ८।३।२

बर्कले या शंकरको समझते हैं। क्योंकि एक तो वे शंकरकी भाँति पृथिवी और पार्थिव भोगोंका सर्वथा अपलाप करनेकेलिए तैयार नहीं हैं, दूसरे धर्मके विरुद्ध अभी इतने स्वतंत्र विचार नहीं उठ खड़े हुए थे कि वह सीधे किसी बातको दो टूक कह देते; अथवा अभी मनुष्यका ज्ञान इतना विकसित नहीं हुआ था कि रास्तेके झाड़-झंखाड़ोंको उखाड़ते हुए, वह अपना सीधा रास्ता लेते। निम्न उद्धरणमें मुक्तिको इस प्रकार बतलाया गया है, जैसे वहाँ मुक्त आत्मा और ब्रह्मका भेद बिलकुल नहीं रहता—

"जैसे सोम्य! मधुमक्खियाँ मधु बनाती हैं, नाना प्रकारके वृक्षोंके रसोंसे संचय कर एक रसको बनाती हैं। जैसे वहाँ वह (मधु आपसमें) फर्क नहीं पाती—'मैं अमुक वृक्षका रस हूँ, मैं अमुक वृक्षका रस हूँ', ऐसे ही सोम्य! यह सारी प्रजा सत्‌में प्राप्त हो नहीं जानती—'हमने सत्‌को प्राप्त किया'।"[1]

यहाँ सुषुप्तिकी अवस्थाको लेकर मधुके दृष्टान्तसे अभेद बतलानेकी कोशिश की गई है, किन्तु उस अभेदसे ऋषिका अभिप्राय आत्माकी अत्यन्त समानता तथा ब्रह्मका शुद्ध शरीर होना ही अभिप्रेत मालूम होता है। जैसा कि निम्न उद्धरण बतलाता है[2]—

"जो यहाँ आत्माको न जानकर प्रयाण करते (=मरते) हैं, उनका सारे लोकोंमें स्वेच्छापूर्वक विचरण नहीं होता। जो यहाँ आत्माको जानकर प्रयाण करते हैं उनका सारे लोकोंमें स्वेच्छापूर्वक विचरण होता है।"

मुक्त पुरुषका मरकर स्वेच्छापूर्वक विचरण यही बतलाता है कि यहाँ विचारकको मुक्तिमें अपने अस्तित्वका खोना अभिप्रेत नहीं है। छान्दोग्यने इसे और साफ करते हुए कहा है[3]—

"जिस जिस चान (=अन्न) की वह कामनावाला होता है, जिस जिसकी कामना करता है, संकल्पमात्रसे ही (वह) उसके पास उपस्थित

[1] छां० ६।६।१०; [2] वहीं ८।१।६ [3] वहीं ८।२।१०

होता है, वह उसे प्राप्त कर महान् होता है।"

ब्रह्म-ज्ञान प्राप्तकर जीवित रहते मुक्तावस्थामें—

"जैसे कमलके पत्तेमें पानी नहीं लगता, इसी तरह ऐसे ज्ञानीको पाप-कर्म नहीं लगता।"

'पापकर्म नहीं लगता' यह वाक्य सदाचारकेलिए घातक भी हो सकता है, क्योंकि इसका अर्थ 'वह पापकर्म नहीं कर सकता' नहीं है।

मुक्तके पाप क्षीण हो जाते हैं इसके बारेमें और भी कहा है[1]—

"घोड़ा जैसे रोयेंको (झाड़ हो), ऐसे ही पापोंको झाड़कर, चंद्र जैसे राहुके मुखसे छूटा, हो शरीरको झाड़कर कृतार्थ (हो), वैसे ही मैं ब्रह्मलोकको प्राप्त होता हूँ।"

(a) **आचार्य**—मुक्तिकी प्राप्तिमें ज्ञानकी अनिवार्यता है, ज्ञानके लिए आचार्य जरूरी है। इसी अभिप्रायको इस वाक्यमें कहा गया है[2]—

"जैसे सोम्य ! एक पुरुषको गंधार (देश)से आँख बाँधे लाकर उसे जहाँ बहुत जन हों उस स्थानमें छोड़ दें। जैसे वह वहाँ पूरब पश्चिम ऊपर उत्तर चिल्लाये—'आँख बाँधे लाया आँख बाँधे (मुझे) छोड़ दिया।' जैसे उसकी पट्टी खोलकर (कोई) कहे—'इस दिशामें गंधार है, इस दिशाको जा।' वह (एक) गाँवसे (दूसरे) गाँवको पूछता पंडित मेधावी (पुरुष) गंधारमें ही पहुँच जाये। उसी तरह यहाँ आचार्यवाला पुरुष (ब्रह्मको) जानता है। उसकी उतनी ही देर है, जब तक विमोक्ष नहीं होता, फिर तो (वह ब्रह्मको) प्राप्त होगा।"

(b) **पुनर्जन्म**—भारतीय प्राचीन साहित्यमें छांदोग्य ही ने सबसे पहिले पुनर्जन्म (=परलोकमें ही नहीं इस लोकमें भी कर्मानुसार प्राणी जन्म लेता है)की बात कही। शायद उस वक्त प्रथम प्रचारकोंने यह न सोचा हो कि जिस सिद्धान्तका वह प्रचार कर रहे हैं, वह आगे कितना खतरनाक साबित होगा, और वह परिस्थितिके अनुसार बदलनेकी क्षमता रखनेवाली

---

[1] छां० ८।१३।१　　[2] छां० ६।१४।१-२

शक्तियोंको कुंठितकर, समाजको प्रवाहशून्य नदीका गँदला पानी बना छोड़ेगा। मरकर किसी दूसरे चंद्र आदि लोकमें जा भोग भोगना, सिर्फ यहाँके कष्ट पीड़ित जनोंको दूरकी आशा देता है। जिसका भी अभिप्राय यही है कि यहाँ सामाजिक विषमताने जो तुम्हारे जीवनको तलख कर रखा है, उसके लिए समाजमें उथल-पुथल लानेकी कोशिश न करो। इसी लोकमें आकर फिर जनमना (=पुनर्जन्म) तो पीड़ित वर्गकेलिए और खतरनाक चीज है। इसमें यही नहीं है कि आजके दुःखोंको भूल जाओ; बल्कि साथ ही यह भी बतलाया गया है कि यहाँ की सामाजिक विषमताएं न्याय्य हैं; क्योंकि तुम्हारी ही पिछले जन्मकी तपस्याओं (=दुःखों अत्याचारपूर्ण वेदनाओं)के कारण संसार ऐसा बना है। इस विषमताके बिना तुम अपने आजके कष्टोंका पारितोषिक नहीं पा सकते। पुनर्जन्मके संबंधमें वह सर्व-पुरातन वाक्य है[1]—

"सो जो यहाँ रमणीय (=अच्छे) आचरण वाले हैं, यह जरूरी है कि वह रमणीय योनि—ब्राह्मण-योनि, या क्षत्रिय-योनि, या वैश्य-योनि—को प्राप्त हों। और जो बुरे (=आचार वाले) हैं, यह जरूरी है कि वह बुरी योनि—कुत्ता-योनि, सूकर-योनि, या चांडाल-योनिको प्राप्त हों।"

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यको यहाँ मनुष्य-योनिके अन्तर्गत न मानकर उन्हें स्वतंत्र योनिका दर्जा दिया है, क्योंकि मनुष्य-योनि माननेपर समानता का सवाल उठ सकता था। **पुरुष सूक्त**के एक ही शरीरके भिन्न-भिन्न अंगकी बातको भी यहाँ भुला दिया गया, क्योंकि यद्यपि वह कल्पना भी सामाजिक अत्याचारपर पर्दा डालनेकेलिए ही गढ़ी गई थी, तो भी वह उतनी दूर तक नहीं जाती थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यको स्वतंत्र योनिका दर्जा इसीलिए दिया गया, जिसमें सम्पत्तिके स्वामी इन तीनों वर्णोंकी वैयक्तिक सम्पत्ति और प्रभुताको धर्म (=कर्म-फल) द्वारा न्याय्य बतलाया जाये, और वैयक्तिक सम्पत्तिके संरक्षक राज्यके हाथको धर्म द्वारा दृढ़ किया जाये।

---

[1] छां० ५।१०।७

(c) **पितृयान**—मरनेके बाद सुकर्मी जैसे अपने कर्मोंका फल भोगने केलिए लोकान्तरमें जाते हैं, इसे यहाँ पितृयान (=पितरोंका मार्ग) कहा गया है। उसपर जानेका तरीका इस प्रकार है—

"जो ये ग्राममें (रहते) इष्ट-आपूर्त्त (=यज्ञ, परोपकारके कर्म), दानका सेवन करते हैं। वह (मरते वक्त) धूएंसे संगत होते हैं। धूएंसे रात, रातसे अपरे (=कृष्ण) पक्ष, अपर पक्षसे छै दक्षिणायन मासोंको प्राप्त होते हैं...। मासोंसे पितृलोकको, पितृलोकसे आकाशको, आकाशसे चंद्रमाको प्राप्त होते हैं। वहाँ (=चन्द्रलोकमें) संपात (=मियाद)के अनुसार निवासकर फिर उसी रास्तेसे लौटते हैं—जैसे कि (चंद्रमासे) इस आकाशको, आकाशसे वायुको, वायु हो धूम होता है, धूम हो बादल होता है, बादल हो मेघ होता है, मेघ हो बरसता है। (तब) वे (लौटे जीव) धान, जौ, औषधि, वनस्पति, तिल-उड़द हो पैदा होते हैं....जो जो अन्न खाता है, जो वीर्य सेचन करता है, वह फिरसे ही होता है।"[1]

यहाँ चन्द्रलोकमें सुख भोगना, फिर लौटकर पहिले उद्धृत वाक्यके अनुसार "ब्राह्मण-योनि", "क्षत्रिय-योनि"में जन्म लेना पितृयान है।

(d) **देवयान**—मुक्त पुरुष जिस रास्तेसे अंतिम यात्रा करते हैं, उसे देवयान या देवताओंका पथ कहते हैं। पुराने वैदिक ऋषियोंको कितना आश्चर्य होता, यदि वह सुनते कि देवयान वह है, जो कि उनको इन्द्र आदि देवताओंकी ओर नहीं ले जाता। देवयानवाला यात्री[2]—"किरणोंको प्राप्त होते हैं। किरणसे दिन, दिनसे भरते (=शुक्ल) पक्ष, भरते पक्षसे जो छै उत्तरायणके मास हैं उन्हें; (उन) मासोंसे संवत्सर, संवत्सरसे आदित्य, आदित्यसे चन्द्रमा, चन्द्रमासे विद्युत्को (प्राप्त होते हैं।) फिर अ-मानव पुरुष इन (देवयान-यात्रियों)को ब्रह्मके पास पहुँचाता है। यही देवपथ[3] ब्रह्मपथ है, इससे जानेवाले इस मानवकी लौटानमें नहीं लौटते, नहीं लौटते।"

---

[1] छां० ५।१०।१-६ [2] छां० ४।१५।५-६ [3] आगे (छां० ५।१०।१-२में) इसे देवयान ("एष देवयानः पन्था") कहा है।

(ज) **अद्वैत**—मुक्ति और उसके रास्तेका जो वर्णन यहाँ दिया गया है, उससे स्पष्ट है, कि छांदोग्यके ऋषि जीवात्मा और ब्रह्मके भेदको पूर्णतया मिटानेको तैयार नहीं थे; तो भी वह बहुत दूर तक इस दिशामें जाते थे। यह इससे भी स्पष्ट है, कि शंकरने जिन चार उपनिषद् वाक्योंको अद्वैतका जबर्दस्त प्रतिपादक समझा, जिन्हें "महावाक्य" कहा गया, उनमें दो "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"[1] (=यह सब ब्रह्म ही है) और "तत्त्वमसि"[2] (=वह तू है) छान्दोग्य-उपनिषद्के हैं।

(झ) **लोक विश्वास**—वैदिक कर्मकांडसे लोगोंका विश्वास हटता जा रहा था, जब छांदोग्य ऋषि राजा जैवलि, और ब्राह्मण आरुणिने नया रास्ता निकाला। उन्होंने पुनर्जन्म जैसे विश्वासोंको गढ़कर दास, कर्मकर, आदि पीड़ित जनताकी बंधन-शृंखलाकी कड़ियोंको और भी मजबूत किया। भारतके बहुतसे आजकलके विचारक भी जाने या अनजाने उन्हीं कड़ियोंको मजबूत करनेकेलिए जैवलि, आरुणि, याज्ञवल्क्यकी दुहाई देते हैं—दर्शनपथके प्रथम पथिककी प्रशंसाके तौरपर नहीं, बल्कि उन्हें सर्वज्ञ जैसा बनाकर। वह कितने सर्वज्ञ थे, यह तो राहुके मुखमें चन्द्रमाके घुसने (=चंद्रग्रहण), तथा सूर्यलोकसे भी परे चन्द्रलोकके होनेकी बात ही से स्पष्ट है। इन विचारकोंकी नजरमें भौतिक साइंसकी यह भद्दी भूलसी मालूम होनेवाली गलतियाँ "सर्वज्ञता" पर कोई असर नहीं डालतीं; कसौटीपर कसकर देखने लायक ज्ञानमें भद्दी गलती कोई भले ही करे, किन्तु ब्रह्मज्ञानपर उसका निशाना अचूक लगेगा, यह तो यही साबित करता है कि ब्रह्मज्ञानके लिए अतिसाधारण बुद्धिसे भी काम चल सकता है।

चोरी या बुरे कर्मकी सजा देनेकेलिए जब गवाही नहीं मिल सकती थी; तो उसके साबित करनेके लिए दिव्य (शपथ) करनेका रवाज बहुतसे मुल्कोंमें अभी बहुत पीछे तक रहा है। आरुणिके वक्तमें यह अतिप्रचलित प्रथा थी, जैसा कि यह वाक्य बतलाता है[3]—

---

[1] छां० ३।१४।१ [2] छां० ६।८।७ [3] छान्दोग्य ६।१६।१-२

"सोम्य ! एक पुरुषको हाथ पकड़ कर लाते हैं—'चुराया है, सो इसके लिए परशु (=फरसे)को तपाओ।' अगर वह (पुरुष) उस (चोरी)का कर्त्ता होता है, (तो) उससे ही अपनेको झूठा करता है; वह झूठे दावेवाला झूठसे अपनेको गोपित कर तपे परशुको पकड़ता है, वह जलता है; तब (चोरीके लिए) मारा जाता है। और यदि वह उस (चोरी)का अ-कर्त्ता होता है, तो, उससे ही अपनेको सच कहता है, वह सच्चे दावेवाला सचसे अपनेको गोपित कर तपे परशुको पकड़ता है, वह नहीं जलता; तब छोड़ दिया जाता है।"

कोई समय था जब कि "दिव्य"के फरेबमें फँसाकर हजारों आदमी निरपराध जानसे मारे जाते थे, किन्तु, आज कोई ईमानदार इसकेलिए तैयार नहीं होगा। यदि 'दिव्य' सचमुच दिव्य था, तो सबसे जबर्दस्त चोरों—जो यह कामचोर तथा संपत्तिके स्वामी—"ब्राह्मण-, क्षत्रिय-, वैश्य-योनियाँ" हैं—के परखनेमें उसने क्यों नहीं करामात दिखलाई ?

छांदोग्यके अन्य प्रधान ऋषियोंके विचारोंपर हम आगे लिखेंगे।

(३) बृहदारण्यक (६०० ई० पू०)

(क) संक्षेप—बृहदारण्यक शुक्ल-यजुर्वेदके शतपथ ब्राह्मणका अन्तिम भाग तथा एक आरण्यक है। उपनिषद्के सबसे बड़े दार्शनिक या ज्ञ व ल्क्य के विचार इसीमें मिलते हैं, इसलिए उपनिषत्-साहित्यमें इसका स्थान बहुत ऊँचा है। याज्ञवल्क्यके बारेमें हम अलग लिखनेवाले हैं, तो भी सारे उपनिषद्के परिचयकेलिए संक्षेपमें यहाँ कुछ कहना जरूरी है। बृहदारण्यकमें छै अध्याय हैं, जिनमें द्वितीय तृतीय और चतुर्थ दार्शनिक महत्त्वके हैं। बाकीमें शतपथ ब्राह्मणकी कर्मकांडी धारा बह रही है। **पहिले** अध्यायमें यज्ञीय अश्वकी उपमासे **सृष्टिपुरुषका वर्णन है**, फिर मृत्यु सिद्धान्तका। **दूसरे** अध्यायमें तत्त्वज्ञानी काशिराज अ जा त श त्रु और अभिमानी ब्राह्मण गार्ग्यका संवाद है, जिसमें गार्ग्यका अभिमान चूर होता है, और वह क्षत्रियके चरणोंमें ब्रह्मज्ञान सीखनेकी इच्छा प्रकट करता है। द ध्य च् आथर्वणके विचार भी इसी अध्यायमें हैं। **तीसरे**

अध्यायमें याज्ञवल्क्यके दर्शन होते हैं। वह जनकके दरबारमें दूसरे दार्शनिकोंसे शास्त्रार्थ कर रहे हैं। **चौथे** अध्यायमें याज्ञवल्क्यका जनकको उपदेश है। **पांचवें** अध्यायमें धर्म-आचार तथा दूसरी कितनी ही बातोंका ज़िक्र है। **छठे** अध्यायमें याज्ञवल्क्यके गुरु (आरुणि)के गुरु प्रवाहण जैवलिके बारेमें कहा गया है। इसी अध्यायमें अच्छी सन्तानकेलिए साँड़, बैल आदिके मांस खानेकी गर्भिणीको हिदायत दी गई है, जो बतलाता है कि अभी ब्राह्मण-क्षत्रिय गोमांसको अपना प्रिय खाद्य मानते थे।

जिस तरह आजके हिन्दू दार्शनिक अपने विचारोंकी सच्चाईकेलिए उपनिषद्की दुहाई देते हैं, उसी तरह बृहदारण्यक उपनिषद् चाहता है, कि वेदोंका झंडा ऊँचा रहे। इसीलिए अपनी पुष्टिकेलिए कहता है[1]—

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वांगिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान "इस महान् भूत (=ब्रह्म)का श्वास है, इसीके ये सारे निःश्वसित हैं।"

इतना होनेपर भी वेद और ब्राह्मणोंके यज्ञादिसे लोगोंकी श्रद्धा उठती जा रही थी, इसमें तो शक ही नहीं। इस तरहके विचार-स्वातंत्र्यको खतरनाक न बनने देनेके प्रयत्नमें पुरोहित (=ब्राह्मण) जातिकी अपेक्षा शासक (=क्षत्रिय) जातिका हाथ काफी था. इसीलिए छान्दोग्यने कहा[2]—

"चूँकि तुझसे पहिले यह विद्या ब्राह्मणोंके पास नहीं गई, इसीलिए सारे लोकोंमें (ब्राह्मणका नहीं बल्कि सिर्फ) क्षत्र (=क्षत्रिय)का ही शासन हुआ।"

इसमें कौन सन्देह कर सकता है, कि राजनीति—खासकर वर्गस्वार्थवाली राजनीति—को चलानेकेलिए पुरोहितोंसे ज्यादा पैनी बुद्धि चाहिए। लेकिन समाजमें ब्राह्मणकी सबसे अधिक सम्माननीय अवस्थाको बृहदारण्यक समझता था। इसीलिए विद्याभिमानी ब्राह्मण गार्ग्य जब उशीनर

---

[1] बृ० २।४।१० [2] छां० ५।३।७

(=बहावलपुर के आसपासके प्रदेश)से मत्स्य (=जयपुर राज्य), कुरु (=मेरठके जिले), पंचाल (=रुहेलखंड आगरा कमिश्नरियाँ), काशी (=बनारसके पासका प्रदेश) विदेह (=तिरहुत, बिहार) में घूमता काशिराज अजातशत्रुके पास ब्रह्म उपदेश करने गया; और उसे आदित्य, चंद्रमा, विद्युत्, स्तनयित्नु (=बिजलीकी कड़क) वायु, आकाश, आग, पानी, दर्पण, छाया, प्रतिध्वनि, शब्द, शरीर, दाहिनी बाईं आँखोंमें पुरुषकी उपासना करनेको कहा, किन्तु अजातशत्रुके प्रश्नोंसे निरुत्तर हो गया;[1] तब भी काशिराजने विधिवत् शिष्य बनाए बिना ही गार्ग्यको उपदेश दिया[2]—

"अजातशत्रुने कहा—'यह उलटा है, जो कि (वह) मुझ ब्राह्मणको ब्रह्म बतलाएगा, इस ख्यालसे (ब्राह्मण) क्षत्रियका शिष्य बनने जाये। तुझे (ऐसे ही) मैं विज्ञापन करूँगा (=बतलाऊँगा)।' (फिर) उसे हाथमें ले खड़ा हो गया। दोनों एक सोये पुरुषके पास गये। उसे इन नामोंसे पुकारा—'बड़े, पीलेवस्त्रवाले, सोमराजा!' (किन्तु) वह न खड़ा हुआ। उसे हाथसे दबाकर जगाया, वह उठ खड़ा हुआ। तब अजातशत्रु बोला-'जब यह सोया हुआ था तब यह विज्ञानमय पुरुष (=जीव) कहाँ था? कहाँसे अब यह आया?' गार्ग्य यह नहीं समझ पाया। तब अजातशत्रुने कहा—'जहाँ यह सोया हुआ था...'....(उस समय यह) विज्ञानमय पुरुष.....हृदयके भीतर जो यह आकाश है उसमें सोया था।"

(ख) ब्रह्म—ब्रह्मके बारेमें याज्ञवल्क्यकी उक्ति हम आगे कहेंगे, हाँ द्वितीय अध्यायमें उसके बारेमें इस प्रकार कहा गया है—

"वह यह **आत्मा** सभी भूतों (प्राणियों)का राजा है, जैसे कि रथ (के चक्र)की नाभि और नेमि (=पुट्ठी)में सारे अरे समर्पित (=घुसे) होते हैं, इसी तरह इस आत्मा (=ब्रह्म)में सारे भूत, सारे देव, सारे लोक और सारे ये आत्मा (=जीवात्माएं) समर्पित हैं।"

---

[1] कौषीतकि ४।१-१६ [2] बृह० २।१५-१७

जगत् ब्रह्मका एक रूप है। पिथागोर और दूसरे जगत्को ब्रह्मका शरीर माननेवाले दार्शनिकोंकी भाँति यहाँ भी जगत्को ब्रह्मका एक रूप कहा गया, और फिर[1]—

"ब्रह्मके दो ही रूप हैं—मूर्त (=साकार) और अ-मूर्त (=निराकार), मर्त्य (=नाशमान) और अमृत (=अविनाशी)....।"

पुराने धर्म-विश्वासी ईश्वरको संसारमें पाये जानेवाले भले पुरुषोंके गुणों—कृपा, क्षमा आदिसे—युक्त, भावात्मक गुणोंवाला मानते थे; किन्तु, अब श्रद्धासे आगे बढ़कर विकसित बुद्धिके राज्यमें लोग घुस चुके थे; इसलिए उनको समझाने या अपने वादको तर्कसंगत बनाने एवं पकड़में न आनेकेलिए, ब्रह्मको अभावात्मक गुणोंवाला कहना ज्यादा उपयोगी थी। इसीलिए बृहदारण्यकमें हम पाते हैं[2]—

"(वह) न स्थूल, न सूक्ष्म (=अणु), न ह्रस्व, न दीर्घ, न लाल, न छाया, न तम, न संग-रस-गंधवाला, न आँख-कान-वाणी-मन-प्राण-मुखवाला, न आन्तरिक, न बाहरी, न वह किसीको खाता है, न उसे कोई खाता है।"

ब्रह्मके गुणोंका अन्त नहीं—"नेति नेति"[3] इस तरहका विशेषण भी ब्रह्मकेलिए पहिले-पहिल इसी वक्त दिया गया है।

(ग) सृष्टि—ऋग्वेदके नासदीय सूक्तकी कल्पनाको जारी रखते हुए बृहदारण्यक कहता है[4]—

"यह कुछ भी पहिले न था, मृत्यु (=जीवन-शून्यता), भूखसे यह ढँका हुआ था। भूख (=अशनाया) मृत्यु है। सो उसने मनमें किया—'मैं आत्मावाला (=सशरीर) होऊँ।' उसने अर्चन (=चाह) किया। उसके अर्चनेपर जल पैदा हुआ।....जो जलका सार था, वह बड़ा हुआ। वह पृथिवी हुई। उस (=पृथिवी) में श्रान्त हो (=थक) गया। श्रान्त तप्त उस (ब्रह्म) का जो तेज (-रूपी) रस बना, (वही) अग्नि (हुआ)।"

---

[1] बृह० २।३।१ [2] बृह० ३।८।८ [3] बृह० २।३।६
[4] बृह० १।२।१-२

यूनानी दार्शनिक थेल् (६४०-५५० ई० पू०) की भाँति यहाँ भी भौतिक तत्त्वोंमें सबसे प्रथम जलको माना गया है, पृथिवीका नंबर दूसरा और आगका तीसरा है।

दूसरी जगह सृष्टिका वर्णन इन शब्दोंमें किया गया है[1]—

"आत्माही यह पहिले पुरुष जैसा था। उसने नजर दौड़ाकर अपनेसे भिन्न (किसी) को नहीं देखा। (उसने) मैं हूँ (सोहं), यह पहिले कहा। इसीलिए 'अहं' नामवाला हुआ। इसीलिए आज भी बुलानेपर (=मैं) अहं पहले कहकर पीछे दूसरा नाम बोला जाता है।....वह डरा। इसीलिए (आज भी) अकेला (आदमी) डरता है।....'उसने दूसरेकी चाह की।' ....उसने (अपने) इसी ही आत्मा (=शरीर) का दो भाग किया, उससे पति और पत्नी हुए....।"

और भी[2]—

"ब्रह्मही यह पहिले था, उसने अपनेको जाना—'मैं ब्रह्म हूँ' उससे वह सब हुआ। तब देवताओंमेंसे जो-जो जागा, वह ही वह हुआ। वैसे ही ऋषियों और मनुष्योंमेंसे भी जो ऐसा जानता है—'मैं ब्रह्म हूँ' (=अहं ब्रह्मास्मि), वह यह सब होता है। और जो दूसरे देवताकी उपासना करता है—'वह दूसरा, मैं दूसरा हूँ', वह नहीं जानता, वह देवताओंके पशु जैसा है।"

आत्मा (=ब्रह्म) से कैसे जगत् होता है, इसकी उपमा देते हुए कहा है[3]—

"जैसे आगसे छोटी चिंगारियाँ (=विस्फुलिंग) निकलती हैं, इसी तरह इस आत्मा (=विश्वात्मा, ब्रह्म) से सारे प्राण (=जीव), सारे लोक, सारे देव, सारे भूत निकलते हैं।"

बृहदारण्यकके और दार्शनिक विचारकोंके बारेमें हम आगे याज्ञवल्क्य, आदिके प्रकरणमें कहेंगे।

---

[1] बृह० १।४।१-४ [2] बृह० १।४।१० [3] वहीं २।१।२०

२. द्वितीय कालकी उपनिषदें (६००-५०० ई० पू०)

ईश उपनिषद् संहिताका एक भाग है। छान्दोग्य, बृहदारण्यक, ब्राह्मणके भाग हैं, यही तीन सबसे पुरानी उपनिषदें हैं, यह हम बतला आए हैं। आगेकी आरण्यकोंवाली ऐतरेय और तैत्तिरीय उपनिषदोंने एक कदम और आगे बढ़कर संधिकालीन उपनिषदोंसे कुछ और स्पष्ट भाषामें ज्ञानका समर्थन और कर्मकांडकी अवहेलना शुरू की।

(१) ऐतरेय-उपनिषद्

ऐतरेय-उपनिषद् ऋग्वेदके ऐतरेय-आरण्यकका एक भाग है। ऐतरेय ब्राह्मण और आरण्यक दोनोंके रचयिता महिदास ऐतरेय थे। इस उपनिषद्के तीन भाग हैं। पहिले भागमें सृष्टिको ब्रह्मने कैसे बनाया, इसे बतलाया गया है। दूसरे भागमें तीन जन्मोंका वर्णन है, जो शायद पुनर्जन्मके प्रतिपादक अति प्राचीनतम वाक्योंमें है। अन्तिम भागमें प्रज्ञानवादका प्रतिपादन है।

(क) **सृष्टि**—विश्वकी सृष्टि कैसे हुई। इसके बारेमें महिदास ऐतरेयका कहना है[1]—

"यह आत्मा अकेला ही पहिले प्राणित (=जीवित) था, और दूसरा कुछ भी नहीं था। उसने ईक्षण किया (=मनमें किया)—'लोकोंको सिरजूँ।' उसने इन लोकों—जल, किरणों, . . को सिरजा। उसने ईक्षण किया कि 'ये लोकपालोंको सिरजे।' उसने पानीसे ही पुरुषको उठाकर कम्पित किया, उसे तपाया। तप्त करनेपर उसका मुख उसी तरह फूट निकला, जैसे कि अंडा। (फिर) मुखसे वाणी, वाणीसे आग, नाकमें नथने फूट निकले, नथनोंसे प्राण, प्राणसे वायु। आँखें फूट निकलीं। आँखोंसे चक्षु (-इन्द्रिय), चक्षुसे आदित्य (=सूर्य)। दोनों कान फूट निकले। कानोंसे श्रोत्र (-इन्द्रिय)। श्रोत्रसे दिशाएं। त्वक्

---

[1] ऐतरेय १।१-३

(=चमड़ा) फूट निकला। चमड़ेसे रोम, रोमोंसे ओषधि-वनस्पतियाँ। **हृदय** फूट निकला। हृदयसे मन, मनसे चन्द्रमा। **नाभि** फूट निकली। नाभिसे अपान(-वायु), अपानसे मृत्यु। **शिश्न** (=जननेन्द्रिय) फूट निकला। शिश्नसे वीर्य, वीर्यसे जल।.... (फिर) उस (पुरुष)के साथ भूख प्यास लगा दी।"

सृष्टिकी यह एक बहुत पुरानी कल्पना है, जिसे कि वर्णनकी भाषा ही बतला रही है। उपनिषत्कार एक ही वाक्यमें शरीर तथा उसकी इन्द्रियाँ, एवं विश्वके पदार्थोंकी भी रचना बतलाना चाहता है।—पानीसे मानुष शरीर और उसमें क्रमशः मुख आदिका फूट निकलना। किन्तु अभी ऋषि भौतिक विश्वसे पूर्णतया इन्कार नहीं करना चाहता, इसीलिए क्रम-विकासका आश्रय लेता है। उसे "कुन्, फ-यकुन" (=होजा, बस होगया) कहनेकी हिम्मत न थी।

(ख) प्रज्ञान (=ब्रह्म)—ज्ञान या चेतनाको ऋषिने यहाँ **प्रज्ञान** कहा है, जैसा कि उसके इस वचनसे मालूम होता है[1]—

"सं-ज्ञान, अ-आ-ज्ञान, विज्ञान, **प्रज्ञान,** मेधा, दृष्टि, धृति (=धैर्य), मति, मनीषा, जुति, स्मृति, संकल्प, क्रतु, असु (=प्राण), काम (=कामना), वश, ये सभी प्रज्ञानके नाम हैं।"

फिर चराचर जगत्को प्रज्ञानमय बतलाते हुए कहता है—

"यह (प्रज्ञान ही) ब्रह्मा है। यह इन्द्र .... (यही) ये पाँच महाभूत ... अंडज, जारुज, स्वेदज और उद्भिज, घोड़े, गाय, पुरुष, हाथी, जो कुछ चलने और उड़नेवाले प्राणी हैं, जो स्थावर हैं; वह सब प्रज्ञा-नेत्र हैं, प्रज्ञानमें प्रतिष्ठित हैं। लोक (भी) प्रज्ञा-नेत्र है, प्रज्ञा (सबकी) प्रतिष्ठा (=आधार)है। प्रज्ञान ब्रह्म है।"

प्रज्ञान या चेतनाको ऋषि सर्वत्र उसी तरह देख रहा है, लेकिन जगत्के पदार्थोंसे इन्कार करके प्रज्ञानको इस प्रकार देखना अभी नहीं हो रहा है;

[1] ऐतरेय ३।२

बल्कि जगत्‌के भीतरकी क्रियाओं और हर्कतोंको देखकर वह अपने समकालीन यूनानी दार्शनिकोंकी भाँति विश्वको सजीव समझकर वैसा कह रहा है।

(२) तैत्तिरीय-उपनिषद्

तैत्तिरीय-उपनिषद्, कृष्ण-यजुर्वेदके तैत्तिरीय आरण्यकका एक भाग है। इसके तीन अध्याय हैं, जिनमें ब्रह्म, सृष्टि, आनन्दकी-सीमा, आचार्यका शिष्यकेलिए उपदेश आदिका वर्णन है।

(क) ब्रह्म—ब्रह्मके बारेमें सन्देह करनेवालेको तैत्तिरीय कहता है—

"'ब्रह्म अ-सत् है' ऐसा जो समझता है, वह अपने भी असत् ही होता है। 'ब्रह्म सत् है' जो समझता है, उसे सन्त कहते हैं।"[1]

ब्रह्मकी उपासनाके बारेमें कहता है—

"'वह (ब्रह्म) प्रतिष्ठा है' ऐसे (जो) उपासना करे, वह प्रतिष्ठावाला होता है। 'वह मह है' ऐसे जो उपासना करे तो महान् होता है। 'वह मन है' ऐसे उपासना करे, तो वह मानवान् होता है....। 'वह....परि-मर है' यदि ऐसे उपासना करे तो द्वेष रखनेवाले शत्रु उससे दूर ही मर जाते हैं।"

इस प्रकार तैत्तिरीयकी ब्रह्म-उपासना अभी राग-द्वेषसे बहुत ऊँचे नहीं उठी है, और वह शत्रु-संहारका भी साधन हो सकती है। ब्रह्मकी उपासना और उसके फलके बारेमें और भी कहा है—

"वह जो यह हृदयके भीतर आकाश है। उसके अन्दर यह मनोमय अमृत, हिरण्मय (=सुनहला) पुरुष है। तालुके भी भीतरकी ओर जो यह स्तन सा (=क्षुद्र-घंटिका) लटक रहा है। वह इन्द्र (=आत्मा) की योनि (=मूलस्थान) है।....(जो ऐसी उपासना करता है) वह स्वराज्य पाता है, मनके पतिको पाता है। उससे (वह) वाक्-पति, चक्षु-पति, श्रोत्र-पति, विज्ञान-पति होता है। ब्रह्म आकाश-शरीरवाला है।"[2]

ब्रह्मको अन्तस्तम तत्त्व **आनन्दमय**-आत्मा बतलाते हुए कहा है[3]—

---

[1] तै० २।६ [2] तै० १।६।१-२ [3] वहीं २।२-५

"इस अन्न-रसमय आत्मा (शरीर)से भिन्न आन्तरिक आत्मा प्राणमय है, उससे यह (शरीर) पूर्ण है, और वह यह (=प्राणमय शरीर) पुरुष जैसा ही है।....उस इस प्राणमयसे भिन्न....मनोमय है, उससे यह पूर्ण है। वह यह (=मनोमय शरीर) पुरुष जैसा ही है।....उस मनोमयसे भिन्न विज्ञानमय(=जीवात्मा) है। उससे यह पूर्ण है....। उस विज्ञानमयसे भिन्न....**आनन्दमय**(=ब्रह्म) आत्मा है। उससे यह पूर्ण है। वह यह(=विज्ञानमय आत्मा) पुरुष जैसा ही है।"

यहाँ आत्मा शब्द शरीरसे ब्रह्मतकका वाचक है। आत्माका मूल अर्थ शरीर अभी भी चला आता था।—**अध्यात्ममें** 'शरीरके भीतर' यह अर्थ पुराने उपनिषदोंमें पाया जाता है, किन्तु धीरे-धीरे आत्मा शब्द शरीरका प्रतियोगी, उससे अलग तत्त्वका वाचक बन जाता है। **आनन्दमय** शब्द ब्रह्मका वाचक है, इसे सिद्ध करनेकेलिए बादरायणने सूत्र लिखा: "आनन्दमयोऽभ्यासात्"[1] (=आनन्दमय ब्रह्मवाचक है, क्योंकि वह जिस तरह दुहराया गया है, उससे वही अर्थ लिया जा सकता है)।

आनन्द ब्रह्मके बारेमें एक कल्पित आख्यायिकाका सहारा ले उपनिषत्कार कहता है—

"भृगु वारुणि(=वरुण-पुत्र) (अपने) पिता वरुणके पास गया (और बोला)—'भगवन्! (मुझे) ब्रह्म सिखलावें।' उसे (वरुणने) यह कहा। ....। 'जिससे यह भूत उत्पन्न होते (=जन्मते) हैं, जिससे उत्पन्न हो जीवित रहते हैं, जिसके पास जाते, (जिसके) भीतर समाते हैं। उसकी जिज्ञासा करो वह ब्रह्म है।'[2] उस(=भृगु)ने तप किया। तप करके 'अन्न ब्रह्म है' यह जाना। 'अन्नसे ही यह भूत जन्मते हैं, जन्म ले अन्नसे जीवित

---

[1] **वेदान्त-सूत्र १।१।..** तैत्तिरीय ३।१-६

[2] **अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा" (=अब यहाँसे ब्रह्मकी जिज्ञासा आरम्भ करते हैं), "जन्माद्यस्य यतः" (इस विश्वके जन्म आदि जिससे होते हैं), वेदान्तके प्रथम और द्वितीय सूत्र इसी उपनिषद्-वाक्यपर अवलंबित हैं।**

रहते हैं, अन्नमें जाते, भीतर घुसते हैं।' इसे जानकर फिर (अपने) पिता वरुणके पास गया—'भगवन्! ब्रह्म सिखायें।' उसको (वरुणने) कहा—'तपसे ब्रह्मकी जिज्ञासा करो, तप ब्रह्म है।'...उसने तप करके 'विज्ञान ब्रह्म है' यह जाना।....तप करके 'आनन्द ब्रह्म है' यह जाना।...."

भिन्न-भिन्न स्थानोंमें अवस्थित होते भी ब्रह्म एक है, इसके बारेमें कहा है—

"वह जो कि यह पुरुषमें, और जो वह आदित्यमें है, वह एक है।"[1]

ब्रह्म, मन वचनका विषय नहीं है—

"(जहाँ) बिना पहुँचे जिससे मनके साथ वचन लौट आते हैं, वही ब्रह्म है।"[2]

(ख) सृष्टिकर्त्ता ब्रह्म—ब्रह्मसे विश्वके जन्मादि होते हैं, इसका एक उद्धरण दे आए हैं। तैत्तिरीयके एक वचनके अनुसार पहिले विश्व अ-सत् (=सत्ताहीन, कुछ नहीं) था, जैसे कि—

"असत् ही यह पहिले था। उससे सत् पैदा हुआ। उसने अपनेको स्वयं बनाया। इसीलिए उसे (=विश्वको) सु-कृत (अच्छा बनाया गया) कहते हैं।"

ब्रह्मने सृष्टि कैसे बनाई?—

"उसने कामना की 'बहुत होऊँ, जन्माऊँ।' उसने तप किया। उसने तप करके यह जो कुछ है, इस सब (जगत्) को सिरजा। उसको सिरजकर फिर उसमें प्रविष्ट हो गया। उसमें प्रविष्टकर सत् और त्यत् (=वह) हो गया, व्याख्यात और अव्याख्यात, निलयन (=छिपनेकी जगह) और अ-निलयन, विज्ञान और अ-विज्ञान (अ-चेतन), सत्य और अ-नृत (=अ-सत्य) हो गया।"[3]

(ग) आचार्य-उपदेश—आचार्यसे शिष्यकेलिए अन्तिम उपदेश तैत्तिरीयने इन शब्दोंमें दिलवाया है—

---

[1] तै० २।८ [2] वहीं २।७ [3] वहीं २।६

"वेद पढ़ाकर आचार्य अन्तेवासी (=शिष्य) को अनुशासन (=उपदेश) देता है—सत्य बोल, धर्माचरण कर, स्वाध्यायमें प्रमाद न करना। आचार्यके केलिए प्रिय धन (=गुरु दक्षिणाके तौर पर) लाकर प्रजा-तन्तु (=सन्तान परंपरा)को न तोड़ना। देवों-पितरोंके काममें प्रमाद न करना। माता-को देव मानना, पिताको देव मानना, आचार्यको देव मानना, अतिथिको देव मानना। जो हमारे निर्दोष कर्म हैं, उन्हींको सेवन करना, दूसरोंको नहीं।"

३—तृतीय कालकी उपनिषदें (५००-४०० ई० पू०)

(१) प्रश्न-उपनिषद्

जैसा कि इसके नामसे ही प्रकट होता है, यह छै ऋषियोंके पिप्पलादके पास पूछे प्रश्नोंके उत्तरोंका संग्रह है।

प्रश्नमें निम्न बातें बतलाई गई हैं[1]—

(क) मिथुन (=जोड़ा) वाद—"भगवन्! यह प्रजाएं कहाँसे पैदा हुईं?"

"उसको (पिप्पलाद) ने उत्तर दिया—प्रजापति प्रजा (पैदा करने)की इच्छावाला (हुआ), उसने तप किया। उसने तप करके 'यह मेरे लिए बहुतसी प्रजाओंको बनायेंगे,' (इस ख्यालसे) मिथुन (=जोड़े)को उत्पन्न किया—रयि (=धन, भूत) और प्राण (=जीवन)को। आदित्य प्राण है, चंद्रमा रयि ही है. . . । संवत्सर प्रजापति है, उसके दक्षिण और उत्तर दो अयन हैं। . . . जो पितृयान (के छै मास) हैं, वही **रयि** हैं। . . . मास प्रजापति है, उसका कृष्णपक्ष रयि है, शुक्ल (=पक्ष) प्राण है। . . . दिन-रात प्रजापति है, उसका दिन प्राण है, रात रयि है।"

इस प्रकार प्रश्न उपनिषद्का प्रधान ऋषि पिप्पलाद विश्वको **दो दो** (=मिथुन) तत्त्वोंमें विभक्त कर उसे द्वैतमय मानता है; यद्यपि रयि और

[1] प्र० १।३-१३

प्राण दोनों मिलकर प्रजापतिके रूपमें एक हो जाते हैं।

(ख) सृष्टि—एक प्रश्न है[1]—

'भगवन्! प्रजाओं (=सृष्टि)को कितने देव धारण करते हैं? कौनसे देव प्रकाशन करते हैं, कौन उनमें सर्वश्रेष्ठ है?' 'उसको उस (=पिप्पलाद ऋषि)ने बतलाया—'(प्रजाको धारण करनेवाला) यह आकाश देव है, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, वाणी, मन, नेत्र और श्रोत्र (देव) हैं। वह प्रकाश करके कहते हैं 'हम इस वाण (=शरीर) को रोककर धारण करते हैं।' उनमें सर्वश्रेष्ठ (देव) प्राणने कहा—'मत मूढ़ता करो, मैं ही अपनेको पांच प्रकारसे विभक्तकर इस वाणको रोककर धारण करता हूँ।' उन्होंने विश्वास नहीं किया। वह अभिमानसे निकलने लगा। उस (=प्राण)के निकलते ही दूसरे सारे ही प्राण (=इन्द्रिय) निकल जाते हैं, उसके ठहरनेपर सभी ठहरते हैं। जैसे (शहदकी) सारी मक्खियाँ मधुकरराजा (=रानी मक्खी)के निकलने-पर निकलने लगती हैं, उसके ठहरनेपर सभी ठहरती हैं। . . .वाणी, मन, चक्षु, श्रोत्र ने....प्राणकी स्तुति की—'यही तप रहा अग्नि है, यह सूर्य पर्जन्य (=वृष्टि-देवता), मघवा (=इन्द्र) यही वायु है, यही पृथिवी रयि देव है जो कुछ कि सद् असद्, और अमृत है. . . . । (हे प्राण!) जो तेरे शरीर या वचनमें स्थित है, जो श्रोत्र या नेत्र में (स्थित है), जो मनमें फैला हुआ है, उसे शान्त कर, (और शरीरसे) मत निकल।"

इस प्रकार पिप्पलादने प्राण (=जीवन, या **विज्ञान**)को सर्वश्रेष्ठ माना, और रयि (या भौतिक तत्त्व)को द्वितीय या गौण स्थान दिया।

(ग) स्वप्न—स्वप्न-अवस्था पिप्पलादकेलिए एक बहुत ही रहस्य पूर्ण अवस्था थी। वह समझता था कि वह परम पुरुष या **ब्रह्मके मिलनका** समय है। इसके बारेमें **गार्ग्यके** प्रश्नका उत्तर देते हुए **पिप्पलादने** कहा[2]—

---

[1] **प्रश्न** २।१-१२ [2] **प्रश्न** ४।२

"जैसे गार्ग्य ! अस्त होते सूर्यके तेजोमंडलमें सारी किरणें एकत्रित होती हैं, (सूर्यके) उदय होते वक्त वह फिर फैलती हैं; इसी तरह (स्वप्नमें) वह सब (इन्द्रियाँ) उस परमदेव मनमें एक होती हैं। इसीलिए तब यह पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, (उसकेलिए) 'सो रहा है' इतना ही कहते हैं।"

"वह जब तेजसे अभिभूत (=मद्धिम पड़ा) होता है, तब यह देव स्वप्नोंको नहीं देखता; तब यह इस शरीरमें सुखी होता है।"[1]

"मन यजमान है, अभीष्ट फल **उदान** है। यह (उदान) इस यजमानको रोज-रोज (सुप्तावस्थामें) ब्रह्मके पास पहुँचाता है।"[2]

"यहाँ सुप्तावस्थामें यह देव (अपनी) महिमाको अनुभव करता है और देखे-देखेके पीछे देखता है, सुने-सुनेके पीछे सुनता है....देखे और न देखे, सुने और न सुने, अनुभव किये और न अनुभव किये, सत् और अ-सत्, सबको देखता है, सबको देखता है।"

(घ) मुक्तावस्था—मुक्तावस्थाके बारेमें इस उपनिषद्का कहना है[3]—

"जैसे कि नदियाँ समुद्रमें जा अस्त हो जाती हैं, उनका नाम और रूप छूट जाता है, 'समुद्र' बस यही कहा जाता है; इसी तरह पुरुष (ब्रह्म)को प्राप्त हो इस परिद्रष्टाके यह सोलह कला अस्त हो जाती हैं। उनके नाम-रूप छूट जाते हैं, उसे 'पुरुष' बस यही कहा जाता है। वही यह कला-रहित अमृत है।"

असत्य-भाषणके बारेमें कहा है—"जो झूठ बोलता है, वह जड़से सूख जाता है।"[4]

(२) केन-उपनिषद्

ईशकी भाँति केन-उपनिषद् भी "केन"से शुरू होता है, इसलिए इसका यह नाम पड़ा। केनके चार खंडोंमें पहिले दो पद्यमें हैं, और अन्तिम दो

---

[1] प्रश्न ४।६ [2] प्रश्न ४।४ [3] प्रश्न ६।५ [4] प्रश्न ६।१

गद्यमें। पद्य-खंडमें आत्माका शरीरसे अलग तथा इन्द्रियोंका प्रेरक होना सिद्ध किया गया है, और बतलाया गया है कि वही चरम सत्य तथा पूजनीय है। उपसंहारमें (रहस्यवादी भाषामें) कहा है[1] : "जो जानते हैं वह वस्तुतः नहीं जानते, जो नहीं जानते वही उसे जानते हैं।" आत्माको सिद्ध करते हुए केनने कहा है—

"जो श्रोत्रका श्रोत्र, मनका मन, वचनका वचन और प्राणका प्राण, आँखकी आँख है, (ऐसा समझनेवाले) धीर अत्यन्त मुक्त हो इस लोकसे जाकर अमृत हो जाते हैं।"

ब्रह्म छोड़ दूसरेकी उपासना नहीं करनी चाहिए—

"जो वाणीसे नहीं बोला जाता, जिससे वाणी बोली जाती है; उसीको तू ब्रह्म जान, उसे नहीं जिसे कि (लोग) उपासते हैं।

"जो मनसे मनन नहीं किया जाता, जिससे मन जाना गया कहते हैं; उसीको तू ब्रह्म जान, ...

"जो प्राणसे प्राणन करता है, जिससे प्राण प्राणित किया जाता है; उसीको तू ब्रह्म जान०[1]।"

केनके गद्य-भागमें जगत्‌के पीछे छिपी अपरिमेय शक्तिको बतलाया गया है।

(३) कठ-उपनिषद्

(क) नचिकेता-यम-समागम—कठ-शाखाके अन्तर्गत होनेसे इस उपनिषद्‌का नाम कठ पड़ा है। यह पद्यमय है। भगवद्गीताने इस उपनिषद्‌से बहुत लिया है, और 'उपनिषद्‌रूपी गायोंसे कृष्णने अर्जुनके लिए गीतामृत दूधका दोहन किया' यह कहावत कठके संबंधमें है। नचिकेता और यमकी प्रसिद्ध कथा इसी उपनिषद्‌में है। नचिकेताका पिता अपनी सारी सम्पत्तिका दान कर रहा था, जिसमें उसकी अत्यन्त बूढ़ी

---

[1] "यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः'।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥" केन २।३

गायें भी थीं। नचिकेता इन गायोंको दानके अयोग्य समझता था, इसलिए उसने सोचा[1]—

"पानी पीना तृण खाना दूध दूहना जिन (गायों)का खतम हो चुका है, उनको देनेवाला (=दाता) आनन्दरहित लोकमें जाता है।"

नचिकेताकी समझमें यह नहीं आया कि सर्वस्व-दानमें यह निरर्थक वस्तुएं भी शामिल हो सकती हैं। यदि सर्वस्व-दानका अर्थ शब्दशः लिया जाये, तो फिर मैं भी उसमें शामिल हूँ। इसपर नचिकेताने पितासे पूछा—"मुझे किसे देते हो?" पुत्रको प्रश्न दुहराते देख गुस्सा हो पिताने कहा—"तुझे मृत्युको देता हूँ।" नचिकेता मृत्युके देवता (=यम)के पास गया। यम कहीं बाहर दौरेपर गया हुआ था। उसके परिवारने अतिथिको खाने पीनेके लिए बहुत आग्रह किया; किन्तु, नचिकेताने यमसे मिले बिना कुछ भी खानेसे इन्कार कर दिया। तीसरे दिन यमने अतिथिको इस प्रकार भूखे-प्यासे घरपर बैठा देखकर एक सद्गृहस्थकी भाँति खिन्न हुआ, और नचिकेताको तीन वर माँगनेकेलिए कहा। उन वरोंमें तीसरा सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसे नचिकेताने इस प्रकार माँगा था[2]—

"जो यह मरे मनुष्यके बारेमें सन्देह है। कोई कहता है "है" कोई कहता है 'यह (=जीव) नहीं है।' तुम ऐसा उपदेश दो कि मैं इसे जानूँ। वरोंमें यह तीसरा वर है।"

यम—"इस विषयमें देवोंने पहिले भी सन्देह किया था। यह सूक्ष्म धर्म (=ज्ञान) जाननेमें सुकर नहीं है। नचिकेता! दूसरा वर माँगो, मत आग्रह करो, इसे छोड़ दो।"

नचिकेता—"देवोंने इसमें सन्देह किया था, हे मृत्यु! जिसे तुम 'जाननेमें सुकर नहीं' कहते। तुम्हारे जैसा इसका बतलानेवाला दूसरा नहीं मिल सकता; इसके समान कोई दूसरा वर नहीं।"

यम—"मर्त्यलोकमें जो जो काम (=भोग) दुर्लभ हैं, उन सभी

---

[1] कठ १।१।३　　[2] कठ १।१।२०–२६

कामोंको स्वेच्छासे माँगो। रथों, वाद्योंके साथ....मनुष्योंके लिए अलभ्य यह रमणियाँ हैं। नचिकेत! मेरी दी हुई इन (=रमणियों)के साथ मौज करो—**मरण**के संबंधमें मुझसे मत प्रश्न पूछो।"

नचिकेता—"कल इनका अभाव (होनेवाला है)। हे अन्तक! मर्त्य (=मरणधर्मा मनुष्य)की इन्द्रियोंका तेज जीर्ण होता है। बल्कि सारा जीवन ही थोड़ा है। ये घोड़े तुम्हारे ही रहें, नृत्य-गीत तुम्हारे ही (पास) रहें।....जिस महान् परलोकके विषयमें (लोग) सन्देह करते हैं, हे मृत्यु! हमें उसीके विषयमें बतलाओ। जो यह अतिगहन वर है, उससे दूसरेको नचिकेता नहीं माँगता।"

इसपर यमने नचिकेताको उपदेश देना स्वीकार किया।

(ख) ब्रह्म—ब्रह्मका वर्णन कठ-उपनिषद्में कई जगह आया है। एक जगह उसे पुरुष कहा गया है[1]—

"इन्द्रियोंसे परे (=ऊपर) अर्थ (=विषय) हैं, अर्थोंसे परे मन, मनसे परे बुद्धि, बुद्धिसे परे महान् आत्मा (=महत् तत्त्व) है। महान्से परे परम अव्यक्त (=मूल प्रकृति), अव्यक्तसे परे पुरुष है। पुरुषसे परे कुछ नहीं, वही पराकाष्ठा है, वही (परा) गति है।"

फिर कहा है[2]—

"ऊपर मूल रखनेवाला, नीचे शाखा वाला यह अश्वत्थ (वृक्ष) सनातन है। वही शुक्र है, वही **ब्रह्म** है, उसीको अमृत कहा जाता है, उसीमें सारे लोक आश्रित हैं। उसको कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता। यही वह (ब्रह्म) है।"

और[3]—"अणुसे अत्यन्त अणु, महान्से अत्यन्त महान्, (वह) आत्मा इस जन्तुकी गुहा(=हृदय),में छिपा हुआ है।"

और भी[4]—

---

[1] कठ १।३।१०-११ [2] कठ २।६।१ [3] कठ १।२।२०
[4] कठ २।५।१५

"वहाँ सूर्य नहीं प्रकाशता न चाँद तारे, न यह बिजलियाँ प्रकाशतीं, (फिर) यह आग कहाँसे प्रकाशेगी। उसी (=ब्रह्म) के प्रकाशित होनेपर सब पीछेसे प्रकाशते हैं, उसीकी प्रभासे यह सब प्रकाशता है।

और भी[1]—

"जैसे एक आग भुवनमें प्रविष्ट हो रूप-रूपमें प्रतिरूप होती है, उसी तरह सारे भूतोंका एक अन्तरात्मा है, जो रूप-रूपमें प्रतिरूप तथा बाहर भी है।"

सर्वव्यापक होते भी ब्रह्म निर्लेप रहता है[2]—

"जैसे सारे लोककी आँख (=सूर्य) आँख-संबंधी बाहरी दोषोंसे लिप्त नहीं होता: वैसे ही सारे भूतोंका एक अन्तरात्मा (=ब्रह्म) लोकके बाहरी दुखोंसे लिप्त नहीं होता।" ब्रह्मकी रहस्यमयी सत्ताके प्रतिपादनमें रहस्यमयी भाषाका प्रचुर प्रयोग पहिलेपहिल कठ-उपनिषद्‌में किया गया है। जैसे[3]—

"जो सुननेकेलिए भी बहुतोंको प्राप्य नहीं है। सुनते हुए भी बहुतेरे जिसे नहीं जानते। उसका वक्ता आश्चर्य (-मय) है, उसको प्राप्त करनेवाला कुशल (= चतुर) है, कुशल द्वारा उपदिष्ट ज्ञाता आश्चर्य (पुरुष) है।"

अथवा[4]—

"बैठा हुआ दूर पहुँचता है, लेटा सर्वत्र जाता है। मेरे बिना उस मद-अमद देवको कौन जान सकता है?"

(ग) आत्मा (=जीव)—जीवात्माका वर्णन जिस प्रकार कठ उपनिषद्‌ने किया है, उसमें उसका झुकाव आत्मा और ब्रह्मकी एकता (=अद्वैत) की ओर नहीं जान पड़ता। आत्मा शरीरसे भिन्न है, इसे इस श्लोकमें बतलाया गया है जिसे भगवद्‌गीताने भी अनुवादित किया है[5]—

"(वह) ज्ञानी न जन्मता है न मरता है, न यह कहींसे (आया) न कोई हुआ। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत, पुराण है। शरीरके हत होनेपर

---

[1] कठ २।५।९ [2] कठ २।५।११ [3] कठ १।२७
[4] कठ १।२।२१ [5] कठ १।२।१८

वही नहीं हत होता"

"हन्ता यदि हननको मानता है, हत यदि हत (=मारित) मानता है, तो वे दोनों ज्ञान-रहित हैं; न यह मारता है न मारा जाता है ।"[1]

कठने रथके दृष्टान्तसे आत्माको सिद्ध करना चाहा[2]—

"आत्माको रथी जानो, और शरीरको रथ मात्र। इन्द्रियोंको घोड़ा कहते हैं, (और) मनको पकड़नेकी रास। बुद्धिको सारथी जानो. . . . ।"

(घ) मुक्ति और उसके साधन—मुक्ति—दुःखसे छूटना और ब्रह्मको प्राप्त करना—उपनिषदोंका लक्ष्य है। कठ मानवको मुक्तिके लिए प्रेरित करते हुए कहता है[3]—

"उठो जागो, वरोंको पाकर जानो। कवि (=ऋषि) लोग उस दुर्गम पथको छुरेकी तीक्ष्ण धार (की तरह) पार होनेमें कठिन बतलाते हैं।"

तर्क, पठन या बुद्धिसे उसे नहीं पाया जा सकता—

"यह आत्मा प्रवचन (पठन-पाठन)से मिलनेवाला नहीं है, नहीं बुद्धि या बहुश्रुत होनेसे।"[4]

"दूसरेके बिना बतलाए यहाँ गति नहीं है। सूक्ष्माकार होनेसे वह अत्यन्त अणु और तर्कका अ-विषय है। यह मति (=ज्ञान) तर्कसे नहीं मिलनेवाली है। हे प्रिय! दूसरेके बतलाने ही पर (यह) जाननेमें सुकर है।"[5]

(a) सदाचार—ब्रह्मकी प्राप्तिकेलिए कठ ज्ञान और ध्यानको ही प्रधान साधन मानता है, तो भी सदाचारकी वह अवहेलना नहीं देखना चाहता। जैसे कि[6]—

"दुराचारसे जो विरत नहीं, जो शान्त और एकाग्रचित्त नहीं, अथवा जो शान्त मानस नहीं, वह प्रज्ञानसे इसे नहीं, पा सकता।"

तो भी मुक्तिकेलिए कठका बहुत जोर ज्ञानपर है—

---

[1] कठ १।२।१९ [2] कठ [3] कठ १।३।१४

[4] कठ १।२।२२ [5] वहीं १।२।८-९ [6] वहीं १।२।२४

"सारे भूतों (=प्राणियों)के अन्दर छिपा हुआ यह आत्मा नहीं प्रकाशता। किन्तु वह तो सूक्ष्मदर्शियों द्वारा सूक्ष्म तीव्र बुद्धिसे देखा जाता है।"[1]

(b) **ध्यान**—ब्रह्म-प्राप्ति या मुक्तिके लिए ज्ञान-दृष्टि आवश्यक है; किन्तु साथ ही ज्ञान-दर्शनकेलिए **ध्यान** या एकाग्रता भी आवश्यक है—

"स्वयंभू (=विधाता)ने बाहरकी ओर छिद्र (=इन्द्रियाँ) खोदी हैं। इसलिए मनुष्य बाहरकी ओर देखते हैं, शरीरके भीतर (=अन्तरात्मा) नहीं। कोई-कोई धीर (हैं जो कि) आँखोंको मूँदकर अमृतपदकी इच्छासे भीतर आत्मामें देखते हैं।"[2]

"(ब्रह्म) न आँखसे ग्रहण किया जाता है, न वचनसे, न दूसरे देवों, तपस्या या कर्मसे। ज्ञानकी शुद्धतासे (जो) मन विशुद्ध (हो गया है वह), ...ध्यान करते हुए, उस निष्कल (ब्रह्म)का दर्शन करता है।"[3]

(४) मुंडक उपनिषद्

मुंडकका अर्थ है, मुँडे-शिरवाला यानी गृहत्यागी परिव्राजक, भिक्षु या संन्यासी, जो कि आजकी भाँति उस समय भी मुंडे शिर रहा करते थे। बुद्धके समय ऐसे मुंडक बहुत थे, स्वयं बुद्ध और उनके भिक्षु मुंडक थे। मुंडक उपनिषद्में पहिली बार हमें बुद्धकालीन घुमन्तू परिव्राजकोंके विचार मालूम होते हैं। यहाँ प्राचीन परंपरासे एक नई परंपरा आरम्भ होती दीख पड़ती है।

(क) **कर्मकांड-विरोध**—ब्राह्मणोंके याज्ञिक कर्मकांडसे, मुंडकको खास चिढ़ मालूम होती है, जो कि निम्न उद्धरणसे मालूम होगा[4]—

"यज्ञ-रूपी ये बेड़े (या घरनइयाँ) कमजोर हैं....। जो मूढ़ इसे अच्छा (कह) कर अभिनंदन करते हैं, वे फिर फिर बुढ़ापे और मृत्युको प्राप्त होते हैं। अविद्या (=अज्ञान)के भीतर वर्त्तमान अपनेको धीर

---

[1] वहीं १।३।१२ [2] वहीं २।४।१ [3] वहीं ३।१।८ [4] मुंड १।२।७-११

(और) पंडित समझनेवाले, वे मूढ़ अंधे द्वारा लिवाये जाते अंधोंकी भाँति दुःख पाते भटकते हैं। अविद्याके भीतर बहुतकरके वर्त्तमान 'हम कृतार्थ हैं' ऐसा अभिमान करते हैं। (ये) बालक वे कर्मी (=कर्मकांडपरायण) रागके कारण नहीं समझते हैं, उसीसे (ये) आतुर लोग (पुण्य-) लोकसे क्षीण हुए (नीचे) गिरते हैं।....तप और श्रद्धाके साथ भिक्षाटन करते हुए, जो शान्त विद्वान् अरण्यमें वास करते हैं। वह निष्पाप हो सूर्यके रास्ते (वहाँ) जाते हैं, जहाँ कि वह अमृत, अक्षय-आत्मपुरुष है।"

जिस वेद और वैदिक कर्मकांडी विद्याके लिए पुरोहितोंको अभिमान था, उसे **मुंडक** निम्न स्थान देता है—

"'दो विद्याएं जाननेकी हैं' यह ब्रह्मवेत्ता बतलाते हैं। (वह) है, परा और अपरा (=छोटी)। उनमें अपरा है—'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष।' परा (विद्या) वह है, जिससे उस अक्षर (=अविनाशी) को जाना जाता है।"[1]

(ख) ब्रह्म—ब्रह्मके स्वरूपके बारेमें कहता है—

"वही अमृत ब्रह्म आगे है, ब्रह्म पीछे, ब्रह्म दक्षिण, और उत्तरमें। ऊपर नीचे यह ब्रह्म ही फैला हुआ है; सर्वश्रेष्ठ (ब्रह्म ही) यह सब है।"[2]

"यह सब पुरुष ही है।....गुहा (=हृदय) में छिपे इसे जो जानता है। वह....अविद्याकी ग्रंथिको काटता है।"[3]

"वह बृहद् दिव्य, अचिन्त्य रूप, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर (ब्रह्म) प्रकाशता है। दूरसे (वह) बहुत दूर है, और देखनेवालोंको यहीं गुहा (=हृदय) में छिपा वह...पास ही में है।"[4]

(ग) मुक्तिके साधन—कर्मकांड—यज्ञ-दान-वेदाध्ययन आदि—को मुंडक हीन दृष्टिसे देखता है, यह बतला चुके हैं, उसकी जगह **मुंडक** दूसरे साधनोंको बतलाता है।[5]

---

[1] मुंडक १।१।४-५ [2] मुंडक २।२।११ [3] २।१।१०
[4] मुंडक ३।१।७ [5] मुंडक ३।१।५

"यह आत्मा सत्य, तप, ब्रह्मचर्यसे सदा प्राप्य है। शरीरके भीतर (वह) शुभ्र ज्योतिर्मय है, जिसको दोषरहित यति देखते हैं।"

"यह आत्मा बलहीन द्वारा नहीं प्राप्य है और नहीं प्रमाद या लिंगहीन तपसे ही (प्राप्य है)।"[1]

शायद लिंगसे यहाँ **मुंडकों** (=परिव्राजकों)के विशेष शरीरचिह्न अभिप्रेत हैं। कठ, प्रश्नकी भाँति मुंडक भी उन उपनिषदोंमें है, जो उस समयमें बनीं जब कि ब्राह्मणोंके कर्मकांडपर भारी प्रहार हो चुका था।

(६) **गुरु**—मुंडक गुरुकी प्रधानताको भी स्वीकारता है, इससे पहिले दूसरी शिक्षाओंकी तरह ब्रह्मज्ञानकी शिक्षा देनेवाला भी आचार्य या उपाध्यायके तौरपर एक आचार्य था। अब गुरुको वह स्थान दिया गया, जो कि तत्कालीन अवैदिक बौद्ध, जैन आदि धर्मोंमें अपने शास्ता और तीर्थंकरको दिया जाता था। मुंडकने कहा—

"कर्मसे चुने गए लोकोंकी परीक्षा करनेके बाद ब्राह्मणको निर्वेद (=वैराग्य) होना चाहिए कि अ-कृत (=ब्रह्मत्व) कृत (कर्मों)से नहीं (प्राप्त होता)। उस (ब्रह्म-) ज्ञानकेलिए समिधा हाथमें ले (शिष्य बननेके वास्ते) श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास हीमें जावे।"

(७) **ध्यान**—ब्रह्मकी प्राप्तिके लिए मनकी तन्मयता आवश्यक है—

"उपनिषद्के महास्त्र धनुषको लेकर, उपासनासे तेज किये शरको चढ़ाये, तन्मय हुए चित्तसे खींचकर, हे सोम्य! उसी अ-क्षर (=अ-विनाशी)को लक्ष्य समझ। प्रणव (=ओम्) धनुष है, आत्मा शर, ब्रह्म वह लक्ष्य कहा जाता है। (उसे) प्रमाद (=गफ़लत)-रहित हो बेधना चाहिए, शरकी भाँति तन्मय होना चाहिए।"[2]

(८) **भक्ति**—वैदिक कालके ऋषि, और ज्ञान-युगके आरंभिक ऋषि आरुणि, याज्ञवल्क्य आदि भी देवताओंकी स्तुति करते थे, उनसे अभिलषित भोग-वस्तुएँ भी माँगते थे; किन्तु यह सब होता था आत्म-सम्मानपूर्वक।

---

[1] मुंडक १।२।१२　　[2] मुंडक २।२।३-४

यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि सामन्तवादमें पहुँच जानेपर भी आर्य अपने जन तथा पितृ-सत्ता-कालीन भावोंको अभी छोड़ नहीं सके थे, इसलिए देवताओंके साथ भी अभी समानता या मित्रताका भाव दिखलाना चाहते थे। किन्तु अब अवस्था बदल गई थी। आर्य जिस तरह खूनमें मिश्रित होते जा रहे थे, उसी तरह उनके विचारोंपर भी बाहरी प्रभाव पड़ने जा रहे थे। इसीलिए अब आत्मसमर्पणका ख्याल राजनीतिक क्षेत्रकी भाँति धार्मिक क्षेत्रमें भी ज्यादा जोर मारने लगा था। मुंडककारने **ज्ञान**को भी काफी नहीं समझा और कह दिया[1]—

"जिसको ही वह (ब्रह्म) चुनता (=वरण) करता है, उसीको वह प्राप्य है, उसीकेलिए यह अपने तनको खोलता है।"

(ग) **ज्ञान**—अन्य उपनिषदोंकी भाँति यहाँ भी (ब्रह्म-) ज्ञानपर जोर दिया गया है—

"उसी आत्माको जानो, दूसरी बातें छोड़ो, यह (ही) अमृत (=मुक्ति)का सेतु है।....उसके विज्ञान (=ज्ञान)से धीर (पुरुष), (उसे) चारों ओर देखते हैं, जो कि आनन्दरूप, अमृत, प्रकाशमान है।"[2]

"जब देखनेवाला (जीव) चमकीले रंगवाले कर्ता, ईश, ब्रह्मयोनि, पुरुषको देखता है तब वह (विद्वान्) पुण्य पापको फेंककर निरंजनकी परम समानताको प्राप्त होता है।"[3]

यहाँ याद रखना चाहिए कि ज्ञानको ब्रह्मप्राप्तिका साधन मानते हुए, मुंडक मुक्त जीवकी ब्रह्मसे अभिन्न होनेकी बात नहीं, बल्कि "परम-समानता"की बात कह रहा है।

(घ) **त्रैतवाद**—ऊपरके उद्धरणोंसे मालूम हो गया कि मुंडकके मतमें मुक्तिका मतलब ब्रह्मकी परम समानता मात्र है, जिससे यह समझना आसान है, कि वह अद्वैत नहीं द्वैतका हामी है। इस बातमें सन्देहकी कोई गुंजाइश नहीं रह जाती, जब हम उसके निम्न उद्धरणोंको देखते हैं[4]—

---

[1]मुंडक ३।२।३ [2]मुंडक २।२।५-७ [3]मुंडक ३।१।३ [4]मुंडक ३।१-२

"दो सहयोगी सखा पक्षी (=जीवात्मा और परमात्मा) एक वृक्षको आलिंगन कर रहे हैं। उनमेंसे एक फल (=कर्मभोग)को चखता है, दूसरा न खाते हुए चारों ओर प्रकाशता है। (उस) एक वृक्ष (=प्रकृति)में निमग्न पुरुष परवश मूढ़ हो शोक करता है। दूसरे ईशको जब वह (अपना) साथी (तथा) उसकी महिमाको देखता है, तो शोक-रहित हो जाता है।"

(ङ) मुक्ति—मुंडकके त्रैतवाद—प्रकृति (=वृक्ष), जीव, ईश्वर और मुक्तिका आभास तो कुछ ऊपर मिल चुका, यदि उसे और स्पष्ट करना है, तो निम्न उद्धरणोंको लीजिए—

"जैसे नदियाँ बहती हुई नाम रूप छोड़ समुद्रमें अस्त हो जाती हैं, वैसे ही विद्वान् (=ज्ञानी) नाम-रूपसे मुक्त हो, दिव्य परात्पर (=अति परम) पुरुषको प्राप्त होता है।"[1]

"इस (=ब्रह्म)को प्राप्तकर ऋषि ज्ञानतृप्त, कृतकृत्य, वीतराग, (और) प्रशान्त (हो जाते हैं)। वे धीर आत्म-संयमी सर्वव्यापी (=ब्रह्म)को चारों ओर पाकर सर्व (=ब्रह्म)में ही प्रवेश करते हैं।"[2]

"वेदान्तके विज्ञानसे अर्थ जिन्हें सुनिश्चित हो गया, संन्यास-योगसे जो यति शुद्ध मन वाले हैं; वे सब सबसे अन्तकालमें ब्रह्म-लोकोंमें पर-अमृत (बन) सब ओरसे मुक्त होते हैं।"[3]

उपनिषद् या ज्ञानकांडकेलिए यहाँ **वेदान्त** शब्द आ गया, जो इस तरहका पहिला प्रयोग है।

(च) सृष्टि—ब्रह्मने किस तरह विश्वकी सृष्टि की, इसके बारेमें **मुंडक**का कहना है—

"(वह है) दिव्य अ-मूर्त (=निराकार) पुरुष, बाहर भीतर (बसने वाला) अ-जन्मा। प्राण-रहित, मन-रहित शुद्ध अ-क्षर (प्रकृति)के परेसे परे है। उससे प्राण, मन और सारी इन्द्रियाँ पैदा होती हैं। आकाश, वायु, ज्योति

---

[1] **मुंडक ३।२।८** [2] **वहीं ३।२।५** [3] **वहीं ३।२।६**

(=अग्नि), जल, विश्वको धारण करनेवाली पृथिवी।....उससे बहुत प्रकारके देव पैदा हुए। साध्य (=निम्नकोटिके देव) मनुष्य, पशु, पक्षी, प्राण, अपान, धान, जौ, तप और श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य, विधि (=कर्मका विधान)।...इससे (ही) समुद्र और गिरि। सब रूपके सिन्धु (=नदियाँ) इसीसे बहते हैं। इसीसे सारी ओषधियाँ, और रस पैदा होते हैं।"[1]

और—

"जैसे मकड़ी सृजती है, और समेट लेती है; जैसे पृथिवीमें ओषधियाँ (=वनस्पति) पैदा होती है; जैसे विद्यमान पुरुषसे केश लोम (पैदा होते हैं), उसी तरह अ-क्षर (=अविनाशी)से विश्व पैदा होता है।"[2]

और—

"इसलिए यह सत्य है कि जैसे सुदीप्त अग्निसे समान रूपवाली हजारों शिखाएँ पैदा होती हैं, उसी तरह अ-क्षर (=अ-विनाशी)से हे सोम्य! नाना प्रकारके भाव (=हस्तियाँ) पैदा होते हैं।"[3]

इस प्रकार मुंडकके अनुसार ब्रह्म (=अ-क्षर) जगत्का निमित्त और उपादान कारण दोनों है; वह ब्रह्म और जगत्में शरीर शरीरी जैसा संबंध मानता है, तभी तो जहाँ सत्ता बतलाते वक्त वह जीव, ब्रह्म और प्रकृति तीनोंके अस्तित्वको स्वीकार करता है, वहाँ सृष्टिके उत्पादनमें प्रकृतिको अलग नहीं बतलाता। मकड़ी आदिका दृष्टान्त इसी बातको सिद्ध करता है।

बुद्धके समय परिव्राजकोंके सामने प्रसिद्ध धार्मिक सम्प्रदाय इन्हीं मुंडकोंका था। पाली सूत्रोंके अनुसार उनका मत था कि मरनेके बाद "आत्मा, अरोग एकान्त सुखी होता है।"[4]

पोट्ठपाद, वच्छगोत्त जैसे अनेकों परिव्राजक बुद्धके प्रति श्रद्धा रखते थे और उनके सर्वश्रेष्ठ दो शिष्य सारिपुत्र और मोद्गल्यायन पहिले परिव्राजक

---

[1] मुंडक २।१।२-९ [2] वहीं १।१।७ [3] वहीं ३।१।१

[4] पोट्ठपाद-सुत्त (दीघनिकाय, १।९)

सम्प्रदायके थे। मुंडकोंसे ब्राह्मणोंकी चिढ़ थी, यह अम्बष्टके बुद्धके सामने "मुंडक, श्रमण, ... काले, बंधु (ब्रह्म)के पैरकी सन्तान" कहकर बुरा-भला कहने से भी पता लगता है।[1] सुन्दरिका भारद्वाजका बुद्धको 'मुंडक' कहकर तिरस्कार करना भी उसी भावको पुष्ट करता है।[2] मज्झिम-निकायमें परिव्राजकोंके सिद्धान्तके बारेमें कितनी ही और बातें मिलती हैं, जो इस उपनिषद्के अनुकूल पड़ती हैं। परिव्राजक कर्मकांड-विरोधी भी थे।

(५) मांडूक्य-उपनिषद्

इसके प्रतिपाद्य विषयोंमें ओम्को ख्वामख्वाह दार्शनिक तत्त्वपर उठाने की कोशिश की गई है; और दूसरी बात है, चेतनाकी चार अवस्थाओं—जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय——का विवेचन। इसका एक और महत्व यह है कि "प्रच्छन्न बौद्ध" शंकरके परम गुरु तथा बौद्ध गौडपादने माडूक्यपर कारिका लिखकर पहिले पहिल बौद्ध-विज्ञानवादसे कितनी ही बातोंको ले—और कुछको स्पष्ट स्वीकार करते भी—आगे आनेवाले शंकरके अद्वैत वेदान्तका बीजारोपण किया।

(क) ओम—"भूत, वर्तमान, भविष्यत् सब ओंकार ही है। जो कुछ त्रिकालसे परे है, वह भी ओंकार ही है।"[3]

(ख) ब्रह्म—ओंकारको ब्रह्मसे मिलाते आगे कहा है—[4]

"सब कुछ यह ब्रह्म है। यह आत्मा (=जीव) ब्रह्म है। वह यह आत्मा चार पादवाला है। (१) जागरित अवस्थावाला, बाहरका ज्ञान रखने वाला, सात अंगों (=इन्द्रियों), उन्नीस मुखोंवाला, वैश्वानर (नामका) प्रथम पाद है, (जिसका) भोजन स्थूल है। (२) स्वप्न अवस्था वाला

---

[1] वहीं २।१ (देखो बुद्धचर्या, पृष्ठ २११)।
[2] संयुत्तनिकाय ७।१।९ (बुद्धचर्या, पृष्ठ ३७९)
[3] मांडूक्य १ [4] मांडूक्य २-१२

भीतरी ज्ञान रखनेवाला, सात अंगों उन्नीस मुखों वाला तैजस (नामका) दूसरा पाद है, जो अति एकान्तभोगी है। (३) जिस (अवस्था) में सोया, न किसी भोगकी कामना करता है, न किसी स्वप्नको देखता है, वह सुषुप्त (की अवस्था) है। सुषुप्तकी अवस्थामें एकमय प्रज्ञान-घन (=ज्ञानमय) ही आनंद-मय (नामक) चेतोमुखवाला तीसरा पाद है, जिसका कि आनंद ही भोजन है। यही सर्वेश्वर है, यही सर्वज्ञ, यही अन्तर्यामी, यही सबकी योनि (=मूल), भूतों (=प्राणियों) की उत्पत्ति और विनाश है। (४) न भीतरी प्रज्ञावाला, न बाहरी प्रज्ञावाला, न दोनों तरहकी प्रज्ञावाला, न प्रज्ञान-घन, न प्रज्ञ और न अ-प्रज्ञ है। (जो कि वह) अ-दृष्ट, अ-व्यवहार्य, अ-ग्राह्य, अ-लक्षण, अ-चिन्त्य, अ-व्यपदेश्य (=बे नामका), एक आत्मा रूपी ज्ञान (=प्रत्यय) के सारवाला, प्रपंचोंका उपशमन करनेवाला, शान्त, शिव, अद्वैत है। इसे चौथा पाद मानते हैं। वह आत्मा है, उसे जानना चाहिए। वह आत्मा अक्षरोंके बीच ओंकार है।...."

मांडूक्य-उपनिषद्की भाषाको दूसरी पुरानी उपनिषदोंकी भाषासे तुलना करने से मालूम हो जावेगा कि अब हम दर्शन-विकासके काफी समयसे गुजर चुके हैं। और ब्रह्मवाद-आत्मवादके विरोधियोंका इतना प्राबल्य है कि यह अज्ञात उपनिषत्-कर्त्ता खंडनके भयसे भावात्मक विशेषणोंको न दे, "अदृष्ट", "अव्यपदेश्य" आदि अभावात्मक विशेषणोंपर जोर देने लगा है। साथ ही वेदसे दूर रहनेसे वेदकी स्थिति निर्बल हो जानेके डरसे ओंकारको भी अपने दर्शनमें घुसानेका प्रयत्न कर रहा है। प्राचीन उपनिषदोंमें उपदेष्टा ऋषिका जिक्र जरूर आता है, किन्तु इन जैसी उपनिषदोंमें कर्त्ताका जिक्र न होना, उस युगके आरंभकी सूचना देता है, जब कि धर्मपोषक ग्रंथकारोंका प्रारंभ होता है। पहिले ऐसे ग्रंथकार नामके बिना अपनी कृतियोंको इस अभिप्रायसे लिखते हैं कि अधिक प्रामाणिक और प्रतिष्ठित किसी ऋषिके नामसे उसे समझ लिया जायेगा। इसमें जब आगे कठिनाई होने लगी, तब मनुस्मृति, भगवद्गीता, पुराण जैसे ग्रंथ खास-खास महर्षियों और महापुरुषोंके नामसे बनने लगे।

४. चतुर्थकालकी उपनिषदें (२००–१०० ई० पू०)

बुद्ध और उनके समकालीन दार्शनिकोंके विचारोंसे तुलना करनेपर समझना आसान होगा कि कौषीतकि, मैत्री तथा श्वेताश्वतर उपनिषदें बुद्धके पीछे की हैं, तो भी वह उन बरसाती मेढकों जैसी उपनिषदोंमें नहीं हैं, जिनकी भरमार हम पीछे ११२, और १५० उपनिषदोंके रूपमें देखते हैं।

(१) कौषीतकि उपनिषद् (२०० ई० पू०)

कौषीतकि उपनिषद्, कौषीतकि ब्राह्मणका एक भाग है। इसके चार अध्याय हैं। **प्रथम** अध्यायमें छान्दोग्य, बृहदारण्यकमें वर्णित **पितृयान और** देवयानको विस्तारपूर्वक दुहराया गया है। **द्वितीय** अध्यायमें कौषीतकि, पैंग्य, प्रतर्दन और शुष्क भृंगारके विचार स्फुट रूपमें उल्लिखित हैं। साथ ही कितनी ही पुत्र-धन आदिके पानेकी "युक्तियाँ" भी बतलाई गई हैं। **तृतीय** अध्यायमें ऋग्वेदीय राजा, तथा भरद्वाजके यजमान (वशिष्ठ, विश्वामित्रके यजमान सुदास्के पिता) दिवोदास्के वंशज (?) प्रतर्दनको इंद्रके लोकमें (सदेह) जानेकी बात तथा इंद्रके साथ संवादका जिक्र है। इसमें अधिकतर इंद्रकी अपनी करतूतोंका वर्णन है, इसी वर्णनमें **प्राण** (=ब्रह्म)के बारेमें इन्द्रने बतलाया। **चतुर्थ** अध्यायमें गार्ग्य बालाकिका उशीनरमें घूमते हुए काशिराज अजात-शत्रुको ब्रह्मविद्या सिखानेके प्रयास, फिर अजातशत्रुके प्रश्नोंसे निरुत्तर हो, उसके पास शिष्यता ग्रहण करनेकी बात है।

(क) ब्रह्म—प्रतर्दन राजाको इन्द्रने वर दिया और जिज्ञासा करने पर उसने आत्मप्रशंसा ('मुझे ही जान, इसीको मैं मनुष्योंकेलिए हित-तम समझता हूँ') करके प्राण रूपी ब्रह्मके बारेमें कहा[1]—

"आयु (=जीवन) प्राण है, प्राण आयु है।....प्राणोंकी सर्वश्रेष्ठता तो है ही। जीते (आदमी)में वाणी न होनेपर गूँगोंको हम देखते हैं,....

[1] कौषीतकि ३।२–९

आँख न होनेपर अंधों...., कान न होनेपर बहरों...., मन (=बुद्धि) न होनेपर बालों (मूर्खों)को देखते हैं। जो प्राण है वह प्रज्ञा (=बुद्धि) है, जो प्रज्ञा है, वह प्राण है। ये दोनों एक साथ इस शरीरमें बसते हैं, साथ निकलते हैं।....जैसे जलती आगसे सभी दिशाओंमें शिखाएं स्थित होती हैं, उसी तरह इस आत्मासे प्राण अपने-अपने स्थानके अनुसार स्थित होते हैं; प्राणोंसे देव, देवोंसे लोक (स्थित होते हैं)। ....जैसे रथके अरोंमें नेमि (=चक्केकी पुट्ठी) अर्पित होती है, नाभिमें अरे अर्पित होते हैं; इसी तरह यह भूत-मात्राएं प्रज्ञा-मात्राओंमें अर्पित हैं। प्रज्ञा-मात्राएं (चेतन तत्व) प्राणमें अर्पित हैं। सो यह प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनंद अजर अमृत है। (यह) अच्छे कर्मसे बड़ा नहीं होता। बुरेसे छोटा नहीं होता।"

प्राण और प्रज्ञात्मा कौषीतकिका खास दर्शन है। **प्राण** की उपासना ज्ञानियोंकेलिए सबसे बड़ा अग्निहोत्र है—[1]

"जब तक पुरुष बोलता है, तब तक प्राणन (सांस लेना) नहीं कर सकता, प्राणको (वह) उस समय वचन (=भाषण क्रिया)में हवन करता है। जब तक पुरुष प्राणन करता है, तब तक बोल नहीं सकता, वाणीको उस समय प्राणमें हवन करता है। ये (प्राण और वचन) दोनों अनन्त, अमृत (=अविनाशी) आहुतियां हैं; (जिन्हें) जागते सोते वह सदा निरन्तर हवन करता है। जो दूसरी आहुतियां हैं, वह कर्मवाली अन्तवाली होती है इसीलिए पुराने विद्वान् (=ज्ञानी) अग्निहोत्र नहीं करते थे।"

(ख) जीव—जीवको कौषीतकिने **प्रज्ञात्मा** कहा है और वह उसे यावद्-शरीर-व्यापी मानता है[2]—

"जैसे छुरा छुरधान (=छुरा रखनेकी थैली)में रहता है, या विश्वंभर (चिड़िया) विश्वंभरके घोंसलेमें; इसी तरह यह प्रज्ञात्मा इस शरीरमें लोमों तक, नखों तक प्रविष्ट है।"

---

[1] कौ० २।५ [2] कौ० ४।२०

(२) मैत्री-उपनिषद्

(२००–१०० ई० पू०) मैत्री-उपनिषद्पर बुद्धकालीन शासक-समाज-के निराशावाद और वैराग्यका पूरा प्रभाव है, यह राजा बृहद्रथ के वचनसे मालूम होगा। और राजाका शाक्यायन राजाके पास जाना भी कुछ खास अर्थ रखता है, क्योंकि शाक्यमुनि गौतम बुद्धको शाक्यायन बुद्ध भी कहा जा सकता है। मैत्रीके पहिले चार अध्याय ही दार्शनिक महत्त्वके हैं। आगेके तीनमें षडंग-योग, भौतिकवादी दार्शनिक बृहस्पति और फलित ज्योतिषके शनि, राहु, केतुका जिक्र है। **पहिले** अध्यायमें वैराग्य ले राजा बृहद्रथ (शायद राजगृह मगधवाले) का शाक्यायनके पास जा अपने उद्धारकी प्रार्थना है। शाक्यायनने जो कुछ अपने गुरु मैत्रीसे सीखा था, उसे अगले तीनों अध्यायोंमें बतलाया है। मैत्रीके दर्शनमें दो प्रकारकी आत्माओंको माना गया है।—एक शुद्ध आत्मा, जो शरीरमें प्रादुर्भूत हो अपनी महिमासे प्रकाश-मान होती है। दूसरी भूत-आत्मा, जिसपर अच्छे बुरे कर्मोंका प्रभाव होता है, और यही आवागमनमें आती है। शुद्धात्मा शरीरको वैसे ही संचालित करता है, जैसे कुम्हार चक्केको।

(क) वैराग्य—मैत्रीने वैराग्यके भाव प्रकट करते हुए कहा[1]—

"बृहद्रथ राजा पुत्रको राज्य दे इस शरीरको अनित्य मानते हुए वैराग्य-वान् हो जंगलमें गया। वहाँ परम तपमें स्थित हो आदित्यपर आँख गड़ाये ऊर्ध्व-बाहु खड़ा रहा। हजार दिनोंके बाद. . . .आत्मवेत्ता भगवान् शाक्या-यन आये, और राजासे बोले—"उठ उठ वर माँग।" . . . .'भगवन्! हड्डी, चमड़ा-नस-मज्जा-मांस-शुक्र-(=वीर्य)-रक्त-कफ-आँसूसे दूषित, विष्टा-मूत्र-वात-पित्त-कफसे युक्त, निःसार और दुर्गंधवाले इस शरीरमें काम-उप-भोगोंसे क्या? काम-क्रोध-लोभ-भय-विषाद-ईर्ष्या, प्रिय-वियोग-अप्रिय-संयोग-क्षुधा-प्यास-जरा-मृत्यु-रोग-शोक आदिसे पीड़ित इस शरीरमें काम-

---

[1] मैत्री १।१-७

उपभोगोंसे क्या ? इस सबको मैं नाशमान देखता हूँ। ये डंस, मच्छर ....तृण-वनस्पतियोंकी भाँति (सभी) पैदाहोने-नष्ट होनेवाले हैं; फिर क्या इनसे (लेना है) ?....(जहाँ) महासमुद्रोंका सूखना, पहाड़ोंका गिरना, ध्रुवका चलना....पृथिवीका डूबना, देवताओंका हटना (होता है) इस तरहके इस संसारमें काम=भोगोंसे क्या ?....राजाने गाथा कही....'मैं अंधे कुएंमें पड़े मेंढककी भाँति इस संसारमें (पड़ा हूँ); भगवन् तुम्हीं हमारे बचानेवाले हो।"

इसे बुद्धके दुःख-वर्णनसे मिलाइये,[1] मालूम होता है उसे देखकर ही यह लिखा गया।

(ख) आत्मा—बालखिल्योंने प्रजापतिसे आत्माके बारेमें प्रश्न किया।[2]

"भगवन्! शकट (=गाड़ी)की भाँति यह शरीर अचेतन है।.... भगवन्! जिसे इसका प्रेरक जानते हैं, उसे हमें बतलावें।' उन्होंने कहा—'जो (यहाँ) शुद्ध....शान्त....शाश्वत, अजन्मा, स्वतंत्र अपनी महिमामें स्थित है, उसके द्वारा यह शरीर चेतनकी भाँति स्थित है।"

उस आत्माका स्वरूप[3]—

"शरीरके एक भागमें अँगूठेके बराबर अणु (=सूक्ष्म)से भी अणु (इस आत्माको) ध्यान कर (पुरुष) परमता (=परमपद)को प्राप्त करता है।"

(३) श्वेताश्वतर (२००-१०० ई० पू०)

श्वेताश्वतर उपनिषद् तेरह उपनिषदोंमें सबसे पीछेकी ही नहीं है, बल्कि उसमें पहुँचकर हम भाषा-भाव सभी बातोंमें शैव आदि सम्प्रदायोंके जमानेमें चले आते हैं। रुद्र (=शिव)की महिमा, सांख्य-दर्शनके प्रकृति, पुरुष (=जीव)में ईश्वरको जोड़ त्रैतवाद तथा योग उसके खास विषय हैं। इसके छोटे-छोटे छै अध्याय हैं जो सभी पद्यमय हैं। **प्रथम अध्यायमें**

---

[1] देखिए पृष्ठ ५०२-३ [2] मै० २।३-४ [3] मै० ६।३८

अद्वैत ब्रह्मके स्थानपर त्रैतवाद—जीव, ईश्वर, प्रकृति—का प्रतिपादन किया गया है। **द्वितीय** अध्यायमें योगका वर्णन है। **तृतीय** अध्यायमें जीवात्मा और परमात्मा तथा साथ ही शैव सम्प्रदाय और द्वैतवादके बारेमें कहा गया है। इसके बहुतसे श्लोकोंको शब्दशः या भावतः पीछे भगवद्गीतामें ले लिया गया है। **चतुर्थ** अध्यायमें त्रैतवाद और ज्ञानकी प्रधानता है। **पंचम** अध्यायमें कपिल ऋषि तथा जीवात्माके स्वरूपका वर्णन है। **षष्ठ** अध्यायमें त्रैतवाद, सृष्टि, ब्रह्म-ज्ञान आदिका जिक्र है।

"जो पहिले (पुराने समयमें) उत्पन्न कपिल ऋषिको ज्ञानोंके साथ धारण करता है।"[1]—इससे मालूम होता है, बुद्धसे कुछ समय बाद पैदा हुए सांख्यके संस्थापक कपिलसे बहुत पीछे यह उपनिषद् बनी। पुरानी उपनिषदों (७००-६०० ई० पू०)से बहुत पीछे यह उपनिषद् बनी, इसे वह स्वयं उस उद्धरणमें स्वीकार करती है, जिसमें कि छान्दोग्यके ज्येष्ठ पुत्र और प्रिय शिष्यके सिवा दूसरेको उपनिषद्ज्ञानको न बतलानेकी बात[2] को पुराकल्प (=पुराने युग)की बातकहा गया है—

"पुराने युगमें वेदान्तमें (यह) परम गुह्य (ज्ञान) कहा गया था, उसे न अ-प्रशान्त (व्यक्ति)को देना चाहिए, और (न उसे जो कि) न (अपना) पुत्र और शिष्य है।"

(क) जीव-ईश्वर-प्रकृतिवाद—मुंडक बुद्धकालीन परिव्राजकोंका उपनिषद् है, यह कह चुके हैं और यह भी कि उसमें त्रैतवादकी स्पष्ट झलक है।[3] नीचे हम **श्वेताश्वतर** (=सफेद-खच्चर)से इस विषयके कितने ही वाक्य उद्धृत करते हैं। इनकी प्रचुरतासे मालूम होता है, कि इसके गुमनाम लेखककी मुख्य मंशा ही त्रैतवाद-प्रतिपादन करना था।

"उस **ब्रह्मचक्रमें हंस** (=जीव) घूमता है। प्रेरक पृथग्-आत्मा (=ब्रह्म)का ज्ञान करके फिर उस (=ब्रह्म)से युक्त हो **अमृतत्व** (=मुक्ति)को प्राप्त करता है।"[4]

---

[1] श्वे० ५।२　[2] छां० ३।११।६　[3] मुंडक ३।१।१　[4] श्वे० १।६

"ज्ञ (=ज्ञानी, ब्रह्म) और अज्ञ (=जीव) दोनों अजन्मा हैं, जिनमेंसे एक ईश, (दूसरा) अनीश (=पराधीन) है। एक अजा (=जन्मरहित प्रकृति है, जो कि) भोक्ता (=जीव)के भोगवाले पदार्थोंसे युक्त है। आत्मा (=ब्रह्म) अनन्त, नानारूप, अकर्ता है। तीनोंको लेकर यह ब्रह्म है? क्षर (=नाशमान) **प्रधान (=प्रकृति)** है; अमृत, अक्षर (=अविनाशी) हर है। क्षर और (जीव-) आत्मा (दोनों) पर एक देव (=ईश्वर) शासन करता है।....सदा (जीव-)आत्मामें स्थित वह (=ब्रह्म) जानने योग्य है। इससे परे कुछ भी जानने लायक नहीं है। भोक्ता (=जीव), भोग्य (=प्रकृति), प्रेरिता (=ब्रह्म)को जानना; यह सारा त्रिविध ब्रह्म कहा गया।"[1]

"लाल-सफेद-काली एक रूपवाली बहुतसी प्रजाओंको सृजन करती एक अ-जा (=प्रकृति)में एक अज (=जीव) भोग करते हुए आसक्त है, (किन्तु) इस भुक्त भोगों वाली (प्रकृति)को दूसरा (=ब्रह्म) छोड़ता है। दो सहयोगी सखा पक्षी (=जीव, ईश्वर) एक वृक्षको आलिंगन कर रहे हैं। उनमेंसे एक फलको चखता है, दूसरा न खाते हुए चारों ओर प्रकाशता है।...मायी (=मायावाला ईश्वर) इस विश्वको सृजता है, उससे दूसरा मायासे बँधा हुआ है। **प्रकृति**को माया जानो, और **महेश्वर**को मायी।"[2]

"नित्यों (बहुतसे जीवों)के बीच (एक) नित्य, चेतनोंके बीच एक चेतन जो (कि) बहुतोंकी कामनाओंको (पूरा) करता है।...प्रधान और क्षेत्रज्ञ (जीव)का स्वामी गुणोंका ईश संसारसे मोक्ष, स्थिति, बंधनका (जो) हेतु है।"[3]

श्वेताश्वतरकी भगवद्‌गीता[4]से तुलना करनेपर साफ जाहिर होता है, कि गीताके कर्त्ताके सामने यह उपनिषद् मौजूद ही नहीं थी, बल्कि इस प्रथम प्रयाससे उसने लाभ उठाया, रचनाके ढंग को लिया,

---

[1] श्वे० १।६-१२ [2] श्वे० ४।५-१० [3] श्वे० ६।१३-१६
[4] मिलाओ भगवद्‌गीता, अध्याय १२, १३, १५

तथा बेनाम न रख वासुदेव कृष्णके नाम उसे थोपने द्वारा बड़ी चतुराई दिखलाई। जान पड़ता है उसका अभिप्राय था शैवोंके मुकाबिलेमें वैष्णवों का भी एक जबरदस्त ग्रंथ—गीतोपनिषत्—तैयार करना। यद्यपि ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दीके आस-पास समाप्त होनेवाले श्वेताश्वतरसे चार-पाँच सदियाँ पिछड़कर आनेसे उसने देरी जरूर की, किंतु गीताकी जन-प्रियता बतलाती है, कि गीताकार अपने उद्देश्यमें सफल जरूर हुआ और उत्तरी भारतमें पुराने वैष्णवोंको प्रधानता दिलाने में सफल हुआ।

(ख) शैववाद—श्वेताश्वतरके द्वैतवादमें ईश्वर या ब्रह्मको शिव, रुद्र या महेश्वर—हिन्दुओंके तीन प्रधान देवताओंमेंसे एक—को लिया गया है।

"एक ही रुद्र है . . . जो कि इन लोकोंपर अपनी ईशनी (=प्रभुताओं) से शासन करता है।"[1]

"मायाको प्रकृति जानो, मायीको महेश्वर।"[2]

"सारे भूतों (प्राणियों) में छिपे शिवको . . . . जानकर (जीव) . . . . सारे फंदोंसे मुक्त होता है।"[3]

(ग) ब्रह्म—ब्रह्मसे इस शैव-उपनिषदका अर्थ उसका इष्टदेवता शिव से है। ब्रह्मके रूपके वर्णनमें यहाँ भी पुराने उपनिषदोंका आश्रय लिया गया है, यद्यपि वह कितनी ही जगह ज्यादा स्पष्ट है। उदाहरणार्थ—

"जिस (=ब्रह्म) से न परे न उरे कुछ भी है, न जिससे सूक्ष्मतम या महत्तम कोई है। द्युलोकमें वृक्षकी भाँति निश्चल (वह) एक खड़ा है, उस पुरुषसे यह सब (जगत्) पूर्ण है।"[4]

[5]"जिससे यह सारा (विश्व) नित्य ही ढँका है, जो कालका काल, गुणी और सर्ववेत्ता है, उसीसे संचालित कर्म (=क्रिया) यहाँ पृथिवी, जल, तेज, सारेका उद्घाटन (=सृजन) करता है . . . . । . . . . । वह ईश्वरोंका परम-महेश्वर, देवताओंका परम-देवता, पतियों (=पशुपतियों)का परम-

---

[1] श्वे० ३।२ [2] श्वे० ४।१० [3] श्वे० ४।१६
[4] श्वे० ३।६ [5] श्वे० ६।२-१८

(पति) है। पूज्य भुवनेश्वर (उस) देवको हम जानें। उसका कार्य और कारण (कोई) नहीं है, न कोई उसके समान या अधिक है . . . . । जो ब्रह्मको पहिले बनाता है और जो उसे वेदोंको देता है । . . . ."

(घ) जीवात्मा—जीवात्माका वर्णन त्रैतवादमें कर चुके हैं। लेकिन श्वेताश्वतर जीवात्माको ईश्वरसे अलग करनेपर तुला हुआ है। तो भी पुरानी उपनिषदोंके ब्रह्म-अद्वैतवादको वह इन्कार करनेकी हिम्मत नहीं कर सकता था, इसीलिए "त्रयं. . . .ब्रह्ममेतत्"[1] (=तीन. . . .यह ब्रह्म है), "त्रिविधं ब्रह्ममेतत्"[2] में जीव, ईश्वर, प्रकृति—तीनोंको—ब्रह्म कहकर संगति करनी चाही है। जीवमें कोई लिंग-भेद नहीं—

"न वह स्त्री है न. . .पुरुष, और न वह नपुंसक ही है। जिस-जिस शरीरको ग्रहण करता है, उसी-उसीके साथ जोड़ा जाता है।"[3]

जीव अत्यन्त सूक्ष्म है, और उसका परिमाण है—

"बालकी नोकके सौवें हिस्सेका और सौ (हिस्सा) किया जावे, तो इस भागको जीव (के समान) जानना चाहिए।"[4]

(ङ) सृष्टि—सृष्टिकेलिए श्वेताश्वतरने भी मकड़ीका दृष्टान्त दिया, किन्तु और उपनिषदोंकी भाँति ब्रह्मके उपादान-कारण होनेका सन्देह न हो, इसे साफ करते हुए—

"जिसे एक देव मकड़ीकी भाँति प्रधान (=प्रकृति) से उत्पन्न तंतुओं द्वारा स्वभावसे (विश्वको) आच्छादित करता है।"[5]

(च) मुक्ति—मुक्तिके लिए श्वेताश्वतरका जोर ज्ञानपर है; यद्यपि "मैं मुमुक्षु उस देवकी शरण. . . .लेता हूँ।"[6]—वाक्यमें भगवद्गीताके लिए शरणागति-धर्म (=प्रपत्ति) का रास्ता भी खोल रखा है। शरणागति जो भागवतों (=वैष्णवों) के पंचरात्र-आगमकी भाँति शायद तत्कालीन शैव-आगमोंमें भी रही है। वैसे भी भेदवादी ईश्वरवाद शरणागति-धर्मकी

---

[1] श्वेता० १।९ [2] श्वे० १।१२. [3] श्वे० ५।१०
[4] श्वे० ५।९। [5] श्वे० ६।१० [6] श्वे० ६।१८

ही ओर ले जाता है। तो भी अभी "मत शोचकर सारे धर्मोंको छोड़ अकेले मेरी शरणमें आ, मैं तुझे सारे पापोंसे मुक्त कराऊँगा।"[1] बहुत दूर था, इसीलिए—

"देवको जानकर सारे फंदोंसे छूट जाता है।"[2]

"जब मनुष्य चमड़ेकी भाँति आकाशको लपेट सकेंगे, तभी देवको बिना जाने दुःखका अन्त होगा।"[3]

(a) **योग**—योगका वेदमें नाम नहीं है। पुरानी उपनिषदोंमें भी योगसे जो अर्थ आज हम लेते हैं, उसका पता नहीं है। श्वेताश्वतरमें हम स्पष्ट योगका वर्णन पाते हैं। उसके पहिले इसका वर्णन बुद्धके उपदेशोंमें भी मिलता है। जिस सांख्य योगका समन्वय पीछे भगवद्गीतामें किया गया, उसकी नींव पहिले-पहिल श्वेताश्वतर ही ने डाली थी। पुरुष, प्रकृति ही नहीं कपिल ऋषि तकका उसने जिक्र किया, हाँ, निरीश्वर सांख्यको सेश्वर बना कर। इस बातका इस्तेमाल भगवद्गीताने भी बहुत सफाईके साथ किया, और सेश्वर सांख्य तथा योग को एक कहकर घोषित किया—

"मूर्ख ही सांख्य और योग को अलग-अलग बतलाते हैं।"[4]

श्वेताश्वतरकी योग-विधिको गीताने भी लिया है।—

"तीन जगहसे शरीरको समान उन्नत स्थापित कर हृदयमें मनसे इन्द्रियोंको रोककर, ब्रह्मरूपी नाव से विद्वान् (=ज्ञानी) सभी भयावह धारोंको पार करे। चेष्टामें तत्पर हो प्राणोंको रोक, उनके क्षीण होनेपर नासिकासे श्वास ले। दुष्ट घोड़ेवाले यानकी भाँति इस मनको विद्वान् बिना गाफिल हुए धारण करे। समतल, पवित्र, कंकड़ी-आग-वालुका-रहित, शब्द-जलाश्रय आदि द्वारा मनको अनुकूल—किन्तु आँखको न खींचनेवाले गुहा-सुन-सान स्थानमें (योगका) प्रयोग करे। योगमें ब्रह्मकी अभिव्यक्ति करानेवाले ये रूप पहिले आते हैं—'कुहरा, धूम, सूर्य, अग्नि, वायु, जुगनू,

---

[1] भगवद्गीता [2] श्वे० १।८; २।१५; ४।१६ [3] श्वे० ६।२०

[4] भगवद्गीता—"सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः।"

बिजली, बिल्लोर और चन्द्रमा ।'. . . .योग-गुणोंके चालित हो जानेपर उस योगाग्निमय शरीरवाले योगीको न रोग, न बुढ़ापा, न मृत्यु होती है । (शरीरमें) हलकापन, आरोग्य, निर्लोभता, रंगमें स्वच्छता, स्वरमें मधुरता, अच्छी गंध, मल-मूत्र कम, योगकी पहिली अवस्थामें (दीखते) । . . . .दीपकी भाँति (योग-) युक्त हो जब आत्मतत्त्वसे ब्रह्मतत्त्वको देखता है; (तब) सारे तत्त्वोंसे विशुद्ध अजन्मा ध्रुव (=नित्य) देवको जान सारे फंदोंसे मुक्त हो जाता है ।''[1]

(ब) गुरुवाद—मुक्तिकी प्राप्तिकेलिए ज्ञान और योग जैसे आवश्यक हैं, वैसे ही **गुरु** भी अनिवार्य है—पुराने उपनिषदों और वेदके आचार्योंकी भाँति अध्यापनशिक्षण करनेवाले गुरु नहीं, बल्कि ऐसे गुरु जो कि ईश्वरसे दूसरे नंबरपर हैं—

"जिसकी देवमें परम भक्ति है, जैसी देवमें वैसी ही गुरुमें (भी भक्ति है), उसी महात्माके कहनेपर ये अर्थ (=परमार्थतत्त्व) प्रकाशित होते हैं ।''[2]

ग. उपनिषद्के प्रमुख दार्शनिक

जिन उपनिषदोंका हम जिक्र कर आए हैं, इनमें छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कौषीतकि, मैत्रीमें ही ऐतिहासिक नाम मिलते हैं । इनमें भी जिन ऋषियोंके नाम आते हैं, उनमें और प्रवाहण जैवलि, उद्दालक आरुणि याज्ञवल्क्य, सत्यकाम जाबाल ही वह व्यक्ति हैं, जिनके बारेमें कहा जा सकता है कि उपनिषद्के दर्शनकी मौलिक कल्पनामें इनका विशेष हाथ था । ऋग्वेदकालमें भी कुरु-पंचाल (=मेरठ-आगरा-रुहेलखंडकी कमिश्नरियाँ) वैदिक आर्यों-का प्रधान कर्मक्षेत्र था । यहीं भरद्वाजके यजमान राजा दिवोदासका समृद्धशाली शासन था । यहीं उसके पुत्र सुदासने पहिले वशिष्ठ और पीछे विश्वामित्रको पुरोहित बना अनेक याग कराये, और पश्चिमके दश राज्योंको पराजित कर पंजाबमें भी सतलज-व्यास तक अपना राज्य

---

[1] श्वे० २।८-१५　　[2] श्वे० ६।२३

फैलाया। उपनिषद्कालमें वेदकी इसी भूमिको हम फिर नये विचारक पैदा करते देखते हैं। उद्दालक आरुणि कुरु पंचालका ब्राह्मण था, यह शतपथ ब्राह्मणसे[1] मालूम होता है। जनककी जिस परिषद्में विद्वानोंसे शास्त्रार्थ करके याज्ञवल्क्यने विजय प्राप्त की थी, उसमें मुख्यतः कुरु-पंचालके विद्वान् मौजूद थे।[2] याज्ञवल्क्यके समयसे दो शताब्दी बाद बुद्धके समयमें भी इसी भूमिमें उन्होंने "महासतिपट्ठानसुत्त" और "महानिदानसुत्त"[3] जैसे दार्शनिक उपदेश दिये थे, जिसका कारण बतलाते हुए अट्ठकथाकार कहते हैं—"कुरु देश-वासी . . . देशके अनुकूल ऋतुआदि-युक्त होनेसे हमेशा स्वस्थ-शरीर स्वस्थ-चित्त होते हैं। चित्त और शरीरके स्वस्थ होनेसे प्रज्ञा-बलयुक्त हो गंभीर कथाके ग्रहण करनेमें समर्थ होते हैं। . . . भगवान् (=बुद्ध)ने कुरु-देश-वासी परिषद्को यह गंभीर देशनाका उपदेश किया। . . . (इस देशमें) दास और कर्मकर, नौकर-चाकर भी स्मृति-प्रस्थान (=ध्यानयोग)-संबंधी कथाओंको कहते हैं। पनघट और सूत कातनेके स्थान आदिमें भी व्यर्थकी बात नहीं होती। यदि कोई स्त्री—'अम्म! तू किस स्मृति-प्रस्थानकी भावना करती है?' पूछनेपर 'कोई नहीं', बोलती है; तो उसको धिक्कारती है—'धिक्कार है तेरी जिन्दगीको, तू जीती भी मुर्देके समान है।'"[4]

त्रिपिटककी यह अट्ठकथाएँ ईसा पूर्व तीसरी शताब्दीमें भारतसे सिंहल गई परंपराके आधारपर ईसवी चौथी सदीमें लेखबद्ध हुई थीं।

उपनिषद्के दार्शनिक विकासको दिखलानेकेलिए यहाँ हम उपनिषद्के कुछ प्रधान दार्शनिकोंके विचारोंको देते हैं।

---

[1] शत० ११४।१२

[2] बृह० ३।१।१ "तत्र ह कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुः।"

[3] दीघनिकाय २।१; २।२२

[4] दीघनिकाय-अट्ठकथा—"महासतिपट्ठानसुत्त" (देखो मेरी "बुद्ध-चर्या", पृष्ठ ११८)

१. प्रवाहण जैवलि (७००–६५० ई० पू०)

आरुणिका समय अपने शिष्य याज्ञवल्क्य (६५० ई०)से थोड़ा पहिले होगा और आरुणिका गुरु होनेसे प्रवाहण जैवलिको हम उससे कुछ और पहिले ले जा सकते हैं। वह पंचालके राजा थे, और सामवेदके उद्गीथ (-गान) में अपने समयके तीन मशहूर गवैयों[1]—शिलक शालावत्य, चैकिता-यन दाल्म्य, और प्रवाहण जैवलि—में एक थे। प्रवाहण क्षत्रिय थे यह अपने दो समकक्षोंके कहनेपर उनकी इस बातसे मालूम होता है—"आप (दोनों) भगवान् बोलें, बोलते (दोनों) ब्राह्मणोंकी वचनको मैं सुनूँगा।"[2] जैवलिके प्रश्नोंका उत्तर न दे सकनेके कारण श्वेतकेतुका अपने पिता आरुणि के पास गुस्सेमें जैवलिको राजन्यबन्धु[3] कहकर ताना देना भी उनके क्षत्रिय राजा होनेको साबित करता है।

(दार्शनिक विचार)—जैवलिके विचार छान्दोग्यमें दो जगह और बृहदारण्यकमें एक जगह मिलते हैं, जिनमें एक तो छान्दोग्य[4] और बृह-दारण्यक[5] दोनों जगह आया है[6]—

"श्वेतकेतु आरुणेय पंचालोंकी समितिमें गया। उससे (राजा) प्रवाहण जै-वलिने पूछा—कुमार! क्या पिताने तुझे अनुशासन (=शिक्षण) किया है?"

'हाँ भगवन्!'

'जानते हो कि यहाँसे प्रजाएं (=प्राणी) कहाँ जाती हैं?'

'नहीं भगवन्!'

'जानते हो, कि कैसे यहाँ लौटती हैं?'

'नहीं भगवन्!'

'जानते हो, देवयानके पथको और पितृयाणसे लौटने को?'

'नहीं भगवन्!'

'जानते हो, क्यों वह लोक नहीं भर जाता?'

---

[1] छां० १।८।१ [2] वहीं। [3] बृह० ६।२।३; छां० ५।३।५
[4] छां० १।८।३ [5] छां० ५।३।१ [6] बृह० ६।२।१

'नहीं भगवन् !'

'जानते हो, क्यों पाँचवीं आहुतिमें जल पुरुष-नाम वाला हो जाता है ?'

'नहीं, भगवन् !'

'तो कैसे तुम (अपनेको) अनुशासन किया (पठित) बतलाते हो ? जो इन (बातों)को नहीं जानता, कैसे वह (अपनेको) अनुशिष्ट बतलायेगा !'

(तब) खिन्न हो वह अपने पिताके पास आया,—और बोला—

'बिना अनुशासन किये ही भगवान्ने मुझे कहा—तुझे मैंने अनुशासन कर दिया। राजन्यबन्धु (=प्रवाहण)ने मुझसे पाँच प्रश्न पूछे, उनमेंसे एकका भी उत्तर मैं नहीं दे सका।'

'जैसा . . . . तूने इन (प्रश्नों)को बतलाया, मैं उनमेंसे एकको भी नहीं जानता। यदि मैं इन्हें जानता, तो क्यों न तुझे बतलाता ?'

"तब गौतम (आरुणि) राजाके पास गया। उसके पहुँचनेपर (जैवलि) ने उसका सम्मान किया। दूसरे दिन . . . . (आरुणि गौतम) से पूछा—

'भगवन् गौतम ! मानुष वित्तका वर माँगो।'

"उसने कहा—'मानुष वित्त तेरे ही पास रहे। जो कुमार (श्वेतकेतु)से बात कही उसे मुझसे भी कह।'

"वह (जैवलि) मुश्किलमें पड़ गया। फिर आज्ञा दी 'चिरकाल तक वास करो। . . . . जैसा कि तुमने गौतम ! मुझसे कहा। (किन्तु) चूँकि यह विद्या तुमसे पहिले ब्राह्मणोंके पास नहीं गई, इसीलिए सारे लोकोंमें क्षत्रियका ही प्रशासन (=शासन) हुआ था।' . . . . पीछे पाँचवीं आहुति में कैसे वह पुरुष नाम वाली होती है, इसे समझाते हुए जैवलिने कहा—

"गौतम ! वह (नक्षत्र) लोक अग्नि है, उसकी आदित्य ही समिधा (ईंधन) है, (आदित्य-) रश्मियाँ धूम हैं, दिन किरण, चंद्रमा अंगार, और नक्षत्र शिखाएं हैं। इस अग्निमें देव श्रद्धाका हवन करते हैं, उस आहुतिसे सोम राजा पैदा होता है।

"पर्जन्य अग्नि है . . . . वायु समिधा, अभ्र (=बादल) धूम, बिजली किरण, अशनि (=चमक) अंगार, ह्लादुनि (=कड़क) शिखाएं। इस

अग्निमें देव सोमराजाको हवन करते हैं, उस आहुतिसे वर्षा होती है।"

इसी तरह आगे भी बतलाया। इस सारे उपदेशको कोष्ठक-चित्रमें देने पर इस प्रकार होगा—

अग्नि	समिधा	धूम	किरण	अंगार	शिखा	आहुति	फल
१. (नक्षत्र) लोक	आदित्य	रश्मि	दिन	चंद्रमा	नक्षत्र	श्रद्धा	सोम
२. पर्जन्य	वायु	अभ्र	विद्युत्	अशनि	ह्रादुनि	सोम	वर्षा
३. पृथिवी	संवत्सर	आकाश	रात्रि	दिशा	अन्तर्दिशा	वर्षा	अन्न
४. पुरुष	वाणी	प्राण	जिह्वा	चक्षु	श्रोत्र	अन्न	वीर्य
५. स्त्री	उपस्थ	प्रेमाह्वान	योनि	अन्तः प्रवेश	मैथुनसुख	वीर्य	गर्भ

"'इस प्रकार पाँचवीं आहुतिमें जल पुरुषनामवाला (=पुरुष कहा जाने वाला) होता है। झिल्लीमें लिपटा वह गर्भ दस या नौ मासके बाद (उदरमें) लेटकर जन्मता है। जन्म ले आयु भर जीता है। मरनेपर अग्नियाँ ही उसे यहाँसे वहाँ ले जाती हैं, जहाँसे (आकर) कि वह (यहाँ) पैदा हुआ था।'"

आगे ब्रह्मविद्याके जाननेवाले साधकोंके लिए, देवयानका रास्ता प्राप्त होता है, यह बतलाया गया है।

छान्दोग्यके इसी संवादको बृहदारण्यकने भी दुहराया है। हाँ, जैवलिने आरुणिको जिन मानुष-वित्तोंके देनेका प्रलोभन दिया, उनकी यहाँ गणना भी की गई है—हाथी, सोना, गाय, घोड़े, प्रवर दासियाँ, परिधान (=वस्त्र)। यह विद्या आरुणिसे पहिले 'किसी ब्राह्मणमें नहीं बसी' पर यहाँ भी जोर दिया गया। पंचाहुति, फिर देवयान, पितृयाण और पितृ-याणसे लौटकर फिर इस लोकमें छान्दोग्यके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि योनियों और बृहदारण्यकके अनुसार कीट-पतंग आदिमें भी जन्म लेना। यह खूब स्मरण रखनेकी बात है, कि पुनर्जन्मका सिद्धान्त ब्राह्मणोंका नहीं

क्षत्रियों (=शासकों) का गढ़ा हुआ है, और तब इसके भीतर छिपा रहस्य आसानीसे समझमें आ सकता है ।

२–उद्दालक आरुणि गौतम (६५० ई० पू०)

आरुणि शतपथके अनुसार कुरु-पंचालके ब्राह्मण थे।[1] पंचालराज प्रवाहण जैवलिके पास देर तक शिष्य रह, इन्होंने उनसे पंचाग्नि विद्या, देव-यान, पितृयाण (=पुनर्जन्म) तत्त्व की शिक्षा ग्रहण की थी, इसे हम अभी बतला चुके हैं। आगेके उद्धरणसे यह भी मालूम होगा, कि इन्होंने राजा अश्वपति कैकय तथा (राजा ?) चित्र गार्ग्यायणिसे भी दर्शनकी शिक्षा ग्रहण की थी। बृहदारण्यकके अनुसार याज्ञवल्क्य आरुणिके शिष्य थे, किन्तु साथ ही जनककी परिषद्में उद्दालक आरुणिका याज्ञवल्क्यके साथ शास्त्रार्थ होना[2] प्रमाद पाठ है यह हम बतला चुके हैं। इस तरह आरुणि-की शिष्य-परंपरा है—(क)

अश्वपति   प्रवाहण   चित्र
|
आरुणि
|
पुत्र → श्वेतकेतु   याज्ञवल्क्य
|
मधुक पैंग्य
|
चूल भागवित्ति
|
जानकि आपस्थूण
|
सत्यकाम जाबाल

---

[1] शतपथ ११।४।१२ [2] बृह० ६।३।७ [3] बृह० ३।७।१

(ख) और याज्ञवल्क्यके समकालीन प्रतिद्वंद्वी, साथी या शिष्य हैं[1]—

१. याज्ञवल्क्य, २. जनक वैदेह, ३. जारत्कारव आर्त्तभाग ४. भुज्यु लाह्यायनि, ५. उषीस्त चाक्रायण, ६. कहोल कौषीतकेय ७. गार्गी वाचक्नवी ८. विदग्ध साकल्य

(ग) जनक वैदेहके साथ बात करनेवालोंमें हम निम्न नाम पाते हैं[2]—

९. जित्वा शैलिनि, १०. उदङ्क शौल्वायन, ११. वर्कु वार्ष्ण, १२. गर्दभीविपीत भारद्वाज १३. सत्यकाम जाबाल।

इन तीनों सूचियोंके मिलानेसे सत्यकाम जाबाल और उद्दालक आरुणिके संबंधोंमें गड़बड़ी मालूम होती है—(क)में उद्दालक आरुणि (श्वेतकेतुका पिता) याज्ञवल्क्यके गुरु हैं, लेकिन (ख)में वह जनककी सभामें उनके प्रतिद्वंद्वी। इसी तरह (क)में सत्यकाम जाबाल याज्ञवल्क्यकी शिष्य-परंपरामें पाँचवें हैं, किन्तु (ग)में वह जनक विदेहके उपदेशक रह चुके हैं। वंशावली-की अपेक्षा संवादके समय कहा गया संबंध यदि अधिक शुद्ध मान लिया जाय, तो मानना पड़ेगा कि सत्यकाम जाबाल याज्ञवल्क्यकी शिष्य-परंपरामें नहीं बल्कि समकालीन थे। यद्यपि दोनों उद्दालक आरुणियोंके गौतम होनेसे वहाँ दो व्यक्तियोंकी कल्पना स्वाभाविक नहीं मालूम होती, साथ ही आरुणिके सर्वप्रथम क्षत्रियसे पंचाग्नि विद्या, देवयान, पितृयाणकी शिक्षा पानेवाले प्रथम ब्राह्मण होनेसे आरुणिका याज्ञवल्क्यका गुरु होना ज्यादा स्वाभाविक मालूम होता है; और यहाँ संवादमें आरुणिको याज्ञवल्क्यका प्रतिद्वंद्वी बतलाया गया है। लेकिन, जब हम संवादोंकी संख्या और क्रमको देखते हैं, तो मालूम होता है कि परिषद्में सभी प्रतिद्वंद्वियोंके संवाद एक जगह आये हैं, सिर्फ गार्गी वाचक्नवी ही वहाँ एक ऐसी प्रतिद्वंद्वी है, जिसके संवाद दो बार आये हैं, और दोनों संवादोंके बीच आरुणिका संवाद मिलता है। यद्यपि इसमें भीतर रह ब्रह्मके संचालन (=अन्तर्यामिता)की महत्त्वपूर्ण बात है,

---

[1] बृह० ३।१–७ [2] बृह० ४।१

इसलिए उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, तो भी आरुणिको बीचमें डालकर गार्गीके संवादको दो टुकड़ेमें बाँटनेका कोई कारण नहीं मालूम होता। आखिर, क्या वजह जब सभी वक्ता एक-एक बार बोलते हैं, तो गार्गी दो बार बोलने गई। फिर पतंचल काप्यकी भार्यापर आये भूतका जिक्र भुज्युने[1] पहिले अपने नामसे कहा है, अब उसे ही आरुणि भी दुहरा रहा है, यह भी हमारे सन्देहको पुष्ट करता है और एक बार गार्गीके चुप हो जानेपर निगृहीत व्यक्तिका फिर बोलना उस वक्तकी वाद-प्रथाके भी विरुद्ध था। इस तरह आरुणिका याज्ञवल्क्यका गुरु होना ही ठीक मालूम होता है।

दार्शनिक विचार—

(१) **आरुणि जैवलिकी शिष्यतामें**—आरुणिको पंचालराज जैवल्लिने पंचम आहुति तथा देवयान-पितृयानका उपदेश दिया था, इसका जिक्र हम कर चुके हैं। छान्दोग्यमें एक जगह और आरुणिका आचार्य नहीं शिष्यके तौरपर जिक्र आया है[2]—

"प्राचीनशाल औपमन्यव, सत्ययज्ञ पौलुषि, इन्द्रद्युम्न भाल्लवेय, जन शार्कराक्ष्य, बुडिल अश्वतराश्वि—इन महाशालों (=प्रतापी) महा-श्रोत्रियों (=महावेदज्ञों) ने एकत्रित हो विचार किया—'क्या आत्मा है, क्या ब्रह्म है।' उन्होंने सोचा—भगवानो! 'यह उद्दालक आरुणि इस वक्त **वैश्वानर आत्मा** की उपासना करता है, उसके पास (चलो) हम चलें।' वह उसके पास गये। उस (=आरुणि) ने सोचा (=संपादन किया)—'ये महाशाल महाश्रोत्रिय मुझसे प्रश्न करेंगे, उन्हें सब नहीं समझा सकूँगा। अच्छा! मैं दूसरेका (नाम) बतलाऊँ।' (और) उनसे कहा—'भगवानो! यह अश्वपति कैकय इस वक्त इस वैश्वानर आत्माका अध्ययन करता है, (चलो) उसीके पास हम चलें।' वे उसके पास गये। आनेपर उसने उनकी पूजा (=सन्मान) की। (फिर) उसने सवेरे....(उनसे) कहा—

---

[1] बृह० ३।३।१ [2] छां० ५।११

'न मेरे देश (जनपद) में चोर हैं, न कंजूस, न शराबी, न अग्निहोत्र न करने वाला, न अ-विद्वान्; न स्वैरी है, (फिर) स्वैरिणी (=व्यभिचारिणी) कहाँसे ? मैं यज्ञ कर रहा हूँ, जितना एक-एक ऋत्विजको धन दूँगा, उतना (आप) भगवानोंको भी दूँगा। बसो भगवानो !'

''उन्होंने कहा—'जिस प्रयोजनसे मनुष्य चले, उसीको कहे। वैश्वानर आत्माको तुम इस वक्त अध्ययन कर रहे हो, उसे ही हमें बतलाओ।'

''उसने कहा—'सवेरे आपलोगोंको बतलाऊँगा।'

''वे (शिष्यता-सूचक) समिधा हाथमें लिए पूर्वाह्णमें (उसके) पास गये। उसने उनका उपनयन किये (=शिष्यता स्वीकार कराये) बिना कहा—

'औपमन्यव ! तू किस **आत्मा**की उपासना कर रहा है ?'

'द्यौ (=नक्षत्रलोक) की भगवन् राजन् !'

'वह सुन्दर तेजवाला वैश्वानर आत्मा है, जिसकी तू उपासना करता है; इसलिए तेरे कुलमें सुत (=सन्तान), प्र-सुत, आ-सुत दिखाई देते हैं, तू अन्न भोजन करता है, प्रियको देखता है। जो ऐसे इस वैश्वानर आत्माकी उपासना करता है, उसके कुलमें ब्रह्मतेज रहता है। यह आत्माका शिर है।....शिर तेरा गिर जाता यदि तू मेरे पास न आया होता।'

''तब सत्ययज्ञ पौलुषिसे बोला—'प्राचीनयोग्य ! तू किस आत्माकी उपासना करता है ?'

'आदित्यकी ही भगवन् राजन् !'

'यही विश्वरूप वैश्वानर आत्मा है, जिसकी तू उपासना करता है। इसलिए तेरे कुलमें विश्वरूप दिखलाई देते हैं—ऊपरसे ढँका खच्चरीका रथ दासी, निष्क (=अशर्फी)....तू अन्न खाता....यह **आत्मा**का नेत्र है।....अन्धा हो जाता यदि तू मेरे पास न आया होता।'

''तब इन्द्रद्युम्न भाल्लवेयसे बोला—'वैयाघ्रपद्य ! तू किस आत्माकी उपासना करता है ?'

'वायुकी ही भगवन् राजन् !'

'यही पृथग् वर्त्म (=अलग रास्तेवाला) वैश्वानर आत्मा है....। इसीलिए तेरे पास अलग (अलगसे) बलियाँ आती हैं, अलग (अलग) रथकी पंक्तियाँ अनुगमन करती हैं....।'

"तब जन शार्कराक्ष्यसे पूछा—'तू किस....?'

'आकाशकी ही भगवन् राजन्!'

'यही बहुल वैश्वानर आत्मा है।....इसलिए तू प्रजा (=सन्तान) और धनसे बहुबल है....!'

"तब बुडिल अश्वतराश्विसे बोला—'वैयाघ्रपद्य!....?'

'जलकी ही....!'

'यही रयि वैश्वानर आत्मा है।....इसीलिए तू रयिमान् (=धनी) पुष्टिमान् है।....!'

"तब उ द्दा ल क आरुणिसे बोला—'गौतम....?'

'पृथिवीकी ही भगवन् राजन्!'

'यही प्रतिष्ठा वैश्वानर आत्मा है।....इसीलिए तू प्रजा और पशुओंसे प्रतिष्ठित है।....!'

'(फिर) उन (सब)से बोला—तुम सब वैश्वानर आत्माको पृथक्की तरह जानते अन्न खाते हो।....इस वैश्वानर आत्माका शिर ही सुतेजा है, चक्षु विश्वरूप है, प्राण पृथग्वर्त्मा है....।'"

यहाँ इस संवादमें आरुणिने अपनेको पृथिवीको वैश्वानर आत्मा (=जगत्-शरीरी आत्मा)के तौरपर अध्ययन करनेवाला बतलाया गया है; और अश्वपतिने उसे एकांशिक कहा।'

(२) आरुणि गार्ग्यायणिकी शिष्यतामें—आरुणि मालूम होता है, क्षत्रियोंसे दार्शनिक ज्ञान संग्रह करनेमें ब्राह्मणोंके एक जबर्दस्त प्रतिनिधि थे। उनकी पंचालराज जैवलि, कैकयराज[1] अश्वपतिके पास ज्ञान

[1] झेलम और सिन्धके बीचके हिमालयके निचले भागपर अवस्थित राजौरीके पासका प्रदेश।

सीखनेकी बात कही जा चुकी। कौषीतकि उपनिषद्[1]से यह भी पता लगता है, कि उन्होंने चित्र गार्ग्यायणिके पास भी ज्ञान प्राप्त किया था।—

"चित्र गार्ग्यायणिने यज्ञ करते आरुणिको (ऋत्विक्) चुना। उसने (अपने) पुत्र श्वेतकेतुसे कहा—'तू यज्ञ करा!'....."

गार्ग्यायणिके प्रश्नोंका उत्तर न दे सकनेके कारण श्वेतकेतुने घर लौटकर पितासे कहा। तब आरुणि शिष्य बनकर ज्ञान सीखनेकेलिए समिधा हाथमें लिये गार्ग्यायणिके पास गया। गार्ग्यायणिने पितृयान, पुनर्जन्म, देवयानका उपदेश दिया; जो कि जैवलिके उपदेशकी भद्दी आवृत्ति मात्र है।

(३) आरुणिका याज्ञवल्क्यसे संवाद गलत—बृहदारण्यकमें आये आरुणि-याज्ञवल्क्य संवादकी असंगतिके बारेमें हम बतला चुके हैं। वहाँ आरुणिके मुँहसे यह कहलाया गया है[2]—

"(एक बार) हम मद्र[3]में पतंचल काप्यके घर यज्ञ (-विद्या)का अध्ययन करते निवास करते थे। उसकी भार्याको गंधर्व (=देवता)ने पकड़ा था। उस (=गंधर्व)से पूछा—'तू कौन है?' उसने कहा—'कबन्ध आथर्वण।' उस (=गंधर्व)ने याज्ञिकों और पतञ्चल काप्यसे पूछा—'काप्य! क्या तुझे वह सूत्र (धागा) मालूम है, जिसमें यह लोक, परलोक, सारे भूत गुँथे हुए हैं।'...पतञ्चलने कहा—'भगवन्! मैं उसे नहीं जानता।'"

शायद आरुणिका मद्रमें पतञ्चलके पास कर्मकाण्डका अध्ययन सही हो, और याज्ञिक (=वैदिक) गुरु भी दर्शनसे बिलकुल कोरे रहते थे, यह भी ठीक हो।

इन उद्धरणोंसे यह पता लगता है, कि आरुणि प्रथम ब्राह्मण दार्शनिक था। इससे पहिले दर्शन-चिन्तन शासक (=क्षत्रिय) वर्ग करता था,

---

[1] कौ० १।१ [2] बृह० ३।७।१ [3] स्यालकोट, गुजराँवाला आदि जिले।

जिसमें कितने ही उस समयके राजा भी शामिल थे। राजा दार्शनिक होते भी यज्ञ करना, ब्राह्मणोंको दक्षिणा देना छोड़ते नहीं थे—जैसा कि अश्वपति और गार्ग्यायणिके दृष्टान्तसे स्पष्ट है। आरुणिने पञ्चमाहुति (=देवयान-पितृयान), तथा वैश्वानर-आत्माका ज्ञान अपने क्षत्रिय गुरुओंसे सीखा था, किन्तु उसका अपना दर्शन वही था, जिसे कि उसने अपने पुत्र श्वेतकेतुको 'तत्त्वमसि'—या ब्रह्म-जगत् अभेदवाद—द्वारा बतलाया।

(४) आरुणिका श्वेतकेतुको उपदेश—श्वेतकेतु आरुणेय आरुणिका पुत्र था, दोनों पिता-पुत्रोंका संवाद हमें छान्दोग्य[1]में मिलता है—

"श्वेतकेतु आरुणेय था। उसे पिताने कहा—

'श्वेतकेतु! ब्रह्मचर्य वास कर। सोम्य! हमारे कुलका (व्यक्ति) अपठित रह ब्रह्मबन्धु (=ब्राह्मणका भाई मात्र)की तरह नहीं रहता।"

"बारहवें वर्षमें उपनयन (ब्रह्मचर्य-आरंभ) कर चौबीसवें वर्ष तक सारे वेदोंको पढ़ (श्वेतकेतु) महामना पठिताभिमानी गम्भीर-सा हो पास गया। उससे पिताने कहा—

'श्वेतकेतो! जो कि सोम्य! यह तू महामना है, क्या तूने उस आदेशको पूछा, जिसके द्वारा न-सुना सुना हो जाता है, न-जाना जाना?'

'कैसा है भगवन्! वह आदेश (=उपदेश)?'

'जैसे सोम्य! एक मिट्टीके पिंडसे सारी मट्टीकी (चीजें) ज्ञात हो जाती हैं, मिट्टी ही सच है और तो विकार, वाणीका प्रयोग नाम-मात्र है। जैसे सोम्य! एक लोह-मणि (=ताम्र-पिंड)से सारी लोहेकी (चीजें) विज्ञात हो जाती हैं....। जैसे सोम्य! एक नखसे खरोटनेसे सारी कृष्ण-अयस् (=लोहे)की (चीजें) विज्ञात हो जाती हैं। इसी तरह सोम्य! वह आदेश होता है।'

'निश्चय ही वे भगवन् (मेरे आचार्य) नहीं जानते थे, यदि उसे जानते तो क्यों न मुझे बतलाते। भगवान् ही उसे बतलायें।'

---

[1] छान्दोग्य ६।१

'अच्छा सोम्य !

'सोम्य ! पहिले यह एक अद्वितीय सद् (=भावरूप) ही था, उसे कोई-कोई कहते हैं—पहिले यह एक अद्वितीय अ-सद् ही था, इसलिए अ-सत्से सत् उत्पन्न हुआ। किन्तु सोम्य ! यह कैसे हो सकता है ?'

'कैसे असत्से सत् उत्पन्न हो सकता है ?'

'सत् ही सोम्य ! यह एक अद्वितीय था। उसने ईक्षण (=कामना) किया....उसने तेजको सिरजा।' "

इस प्रकार आरुणिके मतसे तेज (=अग्नि) प्रथम भौतिक तत्त्व था जिससे दूसरा तत्त्व—जल—पैदा हुआ। तपनेपर पसीना निकलता है, इस उदाहरणको आरुणि अग्निसे जलकी उत्पत्ति साबित करनेकेलिए काफी समझता था। जलसे अन्न। इस प्रकार "सत् मूल" है तेज का, "तेज मूल" है पानी का। उदाहरणार्थ "मरते हुएकी वाणी मनमें मिल जाती है, मन प्राणमें, प्राण तेज (=अग्नि)में, तेज परमदेवतामें।' सो जो यह **अणिमा** (=सूक्ष्मता) है; इसका ही स्वरूप यह सारा (=विश्व) है, वह सत्य है, वह आत्मा है, 'वह तू है' (=तत् त्वं असि) श्वेतकेतु !'

'और भी मुझे भगवान् विज्ञापित करें।'

'अच्छा सोम्य !....जैसे सोम्य ! मधु-मक्खियाँ मधु बनाती हैं, नाना प्रकारके वृक्षोंके रसोंको जमाकर एक रस बनाती हैं। वह (रस) जैसे वहाँ फर्क नहीं पाता—मैं उस वृक्षका रस हूँ, उस वृक्षका रस हूँ। *इसी तरह सोम्य ! यह सारी प्रजाएं* **सत्** *(=ब्रह्म)में प्राप्त हो नहीं जानतीं—हम सत्में प्राप्त होते हैं।....वह तू है श्वेतकेतु !'*

'और भी मुझे भगवान् विज्ञापित करें।'

'अच्छा सोम्य ! ....जैसे सोम्य ! पूर्ववाली नदियाँ पूर्वसे बहती हैं, पश्चिमवाली पश्चिमसे, वह समुद्रसे समुद्रमें जाती हैं, (वहाँ) समुद्रही होता है। वह जैसे नहीं जानती—'मैं यह हूँ'। ऐसे ही सोम्य ! यह सारी प्रजाएं **सत्**से आकर नहीं जानतीं—**सत्**से हम आईं....वह तू है श्वेतकेतु !'

'और भी मुझे भगवान् विज्ञापित करें।'

'अच्छा सोम्य ! . . . .जैसे सोम्य ! बड़े वृक्षके यदि मूलमें आघात करे, तो जीव(-रस) बहता है। मध्यमें आघात करे. . . .अग्रमें आघात करे, जीव(-रस) बहता है। सो यह (वृक्ष) इस जीव-आत्मा द्वारा अनुभव किया जाता, पिया जाता, मोद लेता स्थित होता है। उसकी यदि एक शाखाको जीव छोड़ता है, वह सूख जाती है, दूसरीको छोड़ता है, वह सूख जाती है, तीसरीको छोड़ता है वह सूख जाती है, सबको छोड़ता है, सब (वृक्ष) सूख जाता है। ऐसे ही सोम्य ! तू समझ ! . . . .जीव-रहित ही यह (शरीर) मरता है, जीव नहीं मरता। सो जो यह. . . .वह तू है श्वेतकेतु !'

'और भी मुझे भगवान् विज्ञापित करें।'

'बर्गदका फल ले आ।'

'यह है भगवन् !'

'तोड़ !'

'तोड़ दिया भगवन् !'

'यहाँ क्या देखता है ?'

'छोटे छोटे इन दानोंको भगवन् !'

'इनमेंसे प्रिय ! एकको तोड़ !'

'तोड़ दिया भगवन् !'

'यहाँ क्या देखता है ?'

'**कुछ नहीं** भगवन् !'

'सोम्य ! तू जिस इस अणिमा (=सूक्ष्मता)को नहीं देख रहा है, इसी अणिमामें सोम्य ! यह महान् बर्गद खड़ा है। श्रद्धा कर सोम्य ! सो जो. . . .**वह तू है** श्वेतकेतु !'

'और भी मुझे भगवान् विज्ञापित करें।'

'अच्छा सोम्य ! इस नमकको सोम्य ! पानीमें रख, फिर सवेरे मेरे पास आना।'

"उसने वैसा किया।"

'जो नमक रातको पानीमें रखा, प्रिय ! उसे ला तो।'

"उसे ढूँढ़ा पर नहीं पाया।"

'गल गया सा (मालूम होता) है।'

प्रिय ! भीतरसे इसका आचमन कर। कैसा है ?'

'नमक है !'

'मध्यसे आचमन कर। कैसा है ?'

'नमक है।'

'इसे पीकर मेरे पास आ।'

'उसने वैसा किया। वह एक समान (नमकीन) था। उस (=श्वेतकेतु)से कहा—'(उसके) यहाँ होते भी जिसे सोम्य ! तू नहीं देखता, यहीं है (वह)। सो जो. . . .वह तू है श्वेतकेतु !'

'और भी मुझे भगवान् विज्ञापित करें।'

'अच्छा सोम्य ! . . . .जैसे सोम्य ! (किसी) पुरुषको गंधार (देश)मे आँख मूँदे लाकर (एक) जनपूर्ण (स्थान)में छोड़ दे। वह जैसे वहाँ आगे-पीछे या ऊपर-नीचे चिल्लाये 'आँख मूँदे (मुझे) लाया, आँख मूँदे मुझे छोड़ दिया।' जैसे उसकी पट्टी छोड़ (कोई) कहे—इस दिशामें गंधार है, इस दिशामें जा। वह पंडित, मेधावी एक गाँवसे दूसरे गाँवको पूछता गंधार ही को पहुँच जाये; इसी तरह यहाँ आचार्य रखनेवाला पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है। उसको (मुक्त होनेमें) उतनी ही देर है, जबतक कि (शरीरसे) नहीं छूटता, (शरीर छूटने)पर तो (ब्रह्मको) प्राप्त होता है। सो जो. . . .वह तू है श्वेतकेतु !'

'और भी मुझे भगवान् विज्ञापित करें।'

'अच्छा सोम्य ! . . . .जैसे सोम्य ! (मरण-यातनासे) पीड़ित पुरुषको भाई-बंधु घेरते (और पूछते) हैं—पहिचानते हो मुझे, पहिचानते हो मुझे ? जब तक उसकी वाणी मनमें नहीं मिलती, मन प्राणमें, प्राण तेजमें, तेज परम देवतामें (नहीं मिलता), तबतक पहिचानता है। किन्तु जब उसकी वाणी मनमें मिल जाती है, मन प्राणमें, प्राण तेजमें,

तेज परम देवतामें, तब नहीं पहचानता। सो जो....वह तू है श्वेत-केतु !'...."

इस तरह आरुणि सद्ब्रह्म (=शारीरक ब्रह्म) वादी थे, और भौतिक तत्त्वोंमें अग्निको प्रथम मानते थे।

३. याज्ञवल्क्य (६५० ई० पू०)

(१) जीवनी—याज्ञवल्क्यकी जन्मभूमि कहाँ थी, इसका उल्लेख नहीं मिलता। कुछ लेखकों[1]ने जनक वैदेहका गुरु होनेसे उन्हें भी विदेह (=तिरहुत) का निवासी समझ लिया है, जो कि गलत है। बृहदारण्यकके[2] उद्धरणपर गौर करनेसे यही पता लगता है, कि वह कुरु-पंचालके ब्राह्मणोंमेंसे थे—

"जनक वैदेहने बहुत दक्षिणावाले यज्ञको किया। उसमें कुरु-पंचाल (=पश्चिमी युक्तप्रान्त)के ब्राह्मण एकत्रित हुए थे। जनक वैदेहके मनमें जिज्ञासा हुई—'**इन ब्राह्मणों** (=कुरु-पंचालवालों)में कौन सबसे बड़ा शिक्षित (=अनूचानतम) है?'...."

यहाँ **इन ब्राह्मणों** शब्दसे कुरु-पंचालवालोंका ही बोध होता है। वैसे भी यदि याज्ञवल्क्य विदेहके थे, तो उनकी विद्वत्ता जनकके लिए अज्ञात नहीं होनी चाहिए।

इस तरह जान पड़ता है, जैवलि, आरुणि, याज्ञवल्क्य तीनों दिग्गज उपनिषदके दार्शनिक कुरु-पंचालके रहनेवाले थे। इसीसे बुद्ध कालमें भी कुरु-पंचाल दर्शनकी खानि समझा जाता था, जैसा कि पीछे हम बतला चुके हैं। और इस तरह ऋग्वेदके समयसे (१५०० ई० पू०) जो प्रधानता इस प्रदेशको मिली, वह बराबर याज्ञवल्क्यके समय तक मौजूद रही, यद्यपि इसी बीच कैकय (पंजाब) काशी, और विदेहमें भी ज्ञान-चर्चा होने लगी थी।

अश्वपति कैकयके पास जानेवाले ये ब्राह्मण महाशाल बड़े धनाढ्य

[1] डाक्टर श्रीधर व्यंकटेश केतकरका "महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश" (पूना, १९२३) प्रस्तावना खंड १, विभाग ३, पृ० ४४८ [2] बृह० ३।१

व्यक्ति थे। उनके पास सैकड़ों खचरीके रथ—घोड़ेसे खच्चरकी कीमत उस वक्त ज्यादा थी—हाथी, दासियाँ, अशर्फियाँ थीं। प्रवर (=सुन्दर) दासियोंके लिखनेसे यही मतलब मालूम होता है, कि दासियाँ सिर्फ कमकरियाँ ही नहीं बल्कि अपने स्वामियोंकी कामतृप्तिका साधन भी थीं। याज्ञवल्क्य इसी तरहके एक ब्राह्मण महाशाल (=धनी) थे। याज्ञवल्क्यकी कोई सन्तान न थी, यह इसीसे पता लगता है, कि गृहत्यागी होते वक्त उन्होंने अपनी दोनों भार्याओं मैत्रेयी और कात्यायनीमें सम्पत्ति बाँटनेका प्रस्ताव किया[1]—

"याज्ञवल्क्यकी दो भार्यायें थीं—मैत्रेयी और कात्यायनी। उनमें मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी, किन्तु कात्यायनी सिर्फ स्त्रीबुद्धिवाली। तब याज्ञवल्क्यने कहा—

'मैत्रेयी! मैं इस स्थानसे प्रव्रज्या लेनेवाला हूँ। आ तुझे इस कात्यायनीसे (धनके बँटवारे द्वारा) अलग कर दूँ।'"

ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी भी पतिकी भाँति धनसे विरक्त थी, इसलिए उसने उससे इन्कार करते हुए कितने ही प्रश्न किये, जिनके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने जो उपदेश दिया था, उसका जिक्र हम आगे करनेवाले हैं।

(२) दार्शनिक विचार—याज्ञवल्क्यके दार्शनिक विचार बृहदारण्यक में तीन प्रकरणोंमें आये हैं—एक जनककी यज्ञ-परिषद्में, दूसरा जनकके साथकी तीन मुलाकातोंमें और तीसरा संवाद अपनी स्त्री मैत्रेयीके साथ।

(क) जनककी सभा में[2]—"जनक वैदेहने बहु-दक्षिणा यज्ञका अनुष्ठान किया। वहाँ कुरु-पंचालके ब्राह्मण आए थे। जनक वैदेहको जिज्ञासा हुई—'कौन इन ब्राह्मणोंमें सर्वश्रेष्ठ पंडित है।' उसने हजार गायोंको रुकवाया (=एक जगह खड़ा किया)। उनमेंसे एक एककी दोनों सींगोंमें दश-दश **पाद**[3]

---

[1] बृह० ४।५।१ [2] बृह० ३।१।१

[3] **कार्षापणके चौथाई भागका सिक्का, जो कि बुद्धके वक्त पाँच मासेभर ताँबेका होता था। १० पाद=ढाई कार्षापण। एक कार्षापणका मूल्य उस वक्त आजके बारह आनेके बराबर था।**

बाँधे हुए थे। जनकने उनसे कहा—'ब्राह्मण भगवानो! जो तुममें ब्रह्मिष्ठ (=सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवादी) है, वह इन गायोंको हँका ले जाये।' ब्राह्मणोंने हिम्मत न की। तब याज्ञवल्क्यने अपने ही ब्रह्मचारी (=शिष्य) को कहा—'सोमश्रवा! हँका ले चल इन्हें।' और उन्हें हँकवा दिया। वे ब्राह्मण क्रुद्ध हुए—कैसे (यह) हममें (अपनेको) ब्रह्मिष्ठ कहता है।' जनक वैदेहका होता अश्वल था, उसने इस (याज्ञवल्क्य)से पूछा—

'तुम हममें ब्रह्मिष्ठ हो याज्ञवल्क्य!'

'हम ब्रह्मिष्ठको नमस्कार करते हैं, हम तो गायें चाहते हैं।'

(a) **अश्वलका कर्मपर प्रश्न**—"होता अश्वलने वहीसे उससे प्रश्न करना शुरू किया—...."

अश्वलने अपने प्रश्न ज्यादातर यज्ञ और उसके कर्म-कलापके बारेमें किये। याज्ञवल्क्य वैदिक कर्मकाण्डके बड़े पंडित थे, यह शत-पथ ब्राह्मणके १-४ तथा १०-१४ कांडोंमें उद्धृत उनकी बहुतसी याज्ञिक व्याख्याओंसे स्पष्ट है। याज्ञवल्क्यकी आधी तार्किक और आधी साम्प्रदायिक व्याख्यासे होता अश्वल चुप हो गया।

(b) **आर्तभागका मृत्यु-भक्षकपर प्रश्न**—फिर जारत्कारव आर्त-भागने प्रश्न करने शुरू किये—अतिग्राह (=बहुत पकड़नेवाले) क्या हैं? आठ—प्राण, वाग्, जिह्वा, आँख, कान, मन, हाथ, चर्म—यह आठ **ग्रह** (=इन्द्रिय) हैं; जो कि क्रमशः अपान, नाम, रस, रूप, शब्द, कामना और कर्म इन आठ अतिग्राहों (=विषयों) द्वारा गंध सूँघते, नाम बोलते, रस चखते, रूप देखते, शब्द सुनते, काम (=भोग) चाहते, कर्म करते, स्पर्श जानते हैं। इन्द्रियोंके बारेमें यह उत्तर सुनकर आर्तभागने फिर पूछा—

'याज्ञवल्क्य! यह सब (=विश्व) तो मृत्युका अन्न (भोजन) है। कौन वह देवता है, जिसका अन्न मृत्यु है?'

'आग मृत्यु है, वह पानीका भोजन है, पानीसे मृत्युको जीता जा सकता है।'

'याज्ञवल्क्य! जब यह पुरुष मर जाता है, (तब) उसके प्राण (साथ) जाते हैं या नहीं?'

'नहीं।....यहीं रह जाते हैं। वह उसास लेता है, खर्खर करता है, फिर मरकर पड़ जाता है।'

'याज्ञवल्क्य! जब यह पुरुष मरता है, क्या (है जो) इसे नहीं छोड़ता ?'

'नाम.....।'

'याज्ञवल्क्य! जब मरनेपर इस पुरुषकी वाणी आग (=तत्त्व)में समा जाती है, प्राण वायुमें, आँख आदित्यमें, मन चन्द्रमामें, श्रोत्र दिशाओंमें, शरीर पृथिवीमें, **आत्मा** आकाशमें, रोएं औषधियोंमें, केश वनस्पतियोंमें, खून और वीर्य पानीमें मिल जाते हैं; तब यह पुरुष (जीव) कहाँ होता है ?'

'हाथ ला, सोम्य आर्तभाग! हम दोनों ही इस (तत्त्व)को जान सकेंगे, ये लोग नहीं.....।'

"तब दोनोंने उठकर मंत्रणा की, उन्होंने जो कहा, वह कर्म हीके बारेमें कहा। जो प्रशंसाकी कर्मकी ही प्रशंसा की।—'पुण्य कर्मसे पुण्य (=भला) होता है, पापसे पाप (=बुरा) होता है।' तब जगत्कारव आर्तभाग चुप हो गया।

(c) **भुज्यु लाह्यायनिका अश्वमेध-याजियोंके लोकपर प्रश्न**—"तब भुज्यु लाह्यायनिने पूछा—'याज्ञवल्क्य! हम मद्र देशमें विचरण करते थे। वहाँ पतंचल काप्यके घर पर गये। उसकी लड़की गंधर्व-गृहीता (=देवता जिसके सिरपर आया हो) थी। उससे मैंने पूछा—'तू कौन है ?' उसने कहा—'सुधन्वा आङ्गिरस।' तब उससे लोकोंका अन्त पूछते हुए मैंने कहा—'कहाँ पारिक्षित' (परीक्षित-वंशी) गये ?' सो मैं तुमसे भी याज्ञवल्क्य! पूछता हूँ, कहाँ परीक्षित गये ?'

---

[1] छान्दोग्य (३।१७।६) में घोर आंगीरसके शिष्य देवकीपुत्र कृष्णका जिक्र आया है, उससे और यहांके वर्णनको मिलानेसे परीक्षित् महाभारत के अर्जुनका पुत्र मालूम होता है। फिर परीक्षित्-वंशियोंके कहनेसे जान पड़ता है, कि तबसे याज्ञवल्क्य तक कितनी ही पीढ़ियाँ बीत चुकी थीं। "सांकृत्यायन-वंश"में मैंने परीक्षित्-पुत्र जन्मेजयका समय ९०० ई० पू० निश्चित किया है।

"उस (याज्ञवल्क्य)ने कहा—. . .'वह वहाँ गये जहाँ अश्वमेध-याजी (=करने वाले) जाते हैं ?'

'अश्वमेधयाजी कहाँ जाते हैं ?'

इसपर याज्ञवल्क्यने वायु द्वारा उस लोकमें अश्वमेधाजियोंका जाना बतलाया, जिसपर लाह्यायनि चुप हो गया।

(d) **उषस्ति चाक्रायण-सर्वान्तरात्मापर प्रश्न**—उपस्ति चाक्रायण कुरु-देशका एक प्रसिद्ध वेदज्ञ था। छान्दोग्य[1]में इसके बारेमें कहा गया है—

"कुरु-देशमें ओले पड़े थे, उस समय उपस्ति चाक्रायण (अपनी) भार्या आटिकीके साथ **प्रद्राणक** नामक शूद्रोंके ग्राममें रहता था। उसने (एक) इभ्य (=शूद्र)को कुल्माष (=दाल) खाते देख, उससे माँगा। उसने उत्तर दिया—'यह जो मेरे सामने है उसे छोड़ और नहीं है।' 'इसे ही मुझे दे।'. . . उसने दे दिया. . . .।"

इभ्यने उपस्तिको जब पानी भी देना चाहा, तो उपस्ति ने कहा—"यह जूठा पीना होगा।" जिसपर दूसरेने पूछा—क्या यह (कुल्माष) जूठा नहीं है ? तो उसने कहा—इसे खाये बिना हम नहीं जी सकेंगे। पानी तो यथेष्ट पा सकते हैं। खाकर बाकीको स्त्रीके लिए ले गया। वह पहिले ही आहार प्राप्त कर चुकी थी। उसने उसे लेकर रख दिया। दूसरे दिन उसी जूठे कुल्माषको खाकर उपस्ति कुरु-राजके यज्ञमें गया, और राजाने उसका बहुत सन्मान किया।

उपस्ति चाक्रायण अब कुरु (मेरठ जिले)से चलकर विदेह (दर्भंगा जिले, बिहार)में आया था, जहाँ कि जनक बहुदक्षिणा यज्ञ कर रहा था। याज्ञवल्क्यको गायें हँकवाते देख उसने पूछा[2]—

"'याज्ञवल्क्य ! जो साक्षात् अपरोक्ष (=प्रत्यक्ष) ब्रह्म, जो सबके भीतर वाला (=सर्वान्तर) आत्मा है, उसके बारेमें मुझे बतलाओ।"

---

[1] छां० १।१० [2] बृह० ३।४।१

"यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है ।"

'कौन सा याज्ञवल्क्य ! सर्वान्तर है ?'

'जो प्राणसे प्राणन करता (=श्वास लेता) है, वह तेरा सर्वान्तर आत्मा है, जो अपानसे . . . .व्यान . . . ., उदानसे उदानन (=ऊपरको खींचनेकी क्रिया) करता है, वह तेरा सर्वान्तर आत्मा है ।'

उषस्ति चाक्रायणने कहा—'जैसे कहे—यह गाय है, यह अश्व है; इसी तरह यह (तुम्हारा) कहा हुआ, जो वही साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म, जो सर्वान्तर आत्मा है, उसके बारेमें मुझे बतलाओ ।'

'यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है ।'

'कौनसा याज्ञवल्क्य ? सर्वान्तर है ?'

'दृष्टिके देखनेवालेको तू नहीं देख सकता, न श्रुति (=शब्द)के सुननेवालेको सुन सकता, न मतिके मनन करनेवालेको मनन कर सकता, न विज्ञाति (=जानने)के जाननेवालोको विज्ञानन कर सकता । यही तेरा आत्मा सर्वान्तर है, इससे भिन्न तुच्छ (=आर्त) है ।'

"तब उषस्ति चाक्रायण चुप हो गया ।"

(c) कहोल कौषीतकेयका सर्वान्तरात्मापर प्रश्न—तब कहोलने पूछा[१]—

" 'याज्ञवल्क्य ! जो ही साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो सर्वान्तर आत्मा है, उसके बारेमें मुझे बतलाओ ।'

'यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है ।'

'कौनसा याज्ञवल्क्य ! सर्वान्तर है ?'

'(वह) जो (कि) भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा, मृत्युसे परे है । इसी आत्माको जानकर ब्राह्मण पुत्र-इच्छा, धन-इच्छा, लोक (=सन्मान) इच्छासे हटकर भिक्षाचारी (=गृहत्यागी) होते हैं। जो कि पुत्र-इच्छा है वही वित्त-इच्छा है, जो वित्त-इच्छा है, वही लोक-इच्छा है; दोनों ही

---

[१] बृह० ३।५।१

इच्छाएं हैं। इसलिए ब्राह्मणको पांडित्यसे विरक्त हो बाल्य (=बालकोंकी भाँति भोलाभालापन) के साथ रहना चाहिए; बाल्य और पाण्डित्यसे विरक्त हो मुनि....।....मौनसे विरक्त हो, फिर ब्राह्मण (होता है)। वह ब्राह्मण कैसे होता है? जिससे होता है उससे ऐसा ही (होता है) इससे भिन्न तुच्छ है।'

तब कहोल कौषीतकेय चुप हो गया।'[1]

(f) गार्गी वाचक्नवी (ब्रह्मलोक, अक्षर)—मैत्रेयीकी भाँति गार्गी और उसके प्रश्न इस बातके सबूत हैं, कि छठी-सातवीं सदी ईसा-पूर्वमें स्त्रियोंको चौके-चूल्हेसे आगे बढ़नेका काफ़ी अवसर मिलता था; अभी वह पर्दे और दूसरी सामाजिक जकड़बन्दियोंमें उतनी नहीं जकड़ी गई थीं। गार्गीने पूछा'—

"'याज्ञवल्क्य! जो (कि) यह सब (=विश्व) पानीमें ओत-प्रोत (=ग्रथित) है, पानी किसमें ओतप्रोत है?'

'वायुमें, गार्गी!'

'वायु किसमें ओतप्रोत है?'

'अन्तरिक्ष लोकोंमें गार्गी!'"

आगेके इसी तरहके प्रश्नके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने गन्धर्वलोक, आदित्य-लोक, चन्द्रलोक,[2] नक्षत्रलोक, देवलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक, ब्रह्मलोक —में पहिलों का पिछलोंमें ओतप्रोत होना बतलाया।—ब्रह्मलोकमें सारे ही ओतप्रोत हैं; इसपर गार्गीने पूछा—

'ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत है?'

"उस याज्ञवल्क्यने कहा—'मत प्रश्नकी सीमाके पार जा, मत तेरा शिर गिरे। प्रश्नकी सीमा न पारकी जानेवाली देवताके बारेमें तू अतिप्रश्न कर

---

[1] बृह० ३।६।१

[2] आदित्यलोकसे भी चन्द्रलोकको परे और महान् बतलाना बतलाता है, कि ब्रह्मज्ञानीके लिए विज्ञानके क-खके ज्ञान होनेकी कोई खास जरूरत नहीं।

रही है। गार्गी ! मत अति-प्रश्न कर।'

"तब गार्गी वाचक्नवी चुप हो गई।"

इसके बाद उद्दालक आरुणिका प्रश्न है। जो कि प्रश्नकर्त्ता आरुणिके लिए असंगत मालूम होता है। सदियों तक ये सारे ग्रन्थ कंठस्थ करके लाये गये थे, इसलिए एकाध जगह ऐसी भूल संभव है। पालि **दीघनिकायके** महापरिनिब्बाणसुत्तमें भी कंठस्थ प्रथाके कारण ऐसी गलती हुई है, इसका उल्लेख हमने वहाँ किया है। गार्गीके प्रश्नके उत्तरांशको भी देकर हम आगे याज्ञवल्क्यके विचारोंके जाननेकेलिए किसी विस्मृत प्रश्नकर्त्ताके प्रश्नोत्तरको (जो कि यहाँ आरुणिके नामसे मिल रहा है) देंगे।[1]—

"तब वाचक्नवीने पूछा—

'ब्राह्मण भगवानो ! अच्छा तो मैं इन (याज्ञवल्क्य)से दो प्रश्न पूछती हूँ, यदि उन्हें यह, बतला देंगे, तो तुममेंसे कोई भी इन्हें ब्रह्मवादमें न जीतेगा।'

(याज्ञवल्क्य—) 'पूछ गार्गी !'

"उसने कहा—'याज्ञवल्क्य ! जैसे काशी या विदेह देशका कोई उग्र-पुत्र (=सिपाही) उतरी प्रत्यंचाको धनुषपर लगा शत्रुको बेधनेवाले बाण-फलवाले दो (तीरों)को हाथमें ले उपस्थित हो; इसी तरह मैं तुम्हारे पास दो प्रश्नोंके साथ उपस्थित हुई हूँ। उन्हें मुझे बतलाओ।'

'पूछ गार्गी !'

"उसने कहा—'याज्ञवल्क्य ! जो ये द्यौ (=नक्षत्र)लोकसे ऊपर, जो पृथिवीसे नीचे, जो द्यौ और पृथिवीके बीचमें है; जो अतीत, वर्तमान और भविष्य कहा जाता है; किसमें यह ओतप्रोत है ?'

'वह आकाशमें ओतप्रोत है।'

"उस (गार्गी)ने कहा—'नमस्ते याज्ञवल्क्य ! जो कि तुमने यह मुझे बतलाया। (अब) दूसरा (प्रश्न) लो।'

---

[1] बृह० ३।८।१।१-१२

'पूछ गार्गी !'

'आकाश किसमें ओतप्रोत है ?'

'गार्गी ! इसे ही ब्राह्मण **अक्षर** (=अ-विनाशी) कहते हैं; (जो कि) न स्थूल, न अणु, न ह्रस्व, न दीर्घ, न लाल, न स्नेह, (=चिकना या आर्द्र) न छाया, न तम, न वायु, न आकाश, न संग, न रस, न गंध, न नेत्र-श्रोत्र-वाणी-मन द्वारा ग्राह्य, न तेज (=अग्नि) वाला, न प्राण, न मुख, न मात्रा (=परिमाण) वाला, न आन्तरिक, न बाह्य है। न वह किसीको खाता है, न उसको कोई खाता है। गार्गी ! इसी **अक्षर**के शासनमें सूर्य-चन्द्र धारे हुए स्थित हैं, इसी अक्षरके शासनमें द्यौ और पृथिवी . . . . मुहूर्त्त रात-दिन, अर्ध-मास, मास, ऋतु-संवत्सर . . . . धारे हुए स्थित हैं। इसी अक्षरके शासनमें श्वेत पहाड़ों (=हिमालय) से पूर्व वाली नदियाँ या पश्चिमवाली दूसरी नदियाँ उस उस दिशामें बहती हैं, इसी अक्षरके शासनमें (हो) गार्गी ! दाताओंकी मनुष्य, यजमानकी देव प्रशंसा करते हैं। . . . . गार्गी ! जो इस **अक्षर**को बिना जाने इस लोकमें हवन करे, यज्ञ करे, बहुत हजार वर्ष तप तपे उसका यह (सब करना) अन्तवाला ही है। गार्गी ! जो इस अक्षरको बिना जाने इस लोकसे प्रयाण करता है, वह अभागा (=कृपण) है; और जो गार्गी ! इस अक्षरको जानकर इस लोकसे प्रयाण करता है, वह ब्राह्मण है। वह यह **अक्षर** गार्गी ! न-देखा देखनेवाला, न-सुना सुननेवाला, न-मनन-किया मनन करनेवाला, न-विज्ञात विजानन करनेवाला है। इससे दूसरा श्रोता . . . . मन्ता . . . . विज्ञाता नहीं है। गार्गी ! इसी अक्षरमें आकाश ओतप्रोत है। . . . .'

"तब वाचक्नवी चुप हो गई।"

गार्गीके दो भागोंमें बँटे संवादमें 'किसमें यह विश्व ओतप्रोत है' इसी प्रश्नका उत्तर है; इसमें भी हमारा सन्देह दृढ़ होता है, कि श्रुतिमें स्मरण करनेवालोंकी गलतीसे यहाँ आरुणि—जो कि याज्ञवल्क्यके गुरु थे—के नामसे नया प्रश्न डालनेकी गड़बड़ी हुई है।

(ङ) विदग्ध शाकल्यका देवोंकी प्रतिष्ठापर प्रश्न—अन्तिम

प्रश्नकर्त्ता[1] विदग्ध शाकल्य था। उसका संवाद वैदिक देवताओंके संबंधमें 'दूरकी कौड़ी' लानेकी तरहका है—

"....कितने देव हैं ?'

'तेंतीस।'

'हाँ, कितने देव हैं ?'

'छै।'....'तीन।'....'दो।'....'अधा।'

'कौनसे तेंतीस ?'

'आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, (सब मिलकर) एकतीस, और इन्द्र तथा प्रजापति—तेंतीस।'

फिर इन वैदिक देवताओंके बारेमें दार्शनिक अटकलबाजी की गई है। फिर अन्तमें शाकल्यने पूछा—

'किसमें तुम और आत्मा प्रतिष्ठित (=स्थित) हो ?'

'प्राणमें।'

'किसमें प्राण प्रतिष्ठित है ?'

'अपानमें।'....'व्यानमें।'....'उदानमें।'

'किसमें उदान प्रतिष्ठित है ?'

'समानमें। वह यह (=समान आत्मा) अ-गृह्य=नहीं ग्रहण किया जा सकता, अ-शीर्य=नहीं शीर्ण हो सकता, अ-संग=नहीं लिप्त हो सकता ....तुझसे मैं उस औपनिषद (=उपनिषद् प्रतिपादित, अथवा रहस्यमय) पुरुषके बारेमें पूछता हूँ, उसे यदि नहीं कहेगा तो तेरा शिर गिर जायेगा।' "शाकल्यने उसे नहीं समझा, (और) उसका शिर गिर गया। (मरासा) समझ दूसरे हटानेवाले उसकी हड्डियोंको ले गये।"

ब्रह्मके संवादमें शाकल्यका इस तरह शोचनीय अन्त हो जानेपर याज्ञवल्क्यने कहा—

'ब्राह्मण भगवानो ! आपमेंसे जिसकी इच्छा हो, मुझसे प्रश्न करे,

[1] बृह० ३।९।१

या सभी मुझसे प्रश्न करें। आपमेंसे जो चाहे उससे मैं प्रश्न करूँ या आपमें सबसे मैं प्रश्न करूँ।' "

"उन ब्राह्मणोंकी हिम्मत नहीं हुई।"

(h) **अज्ञात प्रश्नकर्त्ताका अन्तर्यामीपर प्रश्न**—आरुणिके नामसे किये गये प्रश्नके कर्त्ताका असली नाम हमारे लिए चाहे अज्ञात हो, किन्तु याज्ञवल्क्यके दर्शनके जाननेकेलिए प्रश्न महत्त्वपूर्ण है, इसलिए उसका भी संक्षेप देना जरूरी है[1]—

" 'उसे मैं जानता हूँ, याज्ञवल्क्य ! यदि उस सूत्र और अन्तर्यामीको बिना जाने ब्राह्मणोंकी गायोंको हँकायेगा तो तेरा शिर गिर जायगा।'

'मैं जानता हूँ गौतम ! उस सूत्र (=धागे)को उस अन्तर्यामीको।

'मैं जानता हूँ, (कहता है, तो) जैसे तू जानता है, वैसे बोल...।'

"उस (=याज्ञवल्क्य)ने कहा—'वायु है गौतम ! वह सूत्र-वायु है। सूत्रसे गौतम ! यह लोक, परलोक और सारे भूत गुथे हुए हैं। इसीलिए गौतम ! मरे पुरुषके लिए कहते हैं—वायुमें इसके अंग छूट गये।....।'

'यह ऐसा ही है याज्ञवल्क्य ! अन्तर्यामीके बारेमें कहो।'

'जो पृथिवीमें रहते पृथिवीसे भिन्न है, जिसे पृथिवी नहीं जानती, जिसका पृथिवी शरीर है, जो पृथिवीको अन्दरसे नियमन करता (=अन्तर्यामी) है; यही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।'

'जो पानीमें....आगमें.....अन्तरिक्षमें....वायुमें....द्यौमें आदित्यमें....दिशाओंमें....चन्द्र-तारोंमें....आकाशमें.....तम (=अन्धकार)में....तेजमें....सारे भूतोंमें...प्राणमें...वाणीमें नेत्रमें....श्रोत्रमें....मनमें...चर्म (=त्वग्-इन्द्रिय)में...विज्ञान (=जीव)में....(और) जो वीर्य (=रेतस्)में रहते वीर्यसे भिन्न है, जिसे वीर्य नहीं जानता, जिसका वीर्य शरीर है, जो वीर्यको अन्दरसे नियमन

---

[1] बृह० ३।७।१-२३

करता (=अन्तर्यामी) है, यही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत (=अविनाशी) है। वह अ-देखा देखनेवाला० अ-विज्ञात विजानन करनेवाला है। इससे दूसरा श्रोता. . . . मन्ता. . . .विज्ञाता नहीं है। यही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। इससे अन्य (सभी) तुच्छ हैं।' "

(ख) जनकको उपदेश—सभाके बाद भी याज्ञवल्क्य और दर्शन-प्रेमी जनक (=राजा) विदेहका समागम होता रहा। इस समागममें जो दार्शनिक वार्तालाप हुए थे, उसको **बृहदारण्यक**के चौथे अध्यायमें सुरक्षित रखा गया है।—

"जनक वैदेह बैठा हुआ था, उसी समय याज्ञवल्क्य आ गये। उनसे (जनकने) पूछा—

'कैसे आये, पशुओंकी इच्छासे या (किसी) सूक्ष्म बात (अण्वन्त)के लिए ?'

'दोनों हीके लिए सम्राट् ! जो कुछ किसीने तुझे बतलाया हो, उसे सुनना चाहता हूँ।'

'मुझसे **जित्वा शैलिनि**ने कहा था—वाणी ब्रह्म है।'

'जैसे माता-पिता-आचार्यवाला (=शिक्षित पुरुष) बोले, उसी तरह शैलिनिने यह कहा—वाणी ब्रह्म है। . . . .क्या उसने तुझे उसका आयतन (=स्थान) प्रतिष्ठा बतलाई ?'

'. . .नहीं बतलाई।'

'वह एकपाद (एक पैरवाला) है सम्राट् !'

'तो (उसे) मुझे बतलाओ याज्ञवल्क्य !'

'वाणी आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है, प्रज्ञा (मान) करके इसकी उपासना करे।'

'प्रज्ञा क्या है याज्ञवल्क्य !'

'वाणी ही सम्राट् ! वाणीसे ही सम्राट् ! बन्धु (=ब्रह्मा[1]) जाना

---

[1] तुलना करो "दीघ-निकाय" (हिन्दी-अनुवाद, नामसूची)

जाता है; ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वांगिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद् श्लोक, सूत्र, व्याख्यान, अनुव्याख्यान, आहुति, खान-पान, यह लोक, परलोक, सारे भूत वाणीसे ही जाने जाते हैं। सम्राट् ! वाणी परमब्रह्म है। जो ऐसे जानते हुए इसकी उपासना करता है, उसको वाणी नहीं त्यागती, सारे भूत उसे (भोग) प्रदान करते हैं, (वह) देव बन देवोंमें जाता है।'

"जनक वैदेहने कहा—'(तुम्हें) हजार हाथी-साँड देता हूँ।'

"याज्ञवल्क्यने कहा—'पिता मेरे मानते थे, कि बिना अनुशासन (=उपदेश)के (दान) नहीं लेना चाहिए। जो कुछ किसीने तुझे बतलाया हो, उसीको मैं सुनना चाहता हूँ।'

'मुझसे **उदङ्क शौल्वायन**ने कहा था—प्राण ही ब्रह्म है।'

'जैसे माता-पिता-आचार्यवाला बोले, उसी तरह शौल्वायनने कहा—प्राण ही ब्रह्म है। क्या उसने . . . . प्रतिष्ठा बतलाई ?'

'. . . नहीं बतलाई।' . . . .

'हजार हाथी-साँड देता हूँ।'

(जनक—) 'मुझसे **वर्कु वार्ष्णु**ने कहा—नेत्र ही ब्रह्म है।' . . . .

'मुझसे **गर्दभीविपति भारद्वाज**ने कहा—श्रोत्रही ब्रह्म है। . . . .

'मुझसे **सत्यकाम जाबाल**ने कहा—मन ही ब्रह्म है।'

'मुझसे **विदग्ध शाकल्य**ने कहा—हृदय ही ब्रह्म है' . . . .

(जनक—) 'हजार हाथी-साँड देता हूँ।'

"याज्ञवल्क्यने कहा—'पिता मेरे मानते थे कि बिना अनुशासनके दान नहीं लेना चाहिए।'

और दूसरी बार जानेपर [1]"जनक वैदेहने दाढ़ीपर (हाथ) फेरते हुए कहा—'नमस्ते हो याज्ञवल्क्य! मुझे अनुशासन (=उपदेश) करो।'

"उस (=याज्ञवल्क्य)ने कहा—'जैसे सम्राट्! बड़े रास्तेपर

---

[1] बृह० ४।२।१

जानेवाला (यात्री) रथ या नाव पकड़ता है, इसी तरह इन उपनिषदों (=तत्त्वोपदेशों)से तेरे आत्माका समाधान हो गया है। इस तरह वृन्दारक(=देव), आढ्य(=धनी) वेद-पढ़ा, उपनिषत्-सुना तू यहाँसे छूटकर कहाँ जायेगा ?'

'भगवन् ! मैं....नहीं जानता कि कहाँ जाऊँगा।'

'अच्छा तो जहाँ तू जायेगा उसे मैं तुझे बतलाता हूँ।'

'कहें भगवन् !' "

इसपर याज्ञवल्क्यने आँखों और हृदयसे हजार होकर ऊपरको जानेवाली केश-जैसी सूक्ष्म **हिता** नामक नाड़ियोंका जिक्र करते **प्राण**को चारों ओर व्यापक बतलाया और कहा—

'वह यह 'नेति नेति' (=इतना ही नहीं) आत्मा है, (जो) अगृह्य= नहीं ग्रहण किया जा सकता अ-संग नहीं लिप्त हो सकता।....जनक ! (अब) तू अभयको प्राप्त हो गया।'

"जनक वैदेहने कहा—'अभय तुम्हें प्राप्त हो, याज्ञवल्क्य ! जो कि हमें तुम अभयका ज्ञान करा रहे हो। नमस्ते हो, यह विदेह (=देश) यह मैं (तुम्हारा) हूँ ॥२॥"

(a) **आत्मा, ब्रह्म और सुषुप्ति**—"जनक वैदेहके पास याज्ञवल्क्य गए।....जब जनक वैदेह और याज्ञवल्क्य अग्निहोत्रमें एकत्रित हुए, (तब) याज्ञवल्क्यने जनकको वर दिया। उसने इच्छानुसार प्रश्नका वर माँगा, उसने उसे दिया। सम्राट्ने ही पहिले पूछा—

'याज्ञवल्क्य ! किस ज्योतिवाला यह पुरुष है ?'

'आदित्य-ज्योतिवाला सम्राट् ! आदित्य-ज्योतिसे ही वह....कर्म करता है....।'

'हाँ, ऐसा ही है याज्ञवल्क्य ! आदित्यके डूबनेपर....किस ज्योतिवाला....?'

'चन्द्र-ज्योतिवाला....' ....'अग्नि-ज्योतिवाला....'.... 'वाणी....'....

'आत्म-ज्योतिवाला सम्राट् ! आत्मा (रूपी) ज्योतिसे ही वह.... कर्म करता है.... ।'

'कौनसा है आत्मा ?'

'जो यह प्राणोंमें विज्ञानमय, हृदयमें आन्तरिक ज्योति (=प्रकाश) पुरुष है, वह **समान** हो दोनों लोकोंमें संचार करता है....वह स्वप्न (देखनेवाला) हो इस लोकके मृत्युके रूपोंको अतिक्रमण करता है। वह पुरुष पैदा हो, शरीरमें प्राप्त हो पापसे लिप्त होता है, उत्क्रान्ति करते मरते वक्त पापको त्यागता है। इस पुरुषके दो ही स्थान होते हैं—यह और परलोक स्थान, तीसरा सन्धिवाला स्वप्नस्थान है। उस सन्धिस्थानमें रहते (वह) इन दोनों स्थानोंको देखता है—इस और परलोक स्थानको। ....पाप और आनन्द दोनोंको देखता है। वह जब सोता है, इस लोककी सारी ही मात्राको ले....स्वयं निर्माण कर, अपनी प्रभा अपनी ज्योतिके साथ प्रसुप्त होता है, वहाँ यह पुरुष स्वयंज्योति होता है। न वहाँ (स्वप्नमें) रथ होते, न घोड़े (=रथ-योग), न रास्ते; किन्तु (वह) रथों, रथयोगों, रास्तोंको सृजता है....आनन्दोंको सृजता है। न वहाँ घर, पुष्करिणियाँ, नदियाँ होतीं, किन्तु....(इन्हें) वह सृजता है।.... जिन्हे जागृत (-अवस्थामें) देखता है, उन्हें स्वप्नमें भी (देखता है); इस तरह वहाँ यह पुरुष स्वयंज्योति होता है।'

'सो मैं भगवान्‌को (और) हजार देता हूँ, इसके आगे (भी) विमोक्षके बारेमें बतलावें।'....

"'जैसे कि बड़ी मछली (नदीके) दोनों किनारोंमें संचार करती है ...., इसी तरह यह पुरुष स्वप्न और बुद्ध (=जागृत) दोनों छोरोंमें संचार करता है। जैसे आकाशमें बाज या गरुड़ उड़ते (उड़ते) थककर पंखोंको इकट्ठाकर घोंसलेका ही (आश्रय) पकड़ता है, इसी तरह यह पुरुष उस अन्त (=छोर)की ओर धावन करता है, जहाँ सोया हुआ न किसी काम (=भोग)की कामना करता है, न किसी स्वप्नको देखता है। उसकी वह केश-जैसी (सूक्ष्म) हजारों फूट-निकली नील-पिंगल-हरित-

लोहित (रस) से पूर्ण **हिता** नामक नाड़ियाँ हैं....जिनमें....गड़हेमें (गिरते) जैसा गिरता है....जहाँ देवकी भाँति राजाकी भाँति—मैं ही यह सब कुछ हूँ, (मैं ही) सब हूँ—यह मानता है; वह इसका परम लोक है।....सो जैसे प्रिय स्त्रीसे आलिंगित हो (पुरुष) न बाहरके बारेमें कुछ जानता, न भीतरके बारेमें; ऐसे ही यह पुरुष **प्राज्ञ-आत्मा** (=ब्रह्म) से आलिंगित हो न बाहरके बारेमें कुछ जानता, न भीतरके बारेमें। वह-इसका रूप....है। यहाँ पिता अ-पिता हो जाता है, माता अ-माता, लोक अ-लोक, देव अ-देव, वेद अ-वेद हो जाते हैं। यहाँ चोर अ-चोर, गर्भघाती अ-गर्भघाती, चंडाल अ-चंडाल, पोल्कस (=म्लेच्छ) अ-पोल्कस, श्रमण अ-श्रमण, तापस अ-तापस, पुण्यसे रहित, पापसे रहित होता है। उस समय वह हृदयके सारे शोकोंसे पार हो चुका होता है। यदि वहाँ उसे नहीं देखता, तो देखते हुए ही उसे नहीं देखता, अविनाशी होनेसे द्रष्टा (=आत्मा) की दृष्टिका लोप नहीं होता। उससे विभक्त (=भिन्न) दूसरा नहीं है, जिसे कि वह देखता।....जहाँ दूसरा जैसा हो, वहाँ दूसरा दूसरेको देखे, दूसरा दूसरेको सूँघे....चखे....बोले....सुने.... संयुक्त हो....छुये....विजानन करे। ....द्रष्टा एक अद्वैत होता है, यह है ब्रह्मलोक सम्राट्!'"

(b) **ब्रह्मलोक-आनन्द**—ब्रह्मलोकमें कितना आनंद है, इसको समझाते हुए याज्ञवल्क्यने कहा—

"मनुष्योंमें जो संतुष्ट समृद्ध, दूसरोंका अधिपति न (होते भी) सब मानुष भोगोंसे सम्पन्न होता है, उसको यह (आनंद) मनुष्योंका परमानंद है। १०० मनुष्योंके जो आनंद हैं, वह एक पितरोंका....आनन्द....", आगे—

१००	पितर	आनन्द	=१	गंधर्व-लोक आनन्द
१००	गन्धर्वलोक	,,	=१	कर्मदेव ,,
१००	कर्मदेव	,,	=१	आजानदेव ,,
१००	आजानदेव	,,	=१	प्रजापति-लोक ,,
१००	प्रजापति-लोक	,,	=१	ब्रह्म-लोक ,,

फिर उपसंहार करते—

"'यही परम-आनन्द ही ब्रह्मलोक है, सम्राट् !'

'सो मैं भगवानको सहस्र देता हूँ। इससे आगे (भी) विमोक्षकेलिए ही बतलाओ।'

"यहाँ याज्ञवल्क्यको भय होने लगा—'राजा मेधावी है, इन सब(की बात करने)से मुझे रोक दिया।' (पुनः) वही यह (आत्मा) इस स्वप्नके भीतर रमण, विचरण कर पुण्य और पापको देखकर फिर नियमानुसार.... जागृत अवस्थाको दौड़ता है।....जैसे राजाको आते देख उग्र-प्रत्येनस् (=सैनिक), सूत (=सारथी) ग्रामणी (=गाँवके मुखिया) अन्न-पान-निवास प्रदान करते हैं—'यह आ रहा है', 'यह आता है', इसी तरह इस तरहके ज्ञानीकेलिए सारे भूत (=प्राणी) प्रदान करते हैं—यह ब्रह्म आ रहा है—यह आता है।...."

(ग) मैत्रेयीको उपदेश—याज्ञवल्क्यकी दो स्त्रियाँ थीं—मैत्रेयी और कात्यायनी। याज्ञवल्क्यने घर छोड़ते वक्त जब सम्पत्तिके बँटवारेका प्रस्ताव किया, तो मैत्रेयीने अपने पतिसे कहा—

"'भगवन् ! यदि वित्तसे पूर्ण यह सारी पृथिवी मेरी हो जाये, तो क्या उससे मैं अमृत होऊँगी अथवा नहीं ?'

'नहीं, जैसे सम्पत्तिवालोंका जीवन होता है, वैसा ही तेरा जीवन होगा, अमृतत्व(=मुक्तपद)की तो आशा नहीं है।'

उस (=मैत्रेयी)ने कहा—'जिससे मैं अमृत नहीं हो सकती, उसे (ले) क्या करूँगी। जो भगवान् जानते हैं, वही मुझसे कहें।'

"याज्ञवल्क्यने कहा—'हमारी प्रिया हो **आप**ने सबसे प्रिय (वस्तु) माँगी, अच्छा तो **आप**को यह बतलाता हूँ। मेरे वचनको ध्यानमें करो।' और उसने कहा—'अरे ! पतिकी कामनाकेलिए पति प्रिय नहीं होता, अपनी कामना(=भोग)केलिए पति प्रिय होता है। अरे ! भार्याकी कामनाके लिए भार्या प्रिया नहीं होती, अपनी कामनाके लिए भार्या प्रिय होती है। ....पुत्र....वित्त....पशु....ब्रह्म....क्षत्र....लोक....

देव....वेद.....भूत....सर्वकी कामनाके लिए सर्व (=सब वस्तुएँ) प्रिय नहीं होता, अपनी कामनाके लिए सर्व प्रिय होता है । अरे ! आत्मा (=आप) ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य, निदिध्यास (=ध्यान) करने योग्य है। मैत्रेयि ! आत्माके दृष्ट, श्रुत, मत, विज्ञात हो जानेपर यह सब (=विश्व) विदित हो जाता है । ब्रह्म उसे हटा देता है, जो आत्मासे अलग ब्रह्मको जानता है। क्षत्र....लोक....देव....वेद ....भूत (=प्राणी)....सर्व....। यह जो आत्मा है वही ब्रह्म, क्षत्र....लोक....देव....वेद....भूत....सर्व है। ....जैसे सभी जलोंका समुद्र एकायन (=एकघर) है; ऐसे ही सभी स्पर्शोंका त्वक ....गंधोंकी नासिका....रसोंकी जिह्वा....रूपोंका नेत्र.... शब्दोंका श्रोत्र,....संकल्पोंका मन....विद्याओंका हृदय....कर्मोंका हाथ....आनन्दोंका उपस्थ (=जनन-इन्द्रिय)....विसर्गों (=त्यागों) की गुदा....मार्गोंके पैर....सभी वेदोंकी वाणी एकायन है। सो जैसे सेंधा (=नमक) पूर्ण होता है बाहर भीतर (कहीं) विना छोड़े सारा (लवण-) रसपूर्ण ही है, इसी तरह अरे ! मैं आत्मा बाहर भीतर (कहीं) न छोड़े **प्रज्ञानपूर्ण** (=प्रज्ञानघन) ही हूँ। इन (शरीरके) भूतोंसे उठकर उनके बाद ही विनष्ट हो जाता है, अरे ! मरकर (प्रेत्य) संज्ञा नहीं है (यह मैं) कहता हूँ।'

"....मैत्रेयीने कहा—'यहीं मुझे भगवान्‌ने मोहमें डाल दिया, मैं इसे नहीं समझ सकी।'

"उस (=याज्ञवल्क्य)ने कहा—'अरे ! मैं मोह (की बात) नहीं कहता। अविनाशी है अरे ! यह आत्मा; उच्छिन्न न होनेवाला है। जहाँ द्वैत हो वहाँ (उनमेंसे) एक दूसरेको देखता....सूँघता....चखता.... बोलता....सुनता....मनन करता....छूता....विजानन करता है; जहाँ कि सब उसका आत्मा ही है, वहाँ किससे किसको देखे.... विजानन करे। सो यह 'नेति नेति' आत्मा अगृह्य=नहीं ग्रहण किया जा सकता ० अ-संग=नहीं लिप्त हो सकता है। ....मैत्रेयी ! यह

(जो स्वयं) सबका विज्ञाता (=जाननहार) है, उसे किससे जाना जाये, यह मैत्रेयी ! तुझे अनुशासना कह दी गई। अरे ! इतना ही अमृतत्व है।' यह कह याज्ञवल्क्य चल दिये।"

याज्ञवल्क्यके इन उपदेशोंसे पता लगता है, कि यद्यपि अभी भी जगत्के प्रत्याख्यानका सवाल नहीं उठा था, और न पीछेके **योगाचारों** और शंकरानुयायियोंकी भाँति "ब्रह्म सत्यं जगन् मिथ्या" तक बात पहुँची थी; तो भी सुषुप्ति और मुक्तिमें याज्ञवल्क्य ब्रह्मसे अतिरिक्त किसी और तत्त्वका भान होता है, इसे स्वीकार नहीं करते थे। आनंदोंकी सीमा ब्रह्म या ब्रह्मलोक है—वह सिर्फ अभावात्मक गुणोंका ही धनी नहीं है। ब्रह्म सबके भीतर है और सबको अन्दरसे नियमन करता (=अन्तर्यामी) है। यद्यपि अन्तमें याज्ञवल्क्यने घर-बार छोड़ा, किन्तु सन्तानरहित एक बूढ़ेके तौर पर। घर छोड़ते वक्त उनका ब्रह्मज्ञान (=दर्शन) पहिलेसे ज्यादा बढ़ गया था, इसकी संभावना नहीं है। पहिले जीवनमें धन और कीर्ति दोनोंका उन्होंने खूब संग्रह किया यह हम देख चुके हैं। याज्ञवल्क्यके समयमें कर्म-कांडपर जबर्दस्त संदेह होने लगा था, यज्ञमें लाखों खर्च करनेवाले क्षत्रियोंके मनमें पुरोहितोंकी आमदनीके संबंध में खतरनाक विचार पैदा हो रहे थे। साथ ही गृहत्यागी श्रमण और तापस साधारण लोगोंको अपनी तरफ खींच रहे थे। ऐसी अवस्थामें याज्ञवल्क्य और उनके गुरु आरुणिकी दार्शनिक विचारधाराने ब्राह्मणोंके नेतृत्वको बचानेमें बहुत काम किया। (१) पुराने ब्राह्मण इन बातोंपर डटे हुए थे—यज्ञसे लौकिक पारलौकिक सारे सुख प्राप्त होते हैं। (२) ब्राह्मण-विरोधी-विचार-धारा कहती थी—यज्ञ, कर्मकांड फजूल हैं, इन्हें लोकमें कितनी ही बार असफल होते देखा गया है; ब्राह्मण अपनी दक्षिणाके लोभसे परलोकका प्रलोभन देते हैं। (३) इसपर आरुणि-याज्ञवल्क्य का कहना था—ज्ञानके बिना कर्म बहुत कम फल देता है। ज्ञान सर्वोच्च साधन है, उससे हम उस अक्षर ब्रह्मके पास जाते हैं, जिसका आनंद सभी आनंदोंकी चरम सीमा है। इस ब्रह्मलोकको हम नहीं देखते, किन्तु वह है, उसकी हल्कीसी झाँकी हमें गाढ़ निद्रा

(सुषुप्ति) में मिलती है जहाँ—

"जब सो गये हो गये बराबर।
कब शाहो-गदामें फर्क पाया॥"

इन्द्रिय-अगोचर इस ब्रह्मलोकके ख्यालको मजबूत कर देनेपर यज्ञ-फल भोगनेवालेकेलिए देवलोककी सत्ताको मनवानेका भी काम चल जाता है। सर्व-श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी याज्ञवल्क्य यज्ञके वेद (यजुर्वेद)के मुख्य आधार तथा यजुर्वेदके कर्मकाण्डीय ब्राह्मण—शतपथ ब्राह्मण—के महान् कर्त्ता हैं। यज्ञरूपी अदृढ़ प्लवोंको उन्होंने सबसे अधिक दृढ़ता प्रदान की। उपनिषद्के इन ऋषियोंने अपने सारे ब्रह्मज्ञानके साथ पुनर्जन्म, परलोककी बात छोड़ी नहीं। सामाजिक दृष्टिसे देखनेपर पुरोहित वर्गके आर्थिक स्वार्थपर जो एक भारी संकट आया था, उसे यज्ञोंकी प्रथाको पूर्ववत प्रधान स्थान दिलाकर तो नहीं, बल्कि स्वयं गुरु बनने तथा श्रद्धा-दक्षिणा पानेका पहिलेसे भी मजबूत दूसरा रास्ता—ब्रह्मज्ञान-प्रचार—निकालकर हटा दिया। अब जहाँ ब्राह्मण पुरोहित बन पुराने यज्ञोंमें श्रद्धा रखनेवालेकी सन्तुष्टि कर्मकांड द्वारा कर सकते थे, वहाँ ब्राह्मण ज्ञानी बुद्धिवादियोंको ब्रह्म ज्ञानसे भी सन्तुष्ट कर सकते थे।[1]

४. सत्यकाम जाबाल (६५० ई० पू०)

सत्यकाम जाबालका **दर्शन** जैसा हम छान्दोग्यमें पाते हैं और उसके प्रकट करनेका जो स्थूलसा ढंग है, उससे वह समय याज्ञवल्क्यसे पहलेवाली पीढ़ीका मालूम होता है। याज्ञवल्क्यके यजमान जनक वैदेहने सत्य-कामसे अपने वार्तालापका जिक्र किया है,[2] उससे याज्ञवल्क्यके समयमें उसका होना सिद्ध होता है। अपने गुरु हारिद्रुमत गौतमके अतिरिक्त गोश्रुति वैयाघ्र-पद्य[3]का नाम सत्यकामके साथ आता है, वैयाघ्रपद्य उसके शिष्योंमें था।

---

[1] **इसकालकी सामाजिक व्यवस्थाके लिए देखो मेरी "वोल्गासे गंगा"में "प्रवाहण जैवलि" पृष्ठ ११८-३४** [2] **बृह० ४।१।६** [3] **छां० ५।२।३**

(१) जीवनी—सत्यकाम जाबालके जीवनके बारेमें उपनिषद्से हमें इतना ही मालूम होता है[1]—

"सत्यकाम जाबालने (अपनी) मा जबालासे पूछा—'मैं ब्रह्मचर्य-वास करना चाहता हूँ . . . ., मेरा गोत्र क्या है ?'

'बहुतोंके साथ संचरण-परिचारण करती जवानीमें मैंने तुझे पाया। इसलिए मैं नहीं जानती कि तेरा क्या गोत्र है। जबाला तो नाम मेरा है, सत्यकाम तेरा नाम, इसलिए सत्यकाम जाबाल ही तू कहना।'

"तब वह हारिद्रुमत गौतमके पास जाकर बोला—'भगवान्के पास ब्रह्मचर्यवास करना चाहता हूँ, भगवान्की शिष्यता मुझे मिले।'

"उससे पूछा—'क्या है सौम्य ! तेरा गोत्र ?'

"उसने कहा—'मैं यह नहीं जानता भोः ! माँसे पूछा, उसने मुझसे कहा—बहुतोंके साथ संचरण-परिचारण करती जवानीमें मैंने तुझे पाया। . . .सत्यकाम जाबाल ही तू कहना। सो मैं सत्यकाम जाबाल हूँ भोः !'

"उसने (=गौतमने) कहा—'अ-ब्राह्मण ऐसे (साफ-साफ) नहीं कह सकता। सौम्य ! समिधा ला, तेरा उपनयन (=शिष्य बनाना) करूँगा, तू सत्यसे नहीं हटा।' "

(२) अध्ययन—". . .उपनयनके बाद दुबली-पतली चार सौ गौओंको हवाले कर (हारिद्रुमत गौतमने) कहा—'सौम्य ! इनके पीछे जा।' . . .'हजार हुए बिना नहीं लौटना।' उसने कितने ही वर्ष (=वर्षगण) प्रवास किये, जब कि वह हजार हो गईं, तब ऋषभ (=साँड)ने उसके पास आकर (बात) सुनाई—'हम हजार हो गए, हमें आचार्य-कुलमें ले चलो। और मैं ब्रह्मका एक पाद तुझे बतलाता हूँ।'

'बतलायें मुझे भगवान् !'

'पूर्व दिशा एक कला, पच्छिम दिशा एक कला, दक्षिण दिशा एक कला, उत्तर दिशा एक कला—यह सौम्य ! ब्रह्मका प्रकाशवान् नामक चार

---

[1] छां० ४।४।१–५

कलावाला पाद है। (अगला) पाद अग्नि तुझे बतलायेगा।'

"दूसरे दिन उसने गायोंको हाँका। जब संध्या आई, तो आगको जगा गायोंको घेर, समिधाको रखकर आगके सामने बैठा। उसे अग्निने आकर कहा—'सत्यकाम!'

'भगवन्!'

'ब्रह्मका एक पाद मैं तुझे बतलाता हूँ।'

'बतलायें मुझे भगवन्!'

'पृथिवी एक कला, अन्तरिक्ष. . . ., द्यौ. . . .समुद्र एक कला है। यह सोम्य—ब्रह्मका अनन्तवान् नामक चार कलावाला पाद है। . . . .हंस तुझे (अगला) पाद बतलायेगा।'

". . . .'अग्नि. . . .सूर्य. . . .चन्द्र. . . .विद्युत्. . . .कला है। यह . . . .ज्योतिष्मान् नामक. . . .पाद है। . . . .मद्गु तुझे (अगला) पाद बतलायेगा।'

". . . .'प्राण. . . .चक्षु. . . .श्रोत्र. . . .मन. . . .कला है। यह . . . .आयतन(=इन्द्रिय)वान् नामक. . . .पाद है।'

"वह आचार्यकुलमें पहुँच गया। आचार्यने उससे कहा—'सत्यकाम!'

'भगवन्!'—उत्तर दिया।"

'ब्रह्मवेत्ताकी भाँति सौम्य! तू दिखाई दे रहा है, किसने तुझे उपदेश दिये?'

'(वह) मनुष्योंमेंसे नहीं थे। . . . .भगवान् ही मुझे इच्छानुसार बतला सकते हैं। भगवान्-जैसोंसे सुना है, आचार्यके पाससे जानी विद्या ही उत्तम प्रयोजन (=समाधि)को प्राप्त करा सकती है।'

"(आचार्यने) उससे कहा—'यहाँ छूटा कुछ नहीं है।'"

इससे इतना ही पता लगता है कि गौतमने सत्यकामसे कई वर्षों गायें चरवाईं, वहीं चराते वक्त पशुओं और प्राकृतिक वस्तुओंसे उसे दिशाओं, लोकों, प्राकृतिक शक्तियों और इन्द्रियोंसे व्याप्त प्रकाशमान्, ज्योतिःस्वरूप इन्द्रिय (=चेतना)-प्रेरक ब्रह्मका ज्ञान हुआ।

(३) दार्शनिक विचार—सत्यकाम ब्रह्मको व्यापक, अनन्त, चेतन, प्रकाशवान् मानता था, यह ऊपर आ चुका। जनकको उसने "मन ही ब्रह्म"[1]का उपदेश किया था, अर्थात् ब्रह्म मनकी भाँति चेतन है। उसके दूसरे दार्शनिक विचार (आँखमेंका पुरुष ही ब्रह्म है आदि) उस उपदेशसे जाने जा सकते हैं, जिसे कि उसने अपने शिष्य उपकोसल कामलायनको दिया था।[2]—

"उपकोसल कामलायनने सत्यकाम जाबालके पास ब्रह्मचर्यवास (=शिष्यता) किया। उसने गुरुकी (पूजा की) अग्नियोंकी बारह वर्ष तक सेवा (=परिचरण) की। वह (=सत्यकाम) दूसरे शिष्योंका समावर्त्तन (शिक्षा समाप्तिपर विदाई) कराते भी इसका समावर्त्तन नहीं कराता था। उससे पत्नीने कहा—

'ब्रह्मचारीने तपस्या की, अच्छी तरह अग्नि-परिचरण किया। क्या तुझे अग्नियोंने इसे बतलानेको नहीं कहा?'

"(सत्यकाम) बिना बतलाये ही प्रवास कर गया। उस (=उपकोसल) ने (चिंता-) व्याधिके मारे खाना छोड़ दिया। उसे आचार्य-जायाने कहा—

'ब्रह्मचारिन्! खाना खा, क्यों नहीं खाता?'

'इस पुरुषमें नाना प्रकारकी बहुतसी कामनाएं हैं। मैं (मानसिक) व्याधियोंसे परिपूर्ण हूँ। (अपनेको) नष्ट करना चाहता हूँ।"

इसके बाद जिन अग्नियोंकी उसने सेवा की थी, उन्होंने उसे उपदेश दिया—

"....'प्राण ब्रह्म है....प्राणको आकाश भी कहते हैं।....जो यह आदित्यमें पुरुष (=आत्मा) है, वह मैं (=सोऽहम्) हूँ, वही मैं हूँ।....जो यह चन्द्रमामें पुरुष (=आत्मा) है, वह मैं (=सोऽहम्) हूँ, वही मैं हूँ।....जो यह विद्युतमें पुरुष है वह मैं हूँ, वही मैं हूँ।'...."

साथ ही अग्नियोंने यह भी कहा—"'उपकोसल! यह विद्या तू हमसे

---

[1] बृह० ४।१।६ [2] छां० ४।१०।१

जान, (बाकी) आचार्य तुझे (इसकी) गति बतलायेगा।'

आचार्यने आनेपर पूछा— 'उपकोसल!'

'भगवन्!'

'सोम्य! तेरा मुख ब्रह्मवेत्ताकी भाँति दिखलाई दे रहा है। किसने तुझे उपदेश दिया।'

'कौन मुझे उपदेश देता भोः!'

पीछे और पूछनेपर उपकोसलने बात बतलाई, तब सत्यकामने कहा—

'सोम्य! तुझे लोकोंके बारेमें ही उन्होंने कहा, मैं तुझे वह (ज्ञान) बतलाऊँगा; कमल-पत्रमें पानी नहीं लगनेकी तरह ऐसा जाननेवालोंमें पापकर्म नहीं लगता।'

'कहें भगवन्।'

'यह जो आँखमें पुरुष दिखलाई पड़ता है, यह आत्मा है। यह अमृत, अभय है, यह ब्रह्म है।' "

५—सयुग्वा (=गाड़ीवाला) रैक्व

सयुग्वा रैक्व उपनिषत्कालके प्रसिद्ध ही नहीं आरम्भिक ऋषियोंमें मालूम होता है। बैलगाड़ी नाध जहाँ-तहाँ आधे पागलोंकी भाँति घूमते रहना, तथा राजाओं और सम्पत्तिकी पर्वाह न करना—एक नये प्रकारके विचारकोंका नमूना पेश करना था। यूनानमें दियोजेन[1] (४१२-३२२ ई० पू०)—जो कि चन्द्रगुप्त मौर्यके राज्यारोहणके साल मरा—भी इसी तरहका एक फक्कड़ दार्शनिक हुआ था, अपने स्नान-भाजनमें बैठे रहते उपदेश देना उसका मशहूर है। भारतमें इस तरहके फक्कड़—चाहे उनमें विचारोंकी मौलिकता हो या न हो—अभी भी सिद्ध महात्मा समझे जाते हैं। याज्ञवल्क्यने जो ब्रह्मज्ञानीको बालककी भाँति रहनेकी बात[2] कही थी, वह सयुग्वा जैसों हीके आचरणसे आकृष्ट होकर कही मालूम होती है।

---

[1] Diogenes [2] बृह०

इतना होते भी सयुग्वा अध्यात्मवादी नहीं ठेठ भौतिकवादी दार्शनिक था, वह संसारका मूल उपादान याज्ञवल्क्यके समकालीन अनक्सिमनस्[1] (५९०-५५०)की भाँति वायुको मानता था।

रैकका जीवन और उपदेश—सिर्फ छान्दोग्यमें और उसमें भी सिर्फ एक स्थानपर सयुग्वा रैक्वका जिक्र आया है[2]—

"(राजा) **जानश्रुति पौत्रायण** श्रद्धासे दान देनेवाला, बहुत दान देनेवाला था, (अतिथियोंके लिए) बहुत पाक (बाँटनेवाला) था। उसने सर्वत्र आवसथ (=पथिकशालाएं, धर्मशालाएं) बनवाई थीं, (इस ख्यालसे कि) सर्वत्र (लोग) मेरा ही (अन्न) खायेंगे। हंस रातको उड़ रहे थे। उस समय एक हंसने दूसरे हंससे कहा—

'हो-हो-हि भल्लाक्ष! भल्लाक्ष! जानश्रुति पौत्रायणकी भाँति (यहाँ) दिनकी ज्योति (=अग्नि) फैली हुई है, सो छू न जाना, जल न जाना।'

"उसे दूसरेने उत्तर दिया—'कम्बर! तू तो ऐसा कह रहा है, जैसे कि वह सयुग्वा रैक्व हो।'

'कैसा है सयुग्वा रैक्व?'

'जैसे विजेताके पास नीचेवाले जाते हैं, इसी तरह प्रजाएं जो कुछ अच्छा कर्म करती हैं वह उस (=रैक्व)के ही पास चले जाते हैं. . . .।'

"जानश्रुति पौत्रायणने सुन लिया। उसने बड़े सबेरे उठते ही क्षत्ता (=सेक्रेटरी)से कहा—'अरे प्रिय! सयुग्वा रैक्वके बारेमें बतलाओ न?'

'कैसा सयुग्वा रैक्व?'

'जैसे विजेताके पास नीचेवाले जाते हैं. . . .।'

"ढूँढ़नेके बाद क्षत्ताने कहा—'नहीं पा सका।'

"(फिर) जहाँ ब्राह्मणोंको ढूँढ़ा जा सकता है, वहाँ ढूँढ़ो।'

"वह शकटके नीचे दाद खुजलाता बैठा हुआ था। (क्षत्ताने) उससे पूछा—'भगवन्! तुम्हीं सयुग्वा रैक्व हो?'

---

[1] Anaximanes [2] छां० ४।१

'मैं ही हूँ रे !'....

"क्षत्ता....लौट गया। तब जानश्रुति पौत्रायण छै सौ गायों, निष्क (=अशर्फी या सुवर्ण मुद्रा), खचरी-रथ लेकर गया, और उससे बोला—

'रैक्व ! यह छै सौ गायें हैं, यह निष्क है, यह खचरी-रथ है। भगवन् ! मुझे उस देवताका उपदेश करो, जिस देवताकी तुम उपासना करते हो।'

"(रैक्वने) कहा—'हटा रे शूद्र ! गायोंके साथ (यह सब) तेरे ही पास रहे।'

"तब फिर जानश्रुति पौत्रायण हजार गायें, निष्क, खचरी-रथ (और अपनी) कन्याको लेकर गया—और उससे बोला—

'रैक्व ! यह हजार गायें हैं, यह निष्क है, यह खचरी-रथ है, यह (तुम्हारे लिए) जाया (=भार्या) है, यह गाँव है जिसमें तुम (इस समय) बैठे हुए हो। भगवन् ! मुझे उपदेश दो।'

"(रैक्वने) उस (कन्या)के मुखको (हाथसे) ऊपर उठाते हुए कहा—

'हटा रे शूद्र ! इन सबको, इसी मुखके द्वारा तू मुझसे (उपदेश) कहलवायेगा।....वायु ही मूल (=संवर्ग) है। जब आग ऊपर जाती है वायुमें ही लीन होती है। जब सूर्य अस्त होता है, वायुमें ही लीन होता है। जब चन्द्र अस्त होता है, वायुमें ही लीन होता है। जब पानी सूखता है, वायुमें ही लीन होता है। वायु ही इन सबको समेटता है।—यह देवताओंके बारेमें। अब शरीरमें (=अध्यात्म) प्राण मूल (=संवर्ग) है, वह जब सोता है, वाणी प्राणमें ही लीन होती है....चक्षु....श्रोत्र....मन प्राणमें ही लीन होता है....। यही दोनों मूल हैं—देवोंमें वायु, प्राणोंमें प्राण।'"

इस प्रकार भौतिक जगत् (=देवताओं) और शरीर (=अध्यात्म) दोनोंमें वायुको ही मूलतत्त्व मानना रैक्वका दर्शन था। रैक्वको फक्कड़पन बहुत पसंद था, इसलिए 'राजकन्याको लिए बैलगाड़ीपर बिचरना, और गाड़ीके नीचे बैठे दाद खुजलाना जितना उसे पसंद था, उतना उसे गाँव, सोना, गायें, रथ नहीं।

पंचदश अध्याय

स्वतंत्र विचारक

जिस समय भारतमें उपनिषद्के दार्शनिक विचार तैयार हो रहे थे, उसी वक्त उससे उलटी दिशाकी ओर जाती दूसरी विचार-धाराएं भी चल रही थीं, स्वयं उपनिषद्में भी इसका पता लगता है।[1] सयुग्वा रैक्वके विचार भी भौतिकवादकी ओर झुकते थे, यह हम देख चुके हैं। ये तो वे विचारक थे, जो किसी न किसी तरह वैदिक परंपरासे अपना संबंध बनाये रखना चाहते थे, किन्तु इनके अतिरिक्त ऐसे भी विचारक थे, जो वैदिक परंपरासे अपनेको बँधा नहीं समझते थे, और जीवन तथा विश्वकी पहेलियोंको वैदिक परंपरासे बाहर जाकर हल करना चाहते थे। हम "मानव समाज"में कह चुके हैं, कि भारतीय आर्योंका प्रारंभिक समाज जब अपनी पितृसत्ताक व्यवस्थासे आगे सामन्तवादकी ओर बढ़ा तो उसकी दो शाखाएं हुईं, एक तो वह जिसने कुरु-पंचाल (मेरठ-रुहेलखंड) और आसपासके प्रदेशोंमें जा राजसत्ता कायम की, दूसरी वह जिसने कि पंजाब तथा मल्ल-वज्जी (युक्तप्रान्त-बिहारकी सीमाओंपर) में अपने सामन्तवादी प्रजातंत्र कायम किये। इनके अतिरिक्त यह भी स्मरण रखना चाहिए, कि सिन्धु-उपत्यका और दूसरे भू-भागोंमें भी जिस जाति (=असुर) से आर्योंका संघर्ष हुआ था, वह सामन्तवादी थे, राजतांत्रिक थे, सभ्य थे नागरिक थे। उनके परास्त होनेका मतलब यह नहीं था, कि सभ्यता और विचारोंमें जो विकास उन्होंने किया था, वह उनके पराजयके साथ बिल्कुल लुप्त हो गया।

---

[1] **"तद्धैक आहुः 'असदेवेदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायते'।" छां० ६।२।१**

ईसा-पूर्व छठीं-सातवीं सदीमें जब कि भारतमें दर्शनका स्रोत पहिले-पहिल फूट निकला, उस समय तीन प्रणालियाँ मौजूद थीं—वैदिक (ब्राह्मणानुयायी) आर्य, अ-वैदिक (ब्राह्मणोंसे स्वतंत्र, या व्रात्य) आर्य, और न-आर्य। इनमें वैदिक और अवैदिक आर्योंके राजनीतिक (-आर्थिक) क्षेत्र किसी एक जनपदकी सीमाके भीतर न थे। लेकिन न-आर्य नागरिक दोनोंमें मौजूद थे गणों (=प्रजातंत्रों)में खूनकी प्रधानता मानी जानेसे राजनीतिमें सीधे तो वह दखल नहीं दे सकते थे, किन्तु उनकेलिए राजतंत्रोंमें सुविधा अधिक थी। वहाँ किसी एक कबीले (=जन)की प्रधानता न होनेसे राजा और पुरोहितकी आधीनता स्वीकार कर लेनेपर उनकेलिए भी राज्यके उच्चपद और कभी-कभी तो राजपद पर भी पहुँचनेका सुभीता था। इतना होनेपर भी दर्शन-युगके आरंभ होनेसे पहिले अनार्य-संस्कृतिसे आर्य-संस्कृतिको अलग रखने हीकी कोशिश की जाती रही। वेद-संहिताएं उठाइए, ब्राह्मणोंको देखिए, कहीं अनार्य-धार्मिक रीति-रवाजोंको लेने या समन्वयका प्रयास नहीं मिलता—इसका अपवाद यदि है तो अथर्ववेद; किन्तु बुद्धके समय (५०० ई० पू०) तक वेद अभी तीन ही थे, बुद्धके समकालीन उपनिषदोंमें इसका नाम तो आता है, किन्तु तीनों वेदोंके बाद बिना वेद-विशेषणके—अथर्ववेद नहीं **आथर्वण**[1] या **अथर्वांगिरस**[2]के नामसे[3], तो भी अथर्ववेद निम्न तलपर आर्य-अनार्य धर्मों—मंत्र-तंत्रों, टोने-टोटकों—के मिश्रणका प्रथम प्रयत्न है। दर्शनकी शिक्षा यद्यपि दास-स्वामी दो वर्गोंमें विभक्त समाजमें जरा भी हेरफेर करनेकेलिए तैयार नहीं है, तो भी मानसिक तौरपर इस तरहके भेदको मिटानेका प्रयत्न जरूर करती है।—इस दिशामें वैदिक दर्शन (=उपनिषद्)का प्रयत्न जितना हुआ, उससे कहीं अधिक प्रयत्नशील हम अ-वैदिक दर्शनोंको पाते हैं। बुद्धने

---

[1] छां० ७।१।२; ७।२।१ [2] बृह० ४।१।२

[3] छान्दोग्य (१।३)में भी कई बार तीन ही वेदोंका जिक्र किया गया है।

जातिभेद या रंगके प्रश्न (आर्य-अनार्य-भेद)को उठा देना चाहा। यही बात जैन, आजीवक आदि धर्मोंके बारेमें भी है।

इन स्वतंत्र विचारकोंमें चार्वाक और कपिलके दर्शन प्रथम आते हैं, उनके बाद बुद्ध और उनके समकालीन तीर्थंकर (=सम्प्रदाय-प्रवर्तक)।

§ १. बुद्धके पहिलेके दार्शनिक

चार्वाक

भौतिकवादी दर्शनको हमारे यहाँ **चार्वाक** दर्शन कहा जाता है। **चार्वाक**का शब्दार्थ है चबानेकेलिए मुस्तैद या जो खाने पीने—इस दुनिया-के भोगको ही सब कुछ समझता है। चार्वाक मत-संस्थापक व्यक्तिका नाम नहीं है। बल्कि परलोक पुनर्जन्म, देववादसे जो लोग इन्कारी थे, उनके लिए यह गालीके तौरपर इस्तेमाल किया जाता था। जड़वादी दर्शनके आचार्योंमें **बृहस्पति**का नाम मिलता है। बृहस्पतिने शायद सूत्र, रूपमें अपने दर्शनको लिखा था। उसके कुछ सूत्र कहीं-कहीं उद्धृत भी मिलते हैं। किन्तु हम देखेंगे कि सूत्र-रूपेण दर्शनोंका निर्माण ईसवी सनके बादसे शुरू हुआ है। बुद्धके समकालीन अजित केशकम्बल भी जड़वादी थे, किन्तु वह धार्मिक चोगेको उतारना पसंद न करते थे। प्राचीन चार्वाक-सिद्धान्त जड़वादके सिद्धान्त थे—ईश्वर नहीं, आत्मा नहीं, पुनर्जन्म और परलोक नहीं। जीवनके भोग त्याज्य नहीं ग्राह्य हैं। तजर्बे (अनुभव) और बुद्धिको हमें सत्यके अन्वेषणकेलिए अपना मार्गदर्शक बनाना चाहिए। चार्वाक दर्शनके कितने ही और मंतव्य हमें पीछेके ग्रंथोंमें मिलते हैं। वह उसके पिछले विकासकी चीजें हैं। उनके बारेमें हम आगे कहेंगे।

§ २. बुद्ध-कालीन और पीछेके दार्शनिक (५००-१५० ई० पू०)

हमने "विश्वकी रूपरेखा"में देखा, कि 'अचेतन' प्रकृतिके राज्यमें गति शान्त एकरस प्रवाहकी तरह नहीं, बल्कि रह-रह कर गिरते जल-प्रपात या मेढककुदानकी भाँति होती है। "मानव समाज"में भी यही बात मानव-

संस्कृति, वैज्ञानिक आविष्कारों और सामाजिक प्रगतिके बारेमें देखी। दर्शनक्षेत्रमें भी हम यही बात देखते हैं—कुछ समय तक प्रगति तीव्र होती है, फिर प्रवाह रुँध जाता है, उसके बाद एकत्रित होती शक्ति एक बार फिर फूट निकलती देख पड़ती है। हर **वादके प्रतिवादमें**, जान पड़ता है, काफी समय लगता है, फिर **संवाद** फूट निकलता है। यूरोपीय दर्शनके इतिहासमें हम ईसा-पूर्व छठीसे चौथी शताब्दीका समय दर्शनकी प्रगतिका सुनहरा समय देखते हैं; फिर जो प्रवाह क्षीण होता है तो तेरहवीं सदीमें कुछ सुगबुगाहट होती दीख पड़ती है, और सत्रहवीं सदीमें प्रवाह फिर तीव्र हो जाता है। भारतीय इतिहासमें ई० पू० पंद्रहवींसे तेरहवीं सदी भरद्वाज, वशिष्ट, विश्वामित्र जैसे प्रतिभाशाली वैदिक कवियोंका समय है। फिर छै सदियोंके कर्मकांडी जंगलकी मानसिक निद्राके बाद हम ई० पू० सातवीं-छठवीं-पाँचवीं सदियोंके दर्शनके रूपमें प्रतिभाको जागते देखते हैं। इन तीन सदियोंके परिश्रमके बाद, मानो श्रान्त प्रतिभा स्वास्थ्यकेलिए सदियोंकी निद्राको आवश्यक समझती है, और फिर ईसाकी दूसरी सदीमें, तीन सदियों तक यूनानी दर्शनसे प्रभावित हो, वह नागार्जुनके दर्शनके रूपमें फूट निकलती है। चार सदियों तक प्रवाह प्रखर होता जाता है, उसके बाद आठवीं और बारहवीं सदीमें सिवाय थोड़ीसी करवट बदलनेके वह अब तक चिरसुप्त है।

उपनिषद्के जैबलि, आरुणि, याज्ञवल्क्य ऋषियों, आदि और चार्वाक-दर्शनके स्वतंत्र विचारकोंने जो विचार-सम्बन्धी उथल-पुथल पैदा की थी, वह अब पाँचवीं सदी ई० पू०में अपनी चरमसीमापर पहुँच रही थी। यह बुद्धका समय था। इस कालके निम्नलिखित दार्शनिक बहुत प्रसिद्ध हैं, इनका उस समयके सभ्य समाजमें बहुत सन्मान था—

१. भौतिकवादी—अजित केशकम्बल, मक्खलि गोशाल

२. नित्यतावादी—पूर्णकाश्यप, प्रकुधकात्यायन

३. अनिश्चिततावादी—संजय वेलट्ठिपुत्त, निगंठ नातपुत्त

४. अभौतिक क्षणिक अनात्मवादी—गौतम बुद्ध।

१—अजित केशकम्बल (५२३ ई० पू०) भौतिकवादी

अजित केशकम्बलके जीवनके बारेमें हमें इससे अधिक नहीं मालूम है, कि वह बुद्धके समय एक लोक-विख्यात, सम्मानित तीर्थंकर (सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक) था। कोसलराज प्रसेनजित्ने बुद्धसे एक बार कहा था[1]—"हे गौतम! वह जो श्रमण-ब्राह्मण संघके अधिपति, गणाधिपति, गणके आचार्य, प्रसिद्ध यशस्वी, तीर्थंकर, बहुत जनों द्वारा सुसम्मत हैं, जैसे—पूर्ण काश्यप, मक्खलि गोशाल, निगंठ नातपुत्त, संजय वेलट्ठिपुत्त, प्रक्रुध कात्यायन, अजित केशकम्बल—वह भी यह पूछनेपर कि (आपने) अनुपम सच्ची सम्बोधि (=परम ज्ञान)को जान लिया, यह दावा नहीं करते। फिर जन्मसे अल्पवयस्क, और प्रब्रज्या (=संन्यास)में नये आप गौतमकेलिए तो क्या कहना है?"

इससे जान पड़ता है, कि बुद्ध (५६३-४८३ ई० पू०)से अजित उम्रमें ज्यादा था। त्रिपिटकमें अजित और बुद्धके आपसमें संवादकी कोई बात नहीं आती, हाँ यह मालूम है कि एक बार बुद्ध और इन छओं तीर्थंकरोंका वर्षावास राजगृहमें (५२३ ई० पू०) हुआ था।[2] केशकम्बल नाम पड़नेसे मालूम होता है, कि आदमीके केशोंका कम्बल पहिननेको, सयुग्वा रैक्वकी बैलगाड़ीकी भाँति उसने अपना बाना बना रखा था।

दर्शन—अजित केशकम्बलके दार्शनिक विचारोंका जिक्र त्रिपिटकमें कितनी ही जगह[3] आया है, लेकिन सभी जगह एक ही बातको उन्हीं शब्दोंमें दुहराया गया है।—

"दान....यज्ञ....हवन नहीं (=बेकार है), सुकृत-दुष्कृत कर्मोंका फल=विपाक नहीं। यह लोक-परलोक नहीं। माता-पिता नहीं। देवता

---

[1] संयुत्त-निकाय ३।१।१ (देखो, "बुद्धचर्या", पृ० ६१)

[2] बुद्धचर्या, पृ० २६६, ७५ (मज्झिम-निकाय, २।३।७)

[3] दीघ-निकाय, १।२; मज्झिम-निकाय, २।१।१०, २।६।६

(=औपपातिक, अयोतिज) नहीं। लोकमें सत्य तक पहुँचे, सत्यारूढ़ (=ऐसे) श्रमण-ब्राह्मण नहीं हैं, जो कि इस लोक, परलोकको स्वयं जानकर, साक्षात्कर (दूसरोंको) जतलावेंगे। आदमी चार महाभूतोंका बना है। जब (वह) मरता है, (शरीरकी) पृथिवी पृथिवीमें....पानी पानीमें....आग आगमें....वायु वायुमें मिल जाते हैं। इन्द्रियाँ आकाशमें चली जाती हैं। मृत पुरुषको खाटपर ले जाते हैं। जलाने तक चिह्न जान पड़ते हैं। (फिर) हड्डियाँ कबूतर(के रंग)सी हो जाती हैं। आहुतियाँ राख रह जाती हैं। दान (करो) यह मूर्खोंका उपदेश है। जो कोई आस्तिकवादकी बात करते हैं, वह उनका (कहना) तुच्छ (=थोथा) झूठ है। मूर्ख हों चाहे पंडित, शरीर छोड़नेपर (सभी) उच्छिन्न हो जाते हैं, विनष्ट हो जाते हैं; मरनेके बाद (कुछ) नहीं रहता।"

यहाँ हमें अजितका दर्शन उसके विरोधियोंके शब्दोंमें मिल रहा है, जिसमें उसे बदनाम करनेकेलिए भी कोशिश ज़रूर की गई होगी। अजित आदमीको चातुर्महाभौतिक (=चारों भूतोंका बना) मानता था। परलोक और उसकेलिए किए जानेवाले दान-पुण्य तथा आस्तिकवादको वह झूठ समझता था, यह तो स्पष्ट है। किन्तु वह माता-पिता और इस लोकको भी नहीं मानता था यह ग़लत है। यदि ऐसा होता तो वह वैसी शिक्षा न देता, जिसके कारण वह अपने समयका लोक-सम्मानित सम्भ्रान्त आचार्य माना जाता था; फिर तो उसे डाकुओं और चोरोंका आचार्य या सर्दार होना चाहिए था।

अजितने अपने दर्शनमें, मालूम होता है, उपनिषद्के तत्त्वज्ञानकी अच्छी खबर ली थी। सत्य तक पहुँचा (=सम्यग्-गत), 'सत्यआरूढ़' ब्रह्मज्ञानी कोई हो सकता है, यह माननेसे उसने इन्कार किया; एक जन्मके पाप-पुण्यको आदमी दूसरे जन्ममें इसी लोकमें अथवा परलोकमें भोगता है, इसका भी खंडन किया।

उग्र भौतिकवादी होते हुए भी अजित तत्कालीन साधुओं जैसे कुछ संयम-नियमको मानता था, यह उक्त उद्धरणके आगे—'ब्रह्मचर्य, नंगा, मुंडित

रहना, उकड़ूँ-तप करना, केश-दाढ़ी नोचना'—इस वचनसे मालूम होता है। किन्तु यह वचन छओं अ-बौद्ध तीर्थंकरोंकेलिए एक ही तरह दुहराया गया है, और निगंठ नातपुत्तके (जैन-) मतमें यह बातें धर्मका अंग मानी भी जाती रही हैं, जिससे जान पड़ता है, त्रिपिटकको कंठस्थ करनेवालोंने एक तीर्थंकरकी बातको कंठ करनेकी सुविधाकेलिए सबके साथ जोड़ दी—स्मरण रहे बुद्धके निर्वाणके चार सदियों बाद तक बुद्धका उपदेश लिखा नहीं गया था।

२. मक्खलि गोशाल (५२३ ई० पू०) अकर्मण्यतावादी

मक्खलि (=मस्करी) गोशालका जिक्र बौद्ध और जैन दोनों पिटकोंमें आता है। जैन "पिटक"मे पता लगता है, कि वह पहिले जैन मतका साधु था, पीछे उससे निकल गया। गोशालका जो चित्र वहाँ अंकित किया गया है, उससे वह बहुत नीच प्रकृतिका ईर्ष्यालु, धर्मान्ध जान पड़ता है।—उसने महावीर (=जैन-तीर्थंकर, निगंठ नातपुत्त)को जानसे मारनेकी कोशिश की; ब्राह्मण-देवताकी मूर्तिपर पेशाब-पाखाना किया, जिससे ब्राह्मणोंने उसे कूटा आदि आदि। किन्तु इसके विरुद्ध बौद्ध पिटक उसे बुद्धकालीन छै प्रसिद्ध लोकसम्मानित आचार्योंमें एक मानता है; आजीवक सम्प्रदायके तीन आचार्यों (=निर्यातायों)—नन्द वात्स्य, कृश सांकृत्य और मक्खली गोशालमेंसे एक बतलाता[1] है[1]। वहीं[2] यह भी पता लगता है, कि मक्खलि गोशाल (आजीवक-) आचार्य नंगे रहते, तथा कुछ संयम-नियमकी पाबन्दी भी करते थे। बुद्धके बुद्धत्व प्राप्त करनेके समय (५२७ ई० पू०में) आजीवक सम्प्रदाय मौजूद था, क्योंकि बुद्ध-गयासे चलनेपर **बोधि** और **गया**के बीच रास्ते उन्हें उपक नामक आजीवक मिला था।[3] इससे यह भी पता लगता है, कि गोशालसे पहिले नन्द

---

[1] **मज्झिम-निकाय,** २।३।६ (**मेरा हिन्दी अनुवाद, पृ० ३०४**)
[2] **वहीं,** १।४।६ [3] **म० नि०,** १।३।६ (**अनुवाद, पृ० १०७**)

वात्स्य और कृश सांकृत्य आजीवक संप्रदायके आचार्य थे।

मक्खलि गोशाल नामकी व्याख्या करनेकी भी पालीमें कोशिश की गई है, जिसमें मक्खलि=मा खलि=न गिर, गो शाल=गोशालामें उत्पन्न बतलाया गया। पाणिनि (४०० ई० पू०)ने मस्करी शब्दको गृहत्यागियोंकेलिए माना है। पालीकी व्याख्याकी जगह पाणिनिकी व्याख्या लेनेपर अर्थ होगा 'साधु गोशाल'।

दर्शन—गोशालके (आजीवक) दर्शनका जिक्र पालि-त्रिपिटकमें कई जगह आया है, किन्तु सभी जगह उन्हीं शब्दोंको दुहराया गया है।[१]—

"प्राणियों (=सत्त्वों)के संक्लेश (=चित्त-मालिन्य)का कोई हेतु=कोई प्रत्यय नहीं। बिना हेतुके ही प्राणी संक्लेशको प्राप्त होते हैं। प्राणियोंकी (चित्त-)विशुद्धिका कोई हेतु....नहीं। बिना हेतुके.... प्राणी विशुद्ध होते हैं। बल नहीं, वीर्य नहीं, पुरुषकी दृढ़ता नहीं, पुरुष-पराक्रम नहीं (काम आते)। सभी सत्त्व, सभी प्राणी, सभी भूत, सभी जीव वश-बल-वीर्यके बिना ही नियति (=भवितव्यता)के वशमें छै **अभिजातियों** (=जन्मों)में सुख-दुःख अनुभव करते हैं। चौदह सौ हजार प्रमुख **योनियाँ** हैं, (दूसरी) साठ सौ, (दूसरी) छै सौ। पाँच सौ कर्म हैं, (दूसरे) पाँच कर्म,...तीन कर्म, एक कर्म और आधा कर्म। बासठ प्रतिपद् (=मार्ग), बासठ अन्तरकल्प, छै अभिजातियाँ, आठ पुरुष-भूमियाँ, उन्नीस सौ आजीवक, उनचास सौ परिब्राजक, उनचास सौ नागा-वास, बीस सौ इन्द्रियाँ, तीस सौ नरक, छत्तीस रजो (=मलवाली)-धातु, सात संज्ञी (=होशवाले) गर्भ, सात अ-संज्ञी गर्भ, सात निगंठी गर्भ, सात देव, सात मनुष्य, सात पिशाच, सात स्वर, सात सौ सात पमुट (=गाँठ), सात सौ सात प्रपात, सात सौ सात स्वप्न।...और अस्सी लाख छोटे बड़े कल्प हैं, जिन्हें मूर्ख और पंडित जानकर और अनुगमन कर दुःखोंका अन्त कर सकते हैं। वहाँ यह नहीं है कि इस शील-व्रतसे, इस तप-ब्रह्म-

---

[१] **दीघ-नि०, १।२ (अनुवाद, पृ० २०); "बुद्धचर्या", पृ० ४६२, ४६३**

चर्यसे मैं अपरिपक्व कर्मको परिपक्व करूँगा; परिपक्व कर्मको भोगकर (उसका) अन्त करूँगा। सुख और दुःख द्रोण (=नाप)से नपे हुए हैं। संसारमें घटना-बढ़ना, उत्कर्ष-अपकर्ष नहीं होता। जैसे कि सूतकी गोली फेंकनेपर खुलती हुई गिर पड़ती है, वैसे ही मूर्ख और पंडित दौड़कर, आवागमनमें पड़कर, दुःखका अन्त करेंगे।"

इससे जान पड़ता है, कि मक्खलि गोशाल (आजीवक) पूरा भाग्यवादी था; पुनर्जन्म और देवताओंको मानता था और कहता था कि जीवनका रास्ता नपा-तुला है, पाप-पुण्य उसमें कोई अन्तर नहीं डालते।

३—पूर्ण काश्यप (५२३ ई० पू०) अक्रियावादी

पूर्णकाश्यपके बारेमें भी हम इससे अधिक नहीं जानते, कि वह बुद्धका समकालीन एक प्रसिद्ध तीर्थंकर था।

दर्शन—पूर्ण अच्छे बुरे कर्मोंको निष्फल बतलाता था। किन्तु परलोकके सम्बन्धमें था, या इस लोकके, इसे वह स्पष्ट नहीं करता था। उसका मत इस प्रकार उद्धृत मिलता है[1]—

"(कर्म) करते-कराते, छेदन करते-कराते, पकाते पकवाते, शोक करते, परेशान होते, परेशान करते, चलते-चलाते, प्राण मारते, बिना दिया लेते (=चोरी करते), सेंध काटते, गाँव लूटते, चोरी-बटमारी करते, परस्त्रीगमन करते, झूठ बोलते भी पाप नहीं होता। छुरे जैसे तेज चक्र-द्वारा (काटकर) चाहे इस पृथिवीके प्राणियोंका (कोई) मांसका एक खलियान, मांसका एक पुंज (क्यों न) बना दे; तो (भी) इसके कारण उसको पाप नहीं होगा, पापका आगम नहीं होगा। यदि घात करते-कराते, काटते-कटवाते, पकाते-पकवाते, गंगाके (उत्तर तीरसे) दक्षिण तीरपर भी (चला) जाये; तो भी इसके कारण उसको पाप नहीं होगा, पापका आगम नहीं होगा। दान देते-दिलाते, यज्ञ करते-कराते यदि गंगाके

---

[1] दीघ-निकाय, १।२ (अनुवाद, पृ० १९, २०)

उत्तर तीर भी जाये, तो इसके कारण उसको पुण्य नहीं होगा, पुण्यका आगम नही होगा। दान-दम-संयममे सत्य बोलनेसे न पुण्य है न पुण्यका आगम है।"

पूर्ण काश्यपका यह मत परलोकमें भोगे जानेवाले पाप-पुण्यके संबंध हीमें मालूम होता है; इस लोकमें तो चोरी, हत्या, व्यभिचारका फल राजदंडके रूपमें अनिवार्य है, इसे वह जानता ही था।

४—प्रकुध कात्यायन (५२३ ई० पू०) नित्यपदार्थवादी

प्रकुधकी जीवनीके संबंधमें भी हम यही जानते हैं, कि वह बुद्धका ज्येष्ठ समकालीन प्रसिद्ध और लोकसम्मानित तीर्थंकर था।

दर्शन—मक्खलि गोशालने भाग्यवादके कारण फलतः शुभ कर्मोंको निष्फल बतलाया था। पूर्ण काश्यप भी उन्हें निष्फल समझता था। प्रकुध कात्यायन हर वस्तुको अचल, नित्य मानता था, इसलिए कोई कर्म वस्तु-स्थितिमें किसी तरहका परिवर्तन ला नहीं सकता, इस तरह वह भी उसी अकर्मण्यतावादपर पहुँचता था। उसका मत इस प्रकार मिलता है[1]—

"यह सात काय (=समूह) अ-कृत=अकृत जैसे=अ-निर्मित=अनि-र्मित जैसे, अ-बध्य, कूटस्थ=स्तम्भ जैसे (अचल) हैं, यह चल नहीं होते, विकारको प्राप्त नहीं होते; न एक दूसरेको हानि पहुँचाते हैं; न एक दूसरे-के सुख, दुःख, या सुख-दुःखकेलिए पर्याप्त (=समर्थ) हैं। कौनसे सात? पृथिवी-काय (=पृथिवीतत्त्व) जल-काय, अग्नि-काय, वायु-काय, सुख, दुःख और जीवन—यह सात।....यहाँ न (कोई) हन्ता है न घातयिता (=हनन करनेवाला), न सुननेवाला, न सुनानेवाला, न जाननेवाला, न जतलानेवाला। यदि तीक्ष्ण शस्त्रसे भी काट दे, (तो भी) कोई किसीको नहीं मारता। सातों कायोंसे हटकर विवर (=खाली जगह)में वह शस्त्र गिरता है।"

---

[1] **दीघ-निकाय, १।२ (अनुवाद, पृ० २१)**

प्रक्रुध पृथिवी, जल, तेज, वायु इन चार भूतों, तथा जीवन (=चेतना) के साथ सुख और दुःखको भी अलग तत्त्व मानता था। इन तत्त्वोंके बीचमें काफी खाली जगह है, जिसकी वजहसे हमारा कड़ासे कड़ा प्रहार भी वहीं रह जाता है, और मूलतत्त्वको नहीं छू पाता। यह विचारधारा बतलाती है, कि दृश्य तत्त्वोंकी तहमें किसी तरहके अखंडनीय सूक्ष्म अंशको वह मानता था, जो कि एक तरहका परमाणुवादसा मालूम होता है।—खाली जगह या विवर (=आकाश)को उसने आठवाँ पदार्थ नहीं माना। सुख और दुःखको जीवनसे स्वतंत्र वस्तु मानना यही बतलाता है कि कर्मके निष्फल मान लेने पर उन्हें अकृत माने विना उसकेलिए कोई चारा नहीं था।

५—संजय बेलट्ठिपुत्त (५२३ ई० पू०) अनेकान्तवादी

संजय बेलट्ठिपुत्त भी बुद्धका ज्येष्ठ समकालीन तीर्थंकर था।

दर्शन—संजय बेलट्ठिपुत्त और निगंठ नातपुत्त (=महावीर) दोनों हीके दर्शन अनेकान्तवादी हैं। फर्क इतना ही है, कि महावीरका जोर 'हाँ' पर ज्यादा है और संजयका 'नहीं' पर, जैसा कि संजयके निम्न वाक्य और महावीरके स्याद्वादके मिलानेसे मालूम होगा[1]—

"यदि आप पूछें,—'क्या **परलोक** है', तो यदि मैं समझता होऊँ कि परलोक है तो आपको बतलाऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता, वैसा भी नहीं कहता, दूसरी तरहसे भी नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि 'वह नहीं है'। मैं यह भी नहीं कहता कि 'वह नहीं नहीं है। परलोक नहीं है, परलोक नहीं नहीं है। परलोक है भी और नहीं भी है। परलोक न है और न नहीं है। **देवता** (=औपपातिक प्राणी) हैं....। देवता नहीं हैं, हैं भी और नहीं भी, न हैं और न नहीं हैं।....अच्छे बुरे **कर्मके फल** हैं, नहीं हैं, हैं भी और नहीं भी, न हैं और न नहीं हैं। **तथागत** (=मुक्तपुरुष) मरनेके बाद होते हैं, नहीं होते हैं...?'—यदि मुझसे

[1] दीघ-निकाय, १।२ (अनुवाद, पृ० २२)

ऐसा पूछें, तो मैं यदि ऐसा समझता होऊँ..., तो ऐसा आपको कहूँ। मैं ऐसा भी नहीं कहता, वैसा भी नहीं कहता...."

परलोक, देवता, कर्मफल और मुक्त-पुरुषके विषयमें संजयके विचार यहाँ उल्लिखित हैं। अजितके विचारों तथा उपनिषद्में उठाई शंकाओंको देखनेसे मालूम होता है, कि धर्मकी कल्पनाओंपर सन्देह किया जाने लगा था; और यह सन्देह इस हद तक पहुँच गया था, कि अब उसके आचार्य लोक-सम्मानित महापुरुष माने जाने लगे थे। संजयका दर्शन जिस रूपमें हम तक पहुँचा है उससे तो उसके दर्शनका अभिप्राय है, मानवकी सहज बुद्धिको भ्रममें डाला जाये, और वह कुछ निश्चय न कर भ्रान्त धारणाओंको अप्रत्यक्षरूपसे पुष्ट करे।

६—वर्धमान महावीर (५६९-४८५ ई० पू०) सर्वज्ञतावादी

जैन धर्मके संस्थापक वर्धमान ज्ञातृपुत्र (=नातपुत्त) बुद्धके सम-कालीन आचार्योंमें थे। उनका जन्म प्राचीन वज्जी[1] प्रजातंत्रकी राजधानी वैशाली[2]में लिच्छवियोंकी एक शाखा ज्ञातृवंशमें बुद्धके जन्म (५६३ ई० पू०)से कुछ पहिले हुआ था। उनके पिता सिद्धार्थ **गण-संस्था** (=सीनेट) के सदस्यों (=राजाओं)मेंसे एक थे। वर्धमानकी शादी, यशोदासे हुई थी जिससे एक लड़की हुई। माँ-बापके मरनेके बाद ३० वर्षकी उम्रमें वर्ध-मानने गृहत्याग किया। १२ वर्ष तक शरीरको सुखानेवाली तपस्याओंके बाद उन्होंने **केवल** (=सर्वज्ञ)-पद पाया। तबसे ४२ वर्ष तक उन्होंने अपने धर्मका उपदेश मध्यदेश (=युक्तप्रान्त और बिहार)में किया। ८४ वर्षकी उम्रमें पावा[3]में उनका देहान्त हुआ। मृत्युके समय महावीरके

---

[1] जिला मुजफ्फरपुर, बिहार। [2] वर्त्तमान बसाढ़ (पटनासे २७ मील उत्तर)।

[3] कुसीनारा (कसया)से चंद मील उत्तर पपउर (जिला गोरखपुर)। परंपराको भूलकर पटना जिलाकी पावा नई कल्पना है।

अनुयायियोंमें भारी कलह उपस्थित हो गया था[1]।

तीर्थंकर वर्धमानको जैन लोग वीर या महावीर भी कहते हैं, बौद्ध उनका उल्लेख निगंठ नातपुत्त (=निर्ग्रंथ ज्ञातृपुत्र)के नामसे करते हैं।

(१) शिक्षा—महावीरकी मुख्य शिक्षाको बौद्ध त्रिपिटकमें इस प्रकार उद्धृत किया गया है—

(क) चातुर्याम संवर[2]—"निर्ग्रंथ (=जैन साधु) चार संवरों (=संयमों)से संवृत्त (=आच्छादित, संयत) रहता है।...(१) निर्ग्रंथ जलके व्यवहारका वारण करता है, (जिसमें जलके जीव न मारे जावें); (२) सभी पापोंका वारण करता है; (३) सभी पापोंके वारण करनेसे वह पापरहित (=धुतपाप) होता है; (४) सभी पापोंके वारणमें लगा रहता है।....चूँकि निर्ग्रंथ इन चार प्रकारके संवरोंसे संवृत रहता है, इसीलिए वह....गतात्मा (=अनिच्छुक), यतात्मा (संयमी) और स्थितात्मा कहलाता है।"

(ख) शारीरिक कर्मोंकी प्रधानता—मज्झिम-निकायमें[3] महावीर (ज्ञातृपुत्र)के शिष्य दीर्घ तपस्वीके साथ बुद्धका वार्तालाप उद्धृत किया गया है। इसमें दीर्घ तपस्वीने कर्मकी जगह निर्ग्रंथी परिभाषामें 'दंड' कहे जानेपर जोर देते हुए, कर्मों (=दंडों)को काय-, वचन-, मन-दंडोंमें विभक्त करते हुए, काय-दंड (कायिक कर्म)को सबसे "महादोष-युक्त" बतलाया है।

(ग) तीर्थंकर सर्वज्ञ—तीर्थंकर सर्वज्ञ होता है, इसपर, जान पड़ता है, आरम्भ हीसे बहुत जोर दिया जाता था—

"(तीर्थंकर) सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सारे ज्ञान=दर्शनको जानते हैं।—चलते, खड़े, सोते, जागते सदा निरन्तर (उनको) ज्ञान=दर्शन उपस्थित रहता है।[4]

---

[1] देखो सामगामसुत्त (म० नि०, ३।१।४; "बुद्ध-चर्या", ४८१)
[2] दीघ-नि० १।२ (अनु०, पृ० २१)
[3] म० नि०, २।२।६, 'बुद्धचर्या', पृ० ४४५
[4] म० नि०, १।२।४ (अनुवाद, पृ० ५९)

इस तरहकी सर्वज्ञताका मजाक उड़ाते हुए बुद्धके शिष्य आनन्दने कहा था[1]—

"...एक शास्ता सर्वज्ञ, सर्वदर्शी...होनेका दावा करते हैं...., (तो भी) वह सूने घरमें जाते हैं, (वहाँ) भिक्षा भी नहीं पाते, कुक्कुर भी काट खाता है, चंड हाथी....चंड घोड़े....चंड-बैलसे भी सामना हो जाता है। (सर्वज्ञ होनेपर भी) स्त्री-पुरुषोंके नाम-गोत्रको पूछते हैं, गाँव-कस्बेका नाम और रास्ता पूछते हैं। (आप सर्वज्ञ हैं, फिर) क्यों पूछते हैं—पूछनेपर कहते हैं—'सूने घरमें जाना....भिक्षा न मिलनी.....कुक्कुरका काटना.....हाथी.....घोड़ा.....बैलसे सामना बदा था'...."

(घ) शारीरिक तपस्या—शारीरिक कर्मपर महावीरका जोर था, उनका उसमें शारीरिक तपस्यापर तो जोर देना स्वाभाविक था। इस शारीरिक तपस्या—मरणान्त अनशन, नंगे बदन रह शीत-उष्णको सहना आदि बातें जैन-आगमोंमें बहुत आती हैं। जैन साधुओंकी तपस्या और उसके औचित्यका वर्णन त्रिपिटकमें भी मिलता है। बुद्धने महानाम शाक्यसे कहा था[2]—

"एक समय महानाम! मैं राजगृहमें गृध्रकूट पर्वतपर रहता था। उस समय बहुतसे निगंठ (=जैन साधु) ऋषिगिरिकी कालशिलापर खड़े रहने (का व्रत) ले, आसन छोड़, तप (=उपक्रम) करते दुःख, कटु, तीव्र, वेदना झेल रहे थे।....(कारण पूछनेपर) निगंठोंने कहा—'निगंठ नातपुत्त (महावीर) सर्वज्ञ सर्वदर्शी....है। वह ऐसा कहते हैं—'निगंठो! जो तुम्हारा पहिलेका किया हुआ कर्म है, उसे इस कड़वी, दुष्कर-क्रिया (=तपस्या) से नाश करो, और जो यहाँ तुम काय-वचन-मनसे संयम-युक्त हो, यह भविष्यकेलिए पापका न करना होगा। इस प्रकार

[1] म० नि०, २।३।६ (अनुवाद, पृ० ३०२)
[2] म० नि०, १।२।४ (अनुवाद, पृ० ५६)

तपस्या द्वारा पुराने कर्मोंके अन्त होने और नये कर्मोंके न करनेसे भविष्यमें चित्त निर्मल (=अनास्रव) हो जायेगा। भविष्यमें मल (=आस्रव) न होनेसे कर्मका क्षय (हो जायेगा), कर्मक्षयसे दुःख-क्षय, दुःख-क्षयसे वेदनाका क्षय, वेदना-क्षयसे सभी दुःख नष्ट हो जायेंगे।"

बुद्धने इसपर उन निगंठोंसे पूछा, कि क्या तुम्हें पहिले अपना होना मालूम है? क्या तुमने उस समय पापकर्म किये थे? क्या तुम्हें मालूम है कि इतना दुःख (=पाप-फल) नष्ट हो गया, इतना बाकी है? क्या मालूम है कि तुम्हें इसी जन्ममें पापका नाश और पुण्यका लाभ प्राप्त करना है? इसका उत्तर निगंठोंने 'नहीं'में दिया। इसपर बुद्धने कहा—

"ऐसा होनेसे ही तो निगंठो! जो दुनियामें रुद्र (=भयंकर), खूनरंगे हाथोंवाले, क्रूरकर्मा मनुष्योंमें नीच हैं, वह निगंठोंमें साधु बनते हैं। निगंठोंने फिर कहा—"गौतम! सुखसे सुख प्राप्य नहीं है, दुःखसे सुख प्राप्य है।"

—अर्थात् शारीरिक दुःख ही पाप हटाने और कैवल्य-सुख प्राप्त करनेका मुख्य साधन है, यह वर्धमानका विश्वास था।

(२) दर्शन—तप-संयम ही वर्धमानकी मूल शिक्षा मालूम होती है, उसमें दर्शनका अंश बहुत कम था: यदि था, तो यही कि पानी, मिट्टी, सभी जड़-अजड़ तत्त्व जीवोंसे भरे पड़े हैं, मनुष्यको हर तरहकी हिंसासे बचना चाहिए। इसीलिए उन्होंने जलके व्यवहार, तथा गमन-आगमन आदि सबमें भारी प्रतिबंध लगाया। इसीका परिणाम यह हुआ, कि जोतने, काटने, निराने—जैसे कामोंमें प्रत्यक्ष अगनित जीवोंको मारे जाते देख, जैन लोग खेती छोड़ बैठे; और आज वे प्रायः सभी बनिया-वर्गमें पाये जाते हैं।—यूरोपमें यहूदियोंने राजद्वारा खेतके अधिकारसे वंचित होनेके कारण मजबूरन् बनिया-व्यवसाय स्वीकार किया। किन्तु, भारतमें जैनियोंने अपने धर्मसे प्रेरित हो स्वेच्छापूर्वक वैसा किया। मनुष्योंकी एक भारी जमाअतको कैसे धर्म द्वारा उत्पादक-श्रमसे हटाकर पर परिश्रमापहारी बनाया जा सकता है, यहाँ यह इसका एक ज्वलंत उदाहरण है।

आगे चलकर जैनोंका भी एक स्वतंत्र दर्शन बना, जिसपर आगे यथा स्थान लिखा जायेगा। आधुनिक जैन-दर्शनका आधार 'स्याद्वाद' है, जो मालूम होता है संजय वेलट्ठिपुत्तके चार अंगवाले अनेकान्तवादको लेकर उसे सात अंगवाला किया गया है। संजयने तत्त्वों(=परलोक, देवता)के बारेमें कुछ भी निश्चयात्मक रूपसे कहनेसे इन्कार करते हुए उस इन्कारको चार प्रकार कहा है—

(१) है ?—नहीं कह सकता।
(२) नहीं है ?—नहीं कह सकता।
(३) है भी और नहीं भी ?—नहीं कह सकता।
(४) न है और न नहीं है ?—नहीं कह सकता।

इसकी तुलना कीजिए जैनोंके सात प्रकारके स्याद्वादसे—

(१) है ?—हो सकता है (स्याद् अस्ति)
(२) नहीं है ?—नहीं भी हो सकता है। (स्याद् नास्ति)
(३) है भी और नहीं भी ?—है भी और नहीं भी हो सकता है (स्यादस्ति च नास्ति च)

उक्त तीनों उत्तर क्या कहे जा सकते (=वक्तव्य हैं) ? इसका उत्तर जैन 'नहीं'में देते हैं—

(४) 'स्याद्' (हो सकता है) क्या यह कहा जा सकता (=वक्तव्य) है ?—नहीं, स्याद् अ-वक्तव्य है।
(५) 'स्याद् अस्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, 'स्याद् अस्ति' अवक्तव्य है।
(६) 'स्याद् नास्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, 'स्याद् नास्ति' अवक्तव्य है।
(७) 'स्याद् अस्ति च नास्ति च' क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, 'स्याद् अस्ति च नास्ति च' अ-वक्तव्य है।

दोनोंके मिलानेसे मालूम होगा कि जैनोंने संजयके पहिलेवाले तीन वाक्यों (प्रश्न और उत्तर दोनों)को अलग करके अपने स्याद्वादकी छै

भंगियाँ बनाई हैं, और उसके चौथे वाक्य "न है और न नहीं है"को छोड़कर, 'स्याद्' भी अवक्तव्य है यह सातवाँ भंग तैयार कर अपनी सप्तभंगी पूरी की।

उपलभ्य सामग्रीसे मालूम होता है, कि संजय अपने अनेकान्तवादका प्रयोग—परलोक, देवता, कर्मफल, मुक्त पुरुष जैसे—परोक्ष विषयोंपर करता था। जैन संजयकी युक्तिको प्रत्यक्ष वस्तुओंपर भी लागू करते हैं। उदाहरणार्थ सामने मौजूद घटकी सत्ताके बारेमें यदि जैन-दर्शनसे प्रश्न पूछा जाये, तो उत्तर निम्न प्रकार मिलेगा—

(१) घट यहाँ है ?—हो सकता है (=स्याद् अस्ति)।
(२) घट यहाँ नहीं है ?—नहीं भी हो सकता है (=स्याद् नास्ति)।
(३) क्या घट यहाँ है भी और नहीं भी है ?—है भी और नहीं भी हो सकता है (=स्याद् अस्ति च नास्ति च)।
(४) 'हो सकता है' (=स्याद्) क्या यह कहा जा सकता (=वक्तव्य) है ?—नहीं, 'स्याद्' यह अ-वक्तव्य है।
(५) घट यहाँ 'हो सकता है' (=स्यादस्ति) क्या यह कहा जा सकता है ?—नहीं 'घट यहाँ हो सकता है', यह नहीं कहा जा सकता।
(६) घट यहाँ 'नहीं हो सकता है' (=स्याद् नास्ति) क्या यह कहा जा सकता है ?—नहीं, 'घट यहाँ नहीं हो सकता', यह नहीं कहा जा सकता।
(७) घट यहाँ 'हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है', क्या यह कहा जा सकता है ? नहीं, 'घट यहाँ हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है', यह नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार एक भी सिद्धान्त (=वाद)की स्थापना न करना, जो कि संजयका वाद था, उसीको संजयके अनुयायियोंके लुप्त हो जानेपर, जैनोंने अपना लिया, और उसकी चतुर्भंगी न्यायको सप्तभंगीमें परिणत कर दिया।

§ ३. गौतम बुद्ध (५६३-४८३ ई० पू०)

दो सदियों तकके भारतीय दार्शनिक दिमागोंके जबर्दस्त प्रयासका अन्तिम फल हमें बुद्धके दर्शन—क्षणिक अनात्मवाद—के रूपमें मिलता है। आगे हम देखेंगे कि भारतीय दर्शनधाराओंमें जिसने काफी समय तक नई गवेषणाओंको जारी रहने दिया, वह यही धारा थी।—नागार्जुन, असंग, वसुबंधु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति,—भारतके अप्रतिम दार्शनिक इसी धारामें पैदा हुए थे। उन्हींके ही उच्छिष्ट-भोजी पीछेके प्रायः सारे ही दूसरे भारतीय दार्शनिक दिखलाई पड़ते हैं।

१. जीवनी

सिद्धार्थ गौतमका जन्म ५६३ ई० पू०के आसपास हुआ था। उनके पिता शुद्धोदनको शाक्योंका राजा कहा जाता है, किन्तु हम जानते हैं कि शुद्धोदनके साथ-साथ भद्दिय[1] और दण्डपाणिको भी शाक्योंका राजा कहा गया; जिससे यही अर्थ निकलता है कि शाक्योंके प्रजातंत्रकी **गण-संस्था** (—सीनेट या पार्लमेंट)के सदस्योंको लिच्छविगणकी भांति राजा कहा जाता था। सिद्धार्थकी माँ मायादेवी अपने मैके जा रही थीं, उसी वक्त कपिलवस्तुसे कुछ मीलपर लुम्बिनी[3] नामक शालवनमें सिद्धार्थ पैदा हुए। उनके जन्मसे ३१८ वर्ष बाद तथा अपने राज्याभिषेकके बीसवें साल अशोकने इसी स्थानपर एक पाषाण स्तम्भ गाड़ा था, जो अब भी वहाँ मौजूद है। सिद्धार्थके जन्मके सप्ताह बाद ही उनकी माँ मर गई, और उनके पालन-पोषणका भार उनकी मौसी तथा सौतेली माँ प्रजापती

---

[1] चुल्लवग्ग (विनय-पिटक) ७, ("बुद्धचर्या", पृ० ६०)

[2] मज्झिमनिकाय-अट्ठकथा, १।२।८

[3] वर्त्तमान रुम्मिनदेई, नेपाल-तराई (नौतनवा-स्टेशनसे ८ मील पश्चिम)।

गौतमीके ऊपर पड़ा। तरुण सिद्धार्थको संसारसे कुछ विरक्त तथा अधिक विचार-मग्न देख, शुद्धोदनको डर लगा कि कहीं उनका लड़का भी साधुओंके बहकावेमें आकर घर न छोड़ जाये; इसकेलिए उसने पड़ोसी कोलिय गण (=प्रजातंत्र)की सुन्दरी कन्या भद्रा कापिलायनी (या यशोधरा)से विवाह कर दिया। सिद्धार्थ कुछ दिन और ठहर गये, और इस बीचमें उन्हें एक पुत्र पैदा हुआ, जिसे अपने उठते विचार-चंद्रके ग्रसनेके लिए राहु समझ उन्होंने राहुल नाम दिया। वृद्ध, रोगी, मृत और प्रव्रजित (=संन्यासी)के चार दृश्योंको देख उनकी संसारसे विरक्ति पक्की हो गई, और एक रात चुपकेसे वह घरसे निकल भागे। इसके बारेमें बुद्धने स्वयं चुनार (=सुंसुमारगिरि)में वत्सराज उदयके पुत्र बोधिराज-कुमारसे कहा था[1]—

"राजकुमार! बुद्ध होनेसे पहिले....मुझे भी होता था—'सुखमें सुख नहीं प्राप्त हो सकता, दुःखमें सुख प्राप्त हो सकता है।' इसलिए....मैं तरुण बहुत काले केशोंवाला ही, सुन्दर यौवनके साथ, प्रथम वयसमें माता-पिताको अश्रुमुख छोड़ घरसे....प्रव्रजित हुआ। ....(पहिले) आलार कालाम(के पास)....गया।...."

आलार कालामने कुछ योगकी विधियाँ बतलाईं, किन्तु सिद्धार्थकी जिज्ञासा उससे पूरी नहीं हुई। वहाँसे चलकर वह उद्दक रामपुत्त (=उद्रक रामपुत्र)के पास गये, वहाँ भी योगकी कुछ बात सीख सके; किन्तु उससे भी उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। फिर उन्होंने बोधगयाके पास प्रायः छै वर्षों तक योग और अनशनकी भीषण तपस्या की। इस तपस्याके बारेमें वह खुद कहते हैं[2]—

"मेरा शरीर (दुर्बलता)की चरमसीमा तक पहुँच गया था। जैसे ....आसीतिक (अस्सी सालवाले)की गाँठें....वैसे ही मेरे अंग

[1] मज्झिम-निकाय, २।४।५ (अनुवाद, पृ० ३४५)

[2] वही, पृ० ३४८

प्रत्यंग हो गए थे।....जैसे ऊँटका पैर वैसे ही मेरा कूल्हा हो गया था। जैसे....सूओंकी (ऊँची नीची) पाँती वैसे ही पीठके काँटे हो गये थे। जैसे शालकी पुरानी कड़ियाँ टेढ़ी-मेढ़ी होती हैं, वैसी ही मेरी पँसुलियाँ हो गई थीं। ....जैसे गहरे कूएंमें तारा, वैसे ही मेरी आँखें दिखाई देती थीं।......जैसे कच्ची तोड़ी कड़वी लौकी हवा-धूपसे चुचक जाती है, मुर्झा जाती है, वैसे ही मेरे शिरकी खाल चुचक मुर्झा गई थी।....उस अनशनसे मेरे पीठके काँटे और पैरकी खाल बिलकुल सट गई थी।....यदि मैं पाखाना या पेशाब करनेकेलिए (उठता) तो वहीं भहराकर गिर पड़ता। जब मैं कायाको सहराते हुए, हाथसे गात्रको मसलता, तो....कायासे सड़ी जड़वाले रोम झड़ पड़ते।... मनुष्य....कहते—'श्रमण गौतम काला है' कोई....कहते—'....काला नहीं स्याम'।....कोई....कहते—'....मंगुरवर्ण है'। मेरा वैसा परिशुद्ध, गोरा (=परि-अवदात) चमड़ेका रंग नष्ट हो गया था।....

"....लेकिन....मैंने इस (तपस्या)....से उस चरम.... दर्शन....को न पाया। (तब विचार हुआ) बोधि(=ज्ञान)केलिए क्या कोई दूसरा मार्ग है? ....तब मुझे हुआ—'....मैंने पिता (=शुद्धोदन) शाक्यके खेतपर जामुनकी ठंडी छायाके नीचे बैठ.... प्रथम ध्यानको प्राप्त हो विहार किया था, शायद वह मार्ग बोधिका हो।....(किन्तु) इस प्रकारकी अत्यन्त कृश पतली कायासे वह (ध्यान-)सुख मिलना सुकर नहीं है।....फिर मैं स्थूल आहार—दाल-भात—ग्रहण करने लगा।....उस समय मेरे पास पाँच भिक्षु रहा करते थे।....जब मैं स्थूल आहार....ग्रहण करने लगा। तो वह पाँचों भिक्षु....उदासीन हो चले गये।..."

आगेकी जीवनयात्राके बारेमें बुद्ध अन्यत्र कहते हैं[1]—

---

[1] म० नि०, १।३।६ (अनुवाद, पृ० १०५)

"मैंने एक रमणीय भूभागमें, वनखंडमें एक नदी (=निरंजना)को बहते देखा। उसका घाट रमणीय और श्वेत था। यही ध्यान-योग्य स्थान है, (सोच) वहाँ बैठ गया। (और)....जन्मनेके दुष्परिणामको जान....अनुपम निर्वाणको पा लिया....मेरा ज्ञान दर्शन(=साक्षात्कार) बन गया, मेरे चित्तकी मुक्ति अचल हो गई, यह अन्तिम जन्म है, फिर अब (दूसरा) जन्म नहीं (होगा)।"

सिद्धार्थका यह ज्ञान दर्शन था—दुःख है, दुःखका हेतु (=समुदय), दुःखका निरोध-(=विनाश) है और दुःख-निरोधका मार्ग। 'जो धर्म (=वस्तुएं घटनाएं) हैं, वह हेतुसे उत्पन्न होते हैं। उनके हेतुको, बुद्धने कहा। और उनका जो निरोध है (उसे भी), ऐसा मत रखनेवाला महा श्रमण।'[1]

सिद्धार्थने उनतीस सालकी आयु (५३४ ई० पू०)में घर छोड़ा। छै वर्ष तक योग-तपस्या करनेके बाद ध्यान और चिन्तन द्वारा ३६ वर्षकी आयु (५२८ ई० पू०)में बोधि(=ज्ञान) प्राप्त कर वह बुद्ध हुए। फिर ४५ वर्ष तक उन्होंने अपने धर्म (=दर्शन)का उपदेश कर। ८२ वर्षकी उम्रमें ४८३ ई० पू०में कुसीनारा[2]में निर्वाण प्राप्त किया।

२. साधारण विचार

बुद्ध होनेके बाद उन्होंने सबसे पहिले अपने ज्ञानका अधिकारी उन्हीं पाँचों भिक्षुओंको समझा, जो कि अनशन त्यागनेके कारण पतित समझ उन्हें छोड़ गये थे। पता लगाकर वह उनके आश्रम ऋषि-पतन मृगदाव (सारनाथ, बनारस) पहुँचे। बुद्धका पहिला उपदेश उसी शंकाको हटानेके लिए था, जिसके कारण कि अनशन तोड़ आहार आरम्भ करनेवाले गौतम-

---

[1] "ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुं तेषां तथागतो ह्यवदत्।
तेषां च यो निरोध एवंवादी महाश्रमणः।"

[2] कसया, जिला गोरखपुर।

को वह छोड़ आये थे। बुद्धने कहा[1]—

"भिक्षुओ! इन दो अतियों (=चरम-पंथों)को....नहीं सेवन करना चाहिए।—(१)....काम-सुखमें लिप्त होना; ....(२) ....शरीर पीड़ामें लगना।—इन दोनों अतियोंको छोड़....(मैं)ने मध्यम-मार्ग खोज निकाला है, (जो कि) आँख देनेवाला, ज्ञान करानेवाला ....शान्ति (देने)वाला है।....वह (मध्यम-मार्ग) यही आर्य (=श्रेष्ठ) अष्टांगिक(=आठ अंगोंवाला) मार्ग है, जैसे कि—ठीक दृष्टि (=दर्शन), ठीक संकल्प, ठीक वचन, ठीक कर्म, ठीक जीविका, ठीक प्रयत्न, ठीक स्मृति और ठीक समाधि।...."

(१) चार आर्य-सत्य—

दुःख, दुःख-समुदय (=हेतु), दुःख निरोध, दुःखनिरोधगामी मार्ग—जिनका जिक्र अभी हम कर चुके हैं, इन्हें बुद्धने **आर्य-सत्य**—श्रेष्ठ सच्चाइयाँ—कहा है।

क. दुःख-सत्य की व्याख्या करते हुए बुद्धने कहा है[2]—"जन्म भी दुःख है, बुढ़ापा भी दुःख है, मरण....शोक-रुदन—मनकी खिन्नता—हैरानगी दुःख है। अ-प्रियसे संयोग, प्रियसे वियोग भी दुःख है, इच्छा करके जिसे नहीं पाता वह भी दुःख है। संक्षेपमें पाँचों **उपादान स्कन्ध** दुःख है।"

(पाँच उपादान स्कंध)—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान—यही पाँचों उपादान स्कंध है।

(a) **रूप**—चारों महाभूत—पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, यह रूप-उपादान स्कंध है।

---

[1] **"धर्मचक्रप्रवर्त्तन-सूत्र"—संयुत-निकाय ५५।२।१ ("बुद्धचर्या", पृ० २३)**

[2] **महासतिपट्ठान-सुत्त (दीघ-निकाय, २।९)**

(b) **वेदना**—हम वस्तुओं या उनके विचारके सम्पर्कमें आनेपर जो सुख, दुख, या न सुख-दुखके रूपमें अनुभव करते हैं, इसे ही वेदना स्कंध कहते हैं।

(c) **संज्ञा**—वेदनाके बाद हमारे मस्तिष्कपर पहिलेसे ही अंकित संस्कारों द्वारा जो हम पहिचानते हैं—'यह वही देवदत्त है', इसे संज्ञा कहते हैं।

(d) **संस्कार**—रूपोंकी वेदनाओं और संज्ञाओंका जो संस्कार मस्तिष्क पर पड़ा रहता है, और जिसकी सहायतासे कि हमने पहिचाना—'यह वही देवदत्त है', इसे संस्कार कहते हैं।

(e) **विज्ञान**—चेतना या मनको विज्ञान कहते हैं।

ये पाँचों स्कंध जब व्यक्तिकी तृष्णाके विषय होकर पास आते हैं, तो इन्हें ही उपादान स्कंध कहते हैं। बुद्धने इन पाँचों उपादान-स्कंधोंको दुःख-रूप कहा है।

ख. दुःख हेतु—दुःखका हेतु क्या है? तृष्णा—काम (भोग) की तृष्णा, भवकी तृष्णा, विभवकी तृष्णा। इन्द्रियोंके जितने प्रिय विषय या काम हैं, उन विषयोंके साथ संपर्क, उनका ख्याल, तृष्णाको पैदा करता है। "काम (=प्रिय भोग) केलिए ही राजा भी राजाओंसे लड़ते हैं, क्षत्रिय भी क्षत्रियोंसे, ब्राह्मण भी ब्राह्मणोंसे, गृहपति (=वैश्य) भी गृहपतिसे, माता भी पुत्रसे, पुत्र भी मातासे, पिता पुत्रसे, पुत्र पितासे, भाई भाईसे, बहिन भाईसे, भाई बहिनसे, मित्र मित्रसे लड़ते हैं। वह आपसमें कलह-विग्रह-विवाद करते एक दूसरेपर हाथसे भी, डंडेसे भी, शस्त्रसे भी आक्रमण करते हैं। वह (इससे) मर भी जाते हैं, मरण-समान दुःखको प्राप्त होते हैं।"[1]

ग. दुःख-विनाश—उसी तृष्णाके अत्यन्त निरोध, परित्याग विनाशको दुःख-निरोध कहते हैं। प्रिय विषयों और तद्विषयक विचारों-विकल्पोंसे जब तृष्णा छूट जाती है, तभी तृष्णाका निरोध होता है।

---

[1] मज्झिम-निकाय, १।२।३

तृष्णाके नाश होनेपर **उपादान** (=विषयोंके संग्रह करने)का निरोध होता है। उपादानके निरोधसे भव (=लोक)का निरोध होता है, भव निरोधसे जन्म (=पुनर्जन्म)का निरोध होता है। जन्मके निरोधसे बुढ़ापा, मरण, शोक, रोना, दु:ख, मनकी खिन्नता, हैरानगी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार दु:खोंका निरोध होता है।

यही दु:खनिरोध बुद्धके सारे दर्शनका केन्द्र-बिन्दु है।

घ. दु:ख-विनाशका मार्ग—दु:ख निरोधकी ओर ले जानेवाला मार्ग क्या है?—**आर्य अष्टांगिक मार्ग** जिन्हें पहिले गिना आए हैं। आर्य-अष्टांगिक मार्गकी आठ बातोंको ज्ञान (=प्रज्ञा), सदाचार (=शील) और योग (=समाधि) इन तीन भागों (=स्कंधोंमें) बाँटनेपर वह होते हैं—

(क) ज्ञान	ठीक दृष्टि ठीक संकल्प
(ख) शील	ठीक वचन ठीक कर्म ठीक जीविका
(ग) समाधि	ठीक प्रयत्न ठीक स्मृति ठीक समाधि

(क) ठीक ज्ञान—

(१) **ठीक (=सम्यग्) दृष्टि**—कायिक, वाचिक, मानसिक, भले बुरे कर्मोंके ठीक-ठीक ज्ञानको ठीक दृष्टि कहते हैं। भले बुरे कर्म इस प्रकार हैं—

	बुरे कर्म	भले कर्म
कायिक	१. हिंसा	अ-हिंसा
	२. चोरी	अ-चोरी
	३. (यौन) व्यभिचार	अ-व्यभिचार

वाचिक	४.	मिथ्याभाषण	अ-मिथ्याभाषण
	५.	चुगली	न-चुगली
	६.	कटुभाषण	अ-कटुभाषण
	७.	बकवास	न-बकवास
मानसिक	८.	लोभ	अ-लोभ
	९.	प्रतिहिंसा	अ-प्रतिहिंसा
	१०.	झूठी धारणा	न-झूठी धारणा

दुःख, हेतु, निरोध, मार्गका ठीकसे ज्ञान ही ठीक दृष्टि (=दर्शन) कही जाती है।

(b) **ठीक संकल्प**—राग-, हिंसा-, प्रतिहिंसा-,रहित संकल्पको ही ठीक संकल्प कहते हैं।

(ख) ठीक आचार—

(a) **ठीक वचन**—झूठ, चुगली, कटुभाषण और बकवाससे रहित सच्ची मीठी बातोंका बोलना।

(b) **ठीक कर्म**—हिंसा-चोरी-व्यभिचार-रहित कर्म ही ठीक कर्म है।

(c) **ठीक जीविका**—झूठी जीविका छोड़ सच्ची जीविकासे शरीर-यात्रा चलाना। उस समयके शासक-शोषक समाजद्वारा अनुमोदित सभी जीविकाओंमें सिर्फ प्राणि हिंसा संबंधी निम्न जीविकाओंको ही बुद्धने झूठी जीविका कहा[1]—

"हथियारका व्यापार; प्राणिका व्यापार, मांसका व्यापार, मद्यका व्यापार, विषका व्यापार।"

(ग) ठीक समाधि—

(a) **ठीक प्रयत्न (=व्यायाम)**—इन्द्रियोंपर संयम, बुरी भावनाओंको रोकने तथा अच्छी भावनाओंके उत्पादनका प्रयत्न, उत्पन्न अच्छी

---

[1] **अंगुत्तर-निकाय, ५**

भावनाओंको कायम रखनेका प्रयत्न—ये ठीक प्रयत्न हैं।

(b) **ठीक स्मृति**—काया, वेदना, चित्त और मनके धर्मोंकी ठीक स्थितियों—उनके मलिन, क्षण-विध्वंसी आदि होने—का सदा स्मरण रखना।

(c) **ठीक समाधि**—"चित्तकी एकाग्रताको समाधि कहते हैं"।[1] ठीक समाधि वह है जिससे मनके विक्षेपोंको हटाया जा सके। बुद्धकी शिक्षाओंको अत्यन्त संक्षेपमें एक पुरानी गाथामें इस तरह कहा गया है—

"सारी बुराइयोंका न करना, और अच्छाइयोंका संपादन करना; अपने चित्तका संयम करना, यह बुद्धकी शिक्षा है।"

अपनी शिक्षाका क्या मुख्य प्रयोजन है, इसे बुद्धने इस तरह बतलाया है[2]—

"भिक्षुओ! यह ब्रह्मचर्य (=भिक्षुका जीवन) न लाभ-सत्कार-प्रशंसा केलिए है, न शील (=सदाचार)की प्राप्तिकेलिए, न समाधि प्राप्तिके लिए, न ज्ञान=दर्शनकेलिए है। जो न अटूट चित्तकी मुक्ति है, उसीकेलिए. . . .यह ब्रह्मचर्य है, यही सार है, यही उसका अन्त है।

बुद्धके दार्शनिक विचारोंको देनेसे पहले उनके जीवनके बाकी अंशको समाप्त कर देना जरूरी है।

सारनाथमें अपने धर्मका प्रथम उपदेश कर, वहीं वर्षा बिता, वर्षाके अन्तमें स्थान छोड़ते हुए प्रथम चार मासोंमें हुए अपने साठ शिष्योंको उन्होंने इस तरह संबोधित किया[3]—

"भिक्षुओ! बहुत जनोंके हितकेलिए, बहुत जनोंके सुखकेलिए, लोकपर दया करनेकेलिए, देव-मनुष्योंके प्रयोजन-हित-सुखकेलिए विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ। . . . मैं भी. . . उरुवेला. . . सेनानी-ग्राममें. . . धर्म-उपदेशकेलिए जा रहा हूँ।"

---

[1] म० नि०, १।५।४ [2] म० नि०, १।३।६

[3] संयुत्त-नि०, ४।१।४

इसके बाद ४४ वर्ष। बुद्ध जीवित रहे। इन ४४ वर्षोंके बरसातके तीन मासोंको छोड़ वह बराबर विचरते जहाँ-तहाँ ठहरते लोगोंको अपने धर्म और दर्शनका उपदेश करते रहे।[१] बुद्धने बुद्धत्व प्राप्तिके बादकी ४४ बरसातोंको निम्न स्थानोंपर बिताया था—

स्थान	ई०पू०	स्थान	ई०पू०
(लुंबिनी जन्म	५६३)	बीच)	५१७
(बोधगया बुद्धत्व में	५२८)	१३. चालिय पर्वत (बिहार)	५१६
१. ऋषिपतन (सारनाथ)	५२८	१४. श्रावस्ती (गोंडा)	५१५
२-४. राजगृह	५२७-२५	१५. कपिलवस्तु	५१४
५. वैशाली	५२४	१६. आलवी (अरवल)	५१३
६. मकुल पर्वत (बिहार)	५२३	१७. राजगृह	५१२
७. .. (त्रयस्त्रिंश ?)	५२२	१८. चालिय पर्वत	५११
८. सुंसुमारगिरि (=चुनार)	५२१	१९. चालिय पर्वत	५१०
९. कौशाम्बी (इलाहाबाद)	५२०	२०. राजगृह	५०९
१०. पारिलेयक (मिर्जापुर)	५१९	२१-४५. श्रावस्ती	५०८-४८४
११. नाला (बिहार)	५१८	४६. वैशाली	४८३
१२. वेरंजा (कन्नौज-मथुराके		(कुसीनारामें निर्वाण ४८३)	

उनके विचरणका स्थान प्रायः सारे युक्त प्रान्त और सारे बिहार तक सीमित था। इससे बाहर वह कभी नहीं गये।

(२) जनतंत्रवाद—

हम देख चुके हैं, कि जहाँ बुद्ध एक ओर अत्यन्त भोग-मय जीवनके विरुद्ध थे, वहाँ दूसरी ओर वह शरीर सुखानेको भी मूर्खता समझते थे। कर्मकांड, भक्तिकी अपेक्षा उनका झुकाव ज्ञान और बुद्धिवादकी ओर

[१] बुद्धके जीवन और मुख्य-मुख्य उपदेशोंको प्राचीनतम सामग्रीके आधारपर मैंने "बुद्धचर्या"में संगृहीत किया है।

ज्यादा था। उनके दर्शनकी विशेषताको हम अभी कहनेवाले हैं। इन सारी बातोंके कारण अपने जीवनमें और बादमें भी बुद्ध प्रतिभाशाली व्यक्तियोंको आकर्षित करनेमें समर्थ हुए। मगधके सारिपुत्र, मौद्गल्यायन, महाकाश्यप ही नहीं, सुदूर उज्जैनके राजपुरोहित महाकात्यायन जैसे विद्वान् ब्राह्मण उनके शिष्य बने जिन्होंने ब्राह्मणोंके धर्म और स्वार्थके विरोधी बौद्धधर्मके प्रति ब्राह्मणोंमें कटुता फैलने—खासकर प्रारंभिक सदियोंमें—से रोका। मगधका राजा बिंबिसार बुद्धका अनुयायी था। कोसलके राजा प्रसेनजित् को इसका बहुत अभिमान था कि बुद्ध भी कोसल क्षत्रिय हैं और वह भी कोसल क्षत्रिय। उसने बुद्धका और नजदीकी बननेकेलिए शाक्यवंशकी कन्याके साथ ब्याह किया था। शाक्य-, मल्ल-, लिच्छवि-प्रजातंत्रोंमें उनके अनुयायियोंकी भारी संख्या थी। बुद्धका जन्म एक प्रजातंत्र (शाक्य) में हुआ था, और मृत्यु भी एक प्रजातंत्र (मल्ल) हीमें हुई। प्रजातंत्र-प्रणाली उनको कितनी प्रिय थी, यह इसीसे मालूम है, कि अजातशत्रुके साथ अच्छा संबंध होनेपर भी उन्होंने उसके विरोधी वैशालीके लिच्छवियोंकी प्रशंसा करते हुए राष्ट्रके अपराजित रखनेवाली निम्न सात बातें बतलाईं[1]—

(१) बराबर एकत्रित हो सामूहिक निर्णय करना; (२) (निर्णयके अनुसार) कर्त्तव्यको एक हो करना; (३) व्यवस्था (=कानून और विनय) का पालन करना; (४) वृद्धोंका सत्कार करना; (५) स्त्रियोंपर जबर्दस्ती नहीं करना; (६) जातीय धर्मका पालन करना; (७) धर्माचार्योंका सत्कारकरना।

इन सात बातोंमें सामूहिक निर्णय, सामूहिक कर्त्तव्य-पालन, स्त्री-स्वातंत्र्य प्रगतिके अनुकूल विचार थे; किन्तु बाकी बातोंपर जोर देना यही बतलाता है, कि वह तत्कालीन सामाजिक व्यवस्थामें हस्तक्षेप नहीं करना

---

[1] देखो, महापरिनिब्बाण-सुत्त (दी० नि०, २।३), "बुद्धचर्या", पृष्ठ ५२०-२२

चाहते थे। वैयक्तिक तृष्णाके दुष्परिणामको उन्होंने देखा था। दुःखोंका कारण यही तृष्णा है। दुःखोंका चित्रण करते हुए उन्होंने कहा था[1]—

"चिरकालसे तुमने . . . . माता-पिता-पुत्र-दुहिताके मरणको सहा, . . . भोग-रोगकी आफतोंको सहा, प्रियके वियोग, अप्रियके संयोगसे रोते क्रन्दन करते जितना आँसू तुमने गिराया, वह चारों समुद्रोंके जलसे भी ज्यादा है।"

यहाँ उन्होंने दुःख और उसकी जड़को समाजमें न ख्याल कर व्यक्तिमें देखनेकी कोशिश की। भोगकी तृष्णाकेलिए राजाओं, क्षत्रियों, ब्राह्मणों, वैश्यों, सारी दुनियाको झगड़ते मरते-मारते देख भी उस तृष्णाको व्यक्तिसे हटानेकी कोशिश की। उनके मतानुसार मानो, काँटोंसे बँचनकेलिए सारी पृथिवीको तो नहीं ढाँका जा सकता है, हाँ, अपने पैरोंको चमड़ेसे ढाँक कर काँटोंसे बचा जा सकता है। वह समय भी ऐसा नहीं था, कि बुद्ध जैसे प्रयोगवादी दार्शनिक, सामाजिक पापोंको सामाजिक चिकित्सासे दूर करनेकी कोशिश करते। तो भी वैयक्तिक सम्पत्तिकी बुराइयोंको वह जानते थे, इसीलिए जहाँ तक उनके अपने भिक्षु-संघका संबंध था, उन्होंने उसे हटाकर भोगमें पूर्ण साम्यवाद स्थापित करना चाहा।

(३) दुःख-विनाश-मार्गकी त्रुटियाँ—

बुद्धका दर्शन घोर क्षणिकवादी है, किसी वस्तुको वह एक क्षणसे अधिक ठहरनेवाली नहीं मानते, किन्तु इस दृष्टिको उन्होंने समाजकी आर्थिक व्यवस्थापर लागू नहीं करना चाहा। सम्पत्तिशाली शासक-शोषक-समाजके साथ इस प्रकार शान्ति स्थापित कर लेनेपर उनके जैसे प्रतिभाशाली दार्शनिकका ऊपरके तबकेमें सम्मान बढ़ना लाजिमी था। पुरोहित-वर्गके कूटदंत, सोणदंड जैसे धनी प्रभुताशाली ब्राह्मण उनके अनुयायी बनते थे, राजा लोग उनकी आवभगतके लिए उतावले दिखाई पड़ते थे। उस वक्तका धनकुबेर व्यापारी-वर्गतो उससे भी

[1] सं० नि०, १४

ज्यादा उनके सत्कारकेलिए अपनी थैलियाँ खोले रहता था, जितने कि आजके भारतीय महासेठ गाँधीकेलिए। श्रावस्तीके धनकुबेर सुदत्त (अनाथपिंडक)ने सिक्केसे ढाँक एक भारी बाग (जेतवन) खरीदकर बुद्ध और उनके भिक्षुओंके रहनेकेलिए दिया। उसी शहरकी दूसरी सेठानी विशाखाने भारी व्ययके साथ एक दूसरा विहार (=मठ) पूर्वाराम बनवाया था। दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम भारतके साथ व्यापारके महान केन्द्र कौशाम्बीके तीन भारी सेठोंने तो विहार बनवानेमें होड़सी कर ली थी। सच तो यह है, कि बुद्धके धर्मको फैलानेमें राजाओंसे भी अधिक व्यापारियोंने सहायता की। यदि बुद्ध तत्कालीन आर्थिक व्यवस्थाके खिलाफ जाते तो यह सुभीता कहाँसे हो सकता था?

३. दार्शनिक विचार

"अनित्य, दुःख, अनात्म"[1] इस एक सूत्रमें बुद्धका सारा दर्शन आ जाता है। इनमें दुःखके बारेमें हम कह चुके हैं।

(१) **क्षणिकवाद**—बुद्धने तत्त्वोंका विभाजन तीन प्रकारसे किया है—(१) स्कन्ध, (२) आयतन, (३) धातु।

स्कन्ध पाँच हैं—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान। रूपमें पृथिवी आदि चारों महाभूत शामिल हैं। विज्ञान चेतना या मन है। वेदना सुख-दुःख आदिका जो अनुभव होता है उसे कहते हैं। संज्ञा होश या अभिज्ञानको कहते हैं। संस्कार मनपर बच रही छाप या वासनाको कहते हैं। इस प्रकार वेदना, संज्ञा, संस्कार—रूपके संपर्कसे विज्ञान (=मन)की भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं।[2] बुद्धने इन स्कंधोंको "अ-नित्य, संस्कृत (=कृत),=

[1] अंगुत्तर-निकाय, ३।१।३४

[2] महावेदल्ल-सुत्त; म० नि०, १।५।३—"संज्ञा . . . वेदना . . . . विज्ञान . . . . यह तीनों धर्म (=पदार्थ) मिलेजुले हैं, बिलग नहीं . . . . बिलग करके इनका भेद नहीं जतलाया जा सकता।

प्रतीत्य समुत्पन्न—क्षय धर्मवाला—व्यय धर्मवाला—. . . .निरोध (=विनाश) धर्मवाला"[1] कहा है।

आयतन बारह हैं—छै इन्द्रियाँ (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काया या चमड़ा और मन) और छै उनके विषय—रूप, शब्द, गंध, रस, स्प्रष्टव्य, और धर्म (=वेदना, संज्ञा, संस्कार)।

धातु अठारह हैं—उपर्युक्त छै इन्द्रियाँ तथा उनके छै विषय; और इन इन्द्रियों तथा विषयोंके संपर्कसे होनेवाले छै विज्ञान (=चक्षु-विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, काय-विज्ञान और मन-विज्ञान)।

विश्वकी सारी वस्तुएं स्कन्ध, आयतन, धातु तीनोंमेंसे किसी एक प्रक्रियामें बाँटी जा सकती हैं। उन्हें ही नाम और रूपमें भी विभक्त किया जाता है, जिनमें नाम विज्ञानका पर्यायवाची है। यह सभी अनित्य हैं—[2]

"यह अटल नियम है—. . . .रूप (महाभूत) वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान (ये) सारे संस्कार (=कृत वस्तुएं) अनित्य हैं।"

"रूप. . . वेदना. . . .संज्ञा. . . .संस्कार. . . .विज्ञान (ये पाँचो स्कंध) नित्य, ध्रुव, शाश्वत, अविकारी नहीं हैं, यह लोकमें पंडितसम्मत (बात) है। मैं भी (वैसा) ही कहता हूँ। ऐसा कहने. . . .समझाने . . . .पर भी जो नहीं समझता नहीं देखता, उस. . . बालक (=मूर्ख) . . . .अन्धे, बेआँख, अजान. . . .कोलिए मैं क्या कर सकता हूँ।"

रूप (भौतिक पदार्थ)की क्षणिकताको तो आसानीसे समझा जा सकता है। विज्ञान (=मन) उससे भी क्षणभंगुर है, इसे दर्शाते हुए बुद्ध कहते हैं—

"भिक्षुओ! यह बल्कि बहतर है, कि अजान. . . (पुरुष) इस चार महाभूतोंकी कायाको ही **आत्मा** (=नित्य तत्त्व) मान ले, किन्तु

---

[1] **महानिदान-सुत्त (दी० नि०, २।१५; "बुद्धचर्या", १३३)**

[2] **अंगुत्तर-निकाय, ३।१।३४** [3] **संयुत्त-नि०, १६**

चित्तको (वैसा मानना ठीक) नहीं। सो क्यों .?...चारों महाभूतोंकी यह काया एक....दो....तीन....चार....पाँच....छै.... सात वर्ष तक भी मौजूद देखी जाती है; किन्तु जिसे 'चित्त' 'मन' या 'विज्ञान' कहा जाता है, वह रात और दिनमें भी (पहिलेसे) दूसरा ही उत्पन्न होता है, दूसरा ही नष्ट होता है।"[1]

बुद्धके दर्शनमें अनित्यता एक ऐसा नियम है, जिसका कोई अपवाद नहीं है।

बुद्धका अनित्यवाद भी "दूसरा ही उत्पन्न होता है, दूसरा ही नष्ट होता है"के कहे अनुसार किसी एक मौलिक तत्वका बाहरी परिवर्तनमात्र नहीं, बल्कि एकका बिलकुल नाश और दूसरेका बिलकुल नया उत्पाद है।—बुद्ध कार्य-कारणकी निरन्तर या अविच्छिन्न सन्ततिको नहीं मानते।

(२) **प्रतीत्य-समुत्पाद**—यद्यपि कार्य-कारणको बुद्ध अविच्छिन्न सन्तति नहीं मानते, तो भी वह यह मानते हैं कि "इसके होनेपर यह होता है"[2] (एकके विनाशके बाद दूसरेकी उत्पत्ति इसी नियमको बुद्धने **प्रतीत्य-समुत्पाद** नाम दिया है)। हर एक उत्पादका कोई **प्रत्यय** है। प्रत्यय और हेतु (=कारण) समानार्थक शब्द मालूम होते हैं, किन्तु बुद्ध प्रत्ययसे वही अर्थ नहीं लेते, जो कि दूसरे दार्शनिकोंको हेतु या कारणसे अभिप्रेत है। 'प्रत्ययसे उत्पाद'का अर्थ है, बीतनेसे उत्पाद—यानी एकके बीत जाने नष्ट हो जानेपर दूसरेकी उत्पत्ति। बुद्धका **प्रत्यय** ऐसा हेतु है जो किसी वस्तु या घटनाके उत्पन्न होनेसे पहिले क्षण सदा लुप्त होते देखा जाता है। प्रतीत्य **समुत्पाद** कार्यकारण नियमको अविच्छिन्न नहीं **विच्छिन्न प्रवाह**[3] बतलाता है। **प्रतीत्य-समुत्पाद**के इसी विच्छिन्न प्रवाहको लेकर आगे नागार्जुनने अपने **शून्यवाद**को विकसित किया।

---

[1] संयुत्त-नि०, १२।७ [2] "**अस्मिन् सति इदं भवति।**" (म० नि०, १।४।८; अनुवाद, पृ० १५५)

[3] Discontinuous continuity.

प्रतीत्य-समुत्पाद बुद्धके सारे दर्शनका आधार है, उनके दर्शनके समझनेकी यह कुंजी है, यह खुद बुद्धके इस वचनसे मालूम होता है[1]—

"जो प्रतीत्य समुत्पादको देखता है, वह **धर्म** (=बुद्धके दर्शन) को देखता है; जो धर्मको देखता है, वह प्रतीत्य समुत्पादको देखता है। यह पाँच उपादान **स्कंध** (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान) प्रतीत्य समुत्पन्न (=विच्छिन्न प्रवाहके तौरपर उत्पन्न) हैं।"

प्रतीत्य-समुत्पादके नियमको मानव व्यक्तिमें लगाते हुए, बुद्धने इसके बारह अंग (=द्वादशांग प्रतीत्य समुत्पाद) बतलाये हैं। पुराने उपनिषद्के दार्शनिक तथा दूसरे कितने ही आचार्य नित्य ध्रुव, अविनाशी, तत्त्वको आत्मा कहते थे। बुद्धके **प्रतीत्य-समुत्पाद**में **आत्मा**केलिए कोई गुंजाइश न थी, इसीलिए आत्मवादको वह महा-अविद्या कहते थे। इस बातको उन्होंने अपने एक उपदेश[2]में अच्छी तरह समझाया है—

"साति केवट्टपुत्त भिक्षुको ऐसी बुरी दृष्टि (=धारणा) उत्पन्न हुई थी—मैं भगवानके उपदिष्ट धर्मको इस प्रकार जानता हूँ, कि दूसरा नहीं बल्कि वही (एक) **विज्ञान** (=जीव) संसरण-संधावन (=आवागमन) करता रहता है।"

बुद्धने यह बात सुनी तो बुलाकर पूछा—

" 'क्या सचमुच साति ! तुझे इस प्रकारकी बुरी धारणा हुई है ?'

'हाँ, ... दूसरा नहीं वही विज्ञान (=जीव) संसरण-संधावन करता है।'

'साति ! वह **विज्ञान** क्या है ?'

'यह जो, भन्ते ! वक्ता अनुभव करता है, जो कि वहाँ-वहाँ (जन्म लेकर) अच्छे बुरे कर्मोंके फलको अनुभव करता है।'

'निकम्मे (=मोघपुरुष) ! तूने किसको मुझे ऐसा उपदेश करते

[1] मज्झिम-नि०, १।३।८

[2] महातण्हा-संखय-सुत्तन्त, म० नि०, १।४।८ (अनुवाद, पृ० १५१-८)

सुना ? मैंने तो मोघपुरुष ! **विज्ञान** (=जीव)को अनेक प्रकारसे **प्रतीत्य-समुत्पन्न** कहा है—**प्रत्यय** (=विगत) होनेके बिना **विज्ञानका** प्रादुर्भाव नहीं हो सकता (बतलाया है) । मोघपुरुष ! तू अपनी ठीकसे न समझी बातका हमारे ऊपर लांछन लगाता है ।'. . . ."

फिर भिक्षुओंको संबोधित करते हुए कहा—

" 'भिक्षुओ ! जिस-जिस **प्रत्ययसे विज्ञान** (=जीव) चेतना उत्पन्न होता है, वही उसकी संज्ञा होती है । चक्षुके निमित्तसे (जो) विज्ञान उत्पन्न होता है, उसकी चक्षुर्विज्ञान ही संज्ञा होती है । (इसी प्रकार) श्रोत्र-, घ्राण-, रस-, काया, मन-विज्ञान संज्ञा होती है । . . . .जैसे . . . .जिस जिस निमित्त (=प्रत्यय)से आग जलती है, वही-वही उसकी संज्ञा होती है, ...काष्ट-अग्नि . . . .तृण-अग्नि . . . .तुष-अग्नि . . . .'

". . . .'यह (पाँच स्कन्ध) उत्पन्न है—यह अच्छी प्रकार प्रज्ञासे देखनेपर (आत्माके होनेका) सन्देह नष्ट हो जाता है न ?'

'हाँ, भन्ते !'

'भिक्षुओ ! 'यह (पाँच स्कन्ध) उत्पन्न है'—इस (विषयमें) तुम सन्देह-रहित हो न ?'

'हाँ, भन्ते !'

'भिक्षुओ ! 'यह (पाँच स्कन्ध=भौतिक तत्व और मन) उत्पन्न है', ...'यह अपने आहारसे उत्पन्न है' . . . .'यह अपने आहारके निरोधसे निरुद्ध होनेवाला है'—यह ठीकसे अच्छी प्रकार जानना सुदृष्ट है न ?'

'हाँ, भन्ते !'

'भिक्षुओ ! तुम इस . . . .परिशुद्ध (सु-)दृष्ट (विचार)में भी आसक्त न होना, रमण न करना, 'मेरा धन है'—न समझना, न ममता करना । बल्कि भिक्षुओ ! मेरे उपदेश किए **धर्मको बेड़े (=कुल्ल)के समान समझना,** (यह) पार होनेकेलिए है, पकड़ रखनेकेलिए नहीं है ।'. . . .

साति केवट्टपुत्तके मनमें जैसे 'आत्मा है' यह अविद्या छाई थी, उस अविद्याका कारण समझाते हुए बुद्धने कहा—

"सभी आहारोंका निदान (=कारण) है तृष्णा. . . .उसका निदान वेदना. . .उसका निदान स्पर्श. . .उसका निदान छ आयतन (=पाँचों इन्द्रियाँ और मन). . .उसका निदान नाम और रूप. . .उसका निदान विज्ञान. . . .उसका निदान संस्कार. . . .उसका निदान अविद्या।"

अविद्या फिर अपने चक्रको १२ अंगोंमें दुहराती है, इसे ही द्वादशांग प्रतीत्य-समुत्पाद कहते हैं—

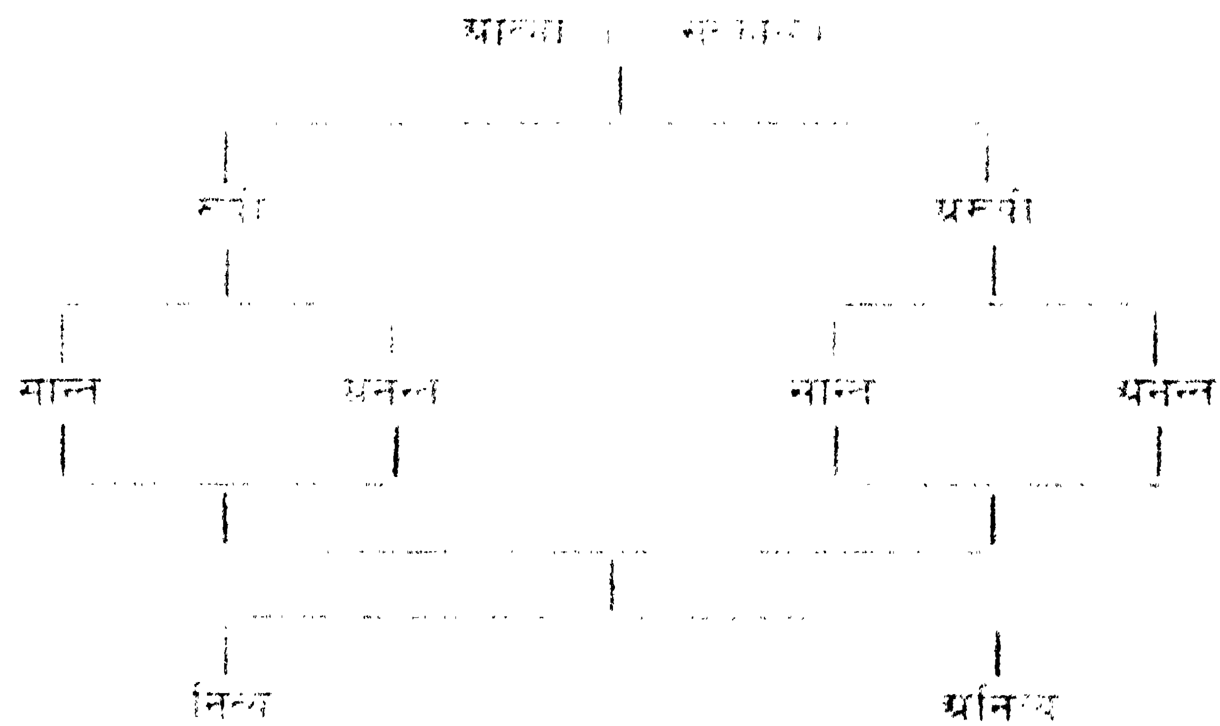
१. अविद्या ←	१२. जरामरण
↓	↑
२. संस्कार	११. जाति (=जन्म)
↓	↑
३. विज्ञान	१०. भव (=आवागमन)
↓	↑
४. नाम-रूप	९. उपादान (=ग्रहण या ग्रहण करनेकी इच्छा)
↓	↑
५. छ आयतन (=इन्द्रियाँ)	८. तृष्णा
↓	↑
६. स्पर्श →	७. वेदना

तृष्णाकी उत्पत्तिकी कथा कहते हुए बुद्धने वहीं कहा है—

" 'भिक्षुओ! तीनके एकत्रित होनेसे गर्भधारण होता है।. . . . (१) माता-पिता एकत्रित होते हैं (२) माता ऋतुमती होती है, (३) गंधर्व उपस्थित होता है।. . . .तब माता गर्भको. . . .नौ या दस मासके बाद जनती है।. . . .उसको. . . .माता अपने लोहित. . . .दूधसे पोसती है। तब वह बच्चा (कुछ) बड़ा होनेपर . . . .बच्चोंके खिलौने—बंका, घडिया, मुँहके लट्टू, चिगुलिया, तराजू, गाड़ी, धनुही—से खेलता है।. . . . (और) बड़ा होनेपर. . . .पाँच प्रकारके विषय-भोगों—(रूप, शब्द, रस, गंध, स्पर्श)—का सेवन करता है।. . . .वह (उनकी अनुकूलता, प्रति-

कूलता आदिके अनुसार) अनुरोध (=राग), विरोधमें पड़ा सुखमय, दुःखमय, न सुख-न दुःखमय वेदनाको अनुभव करता है, उसका अभिनंदन करता है।....(इस प्रकार) अभिनंदन करते उसे नन्दी (=तृष्णा) उत्पन्न होती है।....वेदनाओंके विषयमें जो यह नन्दी (=तृष्णा) है, (यही) उसका उपादान(=ग्रहण करना या ग्रहण करनेकी इच्छा) है।' "

(३) **अनात्मवाद**—बुद्धके पहिले उपनिषद्के ऋषियोंको हम आत्माके दर्शनका जबर्दस्त प्रचार करते देखते हैं। साथ ही उस समय चार्वाककी तरहके भौतिकवादी दार्शनिक भी थे, यह भी लिखा चुके हैं। नित्यतावादियोंके आत्मा-संबंधी विचारोंको बुद्धने दो भागोंमें बाँटा है;[1] एक वह जिसमें आत्माको रूपी (इन्द्रिय-गोचर) माना जाता है, दूसरेमें उसे अ-रूपी माना गया है)। फिर इन दोनों विचारवालोंमें कुछ आत्माको अनन्त मानते हैं, और कुछ सान्त (परिमित या अणु)। फिर ये दोनों विचारवाले नित्यवादी और अनित्यवादी दो भागोंमें बँटे हैं—



[1] महानिदान-सुत्त, दी० नि०, २।१५ ("बुद्धचर्या, पृ० १३१, ३२)

आत्मवादके लिए बुद्धने एक दूसरा शब्द सत्काय-दृष्टि भी व्यवहृत किया है। सत्कायका अर्थ है, कायामें विद्यमान (=कायासे भिन्न अजर अमर तत्त्व)। अभी साति केवट्टपुत्तके विज्ञान (=जीव)के आवागमनकी बात करनेपर बुद्धने उसे कितना फटकारा और अपनी स्थितिको स्पष्ट किया, यह बतला चुके हैं। सत्काय (=आत्मा) की धारणाको बुद्ध दर्शन-संबंधी एक भारी बन्धन (=दृष्टि-संयोजन) मानते थे, और सच्चे ज्ञानकी प्राप्तिकेलिए उसके नष्ट होनेको सबसे ज्यादा जरूरी समझते थे। बुद्धकी शिष्या धम्मदिन्नाने अपने एक उपदेशमें[1] पाँच उपादान (=ग्रहण करनेकी इच्छासे सहित)-स्कन्धोंको **सत्काय** बतलाया है, और आवागमनकी तृष्णाको सत्काय-दृष्टिका कारण।

बुद्ध अविद्या और तृष्णासे मनुष्यकी सारी प्रवृत्तियोंकी व्याख्या करते हैं। हम लिख आए हैं, कि कैसे जर्मन दार्शनिक शोपनहारने बुद्धकी इसी मनोवृत्तिसे **तृष्णा**का बहुत व्यापक क्षेत्रमें प्रयोग किया।

चूँकि बुद्ध सत्काय-दृष्टि या आत्मवादकी धारणाको नैसर्गिक नहीं मानते थे, इसीलिए उन्होंने कहा है—

"छोटे (तो) भी नासमझ उत्तान (दुधमुँहे) अबोध छोटे बच्चेको सत्काय (=आत्मवाद) का भी (पता) नहीं होता, फिर कहाँसे उसे **सत्काय-दृष्टि** उत्पन्न होगी?"[2]

—यहाँ मिलाइए भेड़ियेकी माँदसे निकाली गई लड़कीकी कहानीसे, जिसने चार वर्षमें ३० शब्द सीखे।[3]

उपनिषद्के इतने परिश्रमसे स्थापित किए आत्माके महान् सिद्धान्तको प्रतीत्यसमुत्पादवादी बुद्ध कितनी तुच्छ दृष्टिसे देखते थे?—[4]

---

[1] चूलवेदल्ल-सुत्त, म० नि०, १।५।४ (अनुवाद, पृ० १७९)
[2] महामालुंक्य-सुत्त, म० नि०, २।२।४ (अनुवाद, पृ० २५४)
[3] "वैज्ञानिक भौतिकवाद।" पृष्ठ १६७-८ [4] मज्झिम-नि०, १।१।२—"अयं भिक्खवे! केवलो परिपूरो बाल-धम्मो।"

" 'जो यह मेरा आत्मा अनुभव कर्ता, अनुभवका विषय है, और तहाँ-तहाँ (अपने) भले बुरे कर्मोंके विषयको अनुभव करता है; वह मेरा आत्मा नित्य=ध्रुव=शाश्वत=अपरिवर्तनशील है, अनन्त वर्षों तक वैसा ही रहेगा'—यह भिक्षुओ! केवल भरपूर बाल-धर्म (=मूर्ख-विश्वास) है।"

अपने दर्शनमें **अनात्मा**से बुद्धको अभावात्मक वस्तु अभिप्रेत नहीं है। उपनिषद्में आत्माको ही नित्य, ध्रुव, वस्तु सत्य माना जाता था। बुद्धने उसे निम्न प्रकारसे उत्तर दिया—

(उपनिषद्)—आत्मा=नित्य, ध्रुव=वस्तुसत्

(बुद्ध)—अन्-आत्मा=अ-नित्य, अ-ध्रुव=वस्तुसत्

इसीलिए वह एक जगह कहते हैं—

"रूप अनात्मा है; वेदना अनात्मा है, संज्ञा....संस्कार.... विज्ञान....सारे **धर्म** अनात्मा है।"[1]

बुद्धने प्रतीत्य-समुत्पादके जिस महान् और व्यापक सिद्धान्तका आविष्कार किया था, उसके व्यक्त करनेकेलिए उस वक्त अभी भाषा भी तैयार नहीं हुई थी; इसलिए अपने विचारोंको प्रकट करनेके वास्ते जहाँ उन्हें प्रतीत्य-समुत्पाद, सत्काय जैसे कितने ही नये शब्द गढ़ने पड़े; वहाँ कितने ही पुराने शब्दोंको उन्होंने अपने नये अर्थोंमें प्रयुक्त किया। उपरोक्त उद्धरणमें **धर्म**को उन्होंने अपने खास अर्थमें प्रयुक्त किया है, जो कि आजके साइंसकी भाषामें वस्तुकी जगह प्रयुक्त होनेवाला **घटना** शब्दका पर्यायवाची है। 'ये धर्मा हेतु-प्रभवाः' (=जो धर्म हैं वह हेतुसे उत्पन्न है)—यहाँ भी धर्म विच्छिन्न-प्रवाह वाले विश्वके क्षण-तरंग अवयवको बतलाता है।

(४) **अ-भौतिकवाद**—आत्मवादके बुद्ध जबर्दस्त विरोधी थे सही; किन्तु, इससे यह अर्थ नहीं लेना चाहिए, कि वह भौतिक (=जड़) वादी थे। बुद्धके समय कोसलदेशकी सालविका नगरीमें लोहित्य नामक एक ब्राह्मण

---

[1] **चूलसच्चक-सुत्त, म० नि०, १।४।५ (अनु०, पृ० १३८)**

सामन्त रहता था। धर्मोंके बारेमें उसकी बहुत बुरी सम्मति थी[1]—

"संसारमें (कोई ऐसा) श्रमण (=संन्यासी) या ब्राह्मण नहीं है, जो अच्छे धर्मको....जानकर....दूसरेको समझावेगा। भला दूसरा दूसरेके लिए क्या करेगा? (नये नये धर्म क्या हैं), जैसे कि एक पुराने बंधनको काटकर एक दूसरे नये बंधनका डालना। इसी प्रकार मैं इसे पाप (=बुराई) और लोभकी बात समझता हूँ।"

बुद्धने अपने शील-समाधि-प्रज्ञा संबंधी उपदेश द्वारा उसे समझानेकी कोशिश की थी।

कोसलदेशमें ही एक दूसरा सामन्त—सेतव्या का स्वामी पायासी राजन्य था। उसका मत था[2]—

"यह भी नहीं है, परलोक भी नहीं है, जीव मरनेके बाद (फिर) नहीं पैदा होते, और अच्छे बुरे कर्मोंका कोई भी फल नहीं होता।"

पायासी क्यों परलोक और पुनर्जन्मको नहीं मानता था, इसकेलिए उसकी तीन दलीलें थीं, जिन्हें कि बुद्धके शिष्य कुमार काश्यपके सामने उसने पेश की थी—(१) किसी मरेने लौटकर नहीं कहा, कि दूसरा लोक है; (२) धर्मात्मा आस्तिक—जिन्हें स्वर्ग मिलना निश्चित है—भी मरनेसे अनिच्छुक होते हैं; (३) जीवके निकल जानेसे मृत शरीरका न वजन कम होता है; और सावधानीसे मारनेपर भी जीवको कहींसे निकलते नहीं देखा जाता।

बुद्ध समझते थे कि भौतिकवाद उनके ब्रह्मचर्य और समाधिका भी वैसा ही विरोधी है, जैसा कि वह आत्मवादका विरोधी है। इसीलिए उन्होंने कहा[3]—

"'वही जीव है वही शरीर है', (दोनों एक हैं) ऐसा मत होनेपर

---

[1] दीघ-निकाय, १।१२ (अनुवाद, पृ० ८२)

[2] दीघ-नि०, २।१० (अनु०, पृ० १६६)

[3] अंगुत्तर-नि०, ३

ब्रह्मचर्यवास नहीं हो सकता। 'जीव दूसरा है शरीर दूसरा है' ऐसा मत (=दृष्टि) होनेपर भी ब्रह्मचर्यवास नहीं हो सकता।''

आदमी ब्रह्मचर्यवास (=साधुका जीवन) तब करता है, जब कि इस जीवनके बाद भी उसे फल पाने या काम पूरा करनेका अवसर मिलनेवाला हो। भौतिकवादीके वास्ते इसीलिए ब्रह्मचर्यवास व्यर्थ है। शरीर और जीवको भिन्न-भिन्न माननेवाले आत्मवादीकेलिए भी ब्रह्मचर्यवास व्यर्थ है; क्योंकि नित्य-ध्रुव आत्मामें ब्रह्मचर्य द्वारा संशोधन संवर्द्धनकी गुंजाइश नहीं। इस तरह बुद्धने अपनेको अभौतिकवादी अनात्मवादीकी स्थितिमें रक्खा।

(५) **अनीश्वरवाद**—बुद्धके दर्शनका जो रूप—अनित्य, अनात्म, प्रतीत्य-समुत्पाद—हम देख चुके हैं, उसमें ईश्वर या ब्रह्माकी भी उसी तरह गुंजाइश नहीं है जैसे कि आत्माकी। यह सच है कि बुद्धने ईश्वर-वादपर उतने अधिक व्याख्यान नहीं दिये हैं, जितने कि अनात्मवा-दपर। इससे कुछ भारतीय—साधारण ही नहीं सत्यवादिताके पश्चिमी ढंगके प्रोफेसर—भी यह कहते हैं, कि बुद्धने चुप रहकर इस तरहके बहुतसे उपनिषदके सिद्धान्तोंकी पूर्ण स्वीकृति दे दी है।

ईश्वरका ख्याल जहाँ आता है, उससे विश्वके स्रष्टा, भर्ता, हर्ता एक नित्यचेतन व्यक्तिका अर्थ लिया जाता है। बुद्धके प्रतीत्य-समुत्पादमें ऐसे ईश्वरकी गुंजाइश नहीं हो सकती है, जब कि सारे धर्मों की भाँति वह भी प्रतीत्य-समुत्पन्न हो। प्रतीत्य-समुत्पन्न होनेपर वह ईश्वर ही नहीं रहता। उपनिषदोंमें हम विश्वका एक कर्ता पाते हैं—

''प्रजापतिने प्रजाकी इच्छासे तप किया।. . . उसने तप करके जोड़े पैदा किये।''[1]

''ब्रह्म. . . .ने कामना की।. . . .तप करके उसने इस सब (=विश्व) को पैदा किया।. . . .''[2]

[1] प्रश्नोपनिषद्, १।३-१३ [2] तैत्तिरीय, २।६

"आत्मा ही पहिले अकेला था।...उसने चाहा—'लोकोंको सिरजूँ।' उसने इन लोकोंको सिरजा।"[1]

अब इस सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा, आत्मा, ईश्वर, सत्....की बुद्ध क्या गति बनाते हैं, इसे सुन लीजिए। मल्लोंके एक प्रजातंत्रकी राजधानी अनुपिया[2]में बुद्ध भार्गव-गोत्र परिव्राजकसे इस बातपर वार्तालाप कर रहे हैं।[3]—

"भार्गव ! जो श्रमण-ब्राह्मण, ईश्वर (=इस्सर) या ब्रह्माके कर्त्तापनके मत (=आचार्यक)को श्रेष्ठ बतलाते हैं, उनके पास जाकर मैं यह पूछता हूँ—'क्या सचमुच आप लोग ईश्वर ... के कर्त्तापनको श्रेष्ठ बतलाते हैं ?' मेरे ऐसा पूछनेपर वे 'हाँ' कहते हैं। उनसे मैं (फिर) पूछता हूँ—'आप लोग कैसे ईश्वर या ब्रह्माके कर्त्तापनको श्रेष्ठ बतलाते हैं ?' मेरे ऐसा पूछनेपर ... वे मुझसे ही पूछने लगते हैं।....मैं उनको उत्तर देता हूँ—... बहुत दिनोंके बीतनेपर... इस लोकका प्रलय होता है।....फिर ... बहुत काल बीतनेपर इस लोककी उत्पत्ति होती है। उत्पत्ति होनेपर शून्य ब्रह्म-विमान (=ब्रह्माका उड़ता फिरता घर) प्रकट होता है। तब (आभास्वर देवलोकका) कोई प्राणी आयुके क्षीण होनेसे या पुण्यके क्षीण होनेसे... उस शून्य ब्रह्म-विमानमें उत्पन्न होता है। ... वह वहाँ बहुत दिनोंतक रहता है। बहुत दिनों तक अकेला रहनेके कारण उसका जी ऊब जाता है, और उसे भय मालूम होने लगता है[4]—अहो ! दूसरे प्राणी भी यहाँ आवें।....

[1] ऐतरेय, १।१ [2] छपरा जिलामें कहीं पर, अनोमा नदीके पास था।
[3] पाथिकसुत्त, दीघ-नि०, ३।१ (अनुवाद, पृ० २२३)
[4] बुद्धका यहाँ ब्रह्माके अकेले डरनेसे बृहदारण्यकके इस वाक्य (१।४।१-२)की ओर इशारा है।—"आत्मा ही पहले था।....उसने नजर दौड़ाकर अपनेसे दूसरेको नहीं देखा।....वह भय खाने लगा। इसीलिए (आदमी) अकेला भय खाता है।....उसने दूसरे (के होने)की इच्छा की....।"

दूसरे प्राणी भी आयुके क्षय होनेसे....शून्य ब्रह्म-विमानमें उत्पन्न होते हैं।....जो प्राणी वहाँ पहिले उत्पन्न होता है, उसके मनमें होता है—'मैं ब्रह्मा, महा ब्रह्मा, विजेता, अ-विजित, सर्वज्ञ, वशवर्ती, **ईश्वर**, कर्त्ता, निर्माता, श्रेष्ठ, स्वामी और भूत तथा भविष्यके प्राणियोंका पिता हूँ। मैंने ही इन प्राणियोंको उत्पन्न किया है।....(क्योंकि) मेरे ही मनमें यह पहिले हुआ था—'दूसरे भी प्राणी यहाँ आवें।' अतः मेरे ही मनसे उत्पन्न होकर ये प्राणी यहाँ आये हैं। और जो प्राणी पीछे उत्पन्न हुए, उनके मनमें भी उत्पन्न होता है 'यह ब्रह्मा....ईश्वर....कर्त्ता....है।....सो क्यों? (इसलिए कि) हम लोगोंने इसको पहिलेहीसे यहाँ विद्यमान पाया, हम लोग (तो) पीछे उत्पन्न हुए।' ....दूसरा प्राणी जब उस (देव-) कायाको छोड़कर इस (लोक)में आते हैं।....(जब इनमेंसे कोई) समाधिको प्राप्तकर उससे पूर्वजन्मका स्मरण करता है, उसके आगे नहीं स्मरण करता है। वह कहता है—'जो वह ब्रह्मा....ईश्वर....कर्त्ता....है, वह नित्य—ध्रुव है, शाश्वत, निर्विकार और सदाकेलिए वैसा ही रहनेवाला है। और जो हम लोग उस ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न किये गये हैं (वह) अनित्य, अ-ध्रुव, अल्पायु, मरणशील हैं।' इस प्रकार (ही तो) आप लोग **ईश्वरका कर्त्तापन**....बतलाते हैं? वह....कहते हैं—'....जैसा आयुष्मान गौतम बतलाते हैं, वैसा ही हम लोगोंने (भी) सुना है'।"

उस वक्तकी—परंपरा, चमत्कार, शब्दकी अंधेरगर्दी प्रमाणमें ईश्वरका यह एक ऐसा बेहतरीन खंडन था, जिसमें एक बड़ा बारीक मजाक भी शामिल है।

सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा (=ईश्वर)का बुद्धने एक जगहपर और सूक्ष्म परिहास किया है।—

....बहुत पहिले....एक भिक्षुके मनमें यह प्रश्न हुआ—'ये चार

---

[1] **केवट्टसुत्त (दीघ-निकाय, १।११; अनुवाद, पृ० ७६-८०)**

महाभूत—पृथिवी-धातु, जल-धातु, तेज-धातु, वायु-धातु—कहाँ जाकर बिल्कुल निरुद्ध हो जाते हैं ?'....उसने....चातुर्महाराजिक देवताओं (के पास) जाकर....(पूछा)....। **चातुर्महाराजिक** देवताओंने उस भिक्षुसे कहा—'....हम भी नहीं जानते....हमसे बढ़कर चार **महाराजा**[1] हैं। वे शायद इसे जानते हों....।'

"....'हमसे भी बढ़कर **त्रायस्त्रिंश**....याम....सुयाम.... तुषित (देवगण)....संतुषितदेव पुत्र....निर्माणरति (देवगण).... सुनिर्मित (देवपुत्र)....परनिर्मितवशवर्त्ती (देवगण)....वशवर्त्ती नामक देवपुत्र....ब्रह्मकायिक नामक देवता हैं, वह शायद इसे जानते हों'।....ब्रह्मकायिक देवताओंने उस भिक्षुसे कहा—'हमसे भी बहुत बढ़ चढ़कर ब्रह्मा है,....वह....**ईश्वर**, कर्त्ता, निर्माता....और सभी पैदा हुए और होनेवालोंके पिता है, शायद वह जानते हों।'... (भिक्षुके पूछनेपर उन्होंने कहा—) 'हम नहीं जानते कि ब्रह्मा (=ईश्वर) कहाँ रहते हैं।'....इसके बाद शीघ्र ही महाब्रह्मा (=महान् ईश्वर) भी प्रकट हुआ।....(भिक्षुने) महाब्रह्मासे पूछा—'.... ये चार महाभूत....कहाँ जाकर बिल्कुल निरुद्ध (=विलुप्त) हो जाते हैं ?'....महाब्रह्माने कहा—'....मैं ब्रह्मा....**ईश्वर**....पिता हूँ।'....दूसरी बार भी....महाब्रह्मासे पूछा—'....मैं तुमसे यह नहीं पूछता, कि तुम ब्रह्मा....**ईश्वर**....पिता....हो।.... मैं तो तुमसे यह पूछता हूँ—ये चार महाभूत....कहाँ....बिल्कुल निरुद्ध हो जाते हैं ?'....तीसरी बार भी.....पूछा—तब महाब्रह्माने उस भिक्षुकी बाँह पकड़, (देवताओंकी सभासे) एक ओर ले जाकर-....कहा—'हे भिक्षु, ये देवता....मुझे ऐसा समझते हैं कि.... (मेरे लिए) कुछ अज्ञात...अ-दृष्ट नहीं है...इसीलिए मैंने उन लोगोंके सामने नहीं बतलाया। भिक्षु ! मैं भी नहीं जानता....यह तुम्हारा

---

[1] **धृतराष्ट्र, विरूढक, विरूपाक्ष, वैश्रवण (=कुबेर)**

ही दोष है....कि तुम....(बुद्ध)को छोड़ बाहरमें इस बातकी खोज करते हो।....उन्हींके....पास जाओ,....जैसा....(वह) कहें, वैसा ही समझो।'"[1]

स्मरण रखना चाहिए कि आज हिन्दूधर्ममें ईश्वरसे जो अर्थ लिया जाता है, वही अर्थ उस समय ब्रह्मा शब्द देता था। अभी शिव और विष्णुको ब्रह्मासे ऊपर नहीं उठाया गया था। बुद्धकी इस परिहासपूर्ण कहानीका मजा तब आयेगा, यदि आप यहाँ ब्रह्माकी जगह अल्लाह या भगवान्, बुद्धकी जगह मार्क्स और भिक्षुकी जगह किसी साधारणसे मार्क्स-अनुयायीको रखकर इसे दुहरायें। हजारों अ-विश्वसनीय चीजोंपर विश्वास करनेवाले अपने समयके अन्ध श्रद्धालुओंको बुद्ध बतलाना चाहते थे, कि तुम्हारा ईश्वर नित्य, ध्रुव वगैरह नहीं है, न वह सृष्टिको बनाता बिगाड़ता है, वह भी दूसरे प्राणियोंकी भाँति जन्मने-मरनेवाला है। वह ऐसे अनगिनत देवताओंमें सिर्फ एक देवतामात्र है। बुद्धके ईश्वर (=ब्रह्मा)के पीछे "लाठी" लेकर पड़नेका एक और उदाहरण लीजिए। अबके बुद्ध स्वयं जाकर "ईश्वर"को फटकारते हैं—

"एक समय....बक ब्रह्माको ऐसी बुरी धारणा हुई थी—'यह (ब्रह्मलोक) नित्य, ध्रुव, शाश्वत, शुद्ध, अ-च्युत, अज, अजर, अमर है, न च्युत होता है, न उपजता है। इससे आगे दूसरा निस्सरण (पहुँचनेका स्थान) नहीं है।'[2]....तब मैं....ब्रह्मलोकमें प्रकट हुआ। बक ब्रह्माने दूरसे ही मुझे आते देखा। देखकर मुझसे कहा—'आओ मार्ष! (मित्र!) स्वागत मार्ष! चिरकालके बाद मार्ष! (आपका) यहाँ आना हुआ। मार्ष! यह (ब्रह्मलोक) नित्य ध्रुव, शाश्वत,....अजर....अमर ....है....।'....ऐसा कहनेपर मैंने कहा—'अविद्यामें पड़ा

---

[1] ब्रह्मनिमन्तिक-सुत्त (म० नि०, १।५।९; अनुवाद०, पृ० १९४-५)

[2] याज्ञवल्क्यने गार्गीको ब्रह्मलोकसे आगेके प्रश्नको शिर गिरनेका डर दिखलाकर रोक दिया था। (बृहदारण्यक ३।६)

है, अहो ! बक ब्रह्मा, अविद्यामें पड़ा है, अहो ! बक ब्रह्मा, जो कि अनित्यको नित्य कहता है, अशाश्वतको शाश्वत. . . ।'. . . .ऐसा कहने पर. . . .बक ब्रह्माने. . . .कहा—'मार्ष ! मैं नित्यको ही नित्य कहता हूँ. . . .।'. . . .मैंने कहा—. . . .'. . . .ब्रह्मा ! . . . .(दूसरे लोकसे) च्युत होकर न यहाँ उत्पन्न हुआ ।'. . . .।"

ब्राह्मण अन्धेके पीछे चलनेवाले अन्धोंकी भाँति बिना जाने देखे ईश्वर (ब्रह्मा) और उसके लोकपर विश्वास रखते हैं, इस भावको समझाते हुए एक जगह और बुद्धने कहा है[1]—

वाशिष्ट ब्राह्मणने बुद्धसे कहा—'हे गौतम ! मार्ग-अमार्गके संबंधमें ऐतरेय ब्राह्मण, छन्दोग ब्राह्मण छन्दावा ब्राह्मण,. . . .नाना मार्ग बतलाते हैं, तो भी वह ब्रह्माकी सलोकताको पहुँचाते हैं । जैसे. . . .ग्राम या कस्बेके पास बहुतसे. नाना मार्ग होते हैं, तो भी वे सभी ग्राममें ही जानेवाले होते हैं ।'. . . .

'वाशिष्ट ! . . . .त्रैविद्य ब्राह्मणोंमें एक ब्राह्मण भी नहीं, जिसने ब्रह्माको अपनी आँखसे देखा हो. . . .एक आचार्य. . . .एक आचार्य-प्राचार्य. . . .सातवीं पीढ़ी तकका आचार्य भी नहीं ।. . . .ब्राह्मणोंके पूर्वज, ऋषि मंत्रोंके कर्त्ता, मंत्रोंके प्रवक्ता. . . .अष्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अंगिरा, भरद्वाज, वशिष्ट, कश्यप, भृगु[2]—में क्या कोई है,

---

[1] तेविज्ज-सुत्त (दी० नि० १।१३, अनुवाद, पृ० ८७-९)

[2] ऋग्वेदके ऋषियोंमें वामकका नाम नहीं है, अंगिराका भी अपना मंत्र नहीं है, किंतु अंगिराके गोत्रियोंके ५७से ऊपर सूक्त है । (ऋक् १।३५।३६; ६।१५; ८।५७-५८, ६४, ७४, ७६, ७८-७९, ८१-८५, ८७, ८८; ९।४, ३०, ३५-३६, ३९-४०, ४४-४६, ५०-५२, ६१, ६७, (२२-३२), ६९, ७२, ७३, ८३, ९४, ९७, (४५-५८), १०८ (८-११), ११२; १०।४२-४४, ४७, ६७-६८, ७१, ७२, ८२, १०७, १२८, १६४, १७२-७४ बाकी आठ ऋषियोंके बनाए ऋग्-मंत्र इस प्रकार हैं—

....जिसने ब्रह्माको अपनी आँखोंसे देखा हो।....'जिसको न जानते हैं, न देखते हैं उसकी सलोकताकेलिए मार्ग उपदेश करते हैं।' ....वाशिष्ट ! (यह तो वैसे ही हुआ), जैसे अन्धोंकी पाँति एक

	सूक्त संख्या	पता
१. अष्टक (विश्वामित्र-पुत्र)	१	१।१०४
२. वामक	०	
३. वामदेव (वृहदुक्थ, मूर्धन्वा, अंहोमुचके पिता)	५५	४।१-४१, ४५-५८
४. विश्वामित्र (कुशिक-पुत्र)	४६	३।१-१२, २४, २६, २७-३०, ३२-५३, ५७-६२; ९।६७ (१३-१५); ९।१०१ (१३-१६)
५. जमदग्नि (भार्गव)	४	८।९०; ९।६२, ६५, ६७ (१६-१८)
६. अंगिरा	०	०
७. भरद्वाज (बृहस्पति-पुत्र)	६०	६।१-१४, १६-३२, ३७-४३, ५३-७४; ९।६७ (१-३)
८. वशिष्ट (मित्रावरुण-पुत्र)	१०५	७।१-१०४; ९।६७ (१९-२१), ९०, ९७ (१-३)
९. कश्यप (मरीचि-पुत्र)	७	१।९९; ९।६४, ६७ (४-६), ९१-९३, ११३-१४
१०. भृगु (वरुण-पुत्र)	१	९।६५

दूसरेसे जुड़ी हो, पहिलेवाला भी नहीं देखता, बीचवाला भी नहीं देखता, पीछेवाला भी नहीं देखता ।. . . ."

(६) दश अकथनीय—बुद्धने कुछ बातोंको अकथनीय (=**अव्याकृत**)कहा है, कितने ही बौद्धिक बेईमानीकेलिए उतारू भारतीय लेखक उसीका सहारा लेकर यह कहना चाहते हैं, कि बुद्ध ईश्वर, आत्माके बारेमें चुप थे। इसलिए चुप्पीका मतलब यह नहीं लेना चाहिए, कि बुद्ध उनके अस्तित्वसे इन्कार करते हैं। लेकिन वह इस बातको छिपाना चाहते हैं, कि बुद्धकी अव्याकृत बातोंकी सूची खुली हुई नहीं है, कि उसमें जितनी चाहें उतनी बातें आप दर्ज करते जायें। बुद्धके अव्याकृतोंकी सूचीमें सिर्फ दस बातें हैं, जो लोक (=दुनिया), जीव-शरीरके भेद-अभेद तथा मुक्त-पुरुषकी गतिके बारेमें हैं[1]—

क. लोक	१. क्या लोक नित्य है ?	अ-व्याकृत (=अ-कथनीय, अ०)
	२. क्या लोक अनित्य है ?	
	३. क्या लोक अन्तवान् है ?	
	४. क्या लोक अनन्त है ?	
ख. जीव-शरीरकी एकता	५. क्या जीव और शरीर एक हैं ?	
	६. क्या जीव दूसरा शरीर दूसरा है ?	
ग. निर्वाणके बाद-की अवस्था	७. क्या मरनेके बाद तथागत (-मुक्त) होते हैं ?	
	८. क्या मरनेके बाद तथागत नहीं होते ?	
	९. क्या मरनेके बाद तथागत होते भी हैं, नहीं भी होते हैं ?	
	१०. क्या मरनेके बाद तथागत न होते हैं, न नहीं होते हैं ?	

मालुंक्यपुत्तने बुद्धसे इन दश अव्याकृत बातोंके बारेमें प्रश्न किया था।[1]—

---

[1] म०नि०, २।२।३ (अनुवाद, पृ० २५१)

"यदि भगवान् (इन्हें) जानते हैं,....तो बतलायें,....नहीं जानते हों,....तो न जानने-समझनेवालेकेलिए यही सीधी (बात) है, कि वह (साफ कह दे)—मैं नहीं जानता, मुझे नहीं मालूम।....'

बुद्धने इसका उत्तर देते हुए कहा—

"....मैंने इन्हें अव्याकृत (इसलिए)....(कहा) है; (क्योंकि) ....यह (=इनके बारेमें कहना) सार्थक नहीं, भिक्षु-चर्या (=आदि ब्रह्मचर्य)केलिए उपयोगी नहीं, (और) न यह निर्वेद=वैराग्य, निरोध=शान्ति....परम-ज्ञान, निर्वाणकेलिए (आवश्यक) है; इसीलिए मैंने उन्हें अव्याकृत किया।"

(सर राधाकृष्णन्‌की लीपापोती—) बुद्धके दर्शनमें इस प्रकार ईश्वर, आत्मा, ब्रह्म—किसी भी नित्य ध्रुव पदार्थको राजाश्रय न रहनेपर भी, उपनिषद् और ब्राह्मणके तत्त्वज्ञान—सत्-चित्-आनन्द—से बिलकुल उल्टे तत्त्वों अ-सत् (=अनित्य, प्रतीत्य समुत्पन्न)-अ-चित् (=अनात्म)-अन्-आनंद (=दुःख)—अनित्य-दुःख-अनात्म—की घोषणा करनेपर भी यदि सर राधाकृष्णन् जैसे हिन्दू लेखक गैरजिम्मेवारीके साथ निम्न वाक्योंको लिखनेकी धृष्टता करते हैं, तो इसे धर्मकीर्तिके शब्दोंमें "धिग् व्यापकं तमः" ही कहना पड़ेगा।—

(क) "उस (=बुद्ध)ने ध्यान और **प्रार्थना** (के रास्ते) को पकड़ा।"[1] किसकी प्रार्थना?

(ख) "बुद्धका मत था कि सिर्फ विज्ञान (=चेतना) ही क्षणिक है, और चीजें नहीं।"[2]

आपने 'सारे धर्म प्रतीत्य समुत्पन्न हैं', इसकी खूब व्याख्या की?

(ग) "बुद्धने जो ब्रह्मके बारेमें साफ हाँ या नहीं नहीं कहा, इसे "किसी तरह भी परम सत्ता (=ब्रह्म)से इन्कारके अर्थमें नहीं लिया जा सकता।

---

[1] Indian Philosophy by Sir S. Radhakrishnen, (1st edition), p. 355 [2] **वहीं**, p. 378

यह समझना असम्भव है, कि बुद्धने दुनियाके इस बहावमें किसी वस्तुको ध्रुव (=नित्य) नहीं स्वीकार किया; सारे विश्वमें हो रही अ-शान्तिमें (उन्होंने) कोई ऐसा विश्राम-स्थान नहीं (माना), जहाँ कि मनुष्यका अशान्त हृदय शान्ति पा सके।"[1]

इसके लिए सर राधाकृष्णन्‌ने बौद्ध निर्वाणको 'परमसत्ता' मनवानेकी चेष्टा की है, किन्तु बौद्ध निर्वाणको अभावात्मक छोड़ भावात्मक वस्तु माना ही नहीं जा सकता। बुद्ध जब शान्तिके प्राप्तिकर्त्ता आत्माको भारी मूर्खता (=बालधर्म) मानते हैं, तो उसके विश्रामकेलिए शान्तिका ठाँव राधाकृष्णन् ही ढूँढ़ सकते हैं! फिर आपने तो इस वचनको वहीं उद्धृत भी किया है—"यह निरन्तर प्रवाह या घटना है, जिसमें कुछ भी नित्य नहीं। यहाँ (=विश्वमें) कोई चीज नित्य (=स्थिर) नहीं—न नाम (=विज्ञान) ही और न रूप (=भौतिकतत्त्व) ही।"[2]

(घ) "आत्माके बारेमें बुद्धके चुप रहनेका दूसरा ही कारण था" ....[3]बुद्ध उपनिषद्‌में वर्णित आत्माके बारेमें चुप हैं—वह न उसे स्वीकार ही करते हैं, न इन्कार ही।"[4]

नहीं जनाब! बुद्धके दर्शनका नाम ही अनात्मवाद है। उपनिषद्‌के नित्य, ध्रुव आत्माके साथ यहाँ 'अन्' लगाया गया है। "अनित्य दुःख अनात्म" की घोषणा करनेवालेकेलिए आपके ये उद्गार सिर्फ यही साबित करते हैं, कि आप दर्शनके इतिहास लिखनेकेलिए बिलकुल अयोग्य हैं।

आगे यह और दुहराते हैं—

"बिना इस अन्तर्हित तत्त्वके जीवनकी व्याख्या नहीं की जा सकती।

---

[1] वहीं, पृष्ठ ३७६

[2] It is a perpetual process with nothing permanent. Nothing here is permanent, neither name nor form—महावग्ग (विनय-पिटक) VI. 35. ff.

[3] वहीं, पृष्ठ ३८५ [4] वहीं, पृष्ठ ३८७

इसीलिए बुद्ध बराबर आत्माकी सत्यताके निषेधसे इन्कार करते थे।"[1]

इसे कहते हैं—"मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी।" और बुद्धके सामने जानेपर राधाकृष्णन्की क्या गति होती, इसकेलिए मालुंक्य-पुत्तकी घटनाको पढ़िए।

(ङ) **मिलिन्द-प्रश्न**के रचयिता नागसेन (१५० ई० पू०)ने बुद्धके दर्शनकी व्याख्या जिस सरलताके साथ यवनराजा मिनान्दरके सामने की, उसके बारेमें सर राधाकृष्णन्का कहना है—

"नागसेनने बौद्ध (=बुद्धके) विचारको उसकी पैतृक शाखा (=उपनिषद्?) से तोड़कर शुद्ध बौद्धिक (=बुद्धिसंगत) क्षेत्रमें रोप दिया।"[2]

और—

"बुद्धका लक्ष्य (=मिशन) था, कि उपनिषद्के श्रेष्ठ विज्ञानवाद (Idealism)को स्वीकार कर उसे मानव जातिके दिन-प्रतिदिनकी आवश्यकताकेलिए सुलभ बनायें। ऐतिहासिक बौद्ध धर्मका अर्थ है, उपनिषद्के सिद्धान्तका जनतामें प्रसार।"[3]

स्वयं बुद्ध उनके समकालीन शिष्य, नागसेन (१५० ई० पू०), नागार्जुन (१७५ ई०), असंग (३७५ ई०), वसुबंधु (४०० ई०), दिग्नाग (४२५ ई०), धर्मकीर्ति (६००), धर्मोत्तर, शान्तरक्षित (७५० ई०), ज्ञानश्री, शाक्यश्रीभद्र (१२०० ई०) जिस रहस्यको न जान पाये थे, उसे खोज निकालनेका श्रेय सर राधाकृष्णन्को है, जिन्होंने अनात्मवादी बुद्धको उपनिषद्के आत्मवादका प्रचारक सिद्ध कर दिया। २५०० वर्षों तथा भारत, लंका, बर्मा, स्याम, चीन, जापान, कोरिया, मंगोलिया, तिब्बत, मध्य-एसिया, अफ़गानिस्तान और दूसरे देशों तक फैले भूभागपर कितना भारी भ्रम फैला हुआ था जो कि वह बुद्धको अनात्मवादी अनीश्वरवादी समझते रहे! और अक्षपाद, वादरायण, वात्स्यायन, उद्योतकर, कुमारिल, वाचस्पति, उदयन जैसे ब्राह्मणोंने भी बुद्धके दर्शनको जिस

---

[1] वहीं, पृष्ठ ३८६ [2] वहीं, पृ० ३६० [3] वहीं, पृष्ठ ४७१

तरहका समझा वह भी उनकी भारी "अविद्या" थी !

(७) **विचार-स्वातंत्र्य**—प्रतीत्य-समुत्पादके आविष्कर्त्ताकेलिए विचार-स्वातंत्र्य स्वाभाविक चीज थी। बौद्ध दार्शनिकोंने अपने प्रवर्त्तकके आदेशके अनुसार ही प्रत्यक्ष और अनुमान दोके अतिरिक्त तीसरे प्रमाण-को माननेसे इन्कार कर दिया। बुद्धने विचार-स्वातंत्र्यको अपने ही उपदेशोंसे इस प्रकार शुरू किया था[1]—

"भिक्षुओ ! मैं बेड़े (=कुल्ल) की भाँति पार जानेकेलिए तुम्हें धर्मका उपदेश करता हूँ, पकड़ रखनेकेलिए नहीं।...जैसे भिक्षुओ ! पुरुष ....ऐसे महान् जल-अर्णवको प्राप्त हो, जिसका उरला तीर खतरे और भयसे पूर्ण हो और परला तीर क्षेमयुक्त तथा भयरहित हो। वहाँ न पार ले जानेवाली नाव हो, न इधरसे उधर जानेकेलिए पुल हो।.... तब वह....तृण-काष्ठ-पत्र जमाकर बेड़ा बाँधे और उस बेड़ेके सहारे हाथ और पैरसे मेहनत करते स्वस्तिपूर्वक पार उतर जाये।....उतर जानेपर उसके (मनमें) हो—'यह बेड़ा मेरा बड़ा उपकारी हुआ है, इसके सहारे....मैं पार उतर सका, क्यों न मैं ऐसे बेड़ेको शिरपर रख कर, या कन्धेपर उठाकर....ले चलूँ।'....तो क्या....ऐसा करनेवाला पुरुष उस बेड़ेके प्रति (अपना) कर्त्तव्य पालन करनेवाला होगा ?' ....नहीं....। 'भिक्षुओ ! वह पुरुष उस बेड़ेसे दुःख उठानेवाला होगा।' "

एक बार बुद्धसे केशपुत्र ग्रामके कालामोंने नाना मतवादोंके सच-झूठमें सन्देह प्रकट करते हुए पूछा था[2]—

"भन्ते ! कोई-कोई श्रमण (=साधु) ब्राह्मण केशपुत्रमें आते हैं, अपने ही वाद (=मत) को प्रकाशित...करते हैं, दूसरेके वादपर नाराज होते हैं, निन्दा करते हैं।....दूसरे भी....अपने ही वादको प्रकाशित

[1] म० नि०, १।३।२ (अनुवाद, पृष्ठ ८६-८७)

[2] अंगुत्तर-निकाय, ३।७।५

....करते....दूसरेके वादपर नाराज होते हैं। तब....हमें सन्देह....होता है—कौन इन....में सच कहता है, कौन झूठ ?"

"कालामो ! तुम्हारा सन्देह....ठीक है, सन्देहके स्थानमें ही तुम्हें सन्देह उत्पन्न हुआ है।...कालामो ! मत तुम श्रुत (=सुने वचनों, वेदों)के कारण (किसी बातको मानो), मत तर्कके कारणसे, मत नय-हेतुसे, मत (वक्ताके) आकारके विचारसे, मत अपने चिर-विचारित मतके अनुकूल होनेसे, मत (वक्ताके) भव्यरूप होनेसे, मत 'श्रमण हमारा गुरु है' से। जब कालामो ! तुम खुद ही जानो कि ये धर्म (=काम या बात) अच्छे, अदोष, विज्ञोंसे अनिन्दित हैं यह लेने, ग्रहण करनेपर हित, सुखके लिए होते हैं, तो कालामो ! तुम उन्हें स्वीकार करो।"

(८) **सर्वज्ञता गलत**—बुद्धके समकालीन वर्धमानको सर्वज्ञ सर्वदर्शी कहा जाता था, जिसका प्रभाव पीछे बुद्धके अनुयायियोंपर भी पड़े बिना नहीं रहा। तो भी बुद्ध स्वयं सर्वज्ञताके ख्यालके विरुद्ध थे।

वत्सगोत्रने पूछा[1]—"सुना है भन्ते ! 'श्रमण गौतम सर्वज्ञ सर्वदर्शी है....'—(क्या ऐसा कहनेवाले)....यथार्थ कहनेवाले हैं ? भगवान्की असत्य....से निन्दा तो नहीं करते ?"

"वत्स ! जो कोई मुझे ऐसा कहते हैं...., वह मेरे बारेमें यथार्थ कहनेवाले नहीं हैं। वह असत्यसे....मेरी निन्दा करते हैं।"

और अन्यत्र[2]—

"ऐसा श्रमण ब्राह्मण नहीं है जो एक ही बार सब जानेगा, सब देखेगा (सर्वज्ञ सर्वदर्शी होगा)।"

(९) **निर्वाण**—निर्वाणका अर्थ है बुझना—दीप या आगका जलते-जलते बुझ जाना। प्रतीत्यसमुत्पन्न (विच्छिन्न प्रवाह रूपसे उत्पन्न) नाम-रूप (=विज्ञान और भौतिक तत्त्व) तृष्णाके गारेसे मिलकर जो एक जीवन-प्रवाहका रूप धारण कर प्रवाहित हो रहे हैं, इस प्रवाहका

[1] म० नि०, २।३।१ [2] म० नि०, २।४।१० (अनुवाद, पृष्ठ ३६६)

अत्यन्त विच्छेद ही निर्वाण है। पुराने तेल-बत्ती या ईंधनके जल चुकने तथा नयेकी आमदनी न होनेसे जैसे दीपक या अग्नि बुझ जाते हैं, उसी तरह आस्रवों=चित्तमलों, (**काम**-भोगों, पुनर्जन्म और नित्य आत्माके नित्यत्व आदिकी दृष्टियों)के क्षीण होनेपर यह आवागमन नष्ट हो जाता है। निर्वाण बुझना है, यह उसका शब्दार्थ ही बतलाता है। बुद्धने अपने इस विशेष शब्दको इसी भावके द्योतनकेलिए चुना था। किन्तु साथ ही उन्होंने यह कहनेसे इन्कार कर दिया कि निर्वाण-गत पुरुष (=तथागत)का मरनेके बाद क्या होता है। अनात्मवादी दर्शनमें उसका क्या हो सकता है, यह तो आसानीसे समझा जा सकता है; किन्तु वह ख्याल "बालानां त्रासजनकम्" (=अज्ञोंको भयभीत करनेवाला) है, इसलिए बुद्धने उसे स्पष्ट नहीं कहना चाहा[1]। उदानके इस वाक्यको लेकर कुछ लोग निर्वाणको एक भावात्मक ब्रह्मलोक जैसा बनाना चाहते हैं।[2]—

"हे भिक्षुओ! अ-जात, अ-भूत, अ-कृत=अ-संस्कृत।" किन्तु, यह निषेधात्मक विशेषणसे किसी भावात्मक निर्वाणको सिद्ध तभी कर सकते थे, जब कि उसके 'आनन्द'का भोगनेवाला कोई नित्य ध्रुव आत्मा होता। बुद्धने निर्वाण उस अवस्थाको कहा है, जहाँ तृष्णा क्षीण हो गई, आस्रव=चित्तमल (=भोग, जन्मान्तर और विशेष मतवादकी तृष्णाएं हैं) जहाँ नहीं रह जाते। इससे अधिक कहना बुद्धके अ-व्याकृत प्रतिज्ञाकी अवहेलना करनी होगी।[3]

४. बुद्धका दर्शन और तत्कालीन समाज-व्यवस्था

दर्शन दिमागकी चीज है, फिर हाड़-मांसके समूहोंवाले समाजका उसपर क्या बस है? वह केवल मनकी ऊँची उड़ान, मनोमय जगत्की

---

[1] **इतिवुत्तक, २।२।६** [2] **उदान, ८।३**

[3] **उदान, ८।२—"दुद्दसं अनत्तं नाम न हि सच्चं सुदस्सनं।**
पटिविद्धा तण्हा जानतो पस्सतो नत्थि किञ्चन॥"

उपज है, इसलिए उसे उसी तलपर देखना चाहिए। दर्शनके संबंधमें इस तरहके विचार पूरब और पश्चिम दोनोंमें देखे जाते हैं। उनके ख्यालमें दर्शन भौतिक विश्वसे बिल्कुल अलग चीज है। लेकिन हमने यूनानी-दर्शनमें भी देखा है, कि दर्शन मनकी चीज होते भी "तीन लोकसे मथुरा न्यारी"वाली चीज नहीं रहा। खुद मन भौतिक उपज है। याज्ञ-वल्क्यके गुरु उद्दालक आरुणिने भी साफ स्वीकार किया था कि "मन अन्नमय है।....खाये हुए अन्नका जो सूक्ष्मांश ऊपर जाता है, वही मन है।"[1] हम खुद अन्यत्र[2] बतला आये हैं, कि हमारे मनके विकासमें हमारे हाथों—हाथके श्रम, सामाजिक और वैयक्तिक दोनों—का सबसे भारी हिस्सा है। मनुष्यकी भाँति मनुष्यका मन भी अपने निर्माणमें समाजका बहुत ऋणी है। ऐसी स्थितिमें मनकी उपज दर्शनकी भी व्याख्या समाजसे दूर जाकर कैसे की जा सकती है? इसलिए सजीव आँखकी अस्लियतको जैसे शरीरसे अलग निकालकर देखनेसे नहीं मालूम हो सकती, उसी तरह दर्शनके समझनेमें भी हमें उसे उसके जन्म, और कार्यकी परिस्थितिमें देखना होगा।

उपनिषद्को हम देख चुके हैं, समाजकी स्थितिको धारण करने (=रोकने)वाले धर्म (वैदिक कर्मकांड और पाठ-पूजा)की ओरसे आस्था उठते देख पहिले शासक वर्गको चिन्ता हुई और क्षत्रियों—राजाओं—ने ब्रह्मज्ञान तथा पुनर्जन्मके दर्शनको पैदाकर बुद्धिको थकाने तथा सामाजिक विषमताको उचित ठहरानेकी चेष्टा की। द्वन्द्वात्मक रीतिसे विश्लेषण करनेपर हम देखेंगे—(१)

वाद—यज्ञ, वैदिक कर्मकांड, पाठ-पूजा श्रेयका रास्ता है।

प्रतिवाद—यज्ञ रूपी घरनई पार होनेकेलिए बहुत कमजोर है।

संवाद—ब्रह्मज्ञान श्रेयका रास्ता है, जिसमें कर्म सहायक होता है।

बुद्धका दर्शन—(२)

---

[1] छान्दोग्य-उपनिषद्, ६।६।१-५ [2] "मानव-समाज" पृ० ४-६

वाद (उपनिषद्)—आत्मवाद ।

प्रतिवाद (चार्वाक)—आत्मा नहीं भौतिकवाद ।

संवाद (बुद्ध)—अभौतिक अनात्मवाद ।

यह तो हुई विचार-शृंखला। समाजमें वैदिक धर्म स्थिति-स्थापक था, और वह सम्पत्तिवाले वर्गकी रक्षा और श्रमिक—दास, कर्मकर—वर्गपर अंकुश रखनेकेलिए, खूनी हाथोंसे जनताको कुचलकर स्थापित हुए राज्य (=शासन)की मदद करना चाहा था। इसका पारितोषिक था धार्मिक नेताओं (=पुरोहितों)का शोषणमें और भागीदार बनाया जाना। शोषित जनता अपने स्वतंत्र—वर्गहीन, आर्थिक दासता-विहीन—दिनोंको भूलसी चुकी थी, धर्मके प्रपंचमें पड़कर वह अपनी वर्त्तमान परिस्थितिको "देवताओंका न्याय" समझ रही थी। शोषित जनताको वास्तविक न्याय करवानेकेलिए तैयार करनेके वास्ते जरूरी था, कि उसे धर्मके प्रपंचसे मुक्त किया जाये। यह प्रयोजन था नास्तिकवाद (=देव-परलोकसे इन्कारी)—भौतिकवादका। ब्राह्मण (पुरोहित) अपनी दक्षिणा समेटनेमें मस्त थे, उन्हें भुसके ढेरमें सुलगती इस छोटी सी चिंगारीकी पर्वाह न थी। सदियोंसे आये कर्म-धर्मको वह वर्गशोषणका साधन नहीं बल्कि साध्य समझने लगे थे इसलिए भी वह परिवर्त्तनके इच्छुक न थे। क्षत्रिय (=शासक) ठोस दुनिया और उसके चलने-फिरनेवाले, समझनेकी क्षमता रखनेवाले शोषित मानवोंकी प्रकृति और क्षमताको ज्यादा समझते थे। उन्होंने खतरेको अनुभव किया, और धर्मके फंदेको दृढ़ करनेकेलिए ब्रह्मवाद और पुनर्जन्मको उसमें जोड़ा। शुरूमें पुरोहितवर्ग इससे कितना नाराज हुआ होगा, इसकी प्रतिध्वनि हमें जैमिनि और कुमारिलके मीमांसा-दर्शनमें मिलेगी; जिन्होंने कि ब्रह्म (=पुरुष) ब्रह्मज्ञान सबसे इन्कार कर दिया—वेद **अपौरुषेय** है, उसे किसीने नहीं बनाया है। वह प्रकृतिकी भाँति स्वयंभू है। वेदका विधान कर्मफल, परलोककी गारंटी है। वेद सिर्फ कर्मोंका विधान करते हैं, इन्हीं विधान-वाक्योंके समर्थनमें **अर्थवाद** (=स्तुति, निन्दा, प्रशंसा)के तौरपर बाकी संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्का

सारा वक्तव्य है। तो भी जो प्रहार हो चुका था, उससे वैदिक कर्मकांडको बचाया नहीं जा सकता था। कौटिल्यके अर्थशास्त्रसे पता लगता है, कि लोकायत (=भौतिक-नास्तिक)-वाद शासकोंमें भी भीतर ही भीतर बहुत प्रिय था। किन्तु दूसरी ही दृष्टिसे वह समयके अनुसार, सिर्फ अपने स्थायी स्वार्थोंका ख्याल रखते हुए सामाजिक—धार्मिक—रूढ़िको बदलनेकी स्वतंत्रता चाहते थे। लोगोंके धार्मिक मिथ्याविश्वासोंसे फायदा उठाकर, शासकोंको दैवी चमत्कारों द्वारा राज्यकोष और बल बढ़ानेकी वहाँ साफ सलाह दी गई है। "दशकुमारचरित"के समय (ई० छठी सदीमें तो राज्यके गुप्तचर धार्मिक "निर्दोष वेष"को बेखटके इस्तेमाल करते थे; और इस तरीकेका इस्तेमाल चाणक्य और उसके पहिलेके शासक भी निस्संकोच करते थे, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन, शासकवर्ग भौतिकवादको अपने प्रयोजनकेलिए इस्तेमाल करता था—सिर्फ, "ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्" (=ऋण करके घी पीने)के नीच उद्देश्य थे। वही भौतिकवाद जब शोषित-श्रमितवर्गकेलिए इस्तेमाल होता, तो उसका उद्देश्य वैयक्तिक स्वार्थ नहीं होता था। अब अपने श्रमका फल स्वयं भोगनेकी माँग पेश करता—शोषणको बन्द करना चाहता था।

बुद्धका दर्शन अपने मौलिक रूप—प्रतीत्य-समुत्पाद (=क्षणिक-वाद)—में भारी क्रान्तिकारी था। जगत्, समाज, मनुष्य सभीको उसने क्षण-क्षण परिवर्त्तनशील घोषित किया, और कभी न लौटनेवाले "ते हि नो दिवसा गताः" (=वे हमारे दिवस चले गये)की पर्वाह छोड़कर परिवर्त्तनके अनुसार अपने व्यवहार, अपने समाजके परिवर्त्तनकेलिए हर वक्त तैयार रहनेकी शिक्षा देता था। बुद्धने अपने बड़े-से-बड़े दार्शनिक विचार ("धर्म")को भी बेड़ेके समान सिर्फ उससे फायदा उठानेकेलिए कहा था, और उसे समयके बाद भी ढोनेकी निन्दा की थी। तो भी इस क्रान्तिकारी दर्शनने अपने भीतरसे उन तत्त्वों (धर्म)को हटाया नहीं था, जो "समाजकी प्रगतिको रोकने"का काम देते हैं। पुनर्जन्मको यद्यपि बुद्धने नित्य आत्माका एक शरीरसे दूसरे शरीरमें आवागमनके

रूपमें माननेसे इन्कार किया था, तो भी दूसरे रूपमें परलोक और पुनर्जन्मको माना था। जैसे इस शरीरमें 'जीवन' विच्छिन्न प्रवाह (नष्ट—उत्पत्ति—नष्ट—उत्पत्ति)के रूपमें एक तरहकी एकता स्थापित किये हुए है, उसी तरह वह शरीरान्तरमें भी जारी रहेगा। पुनर्जन्मके दार्शनिक पहलूको और मजबूत करते हुए बुद्धने पुनर्जन्मका पुनर्जन्म प्रतिसन्धिके रूपमें किया—अर्थात् नाश और उत्पत्तिकी संधि (=शृंखला)से जुड़कर जैसे जीवन-प्रवाह इस शरीरमें चल रहा है, उसी तरह उसकी प्रतिसंधि (=जुड़ना) एक शरीरसे अगले शरीरमें होती है। अविकारी ठोस आत्मामें पहिलेके संस्कारोंको रखनेका स्थान नहीं था, किन्तु क्षण-परिवर्तनशील तरल **विज्ञान** (=जीवन)में उसके वासना या संस्कारके रूपमें अपना अंग बनकर चलनेमें कोई दिक्कत न थी। क्षणिकता सृष्टिकी व्याख्याकेलिए पर्याप्त थी, किन्तु ईश्वरका काम संसारमें व्यवस्था, समाजमें व्यवस्था (=शोषितको विद्रोहसे रोकनेकी चेष्टा)—कायम रखना भी है। इसकेलिए बुद्धने **कर्मके** सिद्धान्तको और मजबूत किया। आवागमन, धनी-निर्धनका भेद उसी कर्मके कारण है, जिसके कर्त्ता कभी तुम खुद थे, यद्यपि आज वह कर्म तुम्हारे लिए हाथसे निकला तीर है।

इस प्रकार बुद्धके **प्रतीत्य-समुत्पादको** देखनेपर जहाँ तत्काल प्रभुवर्ग भयभीत हो उठता, वहाँ, प्रतिसंधि और कर्मका सिद्धान्त उन्हें बिलकुल निश्चिन्त कर देता था। यही वजह थी जो कि बुद्धके झंडेके नीचे हम बड़े-बड़े राजाओं, सम्राटों, सेठ-साहूकारोंको आते देखते हैं, और भारतसे बाहर—लंका, चीन, जापान, तिब्बतमें तो उनके धर्मको फैलानेमें राजा सबसे पहिले आगे बढ़े।—वह समझते थे, कि यह धर्म सामाजिक विद्रोहके लिए नहीं बल्कि सामाजिक स्थितिको स्थापित रखनेकेलिए बहुत सहायक साबित होगा। जातियों, देशोंकी सीमाओंको तोड़कर बुद्धके विचारोंने राज्य-विस्तार करनेमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपेण भारी मदद की। समाजमें आर्थिक विषमताको अक्षुण्ण रखते ही बुद्धने वर्ण-व्यवस्था, जातीय ऊँच-नीचके भावको हटाना चाहा था, जिससे वास्तविक विषमता तो

नहीं हटी, किन्तु निम्न वर्गका सद्भाव जरूर बौद्ध धर्मकी ओर बढ़ गया। वर्ग-दृष्टिसे देखनेपर बौद्धधर्म शासकवर्गके एजंटकी मध्यस्थता जैसा था, वर्गके मौलिक स्वार्थको बिना हटाये वह अपनेको न्याय-पक्षपाती दिखलाना चाहता था।

सिद्धार्थ गौतम अपने दर्शनके रूपमें सोचनेकेलिए क्यों मजबूर हुए ? इसकेलिए उनके चारों ओरकी भौतिक परिस्थिति कहाँ तक कारण बनी ? यह प्रश्न उठ सकते हैं। किन्तु हमें ख्याल रखना चाहिए कि व्यक्तिपर भौतिक परिस्थितिका प्रभाव समाजके एक आवश्यक रूपमें जो पड़ता है, कभी-कभी वही व्यक्तिकी विशेष दिशामें प्रतिक्रियाकेलिए पर्याप्त है; और कभी-कभी व्यक्तिकी अपनी वैयक्तिक भौतिक परिस्थिति भी दिशा-परिवर्त्तनमें सहायक होती है। पहिली दृष्टिसे बुद्धके दर्शनपर हम अभी विचार कर चुके हैं। बुद्धकी वैयक्तिक भौतिक परिस्थितिका उनके दर्शनपर क्या कोई प्रभाव पड़ा है, जरा इसपर भी विचार करना चाहिए। बुद्ध शरीरसे बहुत स्वस्थ थे। मानसिक तौरसे वह शान्त, गम्भीर, तीक्ष्ण प्रतिभाशाली विचारक थे। महत्त्वाकांक्षाएं उनकी उतनी ही थीं, जितनी कि एक काफी योग्यता रखनेवाले आत्म-विश्वासी व्यक्तिको होनी चाहिए। वह अपने दार्शनिक विचारोंकी सच्चाईपर पूरा विश्वास रखते थे, प्रतीत्यसमुत्पादके महत्त्वको भली प्रकार समझते थे; साथ ही पहिले-पहिल उन्हें अपने विचारोंको फैलानेकी उत्सुकता न थी, क्योंकि वह तत्कालीन विचार-प्रवृत्तिको देखकर आशापूर्ण न थे। शायद अभी तक उन्हें यह पता न था, कि उनके विचारों और उस समयके प्रभुवर्गकी प्रवृत्तिमें समझौतेकी गुंजाइश है।

बुद्धके दर्शनका अनित्य,—अनात्मके अतिरिक्त दुःखवाद भी एक स्वरूप है। इस दुःखवादका कारण यदि उस समयके समाज तथा बुद्धकी अपनी परिस्थितिमें ढूँढ़ें, तो यही मालूम होता है, कि उन्हें बचपनमें ही मातृवियोग सहना पड़ा था, किन्तु उनकी मौसी प्रजापतीका स्नेह सिद्धार्थकेलिए कम न था। घरमें उनको किसी प्रकारका कष्ट

हुआ हो, इसका पता नहीं लगता। एक धनिकपुत्रकेलिए जो भोग चाहिए, वह उन्हें सुलभ थे। किन्तु समाजमें होती घटनाएँ तेजीसे उनपर प्रभाव डालती थीं। वृद्ध, बीमार और मृतके दर्शनसे मनमें वैराग्य होना इसी बातको सिद्ध करता है। दुःखकी सच्चाईको हृदयंगम करनेकेलिए यही तीन दर्शन नहीं थे, इससे बढ़कर मानवकी दासता और दरिद्रताने उन्हें दुःखकी सच्चाईको साबित करनेमें मदद दी होगी; यद्यपि उसका जिक्र हमें नहीं मिलता। इसका कारण स्पष्ट है—बुद्धने दरिद्रता और दासताको उठाना अपने प्रोग्रामका अंग नहीं बनाया था। आरम्भिक दिनोंमें, जान पड़ता है, दरिद्रता-दासताकी भीषणताको कुछ हलका करनेकी प्रवृत्ति बौद्धसंघमें थी। कर्ज देनेवाले उस समय सम्पत्ति न होने पर शरीर तक खरीद लेनेका अधिकार रखते थे, इसलिए कितने ही कर्जदार त्राण पानेकेलिए भिक्षु बन जाते थे। लेकिन जब महाजनोंके विरोधी हो जानेका खतरा सामने आया, तो बुद्धने घोषित किया[1]—

"ऋणीको प्रव्रज्या (=संन्यास) नहीं देनी चाहिए।"

इसी तरह दासोंके भिक्षु बननेसे अपने स्वार्थपर हमला होते देख दास-स्वामियोंने जब हल्ला किया तो घोषित किया[2]—

"भिक्षुओ! दासको प्रव्रज्या नहीं देनी चाहिए।"

बुद्धके अनुयायी मगधराज बिंबिसारके सैनिक जब युद्धमें जानेकी जगह भिक्षु बनने लगे तो, सेनानायक और राजा बहुत घबराये, आखिर राज्यका अस्तित्व अन्तमें सैनिक-शक्तिपर ही तो निर्भर है। बिंबिसारने जब पूछा कि, राजसैनिकको साधु बनानेवाला किस दंडका भागी होता है, तो अधिकारियोंने उत्तर दिया[3]—

"देव! उस (=गुरु)का शिर काटना चाहिए, अनुशासक (=भिक्षु

[1] महावग्ग, १।३।४।८ (मेरा "विनयपिटक", हिन्दी, पृष्ठ ११८)

[2] वहीं १।३।४।९ (मेरा "विनयपिटक"), पृ० ११८)

[3] वहीं, १।३।४।२ (वहीं, पृ० ११६-११७)

बनाते वक्त विधिवाक्योंको पढ़नेवाले)की जीभ निकालनी चाहिए, और गण (=संघ)की पसली तोड़ देनी चाहिए।"

राजा बिंबिसारने जाकर बुद्धके पास इसकी शिकायत की, तो बुद्धने घोषित किया—

"भिक्षुओ ! राजसैनिकोंको प्रव्रज्या नहीं देनी चाहिए।"[1]

इस तरह दुःख-सत्यके साक्षात्कारसे दुःख-हेतुओंको संसारमें दूर करनेका जो सवाल था, वह तो खतम हो गया; अब उसका सिर्फ आध्यात्मिक मूल्य रह गया था, और वैसा होते ही सम्पत्तिवाले वर्गकेलिए बुद्धका दर्शन विषदन्तहीन सर्प-सा हो जाता है।

सब देखनेपर हम यही कह सकते हैं, कि तत्कालीन दासता और दरिद्रता बुद्धको दुःखसत्य समझनेमें साधक हुए। दुःख दूर किया जा सकता है, इसे समझते हुए बुद्ध प्रतीत्यसमुत्पाद पर पहुँचे—क्षणिक तथा "हेतुप्रभव" होनेसे उसका अन्त हो सकता है। संसारमें साफ दिखाई देनेवाले दुःखकारणोंको हटानेमें असमर्थ समझ उन्होंने उसकी अलौकिक व्याख्या कर डाली।

§ ४. बुद्धके पीछेके दार्शनिक

क. कपिल (४०० ई० पू०)

बुद्धके पहिलेके दार्शनिकोंमें कपिलको भी गिना जाता है, किन्तु जहाँ तक बुद्धके प्राचीनतम उपदेश-संग्रहों तथा तत्कालीन दूसरी उपलब्ध सामग्रीका संबंध है, वहाँ कपिल या उनके दर्शनका बिल्कुल पता नहीं है। श्वेताश्वतरमें कपिलका नाम ही नहीं है, बल्कि उसपर कपिलके दर्शनकी स्पष्ट छाप भी है, किन्तु वह बुद्धके पीछेकी उपनिषदोंमें है, यह कह आये हैं। ईसाकी पहिली सदीके बौद्ध कवि और दार्शनिक

---

[1] वहीं

अश्वघोषने अपने "बुद्धचरित"में बुद्धके पहिलेके दो आचार्यों—आलार-कालाम और उद्दक रामपुत्त—में एकको सांख्यवादी (कपिलका अनुयायी) कहा है; किन्तु यह भी जान पड़ता है, ज्यादातर नवनिर्मित परम्परा पर निर्भर है, क्योंकि न इसका जिक्र पुराने साहित्यमें है और न उन दोनोंमें से किसीकी शिक्षा सांख्यदर्शनसे मिलती है। ऐसी अवस्थामें कपिलको बुद्धके पहिलेके दार्शनिकोंमें ले जाना मुश्किल है।

श्वेताश्वतरमें कपिल एक बड़े ऋषि हैं। भागवतमें वह विष्णुके २४ अवतारोंमें हैं, और उनके माता पिताका नाम कर्दम ऋषि और देवहूति बतलाया गया है। तो भी इससे कपिलके जीवनपर हमें ज्यादा प्रकाश पड़ता दिखाई नहीं पड़ता। कपिलके दर्शनका सबसे पुराना उपलब्ध ग्रंथ ईश्वरकृष्णकी सांख्यकारिका है। सांख्यसूत्रोंके नामसे प्रसिद्ध दोनों सूत्र-ग्रंथ उससे पीछे तथा दूसरे पाँच सूत्रात्मक दर्शनोंसे मुकाबिला करनेके लिए बने। चीनमें सुरक्षित भारतीय बौद्ध-परंपरासे पता लगता है, कि वसुबंधु समकालीन (४०० ई०) विन्ध्यवासीने सत्तर कारिकाओंमें सांख्यदर्शनको लिखा। वसुबंधुने उसके खंडनमें **परमार्थसप्तति**के नामसे कोई ग्रंथ लिखा था। सांख्यकारिकाके ऊपर माठरने एक वृत्ति (=टीका) लिखी है, जिसका अनुवाद चीनी भाषामें भी हो चुका है। ईश्वरकृष्ण तथा माठरके कथनोंसे मालूम होता है, कि विचारक कपिलके उपदेशोंका एक बड़ा संग्रह था, जिसे **षष्ठितंत्र** कहा जाता था। ईश्वरकृष्णने षष्ठितंत्रके कथानकों, परवादोंको हटाकर[1] दर्शनके असली तत्त्वको सत्तर आर्या श्लोकोंमें गुंफित किया। इससे यह भी मालूम होता है, कि षष्ठितंत्र बौद्धोंके पिटक और जैनोंके आगमोंकी भाँति एक वृहत् साम्प्रदायिक पिटक था; जिसमें बुद्ध और महावीरके उपदेशोंकी भाँति कपिल—और शायद उनके शिष्य आसुरि—के उपदेश और संवाद संगृहीत थे।

[1] **"सप्तत्यां किल येऽर्थाः तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्ठितंत्रस्य। आख्यायिका-विरहिताः परवादविवर्जिताश्चैव।"–(सां० का०)**

दर्शन—इतना होते भी हम सांख्यकारिकाको अपने समयसे अप्रभावित षष्ठितंत्रका हूबहू सार नहीं मान सकते। सांख्यकारिकामें प्राप्त विकसित सांख्यदर्शनका वर्णन हम यथास्थान करेंगे, यहाँ संक्षेपमें यही कह सकते हैं—कि कपिल उपनिषद्के दर्शनकी भाँति ब्रह्म या आत्माको ही सर्वेसर्वा नहीं मानते थे। वह आत्मासे इन्कार नहीं करते थे, बल्कि उन्होंने उसके लिए उपनिषद्के अकर्त्ता, अभोक्ता, अज नित्य आदि विशेषणोंको भी स्वीकार कर लिया है। नित्य होनेका मतलब है निष्क्रियता, इसीलिए कपिलने आत्माके निष्क्रिय होनेपर बहुत जोर दिया। निष्क्रिय होनेपर आत्माको विश्वकी सृष्टिसे क्या मतलब दूसरे जीवोंसे ही क्या प्रयोजन? ऐसी हालतमें सृष्टिकर्त्ता, या **अन्तर्यामी** ब्रह्मकी जरूरत न थी, इसलिए कपिलने अपने दर्शनमें परमात्मा या ब्रह्मको स्थान नहीं दिया, हाँ, असंख्य जीवों या पुरुषोंको उन्होंने प्रकृतिके साथ एक स्वतंत्र तत्त्व माना।

चेतन पुरुषके अतिरिक्त जड़ प्रकृति कपिलके मतमें मुख्य तत्त्व है, इसीलिए प्रकृतिका दूसरा नाम प्रधान है। प्रकृति नित्य है जगत्की सारी वस्तुएं उसीके विकार हैं। बुद्धके पीछे होनेपर भी कपिल यूनानियोंके भारत आने (३२३ ई० पू०)से पूर्व ही हो चुके थे, और उनका दर्शन कुछ इतना व्यवस्थित हो चुका था कि जहाँ सभी पिछले मौलिक और प्रति-संस्कृत दर्शनोंने परमाणुवादको अपनाया, वहाँ सांख्यने उससे लाभ नहीं उठाया; इसकी जगह उसने तीन गुणों—सत्त्व, रज, तम—का सिद्धान्त पहिले ही आविष्कृत कर लिया था। संक्षेपमें कपिल प्रकृति और अनेक चेतन पुरुषोंको मानते थे; और कहते थे कि पुरुषके समीपता मात्रसे और उसके ही लिए प्रकृतिमें क्रिया उत्पन्न होती है, जिसमें विश्वकी वस्तुओंका उत्पाद और विनाश होता है।

सांख्यके विकसित दर्शनके बारेमें हम आगे लिखेंगे।

ख. बौद्ध दार्शनिक नागसेन (१५० ई० पू०)

१. सामाजिक परिस्थिति

बुद्धके जन्मसे कुछ पहिले हीसे उत्तरी भारतके सामन्तोंने राज्य-विस्तारकेलिए युद्ध छेड़ने शुरू किये थे—दो-तीन पीढ़ी पहिले ही कोसल-ने काशी-जनपदको हड़प कर लिया था। बुद्धके समयमें ही बिंबिसारने अंगको भी मगधमें मिला लिया और उस समय विंध्यमें होती मगधकी सीमा अवन्ती (उज्जैन)के राज्यसे मिलती थी। वत्स (=कौशाम्बी, इलाहाबाद)का राज भी उस वक्तके सभ्य भारतके बड़े शासकोंमें था। कोसल, मगध, वत्स, अवन्तीके अतिरिक्त लिच्छवियों (वैशाली)का प्रजा-तंत्र पाँचवीं महान् शक्ति थी। आर्य प्रदेशोंको विजय करते एक-एक **जन** (=कबीले)के रूपमें बसे थे। आर्योंकी यह नई बस्तियाँ पहिलेसे बसे लोगों और स्वयं दूसरे आर्य **जनों**के खूनी संघर्षोंके साथ मजबूत हुई थीं। कितनी ही सदियों तक राजतंत्र या प्रजातंत्रके रूपमें यह **जन** चले आये। उपनिषद्कालमें भी यह **जन** दिखाई पड़ते हैं, यद्यपि **जनतंत्र**के रूपमें नहीं बल्कि अधिकतर सामन्ततंत्रके रूपमें। बुद्धके समय **जनों**की सीमाबंदियाँ टूट रही थीं, और काशि-कोसल, अंग-मगधकी भाँति अनेक जनपद मिलकर एक राज्य बन रहे थे। व्यापारी वर्गने व्यापारिक क्षेत्रमें इन सीमाओंको तोड़ना शुरू किया। एक नहीं अनेक राज्योंसे व्यापारिक संबंधके कारण उनका स्वार्थ उन्हें मजबूर कर रहा था, कि वह छोटे-छोटे स्वतंत्र जन-पदोंकी जगह एक बड़ा राज्य कायम होनेमें मदद करें। मगधके धनंजय सेठ (विशाखाके पिता)को साकेत (=अयोध्या)में बड़ी कोठी कायम करते हम अन्यत्र[1] देख चुके हैं। जिस वक्त व्यापारी अपने व्यापार द्वारा, राजा अपनी सेना द्वारा जनपदोंकी सीमा तोड़नेमें लगे हुए थे, उस वक्त जो भी दर्शन या धार्मिक विचार उसमें सहायता देते, उनका अधिक प्रचार

[1] "मानवसमाज" पृष्ठ १३६-३८

होना जरूरी था। बौद्ध धर्मने इस कामको सफलताके साथ किया, चाहे जान-बूझकर थैली और राजके हाथमें बिककर ऐसा न भी हुआ हो।'

बुद्धके निर्वाणके तीन वर्ष बाद (४८० ई०पू०) अजातशत्रु (मगध)ने लिच्छवि प्रजातंत्रको खतम कर दिया, और अपने समयमें ही उसने अपने राज्यकी सीमा कोसीसे यमुना तक पहुँचा दी, उत्तर दक्खिनमें उसकी सीमा विंध्य और हिमालय थे। जनपदों, जातियों, वर्णोंकी सीमाओंको न माननेवाली बुद्धकी शिक्षा, यद्यपि इस बातमें अपने समकालीन दूसरे छै तीर्थंकरोंके समान ही थी, किन्तु उनके साथ इसके दार्शनिक विचार बुद्धिवादियोंको ज्यादा आकर्षक मालूम होते थे---पिछले दार्शनिक प्रवाहका चरम रूप होनेसे उसे श्रेष्ठ होना ही चाहिए था। उस समयके प्रतिभाशाली ब्राह्मणों और क्षत्रिय विचारकोंका भारी भाग बुद्धके दर्शनसे प्रभावित था। इन आदर्शवादी भिक्षुओंका त्याग और सादा जीवन भी कम आकर्षक न था। इस प्रकार बुद्धके समय और उसके बाद बौद्धधर्म युग-धर्म---जनपद-एकीकरण---में सबसे अधिक सहायक बना। बिंबिसारके वंशके बाद नन्दोंका राज्यवंश आया, उसने अपनी सीमाको और बढ़ाया, और पच्छिममें सतलज तक पहुँच गया। पिछले राजवंशके बौद्ध होनेके कारण उसके उत्तराधिकारी नंदवंशका धार्मिक तौरसे बौद्धसंघके साथ उतना घनिष्ट संबंध चाहे न भी रहा हो, किन्तु राज्यके भीतर जबर्दस्ती शामिल किये जाते जनपदोंमें जनपदके व्यक्तित्वके भावको हटाकर एकताका जो काम बौद्ध कर रहे थे, उसके महत्त्वको वह भी नहीं भूल सकते थे---मगधमें बुद्धके जीवनमें उनका धर्म बहुत अधिक जनप्रिय हो चुका था, और वहाँका राजधर्म भी हो ही चुका था। इस प्रकार मगध-राजके शासन और प्रभावके विस्तारके साथ उसके बौद्धधर्मके विस्तारका होना ही था। नन्दोंके अन्तिम समयमें सिकन्दरका पंजाबपर हमला हुआ, यद्यपि यूनानियोंका उस वक्तका शासन बिल्कुल अ-स्थायी था, तो भी उसके कारण भारतमें यूनानी सिपाही व्यापारी, शिल्पी लाखोंकी संख्यामें बसने लगे थे। इन अभिमानी "म्लेच्छ" जातियोंको भारतीय बनानेमें सबसे आगे बढ़े थे

बौद्ध। यवन मिनान्दर और शक कनिष्क जैसे प्रतापी राजाओंका बौद्ध होना आकस्मिक घटना नहीं है, बल्कि वह यह बतलाता है कि जनपद और जनपद, आर्य और म्लेच्छके बीचके भेदको मिटानेमें बौद्धधर्मने खूब हाथ बँटाया था।

२. यूनानी और भारतीय दर्शनोंका समागम

यूनानी भारतीयोंकी भाँति उस वक्तकी एक बड़ी सभ्य जाति थी। दर्शन, कला, व्यापार, राजनीति, सभीमें वह भारतीयोंसे पीछे तो क्या मूर्तिकला, नाट्यकला जैसी कुछ बातोंमें तो भारतीयोंसे आगे थे। दर्शनके निम्न सिद्धान्तोंको उनके दार्शनिक आविष्कृत कर चुके थे, और इन्हें पिछले वक्तके भारतीयोंने बिना ऋण कबूल किये अपने दर्शनका अंग बना लिया।

वाद	दार्शनिक	समय ई० पू०
आकृतिवाद	पिथागोर	५७०-५००
क्षणिकवाद	हेराक्लितु	५३५-४७५
बीजवाद	अनखागोर	५००-४२८
परमाणुवाद	देमोक्रितु	४६०-३७०
विज्ञान (=आकृति)	अफलातूं	४२७-३४७
विशेष	,,	
सामान्य (=जाति)	,,	
मूल स्वरूप	,,	
सृष्टिकर्त्ता	,,	
उपादान कारण		
निमित्त कारण	अरस्तू	३८४-३२२
तर्कशास्त्र	,,	
द्रव्य	,,	
गुण	,,	

कर्म	अरस्तू
दिशा	,,
काल	,,
परिमाण	,,
आसन	,,
स्थिति	,,

इस दर्शनका भारतीय दर्शनपर क्या प्रभाव पड़ा, यह अगले पृष्ठोंसे मालुम होगा। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना है, कि हेराक्लितु, अफलातूँ, अरस्तूके दर्शनोंको जाननेवाले अनेक यवन भारत में बस गये थे, और वे बुद्धके दर्शनके महत्त्वको अच्छी तरह समझ सकते थे।

यह है समय जब कि यवन-शासित पंजाबमें नागसेन पैदा होते हैं।

३. नागसेनकी जीवनी

नागसेनके जीवनके बारेमें "मिलिन्द प्रश्न"[1] में जो कुछ मिलता है, उससे इतना ही मालूम होता है, कि हिमालय-पर्वतके पास (पंजाब) में कजंगल गाँवमें सोनुत्तर ब्राह्मणके घरमें उनका जन्म हुआ था। पिताके घरमें ही रहते उन्होंने ब्राह्मणोंकी विद्या वेद, व्याकरण आदिको पढ़ लिया था। उसके बाद उनका परिचय उस वक्त वत्तनीय (=वर्त्तनीय) स्थानमें रहते एक विद्वान् भिक्षु रोहणसे हुआ, जिससे नागसेन बौद्ध-विचारोंकी ओर झुके। रोहणके शिष्य बन वह उनके साथ विजम्भवस्तु[2] (=विजृम्भवस्तु) होते हिमालयमें रक्षिततल नामक स्थानमें गये। वहीं गुरुने उन्हें उस समयकी रीतिके अनुसार कंठस्थ किये सारे बौद्ध वाङ्मयको पढ़ाया। और पढ़नेकी इच्छासे गुरुकी आज्ञाके अनुसार वह एक बार फिर पैदल चलते वर्त्तनीयमें

---

[1] 'मिलिन्द-प्रश्न', अनुवादक भिक्षु जगदीश काश्यप, १९३७ ई०।

[2] वर्त्तनीय, कजंगल और शायद विजृम्भवस्तु भी स्यालकोटके जिलेमें थे।

एक प्रख्यात विद्वान् अश्वगुप्तके पास पहुँचे। अश्वगुप्त अभी इस नये विद्यार्थीकी विद्या बुद्धिकी परख कर ही रहे थे, कि एक दिन किसी गृहस्थके घर भोजनके उपरान्त कायदेके अनुसार दिया जानेवाला धर्मोपदेश नागसेनके जिम्मे पड़ा। नागसेनकी प्रतिभा उससे खुल गई और अश्वगुप्तने इस प्रतिभाशाली तरुणको और योग्य हाथोंमें सौंपनेकेलिए पटना (=पाटलिपुत्र)के अशोकाराम बिहारमें वास करनेवाले आचार्य धर्मरक्षितके पास भेज दिया। सौ योजनपर अवस्थित पटना पैदल जाना आसान काम न था, किन्तु अब भिक्षु बराबर आते-जाते रहते थे, व्यापारियोंका सार्थ (=कारवाँ) भी एक-न-एक चलता ही रहता था। नागसेनको एक ऐसा ही कारवाँ मिल गया जिसके स्वामीने बड़ी खुशीसे इस तरुण विद्वानको खिलाते-पिलाते साथ ले चलना स्वीकार किया।

अशोकाराममें आचार्य धर्मरक्षितके पास रहकर उन्होंने बौद्ध तत्वज्ञान और पिटकका पूर्णतया अध्ययन किया। इसी बीच उन्हें पंजाबसे बुलौवा आया, और वह एक बार फिर रक्षिततलपर पहुँचे।

मिनान्दर (=मिलिन्द)का राज्य यमुनासे आमू (वक्षु) दरिया तक फैला हुआ था। यद्यपि उसकी एक राजधानी बलख (वाह्लीक) भी थी, किन्तु हमारी इस परंपराके अनुसार मालूम होता है, मुख्य राजधानी सागल (=स्यालकोट) नगरी थी। प्लूतार्कने लिखा है कि—मिनान्दर बड़ा न्यायी, विद्वान् और जनप्रिय राजा था। उसकी मृत्युके बाद उसकी हड्डियोंकेलिए लोगोंमें लड़ाई छिड़ गई। लोगोंने उसकी हड्डियोंपर बड़े-बड़े स्तूप बनवाये। मिनान्दरको शास्त्रचर्चा और बहसकी बड़ी आदत थी, और साधारण पंडित उसके सामने नहीं टिक सकते थे। भिक्षुओंने कहा—'नागसेन ! राजा मिलिन्द वादविवादमें प्रश्न पूछकर भिक्षु-संघको तंग करता और नीचा दिखाता है; जाओ तुम उस राजाका दमन करो।"

नागसेन, संघके आदेशको स्वीकार कर सागल नगरके **असंखेय्य नामक परिवेण** (=मठ)में पहुँचे। कुछ ही समय पहिले वहाँके बड़े पंडित **आयुपाल**को मिनान्दरने चुप कर दिया था। नागसेनके आनेकी खबर शहरमें

फैल गई। मिनान्दरने अपने एक अमात्य देवमंत्री (=जो शायद यूनानी दिमित्री है) से नाग-सेनसे मिलनेकी इच्छा प्रकट की। स्वीकृति मिलनेपर एक दिन "पाँच सौ यवनोंके साथ अच्छे रथपर सवार हो वह असंखेय्य परिवेणमें गया। राजाने नमस्कार और अभिनंदनके बाद प्रश्न शुरू किये। इन्हीं प्रश्नोंके कारण इस ग्रंथका नाम "मिलिन्द-प्रश्न" पड़ा। यद्यपि उपलभ्य पाली "मिलिन्द पञ्ह"में छ परिच्छेद हैं, किन्तु उनमेंसे पहिलेके तीन ही पुराने मालूम होते हैं; चीनी भाषामें भी इन्हीं तीन परिच्छेदोंका अनुवाद मिलता है। मिनान्दरने पहिले दिन मठमें जाकर नागसेनसे प्रश्न किये; दूसरे दिन उसने महलमें निमन्त्रण कर प्रश्न पूछे।

४—दार्शनिक विचार

अपने उत्तरमें नागसेनने बुद्धके दर्शनके अनात्मवाद, कर्म या पुनर्जन्म, नाम-रूप (=मन और भौतिक तत्त्व), निर्वाण आदिको ज्यादा विशद् करनेका प्रयत्न किया है।

(१) अनात्मवाद—मिनान्दरने पहिले बौद्धोंके अनात्मवादकी ही परीक्षा करनी चाही। उसने पूछा[१]—

(क) "भन्ते (स्वामिन्)! आप किस नामसे जाने जाते हैं?"

"नागसेन....नामसे (मुझे) पुकारते हैं?....किन्तु यह केवल व्यवहारकेलिए संज्ञा भर है, क्योंकि यथार्थमें ऐसा कोई एक पुरुष (=आत्मा) नहीं है।"

"भन्ते! यदि एक पुरुष नहीं है तो कौन आपको वस्त्र....भोजन देता है? कौन उसको भोग करता है? कौन शील (=सदाचार) की रक्षा करता है? कौन ध्यान....का अभ्यास करता है? कौन आर्यमार्गके फल निर्वाणका साक्षात्कार करता है?....यदि ऐसी बात है तो न पाप है और न पुण्य, न पाप और पुण्यका कोई करनेवाला है....न करानेवाला

---

[१] मिलिन्द-प्रश्न, २।१ (अनुवाद, पृ० ३०-३४)

है।....न पाप और पुण्य....के....फल होते हैं?....यदि आपको कोई मार डाले तो किसीका मारना नहीं हुआ।....(फिर) नागसेन क्या है?....क्या ये केश नागसेन हैं?"

"नहीं महाराज!"

"ये रोयें नागसेन हैं?"

"नहीं महाराज!"

"ये नख, दाँत, चमड़ा, मांस, स्नायु, हड्डी, मज्जा, बुक्क, हृदय, यकृत, क्लोमक, प्लीहा, फुफ्फुस, आँत, पतली आँत, पेट, पाखाना, पित्त, कफ, पीव, लोहू, पसीना, मेद, आँसू, चर्बी, राल, नासामल, कर्णमल, मस्तिष्क नागसेन है?"

"नहीं महाराज!"

"तब क्या आपका रूप (=भौतिक तत्त्व)....वेदना....संज्ञा ....संस्कार या विज्ञान नागसेन है?"

"नहीं महाराज!"

"....तो क्या....रूप....विज्ञान (=पाँचों स्कंध) सभी एक साथ नागसेन है?"

"नहीं महाराज!"

"....तो क्या....रूप आदिसे भिन्न कोई नागसेन है?"

"नहीं महाराज!"

"भन्ते! मैं आपसे पूछते-पूछते थक गया किन्तु 'नागसेन' क्या है इसका पता नहीं लगा सका। तो क्या नागसेन केवल शब्दमात्र है? आखिर नागसेन है कौन?"

"महाराज! ....क्या आप पैदल चलकर यहाँ आये या किसी सवारीपर?"

"भन्ते!....मैं....रथपर आया।"

"महाराज!....तो मुझे बतावें कि आपका 'रथ' कहाँ है? क्या हरिस (=ईषा) रथ है?"

"नहीं भन्ते !"

"क्या अक्ष रथ है ?"

"नहीं भन्ते !"

"क्या चक्के रथ हैं ?"

"नहीं भन्ते !"

"क्या रथका पंजर....रस्सियाँ....लगाम....चाबुक.... रथ है ?"

"नहीं भन्ते !"

"महाराज ! क्या हरीस आदि सभी एक साथ रथ हैं ?"

"नहीं भन्ते !"

"महाराज ! क्या हरीस आदिके परे कहीं रथ है ?"

"नहीं भन्ते !"

"महाराज ! मैं आपसे पूछते-पूछते थक गया, किन्तु यह पता नहीं लगा कि रथ कहाँ है ? क्या रथ केवल एक शब्द मात्र है ? आखिर यह रथ है क्या ? आप झूठ बोलते हैं कि रथ नहीं है ! महाराज ! सारे जम्बूद्वीप (=भारत)के आप सबसे बड़े राजा हैं; भला किससे डरकर आप झूठ बोलते हैं ?"

"भन्ते नागसेन ! मैं झूठ नहीं बोलता। हरीस आदि रथके अवयवोंके आधारपर केवल व्यवहारकेलिए 'रथ' ऐसा एक नाम बोला जाता है।"

"महाराज ! बहुत ठीक, आपने जान लिया कि रथ क्या है। इसी तरह मेरे केश आदिके आधारपर केवल व्यवहारकेलिए 'नागसेन' ऐसा एक नाम बोला जाता है। परन्तु, परमार्थमें 'नागसेन' कोई एक पुरुष विद्य-मान नहीं है। भिक्षुणी वज्राने भगवान्के सामने इसीलिए कहा था—

'जैसे अवयवोंके आधारपर 'रथ' संज्ञा होती है, उसी तरह (रूप आदि) स्कंधोंके होनेसे एक सत्त्व (=जीव) समझा जाता है।' "[1]

---

[1] संयुत्तनिकाय, ५।१०।६

(ख)[1]—"महाराज ! 'जान लेना' विज्ञानकी पहिचान है, 'ठीकसे समझ लेना' प्रज्ञाकी पहिचान है; और 'जीव' ऐसी कोई चीज नहीं है।"

"भन्ते ! यदि जीव कोई चीज ही नहीं है, तो हम लोगोंमें वह क्या है जो आँखसे रूपोंको देखता है, कानसे शब्दोंको सुनता है, नाकसे गंधोंको सूंघता है, जीभसे स्वादोंको चखता है, शरीरसे स्पर्श करता है और मनसे 'धर्मों'को जानता है।"

'महाराज ! यदि शरीरसे भिन्न कोई जीव है जो हम लोगोंके भीतर रह आँखसे रूपको देखता है, तो आँख निकाल लेनेपर बड़े छेदसे उसे और भी अच्छी तरह देखना चाहिए। कान काट देनेपर बड़े छेदसे उसे और भी अच्छी तरह सुनना चाहिए। नाक काट देनेपर उसे और भी अच्छी तरह सूंघना चाहिए। जीभ काट देनेपर उसे और भी अच्छी तरह स्वाद लेना चाहिए और शरीरको काट देनेपर उसे और भी अच्छी तरह स्पर्श करना चाहिए।"

"नहीं भन्ते ! ऐसी बात नहीं है।"

"महाराज ! तो हम लोगोंके भीतर कोई जीव भी नहीं है।"

(२) कर्म या पुनर्जन्म—आत्माके न माननेपर किये गये भले बुरे कर्मोंकी जिम्मेवारी तथा उसके अनुसार परलोकमें दुःख-सुख भोगना कैसे होगा, मिनान्दरने इसकी चर्चा चलाते हुए कहा।

"भन्ते ! कौन जन्म ग्रहण करता है ?"

"महाराज ! नाम[2] (=विज्ञान) और रूप[3]....।"

"क्या यही नाम—रूप जन्म ग्रहण करता है ?"

"महाराज ! यही नाम और रूप जन्म नहीं ग्रहण करता। मनुष्य इस नाम और रूपसे पाप या पुण्य करता है, उस कर्मके करनेसे दूसरा नाम रूप जन्म ग्रहण करता है।"

"भन्ते ! तब तो पहिला नाम और रूप अपने कर्मोंसे मुक्त हो गया ?"

"महाराज ! यदि फिर भी जन्म नहीं ग्रहण करे, तो मुक्त हो गया; किन्तु,

---

[1] वहीं, ३।४।४४ (अनुवाद, पृष्ठ ११०) [2] Mind. [3] Matter.

चूँकि वह फिर भी जन्म ग्रहण करता है, इसलिए (मुक्त) नहीं हुआ।"

"....उपमा देकर समझावें।"

a. "आमकी चोरी[1]—कोई आदमी किसीका आम चुरा ले। उसे आमका मालिक पकड़कर राजाके पास ले जाये—'राजन्! इसने मेरा आम चुराया है'। इसपर वह (चोर) ऐसा कहे—'नहीं, मैंने इसके आमोंको नहीं चुराया है। इसने (जो आम लगाया था) वह दूसरा था, और मैंने जो आम लिये वे दूसरे हैं।....' महाराज! अब बतावें कि उसे सजा मिलनी चाहिए या नहीं?"

"....सजा मिलनी चाहिए।"

"सो क्यों?"

"भन्ते! वह ऐसा भले ही कहे, किन्तु पहिले आमको छोड़ दूसरे हीको चुरानेकेलिए उसे जरूर सजा मिलनी चाहिए।"

"महाराज! इसी तरह मनुष्य इस नाम और रूपसे पाप या पुण्य ....करता है। उन कर्मोंसे दूसरा नाम और रूप जन्मता है। इसलिए वह अपने कर्मोंसे मुक्त नहीं हुआ।....

b. "आगका प्रवास—महाराज! ....कोई आदमी जाड़ेमें आग जलाकर तापे और उसे बिना बुझाये छोड़कर चला जाये। वह आग किसी दूसरे आदमीके खेतको जला दे....(पकड़कर राजाके पास ले जानेपर वह आदमी बोले—) 'मैंने इस खेतको नहीं जलाया। ....वह दूसरी ही आग थी, जिसे मैंने जलाया था, और वह दूसरी है जिससे....खेत जला। मुझे सजा नहीं मिलनी चाहिए।'.... महाराज! उसे सजा मिलनी चाहिए या नहीं?"

"....मिलनी चाहिए।....उसीकी जलाई हुई आगने बढ़ते-बढ़ते खेतको भी जला दिया।...."

c. "दीपकसे आग लगना—महाराज! कोई आदमी दीया

---

[1] वहीं, २।२।१४ (अनुवाद, पृष्ठ ५७-६०)

लेकर अपने घरके उपरले छतपर जाये और भोजन करे। वह दीया जलता हुआ कुछ तिनकोंमें लग जाये। वे तिनके घरको (आग) लगा दें, और वह घर सारे गाँवको लगा दे। गाँववाले उस आदमीको पकड़ कर कहें—'तुमने गाँवमें क्यों आग लगाई ?' इसपर वह कहे—'मैंने गाँवमें आग नहीं लगाई। उस दीयेकी आग दूसरी ही थी, जिसकी रोशनीमें मैंने भोजन किया था, और वह आग दूसरी ही थी, जिसने गाँव जलाया।' इस तरह आपसमें झगड़ा करते (यदि) वे आपके पास आवें, तो आप किधर फैसला देंगे ?"

"भन्ते ! गाँववालोंकी ओर....।"

"महाराज ! इसी तरह यद्यपि मृत्युके साथ एक नाम और रूपका लय होता है और जन्मके साथ दूसरा नाम और रूप उठ खड़ा होता है, किन्तु यह भी उसीसे होता है। इसलिए वह अपने कर्मोंसे मुक्त नहीं हुआ।"

"d. *विवाहित कन्या*—महाराज ! कोई आदमी...रुपया दे एक छोटीसी लड़कीसे विवाह कर, कहीं दूर चला जाये। कुछ दिनोंके बाद वह बढ़कर जवान हो जाये। तब कोई दूसरा आदमी रुपया देकर उससे विवाह कर ले। इसके बाद पहिला आदमी आकर कहे—'तुमने मेरी स्त्रीको क्यों निकाल लिया ?' इसपर वह ऐसा जवाब दे—'मैंने तुम्हारी स्त्रीको नहीं निकाला। वह छोटी लड़की दूसरी ही थी, जिसके साथ तुमने विवाह किया था और जिसके लिए रुपये दिये थे। यह सयानी, जवान औरत दूसरी ही है जिसके साथ कि मैंने विवाह किया है और जिसकेलिए रुपये दिये हैं। अब, यदि दोनों इस तरह झगड़ते हुए आपके पास आवें तो आप किधर फैसला देंगे ?"

"....पहिले आदमीकी ओर।....(क्योंकि) वही लड़की तो बढ़कर सयानी हुई।"

(घ)[1]—"भन्ते ! जो उत्पन्न है, वह वही व्यक्ति है या दूसरा ?"

---

[1] वहीं, २।२।६ (अनुवाद, पृ० ४६)

"न वही और न दूसरा ही।....(१) जब आप बहुत बच्चे थे और खाटपर चित्त ही लेट सकते थे, क्या आप अब इतने बड़े होकर भी वही हैं ?"

"नहीं भन्ते ! अब मैं दूसरा हो गया हूँ ।"

"महाराज ! यदि आप वही बच्चा नहीं हैं, तो अब आपकी कोई माँ भी नहीं है, कोई पिता भी नहीं है, कोई गुरु भी नहीं।....क्योंकि तब तो गर्भकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंकी भी भिन्न-भिन्न माताएं होयेंगी। बड़े होनेपर माता भी भिन्न हो जायेगी। शिल्प सीखनेवाला (विद्यार्थी) दूसरा और सीखकर तैयार (हो जानेपर)....दूसरा होगा। अपराध करनेवाला दूसरा होगा और (उसकेलिए) हाथ-पैर किसी दूसरेका काटा जायेगा।"

"भन्ते !....आप इससे क्या दिखाना चाहते हैं ?"....

"महाराज ! मैं बचपनमें दूसरा था और इस समय बड़ा होकर दूसरा हो गया हूँ; किन्तु वह सभी भिन्न-भिन्न अवस्थाएं इस शरीरपर ही घटनेसे एक हीमें ले ली जाती हैं।....

"(२) यदि कोई आदमी दीया जलावे, तो वह रात भर जलता रहेगा न ?"

"....रातभर जलता रहेगा।"

"महाराज ! रातके पहिले पहरमें जो दीयेकी टेम थी। क्या वही दूसरे या तीसरे पहरमें भी बनी रहती है ?"

"नहीं, भन्ते !"

"महाराज ! तो क्या वह दीया पहिले पहरमें दूसरा, दूसरे और तीसरे पहरमें और हो जाता है ?"

"नहीं भन्ते ! वही दीया सारी रात जलता रहता है।"

"महाराज ! ठीक इसी तरह किसी वस्तुके अस्तित्वके सिलसिलेमें एक अवस्था उत्पन्न होती है, एक लय होती है—और इस तरह प्रवाह जारी रहता है। एक प्रवाहकी दो अवस्थाओंमें एक क्षणका भी अन्तर

नहीं होता; क्योंकि एकके लय होते ही दूसरी उत्पन्न हो जाती है। इसी कारण न (वह) वही जीव है और न दूसरा ही हो जाता है। **एक जन्मके अन्तिम विज्ञान (=चेतना) के लय होते ही दूसरे जन्मका प्रथम विज्ञान उठ खड़ा होता है।**

(ङ)[१]—"भन्ते ! जब एक **नाम-रूपसे** अच्छे या बुरे कर्म किये जाते हैं, तो वे कर्म कहाँ ठहरते हैं ?"

"महाराज ! कभी भी पीछा नहीं छोड़नेवाली छायाकी भाँति वे कर्म उसका पीछा करते हैं।"

"भन्ते ! क्या वे कर्म दिखाये जा सकते हैं, (कि) वह यहाँ ठहरे हैं ?"

"महाराज ! वे इस तरह नहीं दिखाये जा सकते।....क्या कोई वृक्षके उन फलोंको दिखा सकता है जो अभी लगे ही नहीं....?"

(३) नाम और रूप—बुद्धने विश्वके मूल तत्त्वोंको विज्ञान(=नाम) और भौतिक तत्व (=रूप) में बाँटा है, इनके बारेमें मिनान्दरने पूछा—

"भन्ते !....नाम क्या चीज है और रूप क्या चीज ?"

"महाराज ! जितनी स्थूल चीजें हैं, सभी रूप हैं; और जितने सूक्ष्म मानसिक धर्म हैं, सभी नाम हैं।....दोनों एक दूसरेके आश्रित हैं, एक दूसरेके बिना ठहर नहीं सकते। दोनों (सदा) साथ ही होते हैं।.... यदि मुर्गीके पेटमें (बीज रूपमें) बच्चा नहीं हो तो अंडा भी नहीं हो सकता; क्योंकि बच्चा और अंडा दोनों एक दूसरेपर आश्रित हैं। दोनों एक ही साथ होते हैं। यह (सदासे)....होता चला आया है।...."

(४) निर्वाण—मिनान्दरने निर्वाणके बारेमें पूछते हुए कहा[२]—

"भन्ते ! क्या निरोध हो जाना ही निर्वाण है ?"

"हाँ, महाराज ! निरोध (=बन्द) हो जाना ही निर्वाण है।.... सभी....अज्ञानी....विषयोंके उपभोगमें लगे रहते हैं, उसीमें आनन्द लेते हैं, उसीमें डूबे रहते हैं। वे उसीकी धारामें पड़े रहते हैं; बार-बार

---

[१] वहीं [२] वहीं, ३।१।६ (अनुवाद, पृ० ८५)

जन्म लेते, बूढ़े होते, मरते, शोक करते, रोते-पीटते, दुःख बेचैनी और परेशानीसे नहीं छूटते। (वह) दुःख ही दुःखमें पड़े रहते हैं। महाराज! किन्तु ज्ञानी....विषयोंके भोग (=उपादान) में नहीं लगे रहते। इससे उनकी तृष्णाका निरोध हो जाता है। उपादानके निरोधसे **भव** (=आवागमन) का निरोध हो जाता है। भवके निरोधसे जन्मना बन्द हो जाता है।....(फिर) बूढ़ा होना, मरना....सभी दुःख बन्द=(निरुद्ध) हो जाते हैं। महाराज! इस तरह निरोध हो जाना ही निर्वाण है।"....

"[1]....(बुद्ध) कहाँ हैं?"

"महाराज! भगवान् परम निर्वाणको प्राप्त हो गये हैं, जिसके बाद उनके व्यक्तित्वको बनाये रखनेकेलिए कुछ भी नहीं रह जाता....।"

"भन्ते! उपमा देकर समझावें।"

"महाराज! क्या होकर-बुझ-गई जलती आगकी लपट, दिखाई जा सकती है....?"

"नहीं भन्ते! वह लपट तो बुझ गई।"

नागसेनने अपने प्रश्नोत्तरोंसे बुद्धके दर्शनमें कोई नई बात नहीं जोड़ी, किन्तु उन्होंने उसे कितना साफ किया यह ऊपरके उद्धरणोंसे स्पष्ट है। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए, कि नागसेनका अपना जन्म हिन्दी-यूनानी साम्राज्य और सभ्यताके केन्द्र स्यालकोट (=सागल) के पास हुआ था, और भारतीय ज्ञानके साथ-साथ यूनानी ज्ञानका भी परिचय रखनेके कारण ही वह मिनान्दर जैसे तार्किकका समाधान कर सके थे। मिनान्दर और नागसेनका यह संवाद इतिहासकी उस विस्तृत घटनाका एक नमूना है, जिसमें कि हिन्दी और यूनानी प्रतिभाएं मिलकर भारतमें नई विचार-धाराओंका आरम्भ कर रही थीं।

---

[1] वहीं, ३।२।१८ (अनुवाद, पृ० ९१)

षोड़श अध्याय
अनीश्वरवादी दर्शन

दर्शनका नया युग (२००-४००)

क. *बाह्य परिस्थिति*

(सामाजिक स्थिति)——मौर्योंके शासनके साथ कुमारी अन्तरीपसे हिमालय, सुवर्णभूमि (=बर्मा)की सीमासे हिन्दूकुश तकका भारत एक शासनके सूत्रमें बँध गया, और इस विशाल साम्राज्यकी राजधानी पटना हुई। पटना नाम ही पत्तनसे बिगड़कर बना है, जिसका अर्थ होता है बन्दरगाह, नावका घाट। पटना जिस तरह शासनकेन्द्र था, वैसेही वह व्यापारका केन्द्र था। यह भी हम बतला चुके हैं, कि किस तरह मगध-की राजनीतिक प्रधानताके साथ वहांके सर्व-प्रिय धर्म—बौद्ध- धर्म—ने भी अपने प्रभावका विस्तार किया। पाटलिपुत्र (=पटना) विद्वानोंकी परीक्षाका स्थान बन गया। यहीं पाणिनि (४०० ई० पू०) जैसे विद्वान् सुपरीक्षित हो सारे भारतमें कीर्ति पाते थे। मिनान्दरके गुरु नागसेनका पटना (अशोकाराम)में आकर विद्याध्ययनकी बात हम कह चुके हैं। इतने बड़े साम्राज्यमें एक राजकीय भाषा (=मागधी), एक तरहके सिक्के, एक तरहके नाप-तोल होनेसे भारतीय समाजमें एकता आने लगी थी। लेकिन यह एकता भीतर नहीं प्रवेश कर सकी; क्योंकि देशों, प्रदेशोंके छोटे-छोटे प्रजातंत्रों और राजतंत्रोंके टूटते रहनेपर भी हर एक गाँव अपने स्वावलंबी "प्रजातंत्र"के रूपको नहीं छोड़ना चाहता था।

मौर्य चन्द्रगुप्तने यूनानी शासनको भारतसे हटाया जरूर, किन्तु उससे यूनानी भारतसे नहीं हट सके। पंजाबमें उनकी कितनी ही बस्तियाँ बसी हुई थीं। हिन्दूकुश पारसे उनका विशाल राज्य शुरू होता था, जो कि मध्य-एसिया, ईरान, मसोपोतामिया, क्षुद्र-एसिया होते मिश्र और

यूरोप तक फैला हुआ था। सिकन्दरकी मृत्यु (३२३ ई० पू०)के साथ वह कितने ही टुकड़ोंमें बँटा जरूर, किन्तु तब भी उसकी शासनप्रणाली, सभ्यता, आदि एकसी थीं। मातृभूमि (यूनान) तथा एक दूसरेके साथ उनका व्यापारिक ही नहीं सामाजिक, बौद्धिक घनिष्ट सम्बन्ध था। और मौर्य साम्राज्यके नष्ट होते ही यूनानी फिर हिन्दूकुश पार हो यमुना और नर्मदाके पश्चिमके सारे भारतपर स्थायी तौरसे अधिकार जमानेमें सफल हुए। इस कार्यको सम्पन्न करनेवाले यूनानी शासकोंमें मिनान्दर (१५० ई० पू०) प्रमुख और प्रथम था।[1] इन यूनानी शासकोंके मध्य-एसियाई साम्राज्यमें शक, जट्ट, गुज्जर, आभीर आदि जातियाँ रहती थी, इसलिए पश्चिमी भारतमें यूनानियोंके शासन स्थापित होनेपर यह जातियाँ भी आ-आकर भारतमें बसने लगीं, और आज भी उनकी सन्तानें पश्चिमी भारतकी आबादीमें काफ़ी संख्या रखती हैं। इन जातियोंमें शक तो यूनानियोंके क्षत्रप (उपराज या वाइसराय) होकर मथुरा और उज्जैनमें रहते थे, और यूनानियोंके शासनके उठ जानेपर स्वतंत्र साम्राज्य कायम करनेमें समर्थ हुए। ईसाकी पहिली सदीमें शक सम्राट् कनिष्क प्रायः सारे उत्तरी भारत और मध्य-एसिया तकका शासक था। शक तीसरी सदी तक गुजरात और उज्जैनपर शासन करते रहे। आभीर शकोंके प्रधान सेनापति तथा कभी-कभी स्वतंत्र शासक भी बने थे। जायसवालके मतानुसार गुप्त राजवंश जर्त्र या जट्ट था। अस्तु, यह तो साफ है कि जिस कालकी ओर हम आगे बढ़ रहे हैं, वह पश्चिमसे आनेवाली जातियोंके भारतमें भारी संख्यामें आकर भारतीय बन जानेका समय था। जातियोंके साथ नाना सभ्यताओं, नाना विचारोंका भारतमें संमिश्रण भी हो रहा था। इसी समय (१५० ई० पू०) भारतने यूनानी ज्योतिषसे—१२ राशियाँ होरा (=घंटा), फलित ज्योतिषका होड़ाचक्र[2] सीखा। गन्धार-मूर्तिकला

---

[1] राजधानी बल्हीक (=बलख या बाख्तर)। [2] होडाचक्रकी वर्णमाला भारतीय (क-ख-ग . . .) नहीं बल्कि यूनानी (अल्फा, बीता, गामा . . .)है।

इसी कालकी देन है। इसी समय भारतीय कार्षापण चौकोरकी जगह यूनानी सिक्कोंकी तरह गोल और राजाके चित्रसे अंकित बनने लगे। यूनानी नाटकोंकी भाँति भारतीय नाटकोंका प्रथम प्रयास भी इसी समय शुरू हुआ,—उपलभ्य नाटक हमें अश्वघोष (५० ई०)से पहिले नहीं ले जाते। दार्शनिक क्षेत्रमें भी इस कालकी देनोंमें आकृतिवाद, परमाणु-वाद, विज्ञान-विशेष-जातिवाद, उपादान-निमित्त-कारण, द्रव्य-गुणपरि-णाम-देश-काल-वाद है, जिनके बारेमें हम आगे कहेंगे।

इस राजनीतिक, अन्तर्जातिक, सांस्कृतिक उथल-पुथलके जमाने (१ ई०)में यदि हम भारतीय समाजके आर्थिक वर्गोंकी ओर नजर दौड़ाते है, तो मालूम होता है—सबसे ऊपर एक छोटीसी संख्या देशीय या देशीय बन गये राजाओं, उनके दरबारियोंकी है, जो शारीरिक श्रम तथा उत्पादनके कामको घृणाकी दृष्टिसे देखते है। जनताकी बड़ी संख्या इनकेलिए अच्छे-अच्छे खाने अच्छे-अच्छे कपड़े देती है; रहनेकेलिए बड़े-बड़े महल बनाती है; देश विदेशमें अधिकारपर संकट उपस्थित होनेपर सैनिक बन, हथियार उठा, उनके लिए अपना खून बहाने जाती है। और परिणाम?—बाजकी भाँति शिकार मारकर फिर मालिकके हाथकी साँकलमें बँधना—फिर वही खून-पसीना एक कर मेहनत कर प्रभुओंके आगे—विलासकी सामग्री उपस्थित करना और खुद पेटके अन्न और तनके कपड़े बिना मरना।

इस शासक जमातके बाद दूसरी जमात थी धर्माचार्यों, भाँडों और धूर्तोंकी, जिनका काम था सामाजिक अवस्थाको विशृंखलित होनेसे रोकना, लोगोंको भ्रममें रखे रहना, अर्थात् "दुनिया ठगिए मक्करसे। रोटी खाइए घी शक्करसे।" इस जमातके आहार-विहारकेलिए भी उसी परिश्रमी भूखों मरती जनताको मेहनत करना पड़ता था।

तीसरी जमात व्यापारियोंकी थी, जो कारीगरोंके मालको कम दामपर खरीद और ज्यादा दामपर बेंचते देश-विदेशमें, जल-स्थल मार्गसे व्यापार करते थे या सूदपर रुपया लगाते थे, और जिनकी करोड़ोंकी सम्पत्तिको देखकर राजा भी रश्क करते थे।

इन तीन कामचोर शोषक जमातके अतिरिक्त एक और जमात "संसार-त्यागियों"की थी, जो अपनेको वर्गोंसे ऊपर निष्पक्ष, निर्लोभ सत्यान्वेषी समझते थे। इनसे उस बहुसंख्यक कर्मीवर्गको क्या मिलता था? संसार झूठा है, संसारकी वस्तुएं झूठी हैं, इसकी समस्याएं झूठी हैं, इनकी ओरसे आँख मूँदना ही अच्छा है; अथवा धनी गरीब भगवान्‌के बनाये हैं, कर्मके सँवारे हैं, उनके भोगोंकेलिए ईर्ष्या करनेकी जरूरत नहीं; सन्तोष और धैर्यसे काम लो, जिन्दगी ही भर तो दुःख है। गोया इस जमातका काम था, अफीमकी गोलियोंपर गोलियाँ खिलाकर धन-उत्पादक निर्धन वर्गको बेहोश रखना। साथ ही इस "संसार त्यागी" वर्गको भी खाना, कपड़ा, मकान—और बाजोंकेलिए वह राजाओंसे कम खर्चीला नहीं—चाहिए, जिसका भी बोझ उसी श्रमसे पिसे जाते वर्गपर था।

यह तो हुई कामचोर वर्गकी बात। कमकर वर्गका क्या काम था, इसका दिग्दर्शन कामचोर वर्गके साथ अभी कर चुके हैं। लेकिन, उनकी मुसीबतें वहीं खतम नहीं होती थीं। उनमें काफी संख्या ऐसे स्त्री-पुरुषोंकी थी, जिनकी अवस्था पशुओंसे बेहतर न थी। दूसरे सौदोंकी भाँति उनकी खरीद-फरोख्त होती थी। ये दास-दासी मनुष्यसे पशु होते तो ही बेहतर था, क्योंकि उस वक्त इनका अनुभव भी तो पशुओं जैसा होता।

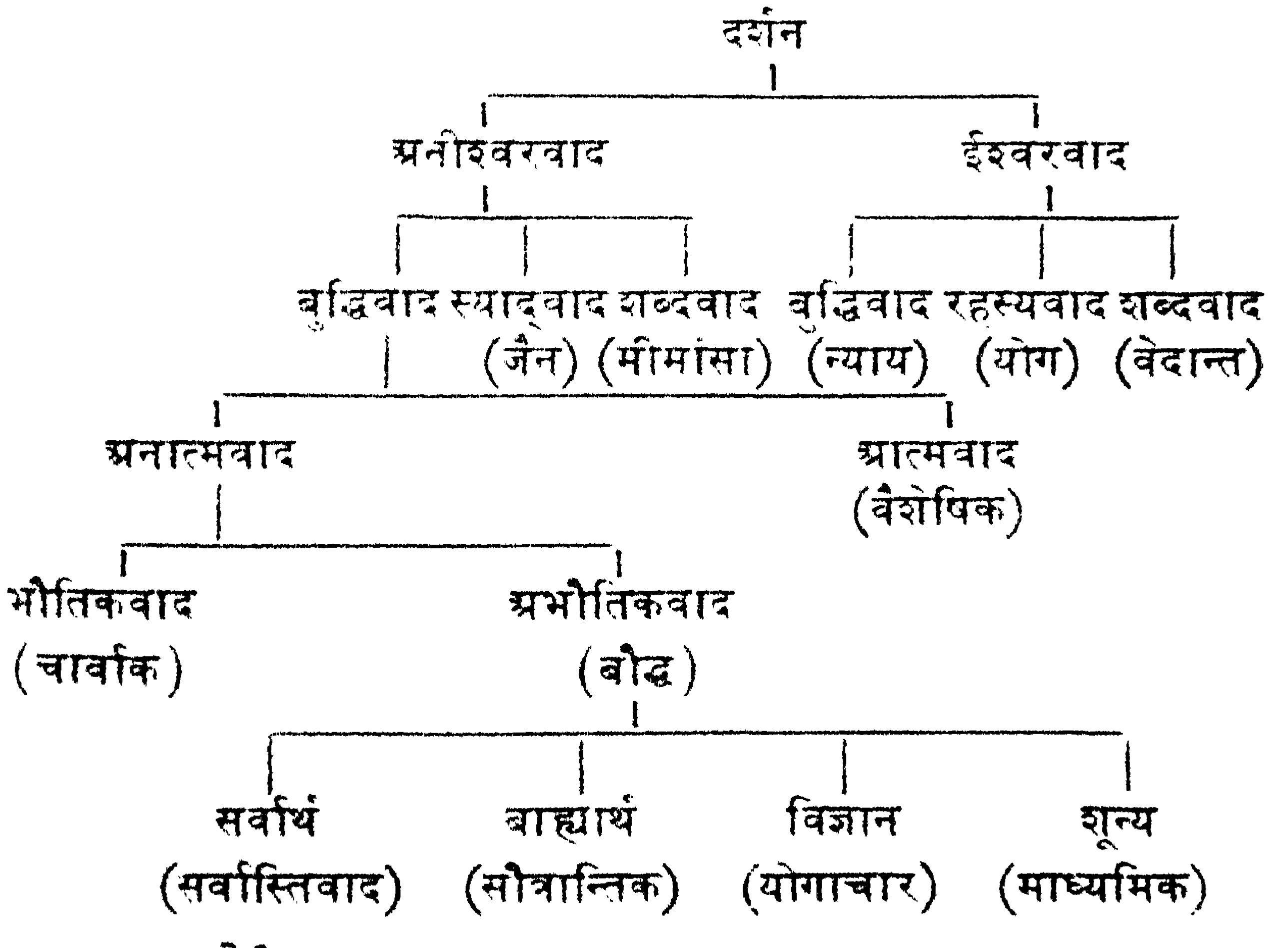
उस वक्तके दार्शनिकोंने ब्रह्म और निर्वाण तककी उड़ान लगाई, आत्मा-परमात्मा तकका सूक्ष्म विश्लेषण किया, किन्तु नब्बे सैकड़ा जनताके पशुवत् जीवन, उसके उत्पीड़न और शोषणके बारेमें इससे अधिक नहीं बतलाया, कि यह अवश्य मेव भोक्तव्य है।

ख. दर्शन-विभाग

विक्रम संवत् (५७ ई० पू०), ईसवी सन् या शक संवत् (७८ ई०)के शुरू होनेके साथ तीन शताब्दियोंके विचार-संघर्षोंकी धुन्ध फटने लगती है, और उसके बीचमे नई धारा निकलती है। पेशावरमें जो इस वक्त भारतके महान् सम्राट् कनिष्ककी राजधानी ही नहीं है, बल्कि पूरब

(चीन), पश्चिम (ईरान और यूनान) तथा अपने (भारतके) विचारोंके सम्मिश्रणसे पैदा हुए नये **प्रयोग**की नाप-तोल हो रही है। अश्वघोष संस्कृत काव्य-गगनमें एक महान् कवि और नाटचकारके रूपमें आते हैं। इसी समयके आसपास गुणाढच अपनी बृहत्कथा लिखते हैं। चरक एक परिष्कृत आयुर्वेदका सम्पादन करते हैं। बौद्ध। सभा बुला अपने त्रिपिटकपर नये भाष्य (=विभाषा) तैयार करवाते हैं।—उनके दर्शनमें विज्ञानवाद, शून्यवाद, बाह्यार्थवाद (=सौत्रान्तिक), और सर्वार्थ-वादकी दार्शनिक धाराएं स्पष्ट होने लगती हैं। लेकिन इस वक्तकी कृतियाँ इतनी ठोस न थीं, कि कालके थपेड़ोंसे बच रहतीं, न वह इतनी लोकोत्तर थीं कि धार्मिक लोग बड़ी चेष्टाके साथ उन्हें सुरक्षित रखते।

दर्शनका नया युग नागार्जुनसे आरम्भ होता है, इस कालके दर्शनोंमें कितने ही ईश्वरवादी हैं और कितने ही अनीश्वरवादी, विश्लेषण करने पर हम उन्हें इस रूपमें पाते हैं—



अनीश्वरवादी दर्शन

§ १. अनात्म-भौतिकवादी चार्वाक दर्शन

चार्वाक दर्शनका हम पहिले जिक्र कर चुके हैं। बुद्धकालके बाद चार्वाक दर्शनके विकासका कोई क्रम हमें नहीं मिलता। साथ ही यह भी देखा जाता है, कि उसकी तरफ सभी शंका और घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। अब पायासीकी तरह अपने भौतिकवादको छोड़नेमें भी शर्म महसूस करनेकी तो बात ही अलग, लोग चार्वाक शब्दको गाली समझते हैं। इसका यही अर्थ हो सकता है, कि जिनके हितकेलिए परलोकवाद, ईश्वरवाद, आत्मवादका खंडन किया जाता था, वह भी विरोधियोंके बहकावेमें इतने आ गये थे, कि अब उधर ध्यान ही देना पसन्द नहीं करते थे। तो भी इनके जिन विचारोंके खंडनकेलिए विरोधी दार्शनिकोंने उद्धृत किया है, उससे मालूम होता है, कि अन्तर्हित होते भी इस वादने कुछ चेष्टा जरूर की थी। यहाँ संक्षेपमें हम इन भारतीय भौतिकवादियोंके विचारोंको रखते हैं—

१. चेतना (=जीव)—जीवको चार्वाक भौतिक उपज मात्र मानते हैं—

"पृथिवी, जल, हवा, आग यह चार भूत हैं। (इन) चार भूतोंसे चैतन्य उत्पन्न होता है, जैसे (उपयोगी सामग्री) . . . .से शराबकी शक्ति।"[1]

२. अन्-ईश्वरवाद—सृष्टिके निर्माताकी आवश्यकता नहीं, इसे बतलाते हुए कहा है—

"अग्नि गर्म पानी ठंडा, और हवा शीत-स्पर्शवाली।

यह सब किसने चित्रित किया? इसलिए (इन्हें) स्वभाव (से ही समझना चाहिए)।"[1] विश्वकी सृष्टि स्वभावसे ही होती है, इसके

---

[1] सर्वदर्शन-संग्रह; **"कायादेव ततो ज्ञानं प्राणापानाद्यधिष्ठितात्।
युक्तं जायत इत्येतत् कम्बलाश्वतरोदितम्।"**

लिए कर्त्ताको ढूँढ़ना फ़ज़ूल है—

"काँटोंमें तीखापन, मृगों या पक्षियोंमें विचित्रता कौन करता है? यह (सब) स्वभावसे ही हो रहा है।"[1]

३. मिथ्याविश्वास-खंडन—मिथ्या विश्वासका खंडन करते हुए लिखा है—

"न स्वर्ग है, न अपवर्ग, न परलोकमें जानेवाला आत्मा। वर्ण और आश्रम आदिकी (सारी) क्रियाएं निष्फल हैं। अग्निहोत्र, तीनों वेद, ... बुद्धि और पौरुषसे जो हीन है, उन लोगोंकी जीविका है। . . . ."

"यदि ज्योतिष्टोम (यज्ञ)में मारा पशु स्वर्ग जायेगा, तो उसके लिए यजमान अपने बापको क्यों नहीं मारता? श्राद्ध यदि मृत प्राणियोंकी तृप्तिका कारण हो सकता है, तो यात्रापर जानेवाले व्यक्तिको पाथेयकी चिन्ता व्यर्थ है। यदि यह (जीव) देहसे निकलकर परलोक जाता है, तो बन्धुओंके स्नेहसे व्याकुल हो क्यों नहीं फिर लौट आता? . . . . मृतक श्राद्ध (आदिको) ब्राह्मणोंने जीविकोपाय बनाया है।"[2]

४. नैराश्य-वैराग्य-खंडन—"विषयके संसर्गसे होनेवाला सुख दुःखसे संयुक्त होनेके कारण त्याज्य है, यह मूर्खोंका विचार है। कौन हितार्थी है जो सफेद बढ़िया चावलवाले धानको तुष (=भूसी)से लिपटी होनेके कारण छोड़ देगा?"[1]

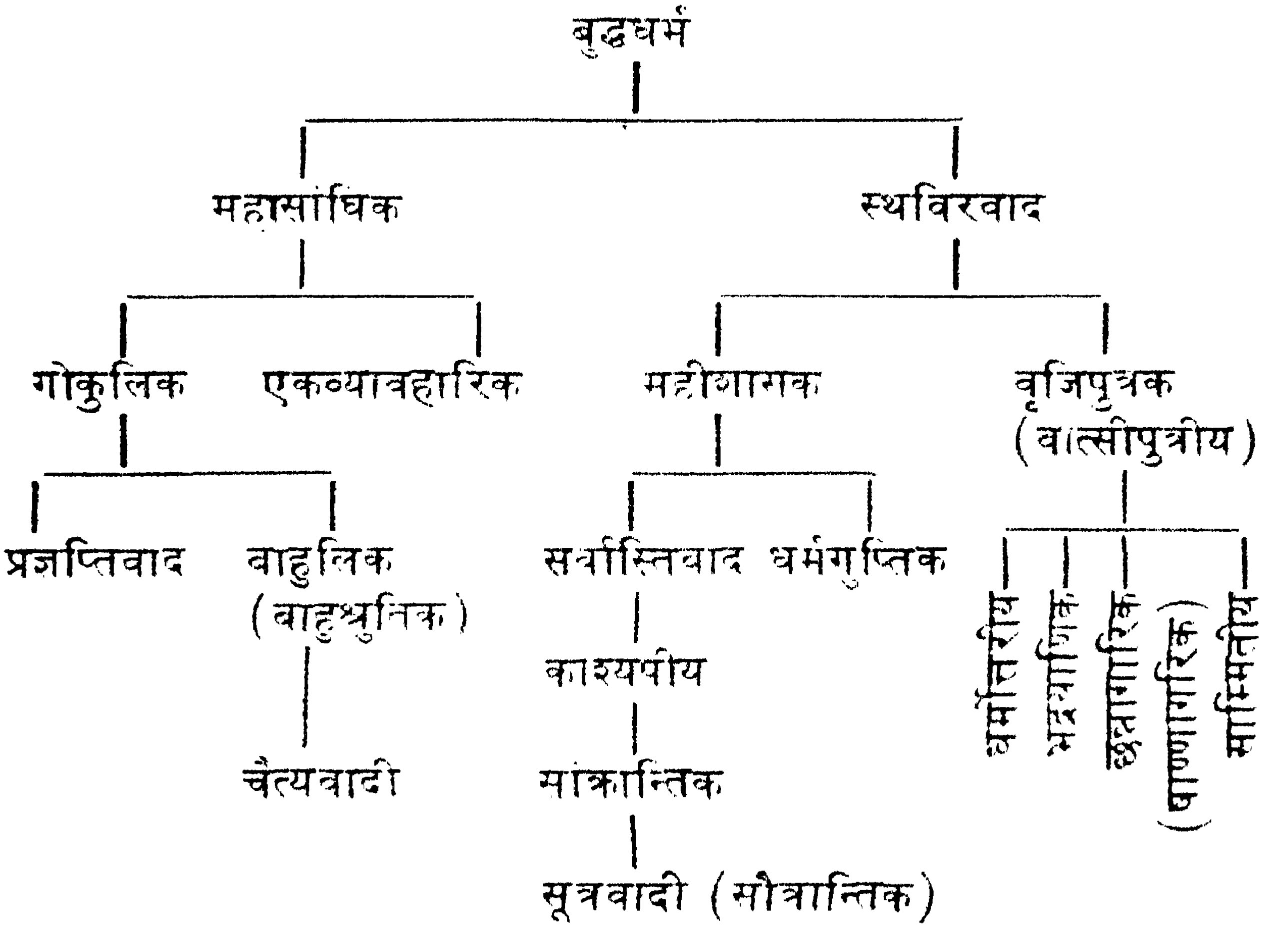
§ २. अनात्म-अभौतिकवादी बौद्ध-दर्शन

१. बौद्ध धार्मिक संप्रदाय—बुद्ध आत्मवादके सख्त विरोधी थे, फिर साथ ही वह भौतिकवादके भी खिलाफ थे, यह हम बतला चुके हैं। मौर्योंके शासनकालके अन्त तक मगध ही बौद्ध-धर्मका केन्द्र था, किन्तु साम्राज्यके ध्वंसके साथ बौद्ध धर्मका केन्द्र भी कमसे कम उसकी

[1] सांख्यकारिकाकी माठरवृत्ति।

[2] सर्वदर्शनसंग्रह (चार्वाक-दर्शन)।

सबसे अधिक प्रभावशाली शाखा (=निकाय)—पूरबसे पश्चिमकी ओर को लेनेपर हटने लगा। इसी स्थान-परिवर्त्तनमें स र्वा स्ति वा द निकाय मगधसे उरुमुंड पर्वत (=गोबर्धन, मथुरा) पहुँचा, और यवन-शासन कालमें पंजाबमें जोर पकड़ते-पकड़ते कनिष्कके समय ईसाकी पहिली सदीके मध्यमें गंधार-कश्मीर उसके प्रधान केन्द्र बन गये। यही जगह थी, जहाँ वह यूनानी विचार, कला आदिके संपर्कमें आया। अशोकके समय(२६९ ई० पू०)तक बौद्ध धर्म निम्न संप्रदायोंमें बँट चुका था[1]—



अर्थात्—बुद्धनिर्वाण (४८३ ई० पू०)के बादके सौ वर्षों (३८० ई० पू०)में स्थविरवाद (=बृद्धोंके रास्ते वाले) और महासांघिक जो दो

---

[1] देखो मेरी "पुरातत्त्व-निबंधावली", पृ० १२१ (और कथावत्थु-अट्ठकथा भी)।

निकाय (=संप्रदाय) हुए थे, वह अगले सवा सौ वर्षोंमें बँटकर महासांघिकके छै और स्थविरवादके बारह कुल अठारह निकाय हो गए—सर्वास्तिवाद स्थविरवादियोंके अन्तर्गत था। इन अठारह निकायोंके पिटक (सूत्र, विनय, अभिधर्म) भी थे, जो सूत्र और विनयमें बहुत कुछ समानता रखते थे, किन्तु अभिधर्म पिटकमें मतभेद ही नहीं बल्कि उनकी पुस्तकें भी भिन्न थीं। स्थविरवादियोंने इन प्राचीन निकायोंमेंसे निम्न आठके कितने ही मतोंका अपने अभिधर्मकी पुस्तक 'कथावत्थु'में खंडन किया है—

महासांघिक, गोकुलिक, काश्यपीय; भद्रयाणिक, महीशासक, वात्सीपुत्रीय, सर्वास्तिवाद, साम्मितीय।

कथावत्थुको अशोकके गुरु मोग्गलिपुत्त तिस्सकी कृति बतलाया जाता है, किन्तु उसमें वर्णित २१४ कथावस्तुओं (=वादके विषयों)में सिर्फ ७३ उन पुराने निकायोंसे संबंध रखते हैं,[1] जो कि मोग्गलिपुत्त तिस्सके समय तक मौजूद थे—अर्थात् उसका इतना ही भाग मोग्गलिपुत्तका बनाया हो सकता है। बाकी "कथावत्थु" अशोकके बादके निम्न आठ निकायोंसे संबंध रखती है—

(१) अन्धक, (२) अपरशैलीय, (३) पूर्वशैलीय, (४) राजगिरिक, (५) सिद्धार्थक, (६) वैपुल्यवाद, (७) उत्तरापथक, (८) हेतुवाद।

२. बौद्ध दार्शनिक संप्रदाय—इन पुराने निकायोंके दार्शनिक विचारोंमें जानेकी जरूरत नहीं, क्योंकि वह "दिग्दर्शन"के कलेवरसे बाहरकी बात है, किन्तु इतना स्मरण रखना चाहिए कि बौद्धोंके जो चार दार्शनिक संप्रदाय प्रसिद्ध हैं, उनमें (१) सर्वास्तिवाद और (२) सौत्रान्तिक दर्शन तो पुराने अठारह निकायोंसे संबंध रखते थे, बाकी (३) योगाचार और (४) माध्यमिक अठारह निकायोंसे बहुत पीछे ईसाकी पहिली सदीमें आदिम रूपमें आए। इनके विकासके क्रमके बारेमें हम "महायान बौद्ध धर्मकी उत्पत्ति"[1]में लिख चुके हैं। महासांघिकोंमें

---

[1] **देखो वहीं, पृ० १२६, टिप्पणी भी।**

एक निकायका नाम था **चैत्यवाद**, जिनका केन्द्र आन्ध्र-साम्राज्यमें धान्यकटकका महाचैत्य (=महास्तूप) था, इसीसे इनका नाम ही चैत्यवादी पड़ा। आन्ध्र साम्राज्यके पच्छिमी भाग (वर्त्तमान महाराष्ट्र) में साम्मितीय निकायका जोर था। इन्हीं दोनों निकायोंसे आगे चलकर महायानका विकास निम्न प्रकार हुआ—[1]

ई० पू० ३ सदी   साम्मितीय = चैत्यवादी (महासांघिक)

अन्धक (=आन्ध्रवाले)

ई० पू० १ सदी   वैपुल्य   पूर्वशैलीय   अपरशैलीय   राजगिरिक   सिद्धार्थक

ईसवी १ सदी   महायान

योगाचारका जबर्दस्त समर्थक 'लंकावतार-सूत्र' वैपुल्यवादी पिटकसे संबंध रखता है। नागार्जुनके माध्यमिक (=शून्य) वादके समर्थनमें प्रज्ञापारमिताएं तथा दूसरे सूत्र रचे गये, किन्तु नागार्जुनको अपने दर्शनकी पुष्टिके लिए इनकी जरूरत न थी, उन्होंने तो अपने दर्शनको **प्रतीत्य-समुत्पाद** (-विच्छिन्न=प्रवाहरूपेण उत्पत्ति) पर आधारित किया था।

कथावत्थुके 'अर्वाचीन' निकायोंमें हमने उत्तरापथक और हेतुवाद-का भी नाम पढ़ा है। **उत्तरापथक** कश्मीर-गंधारका निकाय था, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु **हेतुवादके** स्थानके बारेमें हमें मालूम नहीं। [illegible] विज्ञानवादको प्रतीत्य-समुत्पादसे जोड़ देनेपर वह आसानीसे योगाचार विज्ञानवाद बन जाता है, किन्तु अभी हमारे पास इससे अधिक प्रमाण नहीं है, कि उसके दार्शनिक असंगका जन्म और कर्म स्थान पेशावर (गंधार) था। नागार्जुनके बाद बौद्धदर्शनके विकासमें सबसे जबर्दस्त हाथ असंग और वसु-

[1] वहीं, पृ० १२७

बंधु इन दो पठान-भाइयोंका था। नागार्जुनसे एक शताब्दी पहिलेके जबर्दस्त बौद्ध विचारक अश्वघोषको यदि हम लें, तो उनका भी कर्मक्षेत्र पेशावर (गंधार) ही मालूम होता है। इससे भी बौद्ध दर्शनपर यूनानी प्रभावका पड़ना जरूरी मालूम होता है। अश्वघोषको महायानी अपने आचार्योंमें शामिल करते हैं, और इसके सबूतमें "महायानश्रद्धोत्पाद" ग्रंथको उनकी कृतिके तौरपर पेश करते हैं; किन्तु जिन्होंने "बुद्धचरित", "सौन्दरानंद", "शारिपुत्र-प्रकरण" जैसे काव्य नाटकोंको पढ़ा है, तिब्बती भाषामें अनूदित उनके सर्वास्तिवादी सूत्रोंपर व्याख्याएं देखी हैं, और जो "सर्वास्तिवादी आचार्यों"को चैत्य बनाकर अर्पित करनेवाले तथा त्रिपिटककी व्याख्या ("विभाषा")के लिए सर्वास्तिवादी आचार्योंकी परिषद् बुलानेवाले महाराज कनिष्कपर विचार करते हैं, वह अश्वघोषको सर्वास्तिवादी[1] स्थविर छोड़ दूसरा कह नहीं सकते।

अस्तु, यूनानी तथा शक-कालके इन बौद्ध प्राचीन निकायोंपर यदि और रोशनी डाली जा सके, तो हमें तर्कके नहीं भारतीय दर्शनके एक भारी विकासके इतिहासके बारेमें बहुत कुछ मालूम हो सकेगा। किन्तु, चीनी तिब्बती अनुवाद, तथा गांधारकी मरुभूमि हमारी इस विषयमें कितनी मदद कर सकती हैं, यह आगेके अनुसन्धानके विषय हैं। अभी हमें इससे ज्यादा नहीं कहना है कि भारतीय और यूनानी विचारधाराका जो समागम गंधारमें हो रहा था, उसमें अश्वघोष अपने आर्यानिक ढंगके काव्यों और नाटकोंका ही नहीं बल्कि नवीन दर्शनका भी यूनानसे मिलानेवाली कड़ी थे। उनसे किसी तरह नागार्जुनका संबंध हुआ। फिर नागार्जुनने वह दर्शन-चक्रप्रवर्तन किया, जिसने भारतीय दर्शनोंको एक अभिनव सूक्ष्मविश्लेषण रूप दिया।

[1] पोड-लड् (तिब्बत)में सुरक्षित एक संस्कृत ताल-पत्रकी पुस्तककी पुष्पिकामें अश्वघोषको सर्वास्तिवादी भिक्षु भी लिखा मिला है। (देखो J.B.O.R.S.में मेरे प्रकाशित सूचीपत्रोंको)।

३. नागार्जुन (१७५ ई०)का शून्यवाद

(१) जीवनी—नागार्जुनका जन्म विदर्भ (=बरार)में एक ब्राह्मणके घर हुआ था। उनके बाल्यके बारेमें हम अनुमान कर सकते हैं, कि वह एक प्रतिभाशाली विद्यार्थी थे, ब्राह्मणोंके ग्रंथोंका गम्भीर अध्ययन किया था। भिक्षु बननेपर उन्होंने बौद्ध ग्रंथोंका भी उसी गंभीरताके साथ अध्ययन किया। आगे चलकर उन्होंने श्रीपर्वत (=नागार्जुनी-कोंडा, गुन्टूर)को अपना निवास-स्थान बनाया; जो कि उनकी ख्याति, तथा समय बीतनेके साथ गढ़े जानेवाले पँवारोंके कारण सिद्ध-स्थान बन गया। नागार्जुन वैद्यक और रसायन शास्त्रके भी आचार्य बतलाये जाते हैं। उनका "अष्टांगहृदय" अब भी तिब्बतके वैद्योंकी सबसे प्रामाणिक पुस्तक है। किन्तु नागार्जुनकी सिद्धाई तथा तंत्र-मंत्रके बनाने बढ़ानेकी बातें जो हमें पीछेके बौद्ध साहित्यमें मिलती हैं, उनसे हमारे दार्शनिक नागार्जुनका कोई संबंध नहीं।

नागार्जुन आन्ध्रराजा गौतमीपुत्र यज्ञश्री (१६६-१९६ ई०)के सम-कालीन थे विन्टर्निट्ज़[1]का यह मत युक्तियुक्त मालूम होता है।

नागार्जुनके नामसे वैसे बहुतसे ग्रंथ प्रसिद्ध हैं किन्तु उनकी असली कृतियाँ हैं—

(१) माध्यमिककारिका, (२) युक्तिषष्टिका, (३) प्रमाणविध्वंसन, (४) उपायकौशल्य, (५) विग्रहव्यावर्तनी[2]।

इनमें सिर्फ दो—पहिली और पाँचवीं ही मूल संस्कृतमें उपलब्ध हैं।

(२) दार्शनिक विचार—नागार्जुनने **विग्रह व्यावर्तनी**में विरोधी तर्कोंका खंडन करके कान्टके **वस्तु-सार**के उलटे वस्तु-शून्यता—वस्तुओंके

---

[1] History of Indian literature, Vol. II, pp. 346-48.

[2] Journal of the Bihar and Orissa Research Society, Patna, Vol. XXIII में मेरे द्वारा संपादित।

भीतर कोई स्थिर तत्त्व नहीं, वह विच्छिन्न प्रवाह मात्र है—सिद्धि की है।

(क) शून्यता—नागार्जुनको कारिका शैलीका प्रवर्त्तक कहा जाता है। कारिकामें पद्यकी-सी स्मरण करने, तथा सूत्रकी भाँति अधिक बातोंको थोड़े शब्दोंमें कहनेकी सुविधा होती है। कमसे कम नागार्जुनके तीन ग्रंथ (१, २, ५) कारिकाओंमें ही हैं। "विग्रहव्यावर्त्तनी" में ७२ कारिकाएं हैं, जिनमें अन्तिम दो माहात्म्य और नमस्कार श्लोक हैं, इसलिए मूलग्रंथ सत्तर ही कारिकाओंका हुआ। वह शून्यतापर है, इसलिए जान पड़ता है विग्रह-व्यावर्त्तनका ही दूसरा नाम "शून्यता सप्तति" है। इन कारिकाओंपर आचार्यने स्वयं सरल व्याख्या की है।

नागार्जुनने ग्रंथके आदिमें नमस्कार श्लोक और ग्रंथ-प्रयोजन नहीं दिया है, जो कि पीछेके बौद्ध अबौद्ध ग्रंथोंमें सर्वमान्य परिपाटी सी बन गई देखी जाती है। नागार्जुनने ७१वीं कारिकामें शून्यताका माहात्म्य बतलाते हुए लिखा है—

"जो इस शून्यताको समझ सकता है, वह सभी अर्थोंको समझ सकता है।
जो शून्यताको नहीं समझता, वह कुछ भी नहीं समझ सकता ॥"[1]

इसकी व्याख्यामें आचार्यने बतलाया है, कि जो शून्यताको समझता है, वह प्रतीत्य-समुत्पाद (=विच्छिन्न प्रवाहके तौरपर उत्पत्ति)को समझ सकता है, प्रतीत्य-समुत्पाद समझनेवाला चारों आर्यसत्योंको समझ सकता है। चारों सत्योंके समझनेपर उसे तृष्णा-निरोध (=निर्वाण) आदि पदार्थोंकी प्राप्ति हो सकती है। प्रतीत्य-समुत्पाद जाननेवाला जान सकता है कि क्या धर्म है, क्या धर्मका हेतु और क्या धर्मका फल है। वह जान सकता है कि अधर्म, अधर्म-हेतु, अधर्म-फल क्या है, क्लेश (चित्तमल), क्लेश-हेतु, क्लेश-वस्तु क्या है। जिसे यह सब मालूम है, वह जान सकता है कि क्या है सुगति या दुर्गति, क्या है सुगति-दुर्गतिमें जाना, क्या है सुगति-

[1] "प्रभवति च शून्यतेयं यस्य प्रभवन्ति तस्य सर्वार्थाः।
प्रभवति न तस्य किंचित् न भवति शून्यता यस्य ॥"

दुर्गतिमें जानेका मार्ग क्या है सुगति-दुर्गतिसे निकलना तथा उसका उपाय।

शून्यतासे नागार्जुनका अर्थ है, प्रतीत्य-समुत्पाद[1]—विश्व और उसकी सारी जड़-चेतन वस्तुएं किसी भी स्थिर अचल तत्त्व (=आत्मा, द्रव्य आदि) से बिलकुल शून्य हैं। अर्थात् विश्व घटनाएं हैं, वस्तु समूह नहीं। आचार्यने अपने ग्रंथकी पहिली बीस कारिकाओंमें पूर्वपक्षीके आक्षेपोंको दिया है, और ग्रंथके उत्तरार्द्धमें उसका उत्तर देते हुए शून्यताका समर्थन किया है। संक्षेपमें उनकी तर्कप्रणाली इस प्रकार है—

पूर्वपक्ष—(१) वस्तुमात्रसे इन्कार—अर्थात् शून्यवाद ठीक नहीं है, क्योंकि (i) जिन शब्दोंको तुम युक्तिके तौरपर इस्तेमाल करते हो, वह भी शून्य—अ-सार—होंगे; (ii) यदि नहीं, तो तुम्हारी पहिली बात—सभी वस्तुएं शून्य हैं—झूठी पड़ेगी, (iii) शून्यताको सिद्ध करनेकेलिए कोई प्रमाण नहीं है।

(२) सभी भाव (=वस्तुएं) वास्तविक हैं; क्योंकि, (i) अच्छे बुरेके भेदको सभी स्वीकार करते हैं; (ii) जो वस्तु है नहीं उसका नाम भी नहीं मिलता; (iii) वास्तविकताका प्रतिषेध युक्तिसिद्ध नहीं; (iv) प्रतिषेध्यको भी सिद्ध नहीं किया जा सकता।

उत्तरपक्ष—(१) सभी भावों (=सत्ताओं) की शून्यता या प्रतीत्य-समुत्पाद (=विच्छिन्न प्रवाहके रूपमें उत्पत्ति) सिद्ध है; क्योंकि, (i) विश्वकी अवास्तविकताका स्वीकार, शून्यता सिद्धान्तके विरुद्ध नहीं है; (ii) इसलिए वह हमारी प्रतिज्ञाके विरुद्ध नहीं, (iii) जिन प्रमाणोंसे भावोंकी वास्तविकता सिद्ध की जा सकती है, उन्हींको सिद्ध नहीं किया जा सकता—(a) न प्रमाण दूसरे प्रमाणसे सिद्ध किया जा सकता क्योंकि ऐसी अवस्था

[1] विग्रहव्यावर्त्तनी २२—"इह हि यः प्रतीत्य भावानां भावः सा शून्यता। कस्मात्? निःस्वभावत्वात्। ये हि प्रतीत्य समुत्पन्ना भावास्ते न सस्वभावा भवन्ति स्वभावाभावात्। कस्मात्? हेतुप्रत्ययापेक्षत्वात्। यदि हि स्वभावतो भावा भवेयुः। प्रत्याख्यायापि हेतुप्रत्ययं भवेयुः।"

न वह प्रमाण नहीं प्रमेय (=जिसे अभी प्रमाणसे सिद्ध करना है) हो जायगा; (b) वह आगकी भाँति अपनेको सिद्ध कर सकता है; (c) न वह प्रमेयसे सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि प्रमेय तो खुद ही सिद्ध नहीं साध्य है; (d) न वह संयोग (=इत्तिफाक)से सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि संयोग कोई प्रमाण नहीं है।

(२) भावों (=सत्ताओं)की शून्यता सत्य है; क्योंकि (i) यह अच्छे बुरेके भेदके खिलाफ नहीं है; वह भेद तो स्वयं प्रतीत्य-समुत्पादके कारण ही है। यदि प्रतीत्य समुत्पादके आधारपर नहीं बल्कि स्वतः परमार्थरूपेण अच्छे बुरेका भेद हो, तो वह अचल एकरस है, फिर ब्रह्मचर्य आदिके अनुष्ठान द्वारा इच्छानुकूल उसे बदला नहीं जा सकता, (ii) शून्यता होनेपर नाम नहीं हो सकता यह भी ख्याल गलत है; क्योंकि नामको हम सद्भूत नहीं असद्भूत मानते हैं। सत् (=स्थिर, अविकारी, वस्तुसार)का ही नाम हो, अ-सत्का नहीं यह कोई नियम नहीं; (iii) प्रतिषेध नहीं सिद्ध किया जा सकता यह कहना गलत है, क्योंकि अप्रतिषेधको सिद्ध करनेके लिए प्रमाण आदिकी जरूरत पड़ेगी।

अक्षपादके न्यायसूत्रका प्रमाण-सिद्धि प्रकरण तथा विग्रह-व्यावर्त्तनी एक ही विषयके पक्ष प्रति-पक्ष हैं। हम अन्यत्र[1] बतला चुके हैं, कि अक्षपादने अपने न्यायसूत्रमें नागार्जुनके उपरोक्त मतका खंडन किया है।

प्रस्तावको समाप्त करते हुए नागार्जुनने कहा है—

"जिसने शून्यता प्रतीत्य-समुत्पाद और अनेक-अर्थवाली मध्यमा प्रति-पद (=बीचके मार्ग)को कहा, उस अप्रतिम बुद्धको प्रणाम करता हूँ।"[2]

[1] विग्रहव्यावर्त्तनीकी भूमिका (Preface)में हम बतला आये हैं कि अक्षपादने नागार्जुनके इसी मतका खंडन किया है।

[2] वि० व्या० ७२—

"यः शून्यतां प्रतीत्यसमुत्पादं मध्यमां प्रतिपदमनेकार्थाम्।
निजगाद प्रणमामि तमप्रतिमसंबुद्धम्॥"

प्रमाण-विध्वंसनमें नागार्जुनने प्रमाणवादका खंडन किया है, नागार्जुन प्रमाणवादका खंडन करते भी परमार्थके अर्थमें ही उसका खंडन करते हैं, व्यवहार-सत्यमें वह उससे इन्कार नहीं करते। लेकिन प्रमाण जैसा प्रबल खंडन उन्होंने अपने ग्रंथोंमें किया, उसका परिणाम यह हुआ कि माध्यमिक दर्शन व्यवहार-सत्यवादी वस्तुस्थितिप्रतिपादक दर्शन होनेकी जगह सर्वध्वंसक नास्तिवाद बन गया[1]। "प्रमाण-विध्वंसन"में अक्षपादकी तरह ही प्रमाण, प्रमेय आदि अठारह पदार्थोंका संक्षिप्त वर्णन है। इसी तरह **उपाय-कौशल्य**में भी शास्त्रार्थ-संबंधी बातों—निग्रह-स्थान, **जाति आदि**—के बारेमें कहा गया है, जोकि हमें अक्षपादके सूत्रोंमें भी मिलता है। उपाय-कौशल्यका अनुवाद चीनी-भाषामें ४७२ ई० में हुआ था। इसके बारेमें हम यही कह सकते हैं कि अनुवादकोंमेंसे किसीने दूसरेके ग्रंथसे लेकर इसे अपने आचार्यके ग्रंथमें जोड़ दिया है।

(b) **माध्यमिक-कारिकाके विचार**—दर्शनकी दृष्टिसे नागार्जुनकी कृतियोंमें **विग्रह-व्यावर्त्तनी** और **माध्यमिक-कारिका**का ही स्थान ऊँचा है। नागार्जुनका शून्यतासे अभिप्राय है, प्रतीत्य-समुत्पाद, यह हम "विग्रह-व्यावर्त्तनी"में देख आये हैं। नागार्जुन प्रतीत्य-समुत्पादके दो अर्थ लेते हैं—(१) प्रत्यय (=हेतु या कारण)से उत्पत्ति, "सभी वस्तुएँ प्रतीत्य समुत्पन्न हैं" का अर्थ है, सभी वस्तुएँ अपनी उत्पत्तिमें=अपनी सत्ताको पानेकेलिए दूसरे प्रत्यय या हेतुपर आश्रित (=पराश्रित) हैं। (२) प्रतीत्य-समुत्पादका दूसरा अर्थ क्षणिकता है सभी वस्तु क्षणके बाद नष्ट हो जाती हैं, और उसके बाद दूसरी नई वस्तु या घटना क्षण भरके लिए आती है, अर्थात् उत्पत्ति विच्छिन्न-प्रवाह सी है। प्रतीत्य-समुत्पादको ही मध्यम-मार्ग कहा जाता है, यह कह चुके हैं, और यह भी कि बुद्ध न आत्मवादी थे न भौतिकवादी, बल्कि उनका रास्ता इन दोनोंके बीचका (=मध्यम-मार्ग) था—वह "विच्छिन्न प्रवाह"को मानते थे।

---

[1] **सर्वदर्शन-संग्रह, बौद्ध-दर्शन।**

*आत्मवादियोंकी सतत विद्यमानताके विरुद्ध उन्होंने विच्छिन्न या प्रतीत्य-को रखा, और भौतिकवादियोंके सर्वथा उच्छेद (=विनाश)के विरुद्ध प्रवाहको रखा।

पराश्रित उत्पादके अर्थको लेकर नागार्जुन साबित करना चाहते हैं, कि जिसकी उत्पत्ति, स्थिति या विनाश है, उसकी परमार्थ सत्ता कभी नहीं मानी जा सकती।

माध्यमिक दर्शन वस्तुसत्ता के परमार्थ रूपपर विचार करते हुए कहता है—

"न सत् है, न अ-सत् है, न सत्-और-अ-सत् दोनों है, न सत्-असत्-दोनों नहीं है।"

"कारक है, यह कर्मके निमित्त (=प्रत्यय)से ही कह सकते हैं, कर्म है यह कारकके निमित्तसे; यह छोड़ दूसरा (सत्ताकी) सिद्धिका कारण हम नहीं देखते हैं।"[1]

इस प्रकार कारक और कर्मकी सत्यता अन्योन्याश्रित है, अर्थात् स्वतंत्र रूपसे दोनोंमें एककी भी सत्ता सिद्ध नहीं है। फिर स्वयं असिद्ध वस्तु दूसरेको क्या सिद्ध करेगी? इसी न्यायको लेकर नागार्जुन कहते हैं, कि किसीकी सत्ता नहीं सिद्ध की जा सकती—सत्ता और असत्ता भी इसी तरह एक दूसरेपर आश्रित हैं, इसलिए वे अलग-अलग, दोनों या दोनोंके रूपमें भी नहीं सिद्ध किये जा सकते।

कर्ता और कर्मका निषेध करते हुए नागार्जुन फिर कहते हैं—

"सत्-रूप कारक सत्-रूप कर्मको नहीं करता, (क्योंकि) सत्-रूपसे क्रिया नहीं होती, अतः कर्मका कर्ताकी जरूरत नहीं।

सद्-रूपकेलिए क्रिया नहीं, अतः कर्ताको कर्मकी जरूरत नहीं।"[2]

इस प्रकार परस्पराश्रित सत्तावाली वस्तुओंमें कर्ता, कर्म, कारण, क्रियाको सिद्ध नहीं किया जा सकता।

---

[1] माध्यमिक-कारिका ६२ [2] वहीं ५८, ५९

"कहीं भी कोई सत्ता न स्वतः है, न परतः, न स्वतः परतः दोनों, और न बिना हेतुके ही है।"[१]

कार्य कारण संबंधका खंडन करते हुए नागार्जुनने लिखा है—

"यदि पदार्थ सत् है, तो उसके लिए प्रत्यय (=कारण)की जरूरत नहीं। यदि अ-सत् है तो भी उसके लिए प्रत्ययकी जरूरत नहीं।

(गदहेके सींगकी भाँति) अ-सत् पदार्थके लिए प्रत्ययकी क्या जरूरत?

सत् पदार्थको (अपनी सत्ताके लिए) प्रत्ययकी क्या जरूरत?"[२]

उत्पत्ति, स्थिति और विनाशको सिद्ध करनेके लिए कार्य-कारण, सत्ता-असत्ता आदिके विवेचनमें पड़कर आखिर हमें यही मालूम होता है कि वह परस्पराश्रित है; ऐसी अवस्थामें उन्हें सिद्ध नहीं किया जा सकता। बौद्ध-दर्शनमें पदार्थोंको संस्कृत(=कृत) और अ-संस्कृत (अ-कृत) दो भागोंमें बाँटकर सारी सत्ताओंको संस्कृत और निर्वाणको असंस्कृत कहा गया है। नागार्जुनने इस संस्कृत असंस्कृत विभागपर प्रहार करते हुए कहा है—

"उत्पत्ति-स्थिति-विनाशके सिद्ध होनेपर संस्कृत नहीं (सिद्ध) होगा। संस्कृतके सिद्ध हुए बिना अ-संस्कृत कैसे सिद्ध होगा।"[३]

जगत् और उसके पदार्थोंकी मरुमरीचिका बतलाते हुए नागार्जुनने लिखा है—

"(गंधर्वनगरकी) लहरको पानी समझकर भी यदि वहाँ जाकर पुरुष 'यह जल नहीं है' समझे तो वह मूढ़ है। इसी तरह मरीचि समान (इस) लोकको 'है' समझनेवालेका नहीं है, यह मोह भी मोह होनेसे युक्त नहीं है।"

जिस तरह पराश्रित उत्पाद (=प्रतीत्य-समुत्पाद) होनेसे किसी वस्तुको सिद्ध, असिद्ध, सिद्ध-असिद्ध, न-सिद्ध-न-अ-सिद्ध नहीं किया जा सकता, उसी तरह प्रतीत्य-समुत्पादका अर्थ विच्छिन्न प्रवाह रूपमें उत्पाद लेनेपर वही

[१] मध्य० का० ८ [२] वहीं २२ [३] वहीं ५६ [४] वहीं ५६

भी कार्य, कारण, कर्म, कर्त्ता आदि व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि उनमेंसे एक वस्तु दूसरेके बिलकुल उच्छिन्न हो जानेपर अस्तित्वमें आती है।

(ग) शिक्षायें—आन्ध्रवंशी राजाओंकी पदवी शातवाहन (शालिवाहन[1] भी) होती थी। तत्कालीन शातवाहन राजा (यज्ञश्री गौतमी पुत्र) नागार्जुनका "सुहृद्" था। वह सुहृद् राजा साधारण नहीं भारी राजा था, यह नागार्जुनसे चार सदी बाद हुये बाणके **हर्षचरित**के इस वाक्यसे पता लगता है—"नागार्जुन नामक भिक्षुने उस एकावली (हार)को नागराजसे मांगा और पाया भी। (फिर) उसे (अपने) **सुहृद्** तीन समुद्रोंके स्वामी शातवाहन नामक नरेन्द्रको दिया।[2]"

यहाँ शातवाहनको तीनों समुद्रों (अरब सागर, दक्षिण-भारत सागर, बंग-खाड़ी)का स्वामी तथा नागार्जुनका सुहृद् बतलाया गया है। नागार्जुन जैसा प्रतिभाशाली विद्वान् जिसके राज्य (=विदर्भ)में पैदा हुआ तथा रहता हो, वह उससे क्यों नहीं सौहार्द प्रदर्शन करेगा? नागार्जुनने अपने सुहृद् शातवाहन राजाको एक शिक्षापूर्ण पत्र "सुहृद्-लेख" लिखा था, जिसका अनुवाद तिब्बती तथा चीनी दोनों भाषाओंमें अब भी सुरक्षित है। उस लेखमें नागार्जुनने जो शिक्षायें अपने सुहृद्को दी हैं, उनमेंसे कुछ इस प्रकार हैं—

"(१) धनकी चंचल और असार समझ धर्मानुसार उसे भिक्षुओं, ब्राह्मणों, गरीबों और मित्रोंको दो। दानसे बढ़कर दूसरा मित्र नहीं है।"

[1] पैठन राजपूत अपनेको सालवाहन वंशज तथा पैठन नगरसे आया बतलाते हैं। पैठन या प्रतिष्ठान (हैदराबाद रियासत) नगर शातवाहन राजाओंकी राजधानी थी।

[2] "... तामेकावली ... तस्मान्नागराजात् नागार्जुनो नाम ... भिक्षुरभिक्षत लेभे च। ... त्रिसमुद्राधिपतये शातवाहननाम्ने नरेन्द्राय सुहृदे स ददौ ताम्।"

—हर्षचरित ७

"७. निर्दोष, उत्तम, अमिश्रित, निष्कलंक, शील (=सदाचार) को (कार्यरूपमें) प्रकट करो; सभी प्रभुताओंका आधार शील है, जैसे कि चराचरका आधार धरती है।

"२१. दूसरेकी स्त्रीपर नजर न दौड़ाओ, यदि देखो तो आयुके अनुसार उसे मा, बहिन या बेटीकी तरह समझो।

"२९. तुम जगको जानते हो; संसारकी आठ स्थितियों—लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा—में समान भाव रखो, क्योंकि वह तुम्हारे विचारके विषय नहीं हैं।

"३७. किन्तु उस एक स्त्री (अपनी पत्नी) को परिवारकी अधिष्ठात्री देवीकी भाँति सम्मान करना, जो कि बहिनकी भाँति मंजुल, मित्रकी भाँति विजयिनी, माताकी भाँति हितैषिणी, सेवककी भाँति आज्ञाकारिणी है।

"४९. यदि तुम मानते हो कि 'मैं रूप (=भौतिकतत्त्व) नहीं हूँ', तो इससे तुम समझ जाओगे कि रूप आत्मा नहीं है, आत्मा रूपमें नहीं है, रूप आत्मा (=मेरे) में नहीं बसता। इसी तरह दूसरे (वेदना आदि) चार स्कंधोंके बारेमें भी जानोगे।

"५०. ये स्कंध न इच्छासे, न कालसे, न प्रकृतिसे, न स्वभावसे, न ईश्वरसे, और न बिना हेतुके पैदा होते हैं, समझो कि वे **अविद्या और तृष्णासे** उत्पन्न होते हैं।

"५१. जानो कि धार्मिक क्रिया-कर्म (=शीलव्रतपरामर्श) झूठा दर्शन (=सत्कायदृष्टि) और संशय (विचिकित्सा) में आसक्ति तीन बेड़ियाँ (=संयोजन)[1] है। ..."

नागार्जुनका दर्शन—शून्यवाद—वास्तविकताका अपलाप करता है। दुनियाको शून्य मानकर उसकी समस्याओंके अस्तित्वसे इनकार करनेके लिए इससे बढ़कर दर्शन नहीं मिलेगा? इसीलिए आश्चर्य

---

[1] **देखो संगीति-परियायसुत्त (दी० नि०, ३।१०) "बुद्धचर्या", पृष्ठ ५९०**

नहीं, यदि ऐसा दार्शनिक सम्राट् यशश्री गौतमीपुत्रका घनिष्ट मित्र (=सुहृद्) था।

४—योगाचार और दूसरे बौद्ध-दर्शन

माध्यमिक और योगाचार महायानसे संबंध रखनेवाले दर्शन हैं, जब कि सर्वास्तिवाद और सौत्रान्तिक हीनयान (=स्थविरवाद) से संबंध रखते हैं। इन चारों बौद्ध दर्शनोंको यदि आकाशसे धरतीकी ओर लायें तो वह इस प्रकार मालूम होते हैं—

वाद	नाम	आचार्य
१. शून्यवाद	माध्यमिक	नागार्जुन, आर्यदेव, चंद्रकीर्ति, भाव्य, बुद्धपालित
२. विज्ञानवाद	योगाचार	असंग, वसुबंधु, दिङ्-नाग, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित
३. बाह्य-अर्थवाद	सौत्रान्तिक	
४. बाह्य-आभ्यन्तर-अर्थवाद	सर्वास्तिवाद	संघभद्र, वसुबंधु (का अभिधर्मकोश)

योगाचार-दर्शनके मूल बीज वैपुल्यसूत्रोंमें मिलते हैं। उसके लंकावतार, सन्धि-निर्मोचन, आदि सब बाह्य जगत्के अस्तित्वसे इन्कार करते हुए विज्ञान (=अभौतिक तत्त्व, मन) को एकमात्र पदार्थ मानते हैं। "जो क्षणिक नहीं वह सत् ही नहीं" इस सूत्रका अपवाद बौद्धदर्शनमें हो नहीं सकता, इसलिए योगाचार विज्ञान भी क्षणिक है। दूसरी कितनीही विचार-धाराओंकी भाँति योगाचारके प्रथम प्रवर्तकके बारेमें भी हमें कुछ नहीं मालूम है। चौथी सदी तक यह दर्शन जिस किसी तरह चलता रहा, किन्तु चौथी सदीके उत्तरार्द्धमें असंग और वसुबंधु दो दार्शनिक भाई पेशावरमें पैदा हुए, जिनके प्रौढ़ ग्रंथोंके कारण यह दर्शन अत्यन्त प्रबल और प्रसिद्ध हो गया।

योगाचार योगावचर (=योगी) शब्दसे निकला है, जो कि पुराने पिटकमें भी मिलता है, किन्तु वहाँ यह दार्शनिक सम्प्रदायके नामके तौर

पर प्रयुक्त होता है। इस नामके पड़नेका एक कारण यह भी है कि योगाचार दर्शन-प्रतिपादक आर्य असंगका मौलिक महान् ग्रंथ "योगाचारभूमि"[1] है। असंगके बारेमें हम आगे कहेंगे। यहाँ नागार्जुन और उनसे पहिले जैसा विज्ञानवाद माना जाता था और जिसपर गंधार-प्रवासी यूनानियों द्वारा अफलातूनी दर्शनका प्रभाव जरूर पड़ा था, उसके बारेमें कुछ कहते हैं।

"**आलय-विज्ञान** (समुद्र)में प्रवृत्तिविज्ञानकी तरंग उत्पन्न होती है।"[2]

विश्वके मूल तत्त्वको इस दर्शनकी परिभाषामें आलयविज्ञान कहा गया है। विज्ञान-समुद्रमें जो पाँचों इन्द्रियों और मनके—ये छै विज्ञान उत्पन्न होते हैं, उन्हें **प्रवृत्ति-विज्ञान** कहते हैं।—

"जैसे पवन-रूपी प्रत्यय (=हेतु)से प्रेरित हो समुद्रमें नाचती हुई तरंगें पैदा होती हैं, और उनके (प्रवाहका) विच्छेद नहीं होता। उसी तरह विषय-रूपी पवनसे प्रेरित चित्र-विचित्र नाचती हुई विज्ञान-तरंगोंके साथ **आलय** समुद्र सदा क्रियापरायण रहता है।"[3]

अर्थात् भीतरी जो पदार्थ (=अभौतिक विज्ञान) पदार्थ है, यही बाहरकी तरह दिखलाई पड़ता है। स्कंध, प्रत्यय (=हेतु), अणु, भौतिक तत्त्व सभी विज्ञान मात्र हैं। यह **आलयविज्ञान** भी प्रतीत्य-समुत्पन्न (विच्छिन्न प्रवाहके तौरपर उत्पन्न), क्षण-क्षण परिवर्तनशील है। क्षणिकताके कारण उसे हर वक्त नया रूप धारण करते रहना पड़ता है, जिसके ही कारण यह जगत्-वैचित्र्य है।

सर्वास्तिवादका यही सिद्धान्त है, जिसे हम बुद्धके दर्शनमें बतला आए हैं, वह बाह्य **रूप**, आन्तरिक **विज्ञान** दोनोंकी प्रतीत्य-समुत्पन्न सत्ताको स्वीकार करता है।

सौत्रान्तिक दर्शनको बुद्धके सूत्रान्तों (सूत्रों या उपदेशों)का अनुयायी बतलाते हैं। यह बाह्य विज्ञानवादसे उलटे बाह्यार्थवादी हैं **अर्थात्** क्षणिक **रूप** ही मौलिक तत्त्व है।

---

[1] देखो असंग, पृष्ठ ७०४-३७ [2] **लंकावतारसूत्र** ५१ [3] **वही**

§३—आत्मवादी दर्शन

अनीश्वरवादी दर्शनोंमें चार्वाक और बौद्ध अनात्मवादी हैं, उनके बारेमें हम बतला चुके। दर्शनके इस नवीन युगमें कुछ ऐसे भी भारतीय दर्शन रहे हैं, जो कि ईश्वरपर तो जोर नहीं देते किन्तु आत्माको स्वीकार करते रहे हैं। वैशेषिक ऐसा ही आत्मवादी दर्शन है।

१—परमाणुवादी कणाद (१५० ई०)

क. कणादका काल—वैशेषिक दर्शनके कर्त्ता कणाद थे। ब्राह्मणोंके छै दर्शनोंके कर्त्ताओंकी जीवनी और समयके बारेमें जो घना अंधकार देखा जाता है, वह कणादके बारेमें भी वैसा ही है। कणादके जीवनके बारेमें हम इतना ही जानते हैं, कि वह गिरे हुए दानों (=कणों)को खाकर जीवन यात्रा करते थे, इसीलिए उनका नाम कणाद (=कण-आद) पड़ा; लेकिन यह सूचना शायद ऐतिहासिक स्रोतसे नहीं बल्कि व्याकरणसे किसी व्याख्याके आधार पर है। वैशेषिकका दूसरा नाम औलूक्य दर्शन भी है। वैशेषिकके कर्त्ता या सृष्टिसे उलूक (=उल्लू) पक्षीका क्या संबंध था, यह नहीं कहा जा सकता। कणादका दूसरा नाम उलूक होता यदि वे सरस्वती (=विद्या)के नहीं बल्कि लक्ष्मी (=धन)के स्वामी होते! उल्लू कोई अच्छा पक्षी नहीं, कि माता-पिता या मित्र-सुहृद् इस नामसे कणादको याद करते। उल्लू अथेन्स (यूनान)के पवित्र चिन्होंमें था क्या इस दर्शनका यूनानी दर्शनसे जो घनिष्ट संबंध है, उसे ही तो उलूक शब्द सूचित नहीं करता?

ख. यूनानी दर्शन और वैशेषिक—देवलीकी इस मरुस्थली कारामें जितनी कम सामग्रीके साथ मुझे यह पंक्तियाँ लिखनी पड़ रही हैं, उसकी दिक्कतोंको सहृदय पाठक जान सकते हैं। तो भी यूनानी दार्शनिकोंके मूल मतवादोंकी एकबार तुलना कर फिर कुछ विस्तृत तौरपर लिखनेके ख्यालपर इसे छोड़ देना अच्छा नहीं है; इसलिए यहाँ हम ऐसे कुछ हिन्दू-यवन सिद्धान्तोंके बारेमें लिखते हैं।

a. **परमाणुवाद**—देमोक्रितु (४६०-३७० ई० पू०)का जन्म बुद्धके निर्वाण (४८३ ई० पू०)से २३ साल पीछे हुआ था। यह वह समय है जब कि हमारी दर्शन-सामग्री कुछ पुराने (उपनिषदों), तथा बुद्ध-महावीर आदि तीर्थंकरोंके उपदेशोंपर निर्भर थी। इस सामग्रीमें ढूँढ़नेपर हमें परमाणुके जगत्का मूलतत्त्व होनेकी गंध तक नहीं मिलती। देमोक्रितुने जिस वक्त अविभाज्य, अवेध्य—अ-तोमन्—का सिद्धान्त निकाला, उस वक्त भारतमें उसका बिलकुल ख्याल नहीं था यह स्पष्ट है। देमोक्रितु परमाणुओंको सबसे सूक्ष्म तत्त्व मानता था, किन्तु साथ ही उनके परिमाण है, इसमें इनकार नहीं करता था। कणाद भी परमाणुको सूक्ष्म परिमाणवाला कण समझते हैं। दोनों ही परमाणुओंको सृष्टिके निर्माणकी ईंटें मानते हैं।

b. **सामान्य, विशेष**—पिथागोर (५७०-५०० ई० पू०)ने आकृति-को मूलतत्त्व माना था, क्योंकि भिन्न-भिन्न गायोंके मरनेके बाद भी हर पीढ़ीमें गायकी आकृति मौजूद रहती है। अफलातूँ (४२७-३४७ ई० पू०)ने और आगे बढ़कर बराबर दुहराई जानेवाली आकृतियोंकी जो समानता=सामान्य है, उसपर और जोर दिया, उसके ख्यालमें **विशेष** मूलतत्त्व (=**विज्ञान**)में बिखरे हुए हैं। यह सामान्य विशेषकी कल्पना अफलातूँने पहिले पहिल की थी। यूनानियोंके भारतमें घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करने (३२३ ई० पू०)से पहिलेके भारतीय साहित्यमें इस ख्याल का बिलकुल अभाव है।

c. **द्रव्य, गुण आदि**—कणादने अपने दर्शनमें विश्वके तत्त्वोंको—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय इन छै पदार्थोंमें वर्गीकरण किया है। अफलातूँके शिष्य अरस्तू (३८४–३२२ ई० पू०)ने अपने तर्क-शास्त्रमें आठ और दस पदार्थ माने हैं—द्रव्य, गुण, परिमाण, संबंध, दिशा, काल, आसन, स्थिति, कर्म, परिणाम। द्रव्य, गुण, कर्म, संबंध (समवाय) दोनोंके मतमें समान हैं। दिशा और कालको कणादने द्रव्योंमें गिना है, और परिमाणको गुणोंमें। इस प्रकार हम कह सकते हैं, कि कणादने अरस्तूके पदार्थोंका वर्गीकरण फिरसे किया।

इन बातोंके साथ काल और भारतके यूनानसे घनिष्ट संबंध तथा सांस्कृतिक दानादानको देखते हुए यह आसानीसे समझमें आ सकता है, कि ये सादृश्य आकस्मिक नहीं हैं।

कणादके वैशेषिक दर्शनको बुद्धसे पहिले ले जानेका प्रयास फजूल है, कणादका दर्शन यदि पहिलेसे मौजूद होता, तो बुद्ध तथा दूसरे समकालीन दार्शनिकोंको त्रिपिटक और जैनागमोंकी भाषा-परिभाषाके द्वारा अपने दर्शनोंको न प्रारंभ करनेकी जरूरत थी, और न वह कणादके दर्शनके प्रभावसे अछूते रह सकते थे।

कणादके दर्शनपर बौद्ध दर्शनका कोई प्रभाव नहीं है, यह कहते हुए कितने ही विद्वान् वैशेषिकको बुद्धसे पहिले खींचना चाहते हैं। इसके उत्तरमें हम अभी कह चुके हैं, कि (१) बुद्धके दर्शनमें उसकी गंध तक नहीं है। (२) कणादका दर्शन बौद्ध-दर्शनसे अप्रभावित नहीं है। आत्मा और नित्यताकी सिद्धिपर इतना जोर आखिर किसके प्रहारके उत्तरमें दिया गया है ? यह निश्चय ही बुद्धके अनित्य, अनात्म के विरुद्ध कणादकी दार्शनिक जहाद है। यूनानी दर्शनमें भी हेराक्लितु (५३५-४७५ ई० पू०)के अनित्यतावादके उत्तरमें नित्य **सामान्य**की कल्पना पेश की गई थी, कणाद और उनके अनुयायियोंका शताब्दियों तक उसी **सामान्य**को नित्यताके नमूनेके तौरपर पेश करना, बौद्धोंके अनित्य (=क्षणिक)वादके उत्तरमें ही था और इस तरह वैशेषिक बौद्ध दर्शनसे परिचित नहीं, यह बात गलत है।

नागार्जुनसे कणाद पहिले थे, यद्यपि इसके बारेमें अभी कोई पक्की बात नहीं कही जा सकती, किन्तु जिस तरह हम कणादको नागार्जुनके **प्रमाण-विध्वंसन**के बारेमें चुप देखते हैं, उससे यही कहना पड़ता है, कि शायद कणादको नागार्जुनके विचार नहीं मालूम थे।

ग. वैशेषिकसूत्रोंका संक्षेप—कणादने अपने ग्रंथ—वैशेषिक सूत्र—को दस अध्यायोंमें लिखा है, हर एक अध्यायमें दो-दो आह्निक हैं। अध्यायों और आह्निकोंके प्रतिपाद्य विषय निम्न प्रकार हैं—

१ अध्याय		पदार्थ-कथन
	१ आह्निक	सामान्य (=जाति) वान्
	२ आह्निक	सामान्य, विशेष
२ अध्याय		द्रव्य
	१ आह्निक	पृथिवी आदि भूत
	२ आह्निक	दिशा, काल
३ अध्याय		आत्मा, मन
	१ आह्निक	आत्मा
	२ आह्निक	मन
४ अध्याय		शरीर आदि
	१ आह्निक	कार्य-कारण-भाव आदि
	२ आह्निक	शरीर (पार्थिव, जलीय . . . .नित्य. .)
५ अध्याय		कर्म
	१ आह्निक	शारीरिक कर्म
	२ आह्निक	मानसिक कर्म
६ अध्याय		धर्म
	१ आह्निक	दान आदि धर्मोंकी विवेचना
	२ आह्निक	धर्मानुष्ठान
७ अध्याय		गुण समवाय
	१ आह्निक	निरपेक्ष गुण
	२ आह्निक	सापेक्ष गुण
८ अध्याय		प्रत्यक्ष प्रमाण
	१ आह्निक	कल्पना-सहित प्रत्यक्ष
	२ आह्निक	कल्पना-रहित प्रत्यक्ष
९ अध्याय		अभाव, हेतु
	१ आह्निक	अभाव
	२ आह्निक	हेतु

१० अध्याय   अनुमानके भेद

१ आह्निक   ,,

२ आह्निक   ,,

कणादने किस प्रयोजनसे अपने दर्शनकी रचना की, इसे उन्होंने ग्रंथके पहिले सूत्रोंमें साफ कर दिया है[1]—

"अतः अब मैं धर्मका व्याख्यान करता हूँ।"

"जिससे अभ्युदय (=लौकिक सुख) और निःश्रेयस (=पारलौकिक सुख) की सिद्धि होती है, वह धर्म है।"

"उस (=धर्म) को कहनेसे वेद (=आम्नाय) की प्रामाणिकता है।"[2]

घ. धर्म और सदाचार—इसका अर्थ यह है, कि यद्यपि कणादने द्रव्य, गुण, कर्म, प्रत्यक्ष, अनुमान जैसी संसारी वस्तुओं पर ही एक बुद्धिवादीकी दृष्टिसे विवेचना की है, तो भी उस विवेचनाका मुख्य लक्ष्य है धर्मके प्रति होती शंकाओंको लोगोंके दिलोंसे दूर कर फिरसे धर्मकी धाक स्थापित करना। अपने इस दार्शनिक प्रयोजनकी सिद्धि वे दो प्रकारसे करते हैं, एक तो दृष्ट हेतुओंसे—ऐसे हेतुओंसे जिन्हें हम लौकिक दृष्टिसे जान (=देख) सकते हैं, दूसरे वे जिनके लिए दृष्टहेतु पर्याप्त नहीं है और उनके लिए **अदृष्ट**की कल्पना करनी पड़ती है। कणादने अपनेको बुद्धिवादी साबित करते हुए कहा, कि दृष्ट न होनेपर ही अदृष्टकी कल्पना करनी चाहिए, जैसे कि चुम्बक (=अयस्कान्त) की ओर लोहा क्यों खिंचता है, वृक्षके शरीरमें ऊपरकी ओर पानी कैसे चढ़ता है, और चक्कर काटता है, आग क्यों ऊपरकी ओर जाती है, हवा क्यों अगल-बगलमें फैलती है, परमाणुओंमें एक दूसरेके साथ संयोग करनेकी प्रवृत्ति क्यों होती है। इनके लिए दृष्ट हेतु न मिलनेसे अदृष्टकी कल्पना करनी पड़ती है, इसी तरह जन्मान्तर, गर्भमें जीवका आना आदिके बारेमें दृष्ट हेतु नहीं मिल सकते, वहाँ हमें **अदृष्ट**की कल्पना करनी पड़ेगी। कणादके मतानुसार द्रव्य,

[1] वैशेषिकसूत्र १।१।१-२   [2] वहीं १०।२।६

गुण, कर्म इन तीन पदार्थों तक **दृष्ट** हेतुओंका प्रवेश है, इनसे अन्यत्र अदृष्टका सहारा लेना पड़ता है।

एक बार जब **अदृष्ट**की सल्तनत कायम हो गई, तो फिर उसमें धर्म, रूढ़ि, वर्ग-स्वार्थ सभीको कितना पुष्ट किया जा सकता है; इसे हम कान्ट आदि पाश्चात्य दार्शनिकोंके प्रयत्नोंमें देख चुके हैं। पाँचवें अध्यायके दूसरे आह्निकमें उस समयके अज्ञात कारणवाली कितनी ही भौतिक घटनाओंकी व्याख्या अदृष्ट द्वारा करनेकी कोशिश की गई है। पुरोहितोंके कितने ही यज्ञ-यागों, स्नान, ब्रह्मचर्य, गुरुकुलवास, वानप्रस्थ, यज्ञ, दान आदि क्रिया-कर्मोंका जो फल बतलाया जाता है, उसे बुद्धिसे नहीं साबित किया जा सकता, इनके लिए हमें **अदृष्ट**पर वैसे ही विश्वास रखना चाहिए, जैसे कि चुम्बक द्वारा लोहेके खिंचनेपर हमें विश्वास करना पड़ता है।

आहार भी धर्मका अंग है। शुद्ध आहार वह है, जो कि यज्ञ करनेके बाद बच रहता है, जो आहार ऐसा नहीं है वह अशुद्ध है।

ङ. दार्शनिक विचार—इस तरह कणादने धर्मके पुष्ट करनेकी प्रतिज्ञा पूरी करनेकी चेष्टा जरूर की है, किन्तु सारे ग्रंथमें उसकी मात्रा इतनी कम और दलीलें इतनी निर्बल हैं, कि किसी ब्राह्मणको यह कहना ही पड़ा[1]—

> "धर्मं व्याख्यातुकामस्य षट्पदार्थोपवर्णनम्।
> हिमवद्गन्तुकामस्य सागरागमनोपमम्॥"

["धर्मकी व्याख्याकी इच्छा रखनेवाले (कणाद)का छै पदार्थोंका वर्णन वैसा ही है, जैसा हिमालय जानेकी इच्छावालेका समुद्रकी ओर आना।"]

१. **पदार्थ**—अरस्तूने जिस तरह अपने "तर्कशास्त्र"में पदार्थोंको

---

[1] **कलाप-व्याकरणकी कोई पुरानी टीका,**—History of Indian Philosophy, (by S. N. Das-Gupta) **में उद्धृत।**

गिनाया है, उसी तरह कणादने भी विश्वके तत्त्वोंको छै पदार्थों[1]में विभाजित किया है, वे हैं—

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय।

(a) **द्रव्य**—चल विश्वकी तहमें जो अचल या बहुत कुछ अचल तत्त्व हैं, उन्हें कणादने द्रव्य कहा है। जो आज ईंटें, घड़े, सिकोरे हैं, वे कल टूटकर घिसते-घिसते धूलि बन जाते हैं, फिर उन्हें हम ईंटों और बर्तनोंके रूपमें बदल सकते हैं। इन सब तब्दीलियोंमें जो वस्तु एकसी रहती है, वही है पृथिवी द्रव्य। कणादने नौ द्रव्य माने हैं—

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा (=देश) आत्मा और मन।

इनमें पहिले चार अभौतिक तत्त्व, और अपने मूलरूपमें अत्यन्त सूक्ष्म अविभाज्य, अवश्य अनेक परमाणुओंसे मिलकर बने हैं। आकाश, काल, दिशा और आत्मा, अभौतिक, तथा सर्वत्र व्यापी तत्त्व हैं। मन भी अतिसूक्ष्म अभौतिक कण (=अणुपरिमाणवाला) है।

(b) **गुण**—गुण सदा किसी द्रव्यमें रहता है। जैसे—

द्रव्य	विशेषगुण	सामान्य गुण		
१. पृथिवी	गंध	रस, रूप, स्पर्श	संयोग, विभाग	संख्या, परिमाण, पृथक्त्व
२. जल	रस	रस, रूप, स्पर्श, तरलता, स्निग्धता	संयोग, विभाग	संख्या, परिमाण, पृथक्त्व
३. अग्नि	रूप	रूप, स्पर्श	संयोग, विभाग	संख्या, परिमाण, पृथक्त्व
४. वायु	स्पर्श	स्पर्श	संयोग, विभाग	संख्या, परिमाण, पृथक्त्व
५. आकाश	शब्द	शब्द	संयोग, विभाग	संख्या, परिमाण, पृथक्त्व
६. काल			परत्व, अपरत्व	संख्या, परिमाण, पृथक्त्व
७. दिशा			परत्व, अपरत्व	संख्या, परिमाण, पृथक्त्व
८. आत्मा				संख्या, परिमाण, पृथक्त्व

[1] **पीछेके न्याय वैशेषिकने अभावको और जोड़ सात पदार्थ माने हैं।**

कणादने सिर्फ ग्यारह गुण माने थे—

(१) रूप
(२) रस
(३) गंध
(४) स्पर्श (=सर्दी, गर्मी)
(५) संख्या
(६) परिमाण
(७) पृथकत्व (=अलगपन)
(८) संयोग (=जुड़ना)
(९) विभाग
(१०) परत्व (=परे होना)
(११) अपरत्व (=उरे होना)

किन्तु, पीछेके आचार्योंने १३ और बढ़ा गुणोंकी संख्या चौबीस कर दी है—

(१२) बुद्धि (=ज्ञान)
(१३) सुख
(१४) दुःख
(१५) इच्छा
(१६) द्वेष
(१७) प्रयत्न
(१८) गुरुत्व (=भारीपन)
(१९) लघुत्व (=हल्कापन)
(२०) द्रवत्व (=तरलता)
(२१) स्नेह (=[illegible]का गुण)
(२२) संस्कार
(२३) अदृष्ट (=अलौकिक शक्तिमत्ता)
(२४) शब्द

इनमें द्रवत्व, स्नेह और शब्दको कणादने जल और आकाशके गुणोंमें गिना है। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द—विशेष गुण कहे गये हैं, क्योंकि ये पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाशके क्रमशः अपने-अपने विशेष गुण हैं।[1]

(८) **कर्म**—कर्म क्रिया (=गति) को कहते हैं। इसके पांच भेद हैं—

---

[1] "वायो नवैकादश तेजसो गुणा जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दश ।
दिक्-कालयोः पंच षडेव चाम्बरे महेश्वरेऽष्टौ मनसस्तथैव च ॥"

(१) उत्क्षेपण (=ऊपरकी ओर गति)	(४) प्रसारण (=चारों ओर फैलना)
(२) अपक्षेपण (=नीचेकी ओर गति)	(५) गमन (=सामनेकी गति)
(३) आकुंचन (=सिकुड़ना)	

द्रव्य, गुण, और कर्मपर दृष्ट हेतुओंका प्रयोग होता है, यह बतला चुके हैं। इन तीनोंको हम निम्न समान रूपोंमें पाते हैं—

(१) सत्ता (=अस्तित्व)वाले	(४) कार्य
(२) अनित्य	(५) कारण
(३) द्रव्य	(६) सामान्य
	(७) विशेष

गुण और कर्म सदा किसी द्रव्यमें रहते हैं, इसलिए द्रव्यको गुण-कर्मोंका समवायि (=नित्य) कारण कहते हैं। गुण की विशेषता यह है, कि वह किसी दूसरे गुण और कर्ममें नहीं होता।

(4) **सामान्य**—अनेक द्रव्योंमें रहनेवाला नित्य पदार्थ सामान्य है, जैसे पृथिवीत्व (=पृथिवीपन) अनेक पार्थिव द्रव्योंमें, गोत्व (=गायपन)

. . . .

अर्थात्—

द्रव्य	गुण-संख्या	द्रव्य	गुण-संख्या
(१) पृथिवी	१४	(६) काल	५
(२) जल	१४	(७) दिशा	५
(३) अग्नि	११	(८) आत्मा	१४
(४) वायु	९	(९) मन	८
(५) आकाश	६		

महेश्वर (=ईश्वर)को पीछेके ग्रन्थकारोंने आठ गुणोंवाला माना है, किन्तु कणादके सूत्रोंमें ईश्वरके लिए कोई स्थान नहीं, वहाँ तो ईश्वर-का काम अदृष्टसे लिया गया है।

अनेक गायोंमे रहनेवाला नित्य पदार्थ है। गायें लाखों आज, पहिले और आगे भी नष्ट होती रहेंगी, किन्तु **गोत्व** नष्ट नहीं होता। वह आजकी सारी गायोंमें जिस तरह मौजूद है, उसी तरह पहिले भी था और आगेकी गायोंमें भी मिलेगा, इस प्रकार **गोत्व** नित्य है।

(५) **विशेष**—परमाणुओं (=पृथिवी, जल, वायु, आगके सूक्ष्मतम नित्य अवयव)में जो एक दूसरेसे भेद है, उसे **विशेष** कहते हैं। विशेष सिर्फ नित्य द्रव्योंमें रहता है, और वह स्वयं भी नित्य है। **इसी विशेषके प्रतिपादनके कारण कणादके शास्त्रका नाम वैशेषिक पड़ा।**

(६) **समवाय**—वस्तुओंके बीचके नित्य संबंधको समवाय कहते हैं। द्रव्यके साथ उसके गुण, कर्म **समवाय** संबंधसे संबद्ध हैं—पृथिवीमें गंध, जलमें रस समवाय संबंधसे रहते हैं। सामान्य (=गोत्व आदि) भी द्रव्य, गुण, कर्ममें समवाय (=नित्य) संबंधसे रहता है।

(ख) **द्रव्य**—चारों भूतोंका जिक्र ऊपर हो चुका है। बाकी द्रव्योंमें आकाश, काल और दिशा अदृष्ट हैं, साथ ही वैशेषिक इन्हें निष्क्रिय भी मानता है। अदृष्ट और निष्क्रिय होनेपर वह हैं, इसको कैसे सिद्ध किया जा सकता है—इस प्रश्नका उत्तर आसान नहीं था। वैशेषिकका कहना है—शब्द एक गुण है जो प्रत्यक्ष सिद्ध है। गुण द्रव्यके बिना नहीं रह सकता, शब्दको किसी और भूतसे जोड़ा नहीं जा सकता, इसीलिए एक नये द्रव्यकी जरूरत है, जो कि आकाश है। कणादको यह नहीं मालूम था कि हवासे खाली जगह में रखी घंटी शब्द नहीं कर सकती।

(ग) **काल**[1]—बाल्य, जरा, एक-साथ (=यौगपद्य), क्षिप्रता हमारे लिए सिद्ध बातें हैं इनका कोई ज्ञापक होना चाहिए, इसी ज्ञापकको **काल** कहा जाता है। कालका जबर्दस्त खंडन बौद्धोंने किया है[2], जो बहुत कुछ आधुनिक **सापेक्षतावाद**की तरहका है; इसे हम आगे कहेंगे। कणादके समय व्यवहारकी आसानीके लिए जो कितनी ही युक्तिरहित धारणाएं

---

[1] संख्या [2] देखो, धर्मकीर्ति, पृष्ठ ७४०

फैली हुई थी, उनमें भी उन्हें अपने वादका अंग बनाया।

(b) **दिशा**—दूर और नजदीकका ख्याल जो देखा जाता है, उसका भी कोई आश्रय होना चाहिए, और वही दिशा (=देश) द्रव्य है। सापेक्षता[1]में हम देख चुके हैं, और आगे धर्मकीर्तिके दर्शनमें भी देखेंगे, कि देश या दिशा व्यवहार-सत्य हो सकती है, किन्तु ऐसे निष्क्रिय अदृष्ट तत्त्वको परमार्थ-सत्य सिर्फ श्रद्धावश ही माना जा सकता है।

(c) **आत्मा**—(१) इन्द्रियों और विषयोंके संपर्कसे हमें जो ज्ञान होता है, उसका आधार इन्द्रिय या विषय नहीं हो सकते, क्योंकि वे दोनों ही भौतिक—जड़—हैं। ज्ञानका अधिकरण (=कोश) **आत्मा** है। (२) जीवितावस्थामें शरीरमें गति और मृतावस्थामें गतिका बन्द होना भी बतलाता है, कि गति देनेवाला कोई पदार्थ है; वही आत्मा है। (३) श्वास-प्रश्वास, आँखका निमेष-उन्मेष, मनकी गति, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, शरीरके रहते भी जिसके अभावमें नहीं होते वही आत्मा है। दूसरे आत्मवादियोंकी भाँति कणाद शब्द (=वेद धार्मिक ग्रंथ)के प्रमाणसे आत्माको सिद्ध कर सकते थे किन्तु शब्द-प्रमाणपर जिस तरहका प्रहार उस वक्त पड़ रहा था, उससे उन्होंने उसपर ज्यादा जोर नहीं दिया। उन्होंने यह भी कहा कि (४) आत्मा प्रत्यक्ष-सिद्ध है, जिसे 'मैं' (=अहं) कहा जाता है, वह किसी पदार्थका वाचक है, और वही पदार्थ आत्मा है। इस प्रकार यद्यपि आत्मा प्रत्यक्ष-सिद्ध है, तो भी अनुमान उसकी और पुष्टि करता है। सुख, दुःख, ज्ञानकी निष्पत्ति (=उत्पत्ति) सर्वत्र एकसी होनेसे (सभी आत्माओं)की एक-आत्मता (=एक आत्माकी व्यापकता) है; तो भी सबका सुख, दुःख, ज्ञान अलग-अलग होता है, जिससे सिद्ध है, कि आत्मा एक नहीं अनेक है। शास्त्र (=वेद आदि) भी इस मतकी पुष्टि करते हैं।

(d) **मन**—अणु(=सूक्ष्म) परिमाणवाला, तथा प्रत्येक आत्माका

[1] देखो, "विश्वकी रूपरेखा"।

अलग-अलग है। कई इन्द्रियों और विषयोंका सन्निकर्ष हो चुका है, आत्मा भी व्यापक होनेसे वहाँ मौजूद है, तो भी अनेक इन्द्रियाँ आत्माके साथ मिलकर अनेक विषयोंका ज्ञान नहीं करा सकतीं, एक बार एक विषयका ही ज्ञान होता है; इससे मालूम होता है कि इन तीनोंके रहते कोई एक चौथी चीज (आत्माकी शक्तिको सीमित करनेवाली) है, जो अणु होनेसे सिर्फ एक इन्द्रिय-विषय-सम्पर्कपर ही पहुँच सकती है, यही मन है। मन प्रत्यक्षका विषय नहीं है, इसलिए एक बार एक ही विषयका ज्ञान होनेसे उसका हम अनुमान कर सकते हैं।

(ग) अन्य विषय—छै पदार्थोंके अतिरिक्त कुछ और बातोंपर कणादने प्रसंगवश विचार किये हैं। जैसे—

(a) अभाव—अभावको यद्यपि कणादने अपने पिछले अनुयायियोंकी भाँति पदार्थोंमें नहीं गिना है, तो भी उन्होंने उसका प्रतिपादन जरूर किया है। अभाव अ-सत्, अ-विद्यमानको कहते हैं। अभाव गुण और क्रियासे रहित है। सिर्फ क्रियासे रहित इसलिए नहीं कहा, क्योंकि वैसा करनेपर आकाश, काल और दिशा भी **अभाव**में शामिल हो जाते; इसलिए कणादने उन्हें कोई न कोई गुण देकर भाव-पदार्थोंमें शामिल किया। अभाव चार प्रकारके होते हैं : (१) **प्राग्-अभाव**—उत्पत्तिसे पहिले उस वस्तुका न होना प्राग्-अभाव है, जैसे बननेसे पहिले घड़ा। (२) **ध्वंस-अभाव**—ध्वंस हो जानेपर जो अभाव होता है, जैसे टूट जानेके बाद घड़ेकी अवस्था। (३) **अन्योन्य-अभाव**—भाववाले पदार्थ भी एक दूसरेके तौरपर अभाव-रूप हैं, घड़ा कपड़ेके तौरपर अभाव-रूप है, कपड़ा घड़ेके तौरपर अभाव-रूप है। (४) **सामान्य-अभाव** (=अत्यंताभाव)—किसी देश-कालमें वस्तुका न होना, सामान्याभाव है, जैसे गदहेकी सींग, बाँझका बेटा। अभाव वस्तु वस्तुकी स्मृतिकी सहायतासे अभावको प्रत्यक्ष किया जा सकता है। स्मृति अभावके प्रतियोगी (=जिसका कि वह अभाव है, उस) वस्तुका चित्र सामने उपस्थित रखती है, जिससे हम अभावका साक्षात्कार करते हैं।

(b) **नित्यता**—जो सत् (=भाव-रूप) है, और बिना कारणका है, वह नित्य है। जैसे कार्य (=धूएं)से कारण (=आग)का अनुमान होता है, जैसे अभावसे भावका अनुमान होता है, उसी तरह अनित्यसे नित्यका अनुमान होता है। कणाद, देमोक्रितुके मतानुसार बाहरसे निरन्तर परिवर्तन होती दुनियाकी तहमें अचल, अपरिवर्तन-शील, नित्य परमाणुओंको देखते हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु ये चारों भूत परमाणु-रूपमें नित्य हैं। इन्हीं नेत्र-अगोचर सूक्ष्मकणोंके मिलनेसे आँखसे दिखाई देनेवाले अथवा शरीरके स्पर्शसे मालूम होनेवाले स्थूल महाभूत पैदा होते हैं। मन भी अणु तथा नित्य है। आकाश, काल, दिक्, आत्मा सर्वव्यापी (=विभु) होनेसे नित्य हैं। इस प्रकार कणादके मतमें परिवर्तन, अनित्यता या क्षणिकता बाहरी दिखावा मात्र है; नहीं, तो विश्व वस्तुतः नित्य है—अर्थात् अनित्यता अवास्तविक है और नित्यता वास्तविक। यह सीधे बौद्धदर्शनके अनित्यता (=क्षणिक)वादका जवाब नहीं तो और क्या है? कणादका मुख्य प्रयोजन ही मालूम होता है, बौद्ध क्षणिकवादको देमोक्रितुके परमाणुवाद, अफलातूंके सामान्यवाद तथा अरस्तूके द्रव्य आदि पदार्थवादकी सहायतासे खंडन करना। कणादने यूनानियोंके दर्शनका प्रयोग पूर्णतासे अपने मतलबके लिए किया, इसमें सन्देह नहीं।

(c) **प्रमाण**—वैशेषिक दर्शनकी पदार्थोंकी विवेचना मुख्यतः थी पदार्थोंके नित्य और अनित्य रूपों एवं दृष्ट और अदृष्ट (=शास्त्र) हेतुओंसे इन रूपोंकी सिद्धिके लिए। किन्तु, किसी वस्तुकी सिद्धिके लिए प्रमाणपर कुछ कहना जरूरी था, इसीलिए विशेषतौरसे नहीं बल्कि प्रसंगवश प्रमाणोंपर भी **वैशेषिकसूत्रोंमें** कुछ कहा गया। यहाँ सभी प्रमाणोंका एक जगह क्रमबद्ध विवेचन नहीं है, तो भी सब मिलानेपर प्रत्यक्ष, अनुमान ये **दृष्ट** प्रमाण वहाँ मिलते हैं। (१) साथ ही कणाद कितनी ही बातोंके लिए शास्त्र या शब्दप्रमाणको भी मानते हैं। (२) नवें अध्यायके प्रथम आह्निक वस्तुके साक्षात्कार करनेके लिए योगीकी विशेष शक्तिका भी जिक्र आता है, जिससे मालूम होता है कि यौगिक शक्तिको कणाद

प्रमाणोंमें मानते हैं। किस तरहके शब्द और योगि-प्रत्यक्षको प्रमाण माना जाये, इसके बारेमें कणादने बहस नहीं की। (३) प्रत्यक्षपर एक जगह कोई विवेचना नहीं है, तो भी आत्माके प्रकरणमें "इन्द्रिय और विषयके सन्निकर्ष (=संबंध)से ज्ञान"का जिक्र प्रत्यक्षके ही लिए आया है, इसमें सन्देह नहीं। जो पदार्थ प्रत्यक्षके विषय हैं, उनमेंसे गुण, कर्म, सामान्यकी प्रत्यक्षताको उनके आश्रयभूत द्रव्यके संयोगसे बतलाया है—जैसे कि पृथिवीद्रव्यका (घ्राणसे) संयोग होनेपर गंध गुणका प्रत्यक्ष होना, जल-अग्नि-वायुके संयोगसे रस, वर्ण, स्पर्श गुणोंके प्रत्यक्ष होते हैं। (४) वस्तुका अनुमान प्रसिद्धिके आधारपर होता है। इसके तीन रूप हैं—(a) एकके अभावका अनुमान दूसरेके भाव (=विद्यमानता)से, जैसे सींगके विद्यमान होनेसे अनुमान हो जाता है कि वह घोड़ा नहीं है। (b) एकके भावका अनुमान दूसरेके अभावसे, जैसे सींगके न विद्यमान होनेसे अनुमान होता है, कि वह घोड़ा है। (c) एकके भावसे दूसरेके भावका अनुमान, जैसे सींगके विद्यमान होनेसे अनुमान हो जाता है वह गाय है। ये सभी अनुमान इन प्रसिद्धियोंके आधारपर किये जाते हैं, कि घोड़ा सींग-रहित होता है, गाय सींग-सहित होती है। प्रथम अध्यायके प्रथमाह्निकमें यह भी बतलाया है, कि कारण (आग)के अभावसे कार्य (धूम)का अभाव होता है, किन्तु कार्य (धूम)के अभावसे कारण (अग्नि)का अभाव नहीं होता। अनुमानके लिए हेतुकी जरूरत होती है। बिना देखे ही कोई कह उठता है, "पहाड़में आग है" किन्तु जब हम उसे देखते नहीं, कहने मात्रसे आगकी सत्ता नहीं मानी जा सकती। इसके लिए **हेतु** देनेकी जरूरत पड़ती है, और वह है—"क्योंकि वहाँ धुआँ दिखाई पड़ रहा है" इस प्रकार नवम अध्यायके दूसरे आह्निकमें हेतुका जिक्र किया गया है।

(d) **ज्ञान और मिथ्याज्ञान—अ-विद्या** या मिथ्याज्ञान इन्द्रियोंके विकार अथवा गलत संस्कारोंके साथ किये साक्षात्कार या अ-साक्षात्कारके कारण होता है। इससे उल्टा है **विद्या** या ज्ञान।

(e) **ईश्वर**—ईश्वरके लिए कणादके दर्शनमें गुंजाइश नहीं।

उसके नौ द्रव्योंमें आत्मा आया है, किन्तु वे हैं इन्द्रियों और मनोंकी सहायतासे ज्ञान प्राप्त करनेवाले अनेक जीव। उन्हें कर्मफल आदि **अदृष्ट** देता है। यह फल देनेवाला **अदृष्ट** सुकृत-दुष्कृतकी वासना या संस्कार है। इसे ईश्वर नहीं कहा जा सकता। सृष्टिके निर्माणके लिए परमाणुओंमें गतिकी आवश्यकता है, जिससे कि उनमें संयोग होकर स्थूल पदार्थ बनें। सृष्टि-रचनाके लिए होनेवाली यह परमाणु-गति भी कणादके अनुसार **अदृष्टके** अनुसार होती है, इस प्रकार अदृष्टवादी कणादको सृष्टि, कर्मफल कहीं भी ईश्वरकी जरूरत नहीं महसूस होती।

२—अनेकान्तवादी जैन-दर्शन

जैन तीर्थंकर महावीरके दर्शनके बारेमें हम पहिले कुछ बतला चुके हैं। महावीरके समय यह व्रत-उपवास और तपस्याका पंथ था, अभी इसपर दर्शनकी पुट नहीं लगी थी; किन्तु जैसा कि हम बतला आये हैं, संजय बेलट्ठिपुत्तके अनेकान्तवादसे प्रभावित हो जैनोंने अपना अनेकान्तवादी स्याद्वाद दर्शन तैयार किया। दार्शनिक विचार-संघर्ष और यूनानियोंके संपर्कसे ईसवी सन्‌के प्रारम्भ होनेके साथ अपने-अपने दार्शनिक विचारोंको सुव्यवस्थित करनेका प्रयत्न जो भारतके भिन्न-भिन्न संप्रदायोंने करना शुरू किया उसमें जैन भी पीछे नहीं रह सकते थे; और इसीका परिणाम हम नग्नता और अनशनके व्रती इस संप्रदायमें स्याद्वाद दर्शनके रूपमें पाते हैं। नई व्यवस्थावाले जैन-दर्शनके पुराने ग्रंथकारोंमें उमास्वातिका नाम पहिले आता है। उनका समय ईसाकी पहिली सदी बतलाया जाता है, किन्तु यह सन्दिग्ध है। जो कुछ भी हो उमास्वातिका **तत्त्वार्थाधिगम** नवीन दर्शनयुगमें जैनोंका सबसे पुराना दर्शन-ग्रंथ है।

यद्यपि जैनोंके श्वेतांबर और दिगंबर दो मुख्य संप्रदाय ईसाकी पहिली सदीसे चले आते हैं, तो भी जहाँ तक दर्शनका संबंध है, उनमें वैसा कोई मौलिक भेद नहीं है। दोनोंके भेद आचार आदिके संबंधमें हैं, जैसे—

श्वेतांबर	दिगंबर
१. अर्हत् भोजन करते हैं	नहीं

२. वर्धमानको गर्भावस्थामें देवनन्दासे त्रिशलाके गर्भमें बदला गया था। नहीं

३. साधु वस्त्र पहिन सकते हैं नहीं

४. स्त्रीको मोक्ष मिल सकती है नहीं

श्वेतांबर जैन अधिकतर गुजरात, पश्चिमी राजपूताना, युक्तप्रान्त और मध्यभारतमें रहते हैं। दिगंबर पश्चिमोत्तर पंजाब, पूर्वीय राजपूताना और दक्षिण भारतमें रहते हैं। श्वेतांबरोंके मूलग्रंथ—**अंग**—प्राकृतमें मिलते हैं, किन्तु दिगंबरोंके सारे ग्रंथ संस्कृतमें हैं। दिगंबर प्राकृत **अंगों**को बनावटी बतलाते हैं, यद्यपि पालि-त्रिपिटकसे अर्वाचीनता रखनेपर भी वे उतने नवीन नहीं हैं, जितने कि ये उन्हें बतलाते हैं।

जैन-धर्म-दर्शनकी एक खास विशेषता है, कि इसके प्रायः सारे अनुयायी व्यापारी, महाजन और छोटे दुकानदार हैं। "लाभ-शुभ" और शान्तिके स्वाभाविक प्रेमी व्यापारी वर्गका चरम अहिंसाके दर्शनसे इतनी श्रद्धा आकस्मिक नहीं हो सकती, यह हम अन्यत्र[1] बतला आये हैं।

हमने यहाँ २००-८०० ई० तकके भारतीय दर्शनोंको लिया है, किन्तु इसमें अगले प्रकरणमें दुहरानेसे बचनेके लिए हम यहाँ आगेके विकासको भी लेते हुए इस विषयमें लिख रहे हैं।

(१) दर्शन और धर्म—जैनोंके स्याद्वादका जिक्र पीछे कर चुके हैं जिसके अनुसार वह सबमें सबके होनेकी सम्भावना मानते हैं। उपनिषद्के दर्शनमें नित्यतापर जोर दिया गया था, बौद्धोंका जोर अनित्यता पर था, जैनोंने दोनोंको सम्भव बतलाते हुए बीचका रास्ता स्वीकार किया। उदाहरणार्थ—

उपनिषद्	बौद्ध	जैन
(ब्रह्म) सत् है	सब अनित्य है	कुछ नाशमान है, और कुछ अनाशमान भी

[1] "मानव-समाज", पृष्ठ १६३-९

जैन दोनोंकी आंशिक सत्यता और असत्यताको बतलाते हुए कहते हैं—**पर्यायनयसे** देखनेपर मिट्टीका पिंड नष्ट होता है, घड़ा उत्पन्न होता है, वह भी नष्ट हो जाता है। किन्तु **द्रव्यनयसे** देखनेपर सारी अवस्थाओंमें मिट्टी (द्रव्य) मौजूद रहती है। द्रव्यको न वह सर्वथा परिवर्तनशील मानते हैं, नहीं सर्वथा अपरिवर्तनशील; बल्कि परिवर्तनशील अ-परिवर्तनशील दोनों तरहका मानते हैं—अर्थात् द्रव्य एक ही समयमें वह (=द्रव्य है) और नहीं भी है। सत्ता (=विद्यमानता)के बारेमें सात प्रकारके **स्याद्** (=हो सकता है)की बात हम पीछे बतला चुके हैं।

(२) **तत्त्व**—जैन-दर्शनमें तत्त्वोंके दो, पाँच, सात, नौ भेद बतलाये गये हैं, जो कि बौद्धोंके स्कन्ध, आयतन धातुकी भाँति एक ही विश्वका भिन्न-भिन्न दृष्टिसे विभाजन है।—

दो तत्त्व—जीव, अजीव

पाँच तत्त्व—जीव अजीव, आकाश, धर्म, पुद्गल

सात तत्त्व—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जर, मोक्ष

नौ तत्त्व—जीव अजीव आस्रव, बंध, संवर, निर्जर, मोक्ष, पुण्य, अपुण्य

दो और पाँच तत्त्वोंवाले विभाजनमें दार्शनिक पदार्थोंको ही रखा गया है, पिछले दो विभाजनोंमें धर्म और आचारकी बातोंको भी शामिल कर दिया गया है।

(३) **पाँच अस्तिकाय**—जीव अजीवके दो भेदोंमें अजीवको ही आकाश, "धर्म" "अधर्म", पुद्गल चार भेदोंमें बाँटकर पाँच तत्त्वमें बाँटा गया है, इन्हें ही पंच अस्तिकाय भी कहते हैं, इनमें—

(क) **जीव**—जीव आत्माको कहता है जिसकी पहिचान ज्ञान है। तो भी सिर्फ ज्ञानवाला मान लेनेपर **अनेकान्तवाद** न हो सकता था, इसलिए कहा गया[1]—

---

[1] "ज्ञानाद् भिन्नो न चाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथञ्चन।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं सोऽयमात्मेति कीर्तितः॥"

"जो ज्ञानसे भिन्न है और न अभिन्न है, न कैसे भी भिन्न-और-अभिन्न है. (जो) ज्ञान पूर्वापरवाला है, वह आत्मा है ॥"

आत्मा भौतिक (=भूतपरिणाम) नहीं है, शरीर उसका अधिकरण है, जीवोंकी संख्या असंख्य है। जीव नहीं सर्वव्यापी है, न वैशेषिकके मन-की भाँति अणु है, बल्कि वह मध्यम परिमाणी है, अर्थात् जितना बड़ा शरीर होता है उतना बड़ा ही आत्मा है——हाथीके शरीरमें हाथीके बराबर-का आत्मा है, और चींटीके शरीरमें चींटीके बराबरका। मृत हाथीसे निकलकर जब वह चींटीके शरीरमें प्रवेश करता है तो उसे वैसा ही क्षुद्र आकार धारण करना पड़ता है। दीपकके प्रकाशकी भाँति वह प्रसार और संकोच कर सकता है। इतनेपर भी आत्मा नित्य है. भिन्न-भिन्न जीवोंमें इन्द्रियोंकी संख्या कम-बेश होती है, यह ख्याल जैनोंमें महावीरके समयसे चला आता है। वृक्षोंके कटवानेपर जैन साधुओंने बौद्ध भिक्षुओंको "एकेन्द्रिय जीव" के वध करनेवाले कहकर बदनाम करना शुरू किया था जिसपर बुद्धको भिक्षुओंके लिए वृक्ष काटना निषिद्ध ठहराना पड़ा।[1] भिन्न-भिन्न जीवोंमें इन्द्रियोंकी संख्या इस प्रकार है——

जीव	इन्द्रिय संख्या
(१) वृक्ष	(१) स्पर्श
(२) पीलु (कृमि)	(२) स्पर्श, रस
(३) चींटी	(३) स्पर्श, रस, गंध
(४) मक्खी	(४) स्पर्श, रस, गंध, दृष्टि
(५) पृष्ठधारी	(५) स्पर्श, रस, गंध, दृष्टि, शब्द
(६) नर, देव, नारकीय	(६) स्पर्श, रस गंध, दृष्टि, शब्द, मन

स्पर्श आदिकी जगह त्वक्, रसना, नासिका, आँख, श्रोत्र और मन इंद्रिय समझ लीजिए।

जीवोंके फिर दो भेद हैं, कितने ही जीव **संसारी** हैं और कितने ही मुक्त।

[1] विनय-पिटक (भिक्षु-विभंग) ५।११

(a) **संसारी**—संसारी आवागमन (=पुनर्जन्म)के चक्कर (=संसार) में फिरते रहनेवाले हैं। वे कर्मके **आवरण**से ढँके हुए हैं। मन-सहित (=समनस्क) और मन-रहित (=अमनस्क) यह उनके दो भेद हैं। शिक्षा, क्रिया, आलापको ग्रहण करनेवाली संज्ञा (=होश) जिनमें है, वह मन-सहित जीव है। जिनमें संज्ञा (होश) नहीं है, वह मन-रहित (=अमनस्क) हैं। अमनस्कोंमें फिर दो भेद हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वृक्ष—ये एक इन्द्रियवाले जीव स्थावर जीव हैं। पृथिवी आदि चारों महाभूत भी जैन-दर्शनके अनुसार किसी जीवके शरीर हैं उपनिषद्के अन्तर्यामी ब्रह्मकी तरह नहीं, बल्कि द्वैती आत्मवादियोंके शरीर-निवासी जीवकी तरह।

मन-सहित (=**समनस्क**) जीव छै इन्द्रियोंवाले नर, देव और नारकीय प्राणी हैं।

(b) **मुक्त**—जीवोंमें जिन्होंने त्याग-तपस्यासे कर्मके आवरणको हटाकर कैवल्य पद प्राप्त कर लिया है, वे मुक्त कहे जाते हैं।

प्रश्न हो सकता है, कि अनन्तकालसे आजतक जिस प्रकार प्राणी मुक्त होते जा रहे हैं उससे तो एक दिन दुनिया जीवोंसे खाली हो जायेगी। इसके समाधानमें जैन-दर्शनका कहना है, कि जीवोंकी संख्या घटने योग्य नहीं है, विश्व तो **निगोद**—जीव-ग्रंथियों—से भरा हुआ है। एक-एक निगोदके भीतर संकोच-विकास-शील जीवोंकी कितनी भारी संख्या है यह इसीसे पता लग सकता है कि अनादिकालसे लेकर आजतक जितने जीव मुक्त हुए हैं, उनके लिए एक **निगोद** पर्याप्त है। इस प्रकार संसारके उच्छिन्न होनेका डर नहीं।

(**अजीव**)—अजीवके धर्म, अधर्म, पुद्गल आकाश चार भेद बतला चुके हैं, धर्म, अधर्म यहाँ खास अर्थमें व्यवहृत होता है।

(**ख**) **धर्म**—विश्वव्यापी एक चालक तत्त्व है, जिसका अनुमान गति—प्रवृत्ति—से होता है।

(ग) **अ-धर्म**—एक विश्वव्यापी रोधक तत्त्व है, स्थिति—गतिहीन अवस्था—से इसका अनुमान होता है।

विश्वका संचालन, सृष्टि, स्थिति, प्रलय इन्हीं दो तत्त्वों—धर्म अधर्म

—द्वारा होता है।

(घ) **पुद्गल** (=भौतिक तत्त्व)—बौद्ध-दर्शनमें पुद्गल जीवको कहते हैं, और बौद्ध इस तरहके पुद्गलको नहीं मानते। जैनोंका पुद्गल उससे बिलकुल उलटा अ-जीव पदार्थ अर्थात् भौतिक तत्त्व है। पुद्गल (=भौतिक तत्त्व) में स्पर्श, रस, वर्ण, तीनों गुण मिलते हैं। इनके दो भेद हैं—(१) उनकी तहमें पहुँचनेपर वह सूक्ष्म अणु रह जाते हैं, इन्हें अणु-पुद्गल कहते हैं, ये देमोक्रितुके भौतिक परमाणु हैं, जिनके ख्यालको दूसरे भारतीय दार्शनिकोंकी भाँति जैन-दर्शनने भी बिना आभार स्वीकार किये यवनोंसे ले लिया है। (२) दूसरे हैं **स्कंध-पुद्गल,** जो अनेक परमाणुओंके संघात (=स्कन्ध) हैं। स्कन्ध पुद्गलोंकी उत्पत्ति परमाणुओंके संयोग-वियोगसे होती है।

(ङ) **आकाश**—यह भी पाँच अस्तिकायोंमें एक है, और उपनिषद्के समयसे चला आया है। यह आकाश संसारी जीवोंके लोकसे परे, जहाँ कि मुक्त जीव हैं, वहाँ तक फैला हुआ है। आकाश अभावात्मक नहीं भावात्मक वस्तु है, इसीलिए इसकी गणना पाँच अस्तिकायोंमें है।

(४) **सात तत्त्व**—(**क, ख**) सातमें जीव और अजीवका पाँच अस्ति-कायोंके रूपमें अभी बतला चुके, बाकी पाँच निम्न प्रकार हैं।

(ग) **आस्रव**—आस्रव बहनेको कहते हैं, जैसे 'नदी आस्रवति' (=नदी बहती है)। बौद्ध-दर्शनमें भी आस्रव (=आसव) आता है, किन्तु वह बहुत कुछ चित्तमलके अर्थमें। जीव कषाय या चित्तमलोंसे लिपटा आवागमनमें आता है।

कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ और अशुभ चार कषाय हैं, अ-क्रोध, अ-मान, अ-माया, अ-लोभ, शुभ (अच्छे) कषाय हैं।

(घ) **बंध**—बंध सातवाँ तत्त्व है। कषायसे लिप्त होनेसे जीव विषयोंमें आसक्त होता है, यही बंध या बन्धन है, जिसके कारण जीव एक शरीरसे दूसरे शरीरमें दुःख सहते मारा-मारा फिरता है।

कषायके चार हेतु होते हैं—(१) मिथ्या दर्शन—झूठा दर्शन, जो नैसर्गिक या पूर्वजन्म मिथ्या कर्मोंसे उत्पन्न भी हो सकता है या उपदेशज

यानी इसी जन्ममें झूठे दर्शनोंके सुनने-पढ़नेसे हो सकता है। (२) अ-विरति या इन्द्रिय आदिपर संयम न करना। (३) प्रमाद है, आस्रव रोकनेके उपाय गुप्ति समिति आदिसे आलसी होना।

(ङ) **संवर**—आस्रव-प्रवाहके रास्तेको रोक देनेको संवर कहते हैं। जो कि गुप्ति और समिति द्वारा होता है।

(a) **गुप्ति**—काया, वचन, मनकी रक्षाको कहते हैं। गुप्तिका शब्दार्थ है रक्षा।

(b) **समिति**—समिति संयम है, इसके पांच भेद हैं—(१) ईर्या समिति यानी प्राणियोंकी रक्षा करना; (२) भाषा-समिति, हित, परिमित और प्रिय भाषण; (३) ईषणा-समिति—शुद्ध, दोषरहित भिक्षाको ही लेना, (४) आदान-समिति, यह देख-भालकर आसन वस्त्र आदिका लेना कि उसमें प्राणिहिंसा आदि होनेकी न संभावना नहीं है; (५) उत्सर्ग-समिति यानी वैराग्य जगत् मल गंदगीसे पूर्ण है इसे उत्सर्ग (=त्याग) करना चाहिए।

जैसे बौद्धोंका आर्य-सत्योंपर बहुत जोर है, वैसे ही जैन-धर्ममें आस्रव और संवर मुमुक्षुके लिए त्याज्य और ग्राह्य है—

"आवागमन (=भव)का हेतु आस्रव है, और **संवर** मोक्षका कारण। बस यह अर्हत् (महावीर)की रहस्य-शिक्षा है, दूसरे तो इसीके विस्तार हैं।"[1]

इसी तरह बौद्धोंमें भी बुद्धकी शिक्षाका सार माना जाता है—

"सारी बुराइयों (=पापों)का न करना, भलाइयोंका संपादन करना। अपने चित्तका संयम करना, यह बुद्धकी शिक्षा है।"[2]

(च) **निर्जर**—इससे पहले जो कर्म—कषाय—संचित हो गया है

---

[1] "**आस्रवो भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्ष-कारणम्।**
इतीयमार्हती मुष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम्॥"

[2] "**सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्सुपसंपदा। सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धानुसासनं॥**"

उसका निर्जरण या नाश करना निर्जर है, यह केश उखाड़ने, गर्मी, सर्दीको नंगे बदनसे बर्दाश्त करने आदि तपोंके द्वारा होता है।

(छ) **मोक्ष**—कर्मोंका जब बिलकुल नाश हो जाता है, तो जीव अपने शुद्ध आनंदमें होता है, इसे ही **केवल** अवस्था या कैवल्य भी कहते हैं। इस अवस्थामें मुक्त पुरुष हर समय अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन—सर्वज्ञ सर्व दर्शी—होता है। संसार या आवागमनकी अवस्थामें जीवकी यह कैवल्यावस्था ढँकी होती तथा शुद्ध स्वरूप मल-लिप्त होता है। मुक्त जीव हमारे लोकके सीमान्तपर अवस्थित लोकाकाशके भी ऊपर जाकर अचल हो वास करते हैं।

(५) **नौ तत्त्व**—पिछले (क—छ) सात तत्त्वोंमें पुण्य और अपुण्यको और जोड़ देनेसे नौ तत्त्व होते हैं—

(ज) **पुण्य**—जीवपर पड़ा एक प्रकारका संस्कार है, जो कि सुखका साधन होता है। यह अभौतिक नहीं परमाणुमय है, जो एक शिलाककी भाँति जीवसे लिपटा रहता है। मुक्तिके लिए इस **पुण्य**से मुक्त होना जरूरी है।

(झ) **पाप**—पाप दुःख-साधन है और पुण्यकी भाँति परमाणुमय है।

(६) **मुक्तिके साधन**—दुःखके त्याग और अनन्त सर्वाधिक सुखकी प्राप्तिके लिए मोक्षकी जरूरत है। इसकी प्राप्तिके लिए ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र और भावना (=योग) की जरूरत है।

(क) **ज्ञान**—ज्ञानसे मतलब जैन-दर्शन स्याद्वाद या अनेकान्तवादकी सत्यताका निश्चय है।

(ख) **श्रद्धा**—तीर्थंकरके वचनोंपर श्रद्धा या विश्वास।

(ग) **चारित्र**—सदाचार या शीलको जैन-धर्ममें चारित्र कहा गया है। **पाप**का विरत होना, अर्थात् अ-हिंसा, सूनृत (=सत्य) अ-चोरी, ब्रह्मचर्य, अ-परिग्रह (=अ-संगर्ग) ये चारित्र हैं। गृहस्थोंके लिए चारित्र कठ नर्म हैं, उन्हें सच्चाईसे धन अर्जन[1] सदाचारका पालन, कुलीन सती

---

[1] **खेती तथा दूसरे उत्पादक श्रममें हिंसा होनी जरूरी है, इसलिए वह सच्चाईसे धनार्जनके रास्ते नहीं हैं। सच्चाईसे धनार्जनके रास्ते हैं,**

स्त्रीसे विवाह, देशाचारका पालन, पोषधव्रत, अतिथि-सेवा करनी चाहिए।

(घ) भावना—मानसिक एकाग्रता है। साधकके लिए करणीय भावनाओंके कई प्रकार हैं, जैसे—

(a) [1]**अनित्यता-भावना**—भोगोंको अनित्य समझ उनकी भावना करना।

(b) [1]**अशरण-भावना**—कि मृत्यु, दुःखके प्रहारसे बचनेके लिए संसारमें कोई शरण नहीं है।

(c) [1]**अशुचि-भावना**—कि शरीर मल-दुर्गंध पूर्ण है।

(d) **आस्रवा-भावना**—कि आस्रव बंधनके हेतु हैं।

(e) **धर्मस्वभावाख्यातता-भावना**—संयम, सत्य, शौच, ब्रह्मचर्य, अलोभ, तप, क्षमा, मृदुता, सरलता आदि द्वारा भावना-रत होना।

(f) **लोक-भावना**—सृष्टिके स्वभावकी भावना।

(g) **बोधि-भावना**—मनुष्यकी अवस्था कर्म-निर्मित है।

(h) [1]**मैत्री-भावना**—सबके मित्रताके भावसे देखना।

(i) [1]**करुणा-भावना**—

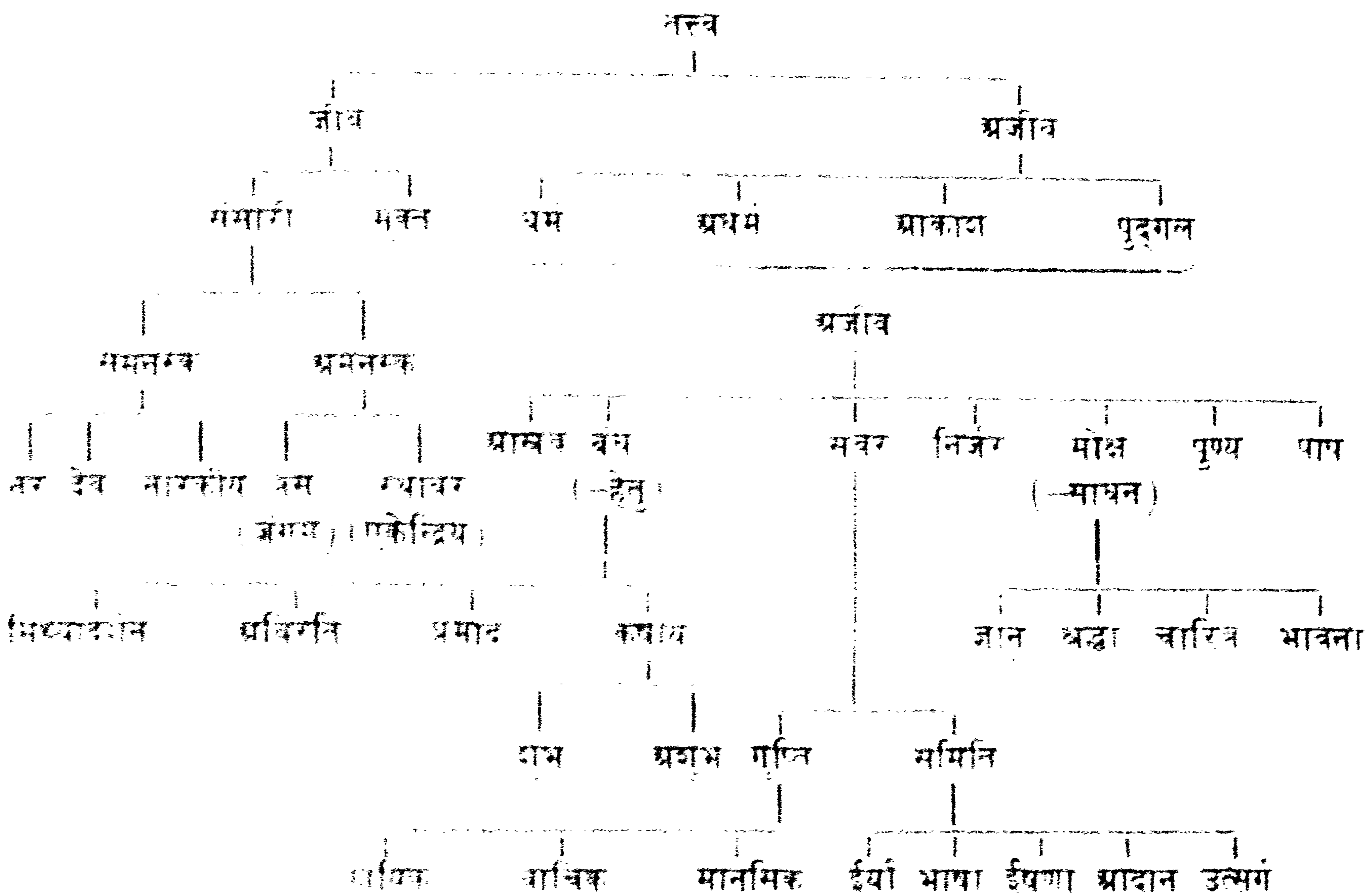
(j) [1]**मुदिता-भावना**—आदि।

(६) अनीश्वरवाद—ईश्वरके न माननेमें जैन भी चार्वाक और बौद्ध-दर्शनोंके साथ है। इनकी युक्तियाँ भी प्रायः वही हैं, जिन्हें वे दोनों दर्शन देते हैं। वैशेषिकने लोककी सृष्टिके लिए अदृष्टको ईश्वरके स्थानपर रक्खा है, और जैनोंने धर्म-अधर्मको उनके स्थानपर रक्खा। लोक, ऊर्ध्व, मध्य और अधः तीनों लोकोंमें विभक्त है, जिनमें क्रमशः देव, मानव और नारकीय लोग बसते हैं। लोकमें सर्वत्र आकाश है, जिसे लोकाकाश कहते हैं। लोकाकाशके परे तीन तह हवाकी हैं। मुक्त जीव तीनों लोकोंको पार कर लोकाकाशके ऊपर जाकर वास करता है।

व्यापार, दूकान, सूदका व्यवसाय....।

[1] ये भावनाएं बौद्ध-ग्रंथोंमें भी पाई जाती हैं।

जैन तत्त्वोंको वृक्षके रूपमें इस प्रकार अंकित कर सकते हैं—



३—शब्दवादी जैमिनि (३०० ई०)

जैमिनि उस कालके ग्रन्थकारोंमें हैं, जब कि ब्राह्मणोंमें पुराने ऋषियोंके नामपर ग्रंथोंको लिखकर अपने धर्मको मजबूत करनेका बहुत जोर था। इसलिए मीमांसाकार जैमिनिकी जीवनीके बारेमें जानना संभव नहीं है। हम इतना ही कह सकते हैं कि मीमांसाका लेखक कणाद, नागार्जुन अक्षपादके पीछे हुआ, और इन स्वतंत्र चेता दार्शनिकोंके ग्रन्थोंसे उसने पूरा लाभ उठाया। साथ ही उसे हम वसुबंधु (४०० ई०) और दिग्नाग (४२५) से पीछे नहीं ला सकते। बादरायण और जैमिनि दोनोंने एक दूसरेके मतको उद्धृत किया है, इसलिए दोनोंका समय एक तथा ३०० ई० के आसपास मालूम होता है।

(१) मीमांसा शास्त्रका प्रयोजन—मीमांसाका आरंभ करते हुए जैमिनिने लिखा है—"अब यहाँसे धर्मकी जिज्ञासा आरंभ होती है।"[1] वैशेषिकका प्रथम सूत्र भी इससे मिलता जुलता है। कुछ विद्वानोंके मतमें वैशेषिक एक तरहकी पुरानी **मीमांसा** है, जिससे प्रभावित हो जैमिनिने अपने १२ अध्यायके विस्तृत मीमांसा-शास्त्रको लिखा। यद्यपि वेदकी अनित्यता, वेदके स्वतःप्रामाण्य आदि कितनी ही बातोंमें वैशेषिकका मीमांसासे मतभेद है, तो भी दूसरी कितनी ही बातोंमें शास्त्र प्रामाण्य, धर्म-व्याख्यान आदिपर दोनोंका जोर रखना, इनमें समानता भी ज्यादा है। भारी भेद यही कहा जा सकता है, कि वैशेषिक जहाँ उत्तरमें हिमालयके लिए घरसे निकल दक्षिणके समुद्रमें पहुँच गया, वहाँ जैमिनिने सचमुच शुरूसे अन्ततक धर्म-जिज्ञासा जारी रखी, और वैदिक कर्मकांडके समर्थन तथा विरोधियोंके प्रत्याख्यानमें सारी शक्ति लगाई।

उपनिषद्के वर्णनके समय हमने **ब्राह्मण** ग्रंथोंका जिक्र किया था,

[1] "**अथातो धर्मजिज्ञासा**"—**मीमांसासूत्र** १।१।१; "**अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः**"—**वैशेषिकसूत्र** १।१।१

जो कि वेद-संहिताओंके बाद यज्ञ-कर्मकांडकी विधि और व्याख्याके लिए भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा कई पीढ़ियों तक बनाए जाते रहे। शतपथ, ऐतरेय, तैत्तिरीय, षड्विंश, गोपथ आदि कितने ही **ब्राह्मण** ग्रंथ अब भी मिलते हैं। इन्हीं ब्राह्मणोंमेंसे कुछके अन्तिम भाग आरण्यक और उपनिषद् हैं, यह भी हम बतला चुके हैं। **ब्राह्मणोंका** मुख्य तात्पर्य भिन्न-भिन्न यज्ञोंकी प्रक्रियाओं तथा वह वेदके किन-किन मंत्रोंके साथ की जानी चाहिए, इसे भी बतलाना है। ब्राह्मण ग्रंथोंमें वर्णित ये विधान जहाँ-तहाँ बिखरे तथा कहीं-कहीं असंबद्ध भी थे, जिससे पुरोहितोंको दिक्कत होती थी, जिसके लिए बुद्धके पीछे कितने ही ग्रंथ बने, जिन्हें कल्प-सूत्र या प्रयोग-शास्त्र कहते हैं। कल्प-सूत्रोंमें श्रौत-सूत्रोंका काम था, यज्ञ करनेवाले पुरोहितोंकी आसानीके लिए सारी प्रक्रियाको व्यवस्थित रीतिसे जमा कर देना। यजुर्वेदके कात्यायन श्रौतसूत्रको देखनेसे यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

ब्राह्मण और श्रौतसूत्रोंने यज्ञ-पद्धतियाँ बनानेकी कोशिश की। अगत-अगत बकनेके लिए वह पर्याप्त थी, किन्तु, ईसवी सन्के शुरू होनेके साथ सिर्फ पद्धतियोंसे काम नहीं चल सकता था, बल्कि वहाँ जरूरत थी उठती हुई शंकाओंको दूर कर यज्ञ और कर्मकांडके महत्त्वको समझानेकी। इसी कामको अप्रत्यक्ष रूपसे कणादने करना चाहा, किन्तु बुद्धवादी दर्शनने दिमाग पर भारी असर किया था, जिससे धर्मके लौकिक व्याख्यान द्वारा अदृष्टकी पुष्टिकी जगह दृष्टपर जोर ज्यादा दिया, जिससे वह लक्ष्यसे बहक गए। जैमिनिने, जैसा कि अभी कहा जा चुका है, यज्ञ और कर्मकांडके लौकिक पारलौकिक लाभके रूपमें पुरोहितोंकी आमदनीके एक भारी व्यवसायकी रक्षा करनेके ख्यालसे वेदके लिए यह सिद्ध करना चाहा कि धर्मकी प्राप्तिके लिए वह ही एक मात्र अभ्रान्त प्रमाण है। इसके बाद फिर उसने भिन्न-भिन्न यज्ञों, उनके अंगों तथा दूसरी कर्मकांडसंबंधी प्रक्रियाओंका विवेचन किया।

मीमांसा-सूत्रमें १२ अध्याय तथा प्रायः २५०० सूत्र हैं। इसके भाष्यकार शबर स्वामी (४०० ई०)ने योगाचार मतका **जिस तरहसे खंडन**

किया है, उसमें उसको असंगका समकालीन या पश्चात्कालीन होना चाहिए। मीमांसाके शब्द प्रामाण्यवाद तथा कर्मकांडका खंडन दिङ्नाग और दूसरे आचार्योंने किया, उसके उत्तरमें छठी सदीमें कुमारिल भट्ट (५५० ई०)ने कलम उठाई, और जैमिनिका समर्थन करते हुए मीमांसाके भिन्न-भिन्न भागोंपर क्रमशः **श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक** और **टुप्टीका** तीन ग्रंथ लिखे, जिनमें श्लोकवार्तिक विशेषकर तर्क-निर्भर है। कुमारिलके शिष्य प्रभाकर (जिसकी प्रतिभाके कारण कहा जाता है उसके गुरु कुमारिलने उसे गुरुका नाम दे दिया, और तबसे प्रभाकरका मत गुरुमत कहा जाने लगा)ने शबर-भाष्यपर दूसरी टीका **बृहती** लिखी। मीमांसापर और भी ग्रंथ लिखे गए, किन्तु शबर और कुमारिलके ही ग्रंथ ज्यादा महत्त्व रखते हैं। हम यहाँ जैमिनि ही के दर्शनपर कहेंगे, कुमारिलका दार्शनिक मत धर्मकीर्तिके प्रकरणमें पूर्वपक्षके रूपमें आ जायगा।

(२) मीमांसासूत्र-संक्षेप—मीमांसाने अपने १२ अध्याय तथा ढाई हजार सूत्रोंमें निम्न विषयोंपर विवेचन किया है—

अध्याय	विषय
१.	प्रमाण—विधि (=यज्ञका विधान), अर्थवाद, मन्त्र स्मृति, नामधेयकी प्रामाणिकता।
२.	भेद—कर्मभेद उपोद्घात, प्रमाण, अपवाद, प्रयोगभेद।
३.	श्रुति लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान समाख्या (=नाम)के विरोध, प्रधान (=यज्ञ)के उपकारक और कर्मोंका चिन्तन।
४.	प्रधान (=मुख्य) यज्ञ, तथा अप्रधान (=अंग यज्ञ)की प्रयोजकता, जुहू (=पात्र)के पत्ते आदिके होनेका फल, राजसूय यज्ञके भीतर तथा खेलने आदि कर्मोंपर विचार।
५.	श्रुति, लिंग, आदिके क्रम, उनके द्वारा विशेषका घटना-बढ़ना और मजबूती तथा कमजोरी।
६.	अधिकारी उसका धर्म, द्रव्य-प्रतिनिधि, अर्थलोपनप्राय-श्चित्त, सत्रदेय वह्निपर विचार।

अध्याय	विषय
७.	प्रत्यक्ष (=श्रुतिमें) न कथन किये गए अतिदेशोंमेंसे नाम-लिंग-अतिदेशपर विचार।
८.	स्पष्ट, अस्पष्ट प्रबल लिंग वाले अतिदेशपर विचार।
९.	ऊहपर विचारारम्भ—साम-ऊह, मंत्र-ऊह।
१०.	निषेधके अर्थोंपर विचार।
११.	तंत्रके उपोद्घात, अवाप, प्रपंचन अवाय, प्रपंचन चिंतन।
१२.	प्रसंग, तंत्र निर्णय, समुच्चय, विकल्पपर विचार।

यह सूची पूर्ण नहीं है। यहाँ दिये विषयोंसे यह भी पता लग जाता है, कि **मीमांसा**का दर्शनसे बहुत थोड़ा सा संबंध है, बाकी तो कर्मकांड-संबंधी प्रश्नों, विरोधों, सन्देहोंको दूर करनेके लिए कोशिश मात्र है।—वस्तुतः जैमिनिने कल्प-सूत्रों (=प्रयोगशास्त्रों)के लिए वही काम किया है, जो कि वेदान्तने उपनिषदोंके लिए।

(३) दार्शनिक विचार—जैमिनिने पहिले सूत्रमें धर्म-जिज्ञासाको मीमांसा शास्त्रका प्रयोजन बतलाया। धर्म क्या है। इसका उत्तर दिया—"चोदनालक्षणार्थो धर्मः"[1]—(वेदकी) प्रेरणा जिसके लिए हो वह बात धर्म है। कणादने धर्मकी व्याख्या करते हुए उसे अभ्युदय और निःश्रेयस (=पारलौकिक समृद्धि)का साधन बतलाया था। जैमिनिने यहाँ धर्मका स्वरूप बतलाना चाहा, और उसके लिए तर्क और बुद्धिपर जोर न देकर वेदके उन वाक्योंको मुख्य बतलाया जिनमें कर्मकी प्रेरणा (=चोदना या विधि) पाई जाती है। ऐसे प्रेरणा (=चोदना) वाक्य ब्राह्मणोंमें मन्त्रके बराबर हैं। इन्हें ही जैमिनि कर्मकांडके लिए सबसे बड़ा प्रमाण तथा उसकी साफल्यकी गारंटी बतलाता है।

मीमांसाने बुद्धिवादको नकाबोंमें प्राय भारतमें किस सफलतासे पदार्पण किया, इसे आचार्य धर्मकीर्तिके[2] वाक्य बहुत अच्छी तरह बत-

---

[1] मीमांसा-सूत्र १।१।२

लाते हैं[1]—

"मीमांसक पुराने ब्राह्मणी यज्ञवाले धर्मके अत्यन्त कट्टर धर्मशास्त्री थे। यज्ञके सिवाय किसी दूसरे विषयके तर्क-वितर्कके वह सख्त खिलाफ थे। शास्त्र—वेद—उन ३०के करीब **उत्पत्ति विधियोंके** संग्रहके अतिरिक्त और कुछ नहीं। ये विधियाँ यज्ञोंका विधान करती हैं और बतलाती हैं कि उनके करनेसे किस तरहका फल मिलेगा। (मीमांसाके) इस धर्ममें न कोई धार्मिक भावुकता है और न उच्च भावनाएँ। उसकी सारी बातें इस सिद्धान्तपर स्थापित हैं—ब्राह्मणोंको उनकी दक्षिणा दे दो, और फल तुम्हारे पास आ मौजूद होगा। लेकिन इस धार्मिक क्रय-विक्रय—व्यापार—पर जो प्रहार (बुद्धिवादियोंकी ओरसे) हो रहे थे, उनसे अपनी रक्षा करना मीमांसकोंके लिए जरूरी था; और (सारे व्यापारकी भित्ति) वेदकी प्रामाणिकताको दृढ़ करनेके लिए 'शब्द नित्य है' इस सिद्धान्तकी कल्पना की। जिन गकार आदि (वर्णों)से हमारी भाषा बनी है, वह उस तरहकी ध्वनियाँ या शब्द नहीं हैं, जैसी कि दूसरी ध्वनियाँ और शब्द। वर्ण नित्य अविकारी द्रव्य हैं, किन्तु सिवाय समय-समयपर अभिव्यक्त होनेके उन्हें साधारण आदमी (सदा) नहीं ग्रहण कर सकता। जिस तरह प्रकाश जिस वस्तुपर पड़ता है, उसे पैदा नहीं करता, बल्कि प्रकाशित (=अभिव्यक्त) करता है, इसी तरह हमारा उच्चारण वेदके शब्दोंको पैदा नहीं बल्कि प्रकाशित करता है। सभी दूसरे आस्तिक नास्तिक दर्शन मीमांसकोंके इस उपहासास्पद विचारका खंडन करते थे, तो भी मीमांसक अपनी असाधारण सूक्ष्म तार्किक युक्तियोंसे उनका उत्तर देते थे। इस एक बातकी रक्षामें वह इतने व्यस्त थे कि उन्हें दूसरे दार्शनिक विषयोंपर ध्यान देनेकी फुर्सत न थी। वह कट्टर वस्तुवादी, योग तथा अध्यात्मविद्याके विरोधी और निषेधात्मक सिद्धान्तोंके पक्षपाती थे। कोई सृष्टिकर्त्ता ईश्वर नहीं,

[1] Buddhist Logic (by Dr. Th. Stcherbatsky, Leningrad 1932) Vol. I, pp. 23-24 (**भावार्थ**)

कोई सर्वज्ञ नहीं, कोई मुक्त पुरुष नहीं; विश्वके भीतर कोई रहस्यवाद नहीं, वह उससे अधिक कुछ नहीं है, जैसा कि हमारी (स्थूल) इन्द्रियोंको दिखलाई पड़ता है। इसलिए (यहाँ) कोई स्वयंभू (=स्वतःसिद्ध) विचार नहीं, कोई रचनात्मक साक्षात्कार नहीं, कोई (मानस) प्रतिबिंब नहीं, कोई अन्तर्दर्शन नहीं; एक केवल चेतना—चेतना स्मृतिकी कोरी तख्ती—है, जो कि सभी बाहरी अनुभवोंको अंकित करती और सुरक्षित रखती है। वेदमें आनेवाले शब्दको नित्य माननेके लिए उन्होंने जिस प्रकारकी मनोवृत्ति दिखाई, वही उनके (यज्ञके) फलोंके पैसे-पैसेके हिसाबवाले सिद्धान्तमें भी पाई जाती है। यज्ञकी क्रियाएँ बहुत पेचीदा हैं, यज्ञ बहुतसे टुकड़ों (=**अंगों**) से मिलकर समाप्त होता है। प्रत्येक अंग-क्रिया आंशिक फल (=भाग-अपूर्व) उत्पन्न करती है, फिर ये आंशिक फल जोड़े जाते हैं, जिससे सम्पूर्ण फल (=समाहार-अपूर्व) तैयार होता है—यही सम्पूर्ण याग (=**प्रधान**)का फल है। 'शब्द नित्य है' इस सिद्धान्त तथा इससे संबंध रखनेवाले विचारोंको छोड़ देनेपर मीमांसा और बुद्धि-वादी न्याय-वैशेषिक दर्शनोंमें कोई भेद नहीं रहता। मीमांसकोंके सबसे जबर्दस्त विरोधी बौद्ध दार्शनिक थे। दोनोंके प्रायः सारे ही सिद्धान्त एक दूसरेसे उल्टे हैं।

(क) वेद स्वतः प्रमाण है—जैसा कि आरम्भके उद्धरणसे मालूम हुआ मीमांसाका मुख्य प्रयोजन था पुरोहितोंकी आमदनीको सुरक्षित करना। दक्षिणा उन्हें तभी मिल सकती थी, यदि लोग वैदिक कर्मकांडको मानें; वैदिक कर्मकांड तब यजमानोंको प्रिय हो सकता था, जब कि उन्हें विश्वास हो कि यज्ञका अच्छा फल—स्वर्ग जरूर मिलेगा। इस विश्वासके लिए कोई पक्का प्रमाण चाहिए, जिसके लिए मीमांसकोंने वेदको पेश किया। उन्होंने कहा—वह अनादि है, वह किसी ईश्वर या मानुषके नहीं बनाये—अपौरुषेय—हैं। पुरुषके वचनमें गलतीका डर रहता है, क्योंकि उसमें राग-द्वेष है, जिसकी प्रेरणासे वह गलत बात भी मुँहसे निकाल सकता है। वेद यदि बना होता तो उसके कर्त्ताओंका नाम सुना जाता,

कर्त्ताकी याद तक न रहनी यही सिद्ध करती है कि वेद अकृत हैं। वेद अनादि हैं, क्योंकि उन्हें हर एक वेदपाठीने अपने गुरुसे पढ़ा है, और इस प्रकार यह गुरु-शिष्यकी परंपरा कभी नहीं टूटती। वेदमंत्रोंमें भरद्वाज, वशिष्ठ, कुशिक आदि ऋषियों; दिवोदास्, सुदास्, आदि राजाओंके नाम आते हैं। जैमिनि मंत्र(-संहिता) और ब्राह्मण दोनोंको वेद मानता है। उसने और सैकड़ों ऐतिहासिक नामोंकी व्याख्याके फंदेमें फँसनेके डरसे दयानंदकी भाँति ब्राह्मणको वेदसे खारिज नहीं किया। भरद्वाज-वशिष्ठ और दिवोदास्-सुदास्से लेकर आरुणि-याज्ञवल्क्य और पौत्रायण-जनक तक सैकड़ों ऐतिहासिक नामोंको वह अनैतिहासिक-वस्तुओंका नाम कहकर व्याकरणके धातु-प्रत्ययोंसे व्याख्या कर देना चाहता है। जैमिनिके लिए प्रावाहणि किसी प्रवहणके पुत्र का नाम नहीं बहनेवाली हवाका नाम है। ऋषियोंको मंत्रकर्त्ता कहना गलत है। वेदके शब्द-अर्थका संबंध नित्य है, जैसे लौकिक भाषामें "रेलगाड़ी" शब्द और पहियावाले लम्बे चौड़े घर पदार्थका संबंध पिता-माता-गुरु आदि द्वारा बतलाया और किसी समय बने मानव-संकेतके रूपमें देखा जाता है, वेदमें ऐसा नहीं है। जैमिनिने तो बल्कि यहाँ तक कहा है कि लौकिक भाषामें भी "गाय" शब्द और गाय अर्थका जो संबंध है, वह भी वैदिक शब्दार्थ-संबंधकी नकलपर भ्रान्तिके कारण है।

वेद जिस कर्मको इष्टका साधक बतलाता है, वही धर्म है। वेद जिसे अनिष्टका साधक बतलाता है, वह अधर्म है। स्मृति (=ऋषियोंके बनाए धर्म संबंधी ग्रंथ) और सदाचार भी धर्ममें प्रमाण हो सकते हैं, यदि वह वेद-अनुसारी है। स्मृति और सदाचारमें पाये जानेवाले कितने ही कर्म भी धर्म हो सकते हैं, यदि वेदमें उनका विरोध न मिले। किन्तु उन्हें वेदसे अलगका समझकर धर्म नहीं माना जायगा, बल्कि इसलिए माना जायगा कि वेदका वैसा कोई वाक्य पहिले कभी मौजूद था, जिससे स्मृति और सदाचारने उसे लिया। अब वेदकी कितनी ही शाखाओंके लुप्त हो जानेसे वह प्राप्य नहीं है। "प्राप्य नहीं है" का अर्थ इतना ही लेना है, कि

उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती अन्यथा नित्य होनेसे वेदकी शब्दराशि तो कहीं मौजूद है ही।

(a) **विधि**—वेदमें भी सबसे ज्यादा प्रयोजनके हैं **विधि-वाक्य**, जिनके द्वारा वेद यज्ञ आदि कर्मोंके करनेका आदेश देता है[1]—"स्वर्गकी कामनावाला अग्निहोत्र करे" "सोमसे यजन करे" "पशुकी कामनावाला उद्भिद् (यज्ञ)का यजन करे।" इस तरह सत्तरके करीब विधि-वाक्य हैं, जो यज्ञ कर्मोंके करनेका विधान करते हैं। और साथ ही यजमानको उसके शुभफलकी गारंटी देते हैं। वेदके मंत्रभागका जैमिनि, इससे ज्यादा कोई प्रयोजन नहीं मानता कि यज्ञकी क्रियाओं—पशुके पकड़ने, धोने वध करने, मांस काटने, पकाने-बघारने, होम करने आदि—में उनके पढ़ने (=विनियोग)की जरूरत होती है। ब्राह्मणमें भी इन सत्तर-बहत्तर यज्ञ विधायक वाक्योंके अतिरिक्त बाकी सारे—ब्राह्मण—आरण्यक उपनिषद्के—पोथे सिर्फ **अर्थवाद** हैं।

सांगोपांग सारा यज्ञ **प्रधान** यज्ञ कहा जाता है, लेकिन सारा यज्ञ एक क्षणमें पूरा नहीं हो सकता। जैसे "गाय लाता है" यह सारा वाक्य एक अभिप्रायको व्यक्त करता है, किन्तु जब "गा-" बोला जा रहा होता है, उसी वक्त अभिप्राय नहीं मालूम होता। जब एक-एक करके "है" तक हम पहुँचते हैं, तो सारे 'गाय लाता है' वाक्यका अभिप्राय मालूम हो जाता है। इसी तरह एक यज्ञके **अंगभूत** कर्म पूरे होते-होते जब सांगो-पांग यज्ञ पूरा हो जाता है, तो उसके फलका **अपूर्व**—फल-उत्पादक संस्कार—पैदा होता है, यही अपूर्व श्रुति-प्रतिपादित फलको इस जन्म या परजन्ममें देगा।

(b) **अर्थवाद**—वेद (ब्राह्मण)के चंद विधि-वाक्योंको छोड़ बाकी सभी अर्थवाद हैं, यह बतला चुके। अर्थवाद चार प्रकारके हैं—निंदा, प्रशंसा, परकृति, पुराकल्प। निंदा आदि द्वारा अर्थवाद **विधिकी** पुष्टि

---

[1] **"अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" "सोमेन यजेत"।**

करता है। जैमिनिके अनुसार आरुणि और याज्ञवल्क्यके सारे गंभीर दर्शन यज्ञ-प्रतिपादक विधियोंके अर्थवादको छोड़ और कोई महत्त्व नहीं रखते।

(i) **स्तुति**[1]—"उसका मुख शोभता है, जो इसे जानता है"—यहाँ जाननेकी विधिकी स्तुति है।

(ii) **निन्दा**—इस अर्थवादका उदाहरण है[2]—"आँसुओंसे जन्मी (यह) चाँदी है, जो इसे यज्ञमें देता है, वर्षसे पहिलेही उसके घरमें रोते हैं।" यह यज्ञमें दक्षिणा रूपसे चाँदी देनेकी निंदा करके "यज्ञमें चाँदी नहीं देनी चाहिए"[3]—इस विधि-वाक्यकी पुष्टि करता है। (iii) **परकृति**—दूसरे किसी महान् पुरुषने किसी कामको किया उसको बतलाना परकृति है, जैसे "अग्निने कामना की"[4] (iv) **पुराकल्प**—पुराने कल्पकी बात, जैसे "पहिले (जमानेमें) ब्राह्मण डरे।"[5] जैसे स्तुति और निंदासे **विधि**की पुष्टि होती है, वैसे ही बड़ोंकी कृति तथा पुराने युगकी बातें भी उसकी पुष्टि करती हैं। यह समझानेकी कोशिश की गई है कि वेदमें विधि-वाक्योंको कम करनेसे वेदका अधिकांश भाग निरर्थक नहीं है। जैमिनिने एक ओर तो वेदको अनादि अपौरुषेय सिद्ध करनेके लिए यह घोषित किया कि उसमें कोई इतिहास नहीं, दूसरी ओर अर्थवादोंमें **परकृति और पुराकल्प** जोड़कर इतिहासको मान-सा लिया; इसके उत्तरमें मीमांसकोंका कहना है, यह इतिहास नित्य इतिहास है, अर्थात् याज्ञवल्क्य और जनक अनित्य इतिहासकी एक बारकी घटना नहीं बल्कि रात दिनकी भाँति बराबर अनादिकालसे ऐसे याज्ञवल्क्य और जनक होते हैं, जिनका जिक्र वेदके एक अंश शतपथ ब्राह्मणके अंतिम खंड बृहदारण्यकमें हमेशासे लिखा

---

[1] "शोभते वास्य मुखं"।

[2] "अश्रुजं हि रजतं यो बर्हिषि ददाति पुरास्य संवत्सराद् गृहे रुदन्ति।"

[3] "बर्हिषि रजतं न देयम्"। [4] "अग्निर्वा अकामयत"।

[5] "पुरा ब्राह्मणा अभैषुः।"

हुआ है। आज हमें यह दलील उपहासास्पदसी जान पड़ेगी, किन्तु कोई समय था जब कि कितने ही लोग ईमानदारीसे जैमिनिके इस तरहके अपौरुषेय वेदके सिद्धान्तको मानते थे।

(ख) अन्य प्रमाण—मीमांसाके प्रमाणोंकी सूची बहुत लंबी है। वह शब्द प्रमाणके अतिरिक्त प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, संभव, अभाव छै और प्रमाणोंको मानता है, यद्यपि सबसे मजबूत प्रमाण उसका शब्द प्रमाण या वेद है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान मीमांसकोंके भी वैसे ही है, जैसे कि उन्हें अक्षपाद गोतम जैमिनिसे पहिले कह गए थे। **अर्थापत्तिका** उदाहरण "मोटा देवदत्त दिनको नहीं खाता" अर्थात् रातको खाता है। **संभव**—जैसे हजार कहनेपर सौ उसमें सम्मिलित समझा जाता है। **अभाव** या अनुपलब्धि भी एक प्रमाण है, क्योंकि "भूमिपर घड़ा नहीं है" इसके सत्त होनेके लिए यही प्रमाण दे सकते हैं कि वहाँ घड़ा अनुपलब्ध है।

(ग) तत्त्व—मीमांसाके अनुसार बाह्य विश्व सत्त है और वह जैसा दिखलाई पड़ता है वैसा ही है। आत्मा अनेक है। स्वर्गको भी वह मानता है, किन्तु उसके भोगोंको विश्वके भोगोंसे इस बातमें समानता है, कि दोनों भौतिक हैं। ईश्वरके लिए मीमांसामें **गुंजाइश** नहीं।[1] जैमिनिको वेदकी स्वतः प्रमाणता सिद्धकर यज्ञ कर्मकाण्डका रास्ता साफ करना था। उसने ईश्वर-सिद्धिके बखेड़ेमें पड़नेसे वेदको नित्य अनादि सिद्ध करना आसान समझा और इतिहासके संबंधमें उस वक्त जितना अज्ञान था, उससे यह बात आसान भी थी।

मीमांसासूत्र वैसे बाकी पाँचों ब्राह्मण दर्शनोंसे बहुत बड़ा है किन्तु उसमें दर्शनका अंश बहुत कम है।

मीमांसा वैदिककालसे चले आते पुरोहित श्रेणीका अपनी जीविका (=दक्षिणा आदि) को सुरक्षित रखनेके लिए अन्तिम प्रयत्न था। उपनिषद्-

---

[1] "द्विजन्मना जैमिनिना पूर्वं वेदमयार्थतः। निरीश्वरेण वादेन कृतं शास्त्रं महत्तरम्॥"—पद्मपुराण, उत्तरखंड २६३

कालके आसपास (७००-६०० ई० पू०) धर्म और स्वर्गके नामपर होने-वाली मुँहबाँधकर या दूसरे ढंगसे की गई पशु-हत्याओं तथा टोटके जैसी क्रियाओंसे बुद्धि बगावत करने लगी थी। उपनिषद्ने यागोंका स्थान थोड़ा नीचाकर आत्मज्ञानको ऊँचे स्थानपर रख, ब्राह्मणोंको नये धर्म (=ब्रह्म-वाद)का पुरोहित ही नहीं बनाया, बल्कि पुराने यज्ञ-यागोंको पितृयाणका साधन मान पुरानी पुरोहितीको भी हाथसे नहीं जाने दिया। अब बुद्धका समय आया। जात-पाँतों और आर्थिक विषमताओंसे उत्पन्न हुए असन्तोषोंने धार्मिक विद्रोहका रूप धारण किया। अजित केशकम्बली जैसे भौतिकवादी तथा बुद्ध जैसे प्रतीत्य-समुत्पाद प्रचारक बुद्धिवादीने पुराने धार्मिक विश्वासोंपर जबर्दस्त प्रहार किये। कूपमंडूकता भौगोलिक ही नहीं बौद्धिक क्षेत्रमें भी हटने लगी। फिर यवनानियों, शकों तथा दूसरी आकर बस जानेवाली आगन्तुक जातियोंने इस बौद्धिक युद्धको और उग्र कर दिया। अब याज्ञवल्क्य और आरुणिकी शिक्षाओंसे, गार्गीको शिर गिरनेका भय दिखला, प्रश्न और सन्देहकी सीमाओंको रोका नहीं जा सकता था। नवागन्तुक जातियाँ जब यहाँ बसकर भारतीय बन गईं, तो फिर अपने-अपने धर्मोंको बौद्धिक भित्तिपर तर्कसम्मत सिद्ध करनेकी कोशिश की गई। बुद्धके बाद भी मौर्योंके उत्तराधिकारी और प्रतिद्वंद्वी शुंगोंने अश्वमेध यज्ञ तथा दूसरे यागोंको पुनरुज्जीवित करना चाहा था। मथुरामें शककालके भी यज्ञ-यूप मिले हैं। इस तरह जैमिनिके समय यज्ञ-संस्था लुप्त नहीं हो गई थी। लेकिन उसका ह्रास हुआ था, और भविष्यका संकट और भी प्रबल था, जिसको रोकनेके लिए कणादने हल्का और जैमिनिने भारी प्रयत्न किया। जैमिनिके बाद गुप्तकालमें लोक-प्रसिद्धिके लिए यज्ञ राजाओं और धनियोंको बड़े साधक मालूम हुए, जिससे इनका प्रचार अच्छा रहा। किन्तु इसी कालने वसुबंधु (४०० ई०), दिग्नाग (४२५ ई०) जैसे स्वतन्त्रचेता तार्किकोंको पैदा किया, जिससे फिर ब्राह्मणोंकी यज्ञ-जीविकापर एक भारी संकट आन उपस्थित हुआ, और तब कुमारिलने जैमिनिके पक्षमें तलवार उठाई।

कुमारिलने मीमांसा दर्शनमें कोई खास-तत्त्व विकास नहीं किया, बल्कि जैमिनिके सिद्धान्तोंको युक्ति और न्यायसे और पुष्ट करना चाहा। कुमारिलके तर्ककी बानगी हम उसके प्रतिद्वंदी धर्मकीर्तिके प्रकरणमें देखेंगे।

यद्यपि इस प्रकार मीमांसकोंने वैदिक कर्मकांडको जीवित रखनेका बहुत प्रयत्न किया, किन्तु उसके ह्रासको नहीं रोका जा सका। उसमें एक कारण था—ब्राह्मणोंके अनुयायियोंमें भी मन्दिरों और मूर्तियोंकी अधिक सर्वप्रियता। वैदिक पुरोहित देवल या पुजारी बनकर दक्षिणा कम करनेके लिए तैयार न था, दूसरी ओर यजमान भी चंद दिनोंमें खिला-पिला मामूली पत्थर या गूलरके यूपको खड़ाकर अपनी कीर्तिको उतना चिरस्थायिनी नहीं होते देखता था, जितना कि उतने खर्चमें खड़ा किया देवबनारिक या बैजनाथ (कांगड़ा)का मंदिर उसे कर सकता था।

सप्तदश अध्याय

ईश्वरवादी दर्शन

नये युगके अनीश्वरवादी दर्शनोंके बारेमें हम बतला चुके, अब हम इस युगके ईश्वरवादी दर्शनोंको लेते हैं। इन्हें हम बुद्धिवाद, रहस्य-वाद और शब्दवाद—तीन श्रेणियोंमें बाँट सकते हैं। अक्षपाद गौतमका न्याय-शास्त्र बुद्धिवादी है, पतंजलिका योग रहस्यवादी दर्शन है, बल्कि दर्शनकी अपेक्षा उसे योग-युक्तिकी गुटका समझना चाहिए। बादरायणका वेदान्त शब्दवादी है।

§१—बुद्धिवादी न्यायकार अक्षपाद (२५० ई०)

१—अक्षपादकी जीवनी

अक्षपादके जीवनके बारेमें भी हम अन्धेरेमें हैं। डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण[1]ने मेधातिथि गौतमको आन्वीक्षिकी (=न्याय)का आचार्य बतलाते हुए उनका काल ५५० ई० पू० साबित करना चाहा है, और दर्भंगाके गौतम-स्थानको[2] उनका जन्मस्थान बतला, उन्होंने वहाँकी तीर्थयात्रा भी कर डाली। ऐसा गौतमस्थान सारन (छपरा जिला)में सरयूके दाहिने तटपर गोदना भी है, जहाँ कार्तिकके महीनेमें भारी मेला लगता है।[3]

---

[1] Indian Logic, p. 17 [2] दर्भंगासे २८ मील पूर्वोत्तर।

[3] गौतम-स्थानमें चैत्रमें मेला लगता है।

ऋग्वेदके ऋषि मेधातिथि गौतम, और उपनिषद्के ऋषि नचिकेता गौतमको मिला-जुलाकर उन्होंने आन्वीक्षकीके मूल आचार्य मेधातिथि गौतमको तैयार किया है। तर्कविद्याका आन्वीक्षकी अक्षपादसे पहिले, कौटिल्य (३२० ई० पू०)के समय भी मुमकिन है, कहा जाता हो। "तक्की वीमंसी" (=तार्किक और मीमांसक) शब्द पाली ब्रह्मजाल-सुत्तमें[1] भी आता है, किन्तु इससे हम जैमिनिके "मीमांसा"का अस्तित्व उस समय स्वीकार नहीं कर सकते। जिस न्यायसूत्रको हम अक्षपादके न्यायसूत्रोंके रूपमें पाते हैं, उससे पहिले भी ऐसा कोई व्यवस्थित शास्त्र था, इसका कोई पता नहीं।

न्यायसूत्रोंके कर्ता अक्षपाद (आँखका काम देते हैं जिनके पैर) हैं। न्यायवार्तिक (उद्योतकर ५५० ई०) और न्यायभाष्यकार (वात्स्यायन ३०० ई०)में न्यायसूत्रकारको इसी नामसे पुकारा गया है।[2] किन्तु श्रीहर्ष (नैषधकार ११६० ई०)के समय न्याय-सूत्रकारका नाम गोतम (=गौतम) भी प्रसिद्ध था।[3] दोनोंकी संगति गोतमको ही अक्षपादसे की जाती है।

अक्षपादके समयके बारेमें हम इतना ही कह सकते हैं, कि वह नागार्जुनसे पीछे हुए थे। सापेक्षतावादी नागार्जुनने अपनी "विग्रहव्या

[1] सुत्तपिटक, दीर्घनिकाय १।१

[2] "यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद।"
—न्यायवार्तिक (आरम्भ)।

"योऽक्षपादमृषिं न्यायः प्रत्यभाद् वदतां वरम्।
तस्य वात्स्यायन इति भाष्यजातमवर्तयत्॥"

[3] "मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः॥"

—नैषध १७।७५

वर्त्तनी"[1] में परमार्थ रूपमें प्रमाणकी सत्ता न माननेके लिए जो युक्तियाँ दी है, अक्षपादने न्यायसूत्रोंमें उनका खंडन कर परमार्थ प्रमाणके साबित करनेकी चेष्टा की है; जिसका अर्थ इसके सिवाय और कुछ नहीं हो सकता, कि न्यायसूत्र नागार्जुनके बाद बना।

२—न्यायसूत्रका विषय-संक्षेप

न्यायसूत्रोंके वर्णनकी शैली ऐसी है, कि पहले ग्रंथकार प्रतिपाद्य विषयोंके नामोंकी गिनती और लक्षण बतलाता है, फिर पीछे युक्ति (=न्याय)-से परीक्षा करके बतलाता है, कि उसका मत ठीक है, और विरोधीका मत गलत है। न्यायसूत्रमें पाँच अध्याय और प्रत्येक अध्यायमें दो-दो आह्निक हैं। उनमें सूत्रोंकी संख्या निम्न प्रकार है—

अध्याय	आह्निक	सूत्र-संख्या	
१	१	४१	६१
	२	२०	
२	१	६९	१३९
	२	७०	
३	१	७२	१४५
	२	७३	
४	१	६८	१२०
	२	५२	
५	१	४३	६८
	२	२५	
			५३३

अध्यायोंमें कही गई बातें निम्न प्रकार हैं—

१. प्रतिपाद्यका सामान्य कथन .. .. अध्याय १

[1] "विग्रहव्यावर्त्तनी" J.B.O.R.S., Vol. XXIII, Preface, pp. iv, v.

(१) प्रतिपाद्य विषयोंका सामान्य तौरसे वर्णन	अध्याय १
(२) प्रतिपादनके लिए युक्त और अयुक्त शैली	"
२. परीक्षाएं	.. २-५
(१) प्रमाणोंकी परीक्षा	.. २
(२) प्रमेयों (=प्रमाणके विषयों)की परीक्षा	.. ३-४
(क) स्वसम्मत वस्तुओंकी परीक्षा	.. ३
(ख) धार्मिक धारणाओंकी परीक्षा	.. ४
(३) अयुक्त वाद-शैलियोंकी परीक्षा ..	५[1]

---

[1] इस संक्षेपको और विस्तारसे जाननेके लिए निम्न पंक्तियोंको अवलोकन करें—

अध्याय	आह्निक		विषय	सूत्रांक
१			न्यायसूत्रके प्रतिपाद्योंकी नाम-गणना	१
१	१		अपवर्ग (=मुक्ति) प्राप्तिका क्रम	२
		(१)	(चारों) प्रमाणोंकी नाम-गणना	३
			प्रमाणोंके लक्षण	४-८
		(२)	प्रमेयों (=प्रमाणके विषयों)की नाम-गणना	९
			प्रमेयोंके लक्षण	१०-२२
		(३)	संशयका लक्षण	२३
		(४)	प्रयोजनका लक्षण	२४
		(५)	दृष्टान्तका लक्षण	२५
		(६)	सिद्धान्तका लक्षण	२६
			सिद्धान्तोंके भेद और उनके लक्षण	२७-३१
१	२	(७)	साधक वाक्योंके अवयवोंकी नाम-गणना	३२
			उनके लक्षण	३३-३९
		(८)	तर्कका लक्षण	४०
		(९)	निर्णयका लक्षण	४१

न्यायसूत्रके प्रतिपाद्य विषय या पदार्थ सोलह हैं, जो कि पहिले अध्याय-के दोनों आह्निकोंमें दिये हैं। इनमें चार प्रमाणों और ग्यारह प्रमेयोंपर

अध्याय	आह्निक		विषय	सूत्रांक
१	२	(१०)	वाद (=ठीक बहस)का लक्षण	१
		(११)	जल्पका लक्षण	२
		(१२)	वितंडाका लक्षण	३
		(१३)	गलत हेतुओं (=हेत्वाभासों)की नाम-गणना	४
			हेत्वाभासोंके लक्षण	५-६
		(१४)	छलका लक्षण	१०
			छलके भेद	११
			उनके लक्षण	१२-१७
		(१५)	जाति (=एक तरहका गलत हेतु)का लक्षण	१८
		(१६)	निग्रह-स्थान (=पराजयके स्थान)का लक्षण	१६
			जाति-निग्रहस्थानकी बहुता	२०
२	१		संशयकी परीक्षा	१-७
		(१)	प्रमाण-परीक्षा (सामान्यतः)	८-१६
		(क)	प्रत्यक्ष-प्रमाणके लक्षणकी परीक्षा	२०-२६
			प्रत्यक्ष अनुमान नहीं है	३०-३२
			[पूर्ण (=अवयवी) अपने अंशोंसे अलग है]	३३-३६
		(ख)	अनुमानप्रमाण-परीक्षा	३७-३८
			(काल पदार्थ है)	३६-४३
		(ग)	उपमान-प्रमाणकी परीक्षा	४४-४८
		(घ)	शब्द-प्रमाणकी परीक्षा	४६-६६
२	२		प्रमाण चार ही हैं	१-१२
			(बोले जानेवाले वर्ण नित्य नहीं हैं)	१३-५६
			पद क्या है	६०

ही बहुत जोर दिया गया है, यह इसीसे मालूम होता है, कि पाँच अध्यायोंमें तीन अध्याय (२-४) तथा ५३३ सूत्रोंमें ४०४ सूत्र इन्हीके बारेमें लिखे गये हैं।

अध्याय	आह्निक	विषय	सूत्रांक
		पदार्थ (=गाय आदि पदोंके विषय) क्या है?	६१-७०
३	१	(१) आत्मा है	१-२७
		(आँखोंके दो होनेपर भी चक्षु-इन्द्रिय एक है)	(८-१५)
		(२) शरीर क्या है ?	२८-२९
		(३) इन्द्रियाँ भौतिक हैं	३०-५०
		(आँख आगसे बनी है)	(३०-३६)
		इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न हैं	५१-६०
		(४) अर्थों (=इन्द्रियोंके विषयों) की परीक्षा	६१-७१
३	२	(५) बुद्धि (=ज्ञान) अनित्य है	१-५६
		(बौद्धोंके क्षणिकवादकी परीक्षा)	(१०-१७
		(६) मनहै	५७-६०
		[=अदृष्ट (देहान्तर और कालान्तरमें भोग पानेका कारण) है]	६१-७३
		(७) प्रवृत्ति (=कायिक, वाचिक, मानसिक कर्म, या धर्म-अधर्म) की परीक्षा	१
		(८) दोष क्या है ?	२-९
		(दोषके तीन भेद—राग, द्वेष, मोह)	(३)
		(९) प्रेत्यभाव (=पुनर्जन्म) है	१०-१३
		(बिना हेतु कुछ नहीं उत्पन्न होता)	१४-१८
		(ईश्वर है)	१९-२१
		अ-हेतुवादका खंडन	२२-२४

३—अक्षपादके दार्शनिक विचार

न्यायसूत्रके प्रतिपाद्य विषयोंपर संक्षेपमें भी लिखना यहाँ संभव नहीं है तो भी दार्शनिक विचारोंको बतलानेके लिए हम यहाँ उसकी कुछ बातोंपर प्रकाश डालना चाहते हैं।

अध्याय	आह्निक		विषय	सूत्रांक
			(सभी अनित्य हैं ?)	२५-२८
			(सभी वस्तुएँ नित्य हैं ?)	२९-३३
			(सभी वस्तुएँ अपने भीतर भी अलग-अलग हैं ?)	३४-३६
			(सभी शून्य हैं ?)	३७-४०
			(प्रतिज्ञा, हेतु आदि एक नहीं हैं)	४१-४३
		(१०)	(कर्म-)फल होता है	४४-५४
		(११)	दुःख-परीक्षा	५५-५८
		(१२)	अपवर्ग (= मुक्ति) है	५९-६९
४	२		पूर्ण [= अवयवी] अंशोंसे अलग है	१-१५
			परमाणु	१६-२५
			विज्ञानवादियोंका बाहरी जगत्से इन्कार गलत है	२६-३७
			तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेका उपाय	३८-५१
			जल्प, वितंडा जैसी गलत बहसोंकी भी जरूरत है	५०-५१
५	१		जातिके भेद	१
			उनके लक्षण आदि	२-४३
	२		निग्रह-स्थानके भेद	१
			उनके लक्षण आदि	२-२५

क. प्रमाण

(१) प्रमाण—सच्चे ज्ञान तक पहुँचनेके तरीकेको प्रमाण कहा जाता है। अक्षपाद **प्रमाण**को सापेक्ष नहीं परमार्थ अर्थमें लेते हैं; जिसपर (नागार्जुन जैसे) विरोधियोंका पहिले हीसे आक्षेप था—[1]

पूर्वपक्ष—प्रत्यक्ष आदि (परमार्थ रूपेण) प्रमाण नहीं हो सकते, क्योंकि तीनों कालों (=भूत, भविष्यत्, वर्तमान)में वह (किसी) बात (=प्रमेय—ज्ञेय बात)को नहीं सिद्ध कर सकते।—(क) यदि प्रमाण (प्रमेयसे) पहिलेहीसे सिद्ध है, (तो ज्ञान-रूप प्रमाणके पहिले ही सिद्ध होनेसे) इन्द्रिय और विषय (=अर्थ)के संयोगसे प्रत्यक्ष (ज्ञान) उत्पन्न होता है, यह बात गलत हो जाती है। (ख) यदि प्रमाण (प्रमेयके सिद्ध हो जानेके) बाद सिद्ध होता है, तो प्रमाणसे प्रमेय (ज्ञातव्य सच्चा ज्ञान) सिद्ध होता है यह बात गलत है। (ग) एक ही साथ (प्रमाण और प्रमेय दोनों)की सिद्धि माननेपर (एक ही साथ दो ज्ञान (=बुद्धि) होता है यह मानना पड़ेगा, फिर) ज्ञान (=बुद्धि) क्रमशः उत्पन्न होती है (अर्थात् एक समय मनमें सिर्फ एक ज्ञान पैदा होता है) यह (तुम्हारा सिद्धान्त) नहीं रहेगा।

इन चार सूत्रोंमें किये गए आक्षेपोंका उत्तर पाँच सूत्रोंमें[2] देते हुए कहते हैं—

उत्तरपक्ष—(क) तीनों कालोंमें (=प्रमाण) सिद्ध नहीं है, ऐसा माननेपर (तुम्हारा) निषेध भी ठीक नहीं होगा। (ख) सारे प्रमाणोंका निषेध करनेपर निषेध नहीं किया जा सकता, (क्योंकि आखिर निषेध भी प्रमाणकी सहायतासे ही किया जाता है)। (ग) उस (=अपने मतलब वाले प्रमाण)को प्रमाण माननेपर सारे प्रमाणोंका निषेध नहीं हुआ। (घ) तीनों कालों (=पहिले, पीछे और एक कालमें जो) निषेध (आपने

---

[1] न्यायसूत्र १।१।८-१२ [2] वहीं १।१।१२-१६

किया है, वह) नहीं किया जा सकता, आखिर पीछे जिस शब्द (की सिद्धि सुनकर हमें होती है उस)से (पहिलेसे स्थित) बाजा सिद्ध होता है। (इसी तरह एक साथ होनेवाले धुएँ और आगमें धुएँके देखनेसे आगकी सिद्धि होती है)। (ङ) प्रमेय (=ज्ञेय) होनेसे कोई किसी वस्तुके प्रमाण होनेमें बाधक नहीं होती, जैसे **तोला** (का बटखरा माशा या रत्तीसे तौलते वक्त प्रमेय हो सकता है, किन्तु साथही वह स्वयं मान=प्रमाण है, इसमें सन्देह नहीं)।

इसपर फिर आक्षेप होता है—

पूर्वपक्ष[1]—(क) प्रमाणसे (दूसरे) प्रमाणोंकी सिद्धि माननेपर (फिर उस पहिले प्रमाणकी सिद्धिके लिए) किसी और प्रमाणकी सिद्धि करनी पड़ेगी। (ख) इस (बात)से इन्कार करनेपर जैसे (बिना प्रमाणके किसी बातके) प्रमाण मान लिया उसी तरह प्रमेयको भी (स्वतः) सिद्ध मान लेना चाहिए।

उत्तर-पक्ष[2]—(आपका आक्षेप ठीक) नहीं है, दीपककी प्रकाशकी भाँति (प्रमाण) स्वतः अपनी सत्ताको सिद्ध करते हुए दूसरी वस्तुओंकी सत्ताको भी सिद्ध करता है।

इस तरह अक्षपादने प्रमाणको परमार्थरूपेण प्रमाण सिद्ध करना चाहा है, यद्यपि आजके **सापेक्षतावादी** इसमें परमार्थ नामधारी किसी सत्ताको साबित करना कठिन मानते हैं, साथही सापेक्ष प्रमाण ऐसा सिक्का है, जिसे प्रकृति स्वीकार करती है इसलिए व्यवहार (=अर्थक्रिया)में बाधा नहीं होती।

(२) प्रमाणकी संख्या—अक्षपादने प्रमाण चार माने हैं[3]—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द। दूसरे प्रमाणशास्त्री चारसे अधिक प्रमाणोंको भी मानते हैं—जैसे इतिहास, अर्थापत्ति (=अर्थसे ही जिसको सिद्ध समझा जाये, जैसे मोटा देवदत्त दिनको बिलकुल नहीं खाता,

[1] वहीं १।१।१७-१८ [2] वहीं १।१।१६ [3] वहीं १।१।३

जिसका अर्थ होता है, वह रातको खाता है), सम्भव, अभाव (घड़ेका किसी जगह न होना वहाँ उसके अभावसे ही सिद्ध है)। अक्षपाद इन्हें अपने चारों प्रमाणोंके अन्तर्गत मानते हैं, और प्रमाणोंकी संख्या चारसे अधिक करनेकी जरूरत नहीं समझते। जैसे—[1]

इतिहास	शब्द प्रमाणमें
अर्थापत्ति	
संभव	अनुमानमें
अभाव	

किन्तु साथ ही इतिहास आदिकी प्रामाणिकतामें सन्देह करनेकी वह आज्ञा नहीं देते।[2]

(क) प्रत्यक्ष-प्रमाण—"इन्द्रिय और अर्थ (=विषय) के सन्निकर्षसे उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है, (किन्तु इन शर्तोंके साथ, यदि वह ज्ञान) कथनका विषय न हुआ हो, गलत (=व्यभिचारी) न हो, और निश्चयात्मक हो (=दूर आदिसे देखी जानेवाली अनिश्चित चीज जैसी न हो)।"[3]

अक्षपाद इन्द्रियोंसे पर मन और उससे पर आत्माको भी मानते हैं, प्रत्यक्षका लक्षण करते हुए उन्होंने आत्मासे युक्त मन, मनसे युक्त इन्द्रिय नहीं जोड़ा, इसलिए उनका लक्षण अपूर्ण (=असमग्र) है।[4] इसका समाधान करते हुए सूत्रकारने कहा है कि (अनुमान आदि दूसरे प्रमाणोंसे) खास बात जो ज्यादा (प्रत्यक्षमें) है, उसको यहाँ लक्षणमें दिया गया है। (ऐसा न करनेपर) दिशा, देश, काल, आकाश आदिको भी (प्रत्यक्षके लक्षणमें) देना होगा।[5]

गायको हम जब प्रत्यक्ष करते हैं, तो उसके (सिर्फ) एक अंगका ग्रहण करते हैं,[6] एक अंगके ग्रहणसे सारे गो-शरीरका प्रत्यक्ष (ज्ञान) अनुमान होता है, इस प्रकार "प्रत्यक्ष अनुमान" के अन्तर्गत है। अक्षपादका

---

[1] वहीं २।२।२ [2] वहीं २।२।३-१२ [3] वहीं १।१।४
[4] वहीं २।१।२० [5] वहीं २।१।२१ [6] वहीं २।१।२२ [7] वहीं २।१।३०

उत्तर है[1]।—(क) एक अंशका भी प्रत्यक्ष मान लेनेपर प्रत्यक्षसे इन्कार नहीं किया जा सकता; (ख) और एक अंशका प्रत्यक्ष ग्रहण-करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि आदमी गायके सिर्फ एक अंश (=अवयव)का ही प्रत्यक्ष नहीं करता, बल्कि अवयवोंसे भीतर किन्तु उनसे भिन्न एक अखंड अवयवी भी है, जिसका कि वह अपनी आँखसे सीधा प्रत्यक्ष करता है।

यहाँ दूसरा उत्तर एक विवादास्पद वस्तु "अवयवी"—जिसे भारतीय दार्शनिकोंने यवन दार्शनिकोंसे लिया है,—को मानकर दिया गया, और सापेक्षताको छोड़कर परमार्थस्वरूप ज्ञान, सत्य आदिकी सिद्धिके लिए पुराने दार्शनिक—चाहे पूर्वी हों या पश्चिमी—इस तरहकी संदिग्ध दलीलोंपर बहुत भरोसा किया करते थे। अवयवीके बारेमें अक्षपादका मत क्या है उसे हम आगे बतलायेंगे।

(ख) **अनुमान-प्रमाण**—अनुमान वह है जो कि प्रत्यक्ष-पूर्वक होता है—अर्थात् जहाँ कुछका प्रत्यक्ष होनेपर बाकीके होनेका ज्ञान होता है; जैसे धुआँ हम प्रत्यक्ष देखते हैं फिर उसके कारण आग—जो कि प्रत्यक्ष नहीं है—का अनुमान-ज्ञान होता है। अनुमान तीन प्रकारका है[2]।—(a)—**पूर्ववत्** (**पूर्व**वाली वस्तुके प्रत्यक्षसे पीछे होनेवाली सम्बद्ध वस्तुका ज्ञान—कारणसे कार्यका अनुमान, चींटियोंके उठनेसे वर्षा आनेका अनुमान), (b) **शेषवत्** (पीछेवाली वस्तुके प्रत्यक्षसे पहले वालीका ज्ञान का अनुमान—कार्यसे कारणका अनुमान, बिना वर्षाके हमारे यहाँकी बढ़ी गंगासे ऊपरकी ओर वृष्टिके होनेका अनुमान), और (c) **सामान्यतो-दृष्ट** (जो दो वस्तुएँ सामान्यतः एक साथ देखी जाती हैं, उनमेंसे एकके देखनेसे दूसरेका अनुमान, जैसे आगको देख धुआँ या धुआँको देख आगका अनुमान, अथवा भाप और बादलमेंसे एकसे दूसरेका अनुमान)।

अनुमानके उक्त लक्षण और भेदके संबंधमें आक्षेप हो सकता है[3]—पूर्ववत् अनुमान कोई प्रमाण नहीं क्योंकि चींटियाँ कितनी ही बार वर्षा छोड़

[1] वही २।१।३१-३२ [2] वही १।१।५ [3] वही २।१।३७

किसी दूसरे त्रासके कारण भी अंडा मुँहमें दाब हजारोंकी भुंडमें घर छोड़ बैठती है। **शेषवत्**[1] भी गलत है, क्योंकि ऊपरकी ओर वर्षा हुए बिना और प्रवाह रुक जानेपर—किसी पहाड़के गिरने या दूसरे कारणसे—भी नदीमें बाढ़ आई सी मालूम हो सकती है। **सामान्यतोदृष्ट** भी गलत है, क्योंकि मोरका शब्द बाज वक्त मनुष्यके स्वरसे मिल (समान हो) जाता है, फिर ऐसा सादृश्य वास्तविक नहीं भ्रमात्मक अनुमान पैदा कर सकता है। इसके उत्तरमें कहा है—जब हम पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट कहते हैं, तो सारी विशेषताओंके साथ वैसा मानते हैं। सिर्फ नदीकी भरी धार ऊपर हुई वृष्टिका अनुमान नहीं करा सकती, किन्तु यदि उसमें मिट्टी मिली हो, फाग और तिनके बहकर चले आ रहे हों, तो वृष्टिका अनुमान सच्चा होता है।

(ग) उपमान-प्रमाण—प्रसिद्ध वस्तुकी समानता (= **सधर्मता**)[2] से किसी साध्य पदार्थके सिद्ध करनेको उपमान-प्रमाण कहते हैं। जैसे गाय एक खूब-प्रसिद्ध वस्तु है। किसी शहरी आदमीको कहा गया कि जैसी गाय होती है, उसीके समान जंगलमें एक जानवर होता है, जिसे नीलगाय (= घड़रोज) कहते हैं। शहरी आदमी इस ज्ञानके साथ जंगलमें जा नीलगायको देखते पहचाननेमें समर्थ होता है—यह ज्ञान इस उपमान-प्रमाणसे हुआ।

पूर्वपक्ष—किन्तु समानता एक सापेक्ष बात है, इसमें अत्यन्त समानता अभिप्रेत है या प्रायिक समानता? अत्यन्त समानता लेनेपर 'जैसी गाय वैसी गाय' ही हो सकती है, फिर नया ज्ञान क्या हुआ। प्रायिक समानता लेनेपर जैसी सबकी गाय वैसी सारकी गाय, इस तरह सबको ... हुएको सारकी देखनेपर उसका ज्ञान नहीं हो सकता।

उत्तर[4]—हम न अत्यन्त समानताकी बात कहते हैं और न प्रायिक समानताकी, बल्कि हमारा मतलब प्रसिद्ध समानतासे—"जैसी गाय वैसी नीलगाय"।

---

[1] वही २।१।३८ [2] वही १।१।६ [3] वही २।१।४४ [4] वही २।१।४५

पूर्वपक्ष[1]—फिर प्रत्यक्ष देखी गई गायसे अप्रत्यक्ष नीलगायकी सिद्धि जिस उपमानसे होता है, उसे अनुमान ही क्यों न कहा जाये ?

उत्तर[2]—यदि नीलगाय अप्रत्यक्ष हो, तो वहाँ उपमान प्रयोग करनेको कौन कहता है ?—अनुमानमें प्रत्यक्ष धूयेंसे अप्रत्यक्ष आगका अनुमान होता है, उपमानमें अप्रत्यक्ष गायकी समानतासे प्रत्यक्ष नीलगायका ज्ञान होता है, यह दोनोंमें भेद है।

पूर्वपक्ष—किसी यथार्थवक्ताकी बात पर विश्वास करके जो नीलगाय-का ज्ञान हुआ, उसे शब्द-प्रमाण-मूलक क्यों न मान लिया जाये ?

उत्तर[3]—"जैसी गाय वैसी नीलगाय" यहाँ "वैसी" यह खास बात है जो उपमानमें ही मिलती है, जिसे कि शब्द-प्रमाणमें हम नहीं पाते।

(घ) शब्द-प्रमाण—आप्त—यथार्थवक्ता (=सत्यवादी) के—उपदेशको शब्दप्रमाण[4] कहते हैं। शब्द प्रमाण दो प्रकारका होता है, एक वह जिसका विषय दृष्ट—प्रत्यक्षसे सिद्ध—पदार्थ है, दूसरा वह जिसका विषय अ-दृष्ट—प्रत्यक्षसे अ-सिद्ध अथवा प्रत्यक्ष-भिन्न (=अप्रत्यक्ष) से सिद्ध—पदार्थ है[5]।

पूर्वपक्ष[6]—(क) शब्द (प्रमाण) भी अनुमान है, क्योंकि गाय-शब्दका वाच्य जो साकार गाय-पदार्थ है, वह नहीं प्राप्त होता, उसका अनुमान ही किया जाता है। (ख) किसी दूसरे प्रमाणसे भी गाय पदार्थकी उपलब्धि मानने पर दो दो प्रमाणोंकी एक ही बातके लिए क्या जरूरत ? (ग) शब्द और अर्थके संबंधके ज्ञान होनेसे उसी संबंध द्वारा गाय-पदार्थका ज्ञान होना एक प्रकारका अनुमान है, इस तरह भी शब्दको अलग प्रमाण नहीं मानना चाहिए।

उत्तर[7]—सिर्फ शब्दमात्रसे स्वर्ग आदिका ज्ञान नहीं होता, बल्कि आप्त (=सत्यवादी) पुरुषके उपदेशकी सामर्थ्यसे (इस) वाच्य—अर्थ—

[1] न्याय० २।१।४६ [2] वहीं २।१।४७ [3] वहीं २।१।४८ [4] वहीं १।१।७ [5] वहीं १।१।८ [6] वहीं २।१।४९-५१ [7] वहीं २।१।५२-५४

में विश्वास होता है। शब्द और अर्थके बीचका संबंध किसी दूसरे प्रमाणसे नहीं ज्ञात होता; अतः शब्द और उसके वाच्य अर्थका कोई स्वाभाविक संबंध नहीं है, यदि संबंध होता तो लड्डू कहनेसे मुँहका लड्डूसे भर जाना, आग कहनेसे मुँहका जलना, वसूला कहनेसे मुँहका चीरा जाना देखा जाता।

पूर्वपक्ष[1]—शब्द और अर्थके बीच संबंधकी व्यवस्था है, तभी तो गाय शब्द कहनेसे एक खास साकार गाय-अर्थका ज्ञान होता है; इसलिए शब्द और अर्थके स्वाभाविक संबंधसे इन्कार नहीं किया जा सकता।

उत्तर[2]—स्वाभाविक संबंध नहीं है, किन्तु सामयिक (=मान लिया गया) संबंध जरूर है, जिसके कारण वाक्य-अर्थका ज्ञान होता है। यदि शब्द-अर्थका संबंध स्वाभाविक होता, तो दुनियाकी सभी जातियों और देशोंमें उस शब्दका वही अर्थ पाया जाता, जैसे आग पदार्थ और गर्मीके स्वाभाविक संबंध होनेसे वे सर्वत्र एकसे पाये जाते हैं।

शब्द-प्रमाणको सिद्ध करनेसे अक्षपादका मुख्य मतलब है, वह—ऋषि-वाक्यों—को प्रत्यक्ष अनुमानके दर्जेका एक स्वतंत्र प्रमाण मनवाना। इसीलिए उन्होंने जहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमानकी परीक्षाओंमें क्रमशः १३, २ और ८ सूत्र लिखे हैं, वहाँ शब्द-प्रमाणकी परीक्षामें सबसे अधिक यानी २१ सूत्र[3] लिखे हैं; जिनमें अन्तिम १२ सूत्रोंका ढंग तो करीब करीब वही है, जिसका अनुकरण पीछे जैमिनिने अपने मीमांसा-सूत्रोंमें बड़े पैमानेपर किया है।

वेदकी कितनी ही बातें (यज्ञ-कर्म) झूठ निकलती हैं, कितनी ही परस्परविरोधी हैं, वहाँ कितनी ही पुनरुक्तियाँ भरी पड़ी हैं। अक्षपादने इसका समाधान करना चाहा है।—झूठ नहीं निकलतीं, ठीक फल न मिलना कर्म, कर्त्ता और सामग्रीके दोषके कारण होता है। परस्परविरोधी बात नहीं है, दो तरहकी बात दो तरहके अधिकारियोंके लिए हो सकती है। पुनरुक्ति अनुवादके लिए भी हो सकती है।

[1] न्याय० २।१।५५ [2] वहीं २।१।५६-५७ [3] वहीं २।१।५८-६१

फिर अक्षपादने वेदके वाक्योंको विधि, अर्थवाद और अनुवाद तीन भागोंमें विभक्त किया है। **विधि**का काम है कर्त्तव्यका विधान करना। विधिमें श्रद्धा जमानेके लिए अच्छेकी प्रशंसा (=स्तुति) बुरेकी निन्दा, और दूसरे व्यक्तियोंकी कृतियां तथा पुरानी बातोंका उदाहरण वेदमें बहुत मिलता है, इसको **अर्थवाद** कहते हैं। **अनुवाद** विधिवाक्यमें बतलाये शब्द या अर्थको फिरसे दुहराना है, जो कि "जल्दी जल्दी जाओ"की भांति विधि (=आज्ञा)को और जोरदार बनाता है, इसलिए वह व्यर्थकी चीज नहीं है। अन्तमें वेदके प्रमाणमें सबसे जबर्दस्त युक्ति है—वेद प्रमाण है, क्योंकि उसके वक्ता ऋषि आप्त (=सत्यवादी) होनेसे प्रामाणिक हैं, उसी तरह जैसे कि सांप-बिच्छूके मंत्रों और आयुर्वेदकी प्रामाणिकता हमें माननी पड़ती है।—आखिर मंत्रों और आयुर्वेदके कर्त्ता जो ऋषि हैं, वही तो वेदके भी हैं।[1]

यहां मैंने अक्षपादकी वर्णनशैलीको दिखलानेके लिए उसका अनुकरण किया है, किन्तु साथ ही समझनेकी आसानीके लिए संक्षेप लेते हुए भी उनके अर्थको विशद करनेकी कोशिश की है।

ख. कुछ प्रमेय

आत्मा आदि ग्यारह प्रमेय न्यायने माने हैं; इनमें मन, आत्मा और ईश्वरके बारेमें हम यहां न्यायके मतको देंगे और कुछका जिक्र न्यायके धार्मिक विचारोंको बतलाते समय करेंगे।

(१) मन—यद्यपि न्यायसूत्रके भाष्यकार वात्स्यायन स्मृति, अनुमान, आगम, संशय, प्रतिभा, स्वप्न, ऊह (=तर्क-वितर्क)की शक्ति जिसमें है उसे मन बतलाया है; किन्तु अक्षपाद स्वयं इस विवरणमें न जा "एक समय (अनेक) ज्ञानोंका उत्पन्न न होना मन (के अनुमान)का लिंग"[2] बतलाते हैं।—अर्थात् एक ही समय हमारी आंखका किसी रूपसे संबंध है, तथा

[1] न्याय० २।१।६२-६९
[2] वहीं १।१।१६

उसी समय कानका शब्दसे भी; किन्तु हम एक समयमें एकका ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, जिससे जान पड़ता है, पाँच इन्द्रियोंके अतिरिक्त एक और भीतरी इन्द्रिय है, जिसका ज्ञानके प्राप्त करनेमें हाथ है और वही मन है। एक बार अनेक ज्ञान न होनेसे यह भी पता लगता है, कि मन एक और अणु है।[1] जहाँ एक समय अनेक क्रिया देखी जाती है, वह तीव्र गतिके कारण है, जैसे कि घूमती बनेठीके दोनों छोर आगका वृत्त बनाते दीख पड़ते हैं।

(२) **आत्मा**—बौद्ध-दर्शनके बढ़ते प्रभावका काम करना न्यायसूत्रोंके निर्माणमें खास तौरसे अभिप्रेत था। शब्द-प्रमाणकी सिद्धिमें इतना प्रयत्न इसीलिए है, नित्य आत्मा और ईश्वरको सिद्ध करनेपर जोर भी इसीलिए है। बौद्धोंके कितने ही सिद्धान्तोंका न्यायमें खंडन हम आगे देखेंगे। मनकी तरह आत्माको भी प्रत्यक्षसे नहीं सिद्ध किया जा सकता। अनुमानसे उसे सिद्ध करनेके लिए कोई लिंग (=चिह्न) चाहिए, जो कि स्वयं प्रत्यक्ष-सिद्ध हो, साथ ही आत्मासे संबंध रखता हो। अक्षपादके अनुसार[2] (१) आत्माके लिंग हैं—[3]इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान। शरीर, इन्द्रिय और मनसे भी अलग आत्माकी सत्ताको सिद्ध करते हुए अक्षपाद कहते हैं—(२) आँखसे देखी वस्तुको स्पर्श-इन्द्रियसे छूकर जो हम एकताका ज्ञान—जिसे मैंने देखा, उसीको छू रहा हूँ—प्राप्त करते हैं, यह भी आत्माकी सत्ताको साबित करता है। (३) एक एक इन्द्रियका एक एक विषय जो बाँटा गया है, उससे भी अनेक इन्द्रियोंके ज्ञानोंके एकीकरणके लिए आत्माकी जरूरत है। (४) आत्माके नित्य न होनेपर मृत शरीरके जलानेमें अपराध नहीं लगता। आत्माके नित्य होनेसे उसके साथ भी शरीरके जलानेपर आत्माका कुछ नहीं होता यह ठीक है; किन्तु, शरीरको हानि पहुँचा कर हम उसके स्वामीको हानि पहुँचाते हैं, जिससे अपराध लगना जरूरी है। (५) बाईं आँखसे देखी चीजको दूसरी आँख

[1] न्याय ३।२।५७-६० [2] वही १।१।१० [3] वही ३।१।१-१४

सिर्फ दाहिनीसे देखकर स्मरण करते हैं, यह आत्माके ही कारण। (६) स्वादु भोजनको आँखसे देखते ही हमारे जीभमें पानी आने लगता है, यह ज्ञान स्वादकी जिस स्मृतिके कारण होता है, वह आत्माका गुण है।

यहाँ जिन बातोंसे आत्माकी सत्ताका प्रतिपादन किया गया है, वह मन-पर घटित होती है।[1] इस आक्षेपका उत्तर अक्षपादने ज्ञाता (आत्मा)को ज्ञानका एक साधन (मन) भी चाहिए कहकर देना चाहा है; किन्तु, यह कोई उत्तर नहीं है। चूँकि आत्मा सर्वव्यापी (=विभु) है, जिससे पाँचों इन्द्रियों और उनके विषयोंका जिस समय संयोग हो रहा है, उस वक्त आत्मा भी वहाँ मौजूद है, तब भी चूँकि विषय ज्ञान नहीं होता, इससे साबित होता है कि आत्मा और इन्द्रियोंके बीच एक और अणु (=अ-सर्वव्यापी) चीज है जो कि मन है—अक्षपादकी इन्द्रिय, मन और आत्माके विषयकी यह कल्पना बहुत उलझी हुई है। अनुमानसे वह मनको सिद्ध कर सकते हैं, जिसकी सिद्धिसे ही सारे लिंग समाप्त हो जाते हैं, फिर उनमेंसे ही कुछको लेकर वह आत्माको सिद्ध करना चाहते हैं, जिससे आत्मा और मन एक ही वस्तुके दो नाम भले ही हो सकते हैं, किन्तु उन्हें दो भिन्न वस्तु नहीं साबित किया जा सकता।

(३) **ईश्वर**—अक्षपादने ईश्वरको अपने १२ प्रमेयोंमें नहीं गिना है, और न उन्होंने कहीं साफ कहा है कि ईश्वरको भी वह आत्माके अन्तर्गत मानते हैं। ऊपर जो मनको आत्माका साधन कहा है उससे भी यही साबित होता है, कि आत्मासे उनका मतलब जीवसे है। अपने सारे दर्शनमें अक्षपादका ईश्वरपर कोई जोर नहीं है, और न ईश्वर वाले प्रकरणको हटा देनेसे उनके दर्शनमें कोई कमी रह जाती है; ऐसी अवस्थामें न्याय-सूत्रोंमें यदि क्षेपक हुए हैं, तो हम उन तीन सूत्रोंको ले सकते हैं, जिनमें ईश्वरकी सत्ता सिद्ध की गई है।[2]—डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषणने जहाँ न्यायसूत्रके बहुतसे भागको पीछेका क्षेपक मान लिया है, फिर इन तीन सूत्रोंका क्षेपक होना

[1] न्याय० ३।१।१६-१७ [2] वहीं ४।१।१९-२१

बहुत ज्यादा नहीं है। इन सूत्रोंमें भी, हम देखते हैं, अक्षपाद ईश्वरको दुनियाका कर्त्ता-हर्ता नहीं बना सकते हैं। कर्म-फलके भोगमें ईश्वर कारण है; उसके न होनेपर पुरुषके शुभ-अशुभ कर्मोंका फल न होता। यह सही है कि पुरुषका कर्म न होनेपर भी फल नहीं होता, किन्तु कर्म यदि फलका कर्त्ता है, तो ईश्वर उस फलका कारयिता (=करानेवाला) है।

४—अक्षपादके धार्मिक विचार

आत्मा और ईश्वरके बारेमें न्यायसूत्रके विचारोंको हम कह आये हैं। शब्द-प्रमाणके प्रकरणमें यह भी बतला चुके हैं, कि अक्षपादका वेदकी प्रामाणिकता ही नहीं उसके विधि-विधान—कर्मकांड—पर बहुत जोर था; यद्यपि कणादकी भाँति इन्होंने धर्म-जिज्ञासापर ज्यादा जोर न दे तत्त्व-जिज्ञासाको अपना लक्ष्य बनाया।

(१) परलोक और पुनर्जन्म

एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें आत्मा जाता है, इसका अक्षपादने समर्थन किया है।[1] मरनेके बाद आत्मा लोकान्तरमें जाता है, इसके लिए आत्माका नित्य होना ही काफी हेतु है। परलोकमें ही नहीं इस लोकमें भी पुनर्जन्म होता है, इसे सिद्ध करनेके लिए अक्षपादने निम्न युक्तियाँ दी हैं[2]—(१) पैदा होते ही बच्चेका हर्ष, भय, शोक होते देखा जाता है, यह पहिले (जन्म)के अभ्यासके कारण ही होता है। यह बात पद्मके खिलने और संकुचित होनेकी तरह स्वभाविक नहीं है, क्योंकि पाँचों महाभूतोंके बने पद्म आदिकी वैसी अवस्था सर्दी, गर्मी, वर्षा आदिके कारण होती है। (२) पैदा होते ही बच्चेको स्तन-पानकी अभिलाषा होती है, यह भी पूर्वजन्मके आहारके अभ्याससे ही होती है।

---

[1] न्याय० १।१।१९; ३।१।१९-२७; ४।१।१० [2] वहीं ३।१।१९-२७

(२) कर्म-फल

कायिक, वाचिक, मानसिक कर्मोंसे उनका फल उत्पन्न होता है।[1] अच्छे बुरे कर्मोंका फल तुरन्त नहीं कालान्तरमें होता है। चूँकि कर्म तब तक नष्ट हो गया रहता है, इसलिए उससे फल कैसे मिलेगा?—ऐसी शंकाकी गुंजाइश नहीं, जब कि हम गेहूँके पौधेके नष्ट हो जानेपर भी उसके बीजसे अगले साल नये वृक्षको उगते देखते हैं, उसी तरह किये कर्मोंसे धर्म-अधर्म उत्पन्न होते हैं, जिनसे आगे फल मिलता है। यह धर्म-अधर्म उसी आत्मामें रहते हैं, जिसने किसी शरीरमें उस कामको किया है।[2]

पहिलेके कर्मसे पैदा हुआ फल शरीरकी उत्पत्तिका हेतु है।[3] महाभूतोंसे जैसे कंकड़-पत्थर आदि पैदा होते हैं, वैसे ही शरीर भी, यह कहना मान्य नहीं है; क्योंकि इसके बारेमें कुछ विचारकोंका मत है, कि सारी दुनिया भले-बुरे कर्मोंके कारण बनी है। माता-पिताका रज-वीर्य तथा आहार भी शरीर-उत्पत्तिका कारण नहीं है, क्योंकि इनके होनेपर भी नियमसे शरीर (=सन्तान) को उत्पन्न होते नहीं देखा जाता। भला-बुरा कर्म शरीरकी उत्पत्तिका निमित्त (=कारण) है, उसी तरह वह किसी शरीरके साथ किसी खास आत्माके संयोगका भी निमित्त है।[4]

(३) मुक्ति या अपवर्ग

यज्ञ आदि कर्मकाण्डका फल स्वर्ग होता है, यह वेद, ब्राह्मण तथा श्रौत-सूत्र आदिका मन्तव्य था। उपनिषद्ने स्वर्गके भी ऊपर मुक्ति या अपवर्गको माना। जैमिनिने अपने मीमांसा-दर्शनमें उपनिषद्की इस नई विचारधाराको छोड़, फिर पुराने वेद-ब्राह्मणकी ओर लौटनेका नारा बुलन्द किया; किन्तु अक्षपाद उपनिषद्से पीछे लौटनेकी सम्मति नहीं देते,

---

[1] न्याय० १।१।२०

[2] वही ४।१।४४-४७, ५२

[3] वही ३।२।६१-६६

[4] वही ३।२।६७

बल्कि एक तरह उसे और "ऊपर" उठाना चाहते हैं। उपनिषद्में तथा सांसारिक या स्वर्गीय आनंदों (=सुखों)को एक जगह तौला गया है, और उस तौलमें ब्रह्मलोक या मुक्तिके आनंदको भी तराजूपर रखा गया है। अक्षपाद भावात्मक (=सुखमय) मुक्तिमें इस तरहके खतरेको महसूस करते थे, इसीलिए उन्होंने मुक्तिको भावात्मक—सुखात्मक—न कह, दुःखाभाव-रूप माना है[1]—"(तत्त्वज्ञानसे) मिथ्याज्ञान (=झूठे ज्ञान)के नाश होनेपर दोष (=राग, द्वेष, मोह) नष्ट होते हैं, दोषोंके नष्ट होनेपर धर्म-अधर्म (प्रवृत्ति)का खात्मा होता है, धर्म-अधर्मके खत्म होनेपर जन्म खत्म होता है, जन्म खत्म होनेपर दुःख समाप्त होता है, तदनन्तर (इस) नाशसे अपवर्ग (=मुक्ति) होता है।" अपवर्गके स्वरूपको और स्पष्ट करते हुए दूसरी जगह कहा है[2]—"इन [शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन प्रवृत्ति (क्रिया), दोष, पुनर्जन्म, फल और दुःख]से सदाके लिए मुक्त होना अपवर्ग है।" यहाँ मुक्तावस्थामें अक्षपाद गौतमने आत्माको बुद्धि (=ज्ञान), मन, और क्रियासे भी अत्यन्त रहित कहा है, इसीको लेकर श्रीहर्ष (११६० ई०)ने नैषधमें उपहास किया है[3]—"जिसने सचेतनोंकी मुक्तिके लिए अ-चेतन बन जाना कहते शास्त्रकी रचना की, वह गोतम वस्तुतः गोतम (भारी बैल) ही होगा।"

(४) मुक्तिके साधन

(क) **तत्त्वज्ञान**—निःश्रेयस् (=मुक्ति या अपवर्ग)की प्राप्तिके लिए अक्षपादने अपना दर्शन लिखा, यह उनके प्रथम सूत्रसे ही स्पष्ट है। जन्म-मरण (=पुनर्जन्म) या संसारमें भटकनेका कारण मिथ्या (=झूठा)-ज्ञान है, जिसे तत्त्वज्ञान (=यथार्थ या वास्तविक ज्ञान)से दूर किया जा सकता है। तत्त्वज्ञान भी किसी वस्तुका होता है; उपनिषद् ब्रह्मका तत्त्वज्ञान (=ब्रह्मज्ञान) मुक्तिके लिए जरूरी समझती है।

---

[1] न्याय० १।१।२ [2] वहीं १।१।२२ [3] नैषधचरित १७।७५

अक्षपादने प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह न्यायशास्त्र द्वारा प्रतिपाद्य पदार्थोंके वास्तव ज्ञानको तत्त्वज्ञान कहा।

तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेके लिए विद्या और प्रतिभा पर्याप्त नहीं है, वह "खास प्रकारकी समाधिके अभ्याससे"[1] होता है। "यह (खास प्रकारकी समाधि) पूर्व (=जन्म)के किये फलके कारण उत्पन्न होती है।"[2] इसीके लिए "जंगल, गुहा, नदी-तट आदि पर योगाभ्यासका उपदेश है।"[3]

(ख) **मुक्तिके दूसरे साधन**—मुक्तिके लिए "यम, नियम (=मन और इन्द्रियका संयम)के द्वारा, योग तथा आध्यात्मिक विधियोंके तरीकोंसे आत्माका संस्कार करना होता है; ज्ञान ग्रहण करनेका अभ्यास तथा उस (विषय)के जानकारोंसे संवाद (=वाद या सत्संग) करना होता है।"[4]

इस प्रकार न्यायसम्मत **वाद**—संवाद—का प्रयोजन तत्त्वज्ञान होता है, किन्तु अपने मतकी सिद्धि तथा परमतके खंडनके लिए छल आदि अनुचित तरीकेवाले **जल्प**, एवं केवल दूसरेके पक्षके खंडनके लिए ही बहस—**वितंडा**—भी तत्त्वज्ञानमें उपयोगी है, इसे बतलाते हुए अक्षपादने कहा है[5]—"तत्त्व-ज्ञानकी रक्षाके लिए जल्प और वितंडाकी उसी तरह जरूरत है, जैसे बीजके अंकुरोंकी रक्षाके लिए काँटेवाली शाखाओंके बाड़की।" हमें याद है यूनानके स्तोइक दार्शनिक जेनो ईसा-पूर्व तीसरी सदीमें ही कहता था[6]—दर्शन एक खेत है जिसकी रक्षाके लिए तर्क एक बाड़ है।

५—न्यायपर यूनानी दर्शनका प्रभाव

भारतमें यूनानियोंका प्रभाव ईसा-पूर्व चौथी सदीमें सिकन्दरकी विजय (३२३ ई० पू०)के साथ बढ़ने लगा। चन्द्रगुप्त मौर्यने भारतमें यूनानी शासनका खात्मा कर दिया, तो भी ईसापूर्व तीसरी शताब्दीमें यवन-प्रभाव कम नहीं हुआ यह अशोकके शिलालेखोंसे भी मालूम होता है, जिनमें

[1] न्याय० ४।२।३८ [2] वहीं ४।२।४१ [3] वहीं ४।२।४२
[4] वहीं ४।२।४६-४७ [5] वहीं ४।२।५० [6] देखो पृष्ठ ८

भारत और यूनानी राजाओंके शासित प्रदेशोंसे घनिष्ट संबंध स्थापित करनेकी बात आती है। और मौर्य साम्राज्यकी समाप्तिके बाद उसके पश्चिमी भागका तो शासन ही हिन्दूकुशपारवाले यूनानियों (मीनान्दर)के हाथमें चला गया। ईसापूर्व दूसरी शताब्दीसे यूनानी और भारतीय मूर्तिकलाके मिश्रणसे गंधारकला उत्पन्न होती है, और ईसाकी तीसरी सदी तक अटूट चली आती है। कलाके क्षेत्रमें दोनों जातियोंके दानादानका यह एक अच्छा नमूना है, और साथ ही यह यह भी बतलाता है कि भारतीय दूसरे देशोंसे किसी बातको सीखनेमें पिछड़े नहीं थे। पिछली सदियोंमें कुछ उलटी मनोवृत्ति ज्यादा बढ़ने लगी थी जरूर, और इसीलिए वराह-मिहिरको[1] इस मनोवृत्तिके विरुद्ध कलम उठानेकी जरूरत पड़ी। कला ही नहीं, आजका हिन्दू ज्योतिष भी यूनानियोंका बहुत ऋणी है। यह हो नहीं सकता था, कि भारतीय दार्शनिक यूनानके उन्नत दर्शनसे प्रभावित न होते। यूनानी प्रभावके कुछ उदाहरण हम वैशेषिकके प्रकरणमें दे आए हैं। अक्षपादने वादकारोंको तर्कके बारेमें "अपने मतकी रक्षाके लिए (काँटोंकी) बाड़" की उपमा एक तरह अरस्तूसे ले लिया, इसे हमने अभी देखा। महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषणने अपने लेख[2] "अरस्तूके तर्क-संबंधी सिद्धान्तोंका सिकन्दरिया (मिश्र)से भारतमें आना" में दिखलाया है, कि १३५ ई० पू०से ६०० ई० तक किस तरह अरस्तूके तर्कने भारतीय न्यायको प्रभावित किया। सिकन्दरियाके प्रसिद्ध पुस्तकालयके पुस्तकाध्यक्ष कलिमकसने २८५-२४७ ई० पू०में अरस्तूके ग्रंथोंकी प्रतियाँ पुस्तकालयमें जमा की। दूसरी सदीमें स्यालकोट (=सागल) यूनानी राजा मिनान्दरकी राजधानी थी, और मिनान्दर स्वयं तर्क और वादका पंडित था यह हम बतला आए हैं। इस समय भारतके यूनानियोंमें अरस्तूके तर्कका

[1] बृहत्संहिता २।१४ "म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्। ऋषिवत् तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद् द्विजः॥"

[2] Indian Logic Appendix B., p. 511-13

प्रचार होना बिलकुल स्वाभाविक बात है। यूनानी स्वयं बौद्ध-धर्मसे प्रभावित हुए थे, इसलिए उनके तर्कसे यदि नागसेन, अश्वघोष, नागार्जुन, वसुबंधु, दिङ्नाग, प्रभावित हुए हों तो कोई आश्चर्य नहीं। अक्षपादने भी उससे बहुत कुछ लिया है यहाँ इसके चंद उदाहरण हम देने जा रहे हैं।—

(१) अवयवी

अवयव (=अंश) मिलकर अवयवी (=पूर्ण)[1]को बनाते हैं, अर्थात् अवयवी अवयवोंका योग है। यूनानी दार्शनिक अवयवीको एक स्वतंत्र वस्तु मानते थे। अक्षपादने भी उनके इस विचारको माना है। प्रमाणसे हम सापेक्ष नहीं **परमार्थ** ज्ञान पा सकते हैं, यह अक्षपादका सिद्धान्त है। प्रत्यक्ष प्रमाणसे प्राप्त ज्ञानको भी वह इसी अर्थमें लेते हैं। किन्तु प्रत्यक्ष जिस इन्द्रिय और विषयके संयोगसे होता है, वह संयोग विषयके सारे अवयव (वृक्षके भीतरी-बाहरी छाल आदि सभी अंगों—परमाणुओं)के साथ नहीं होता, इसलिए जो प्रत्यक्ष ज्ञान होगा वह सारे विषय (=वृक्ष)का नहीं हो सकता। ऐसी अवस्थामें यह नहीं कहा जा सकता, कि हमने सारे वृक्षका प्रत्यक्ष ज्ञान कर लिया; हम तो सिर्फ इतना ही कह सकते हैं, कि वृक्षके एक बहुत थोड़ेसे बाहरी भागका हमें प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ है। लेकिन अक्षपाद इसको माननेके लिए तैयार नहीं है। उनका कहना है,—(वृक्षके) एक देशका ज्ञान नहीं (सारे वृक्षका ज्ञान होता है), क्योंकि अवयवीके अभिन्न होनेसे (हम सारे वृक्षको देख लेते हैं)।[2] "अवयवी (सिद्ध नहीं) साध्य है, इसलिए उस (की सत्ता)में सन्देह है।[3] इस शंकित सन्देहको दूर करनेके लिए अक्षपादने कहा—[4]

[1] Whole. [2] न्याय० २।१।३२ [3] वहीं २।१।३३
[4] वहीं २।१।३४-३६

"सभी (पदार्थों) का ग्रहण (=ज्ञान) नहीं होगा, यदि हम (अवयवोंसे) अवयवी (की अलग सत्ताको) न मानें। थामने तथा खींचनेसे भी सिद्ध होता है (कि अवयवसे अवयवी अलग है, क्योंकि थामते या खींचते वक्त हम वस्तुके एक अवयवसे ही संबंध जोड़ते हैं, किन्तु थामते या खींचते हैं सारी वस्तुको)। (यह नहीं कहा जा सकता कि) जैसे सेना या वन (अलग अलग अवयवों—सिपाहियों तथा वृक्षों—का समुदाय मात्र होने-पर भी उन) का ज्ञान होता है, (वैसे ही यहाँ भी परमाणु-समूह वृक्षका प्रत्यक्ष होता है); क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय (अत्यन्त सूक्ष्म) होनेसे इन्द्रियके विषय नहीं हैं।"

अवयवीको सिद्ध करते हुए दूसरी जगह[1] भी अक्षपादने लिखा है—

पूर्वपक्ष—"(सन्देह हो सकता है कि अवयवीमें अवयव) नहीं सर्वत्र हैं न एक देशमें आ सकते हैं, इसलिए अवयवोंका अवयवीमें अभाव (मानना पड़ेगा)। अवयवोंमें न आ सकनेसे भी अवयवीका अभाव (सिद्ध होता है)। अवयवोंसे पृथक् अवयवी हो नहीं सकता, और नहीं अवयव ही अवयवी है।"

उत्तर—एक (अखंड अवयवी वस्तु) में (एक देश और सर्वत्रका) भेद नहीं होता इसलिए भेद शब्दका प्रयोग नहीं किया जा सकता; अतएव (अवयवीमें सर्वत्र या एक देशका जो) प्रश्न (उठाया गया है, वह) हो नहीं सकता। दूसरे अवयवमें (अवयवीके) न आ सकनेपर भी (एक देशमें) न होनेसे (वह अवयवीके न होनेका) हेतु नहीं है।"

पूर्वपक्ष—"(एक एक अवयवके देखनेपर भी समूहमें किसी वस्तुको देखा जा सकता है)। जैसे कि तिमिरान्ध (आदमी एक एक केश नहीं देखता, किन्तु केश-समूहको देखता है, इसी तरह अवयव-समूहसे) उस वस्तुकी उपलब्धि (=प्राप्ति) हो सकती है (फिर अवयव-समूहसे अलग अवयवीके माननेकी क्या आवश्यकता है)।"

---

[1] न्याय० ४।२।७-१७

उत्तर—"विषयके ग्रहणमें (किसी आँख आदि) इन्द्रियका तेज मद्धिम होनेसे अपने विषयको बिना छोड़े वैसा (तेजमंद देखना) होता है, (उस अपने) विषयसे बाहर (इन्द्रियकी) प्रवृत्ति नहीं होती। (केश और केश-समूह एक तरहके विषय होनेसे वहाँ आँखकी तेजी या मद्धिमपन (=आवरण) का प्रभाव देखा जा सकता है, किन्तु परमाणु कभी आँखका विषय ही नहीं है, इसलिए वहाँ तेजी मंदीका सवाल नहीं हो सकता। अतएव अवयवीकी अलग ही सत्ता माननी पड़ेगी)।

(परमाणुवाद—)

पूर्वपक्ष—"अवयवोंमें अवयवीका होना तभी तक रहेगा, जब तक कि प्रलय नहीं हो जाता।"

उत्तर—"प्रलय (तक) नहीं, क्योंकि परमाणुकी सत्ता (अन्तिम इकाईकी भाँति उस वक्त भी रहती है)। (अवयव और अवयवीका विभाग) त्रुटि (=परमाणुसे बनी दूसरी इकाई) तक है।" परमाणुमें अवयव नहीं होता, अवयव भी तब शुरू होता है, जब अनेक परमाणु मिलते हैं, और अवयव बननेके बाद अवयवी भी आन उपस्थित होता, इसी **त्रुटिसे** अवयवीका आरम्भ होता है।

यहाँ हमने देखा **परमार्थ-ज्ञानके** फेरमें पड़कर अक्षपादको अवयवोंके भीतर अवयवोंसे परे एक पृथक् पदार्थ सिद्ध करनेकी कोशिश करनी पड़ी; यदि सापेक्ष-ज्ञानसे वह संतुष्ट होते—और वह अर्थक्रिया (=व्यवहार) के लिए पर्याप्त भी है—तो ऐसी क्लिष्ट कल्पनाकी जरूरत नहीं पड़ती।

(२) काल

अक्षपादने कालको एक स्वतंत्र पदार्थ सिद्ध करनेकी चेष्टा नहीं की; किन्तु, उनके अनुयायी विशेषकार उद्योतकर (५०० ई०)ने[1] कालको एक

[1] "न्यायवार्तिक" २।१।३८ (चौखम्बासिरीज, पृष्ठ २५३)

स्वतंत्र सत्ता सिद्ध करना चाहा है। उनकी युक्तियाँ हैं—(१) कालके न होनेका कोई प्रमाण नहीं; (२) पहिले और पीछेका जो ख्याल है, वह किसी वस्तुके आधारसे ही हो सकता है, और वह काल है। काल एक है, उसमें पहिले, पीछे, या भूत, वर्त्तमान, भविष्यका भेद पाया जाता है, वह सापेक्ष है जैसे कि एक ही पुरुष अनेक व्यक्तियोंकी अपेक्षासे पिता, पुत्र और भ्राता कहला सकता है। वर्त्तमान (काल)को अक्षपादने पाँच सूत्रोंमें[1] सिद्ध किया है।

पूर्वपक्षीका आक्षेप है—"(ढेपस) गिरते (फल)का (वही) काल साबित होता है, जिसमें कि वह गिर चुका या गिरनेवाला है, (बीचका) वर्त्तमान काल (वहाँ) नहीं मिलता।"

उत्तर—"वर्त्तमानके अभावमें (भूत और भविष्य) दोनोंका भी अभाव होगा; क्योंकि वर्त्तमानकी अपेक्षासे ही पहिलेको भूत और पिछलेको भविष्य कहा जाता है। वर्त्तमानके न माननेपर किसी (वस्तु)का ग्रहण नहीं होगा, क्योंकि (वर्त्तमानके अभावमें) प्रत्यक्ष ही संभव नहीं।"

(३) साधन वाक्यके पाँच-अवयव

अनुमान प्रमाण (विशेषकर दूसरेको समझानेके लिए उपयुक्त अनुमान) द्वारा जितने वाक्योंसे किसी तथ्य तक पहुँचा जाता है, उसके पाँच **अवयव** (=अंश) होते हैं, उनको **अवयव** या पंच-अवयव कहते हैं। डाक्टर विद्याभूषणने[2] इसे सविस्तारसे सिद्ध किया है, कि यह विचार ही नहीं बल्कि स्वयं अवयव शब्द भी अरस्तूके ऑर्गनॅन्[3] का अनुवाद मात्र है। अरस्तूने पाँचके अतिरिक्त दो, तीन **अवयव** भी अपने **तर्कमें** इस्तेमाल

---

[1] न्याय० २।१।३९-४३

[2] Indian Logic, Appendix B, pp. 500-15

[3] Organon.

किए हैं, जैसा कि भारतमें भी वसुबंधु, दिङ्नाग और धर्मकीर्तिने किया है। ये पाँच अवयव हैं[1]—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन, इनके उदाहरण हैं—

१. प्रतिज्ञा—यह पहाड़ आगवाला है;
२. हेतु—धुआँ दिखाई देनेसे;
३. उदाहरण—जैसे कि रसोईघर;
४. उपनय—वैसा ही धुआँवाला यह पहाड़ है;
५. निगमन—इसलिए यह पहाड़ भी आगवाला है।

६—बौद्धोंका खंडन

अक्षपादके दर्शनका मुख्य प्रयोजन ही था, युक्ति प्रमाणसे अपने पक्षका मंडन और विरोधी विचारोंका खंडन। उनके अपने सिद्धान्तोंके बारेमें हम कह आए हैं। दूसरे दर्शनोंमें सबसे ज्यादा जिनके खिलाफ उन्हें लिखना पड़ा, वह था बौद्ध-दर्शन। यूनानी दर्शनमें जैसे हेराक्लितुके "सर्वं अनित्यं" (=सभी अनित्य हैं)-वादके विरुद्ध एलियातिक दार्शनिक "अनित्यता"से ही बिल्कुल इन्कार करते थे। अरस्तूने इन दोनों वाद-प्रतिवादोंका संवाद करते हुये कहा—विश्व नित्य है, किन्तु दृश्य जगत् जरूर परिवर्त्तनशील है। अक्षपादके सामने भी सांख्यका "सर्व नित्यवाद" और बौद्धोंका "सर्व अनित्यवाद" मौजूद था। यद्यपि अरस्तूकी भाँति अक्षपाद विश्वको मौलिक तौरसे नित्य ही साबित करना चाहते थे, और इस प्रकार बौद्ध-दर्शनसे बिलकुल उलटा मत रखते थे; तो भी उन्होंने पंच बन कर अरस्तूके फैसलेको दुहराया। बौद्ध इस "पक्षपातहीन" पंचके फैसले-को नहीं मान सके, और इसका परिणाम हम देखते हैं नागार्जुनके आगे बराबर दोनों ओरसे मल्लयुद्ध—

---

[1] न्यायसूत्र १।१।३२-३९

(बौद्ध) (ब्राह्मण)

नागार्जुन (१७५ ई०)

अक्षपाद (२५० ई०)

वसुबंधु (४०० ई०) वात्स्यायन (४०० ई०)

दिग्नाग (४२५ ई०)

उद्योतकर (५०० ई०)

धर्मकीर्त्ति (६०० ई०)

वाचस्पतिमिश्र (८४१ ई०)

ज्ञानश्री

उदयन (९८४ ई०)

रत्नकीर्त्ति (१००० ई०)

दुर्वेक मिश्र (११०० ई०)

वर्धमान (१२५० ई०)

बौद्ध अनात्मवादी, अनीश्वरवादी तथा दो प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान)-वादी है, साथही वह प्रमाणको भी परमार्थ नहीं सापेक्ष तौरपर मानते हैं। अक्षपादके सिद्धान्त उनके विरुद्ध हैं यह हम बतला आए हैं। यहाँ बौद्धोंके दूसरे सिद्धान्तोंको अक्षपादने किस तरह खंडन किया है, इसके बारेमें लिखेंगे।

(१) **क्षणिकवाद-खंडन**[1]—'सब कुछ क्षणिक है' यह सिद्धान्त पक्का (=एकान्त) नहीं है, क्योंकि कितनी ही चीजें क्षणिक (=क्षण क्षण परिवर्त्तनशील) देखी जाती हैं, और कितनी ही नहीं; जैसे कि शरीरमें नया नया परिवर्तन होता है, स्फटिक (=बिल्लौर) में वैसा नहीं देखा जाता। परिवर्त्तन भी (बौद्धोंके सिद्धान्तके अनुसार) बिना कारण (=हेतु) के नहीं

---

[1] न्याय० ३।२।१०-१७ का भाव

होता, बल्कि कारणके रहते होता है, जैसे कि कारणरूप दूध मौजूद रहनेपर ही दही उत्पन्न होता है।

(२) अभाव अहेतुक नहीं—बौद्ध-दर्शनका कार्य-कारणके संबंधमें अपना खास सिद्धान्त है, जिसे **प्रतीत्य-समुत्पाद**[1] (=विच्छिन्न प्रवाह) कहते हैं, अर्थात् कार्य और कारणके भीतर कोई वस्तु या वस्तुसार नहीं है, जो कि कारण (दूध) की अवस्थामें भी हो कार्य (=दधि) की अवस्थामें भी। प्रतीत्य-समुत्पादके अनुसार पहिले एक वस्तु (=दूध) होकर आमूल नष्ट हो गई (इसे "कारण" कह लीजिए), फिर दूसरी वस्तु (दही) जो पहिले बिलकुल न थी, सर्वथा नई पैदा हुई, इसे "कार्य" कह लीजिए। इस प्रकार कार्य अपने प्रादुर्भावसे पहिले बिलकुल अभाव रूप था। अक्षपादने इसे "अभावसे भाव-उत्पत्ति" कह कर खंडित किया; यद्यपि यहाँपर ख्याल रखना चाहिए कि बौद्ध-दर्शन अत्यन्त विनाश और सर्वथा नये उत्पादको मानते भी विनाश-उत्पत्ति-विनाश-उत्पत्ति . . . . –इस प्रवाह (=सन्तान) को स्वीकार करता है।

"अभावसे भावकी उत्पत्ति होती है, क्योंकि बिना (बीजके) नष्ट हुए (अंकुरका) प्रादुर्भाव नहीं होता"[2]—इन शब्दोंमें बौद्ध विचारको रखते अक्षपादने इसका खंडन इस प्रकार किया है[3]—

नष्ट और प्रादुर्भाव (मेंसे एक) अभाव और (दूसरा) भावरूप होनेसे दो परस्पर-विरोधी बातें हैं, जो कि एक ही वस्तु (=बीज) के लिए नहीं इस्तेमाल की जा सकतीं। जो बीज वस्तुतः नष्ट हो गया है, उससे अंकुर नहीं उत्पन्न होता, इसलिए अभावसे भावकी उत्पत्ति कहना गलत है। पहिले बीजका विनाश होता है, पीछे अंकुर उत्पन्न होता है, यह जो क्रम देखा जाता है, वह बतलाता है, कि अभावसे भावकी उत्पत्ति नहीं होती; यदि वैसा होता तो बीज-अंकुर क्रमकी जरूरत ही क्या थी ?

प्रवाह स्वीकार करनेसे बौद्ध क्रमको भी स्वीकार करते हैं, इसलिए

---

[1] देखो पृष्ठ ५१२ [2] वहीं ४।१।१४ [3] वहीं ४।१।१५-१८

अक्षपादका आक्षेप ठीक नहीं है, यह साफ है।

(३) शून्यवाद (=नागार्जुन-मत) का खंडन——नागार्जुनने क्षणिक-वाद और प्रतीत्य-समुत्पादके आधारपर अपने सापेक्षतावाद या शून्यवाद-का विकास किया, यह हम बतला चुके हैं। विच्छिन्न-प्रवाह रूपमें वस्तुओं-के निरन्तर विनाश और उत्पत्ति होनेमें प्रत्येक वस्तुकी स्थितिको सापेक्ष तौरपर ही कह सकते हैं। सर्दीकी सत्ता हमें गर्मीकी अपेक्षासे मालूम होती, गर्मीकी सर्दीकी अपेक्षासे। इस तरह सत्ता सापेक्ष ही सिद्ध होती है। सापेक्ष-सत्तासे (वस्तुका) सर्वथा अभाव सिद्ध करना मर्यादाका पार करना है, तो भी हम जानते हैं कि नागार्जुनका सापेक्षतावाद अन्तमें वहाँ तक जरूर पहुँचा, और इसीलिए शून्यवादका अर्थ जहाँ क्षणिक जगत् और उसका प्रत्येक अंश किसी भी स्थिर तत्त्वसे सर्वथा शून्य है——होना चाहिए था; वहाँ क्षणिकत्वसे भी उसका अर्थ शून्य——सर्वथा शून्य——मान लिया गया। "भावों (=सद्भूत पदार्थों) में एकका दूसरेमें अभाव (=घड़ेमें कपड़ेका अभाव, कपड़ेमें घड़ेका अभाव) देखा जाता है, इसलिए सारे (पदार्थ) अभाव (=शून्य) ही हैं"[1]——इस तरह शून्यवादके पक्षको रखते हुए अक्षपादने उसके विरुद्ध अपने मतको स्थापित किया[2]——"सब अभाव हैं यह बात गलत है, क्योंकि भाव (=सद्भूत पदार्थ) अपने भाव (=सत्ता) में विद्यमान देखे जाते हैं। एक ओर सब वस्तुओंके अभावकी घोषणा भी करना और दूसरी ओर उसी अभावको सिद्ध करनेके लिए उन्हीं अभावभूत वस्तुओंमेंसे कुछकी सापेक्षताके लिए लेना क्या यह परस्पर-विरोधी नहीं है?"

(४) विज्ञानवाद-खंडन——यद्यपि बौद्ध (क्षणिक-) विज्ञानवादके महान् आचार्य असंग ३५० ई०के आसपास हुए, किन्तु विज्ञानवादका मूल (=अविकसित) रूप उनसे पहिलेके वैपुल्य-सूत्रोंमें पाया जाता है,

---

[1] न्याय० ४।१।३७ [2] वहीं ४।१।३८-४० (भावार्थ)।

यह हम बतला आए हैं;[1] इसलिए विज्ञानवादके खंडनसे अक्षपादको प्रसंगसे पीछे खींचनेकी जरूरत नहीं।

"बुद्धिसे विवेचन करनेपर वास्तविकता (=याथात्म्य)का ज्ञान होता है, जैसे (मूल) सूतोंको (एक एक करके) खींचनेपर कपड़ेकी सत्ताका पता नहीं रहता, वैसे ही (बाहरी जगत्का भी परमाणु और उससे आगे भी विश्लेषण करनेपर) उसका पता नहीं मिलता।"—इस तरह विज्ञान-वादी पक्षको रखकर अक्षपादने उसका खंडन किया है[2]—एक ओर बुद्धिसे बाहरी वस्तुओंके विवेचन करनेकी बात करना दूसरी ओर उनके अस्तित्वसे इन्कार करना यह परस्परविरोधी बातें हैं। कार्य (=कपड़ा) कारण (=सूत)के आश्रित होता है, इसलिए कार्यके कारणसे पृथक् न मिलनेमें कोई हर्ज नहीं है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे हमें बाहरी वस्तुओंका पता लगता है। स्वप्नकी वस्तुओं, जादूगरकी माया, गंधर्वनगर, मृगतृष्णाकी भांति प्रमाण, प्रमेयकी कल्पना करनेके लिए कोई हेतु नहीं है, इसलिए बाह्य जगत् स्वप्न आदिकी भांति है, यह सिद्ध नहीं होता। स्वप्नकी वस्तुओंका ख्याल भी उसी तरह वास्तविक बाह्य दुनिया पर निर्भर है, जैसे कि स्मृति या संकल्प; यदि बाहरी दुनिया न हो, तो जैसे स्मृति और संकल्प नहीं होगा, वैसे ही स्वप्न भी नहीं होगा। हाँ, बाह्य जगत्का मिथ्या-ज्ञान भी होता है, किन्तु वह तत्त्व(=यथार्थ)-ज्ञानसे वैसे ही नष्ट हो जाता है, जैसे जागनेपर स्वप्नकी वस्तुओंका ख्याल। इस तरह बाहरी वस्तुओंकी सत्तासे इन्कार नहीं किया जा सकता।

§२–योगवादी पतंजलि (४०० ई०)

जहाँ तक योगमें वर्णित प्राणायाम, समाधि, योगिक क्रियाओंका संबंध है, इनका पता हमें **सति-पट्ठान**[3] जैसे प्राचीनतम बौद्ध सुत्तों तथा कठ,

---

[1] **देखो पृष्ठ ५२०** [2] **न्याय० ४।२।२६-३५ (का भावार्थ)।**
[3] **दीघनिकाय २।९**

श्वेताश्वतर जैसी पुरानी उपनिषदों तकमें लगता है। बुद्धके वक्त तक यौगिक क्रियायें काफी विकसित ही नहीं हो चुकी थीं, बल्कि मौलिक बातोंमें योग उस वक्त जहाँ तक बढ़ चुका था, उससे ज्यादा फिर विकसित नहीं हो सका—हाँ, जहाँ तक सिद्धि, महातमको बढ़ा चढ़ाकर कहनेकी बात है, उसमें तरक्की जरूर हुई। इस प्रकार योगको, ईसा-पूर्व चौथी सदीमें हम बहुत विकसित रूपमें पाते हैं। योगका आरंभ कब हुआ—इसका उत्तर देना आसान नहीं है। यद्यपि पाणिनि (ईसा-पूर्व चौथी सदी) ने युज् धातुको समाधिके अर्थमें लिया है, किन्तु वह इस अर्थमें हमें बहुत दूर तक नहीं ले जाता। खुद बौद्ध सुत्तोंमें योग शब्द अपरिचितसा है और उसकी जगह वहाँ समाधि "समापत्ति", स्मृतिप्रस्थान (=सतिपट्ठान) आदि शब्दोंका ज्यादा प्रयोग है। प्राचीन हिन्दी-युरोपीय भाषामें युज् धातुका अर्थ जोड़ना ही मिलता है योग नहीं।[1] चाहे दूसरे नामसे देवताकी प्राप्तिकी ऐसी क्रिया—जिसमें सामग्री नहीं मनका संबंध हो—ही से योगका आरंभ हुआ होगा। दूसरे देशोंमें भी योग-क्रियाओंका प्रचार हुआ। नव्य-अफलातूनी दर्शनके साथ योग भी पश्चिममें फैला, और वह पीछे ईसाई साधकों और मुसल्मान सूफियोंमें प्रचलित हुआ था, किन्तु योगका उद्गम स्थान भारत ही मालूम होता है।

पतंजलि (१५० ई०)—पहिलेसे प्रचलित योग-क्रियाओंको पतंजलिने अपने १९४ सूत्रोंमें संगृहीत किया। पतंजलिके कालके बारेमें हम इतना कह सकते हैं, कि उन्होंने वेदान्त-सूत्रोंसे पहिले अपने सूत्र लिखे थे, क्योंकि बादरायणने "एतेन योगः प्रत्युक्तः"[2] में उसका जिक्र किया है। बादरायणका समय हमने ३०० ई० माना है। डाक्टर दासगुप्त[3] ने व्याकरण महाभाष्य-

---

[1] जर्मन भाषामें Joch, अंग्रेजीमें Yoke, लातिनमें Jugum, संस्कृतमें युग =जुआ, युग्य =जुयेका बैल। [2] वेदान्तसूत्र २।१।३

[3] A History of Indian Philosophy *by* S. N. Das gupta, 1922, Vol. I, p. 238

कार पतंजलि (१५० ई० पू०) और योग-सूत्रकार पतंजलिको एक करके उनका समय ईसा-पूर्व दूसरी सदी माना है। मैं समझता हूँ, किसी भी हमारे सूत्रबद्ध दर्शनको नागार्जुनसे पहिले ले जाना मुश्किल है। चाहे योगसूत्रमें नागार्जुनके शून्यवादका खंडन नहीं भी हो, किन्तु उसके अन्तिम (चतुर्थ) पादमें **विज्ञानवाद**का खंडन आया है, जिसे डाक्टर दासगुप्तने क्षेपक मानकर छुट्टी ले ली है, लेकिन वैसा माननेके लिए उन्होंने जो प्रमाण दिए हैं, वे बिल्कुल अपर्याप्त हैं। हाँ, उनके इस मतसे मैं सहमत हूँ, कि पतंजलिने जिस विज्ञानवादका खंडन किया है, वह असंगसे पहिले भी मौजूद था।

दूसरे दर्शन-सूत्रकारोंकी भाँति पतंजलिकी जीवनीके बारेमें भी हम अन्धकारमें हैं।

१—योगसूत्रोंका संक्षेप

योग-दर्शन छओं दर्शनोंमें सबसे छोटा है, इसके सारे सूत्रोंकी संख्या सिर्फ १९४ है, इसीलिए इसे अध्यायोंमें न बाँटकर चार **पादोंमें बाँटा** गया है; जिनके सूत्रोंकी संख्या निम्न प्रकार है—

पाद	नाम	सूत्र-संख्या
१	समाधिपाद	५१
२	साधनपाद	५५
३	विभूतिपाद	५४
४	कैवल्यपाद	३४

पादोंके नाम, मालूम होता है, पीछेसे दिये गये हैं। कुल १९४ सूत्रोंमेंसे चौथाई (४६) योगसे मिलनेवाली अद्भुत शक्तियोंकी महिमा गानेके लिए हैं। इन सिद्धियों (=विभूतियों) में "सारे प्राणियोंकी भाषाका ज्ञान"[1] "अन्तर्द्धान"[2], "भुवन (=विश्व)-ज्ञान"[3], "क्षुधा-प्यासकी निवृत्ति"[4] "दूसरे-

---

[1] योगसूत्र ३।१७ [2] वहीं ३।२१ [3] वहीं ३।२६ [4] वहीं ३।३०

के शरीरमें घुसना,"[1] "आकाशगमन,"[2] "सर्वज्ञता"[3] "इष्ट देवतासे मिलन"[4] जैसी बातें हैं। सूर्यमें संयम करके, न जाने, कितने योगियोंने "भुवन (=विश्व) ज्ञान" प्राप्त किया होगा, किन्तु हमारा पुराना भुवन-ज्ञान कितना नगण्यसा है, यह हमसे छिपा नहीं है—जहाँ दूसरे देशोंने अपने पंचांगोंको आधुनिक उन्नत ज्योतिष-शास्त्रके अनुसार सुधार लिया है, वहाँ अपने "भुवन-ज्ञान"के भरोसे हम अभी तालमीके पंचांगको ही लिए बैठे हैं।

२—दार्शनिक विचार

सिद्धियोंकी बात छोड़ देनेपर योग-सूत्रमें प्रतिपादित विषयोंको मोटे तौरसे दो भागोंमें बाँटा जा सकता है—दार्शनिक विचार और योग-साधना-संबंधी विचार। दार्शनिक विचारोंको (१) चित्त-चेतन, (२) बाह्य (=दृश्य) जगत् और (३) तत्त्वज्ञान इन तीन भागोंमें बाँटा जा सकता है; तो भी यह स्मरण रखना चाहिए कि योगसूत्रका प्रतिपाद्य विषय दर्शन नहीं यौगिक साधनायें हैं, इसलिए उसने जो दार्शनिक विचार प्रकट किये हैं, वह सिर्फ प्रसंगवश ही किये हैं।

(१) जीव (=द्रष्टा)

"द्रष्टा चेतनामात्र (=चिन्मात्र) शुद्ध निर्विकार होने भी बुद्धिकी वृत्तियोंके द्वारा देखता है (इसलिए वह बुद्धिकी वृत्तियोंसे मिश्रित मालूम होता है।) दृश्य (=जगत्)का स्वरूप उसी (=द्रष्टा)के लिए है।"[5] पुरुष (=चेतन, जीव)की निर्विकारिताको बतलाते हुए कहा है[6]—"उस (=भोग्य बुद्धि)का प्रभु पुरुष अपरिणामी (=निर्विकार) है, इस-लिए (क्षण क्षण बदलती भी) चित्तकी वृत्तियाँ उसे सदा ज्ञात रहती हैं।"

यद्यपि इन सूत्रोंमें चेतनका स्वरूप पूरी तौरसे व्यक्त नहीं किया गया

[1] योग० ३।३८ [2] वहीं ३।४२ [3] वहीं ३।४८
[4] वहीं २।४४ [5] वहीं २।२०, २१ [6] वहीं ४।१८

है, किन्तु इनसे यह मालूम होता है, कि चेतन (=पुरुष) चेतनाका आधार नहीं बल्कि चेतना-मात्र तथा निर्विकार है। उसकी चेतनामें हम जो विकार होते देखते हैं, उसका समाधान पतंजलि बुद्धिकी वृत्तियोंसे मिश्रित होनेकी बात कह कर देते हैं। बुद्धिको सांख्यकी भाँति पतंजलि भी भोग्य, विकारशील (प्रकृति)से बनी मानते हैं। बुद्धिसे प्रभावित हो पुरुष जो विकारी मालूम होता, उसीको हटाकर उसे "अपने (चेतना मात्र), केवल स्वरूपमें स्थापित करना"[1] योगका मुख्य ध्येय है, इसी अवस्थाको कैवल्य कहते हैं।

(२) चित्त (=मन)

चित्तसे पतंजलिका क्या अभिप्राय है, इसे बतलानेकी उन्होंने कोशिश नहीं की है, उनका ऐसा करनेका कारण यह भी हो सकता है, कि सांख्यके प्रकृति-पुरुष-संबंधी दर्शनको मानते हुए उन्होंने योग-संबंधी पहलूपर ही लिखना चाहा। चित्तको वह भोक्ता (=चेतन)की भोग्य वस्तुओंमें मानते हैं—"यद्यपि चित्त (मन, कर्म-विपाकवाली) असंख्य वासनाओंसे युक्त होनेसे (देखनेमें भोक्ता जैसा मालूम होता है), तथापि (वह) दूसरे (अर्थात् भोक्ता जीव)के लिए है, क्योंकि वह संघातरूपमें होकर (अपना काम) करता है, (वैसे ही जैसे कि घर, ईंट, काठ, कोठरी, द्वार आदिका) संघात बनकर जो अपनेको बसने योग्य बनाता है, वह किसी दूसरेके लिए ही ऐसा करता है।"[2]

(३) चित्तकी वृत्तियाँ

पतंजलिके अनुसार[3] योग कहते ही हैं चित्तकी वृत्तियोंके निरोधको। जब तक चित्तकी वृत्तियोंका निरोध (=विनाश) नहीं होता, तब तक पुरुष (=जीव) अपने शुद्ध रूप (=कैवल्य)में नहीं स्थित होता;

---

[1] योग० १।३ [2] वहीं ४।२४ मिलाइये "प्रयोजनवाद"से (ह्वाइटहेड पृ० ३६३) [3] वहीं १।२

चित्तकी वृत्तियाँ जैसी होती हैं, उसी रूपमें वह स्थित रहता है।[1] चित्तके बारेमें ज्यादा न कहकर भी चित्तकी वृत्तियोंको पतंजलिने साफ करके बतलाया है,[2] और यह वृत्तियाँ चूँकि चित्तकी भिन्न-भिन्न अवस्थायें हैं, इसलिए उनसे हमें चित्तका भी परिज्ञान हो सकता है। चित्त-वृत्तियाँ पाँच प्रकारकी हैं, जो कि (राग आदिके कारण) मलिन और निर्मल दो भेद और रखती हैं। वह पाँच वृत्तियाँ निम्न हैं—

(क) प्रमाण—यथार्थज्ञानके साधन, प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणोंके रूपमें जब चित्त वृत्ति क्रियाशील होती है, उसे प्रमाण-वृत्ति कहते हैं।

(ख) विपर्यय—(किसी वस्तुका ज्ञान) जो असलसे भिन्न रूपमें होता है, वही मिथ्या-ज्ञान विपर्यय-वृत्ति है (जैसे रस्सीमें साँपका ज्ञान)।

(ग) विकल्प—वस्तुके अभावमें सिर्फ उसके नाम (=शब्द)के ज्ञानको लेकर (जो चित्तकी अवस्था, कल्पना होती है) वही विकल्प (=संकल्प-विकल्पकी) वृत्ति है।

(घ) निद्रा—(दूसरी किसी वस्तुकी वृत्तिके) अभावको ही लिए हुए, जो चित्तकी अवस्था होती है, उसे निद्रावृत्ति कहते हैं।

(ङ) स्मृति—प्रमाण आदि वृत्तियोंसे जिन विषयोंका अनुभव होता है, उनका चित्तमें लुप्त न होना स्मृति-वृत्ति है।

यहाँ पतंजलिने स्वप्नका जिक्र नहीं किया है, जिसे कि **विकल्पवृत्तिके** लक्षणको जरा व्यापक—वस्तुके अभावमें सिर्फ वासनाको लेकर जो चित्तकी अवस्था होती है—करके प्रकट किया जा सकता है, किन्तु सूत्रकार केवल चित्त द्वारा निर्मित वस्तुको उतना तुच्छ नहीं समझते, बल्कि चित्तकी ऐसी निर्माण करनेकी शक्तिको एक बड़ी सिद्धि मानते हैं,[3] यह भी ख्याल रखना चाहिए।

---

[1] योग० १।४ [2] वही १।५-११ [3] वही ४।४-५

(४) ईश्वर

पतंजलिके योगशास्त्रको सेश्वर (=ईश्वरवादी) सांख्य भी कहते हैं, क्योंकि जहाँ कपिलके सांख्यमें ईश्वरकी गुंजाइश नहीं है, वहाँ पतंजलिने अपने दर्शनमें उसके लिए "गुंजाइश बनाई" है। "गुंजाइश बनाई" इसलिए कहना पड़ता है, कि पतंजलिने उसे उपनिषत्कारोंकी भाँति सृष्टिकर्त्ता नहीं बनाना चाहा और न अक्षपादकी भाँति कर्मफल दिलानेवाला ही। चित्तवृत्तियोंके निरोध (=बंद) करनेके (योग-संबंधी साधनोंका) अभ्यास, और (विषयोंमें) वैराग्य दो मुख्य उपाय बतलाये[1] हैं; उसीमें "अथवा ईश्वरकी भक्तिसे"[2] कहकर ईश्वरको भी पीछेसे जोड़ दिया। ईश्वर-भक्तिसे समाधिकी सिद्धि होती है, यह भी आगे कहा है।[3] पतंजलिके अनुसार "ईश्वर एक खास तरहका पुरुष है, जो कि (अविद्या, राग, द्वेष आदि) मलों, (धर्म, अधर्म रूपी) कर्मों, (कर्मके) विपाकों (=फलों), तथा संस्कारोंसे निर्लेप है।"[4] इस परिभाषाके अनुसार जैनों और बौद्धोंके अर्हत् तथा कैवल्यप्राप्त कोई भी (मुक्त) पुरुष ईश्वर है। हाँ, ईश्वर बननेवालोंकी सूची कम करनेके लिए आगे फिर शर्त रक्खी है— 'उस (=ईश्वर)में बहुत अधिकताके साथ सर्वज्ञ बीज है।'[5] लेकिन जैन और उनकी देखादेखी पीछेवाले बौद्ध भी अपने मत-प्रवर्त्तक गुरुको सर्वज्ञ (=सब कुछ जाननेवाला) मानते हैं। इस खतरेसे बचनेके लिए पतंजलिने फिर कहा[6]—"वह पहिलेवाले (गुरुओं—ऋषियों)का भी गुरु है, क्योंकि जब वह न हो ऐसा काल नहीं है।" बुद्ध और महावीर ऐसे सनातन पुरुष नहीं हैं यह सही है, तो भी पतंजलिके कथनसे यही मालूम होता है, कि ईश्वर कैवल्यप्राप्त दूसरे मुक्तों जैसा ही एक पुरुष है; फर्क इतना ही है, कि जहाँ मुक्त पुरुष पहिले बद्ध रह कर अपने प्रयत्नसे मुक्त हुए हैं,

[1] योग० १।१२ [2] वहीं २।४५ [3] वहीं १।२३
[4] वहीं १।२४ [5] वहीं १।२५ [6] वहीं १।२६

वहाँ ईश्वर सदासे (=नित्य) मुक्त है। उसका प्रयोजन यही है, कि उसकी भक्ति या प्रणिधानसे चित्त-वृत्तियोंका निरोध होता है।[1] "उसका वाचक प्रणव (=ओम्) है, जिसके अर्थकी भावना उस (=ओम्)का जप कहलाता है, जिस (=जप)से प्रत्यक्-चेतन (=बुद्धिसे भिन्न जो जीव है उस)का साक्षात्कार होता है, तथा (रोग, संशय, आलस्य आदि चित्त विक्षेपरूपी) अन्तरायों (=बाधाओं)का नाश होता है।

(५) भौतिक जगत (=दृश्य)

पतंजलिने जहाँ पुरुषको द्रष्टा (=देखनेवाला) कहा है, वहाँ भौतिक जगत् या सांख्यके प्रधानके लिए **दृश्य** शब्दका प्रयोग किया है। **दृश्य**का स्वरूप बतलाते हुए कहा है[2]—"(सत्त्व, रज, तम, तीनों गुणोंके कारण) प्रकाश, गति और गति-राहित्य (-स्थिति) स्वभाववाला, भूत (पाँच महाभूत और पाँच तन्मात्रा) तथा इन्द्रिय (पाँच ज्ञान-, पाँच कर्म-इन्द्रिय; बुद्धि, अहंकार, मन तीन अन्तःकरण) स्वरूपी **दृश्य** (=जगत्) है, जो कि (पुरुषके) भोग, और मुक्ति (=अपवर्ग)के लिए है।"

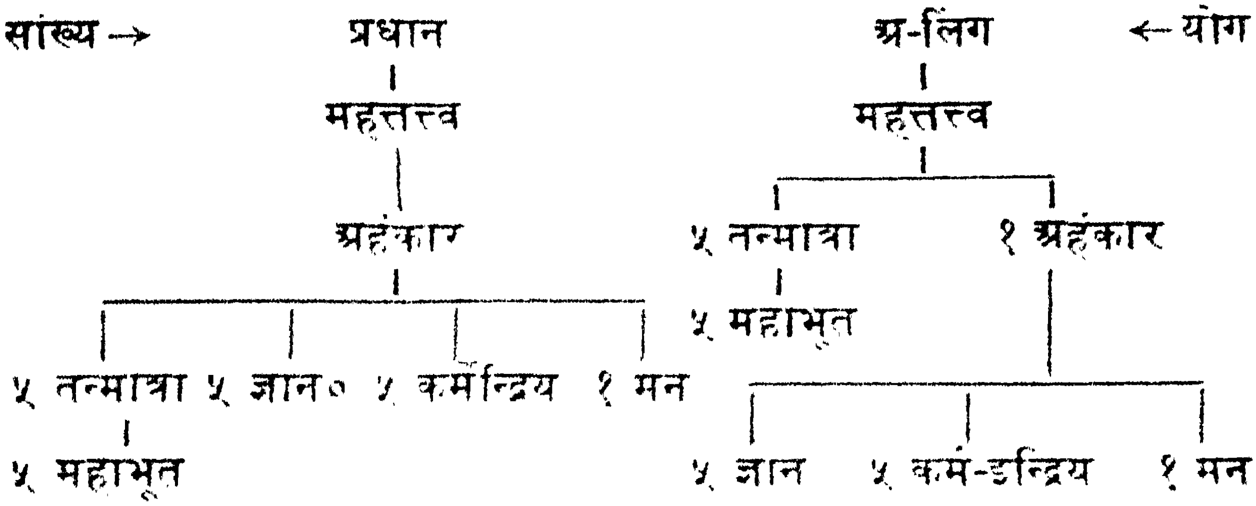
(क) प्रधान—सांख्यने पुरुषके अतिरिक्त **प्रकृति**(=प्रधान) के २४ तत्त्वोंको प्रकृति, प्रकृति-विकृति, और विकृति इन तीन कोटियोंमें बाँटा है, जिन्हें ही पतंजलिने चार प्रकारसे बाँटा है।—[3]

सांख्य	तत्त्व	योग
प्रकृति १	प्रधान (त्रिगुणात्मक)	अ-लिंग १
प्रकृति-विकृति ७	१ महत्तत्त्व (=बुद्धि)	लिंग १
	+ ५ तन्मात्रा + १ अहंकार	अ-विशेष ६
विकृति १६	५ महाभूत + ५ कर्मेन्द्रिय + ५ ज्ञानेन्द्रिय + १ मन	विशेष १६

---

[1] योग० १।२७-३० [2] वहीं २।१८, २१, २२ [3] वहीं २।१६

दोनोंके जन्य-जनक संबंधमें निम्न अन्तर है—



पाँच तन्मात्रायें हैं—गंधतन्मात्रा, रस०, रूप०, स्पर्श०, शब्दतन्मात्रा

पाँच भूत हैं—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश

पाँच ज्ञान-इन्द्रियाँ हैं—नासिका, जिह्वा, चक्षु, स्पर्श, श्रोत्र

पाँच कर्म-इन्द्रियाँ हैं—वाणी, हाथ, पैर, मल-इन्द्रिय, मूत्र-इन्द्रिय

अनीश्वरवादी सांख्य २४ प्राकृतिक तत्त्वों तथा पुरुष (जीव)को लेकर २५ तत्त्वोंको मानता है; और ईश्वरवादी योग उसमें पुरुषविशेष (=ईश्वर)को जोड़ कर २६ तत्त्वोंको।

"पुरुषके लिए ही दृश्य (जगत्)का स्वरूप है,"[1] इसका अर्थ है, कि पुरुषके कैवल्य (=मुक्ति) प्राप्त हो जानेपर संसारका अस्तित्व खतम हो जायेगा; किन्तु अनादिकालसे आज तक कितने ही पुरुष कैवल्यप्राप्त हो गए, तो भी जगत् इसलिए जारी है, कि कैवल्यप्राप्तोंसे भिन्न—बद्ध पुरुषों—की भी वह साझेकी भोग्य वस्तु है।"[2]

(ख) परिवर्त्तन—पाँचों महाभूतों, दसों इन्द्रियाँ और मन (=चित्त) में निरन्तर परिवर्त्तन (=नाश, उत्पत्ति) होता रहता है, जिनमेंसे महाभूतों और इन्द्रियोंके परिवर्त्तन (=परिणाम) तीन प्रकारके होते हैं—धर्म-परिणाम (=मिट्टीका पिंडरूपी धर्म छोड़ घटरूपी धर्ममें परिणत

---

[1] योग० २।२१ [2] वहीं २।२२

होना); 'लक्षण-परिणाम (=घड़ेका अतीत, वर्त्तमान, भविष्यके संबंध=लक्षणसे अतीत घड़ा, वर्त्तमान घड़ा, भविष्य घड़ा बनना); अवस्था-परिणाम (=वर्त्तमान घड़ेका नयापन, पुरानापन आदि अवस्थामें बदलना)। मिट्टीमें चूर्ण और पिंड, पिंड और घड़ा, घड़ा और कपाल (=खपड़ा) यह जो पहिले पीछेका क्रम देखा जाता है, वह एक ही मिट्टीके भिन्न-भिन्न धर्म-परिवर्त्तनोंको बतलाता है; इसी अतीत, वर्त्तमान और भविष्यकालके भिन्न-भिन्न क्रमसे भिन्न-भिन्न लक्षण, तथा दुर्दृश्य, सूक्ष्म, स्थूलके भिन्न-भिन्न क्रमसे भिन्न-भिन्न अवस्थाका परिवर्तन मालूम पड़ता है।'[1]

इस तरह पतंजलि परिवर्त्तन होता है, इसे स्वीकार करते हैं। यद्यपि वह स्वयं इस बातको स्पष्ट नहीं करते, तो भी सांख्यकी दूसरी कितनी ही बातोंकी भाँति उनके मनमें भी परिवर्त्तन होता है भावसे भाव रूपमें (=सत्कार्यवाद) में ही।

"(सत्त्व रज, तम ये तीन) गुण स्वरूपवाले (प्रधानसे नीचेके २३ तत्त्व) व्यक्त होते हैं (जब कि वे वर्तमानकालमें हमारे सामने होते हैं); और सूक्ष्म होते हैं (जब कि वे आगममें आभत भूत, या भविष्यमें रहते हैं)। (गुणोंके तीन होनेपर भी उनके धर्म, लक्षण, या अवस्था-) परिणाम (=परिवर्त्तन) चूँकि एक होते हैं इसलिए (परिणाममें उत्पन्न बुद्धि, अहंकार आदि वस्तुओंका) एक होना देखा जाता है।"[2] इस प्रकार नाना कारणों (=गुणों) से एक कार्यकी उत्पत्ति पतंजलिने सिद्ध की। सांख्य और योगके तीनों गुण प्रकृतिकी तीन स्थितियोंको बतलाते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए, वह स्थितियाँ हैं—सत्त्व=प्रकाशमय अवस्था, रज=गतिमय अवस्था, तम=गतिशून्यतामय अवस्था।

(६) क्षणिक विज्ञानवाद खंडन

नाना कारणसे एक कार्यका उत्पन्न होना विज्ञानवादके विरुद्ध है,

---

[1] योग० ३।१३-१५ [2] वही ४।१३-१४

क्योंकि विज्ञानवादी एक ही विज्ञानमें जगत्‌की असंख्य विचित्रताओंको उत्पन्न मानते हैं। इसका खंडन करते हुए पतंजलि कहते हैं कि "वे (चित्त=विज्ञान=मन और भौतिक तत्त्व) दोनों भिन्न भिन्न हैं, क्योंकि एक (स्त्री) वस्तुके होनेपर भी (जिस चित्तमें उसकी उत्पत्ति विज्ञानवादी बतलाते हैं, वह) चित्त (एक नहीं) अनेक है।"[1] विज्ञानवादके अनुसार वहाँ जो स्त्री शरीर है, वह विज्ञान (=चित्त)का ही बाहरी क्षेपण (=फेंकना) है, किन्तु जिस चित्तके क्षेपणका परिणाम वह स्त्री है, वह एक नहीं है—किसीके चित्तके लिए वह सुखदा प्रिया पत्नी है, किसीके चित्तके लिए वह दुःखदा सौत है। फिर ऐसे परस्परविरोधी अनेक विज्ञानों (=चित्तों)से निर्मित स्त्री एक विज्ञानसे बनी नहीं कही जा सकती; उसकी जगह यही मानना चाहिए कि विज्ञान और भौतिक तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं, और वही मिलकर एक वस्तुको बनाते हैं। और भी[2] "यदि वस्तुको एक चित्त (=विज्ञान)से बनी माना जाय, तो (उस चित्तके किसी दूसरे कपड़े आदिके निर्माणमें) व्यस्त होनेपर, उस वस्तुका क्या होगा-(—निर्माण कर्त्ता चित्तके अभावमें उसका अभाव होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिए वस्तु चित्तसे बनी, नहीं है, बल्कि उसकी स्वतंत्र सत्ता है। अकेला चित्त सारी वस्तुओं (=भौतिक पदार्थों)का कारण होनेसे आपके तर्कानुसार उसे सर्वज्ञ होना चाहिए, किन्तु वैसा नहीं देखा जाता, इसलिए विज्ञान सबका मूलकारण है, यह मत गलत है। हमारे मतमें तो "वस्तुके ज्ञान होनेके लिए (इन्द्रिय-द्वारा) चित्तका उस (वस्तु)से 'रँगा जाना' (=मनपर संस्कार पड़ना) जरूरी है, (जब वह वस्तुसे रँगा नहीं होता, तो वस्तु) अज्ञात होती है।" चित्त परिवर्तनशील है, किन्तु "चित्तकी वृत्तियाँ लगातार (=सदा) ज्ञात रहती हैं, यह इसीलिए कि उस (=भोग्य-वस्तु)का स्वामी (=पुरुष) अ-परिवर्तनशील है।" "दृश्य (=जगत्‌का एक भाग होनेसे चित्त स्वप्रकाश (=स्वयंचेतन) नहीं है" बल्कि उसे प्रकाश

---

[1] योग० ४।१५ [2] वहीं ४।१६-१९

पुरुषके संपर्कसे मिलता है। इसीलिए चित्तमात्रसे जगत्‌की उत्पत्ति माननेसे चेतनाकी गुत्थी भी नहीं सुलझ सकती।

यद्यपि उपरोक्त आक्षेप शंकर और बर्कले जैसे नित्य (=स्थिर) विज्ञान-वादियोंपर भी लागू होता है, किंतु पतंजलिका मुख्य लक्ष्य यहाँ क्षणिक विज्ञानपर है, इसीलिए अपने अभिप्रायको और स्पष्ट करते हुए कहते हैं[1]—"और (बौद्धोंके अनुसार चित्तके क्षणिक होने तथा उससे परे पुरुषके न होने-पर) एक समयमें (चित्त और चेतन पुरुष) दोनोंकी स्मृति (=अवधारण) नहीं हो सकती" यद्यपि ऐसा होते देखा जाता है—घड़ा देखते वक्त 'मैंने घड़ा देखा' से मैंका भी स्मरण होता है। "यदि (दूसरे क्षणवाले) अन्य चित्तसे (उसे) देखा जानेवाला मानें, तो उस बुद्धिसे दूसरी, उससे दूसरी, इस प्रकार कहीं निश्चित स्थानपर नहीं पहुँच सकेंगे, और स्मृतियोंमें गड़बड़झाला (=संकरता) होगा।" इसलिए क्षणिक विज्ञान स्मरणकी समस्याको हल नहीं कर सकता, और वस्तुओंकी उत्पत्तिकी समस्याको भी नहीं हल कर सकता यह अभी कह आये हैं; इस प्रकार विज्ञानवाद युक्ति-संगत नहीं है।

(७) योगका प्रयोजन

अविद्या, प्रत्ययानुपश्यन, क्लेश, सविचार, निर्विचार, शुक्ल, कृष्णकर्म, आशय (=आस्रव), चित्त, समापत्ति, वासना, वैराग्य, प्रसाद, भव-प्रत्यय, मृदु-मध्य-अधिमात्र, मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षा, श्रद्धा-वीर्य आदि बहुतसे पारिभाषिक शब्दार्थ पतंजलिने ज्योंके त्यों बौद्धोंसे ले लिए ही हैं, साथ ही मौलिक सच्चाई जिसपर पतंजलि जोर देना चाहते हैं, उसे भी जब देखते हैं, कि वह बौद्धोंके चार आर्य-सत्योंका ही रूपान्तर है; तो पता लग जाता है कि पतंजलि बौद्ध विचारोंसे कितने प्रभावित हुए थे। बौद्ध आर्यसत्य हैं—(१) दुःख, (२) दुःख-समुदय (=दुःख-हेतु), (३) दुःख-निरोध (=दुःखका विनाश) और (४) दुःख-

---

[1] योग० ४।२०-२१

निरोध-गामिनी-प्रतिपद् (=दुःख निरोधकी ओर ले जानेवाला मार्ग या उपाय)। इसकी जगह देखिये पतंजलिके[1] (१) हेय (=त्याज्य), (२) हेय-हेतु, (३) हान (=नाश) और (४) हान-उपायको। हेयसे उनका क्या मतलब है, इसे खुद ही "हेय आनेवाला दुःख"[2] है कह कर साफ कर दिया है, इसलिए इसमें सन्देह ही नहीं रह जाता कि योगने बौद्ध चार आर्यसत्योंको ले लिया है। योगके इन चार मौलिक सिद्धान्तों—जो ही वस्तुतः योगशास्त्रके मुख्य प्रयोजन है—के बारेमें यहाँ कुछ और कहना जरूरी है।

(क) हान—हान दुःखको कहते हैं, और दुःख पतंजलिको भी उतना ही व्यापक मान्य है जितना बौद्धोंको—"सारे (भोग) ही दुःख"[3] है।

(ख) हेय (=दुःख)-हेतु—इस दुःखका कारण क्या है? "जीव (=द्रष्टा) और जगत् (=दृश्य)का संयोग।"[4] "(यही) संयोग मिल्कियत (=जगत्) और मालिक (=जीव)की शक्तियोंके (जो) अपने-अपने स्वरूप है, उनकी उपलब्धि (=अनुभव)का हेतु है।"[5] इनमें जगत्के स्वरूपका अनुभव भोगके रूपमें होता है, पुरुष (=जीव)के स्वरूपका अनुभव अपवर्ग (=कैवल्य)के रूपमें। भोगके रूपमें होनेवाले अनुभवका कारण जो संयोग है, वही दुःखका हेतु है।

(ग) हान (=दुःख)से छूटना—जीव और जगत्के भोक्ता और भोग्यके रूपमें जिस संयोगको अभी दुःखका हेतु बतलाया गया है, उस संयोगका कारण अविद्या है। उसीके अभावमें उस संयोगका अभाव होता है। यही संयोगका अभाव हान है, और वही द्रष्टा (=पुरुष)का कैवल्य है।[6]

(घ) हान (=दुःख)से छूटनेका उपाय—पुरुषका प्रकृतिके संयोगसे मुक्त हो अपने स्वरूपमें अवस्थित होना हान या कैवल्य है, यह तो ठीक है,

[1] योग० २।१६, १७, २५, २६ [2] वहीं २।१६ [3] वहीं २।१५
[4] वहीं २।१७ [5] वहीं २।२३ [6] वहीं २।२४-२५

किंतु यह संयोगसे मुक्त होना (=हान) किस उपायसे हो सकता है? इसका उत्तर पतंजलि देते हैं—"(पुरुष और प्रकृतिके) विवेक (=भिन्न-भिन्न होने) का निर्भ्रान्त ज्ञान हानका उपाय है।"[1]

योगके अंगोंके अनुष्ठानसे (चित्तके) मलोंका नाश होता है, जिससे ज्ञान उज्वल होता जाता है, यहाँ तक कि विवेक ज्ञान प्राप्त हो जाता है।[2]

३—योगकी साधनायें

योगसूत्रका मुख्य प्रयोजन है, उन साधनों या अंगोंके बारेमें बतलाना जिनसे पुरुष कैवल्य प्राप्त कर सकता है। ये योगके अंग आठ हैं, इसीलिए पतंजलिके योगको भी अष्टांग-योग कहते हैं। ये आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, जिनमें पहिले पांच बहिरंग कहे जाते हैं, और अन्तिम तीन चित्तकी वृत्तियोंसे विशेष संबंध रखनेके कारण अन्तरंग कहे जाते हैं। योगसूत्रके दूसरे और तीसरे पादमें इन आठों योग-अंगोंका वर्णन है।

(१) यम[3]—अहिंसा, सत्य, चोरी-त्याग, (=अस्तेय), ब्रह्मचर्य और अ-परिग्रह (=भोगोंका अधिक संग्रह न करना)।

(२) नियम[4]—शौच (=शारीरिक शुद्धता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (=ईश्वर-भक्ति)।

(३) आसन[5]—सुखपूर्वक शरीरको निश्चल रखना (जिसमें कि प्राणायाम आदिमें आसानी हो)।

(४) प्राणायाम[6]—आसनसे बैठ श्वास-प्रश्वासकी गतिका विच्छेद करना।

(५) प्रत्याहार[7]—इन्द्रियोंका उनके विषयोंके साथ योग न होने दे चित्त (=मन) का अपने रूप जैसा रहना।

---

[1] योग० २।२६ [2] वही २।२८ [3] वही २।३० [4] वही २।३२
[5] योग० २।४६ [6] वही २।४९ [7] वही २।५४

(६) धारणा[1]—(किसी खास) देश (=नासाग्र आदि) में चित्तको रोकना।

(७) ध्यान[2]—उस (धारणाकी स्थिति) में (चित्तकी) वृत्तियोंकी एकरूपता।

(८) समाधि[3]—वही (ध्यान) जब (ध्यानके) स्वरूप (के ज्ञानसे) रहित, सिर्फ (ध्येय) अर्थ (के स्वरूप) में प्रकाशमान होता है (तो उसे समाधि कहते हैं)। —अर्थात् ध्येय, ध्याता और ध्यानके ज्ञानोंमें जहाँ ध्येय मात्रका ज्ञान प्रकट होता है, उसे समाधि कहते हैं।

धारणा, ध्यान, समाधि इन तीन अन्तरंग योगांगोंको **संयम** भी कहते हैं।

§२–शब्दप्रमाणक ब्रह्मवादी बादरायण (३०० ई०)

१–बादरायणका काल

यूनानियों और शकोंके चार शताब्दियोंके शासन और संस्कृति-संबंधी प्रभाव तथा बौद्धोंके तीक्ष्ण तर्क प्रहारसे ब्राह्मणोंके कर्मकांडकी ही नहीं उनके उपनिषदीय अध्यात्म दर्शनका प्रभाव भी क्षीण होने लगा। जहाँ तक युक्ति-संगत सिद्धान्तोंके संबंधमें उत्तर हो सकता था, वह उन्होंने न्याय, वैशेषिक, योग और सांख्य द्वारा दिया; किन्तु वह काफी नहीं था। यदि वेद-मूलक ज्ञान और कर्मकांडके संबंधमें उत्पन्न हुई शंकाओंका वह उत्तर नहीं दे सकते थे, तो ब्राह्मणधर्मकी जड़ खुद चुकी थी, इसीलिए उनकी रक्षाके लिए बादरायण और जैमिनिने कलम उठाई। जैमिनिकी कर्म-मीमांसाके बारेमें हम लिख चुके हैं। वहाँ हमने यह भी बतलाया था, कि एक दूसरेकी राय उद्धृत करनेवाले जैमिनि और बादरायण समकालीन थे, जिसका अर्थ हुआ, बादरायण भी ३०० ई० में मौजूद थे। पौराणिक परंपरा बादरायण

---

[1] योग० ३।१ [2] वहीं ३।२ [3] वहीं ३।३

तथा व्यासको एक मानती है, और पाँच हजारसे कुछ साल पहिले महाभारत कालमें उनका होना बतलाती है; किन्तु, इसका खंडन स्वयं वेदान्त सूत्रकारके वे सूत्र करते हैं, जिनमें सिर्फ बुद्धके दर्शनका ही नहीं, बल्कि उनकी मृत्यु (४८३ ई० पू०)से छै-सात सदियोंमें भी पीछे अस्तित्वमें आनेवाले बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों—वैभाषिक, योगाचार, माध्यमिक—का खंडन है। अफलातूंके प्रभावसे प्रभावित हो बौद्धोंने अपने विज्ञानवादका विकास नागार्जुन (१७५ ई०)से पहिले भी किया था जरूर, किन्तु उसका पूर्ण विकास दो पेशावरी पठान भाइयों—असंग और वसुबंधु (३५० ई०)—ने किया। यद्यपि विज्ञानवाद (=योगाचार)का जिस प्रकार खंडन सूत्रोंमें किया गया है, उससे काफी संदेहकी गुंजाइश है, कि वेदान्तसूत्र असंग (३५० ई०)से पीछे बने, तो भी और निश्चयात्मक प्रमाणोंके अभावमें अभी हम यही कह सकते हैं, कि बादरायण, कणाद (१५० ई०), नागार्जुन (१७५ ई०), योगसूत्रकार पतंजलि (२५० ई०) के पीछे और जैमिनि (३०० ई०)के समकालीन थे। यह स्मरण रखना चाहिए, कि ३५० ई० से पहिले के दर्शन-समालोचक बौद्ध-दार्शनिकोंके ग्रंथोंसे पता नहीं लगता, कि उनके समयमें वेदान्तसूत्र या मीमांसासूत्र मौजूद थे।

२—वेदान्त-साहित्य

वेदान्तसूत्रोंपर बौधायन और उपवर्षने वृत्तियां (= छोटी टीकायें) लिखी थीं, जिनमें बौधायन वृत्तिके कुछ उद्धरण रामानुज (जन्म १०१७ ई०)ने दिये हैं, किन्तु वे दोनों वृत्तियाँ आज उपलब्ध नहीं हैं। परम्परासे यही पता लगता है, कि बौधायन शारीरकवादी द्वैतवादके समर्थक थे, जो ही वेदान्त सूत्रोंका भी भाव मालूम होता है जैसा कि आगे प्रकट होगा; और उपवर्ष अद्वैतवादके। वेदान्तसूत्रोंपर सबसे पुराना ग्रंथ शंकर (७८८-८२० ई०)का भाष्य है। हर्षवर्धन (६४० ई०)के शासन और धर्मकीर्ति (६०० ई०)के दर्शनके बाद सदियोंमें [illegible]

गई सामाजिक और आर्थिक समस्याओंकी उलझनों, उनके कारण पैदा हुई विषमताओं, बहुसंख्यक जनताकी पीड़ा-प्रताड़नाओं, तथा अल्पसंख्यक शासकों-शोषकोंकी मानसिक विलासिताओं, अनिश्चित भविष्य संबंधी आशंकाओंसे भारतीय मस्तिष्क वस्तुस्थितिको लेते हुए किसी हलके ढूँढ़नेमें इतना असमर्थ था, कि उसे विज्ञानवाद, परलोकवाद, मायावादकी हवामें उड़कर आत्मसन्तोष या आत्मसम्मोह—आँख मूँदना—एक मात्र रास्ता सूझता था। असंग, वसुबंधुके विज्ञानवाद द्वारा बौद्धोंको शिक्षित शासक-शोषक वर्गमें प्रिय और सम्मानित बननेका मौका मिला था, तो भी बौद्ध विज्ञानवाद उस समय अति तक न पहुँच सका, यह तो इसीसे मालूम होता है, कि दिङ्नाग (४५० ई०) और धर्मकीर्ति (६०० ई०) विज्ञानवादी सम्प्रदायके होते भी उनपर वस्तुवादका जितना प्रभाव था, उतना विज्ञानवादका नहीं—धर्मकीर्तिको तो बल्कि स्वातंत्रिक (=वस्तुवादी)-विज्ञानवादी साफ तौरसे कहा गया है। बौद्धोंकी सफलताको देखकर शंकरने भी उपनिषद्के दर्शनको शुद्ध विज्ञानवादके रूपमें परिणत करनेकी इच्छासे अपना वेदान्तभाष्य लिखा। उन्हें इसमें आशातीत सफलता हुई, यह तो इसीसे मालूम है, कि आजके शिक्षित हिन्दुओंमें—जिन्हें दर्शनकी ओर कुछ भी शौक है—सबसे अधिक संख्या शंकर-वेदान्तके अनुयायियों—"वेदान्तियों"की है; शंकर-वेदान्तसे संबंध रखनेवाली तथा खुद शंकरभाष्य-पर लिखी गई पुस्तकोंकी संख्या हजारों है। शंकर-भाष्यके बाद सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ वाचस्पति मिश्र (८४१ ई०) की **भामती** (शंकरभाष्यकी टीका) तथा कन्नौज-राज जयचन्दके दर्बारी कवि और दार्शनिक श्रीहर्ष (११९० ई०) का **खंडनखंडखाद्य** है।

शंकरकी सफलताने बतला दिया, कि ब्राह्मण (=हिन्दू)-धर्मी किसी सम्प्रदायको यदि सफलता प्राप्त करनी है, तो उसे शंकरके रास्तेका अनुकरण करना चाहिए। इस अनुकरणका परिणाम यह हुआ है, कि आज सभी प्रधान-प्रधान हिन्दू सम्प्रदायोंके पास अपनी दार्शनिक नीव

मजबूत करनेके लिए अपने-अपने वेदान्त-भाष्य हैं[1]—

संप्रदाय	भाष्यकार	काल
शंकर (शैव)	शंकर (मलबार)	७८८-८२० ई०
रामानुजीय (वैष्णव)	रामानुज (तामिल)	१०२७ (जन्म)
निम्बार्क (वैष्णव)	निम्बार्क (तेलगू)	११ वीं सदी
माध्व (वैष्णव)	आनन्दतीर्थ (कर्नाट)	११९८ (जन्म)
राधावल्लभी (वैष्णव)	वल्लभ (तेलगू)	१४०१ (जन्म)

३—वेदान्तसूत्र

वेदान्तसूत्रोंको शारीरकसूत्र भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें जगत् और ब्रह्मको शरीर और शरीरधारी=शारीरकके तौरपर वर्णित किया है,—जो कि शंकरके मतके खिलाफ जाता है। दूसरा नाम ब्रह्ममीमांसा है, जो कि कर्ममीमांसा (=मीमांसा) की तुलनामें रखा गया है। वेदान्त-सूत्रमें चार अध्याय और हर अध्यायमें चार-चार पाद हैं, जिनमें सूत्रों-की संख्या इस प्रकार है—

अध्याय	पाद	सूत्र-संख्या	अधिकरण (प्रकरण)	विषय
१	१	३२	११	उपनिषद् सिर्फ ब्रह्म-
	२	३२	६	को जगत्की उत्पत्ति
	३	४४	१०	स्थिति प्रलयका कारण मानती है।
	४	२६	८	युक्तिसे भी जगत्
		१३८		कारण ब्रह्म है, प्रधान आदि नहीं।

[1] इनके अतिरिक्त श्रीकंठ, बलदेव और भास्करके भी भाष्य हैं, यद्यपि उनका आज कोई धार्मिक संप्रदाय मौजूद नहीं है। हालमें अब रामा-

अध्याय	पाद	सूत्र-संख्या	अधिकरण (प्रकरण)	विषय
२	१	३६	१०	दूसरे दर्शनोंका खंडन
	२	४२	८	
	३	५२	७	चेतन और जड़
	४	१९	९	प्राण और इन्द्रियाँ
		१४९		
३	१	२७	६	पुनर्जन्म
	२	४०	८	स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थायें।
	३	६४	२६	उपनिषद्के सभी उपदेशों (विद्याओं) का प्रयोजन ब्रह्मज्ञानसे ही मुक्ति;
	४	५१	१५	किन्तु कर्म भी सहकारी।
		१८२		
४	१	१९	११	ब्रह्मज्ञानका फल, शरीरान्तके बाद मुक्तकी यात्रा।
	२	२०	११	
	३	१५	५	अन्तिम यात्राका मार्ग
	४	२२	६	मरनेके बाद मुक्तकी अवस्था और अधिकार।
	१६	७६	१५१	
		५४५		

४. वेदान्तका प्रयोजन उपनिषदोंका समन्वय—जिस तरह जैमिनिने ब्राह्मण और उसके कर्मकांडका अन्धाधुंध समर्थन किया है, वही

नन्दी वैष्णवोंने अपनेको रामानुजी वैष्णवोंसे स्वतंत्र संप्रदाय साबित करनेका प्रयास किया, तो किसी विद्वान्के वेदान्तभाष्यको रामानन्द-भाष्यके नामसे प्रकाशित करना जरूरी समझा।

काम बादरायणने उपनिषद्के संबंधमें अपने ऊपर लिया। पहिले अध्यायके चतुर्थ पाद तथा दूसरे अध्यायके प्रथम और द्वितीय पाद—५४५ सूत्रोंमेंसे १०७—को छोड़ बाकी सारा ग्रंथ उपनिषद्की शिक्षाओं, और विद्याओं (=विशेष उपदेशों) पर बहस करनेमें लिखा गया है और इन १०७ सूत्रोंमें भी अधिकतर उपनिषद्-विरोधी विचारोंका खंडन किया गया है।

वेदान्तका प्रथम सूत्र है "अथ यहाँसे ब्रह्मकी जिज्ञासा" शुरू होती है; इसकी तुलना कीजिये मीमांसाके प्रथम सूत्र—"अब यहाँसे धर्मकी जिज्ञासा" शुरू होती है—से। ब्रह्म क्या है, यह दूसरे सूत्रमें बतलाया है—"इस (=जगत्)का जन्म आदि (स्थिति और प्रलय) जिससे (वही ब्रह्म है)।[1]" यहाँ सूत्रकारने ब्रह्मकी सिद्धिमें अनुमान प्रमाणका प्रयोग किया है, 'हर वस्तुका कोई कारण होता है, इसलिए जगत्का भी कारण होना चाहिए' इस तर्कसे उन्होंने जगत्-स्रष्टा ब्रह्मको सिद्ध किया। तो भी बादरायण ब्रह्मको तर्कसे सिद्ध करनेपर उतने तुले हुए नहीं, मालूम होते, इसलिए सबसे भारी हेतु ब्रह्मके होनेमें तीसरे सूत्रमें दिया है—"क्योंकि शास्त्र (=उपनिषद्) इसका प्रमाण है" (शब्दार्थ है "क्योंकि शास्त्र इसका योनि है"), "और वह (शास्त्रका प्रमाण होना सारे उपनिषदोंका) सर्वसम्मत (=समन्वय)[2] है।" बाकी सारा वेदान्त-सूत्र एक तरह इसी चौथे सूत्रकी विस्तृत व्याख्या है।

सर्व-सम्मत या समन्वय साबित करनेमें बादरायणने एक तो उपनिषद्के भीतरी विरोधोंका परिहार करना चाहा है, दूसरे यह साबित किया है कि भिन्न-भिन्न उपनिषद्-वक्ताओंने जो ब्रह्मज्ञान-संबंधी खास-खास उपदेश (=विद्यायें) दिए हैं, वह सभी उसी एक ब्रह्मके बारेमें हैं। ब्रह्म, जीव, जगत् आदिके बारेमें अपने सिद्धान्त क्या हैं, और विरोधी दार्शनिक सिद्धान्त युक्तिसंगत नहीं हैं, इतना और ले लेनेपर वेदान्तसूत्रमें प्रति-

---

[1] तैत्तिरीय उपनिषद् ३।१।१ में "जिससे ये प्राणी पैदा हुए . . ."के आशयको इस सूत्रमें व्यक्त किया गया है। [2] वेदान्तसूत्र १।१।४

पादित मार्ग बाते आ जाती हैं, जैसा कि पहिले दिए नक्शेसे मालूम होगा।

(विरोध-परिहार)—उपनिषद्के ऋषियोंने जगत्के मूलकारणके ढूँढनेका प्रयास किया था, और सभी एक ही रायपर नहीं पहुँचे—उदाहरणार्थ सयुग्वा रैक्व जल (=प्राण)को मूलकारण मानता था; पिछले उपनिषदोंमें कपिल भी ऋषि माने गए हैं, वह प्रधानको मूलकारण मानते थे। इसलिए बादरायणके लिए यह जरूरी था, कि उपनिषद्के ऐसे वक्तव्योंके पारस्परिक विरोधको दूर करें। ग्रंथकारने पहिले अध्यायके पहिले पादके पाँचवें सूत्रसे विरोध-परिहारको शुरू किया है।

(१) प्रधान (=प्रकृति)को उपनिषद् मूलकारण नहीं मानता—उद्दालक आरुणिने अपने पुत्रको ब्रह्मका उपदेश करते हुए कहा था[1]—"सोम्य! यह पहिले एक अद्वितीय सत् (=अस्तिरूप) था। . . . उसने ईक्षण (=कामना) किया कि मैं बहुत हो जाऊँ।" यहाँ जिस सत्, एक, अद्वितीय तत्त्वके अस्तित्वको सृष्टिसे पहिले आरुणि स्वीकार करते हैं, वह कपिल-प्रतिपादित प्रधान (=प्रकृति) पर भी लागू हो सकता था; फिर कहीं जगत्का जन्म ब्रह्मसे मानना कहीं प्रधानसे, यह परस्पर-विरोधी बात होती; इसी विरोधको दूर करते हुए बादरायणने कहा है[2]—"अ-शब्द (=उपनिषद्के शब्दोंसे न प्रतिपादित प्रधान यहाँ अभिप्रेत) नहीं है, क्योंकि यहाँ ईक्षण (का प्रयोग किया गया है, और वह जड़ प्रधानके लिए इस्तेमाल नहीं हो सकता)।" प्रश्न हो सकता है, शब्दोंका प्रयोग कितनी ही बार मुख्य नहीं गौण अर्थमें भी किया जाता है, उसी तरह आगे होनेवाली बातको काव्यकी भाषामें ऋषिने "ईक्षण किया" कहा होगा। उसका उत्तर है—"गौण नहीं है, क्योंकि (वहाँ उसी सत्के लिए) आत्म शब्द (का प्रयोग आया है, जो कि जड़ प्रधानके लिए नहीं हो सकता)।" यही नहीं "उस (सत्य)में निष्ठावालेको मोक्ष पानेकी

---

[1] छान्दोग्य ६।२।१; देखो पृष्ठ ४५२ भी। [2] वे० सू० १।१।५-८

बात कही है। (प्रधान अभिप्रेत होता तो मुमुक्षु श्वेतकेतुके लिए अन्तमें उस प्रधानको हेय=त्याज्यके तौरपर बतलाना चाहिए था) "हेय होना न कहना भी (यही सिद्ध करता है, कि आरुणि सत्से प्रधानका अर्थ नहीं लेते थे)। आरुणिने उपदेशके आरम्भ ही में "एकके जाननेमें सबका ज्ञान"[1] होना है, इसे मिट्टीके पिंड और मिट्टीके भांडोंके उदाहरणसे बतलानेकी प्रतिज्ञा (=दावा) की थी, चेतन (=पुरुष) उसी तरह प्रधानका कारण नहीं हो सकता, इसलिए[2] "(उस) प्रतिज्ञाके विरोध (का ख्याल करने)में" भी यहाँ सत्से **प्रधान** अभिप्रेत नहीं है। आगे[3] इसी उपदेशमें स्वप्नमें पुरुष (=जीव)के उस सत्के पास जानेकी बात कही है, इस[4] "स्वप्नमें जाने (की बात)से" भी प्रधान अभिप्रेत नहीं मालूम होता। यही नहीं जैसे यहाँ "सत् ही अकेला पहिले था" कहा गया है, उसी तरह ऐतरेय उपनिषद्में[5] "आत्मा ही अकेला पहिले था" कहा गया है; इस "एक तरहकी (वर्णन) गति (=शैली)से"[6] भी हमारे पक्षकी पुष्टि होती है। और खुद आत्माका शब्द भी सत्के लिए कही[7] "सुना गया (श्रुतिने कहा) है इससे भी।"[8]

इसी तरह "आनन्दमय"में **मय** (प्रानुमय)से जीवात्मा अभिप्रेत नहीं है, बल्कि वहाँ भी यह ब्रह्मवाचक है।

(२) जीवात्मा (और प्रधान) भी मूल कारण नहीं—तैत्तिरीय उपनिषद्में[9] कहा है—"उसी इस आत्मासे आकाश पैदा हुआ, आकाशसे वायु, वायुसे आग, आगसे जल, जलसे पृथिवी ... विज्ञान (=आत्मा)को यदि ब्रह्म जानता है ... तो सभी कामनाओंको प्राप्त करता है। उस (=विज्ञान)का यह शरीर(में रहने) वाला ही आत्मा है, जो कि पहिलेका

---

[1] छां० ६।१।१, देखो पृष्ठ ४५१ भी। [2] वे० सू० १।१।६
[3] छां० ६।८।१ [4] वे० सू० १।१।१० [5] ऐतरेय १।१
[6] वे० सू० १।१।११ [7] छां० ६।३।२ "**अनेन जीवेनात्मना**"।
[8] वे० सू० १।१।१२ [9] २।१, ... ५

है । उसी इस विज्ञानमयमें अन्य=अन्तर आनन्दमय आत्मा है, उससे यह (विश्व) पूर्ण है ।" यहाँ आत्मामें आकाश आदिकी उत्पत्ति बतलाई है, जिससे आत्मा मूलकारण मालूम होता है, और उसी आत्माके लिए "आनन्दमय", "शरीरवाला" भी प्रयुक्त हुआ है, जिससे जान पड़ता है, सृष्टिकर्त्तासे यहाँ ब्रह्म नहीं जीवात्मा अभिप्रेत है । इसका उत्तर वेदान्तके आठ सूत्रोंमें दिया गया है[1]—

"आनन्दमय (यहाँ जीवके लिए नहीं ब्रह्मके लिए है) क्योंकि (तैत्तिरीय उपनिषदके इसी प्रकरण—ब्रह्मानंदवल्ली—में आनन्द शब्दको ब्रह्मके लिए) बार-बार दुहराया गया है ।"

"मय (सिर्फ) विकार (मिट्टीका विकार घड़ा मृन्मय, सोनेका विकार कुंडल सुवर्णमय) वाचक नहीं है, बल्कि (वह) अधिकता (जैसे सुखमय) के लिए भी होता है ।"

"और (वहीं तैत्तिरीयमें[2]) उस (आनन्द)का (इस आत्माको) हेतु भी बतलाया गया है ।"

"और (उसी उपनिषद्के) सत्याक्षरमें[3] (जो 'सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म') आया है, वही (आनन्दमयसे यहाँ) गाया (=वर्णित किया) गया है ।"

"(ब्रह्मसे) दूसरा (जीवात्मा) यहाँ संभव नहीं है (क्योंकि उसमें जगत्‌के उत्पादनके लिए आवश्यक सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता कहाँ है ?) ।"

"और (यदि कहो कि जीवात्मा और ब्रह्म एक ही है, तो यह गलत है) क्योंकि (दोनोंमें) भेद बतलाया गया है ।"—('उसी इस विज्ञानमय (जीव)से अन्य=अन्तर आनन्दमय आत्मा है') ।

"उसने कामना की" यहाँ जो "कामना करना आया है, उससे (शब्द-प्रमाण-बहिष्कृत) अनुमान-गम्य (=**प्रधान**) भी नहीं लिया जा सकता ।"

---

[1] वे० सू० १।१।१३-२० [2] तै० उ० २।६ [3] तै० उ० २।१

"और फिर इस (आत्मा)के भीतर उस (आनन्द)का इस (जीव)के साथ योग (=मिलना) भी कहा[1] गया है।"

इस प्रकार आत्मा शब्दसे यहाँ न जीवको लेकर उसे मूलकारण माना जा सकता है, और न "मय" प्रत्ययके विकार अर्थको ले **सांख्य**वाले **प्रधान**को लिया जा सकता। इस तरह उपनिषद् ब्रह्मको ही विश्वके जन्म आदिका कर्त्ता मानते हैं, यह बात साफ है।

"अन्तर", "आकाश", "प्राण", "ज्योति" शब्दोंको भी छान्दोग्य उपनिषद्में[2] जन्मादि-कर्त्ताके तौरपर कहा गया है। उनके बारेमें भी प्रकृति (=प्रधान) या प्राकृतिक पदार्थका भ्रम हो सकता है, जिसको सूत्रकारने इस पादके आठ सूत्रोंमें यह कह कर दूर किया है, कि इनमें शब्दोंके साथ जो विशेषण आदि आए हैं, वह ब्रह्मपर ही घट सकते हैं, जीव या प्रकृति-पर नहीं।

(२) जगत् और जीव ब्रह्मके शरीर—उपनिषद्के कुछ उपदेश ऐसे भी हैं, जिनसे मालूम होता है, कि वक्ता जीव और ब्रह्मको एकसा समझता है; बादरायण **शारीरकवाद** (—जीव और जगत शरीर हैं, और ब्रह्म शरीरवाला=शारीरक, शरीर और शरीरवालेको अभिन्न समझना आमतौरसे प्रचलित है अथवा दोनों मिलकर एक पूर्ण ब्रह्म है) को मानते जरूर थे, किन्तु वह जीव ही ब्रह्म है इसे माननेके लिए तैयार न थे; इसलिए जहाँ कहीं ऐसे भ्रमकी संभावना हुई है उसे उन्होंने बार-बार हटानेकी कोशिश की है, उसे हम आगे बतलायेंगे। कौषीतकि उपनिषद्में इसी तरहका एक प्रकरण आया है, जिसमें "प्राण"को लेकर ऐसे भ्रमकी गुंजाइश है—"दिवोदासका पुत्र प्रतर्दन (देवासुर-संग्राममें) युद्ध(-विजय) तथा

---

[1] **तै० २।७ "वह (ब्रह्म) रस है, इसको ही पाकर यह (जीव) आनन्दी होता है।"**

[2] **क्रमशः निम्नस्थलोंमें—छां० १।३।६; छां० १।६।१; छां० १।११।५; छां० १।११।६** [3] **कौ० उ० ३।१,६**

पराक्रमसे इन्द्रके प्रिय धाम (इन्द्रलोक)में पहुँचा। उसे इन्द्रने कहा—'....तुझे वर देता हूँ।' उसने उत्तर दिया—'मनुष्योंके लिए जो हिततम वर हो ऐसे वरको तुम ही चुन दो।'....इन्द्रने कहा—'मेरा ही ज्ञान प्राप्त कर....मैं प्रज्ञात्मा (=प्रज्ञास्वरूप) **प्राण** हूँ; मुझे आयु, अमृत समझ उपासना कर।'' यहाँ प्राणकी उपासना कहनेसे जान पड़ता है कि वह ब्रह्मकी भाँति उपास्य है, तथा इन्द्र (एक जीव)के कहनेसे वह जीवात्माका वाचक भी मालूम होता है। सूत्रकारने इस सन्देहको दूर करते हुए कहा[1]—

''(यहाँ) प्राण (पहिले) जैसा ही (ब्रह्मवाचक) है, क्योंकि (आगे कहे गए विशेषण तभी) संभव हैं।''

''वक्ता (इन्द्र) अपने (जीवात्माकी उपासना)का उपदेश करता है, यह (माननेकी जरूरत) नहीं, क्योंकि (वक्ता इन्द्र)में आत्माका आन्तरिक संबंध बहुत अधिक (ब्रह्मसे) व्याप्त है, इसलिए ब्रह्मभूतके तौरपर वहाँ इन्द्रने अपने भीतर प्राण ब्रह्मकी उपासना करनेका उपदेश दिया, न कि अपने जीवको ब्रह्म सिद्ध करनेके लिए)।''

''शास्त्रकी दृष्टिसे भी (ऐसा) उपदेश होता है, जैसे कि वामदेव (ने कहा है)।'' बृहदारण्यकमें[2] कहा है—''इसीको देखते हुए ऋषि वामदेवने कहा[3]—'मैं मनु हुआ था और मैं सूर्य हुआ था।' सो आज भी जिसे ज्ञान हो गया है—'मैं ब्रह्म हूँ' वह यह सब (=विश्व) होता है ....इन सबका वह आत्मा होता है।'' वामदेवने जैसे ब्रह्मको अपने आत्माके तौरपर समझकर उसके नाते मनु और सूर्यको अपना रूप (=शरीर) बतलाया, वैसे ही इन्द्रका प्राण और अपनी उपासनाके बारेमें कहना भी है।

(४) उपनिषद्में अस्पष्ट और स्पष्ट जीववाची शब्द भी ब्रह्मके लिए प्रयुक्त—कितने ही जीव-वाचक शब्द हैं, जिन्हें उपनिषद्के

---

[1] वे० सू०-१।१।२९-३२ [2] बृ० उ० १।४।१० [3] ऋक्० ३।६।१५

ऋषियोंने ब्रह्मके लिए प्रयुक्त किया है, इसलिए उन शब्दोंके कारण इस भ्रममें नहीं पड़ना चाहिए कि उपनिषद् जीवको ही जन्मादिकारण तथा उपास्य मानती है। ऐसे शब्दोंमें कुछ साफ साफ जीव-वाचक नहीं हैं, ऐसे अ-स्पष्ट जीववाचक शब्दोंके बारेमें सूत्रकारने दूसरे पादमें कहा है; स्पष्ट जीववाचक शब्द भी ब्रह्मके अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं, यह तीसरे पादमें बतलाया है।

मनोमय[1], अत्ता (=भक्षक), अन्तर (=भिन्न), अन्तर्यामी, अदृश्य (=आँखसे न दिखाई देनेवाला), वैश्वानर ऐसे शब्द हैं, जो कि कितनी ही बार जीवके लिए भी प्रयुक्त हुए हैं; किन्तु ऐसे स्थल[2] भी हैं, जहाँ उन्हें ब्रह्मके लिए प्रयुक्त किया गया है, इसलिए विरोधका भ्रम नहीं होना चाहिए। पहिले अध्यायके दूसरे पादमें इन्हीं छै शब्दोंको ब्रह्मवाची साबित किया गया है।

द्यौ और पृथिवीमें रहनेवाला भूमा (=बहुत), अन्तर, ईक्षण (=चाह) करनेवाला, दहर (=छोटामा), अंगुष्ठमात्र, देवताओंका मधु, अंगुष्ठ, आकाश जैसे जीवात्मावाची शब्द कितने ही उपनिषदोंमे आए हैं, इनमें भी जन्मादि कर्त्ता जैसे विशेषण आए हैं; तीसरे पादमें[3] इन्हें ब्रह्म-वाची सिद्ध कर विरोध-परिहार किया गया है।

इस प्रकार पहिले अध्यायके प्रथम तीन पादोंमें ब्रह्म ही जिज्ञास्य

---

[1] देखो क्रमशः छां० ३।४।१; कठ० १।२।२; छां० ४।१५।१; बृह० ३।७।३; मुंडक १।१।५-६; छां० ५।११।६

[2] क्रमशः निम्न सूत्र १—८, ९-१२, १३-१८, १९-२१, २२-२४, २५-३३

[3] क्रमशः मुंडक २।२।५; छां० ७।२४।१; बृह० ५।८।८; प्रश्न ५।५; तै० ८।१।१; कठ २।४।१२; छां० ३।१।१; कठ २।४।१२, २।६।१७; छां० ८।१४।१

[4] क्रमशः १-६, ७-८, ९-११, १२, १३-२२, २३-२४, ३०-३२, ४०-४१, ४२-४४

(=ज्ञानका विषय) तथा जगत्‌का जन्म-स्थिति-प्रलय-कर्त्ता उपनिषद्‌में बतलाया गया है, इस पक्षका सूत्रकारने समर्थन तथा पारस्परिक विरोधों-का परिहार किया है। वेदान्त-सूत्रोंमें जिन उपनिषदोंके वचनोंपर ज्यादा बहस की गई है, वह ये हैं—कठ, प्रश्न, मुंड, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कौषीतकि, जिनमें छान्दोग्यके वाक्य एक दर्जनसे अधिक सूत्रोंमें बहसके विषय बनाए गए हैं।

५. बादरायणके दार्शनिक विचार—बादरायणने उपनिषदोंके सिद्धान्तोंकी व्याख्या करनी चाही; किन्तु बादरायणके सूत्रोंको लेकर आजकल, द्वैत, अद्वैत, द्वैत-अद्वैत, शुद्ध-अद्वैत, विशिष्ट-अद्वैत, शैव आदि कितने ही वाद खड़े हुए हैं, और सभी दावा करते हैं, कि वही भगवान् बादरायणके एकमात्र उत्तराधिकारी हैं। बादरायणने स्वयं उपनिषद्‌के भिन्न-भिन्न ऋषियोंके मतभेदोंको हटाकर सर्व-समन्वय करना चाहा था, किन्तु उपनिषद्‌में मतभेदके काफी बीज थे, जिसके कारण अनुयायियोंने गुरुकी सर्व-समन्वय नीतिको ठुकरा दिया, और आज वेदान्तके भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंमें उससे कहीं अधिक मतभेद हैं, जितना कि रैक्व, आरुणि या याज्ञवल्क्यमें हमने देखा है। यहाँ ब्रह्म, जगत्, जीव आदिके बारेमें हम बादरायणके अपने विचार देते हैं, जिससे पता लगेगा, कि उनके सिद्धान्तोंके सबसे समीप यदि किसीका दर्शन है, तो वह रामानुजका।

(१) ब्रह्म उपादान-कारण—"जगत्‌का जन्म आदि जिससे है"[1] इस सूत्रमें ब्रह्मके कर्म—सृष्टिका उत्पादन, धारण और विनाशन—को बतलाया है, साथ ही अगले सूत्रोंमें उपनिषद्‌के वाक्योंकी सहायतासे सूत्रकारने यह भी बतलाना चाहा, कि जैसे मिट्टी घड़े आदिका उपादान कारण है, वैसे ही विश्वका (निमित्त ही नहीं उपादान-) कारण भी ब्रह्म है। यहाँ प्रश्न हो सकता है—ब्रह्म चेतन, शुद्ध, ईश्वर स्वभाववाला है, जब कि जगत् अचेतन, अशुद्ध, अनीश्वर (=पराधीन) है, फिर कारणसे

[1] वे० सू० १।१।२

कार्य इतना विलक्षण (=अ-समान) स्वभाववाला क्यों ? इसका समाधान करते हुए बादरायण कहते हैं[1]—(कारणसे कार्यका विलक्षण होना) देखा जाता है। मक्खियाँ या तितलियाँ अपने अंडोंसे जिन कीड़ोंको पैदा करती हैं, वह अपनी मातृव्यक्तिसे बिलकुल ही विलक्षण होते हैं; और इन कीड़ोंसे जो फिर मक्खी या तितली पैदा होती हैं, वह अपने मातृस्थानीय कीड़ोंसे विलक्षण होती हैं। (देखिये वैज्ञानिक भौतिकवादका गुणात्मक-परिवर्तन कैसे स्वीकारा जा रहा है।) सृष्टिसे पहिले उसका "असद् होना" जो कहा है वह सर्वथा अ-भावके अर्थमें नहीं है, बल्कि जिस रूपमें कार्य-रूप जगत् है, उसका प्रतिषेध करके कार्यसे कारणकी विलक्षणताको ही यह पुष्ट करता है। उपादानकारण माननेपर कार्य (जगत्) की अशुद्धता, परवशता आदिके ब्रह्मपर लागू होनेका भय नहीं है, क्योंकि उसका दृष्टान्त यह हमारा शरीर मौजूद है,—यहाँ शरीरके दोषसे आत्मा लिप्त नहीं है इसी तरह जगत्‌के दोषसे उसका शारीरक (=आत्मा) लिप्त नहीं होगा। ब्रह्मसे भिन्न **प्रधानको** कारण माननेमें और भी दोष उठ खड़े होंगे।—प्रधान जड़ है, परस्पर बिलकुल निष्क्रिय है; फिर प्रधान प्रकाका न याग हो सकता है, और न उससे सृष्टि ही उत्पन्न हो सकती है। तर्कसे हम किसी एक निश्चयपर नहीं पहुँच सकते, तर्क एक दूसरेका खंडन करते रहते हैं इस लिये उपनिषद्‌के वचनको स्वीकार कर ब्रह्मको जगत्‌का उपादान कारण मान लेना ही ठीक है।

"ब्रह्मसे जगत् भिन्न नहीं है, यह उद्दालक आरुणिके[3] "मिट्टी ही सत्य है, (घड़ा आदि तो) बात कहनेके लिए नाम है" इस वचनसे स्पष्ट है; क्योंकि (जिस तरह मिट्टीके होनेपर ही घड़ा मिलता है, वैसे ही ब्रह्मके) होनेपर ही (जगत्) प्राप्त होता है; और कार्यके कारण होनेसे भी ब्रह्मसे जगत् भिन्न नहीं। जैसे (सूत) पटसे (भिन्न नहीं) वैसे ही ब्रह्म जगत्‌से

---

[1] वे० सू० २।१।६-७, ६-१२ भावार्थ।

[2] वे० सू० २।१।१५-२० भावार्थ। [3] छां० ६।१।४

भिन्न नहीं। जैसे (वही वायु) प्राण अपान आदि कितने ही रूपोंमें देखा जाता है, वैसे ही ब्रह्म भी जगत्के नाना रूपोंमें दिखाई पड़ता है।

जगत्को ब्रह्मसे अभिन्न कहते हुए जीवको भी वैसा ही कहना पड़ेगा, फिर यदि जीव ब्रह्म है, तो अपनेको बंधनमें डालकर वह स्वयं क्यों अपने हितका न करनेवाला हो गया? यह प्रश्न नहीं हो सकता; क्योंकि ब्रह्म जीव भर ही नहीं उससे अधिक भी है, यह भेद करके बतलाया[1] गया है।—"जो आत्मामें रहते भी आत्मासे भिन्न है, जिसे आत्मा नहीं जानता, जिसका कि आत्मा शरीर है।"[2] पत्थर आदि (भौतिक पदार्थों) में उस (=ब्रह्म) के विशेष गुण संभव नहीं, वैसे ही जीवमें भी वह सम्भव नहीं है। इसलिए जहाँ जीव जगत्से ब्रह्मके अनन्य होनेकी बात कही गई है, वहाँ आत्मा और आत्मीय (=शरीर) भावको लेकर ही समझना चाहिए। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ब्रह्म जगत्की सृष्टि करनेमें साधनोंका मुहताज नहीं है, बल्कि जैसे दूध स्वयं दही रूपमें बदल सकता है, वैसे ही ब्रह्म भी अपने संकल्प (=कामना) मात्रसे जगत्की सृष्टि कर सकता है; देव आदि अपने-अपने लोकोंमें ऐसा करते हैं, यह शास्त्रसे मालूम है।

प्रश्न हो सकता है, ब्रह्म तो एक अखंड पदार्थ है, यदि वह जगत्के रूपमें परिणत होता है तो संपूर्ण शरीरसे परिणत होगा, अन्यथा उसे अखंड नहीं कहा जा सकता। किन्तु इसका उत्तर यह है कि उस परमात्मामें ऐसी बहुत सी विचित्र शक्तियाँ हैं, जिन्हें कि श्रुति हमें बतलाती है। उसी विचित्र शक्तिसे यह सब संभव है और इतना होनेपर भी वह निर्विकार रहता है।

(२) सृष्टिकर्त्ता—ब्रह्म स्रष्टा (=जन्मादि कर्त्ता) कहा गया है; किन्तु सवाल होता है उस नित्य मुक्त तृप्त ब्रह्मको सृष्टि करनेका प्रयोजन क्या है? उत्तर है—लोकमें जैसे अपेक्षाकृत "नित्य मुक्त तृप्त"

---

[1] वे० सू० २।१।२१-३१ [2] बृह० ५।७।२२-३१ भावार्थ।
[3] वे० सू० २।१।३२-३६ भावार्थ।

महाराजा भी लीला (=खेल) मात्रके लिए गेंद आदि खेलते हैं, वैसे ही ब्रह्म भी सृष्टिको लीलाके लिए करता है। जगत्‌की विषमता या क्रूरताको देखकर ब्रह्मपर आक्षेप नहीं करना चाहिए, क्योंकि ब्रह्म तो जीवोंके कर्मकी अपेक्षासे वैसा जगत् बनाता है; और यह कर्म अनादि कालसे चला आया है, इसलिए जगत्‌की सृष्टि भी अनादिकालसे जारी है। प्रधान या परमाणुको जगत्‌का कारण मानकर जो बातें देखी जाती हैं, वह अधिक पूरे निर्दोष रूपमें सिद्ध हो सकती हैं, यदि ब्रह्मको ही एकमात्र निमित्त-उपादानकारण माना जाये।

इस तरह बादरायण जगत्, जीव, ब्रह्मको एक ऐसा शरीर मानते हैं, जो तीनोंको मिलकर पूर्ण होता है, और जो सारा मिलकर सजीव सशरीर ब्रह्म ही नहीं है, बल्कि जिसमें एक "अवयव" के दोष उस अखंड ब्रह्मपर लागू नहीं होते। कैसे? इसका जो उत्तर बादरायणने दिया है, वह बिलकुल असन्तोषजनक है, तथा उसका आधार शब्द छोड़ दूसरा प्रमाण नहीं है।

(३) **जगत्**—जगत् ब्रह्मका शरीर है, जगत्‌का उपादानकारण ब्रह्म है, दोनोंमें विलक्षणता है, किन्तु कार्य कारणकी यह विलक्षणता बादरायण स्वीकार करते हैं, यह बतला चुके हैं। बादरायणने कहीं भी जगत्‌को माया या काल्पनिक नहीं माना है, और न उनके दर्शनमें इसकी गंध भी मिलती है कि "ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है।"[1]

किन्तु जगत् उत्पत्तिमान् है, पृथिवी, जल, तेज, वायु ही नहीं आकाश भी उत्पत्तिमान् है। बादरायण दूसरे दर्शनोंकी भाँति आकाशको उत्पत्तिरहित नहीं मानते, इसे उन्होंने "उसी आत्मासे आकाश पैदा हुआ"[2] आदि उपनिषद्-वाक्योंसे सिद्ध किया है। आकाशकी भाँति दूसरे महाभूत—पृथिवी, जल,[3] तेज, वायु तथा इन्द्रियाँ और मन भी उत्पन्न हैं, और उनका कारण ब्रह्म है।

---

[1] "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।" [2] तैत्तिरीय २।१

[3] वे० सू० २।३।१-१७

(४) जीव (क,ख) नित्य और चेतन—जगत् ब्रह्मका शरीर है, वैसे ही जीव भी ब्रह्मका शरीर है; ब्रह्म दोनोंका ही अन्तर्यामी आत्मा है—याज्ञवल्क्यका यह सिद्धान्त[1] बादरायणके ब्रह्मवादका मौलिक आधार मालूम होता है; साथ ही वह जगत्को ब्रह्मसे उत्पन्न मानते हैं, यद्यपि उत्पन्नका अर्थ वह माया या रस्सीमें साँप जैसा भ्रम नहीं मानते। ब्रह्म और जगत्के अतिरिक्त एक तीसरी वस्तु भी है, जिसकी सत्ताको वह स्वीकार करते हैं, वह है जीवात्मा जो कि संख्यामें अनेक है। इनमें ब्रह्म स्वरूपसे ही अनादि कूटस्थ नित्य है। जगत् अनादि है क्योंकि जिन कर्मोंकी अपेक्षासे ब्रह्म जीवोंके लिए उसे बनाता है, वह अनादि है। जगत् स्वरूपसे नहीं प्रवाहसे अनादि है. इसीको बतलाते हुए सूत्रकारने कहा[2] है—"श्रुतिसे आत्मा (पृथिवी आदिकी भाँति उत्पत्तिमान्) नहीं (सिद्ध होता), बल्कि उनसे (उसका) नित्य होना (पाया) जाता है।" "(वह) चेतन न जन्मता है न मरता है।"[3] "नित्योंमें (जीवोंमें वह ब्रह्म) नित्य है।"[4] —आदि बहुतसे उपनिषद्-वाक्य इस बातके प्रमाण हैं।[5] आत्मा ज्ञ (=चेतन) है।

(ग) अणु-स्वरूप आत्मा—जीवके शरीर छोड़कर शरीरान्तर लोकान्तरमें जानेकी बातसे उसका अणु (=सूक्ष्म) रूप होना सिद्ध होता। "यह आत्मा अणु है"[6] यह स्वयं श्रुतिने कहा है। श्रुति (=उपनिषद्) में यदि कहीं महान्का शब्द आया है, तो वह जीवात्माके लिए नहीं परमात्मा (=ब्रह्म)के लिए है। अणु तथा हृदयमें अवस्थित होते भी आत्मा चन्दन या प्रकाशकी भाँति सारे देहमें अपनी चेतनासे व्याप्त कर सकता है। "जैसे गंध (अपने द्रव्य पृथिवीका गुण होते भी उससे भिन्न है, वैसे ही ज्ञान भी आत्मासे) भिन्न है।" कहीं-कहीं यदि आत्माको ज्ञान या विज्ञान कहा

---

[1] बृह० ३।७।३-२३ [2] ब्रे० सू० २।३।१८ [3] कठ २।१८
[4] श्वेताश्वतर ६।१३ [5] ब्रे० सू० २।३।१९-३२ भावार्थ।
[6] मुंडक ३।१।९

गया है, तो इसलिए कि ज्ञान आत्माका सारभूत गुण है, और इसलिए भी कि जहाँ जहाँ आत्मा है, वहाँ विज्ञान (=ज्ञान) जरूर रहता है। यदि कभी विज्ञान नहीं दीख पड़ता, तो मौजूद होते भी बाल्यावस्थामें जैसे (शिशुमें) पुरुषत्व नहीं प्रकट होता, वैसे समझना चाहिए। ज्ञान शरीरके भीतर तक ही रहता है, इससे भी आत्मा अणु (=एक-देशी) सिद्ध होता है।

(घ) कर्त्ता आत्मा[1]—आत्मा कर्त्ता है, इसके प्रमाण श्रुतिमें[2] भरे पड़े हैं। और उसके कर्त्ता न होनेपर भोक्ता मानना भी गलत होगा, फिर (सांख्य-योग-सम्मत) समाधिकी क्या जरूरत? आत्माको कर्त्ता माननेपर उसे किसी वक्त क्रिया करते न देखनेसे कोई दोष नहीं, बढ़ईमें अपने काम करनेकी (=कर्तृत्व) शक्ति है, किन्तु वह किसी वक्त उसका इस्तेमाल करता है, किसी वक्त न इस्तेमाल कर चुप बैठा रहता है। जीवकी यह कर्तृत्व शक्ति परमात्मासे मिली है, यह श्रुतिसे[3] सिद्ध है। शक्तिके ब्रह्मसे मिलनेपर भी चूँकि जीवके किए प्रयत्नकी अपेक्षासे वह कार्यपरायण होती है, इसलिए पुण्य-पापके विधि-निषेध फजूल नहीं, और न जीवको लेकर दंड भोगनेकी बात उठ सकती है।

(ङ) ब्रह्मका अंश जीव है[4]—जीवात्मा ब्रह्मका अंश है यह उपनिषद्-सम्मत विचार बादरायणको भी स्वीकृत है। प्रश्न हो सकता है, शुद्ध ब्रह्मका अंश होनेसे जीव भी शुद्ध हुआ, फिर उसके पुण्य-पापके संबंधमें विधि-निषेधकी क्या आवश्यकता? (बादरायण ब्राह्मण जात-पाँतके कट्टर पक्षपाती हैं, इस बारेमें उन्हें वेदान्त कुछ भी सिखलानेमें असमर्थ है।) इसीलिए वह समाधान करते हैं, कि देह-संबंधसे विधि-निषेध की जरूरत होती है, जैसे आगके एक होनेपर भी अग्निहोत्री ब्राह्मणके घरकी आग ग्राह्य है और श्मशानकी त्याज्य। जीव ब्रह्मका अंश है साथ ही अणु भी है, इसलिये एक जीवके भोगके दूसरेसे मिल जानेका डर

---

[1] वे० सू० २।३।३३-४१

[2] बृह० ४।१।१८; तैत्ति० २।५।१

[3] बृह० ३।७।२२

[4] वे० सू० २।३।४२-४८

नहीं है, क्योंकि प्रत्येक जीव एक दूसरेसे भिन्न है।

(च) जीव ब्रह्म नहीं है—यद्यपि शरीर शरीरी भावसे वादरायण जीवको ब्रह्मके अन्तर्गत उसका अभिन्न अंश मानते हैं, किन्तु जीव और ब्रह्मके स्वरूपमें भेदको साफ रखना चाहते हैं।[1] "और (जीव तथा ब्रह्म के) भेद को (उपनिषदमें) कहनेसे (दोनों एक नहीं हैं)।"[2] इस सूत्रको वादरायणने पहिले अध्यायमें ही तीन बार दुहराया है। "भेदके कहनेसे (ब्रह्म जीवसे) अधिक है"[3] भी कहा है, और अन्तमें[4] मुक्त होनेपर भी जगत् बनाने आदिकी बात छोड़ जीव और ब्रह्ममें सिर्फ भोग भरकी समानता होती है, कह कर वह ब्रह्म और जीवकी एकताको किसी अवस्थामें संभव नहीं मानते।

(छ) जीवके साधन—अणु-परिमाणवाले जीवके क्रिया और ज्ञानके साधन ग्यारह इन्द्रियाँ हैं—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, त्वक्—पाँच ज्ञान-इन्द्रिय; वाणी, हाथ, पैर, मल-इन्द्रिय, मूत्र-इन्द्रिय—पाँच कर्म-इन्द्रिय और ग्यारहवाँ मन। ये सभी इन्द्रिय उत्पत्तिमान् (=अनित्य) और अणु (=एकदेशी) हैं।[5]

इन ग्यारह इन्द्रियोंके अतिरिक्त प्राण (=श्रेष्ठ) भी जीवके साधनोंमें है, और वह भी अनित्य तथा अणु है।[6]

(ज) जीवकी अवस्थायें[7]—स्वप्न, सुषुप्ति, जागृत, मूर्छा जीवकी भिन्न-भिन्न अवस्थायें हैं। स्वप्नकी वस्तुयें माया मात्र हैं। स्वप्न ब्रह्मके संकल्पसे होता है, तभी तो स्वप्नमें अच्छी बुरी घटनाओंकी पूर्व-सूचना मिलती है। स्वप्नका अभाव सुषुप्तिमें होता है। बातोंकी अनुस्मृतिसे सिद्ध है, कि सुषुप्तिके बाद जागनेवाला पहिला ही आत्मा होता है। मूर्छा आधा मरण है।

---

[1] वे० सू० १।१।८; १।१।२२; १।३।४ [2] वे० सू० २।१।२२
[3] वे० सू० ४।४।१७, २१ [4] वही २।४।४-५ [5] वही २।४।१: २।४।६
[6] वही २।४।७ [7] वे० सू० ३।२।१-१०

(झ) कर्म—पहिले बतला चुके हैं[1], कि जगत् बनानेमें ब्रह्माको भी जीवके कर्मकी अपेक्षा पड़ती है। वस्तुतः जगत्में—मानव समाजमें—जो विषमता देखी जा रही, जिस तरह हजार में ९९० मनुष्य श्रम करते करते भूखे मरते हैं, और १० बिना काम किये दूसरेकी कमाईसे मौज करते हैं, जिनको ही देखकर पुरोहितोंने देवलोककी कल्पना की। फिर प्राणि-जगत्—मनुष्यसे लेकर सूक्ष्मतम कीटों तक—में जिस तरहका भीषण संघार मचा हुआ है, वह जगत्के रचयिता ब्रह्माको भारी हृदयहीन, क्रूर ही साबित करेगा, उससे बचनेके लिए उपनिषद्ने (पूर्वजन्मके) कर्मवाले सिद्धान्तको निकाला। समाजकी तत्कालीन अवस्था—शोषक और शोषित, दास और स्वामी प्रथा—के जबर्दस्त पोषक बादरायणने उसे दुहरा दिया। कर्म तो एक समयमें किए जाते हैं, फिर उससे पहिले जगत् कैसे? इसके उत्तरमें कह दिया,[2] कर्म अनादि है।

(ञ) पुनर्जन्म—पुनर्जन्मके बारेमें भी बादरायणने उपनिषद्के विचारोंको सुव्यवस्थित रूपसे एकत्रित किया है।[3] प्रवाहण जैवलिके[4] "पानीके पुरुष रूप धारण करने" के उपदेशको सामने रख बादरायण कहते हैं—जब जीव शरीर छोड़ता है, तो सूक्ष्म भूतों (=सूक्ष्म शरीर) के साथ जाता है। कृत कर्मोंके भोगके समाप्त हो जानेपर, वह कुछ बचे अनुशय (=कर्म) के साथ लौटता है।—बादरायणके इस बातके समर्थन उपनिषद्में प्रायः **चरण**[5] शब्दसे सुकृत दुष्कृत अभिप्रेत है, जिनके साथ कि परलोकसे लौटा पुरुष इस लोकमें फिरसे जीवन प्रारम्भ करता है। चन्द्रलोक वही जाते हैं, जिन्होंने कि पुण्य किया है। नये शरीरमें आनेके लिए चन्द्रमासे मेघ, जल, अन्न आदिका जो रास्ता उपनिषद्ने बतलाया है, उसमें देरी नहीं होती। जिन धान आदि अनाजोंके साथ हो जीव मातृगर्भ तक पहुँचता है, उनमें वह स्वयं नहीं दूसरे जीवके अधिष्ठाता होते समय ऐसा

---

[1] वहीं २।१।३४ [2] वे० सू० २।१।३४, ३५ [3] वहीं ३।१।१-२७
[4] छान्दोग्य ५।३।२ [5] छां० ६।१०।७ [6] छां० ५।१०।६

करता है। उस अनाजके खानेके बाद फिर रज-वीर्यका योनिमें संयोग होता है, जिसके बाद शरीर बनता है।

(५) मुक्ति[1]—ब्रह्मको प्राप्त हो जीवके अपने रूपमें प्रकट होनेको मुक्ति कहते हैं। जीवका अपना स्वरूप अविद्यासे ढँका रहता है, जिसके खोलनेके लिए उपनिषद्-विद्याकी जरूरत पड़ती है।

(क) मुक्तिके साधन—बादरायण **विद्या** (=ब्रह्मज्ञान)को मुक्तिका खास साधन मानते हैं, जिसमें कर्म भी सहायक है।

(a) **ब्रह्म-विद्या**—उपनिषद्के भिन्न भिन्न ऋषियोंने ब्रह्मको सत्, उद्गीथ, प्राण, भूमा, पुरुष, दहर, वैश्वानर, आनन्दमय, अक्षर, मधु, आदिके तौरपर ज्ञान द्वारा उपासना करनेकी बात कही है, इन्हींके नामपर इनके बारेमें किए गए उपदेश सद्-विद्या, उद्गीथ-विद्या, प्राण-विद्या आदि नामोंसे पुकारे जाते हैं। बादरायण इसी (=विद्या)से **पुरुषार्थ** (=मोक्ष)-की प्राप्ति मानते हैं।[2] जैमिनि पुरुषार्थ (=स्वर्ग)में कर्मकी प्रधानता मानते हैं और विद्याको **अर्थवाद**;[3] इसके लिए वह अश्वपति कैकय जैसे ब्रह्मवेत्ता[4]का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि ब्रह्मवेत्ताओंका यज्ञ करनेका आचार भी देखा जाता है। बादरायण जैमिनिसे मतभेद प्रकट करते हुए कहते हैं—(स्वर्गसे कहीं) अधिक (ब्रह्मके) उपदेशसे (=विद्यासे ही) वैसा (मोक्ष मिलता है)।[5] ब्रह्मवेत्ताके लिए यागादि कर्म करना सर्वत्र नहीं देखा जाता। कोई कोई उपनिषद्के ऋषि गृहस्थ आदिके कर्मकांडको ऐच्छिक भी बतलाते हैं।[6] और कुछ तो कर्मके क्षयको भी बतलाते हैं।[7] सन्यास (=ऊर्ध्वरेता) आश्रम भी है, जिसमें कर्मकांड नहीं है, तो भी **विद्या** (=ब्रह्मज्ञान) प्रयुक्त होती है। जैमिनि जरूर ऐसे आश्रमोंको

---

[1] वे० सू० ४।४।१ [2] वे० सू० ३।४।१
[3] वे० सू० ३।४।२-७ और मीमांसा-सूत्र ४।३।१
[4] छां० ५।११।५ [5] वे० सू० ३।४।८-२० [6] बृह० ६।४।१२
[7] मुंडक २।२।८

मानने से इन्कार करते हैं, किन्तु बादरायण इन आश्रमोंको भी श्रुतिपादित होनेसे अनुष्ठेय स्वीकार करते हैं।

विद्या—ब्रह्मज्ञानसे ब्रह्म-साक्षात्कार-रूपी ब्रह्म-उपासनासे जीवको अपने स्वरूपमें अवस्थित-रूपी मुक्ति होती है, यह कह चुके। लेकिन सद्-, उद्गीथ-, प्राण-आदि विद्यायें अनेक हैं, इसलिए भ्रम हो सकता है, कि इनके उपासनाके विषय (=उपास्य) भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। बादरायण इसका समाधान करते हुए सभी विद्याओंको एक ब्रह्मपरक मानते हैं।[1]

(b) **कर्म**—विद्या (=ब्रह्मज्ञान)की प्रधानताको मानते हुए भी **बादरायण** यज्ञ आदि कर्मकांडको कितने ही उपनिषद्के ऋषियोंकी भाँति तुच्छ नहीं समझते बल्कि कर्मवाले गृहस्थ आदि आश्रमोंमें वह अग्निहोत्र आदि सारे कर्मोंको विद्या (=ब्रह्मज्ञान)में जरूरत समझते हैं;[2] ज्ञानीको शम-दम आदिसे युक्त भी होना चाहिए। कर्म ठीक है, किन्तु ब्रह्मविद्याके साथ वह बलवत्तर होता है।[3]

यज्ञ-याग आदि इष्ट कर्म ही नहीं खानपान संबंधी छूतछातके नियमोंसे भी बादरायण ब्रह्मवादीको मुक्त करनेके लिए तैयार नहीं हैं; हाँ, प्राणका भय हो, तो उषस्ति चाक्रायणकी भाँति सबके (हाथके) अन्नको खानेकी अनुमति देते हैं; किन्तु जानबूझकर करनेकी नहीं।[4] आश्रम (=गृहस्थ आदि)के कर्तव्य (=धर्म)को ब्रह्मज्ञानीके लिए भी ब्रह्मविद्याके सहकारीके तौरपर कर्तव्य मानते हैं।[5] हाँ वह आपत्कालमें नियमोंको शिथिल करनेके लिए तैयार हैं, किन्तु आश्रमहीन रहनेसे आश्रममें रहना बेहतर बतलाते हैं।[6]

---

[1] वे० सू० ३।३।१-८	[2] वे० सू० ३।४।२६-२७; बृह० ६।४।२२ "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन।"

[3] वे० सू० ४।१।१८	[4] वे० सू० ३।४।२८-३१

[5] वहीं ३।४।३२-३५	[6] वहीं ३।४।३६

(c) **उपासनाके ढंग**—भिन्न-भिन्न विद्याओंमें ब्रह्मकी उपासना किस तरह की जाये, यह उपनिषद्के प्रकरणमें हम बतला चुके हैं। आत्मामें ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिए, ब्रह्मसे भिन्न पदार्थों (=प्रतीकों—मूर्त्ति आदि)में ब्रह्मकी उपासना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह (=प्रतीक) ब्रह्म नहीं है।

आसनसे बैठकर, शरीरको अचल रख ध्यानके साथ जहाँ चित्तकी एकाग्रता हो, वहाँ ब्रह्मोपासना करनी चाहिए।[1]

विद्या (=ब्रह्मोपासना)की आवृत्ति यावज्जीवन करते रहना चाहिए।[2]

(ख) मुक्तकी अन्तिम यात्रा—ब्रह्मविद्याके प्राप्त हो जानेपर भोगोन्मुख न हुए पहिले और पीछेके पाप-पुण्य विनष्ट हो जाते हैं; और वह ब्रह्मवेत्ताको नहीं लगते।[3] किन्तु जो पुण्य-पाप भोगोन्मुख (=प्रारब्ध) हो गए हैं, उन्हें भोगकर मोक्षको प्राप्त करना होता है।[4] इस तरह संपूर्ण कर्मराशिको नष्ट कर मुक्त जीव निम्न क्रमसे शरीर छोड़ता है—वाणी मनमें लीन होती है, मन प्राणमें, प्राण जीवमें, और वह महाभूतोंमें। इस साधारण गतिसे मुक्तकी गतिमें विशेषता यह है[5]—ब्रह्मविद्याके सामर्थ्यसे सौसे ऊपर संख्याकी नाड़ियोंमेंसे मूर्धावाली नाड़ी द्वारा जीव अपने आसन हृदयसे बाहर निकलता है, फिर सूर्य-किरणका अनुसरण करते हुए आगे प्रस्थान करता है। चाहे रात हो या दक्षिणायन, किसी वक्त मरनेपर मुक्त पुरुषकी मुक्तिमें बाधा नहीं।[6]

मुक्त पुरुषको मरनेके बाद तक दूरदेशकी यात्रा करनी पड़ती है, यह उपनिषद्में हम देख आए हैं। उपनिषद्की बिखरी सामग्रीको जमाकरके बादरायणने स्वर्गोंकी कल्पना की है। क्रमशः अर्चि (=किरण)-दिन-शुक्लपक्ष-उत्तरायण-संवत्सर-सूर्य-चन्द्र-विद्युत् (=बिजली) तक मुक्त पुरुष

---

[1] वे० सू० ४।१।७-११ [2] वहीं ४।१।१,१२

[3] वहीं ४।१।१३-१५ [4] वहीं ४।१।१६

[5] वहीं ४।२।१-५, १४ [6] वहीं ४।२।१६-१६

जाता है। वहाँ अ-मानव पुरुष आ उस मुक्त पुरुषको ब्रह्मके पास भेजता है।[1] बृहदारण्यकमें[2] कहा है "जब पुरुष इस लोकसे प्रयाण करता है तो वायुको प्राप्त करता है। उसे वह वहाँ छोड़ ऊपर चढ़ता है और सूर्यमें पहुँचता है।" दोनों तरहके पाठोंको ठीकसे लगाते बादरायणने संवत्सरसे वायुमें जाना बतलाया।[3] इसी तरह कौषीतकि[4] के पाठको जोड़ते हुए विद्युत्लोकसे ऊपर वरुण लोकमें जानेकी बात कही। इस प्रकार उपरोक्त रास्ता हुआ—अर्चि-दिन-शुक्लपक्ष-उत्तरायण-संवत्सर-वायु-सूर्य-चन्द्र-वरुण -(अमानव पुरुष-) ब्रह्मलोक। गोया बादरायण अपनेसे हजार वर्ष पहिलेके ज्योतिष-ज्ञानको करीब करीब अक्षुण्ण मानते हुए, खगोलमें वायुलोकसे सूर्य, उससे आगे चन्द्र, उससे आगे वरुण, उससे आगे ब्रह्मलोकको मानते हैं। ब्रह्म और ब्रह्मलोक तकका ज्ञान इन ऋषियोंके बाँये हाथका खेल था, मगर वास्तविक विश्वके ज्ञानमें बेचारोंकी सर्वज्ञता गिड़गिड़ जाती थी।

(ग) मुक्तका वैभव—मुक्त जीव ब्रह्ममें जब प्राप्त होता है, तो उससे जुदा हुए बिना रहता है।[5] उस वक्तके उस जीवके रूपके बारेमें जैमिनिका कहना है कि वह ब्रह्मवाले रूपके साथ होता है; औडुलोमि आचार्य कहते हैं कि वह चैतन्यमात्र स्वरूपवाला होता है। बादरायण इन दोनों मतोंमें विरोध नहीं पाते।

मुक्तकी भोग-सामग्री उसके संकल्पमात्रसे आन उपस्थित होती है, इसलिए वह अपना स्वामी आप है।[6]

'ब्रह्मके पास रहते मुक्तका शरीर होता है या नहीं ?'—इसके बारेमें बादरि 'नहीं' कहते हैं, जैमिनि उसका सद्भाव मानते हैं, बादरायण कहते हैं—शरीर नहीं होता और संकल्प करते ही वह आ मौजूद भी होता है। शरीरके अभावमें स्वप्नकी भाँति वह ईश्वर-प्रदत्त भोगोंको भोगता है और

---

[1] छां० ४।१५।३ [2] बृह० ७।१०।१
[3] वे० सू० ४।३।२ [4] कौषी० १।३ [5] वे० सू० ४।४।४-७
[6] वे० सू० ४।४।८-९ [7] वहीं ४।४।१०-१४

शरीरके मौजूद होनेपर जाग्रत अवस्थाकी तरह।

मुक्त जीव फिर जन्म आदिमें नहीं पड़ता, ब्रह्मके पाससे फिर उसका लौटना नहीं होता।[1]

मुक्त ब्रह्मकी भाँति सृष्टि नहीं बना सकता, उसकी ब्रह्मसे सिर्फ भोगकी समानता होती है, यह बतला चुके हैं।

(६) वेद नित्य हैं—यद्यपि बादरायण जैमिनिकी भाँति वेदको अपौरुषेय (किसी भी पुरुष—जीव या ब्रह्म—द्वारा न बनाया) नहीं मानते, किन्तु वेदको नित्य मनवानेकी उनको भी बहुत फिक्र है। वह समझते हैं, कि यदि वेद भी दूसरे शास्त्रोंकी भाँति अनित्य साबित हो गए, तो युक्ति-तर्कके बलपर सांख्य, वैशेषिक, न्याय, बौद्ध जैसे तार्किकोंके सामने अपने पक्षको नहीं साबित कर सकेंगे। ब्रह्मकी उपासना करनेके लिए मनुष्यके वास्ते अपने हृदयमें अंगुष्ठ मात्र ब्रह्मको उपनिषद्में बतलाया गया।[2] इसी प्रकरणमें देवताओंकी भी चर्चा चल गई[3], और बादरायणने कहा—मनुष्यके ऊपरवाले देवता भी ब्रह्मकी उपासना करते हैं, क्योंकि यह (बिल्कुल) संभव है। इस प्रकार तो देवता साकार साबित होंगे, फिर एक ही इन्द्र एक ही समय अनेक यज्ञोंमें कैसे उपस्थित हो सकता है? उत्तर है—वह अनेक रूप धारण कर सकता है। इन्द्र जैसे शरीरधारी अनित्य देवताका नाम वेदमें आनेसे वेद भी अनित्य होगा, यह शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इन्द्रसे वेदने इस शब्दको नहीं लिया, बल्कि वेदके शब्दसे इन्द्रको यह नाम मिला; इसीलिए वेद नित्य है। इन्द्र आदिके एक ही नाम और रूपवाला होनेसे उनकी बार-बार आवृत्ति होते रहनेसे भी वेदकी नित्यतामें कोई क्षति नहीं।

(७) शूद्रोंपर अत्याचार—बादरायणके छुआछूतके पक्षपातकी बात अभी हम बतला आए हैं[4]। वर्णाश्रम धर्मपर उनका बहुत जोर था।

---

[1] वे० सू० ४।४।१६, २२ [2] वे० सू० १।३।२४

[3] वहीं १।३।२५-२६ [4] वहीं ३।४।२८-३१

ऐसे व्यक्तिसे शूद्रोंके संबंधमें उदार विचारकी हम आशा नहीं रख सकते थे। बादरायण ब्रह्मविद्यापर कलम उठा रहे थे। वह याज्ञवल्क्यके अन्तर्यामी ब्रह्म, शारीरक ब्रह्मके दार्शनिक विचारका प्रचार करना चाह रहे थे, ऐसी अवस्थामें भारतीय मानवोंमें नीच समझे जानेवालोंके प्रति अधिक सहानुभूतिकी आशा की जा सकती थी। किन्तु नहीं बादरायण जैसे दार्शनिक यह प्रयत्न एक खास मतलबसे कर रहे थे।

(क) बादरायणकी दुनिया—भारतमें आर्य आये, उन्होंने पहिलेके निवासियोंको पराजित किया। फिर रंग और परतन्त्रताके बहानेसे उन्हें दबाया और समाजमें नीचा स्थान स्वीकार करनेके लिए मजबूर किया। ज्यादा समय तक रह जानेपर रंग-मिश्रण (=वर्णसंकरता) बढ़ने लगा। आर्योंके भीतरी द्वंद्वने अनार्योंके हितैषी पैदा किए। बुद्ध जैसे दार्शनिकों और धार्मिक नेताओंने इसका कुछ समर्थन किया। एक हद तक वर्णभेद-पर प्रहार हुआ—कमसे कम प्रभुता और संपत्तिके मालिक हो जानेवालोंके लिए वह कड़ाई तेजीसे दूर होने लगी। ई० पू० चौथी सदीसे यवन, शक, जट्ट, गुर्जर, आभीर जैसी कितनी ही विदेशी गोरी जातियाँ भारतमें आकर बस गईं। उस वक्तकी भारतीय सामाजिक व्यवस्थामें उनका क्या स्थान दिया जाये—यह भारी प्रश्न था। वर्ण-व्यवस्था-विरोधियों—बौद्धों—ने अपनी समता दे उन्हें अपने वर्ग (=शोषक-शोषित)-युक्त किन्तु वर्णहीन समाजकी कल्पनाको पूरा करनेके लिए इन आगन्तुकोंपर प्रभाव डालना चाहा, और उसमें कुछ सीमा तक उन्हें सिर्फ इसी बातमें सफलता हुई, कि उनमेंसे कितने ही अपनेको बौद्ध कहने लगे, कार्ली और नासिकके गुहा-विहारोंमें दान देने लगे। किन्तु ब्राह्मण भी अपने आसपासकी इन घटनाओंको देख बिना शंकित हुए नहीं रह सकते थे। उन्होंने वर्ण-संहारकोंके विरोधमें अपने वर्णप्रदायक हथियारका इस्तेमाल शुरू किया—"बौद्ध तो गोरे, सुन्दर, वीर, शासक लोगोंको वर्णहीन बना चाण्डालों-की श्रेणीमें रखना चाहते हैं, हम तो उनके उच्च वर्ण होनेको स्वीकार करते हैं। ये आगन्तुक क्षत्रिय जातियाँ हैं, जो कि ब्राह्मणोंके दर्शन न करनेसे

म्लेच्छ हो गई थीं; अब ब्राह्मण दर्शन हुआ, हम इन्हें संस्कारके द्वारा फिर क्षत्रिय बनाते हैं, इन्हें चांडालोंके बराबर करना ठीक नहीं।" जादू अन्तमें ब्राह्मणोंका ही जबर्दस्त निकला। एक ओर इन आगन्तुकोंको क्षत्रिय, कुछको ब्राह्मण भी बनाया गया, दूसरी ओर अपनी उच्चवर्ण-भक्तिको और पक्का साबित करनेके लिए शूद्रोंके लिए अन्याचार और अपमानकी मात्रा और बढ़ा दी। ऐसे समयके ऋषियोंमें हैं, ये प्रातः स्मरणीय वेदान्त-सूत्रकार भगवान् बादरायण।[1]

(ख) प्रतिक्रियावादी वर्गका समर्थन—"रैक्वके पास भारी भेंटके साथ ब्रह्मविद्या सीखनेके लिए आनेपर जानश्रुति पौत्रायणको गाड़ीवाले रैक्वने पहिले "हटा रे शूद्र! इन सबको" कहा; फिर पौत्रायणको ब्रह्म-विद्या भी बतलाई, जिससे जान पड़ता है, शूद्रको भी ब्रह्मविद्याका अधि-कार है। बादरायण ब्रह्मविद्यामें शूद्रका अधिकार न मानते हुए सिद्ध करते हैं, कि पौत्रायण शूद्र नहीं था, इसीलिए इतना दानी होनेपर भी अपने लिए अनादर, रैक्वके लिए प्रशंसाके शब्द सुनकर तथा रैक्वके पास एकसे अधिक बार दौड़नेसे पौत्रायणको शोक हुआ था इसीलिए शोकसे दौड़नेवाला (=शुक्-द्र) इस अर्थमें रैक्वने उसे शूद्र कहा था। छांदोग्यके उस प्रकरणसे पौत्रायणके क्षत्रिय होनेका पता लगता है। उसी प्रकरणमें रैक्वके 'वायु ही संवर्ग (=मूल कारण) है' इस संवर्ग-विद्याके सीखनेवालोंमें शौनक, कापेय, अभि-प्रतारी, काक्षसेनि तथा एक ब्रह्मचारीकी बात आती है; जिनमें शौनक और ब्रह्मचारी ब्राह्मण थे, और अभिप्रतारीके क्षत्रिय सिद्ध होनेमें दूसरा प्रमाण है।—कापेय (=कपि-गोत्री) पुरोहित चैत्ररथको यज्ञ कराते थे;[2] और "चैत्ररथ नामक एक क्षत्रपति (=क्षत्रिय) पैदा

---

[1] वे० सू० १।३।३३-३६ भावार्थ।

[2] छां० ४।२।५, देखो पृष्ठ ४८० भी।

[3] "एतेन वै चैत्ररथं कापेया अयाजयन्"—ताण्डय-ब्राह्मण २।१२।५

हुआ था,"[1]। चूँकि कापेयोंका यज्ञ-संबंधी चैत्ररथ क्षत्रिय था, और यहाँ शौनक, कापेय, अभिप्रतारी काक्षिसेनके साथ ब्रह्मविद्या सीख रहा है, इसलिए यहाँ भी पुरोहित यजमान-वंशज शौनक और अभिप्रतारी क्रमशः ब्राह्मण और क्षत्रिय हैं। इस तरह गाड़ीवाले रैक्वकी ब्रह्मविद्याको सीखनेवाले दो ब्राह्मणोंके अतिरिक्त तीसरा क्षत्रिय ही है; फिर पौत्रायण शूद्र होगा यह संभव नहीं। सत्यकाम जाबालके बापका ठिकाना न था, उसको कैसे हारिद्रुमत गौतमने ब्रह्मविद्या सिखाई?[2] इसका उत्तर बादरायणकी ओरसे है, वहाँ "समिधा ला, तेरा उपनयन करूँगा" कहनेसे साफ है कि हारिद्रुमतने उसे ब्राह्मण समझा, क्योंकि शूद्रको उपनयनका "अभाव (मनुने) बतलाया है"—"शूद्रको पातक नहीं, उसे (उपनयन आदि) संस्कारका अधिकार नहीं।"[3] यही नहीं सत्य-कामके अब्राह्मण (=शूद्र) न होनेके निर्धारणकी भी हारिद्रुमत गौतम कोशिश करते हैं—"अब्राह्मण ऐसे (साफ साफ अपने अनिश्चित पितृत्वको) नहीं कह सकता।" इससे भी साफ है कि ब्रह्मविद्यामें शूद्र ("अब्राह्मण"?)का अधिकार नहीं। शूद्रको वेदके सुनने पढ़नेका निषेध श्रुतिमें मिलता है—"शूद्र श्मशान सा है, इसलिए उसके समीप (वेद) नहीं पढ़ना चाहिए,"[4] "शूद्र बहुत पशु और (धन) वाला भी हो तो भी वह यज्ञ करनेका अधिकारी नहीं।"[5] यही नहीं स्मृति भी इसका निषेध करती है—"उस (=शूद्र)को पासमें वेद सुनने पर (पिघले) सीसे और लाखसे उसके कानको भरना चाहिए, (वेदका) पाठ करनेपर उसकी जिह्वाको काटना चाहिए, याद (=धारण) करनेपर (उसके) शरीरको

---

[1] "चैत्ररथो नामैकः क्षत्रपतिरजायत।"—शतपथ-ब्राह्मण ११।५।३।१३

[2] छां० ४।४।१-५, देखो पृष्ठ ३७२ [3] मनुस्मृति १०।१२६

[4] "पद्यु हवा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्"।

[5] "तस्माच्छूद्रो बहुपशुरयज्ञीयः।"

काट देना चाहिए।"[1]

(ग) बादरायणीयोंका भी वही मत—ब्रह्मज्ञानकी फिलासफीने भी वर्ग-स्वार्थपर आधारित वर्ण-व्यवस्थाके नामसे शूद्रों (किसी समय स्वतंत्र फिर आर्य-समाज-बहिष्कृत पराजित दास और तब कितने ही बादरायणोंकी नसोंमें अपना खून तक दौड़ानेवालों) के ऊपर होते शुद्ध सामाजिक अत्याचारको नरम करनेकी तो बात ही क्या, उसे और पुष्ट किया। बादरायणके ब्रह्मज्ञानने धर्मसूत्रकर्ता गौतमकी कठोर आज्ञाको—नरम करना तो अलग उसे—आदर्श-वाक्य बनाया। शंकरके सारे अद्वैतवादने गौतमकी इन क्रूर पंक्तियोंके एक भी वज्राक्षरको विचलित करनेकी हिम्मत न की। रामानुजके गुरु तथा परदादा-नगड़दादा-गुरु स्वयं अतिशूद्र थे, तो भी वेदान्त-भाष्य करते वक्त वह धर्मसूत्रकार गौतम, बादरायण और शंकरसे भी आगे रहनेकी कोशिश करते हैं। "शूद्रको अधिकार नहीं" इस प्रकरणके अन्तिम सूत्र[2]पर उनका भाष्य तीन सवा तीन पंक्तियोंमें समाप्त होता है, किन्तु उसके बाद ४० पंक्तियोंके एक लच्छेदार व्याख्यानमें रामानुजने उसे वर्ण-व्यवस्था-विरोधी आदि बतला शंकरके दर्शन (मायावाद) पर आक्षेप करते हुए अपने (विशिष्टाद्वैत) दर्शनके द्वारा वास्तविक शूद्र-अनधिकार सिद्ध किया है, "जो (शंकर आदि)—(सर्व-विशेषण-रहित अद्वैत) चेतनाभाव (स्वरूपवाले) ब्रह्मको ही परमार्थ (= वास्तविक तत्त्व), और सब (= जीव, जगत्) को मिथ्या और (जीवके) बंधको अ-वास्तविक . . . . कहते हैं, वह 'ब्रह्मज्ञानमें शूद्र आदिका अधिकार नहीं'—यह नहीं कह सकते। . . . . तर्ककी सहायतासे प्रत्यक्ष और अनुमान (प्रमाण) से भी (उस तरहके ब्रह्मज्ञानको प्राप्तकर) . . . शूद्र आदि भी मुक्ति पा जायेंगे। . . . इसी तरह ब्राह्मण आदिको भी ब्रह्मविद्या मिल जायेगी

[1] "अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः।"—गौतम-धर्मसूत्र २।१२।३

[2] "स्मृतेश्च"—वे० सू० १।३।३९

फिर उपनिषद् बेचारीको तो तिलांजलि (=दत्तजलांजलि) ही दे दी गई। . . . . किन्तु (रामानुजकी तरह) जिनके (दर्शनमें) वेदान्त-वाक्यों द्वारा उपासनारूप (ब्रह्म-)ज्ञानको मोक्षके साधनके तौरपर माना गया है, और वह (उपासना) परब्रह्म-रूपी परमपुरुषको प्रसन्न करना है। और यह एकमात्र शास्त्र (=उपनिषद्)से ही हो सकता है। और उपासना (=ज्ञान-)-शास्त्र (=उपनिषद्) उपनयन आदि संस्कारके साथ पढ़े स्वाध्याय (=वेद)से उत्पन्न ज्ञानको . . . ही अपने लिए उपायके तौरपर स्वीकार करता है। इस तरहकी उपासनासे प्रसन्न हो पुरुषोत्तम (=ब्रह्म) उपासकको आत्माके स्वाभाविक वास्तविक आत्मज्ञान दे कर्मसे उत्पन्न अज्ञानको नाश करा बंधसे (उसे) छुड़ाता है।—ऐसे मतमें पहिले कहे ढंगसे शूद्र आदिका (ब्रह्मज्ञानमें) अनधिकार सिद्ध होता है।"

यह है भारतके महान् ब्रह्मज्ञानका निचोड़, जिसका कि ढिंढोरा आज तक कितने ही लोग पीटते रहे हैं, और पीट रहे हैं, बादरायण, शंकर और रामानुजकी दुहाईके साथ।

६. दूसरे दर्शनोंका खंडन

बादरायणने उपनिषद्-सिद्धान्तके समन्वय तथा विरोधियोंके आक्षेपोंके उत्तरमें ही ज्यादा लिखा है, किन्तु साथ ही इन्होंने दूसरे दर्शनोंकी सैद्धान्तिक निर्बलताओंको भी दिखलानेकी कोशिश की है। इन दर्शनोंमें सांख्य और योग तो ऐसे हैं जिनके मूल कर्त्ता—कपिल—को उस वक्त तक ऋषि माना जा चुका था, इसलिए ऋषिप्रोक्त होनेसे उनके मतमें स्मृतियोंकी कोटिमें गिने जाते थे। पाशुपत और पांचरात्र सम्भवतः आर्योंके पहिलेके भारतीय धर्मों और परम्पराओंकी उपज थे, इसलिए ईश्वरवादी होनेपर भी अनृषि-प्रोक्त होनेसे उन्हें वैदिक आर्यधर्मके सम्मान दृष्टिसे नहीं देखा जाता था। वैशेषिक, बौद्ध और जैन अनृषि-प्रोक्त तथा अनीश्वरवादी होनेसे बादरायण जैसे आस्तिकके लिए और भी घृणाकी चीज थे।

क. ऋषिप्रोक्त विरोधी दर्शनोंका खंडन

(१) सांख्य-खंडन—कपिलके सांख्य-दर्शन और उसके प्रकृति (=**प्रधान**) तथा पुरुषके सिद्धान्तके बारेमें हम कह चुके हैं। उपनिषद्के ब्रह्मकारणवादसे सांख्यका प्रधानकारणवाद कई बातोंमें उलटा था। बादरायण कारणसे कार्यको विलक्षण मानते थे, जब कि सत्कार्यवादी सांख्य कार्य-कारणको स-लक्षण=अभिन्न मानता था। सांख्यका पुरुष निष्क्रिय था, जब कि वेदान्तका पुरुष सक्रिय।....सांख्यके संस्थापक कपिलको श्वेताश्वतर उपनिषद् तकने ऋषि मान लिया था, इसलिए शब्द प्रमाणको अंधाधुन्ध माननेवाले बादरायण जैसोंके लिए भारी दिक्कत थी, ऊपरसे सांख्यवाले—यदि सब नहीं तो उनकी एक शाखा अपनेको वेद माननेवाला—अतएव उपनिषद्के वाक्योंसे पुष्ट करनेके लिए तत्पर दीख पड़ते थे। बादरायणने यह बतलानेकी कोशिश की[1] है, कि उपनिषद् न सांख्यके प्रधान (=प्रकृति)को मानती है, और नहीं उसके निष्क्रिय पुरुषको। साथ ही सांख्य अपने दर्शनको सिर्फ शब्द-प्रमाणपर ही आधारित नहीं मानता था वह उसके लिए युक्ति तर्क भी देता था, जिसका उत्तर देते हुए बादरायण कहते हैं[2]—

अनुमान (-सिद्ध प्रधानका मानना युक्तिसंगत) नहीं है, क्योंकि (जड़ होनेसे विश्वकी विचित्र वस्तुओं)की रचना (उससे) सम्भव नहीं है, और (न उससे प्रधानकी) प्रवृत्ति (ही हो सकती है)। (जड़) दूध जैसे (दही बन जाता), पानी जैसे (बर्फ बन जाता है, वैसे ही बिना चेतन ब्रह्मकी सहायताके भी प्रधान विश्वको बना सकता है, यह कहना ठीक नहीं) क्योंकि वहाँ भी (बिना ब्रह्मके हम दही, हिमकी रचना सिर्फ दूध और जलसे नहीं मानते)। तृण आदि जैसे (गायके पेटमें जा दूध बन जाते हैं, वैसे ही प्रधानसे भी विचित्र विश्व बन जाता है, यह भी कहना

[1] वे० सू० १।४।१-२२ [2] वहीं २।२।१-६ भावार्थ।

ठीक नहीं है) क्योंकि (गायसे) अन्यत्र (तृण आदिका दूध बनना) नहीं (देखा जाता)। यदि (कहो—जैसे अंधा और पंगु) पुरुष (आँख और पैरसे हीन भी एक दूसरेकी सहायतासे देखने और चलनेकी क्रियाको कर सकते हैं, अथवा जैसे लोहा तथा चुम्बक पत्थर दोनों स्वतः निष्क्रिय होते भी एक दूसरे की समीपतासे चल सकते हैं, वैसे ही प्रकृति और पुरुष स्वतंत्र रूपसे निष्क्रिय होते हुए भी एक दूसरेकी समीपतासे विश्व-वैचित्र्य पैदा करनेवाली क्रियाको कर सकते हैं)। (उत्तर है—) तब भी (गति संभव नहीं, क्योंकि प्रकृति और पुरुषकी समीपता आकस्मिक नहीं नित्य घटना है, फिर तो सिर्फ गति ही निरन्तर होती रहेगी, किन्तु वस्तुके निर्माणके लिए गति और गति-रोध दोनों चाहिए)। (सत्व, रज, तम, गुणोंके अंग तथा) अंगीपन (की कमी बेशी मानने) से भी (काम नहीं) चल सकता (क्योंकि सर्वदा पुरुषके पास उपस्थित प्रकृतिके इन तीन गुणोंमें कमी-बेशी करनेवाला कौन है, जिससे कि कभी सत्वकी अधिकतासे हल्कापन और प्रकाश प्रकट होगा, कभी रजकी अधिकतासे चलन और स्तम्भन होगा, और कभी **तम**की अधिकतासे भारीपन तथा निष्क्रियता आ मौजूद होगी ?)।

यदि **प्रधान**को मान भी लिया जाय, तो भी उसमें कोई मतलब नहीं, (क्योंकि पुरुष—जीव—तो स्वतः निष्क्रिय निर्विकार चेतन है, **प्रधान**के कार्यके कारण उसमें कोई खास बात नहीं होगी।) फिर सांख्य-सिद्धान्त परस्पर-विरोधी भी है—यहाँ एक ओर पुरुषके मोक्षके लिए प्रकृतिका रचना-परायण होना बतलाया जाता है,[1] और दूसरी जगह यह भी कहा जाता है,[2]—न कोई बद्ध होता न मुक्त होता है न आवागमनमें पड़ता है।

(२) योग-खंडन—सांख्यके प्रकृति, पुरुषमें पुरुष-विशेष ईश्वरके जोड़ देनेसे वह ईश्वरवादी (सेश्वर) सांख्य-दर्शन हो जाता है, यह बतलाता

[1] सांख्यकारिका ५७ [2] वहीं ६२

आए हैं। बादरायणको योगके खंडनके लिए ज्यादा परिश्रमकी जरूरत न थी, क्योंकि सांख्य-सम्मत प्रधान, तथा पुरुषके विरुद्ध दी गई युक्तियाँ यहाँ काम आ सकती थीं। योग ईश्वरको विश्वका उपादान-कारण (=प्रकृति) नहीं मानता था, बादरायणने[1] उपनिषद्के प्रमाणसे उसे निमित्त-उपादान-कारण सिद्ध कर दिया। ईश्वर (=ब्रह्म) जगत्के रूपमें परिणत होता है, यह उसकी विचित्र शक्तिको बतलाता है, और वह योग-सम्मत निर्विकार ईश्वर नहीं है।

प्रश्न उठता है, उपनिषद्[2]ने जिस कपिलको ऋषि कहा है, उसके प्रतिपादित सांख्यका खंडन करके हम स्मृति (=ऋषि-वचन)की अव-हेलना करते हैं। उत्तर है[3]—यदि हम उसे मानते हैं, तो दूसरी स्मृतियों (=ऋषिवाक्यों)की अवहेलना होती है। इसी उत्तरसे बादरायणने योग-दर्शनकी ओरसे उठनेवाली शंकाका भी उत्तर दे दिया है।[4]

ख. अन्-ऋषिप्रोक्त दर्शन-खंडन

पाशुपत और पांचरात्र ऐसे दर्शन हैं, यह बतला चुके हैं।

(क) ईश्वरवादी दर्शन—

(१) पाशुपत-खंडन—शिवका नाम पशुपति है। यद्यपि शिव वैदिक (आर्य) शब्द है, किन्तु शिव-पूजा जिस लिंग (=पुरुष-जननेन्द्रिय-चिह्न)को सामने रखकर होती है, वह मोहन्-जो-डरो काल (आजसे ५००० वर्ष पूर्व)के अन्-आर्योंके वक्तसे चली आती है, और एक समय था जब कि इसी लिंग (=शिश्न) पूजाके कारण अन्-आर्योंको शिश्नदेव कहकर अपमानित भी किया जाता था; किन्तु इतिहासमें एक वक्त

---

[1] वे० सू० १।४।२३-२७

[2] श्वेताश्वतर ५।२—"ऋषिं प्रसूतं कपिलम्"।

[3] वे० सू० २।१।१

[4] "एतेन योगः प्रत्युक्तः"—वे० सू० २।१।३

अपमान समझी जानेवाली बात दूसरे वक्त सम्मानकी हो जाये, यह दुर्लभ नहीं है। यही लिंग-पूजा-धर्म कालान्तरमें पाशुपत (=शैव) मतके रूपमें विकसित हुआ और उसने अपने दार्शनिक सिद्धान्त भी तैयार किए। आजके शैव यद्यपि पूजामें पाशुपतोंके उत्तराधिकारी हैं, किंतु दर्शन-में वह शंकरके मायावादी अद्वैतवादका अनुसरण करते हैं। बादरायणके समय उनका अपना एक दर्शन था, जिसके खंडनमें उन्हें चार सूत्रों[1]की रचना करनी पड़ी।

पाशुपत आजकलके आर्यसमाजियोंकी भाँति त्रैतवाद—जीव (=पशु) जगत् और ईश्वर (=पशुपति)—को मानते थे। वह कहते थे—जिनमें पशुपति जगत्का निमित्त कारण है, फिर वह वेदान्त-प्रतिपादित ब्रह्मकी भाँति निमित्त और उपादान दोनों कारण नहीं है।

बादरायणने पाशुपत दर्शनपर पहिला आक्षेप यह किया कि वह "(वेद-)संगत नहीं है" (=असामंजस्य)। (घड़ा या घर जैसी कार्योंका जैसे कोई देवदत्त अधिष्ठाता होता है, वैसे ही जगत्का भी कोई अधिष्ठाता है, इस तरह अनुमानसे ईश्वरकी सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती। क्योंकि (निराकार ईश्वरका) अधिष्ठाता होना सिद्ध नहीं हो सकता। (निराकार जीव) जैसे (इन्द्रिय, शरीर आदि) साधनों (का अधिष्ठाता है, वैसे ही पशुपति भी है, यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि जीवका अधिष्ठाता होना पड़ता है, फल-) भोगादिके कारण, (कर्म-बंधन-मुक्त पशुपतिके लिए न फल-भोग है, न उसके कारण शरीर-धारणकी जरूरत पड़ सकती है)। और (यदि पशुपतिके भोगादिको मान लिया जाये, तो उसे) अन्तवान् और अ-सर्वज्ञ (मानना पड़ेगा)।

(२) पाँचरात्र-खंडन—पाशुपत मतकी भाँति पाञ्चरात्र मतका भी स्रोत अन्-आर्य भारतका पुराना काल है। पाशुपतने शिव और शिवलिंगको अपना इष्ट देव माना, पाञ्चरात्रोंने विष्णु—भगवान्—वासुदेवको अपना

---

[1] वही २।२।३५-३८

इष्ट बनाया; और इसीलिए इन्हें वैष्णव और भागवत भी कहते हैं। शिवकी लिंग-मूर्ति मोहन-जो-दड़ो काल तक जरूर जाती है, किन्तु शिवकी मूर्ति उतनी पुरानी नहीं मिलती। वासुदेवकी मूर्तियोंकी कथा ईसा-पूर्व चौथी सदी तक तथा मूर्तियोंके प्रस्तरखंड ईसा-पूर्व तीसरी सदी तकके मिलते हैं। ईसा-पूर्व दूसरी सदीमें भगवान् वासुदेवके सम्मानमें एक यूनानी (हेलियोदोर) भागवत द्वारा खड़ा किया पाषाण-स्तम्भ आज भी भिलसा (ग्वालियर राज्य)में खड़ा है।

भागवत धर्मके मूल ग्रंथको ही पंचरात्र कहते हैं, जो कि एक पुस्तक न हो कई पुस्तकोंका संग्रह है। इनमें अहिर्बुध्न्य-, पौष्कर-, सात्वत, परम-संहिता जैसे कुछ ग्रंथ अब भी प्राप्य हैं। जिस तरह पाशुपतोंकी पूजा और धर्म आज शैवोंके पूजा और धर्मके रूपमें परिणत मिलते हैं, यद्यपि दर्शन बिल्कुल नया है; उसी तरह पांचरात्र भागवत-धर्म आजके विष्णु-पूजक वैष्णव धर्मके रूपमें मौजूद है, यद्यपि वह गुप्तकाल—अपने वैभवके समय—में जितना बदला था उससे आज कहीं ज्यादा बदला हुआ है। तो भी आजके अनेक वैष्णव मतोंमें रामानुजका वैष्णव मत अभी पंच-रात्र-आगमको श्रद्धाकी दृष्टिसे देखता है, और एक तरहसे उसका उत्तराधिकारी भी है। कैसी विडम्बना है? उसी सम्प्रदायके एक महान् शास्त्री रामानुज बादरायणके द्वारा पांचरात्र मतपर किए गए प्रहा-रका अनुमोदन करते हैं, और पांचरात्र दर्शनकी जगह बादरायणके दर्शनको स्वीकार करते हैं!

पाँचरात्र दर्शनके अनुसार[1] वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, क्रमशः ब्रह्म, जीव, मन और अहंकारके नाम हैं।—ब्रह्म (= वासुदेव)से जीव (=संकर्षण) उत्पन्न होता है, उससे मन और उससे अहंकार। इस

---

[1] "परमकारणात् परब्रह्मभूतात् वासुदेवात् संकर्षणो नाम जीवो जायते, संकर्षणात् प्रद्युम्नसंज्ञं मनो जायते, तस्माद् अनिरुद्धसंज्ञोऽहंकारो जायते"—परमसंहिता।

सिद्धान्तका खंडन करते हुए बादरायण कहते हैं[1]—

(श्रुतिमें जीवके नित्य कहे जानेसे उसकी) उत्पत्ति संभव नहीं। (मन कर्त्ता जीवका करण=साधन है) और कर्त्तासे करण नहीं जन्मता (इसलिए जीव=संकर्षणसे मनकी उत्पत्ति कहना गलत है)। हाँ, यदि (वासुदेवको) आदि विज्ञानके तौरपर (लिया जाये) तो (पाँचरात्रके) उस (मन)का निषेध नहीं। परस्पर-विरोधी (बातोंके) होनेसे भी (पाँचरात्र दर्शन त्याज्य है)।

(ख) अनीश्वरवादी दर्शन-खंडन—

कणादको यद्यपि पीछे कपिलकी भाँति ऋषि मान लिया गया, किन्तु बादरायणके वक्त (३०० ई०) अभी कणादको हुए इतना समय नहीं हुआ था कि वह ऋषि-श्रेणीमें शामिल हो गए होते। अनीश्वरवादी दर्शनोंमें वैशेषिक, बौद्ध और जैन दर्शनोंपर ही बादरायणने लिखा है, चार्वाक दर्शनका विरोध उस वक्त क्षीण पड़ गया था, इसलिए उसकी ओर ध्यान देनेकी जरूरत नहीं पड़ी।

(१) वैशेषिक दर्शनका खंडन—कणाद परमाणुको छै पार्श्वोंवाला परिमंडल—गोलसा—कण मानते हैं, और कहते हैं, कि यही छै पार्श्वोंवाले परमाणु दो मिलकर ह्रस्व (=छोटे) परिमाणवाले द्वचणुकको बनाते हैं। इन्हीं ह्रस्व-परिमंडलोंके योगसे महद् (=बड़े) और दीर्घ परिमाणवाली वस्तुओंकी उत्पत्ति होती तथा जगत् बनता है। बादरायण कहते हैं[2]—(वैशेषिक कारणके गुणके अनुसार कार्यके गुणकी उत्पत्ति मानता है, फिर अवयव-रहित परमाणुसे सावयव ह्रस्व द्वचणुककी उत्पत्ति संभव नहीं। और (महद्, दीर्घ परिमाणसे रहित) ह्रस्व तथा परिमंडल (द्वचणुक कण)से (आगे) महद् दीर्घ (परिमाण) वाले (पदार्थोंकी उत्पत्ति संभव नहीं)।

---

[1] ब्र० सू० २।२।३९-४२ [2] ब्र० सू० २।२।१०

जड़ परमाणु वस्तुओंका उत्पादन तभी कर सकते हैं, जब कि उनमें क्रिया (=गति) हो। कणादके मतमें जगत्की उत्पत्तिके लिए **अदृष्ट**[1] (=अज्ञात नियम) की प्रेरणासे परमाणुमें कर्म (=क्रिया) उत्पन्न होता है; जिससे दो परमाणु एक दूसरेसे संयोग कर द्व्यणुकका निर्माण करते हैं, और साथ ही अपने कर्म (=क्रिया) को भी उसमें देते हैं; यही सिलसिला आगे चलता जगत्को निर्माण करता है। प्रश्न उठता है—परमाणुमें जो आदिम क्रिया (=कर्म) उत्पन्न होती है, क्या वह परमाणु (=जड़) के अपने भीतरके अदृष्टसे उत्पन्न होती है, या आत्मा (=चेतन) के भीतरसे? बादरायण कहते हैं[2]—"दोनों तरहसे भी कर्म (संभव) नहीं। क्योंकि अदृष्ट पूर्व-जन्मके कर्मसे उत्पन्न होता है, आत्माके किए कर्मका अदृष्ट परमाणुमें कैसे जायेगा? और परमाणुओंमें क्रियाके बिना जगत् ही नहीं उत्पन्न होगा, फिर आत्मा कर्म कैसे करेगा?" "इसलिए (अणुमें) कर्म नहीं हो सकता।" यदि कहा जाये कि सदा एक साथ रहनेवाले पदार्थोंमें जो **समवाय** (नित्य-) संबंध होता है, उससे अदृष्टका परमाणुमें होना मानेंगे, तो[3] "समवायके स्वीकारसे भी वही बात है (समवाय संबंध क्यों वहाँ है? उसके लिए दूसरा कारण फिर उसके लिए भी दूसरा कारण ....इस प्रकार) अनवस्था (=अन्तिम उत्तरका अभाव) होगी।" यही नहीं, **समवाय**-संबंध नित्य होता है, इसलिए परमाणु और उसका अदृष्ट दोनों नित्य ही मौजूद रहेंगे, फिर जगत्का[4] "नित्य रहना ही" साबित होगा, और यह जगत्की सृष्टि और प्रलय माननेवालोंके लिए ठीक नहीं है।

परमाणुको एक ओर वैशेषिक नित्य, सूक्ष्म, अवयव-रहित मानता है, दूसरी ओर उसीसे तथा "कारणके गुणोंके अनुसार कार्यमें गुण उत्पन्न होता है" इस नियमके अनुसार, उत्पन्न घटमें रूप आदिके[5] "देखनेसे" और पृथ्वी,

---

[1] "अग्नेरूर्ध्वं ज्वलनं वायोस्तिर्यग्गमनं अणुमनसोश्चाद्यं कर्मेति अदृष्ट-कारितानि।" [2] वहीं २।२।११

[3] वे० सू० २।१।१२ [4] वहीं २।१।१३ [5] वहीं २।१।१४

जल, आग, हवाके परमाणुओंमें "रूप आदि (रस, गंध, स्पर्श गुणों) के होने (की बातके स्वीकार करने) से भी "परस्पर-विरोधी" (बात होती है)। परमाणुओंको यदि रूप आदिवाला मानें, चाहे रूपादिरहित[1]; दोनों तरहसे दोष मौजूद रहता है। पहिली अवस्थामें अवयव-रहित होनेकी बात नहीं रहेगी, दूसरी अवस्थामें 'कारणके गुणके अनुसार कार्यमें गुण उत्पन्न होता है', यह बात गलत हो जायेगी।

इस तरह युरोपके यांत्रिक भौतिकवादियोंकी भाँति कारणमें गुणात्मक परिवर्तन हो कार्यके बननेको न माननेसे परमाणुवादमें जो कमजोरियाँ थीं, उनका बादरायणने खंडन किया। निर्विकार ब्रह्म उपादान-कारण बन जगत्‌को अपनेमेंसे बनाकर सविकार हो जायेगा, और अपनेमेंसे जगत्‌की उत्पत्ति नहीं करेगा तो वह उपादानकारण नहीं निमित्तकारण मात्र रह जायेगा, फिर उपनिषद्‌के "एक (मिट्टीके) विज्ञानसे ही सारे (मिट्टीसे बने पदार्थोंके) विज्ञान" की बात कैसे होगी—आदि प्रश्नोंका उत्तर बादरायण (और उनके अनुयायी रामानुज भी) कैसे देते हैं, इसे हम देख चुके हैं, और वह तोतापातीसे बढ़कर कुछ नहीं है।

तर्क-युक्तिसे परमाणुवादपर प्रहार करना काफी न समझ, अन्तमें बादरायण अपने असली रंगमें उतर आते हैं[2]—"चूँकि (आस्तिक वैदिक लोग वैशेषिकको) नहीं स्वीकार करते, इसलिए (उसका) अत्यन्त त्याग ही ठीक है।"

(२) जैनदर्शन-खंडन—जैनोंके अपने दो मुख्य सिद्धान्त—स्याद्‌वाद[3] और जीवका शरीरके अनुसार घटना-बढ़ना (मध्यमपरिमाणी होना)—है, जिनके ही ऊपर बादरायणने प्रहार किया है। स्याद्‌वादमें "है भी नहीं भी. . . ." आदि सात तरहकी परस्पर-विरोधी बातें मानी गई हैं; बादरायण कहते हैं[4]—"एक (ही वस्तुमें इस तरहकी परस्पर-

---

[1] वहीं २।१।१५

[2] वे० सू० २।२।१६

[3] देखो पृष्ठ ४९६-९७

[4] वे० सू० २।२।३१

विरोधी बातें) संभव नहीं हैं।"

जीवका आकार अनिश्चित है, वह जैसे छोटे बड़े (चींटी हाथीके) देहमें जाता है, उतने ही आकारका होता है, इसका खंडन करते हुए सूत्रकार कहते हैं[1]—"ऐसा (माननेपर) आत्मा अ-पूर्ण होगा; और (संकोच विकासका विषय होनेसे) विकारी (अतएव अनित्य) आदिके (होनेके) कारण किसी तरह भी (नित्यता अनित्यता आदि) विरोधको हटाया नहीं जा सकता। अन्तिम (मोक्ष-अवस्थाके जीव-परिमाण)के स्थायी रहने, तथा (मोक्ष और) इस वक्तके जीव-परिमाण—दोनोंके नित्य होनेसे (बद्ध-अवस्थामें भी) वैसा ही (होना चाहिये, फिर उस वक्त देहके परिमाणके अनुसार होना है, यह बात गलत होगी)।

(३) **बौद्धदर्शन-खंडन**—बादरायणने बौद्धदर्शनकी चारों शाखाओं—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिकका खंडन किया है, जिससे साफ है, कि उस वक्त तक ये चारों शाखायें स्थापित हो गई थीं, और यह समय असंग-वसुबंधु (३५० ई०) का है, इससे बादरायणका ४०० ई०के आसपास होना सिद्ध होता है, किन्तु जैसा कि हमने पहिले कहा है, अभी ३०० ई०से पहिले नहीं इसीपर हम सन्तोष करते हैं। खंडन करते वक्त बादरायणने पहिले वैभाषिक दर्शनको लिया, जिसके बाद सभी बौद्ध-दर्शन-शाखाओंके समान सिद्धान्तोंकी भी आलोचना की है, फिर भिन्न-भिन्न दर्शन-शाखाओंके अपने जो खास-खास सिद्धान्त हैं, उनका खंडन किया है।

(क) **वैभाषिक-खंडन**—वैभाषिक बाहरी जगत् (=बाह्य-अर्थ) और भीतरी वस्तु चित्त—विज्ञान तथा चैत्त (=चित्त-संबंधी अवस्थाओं)के अस्तित्वको स्वीकार करते हैं। सर्व (=भीतरी बाहरी सारे पदार्थोंके)-अस्तित्वको स्वीकार करनेसे ही उनका पुराना नाम सर्वास्तिवादी भी प्रसिद्ध है। लेकिन सबके अस्तित्वको वह बुद्धके मौलिक

[1] वे० सू० २।२।३२-३४

सिद्धांत अनित्यता=क्षणिकताके साथ मानते हैं। बादरायणने मुख्यतः उनकी इस क्षणिकतापर प्रहार किया है। यद्यपि बुद्धके वक्त परमाणुवाद अपनी जन्मभूमि यूनानमें पैदा नहीं हुआ था, उसके प्रवर्त्तक देमोक्रितुके पैदा होनेके लिए बुद्धकी मृत्यु (४८३ ई० पू०)के बाद और तेईस वर्षोंकी जरूरत थी। यूनानियोंके साथ वह भारत आया जरूर, तथा उसे लेनेवालोंमें भारतकी सीमासे पार हो उनसे मिलनेवाले मानवतावादी (=अन्तर्राष्ट्रीयतावादी) बौद्ध सबसे पहिले थे। यूनानमें देमोक्रितु (४६०-३७० ई० पू०)का परमाणुवाद स्थिरवादका समर्थक था, और वह हेराक्लितु (५३५-४७५ ई० पू०)के क्षणिकवादसे समन्वय नहीं कर सका था; किन्तु भारतमें परमाणुवादके प्रथम स्वागत करनेवाले बौद्ध स्वयं बुद्ध-समकालीन हेराक्लितुकी भाँति क्षणिकवादी थे। यह भी संभव है, बुद्धके वक्तसे चले आए उनके अनित्यवादका नया नामकरण, क्षणिकवाद, इसी समय हुआ हो। बौद्धोंने परमाणुवादका क्षणिकवादसे गँठजोड़ा करा दिया। सभी भौतिकतत्त्वों (=रूप)की मूल इकाई अविभाज्य (=अ-नाम) परमाणु हैं, किन्तु वह स्वयं एक क्षणसे अधिककी सत्ता नहीं रखते—उनका प्रवाह (=सन्तान) जारी रहता है, किन्तु प्रवाहके तौरपर इस क्षणिकताके कारण हर क्षण विच्छिन्न होते हुए। अणुओंके संयोग—अणु-समुदाय—से पृथिवी आदि भूतोंका समुदाय पैदा होता है, और पृथिवी आदिके कारणोंसे शरीर-इन्द्रिय-विषय-समुदाय पैदा होता है। बादरायण इसका खंडन करते हुए कहते हैं[1]—

''(परमाणु हेतु, या पृथिवी आदि हेतु) दोनों ही हेतुओंके (मानने) पर भी जगत् (का अस्तित्वमें आना) नहीं हो सकता; (क्योंकि परमाणुओंके क्षणिक होनेसे उनका संयोग ही नहीं हो सकता फिर समुदाय कैसे ?)।''[2] (प्रतीत्य-समुत्पादके अविद्या आदि १२ अंगोंके) एक दूसरेके

---

[1] वे० सू० २।२।१७-२४ [2] देखो पृष्ठ ५१२-१५

प्रत्यय[1]से (समुदाय) हो सकता है, यह (कहना) ठीक नहीं; क्योंकि (वे अविद्या आदि पृथिवी आदिके) संघात बननेमें कारण नहीं हो सकते, (चाहे वह दिमागमें भले ही गलत ज्ञान आदि पैदा कर सकते हों)। (क्षणिकवादके अनुसार) पीछे (की वस्तुके) उत्पन्न होनेपर पहिलेवाली नष्ट हो गई रहती है; (फिर पिछली वस्तुका कारण पहिली—नष्ट हो गई—वस्तु कैसे हो सकती है, क्योंकि उस वक्त तो उसका अत्यन्त अभाव हो चुका है?) यदि (हेतुके) न होनेपर भी (कार्य उत्पन्न होता है, यह मानते हैं, तो प्रत्ययके बिना कोई चीज नहीं होती यह) प्रतिज्ञा (आपकी) छूटती है, और (होनेपर होता है, कहते हैं,) तो (कार्य और कारण दोनोंके) एक समय मौजूद होनेसे (क्षणिकवाद गलत होता है)।

धर्मों (=वस्तुओं या घटनाओं)को बौद्धोंने संस्कृत (=कृत) और असंस्कृत (=अ-कृत) दो भागोंमें बाँटा है। जिनमें रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान—ये पाँचों स्कन्ध (१२ आयतन या १८ धातु) संस्कृत **धर्म** हैं, और निरोध (=अभाव) तथा आकाश असंस्कृत। निरोध (=अभाव, विनाश) भी दो प्रकारका है, एक प्रतिसंख्या-निरोध या स्थूल-निरोध, दूसरा अप्रतिसंख्या-निरोध प्रतिक्षण हो रहा अतिसूक्ष्म निरोध। दोनोंमें वह मानते हैं, कि विनाश विच्छिन्न (=निरन्वय) होता है। बादरायणका कहना है, कि जिस तरहका निरन्वय 'प्रतिसंख्या-अप्रतिसंख्या-निरोध (तुम मानते हो, वह) नहीं सिद्ध हो सकता, क्योंकि विच्छेद (होना) ही नहीं, घट वस्तुके नाश होनेपर भी मूल-उपादान मिट्टी घटके टुकड़ोंमें भी अविच्छिन्न भावमें मौजूद रहती है। (कारणके बिलकुल अभाव—शून्य—हो जानेपर कार्यकी उत्पत्ति तथा कार्यका नाश हो बिलकुल अभाव—शून्य—हो जाना) दोनों ही तरहसे दोष है (शून्यसे उत्पन्न तथा अन्तमें शून्य हो जानेवाला शून्य ही रहेगा),

---

[1] जिसके होनेके बाद दूसरी चीज होती है, वह इस होनेवाली चीजका प्रत्यय है।

जिसमें (जगत्की उत्पत्तिकी व्याख्या नहीं की जा सकती)। (प्रतिसंख्या-अप्रतिसंख्या-निरोधके) समान ही (विरोधी युक्तियोंके कारण) आकाशमें भी (शून्य रूप माननेमें दोष आयेगा, वस्तुतः वह शून्य—अभाव—नहीं पाँचों भूतोंमें एक भूत है)।

क्षणिकवादी बौद्ध विज्ञान (=चित्त)को भी क्षणिक मानते हैं, और उसके परे किसी आत्माकी सत्ता नहीं स्वीकार करते। बादरायण उनके मतको असंगत कहते हुए बतलाते हैं, कि इस तरहकी क्षणिकता गलत है, "क्योंकि (पहिली बातका) अनुस्मरण" (हम साफ देखते हैं, यदि कोई स्थायी वस्तु नहीं, तो अनुस्मरण कैसे होता है)।

(ख) सौत्रान्तिक खंडन—सौत्रान्तिक बाह्यार्थवादी—बाहरकी वस्तुओंकी क्षणिक सत्ताको वास्तविक स्वीकार करते—हैं। उनका कहना है—बाहरी वस्तुएँ क्षणिक हैं यह ठीक है, और इसी वजहसे जिस वक्त किसी वस्तु (=घड़े)का अस्तित्व हमें मालूम हो रहा है, उस वक्त वह वस्तु (=घड़ा) सर्वथा नष्ट हो चुकी है, और उसकी जगह दूसरा—किन्तु बिल्कुल उसी जैसा—घड़ा पैदा हुआ है। इस तरह इस वक्त जिस घड़ेके अस्तित्वको हम अनुभव कर रहे हैं, वह है पहिले निरन्वय (=निर्विच्छिन्न) विनष्ट हो गए घड़ेका। यह कैसे होता है, इसका उत्तर सौत्रान्तिक देते हैं—घड़ा आँखसे प्राप्त होनेवाले विज्ञानमें अपने आकार (=लाल आदि)को छोड़कर नष्ट हुआ, उसी विज्ञानमय आकारको पा उससे घड़ेकी सत्ताका अनुमान होता है। बादरायणका आक्षेप है—अविद्यमान (=विनष्ट घड़े)का (यह लाल आदि आकार) नहीं है, क्योंकि (विनष्ट वस्तुके लाल आदि गुणका किसी दूसरी वस्तुमें स्थानान्तरित होना) नहीं देखा जाता। (यदि विनष्टसे भी) इस तरह (वस्तु उत्पन्न होती जाय) तो उदासीनों (=जो किसी बातको प्राप्त करनेके लिए कोई प्रयत्न भी नहीं करते उन)को भी (वह बात) प्राप्त हो जाये, (फिर तो निर्वाणके लिए भारी प्रयत्न करना ही निष्फल है)।

(ग) योगाचार-खंडन—वैभाषिक बाह्यार्थ और विज्ञान दोनोंको

मानते हैं, सौत्रांतिक बाह्यार्थको ही मुख्य मानते हैं, विज्ञान उसीका भीतरकी ओर निक्षेप है। विज्ञानवादी योगाचारका मत सौत्रांतिकसे बिलकुल उलटा है। क्षणिक विज्ञान ही वास्तविक तत्त्व है, बाह्य वस्तुयें, जगत्, उसीके बाहरी निक्षेप हैं। बादरायण विज्ञानवादपर आक्षेप करते हुए कहते हैं—"(बाहरी वस्तुओंका) अभाव (कहना ठीक) नहीं है, क्योंकि (विज्ञानसे परे वस्तुयें साफ) पाई जाती हैं। स्वप्न आदिकी तरह (पाई जाती हैं, यह कहना ठीक) नहीं है, क्योंकि (स्वप्नके ज्ञान और जागृत-अवस्थाके ज्ञानमें भारी) भेद है। (पदार्थोंके बिलकुल न रहनेपर ज्ञानका) होना नहीं (संभव है), क्योंकि (यह बात कहीं) नहीं देखी जाती।"

(घ) माध्यमिक-खंडन—शून्यवादी माध्यमिक दर्शनके खंडनमें बादरायणने एक सूत्र[1]से अधिक लिखनेकी जरूरत न समझी, और उसमें नागार्जुनके सबसे मजबूत पक्ष—सापेक्षतावाद—को न छूकर उनके सबसे कमजोर पक्ष—शून्यवाद (वस्तुकी क्षणिक वास्तविकतासे भी इन्कार)—को लिया। शायद पहिले पक्षका जवाब वह क्षणिकवादके खंडनमें दे दिया गया समझते थे। क्षणिकवादको एक समान मानते हुए वैभाषिक जड़, अजड़ दोनों तत्त्वोंके अस्तित्वको स्वीकार करते हैं, सौत्रान्तिक सिर्फ बाह्य जड़ तत्त्वको, योगाचार सिर्फ आभ्यन्तर अ-जड़ (=विज्ञान) तत्त्वको, लेकिन माध्यमिक, बाह्य आभ्यन्तर सभी तत्त्वोंके अस्तित्वके ज्ञानके व्यवहार-मात्र होनेसे सबको शून्य मानते हैं। इसके खिलाफ बादरायणका कहना है—"सर्वथा असंगत (=युक्ति-अनुभव-विरुद्ध) होनेसे (शून्यवाद गलत है)।"

---

[1] वे० सू० २।२।३०

अष्टादश अध्याय

भारतीय दर्शनका चरम विकास (६०० ई०)

§१—असंग (३५० ई०)

भारतीय दर्शनको अपने अन्तिम विकासपर पहुँचानेके लिए पहिला जबर्दस्त प्रयत्न असंग और वसुबंधु दो पेशावरी पठान भाइयोंने किया। बड़े भाई असंगने योगाचार भूमि[1], उत्तरतन्त्र[1] जैसे ग्रन्थोंको लिखकर विज्ञानवादका समर्थन किया। छोटे भाई वसुबंधुकी प्रतिभा और भी बहु-मुखी थी। उन्होंने एक ओर वैभाषिक-सम्मत तथा बुद्धके दर्शनमें बहु-सम्मत अपने सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ अभिधर्मकोष तथा उसपर एक बड़ा भाष्य[1] लिखा; दूसरी ओर विज्ञानवादके संबंधमें विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिकी विंशिका (बीस कारिकायें) और त्रिंशिका (तीस कारिकायें) लिख अपने बड़े भाईके कामको और सुव्यवस्थित रूपमें दार्शनिकोंके सामने पेश किया। तीसरा काम उनका सबसे महत्त्वपूर्ण था **वादविधान** नामक न्याय-ग्रंथका लिख, भारतीय न्यायशास्त्रको नागार्जुनकी पैनी दृष्टिसे मिली प्रेरणाको और नियमबद्ध करना; और सबसे बड़ी बात थी "भारती मध्ययुगीन न्यायके पिता" दिग्नाग जैसे शिष्यको पढ़ाकर अब तकके किये गये प्रयत्नको एक बड़े प्रवाहके रूपमें ले जानेके लिए तैयार करना।

बौद्धोंके विज्ञानवाद—क्षणिक विज्ञानवाद—के शंकराचार्य और उनके दादा गुरु गौडपाद कितने ऋणी हैं, यह हम बतलानेवाले हैं। वस्तुतः गौड-

---

[1]ये दोनों ग्रंथ चीनी और तिब्बती अनुवादके रूपमें पहिले भी मौजूद थे, किन्तु उनके संस्कृत मूल मुझे तिब्बतमें मिले, उनकी फोटो और लिखित प्रतियाँ भारत आ चुकी हैं। अभिधर्मकोशको अपनी वृत्तिके साथ मैं पहिले संपादित कर चुका हूँ।

पादकी मांडूक्य-कारिका "अलात शान्ति प्रकरण" प्रच्छन्न नहीं प्रकट रूपसे एक बौद्ध विज्ञानवादी ग्रंथ है। बौद्ध विज्ञानवाद और असंगका एक दूसरे-के साथ कितना संबंध है, यह इसीसे मालूम हो सकता है, कि विज्ञानवाद अपने नामकी अपेक्षा "योगाचार दर्शन"के नामसे ज्यादा प्रसिद्ध है, और योगाचार शब्द असंगके सबसे बड़े ग्रंथ "योगाचार-भूमि"से लिया गया है।

१—जीवनी

असंगका जन्म पेशावरके एक ब्राह्मण (पठान) कुलमें हुआ था। उनके छोटे भाई वसुबंधु बौद्ध जगत्के प्रमुख दार्शनिकोंमें थे। वसुबंधुके कितने ही मौलिक ग्रंथ कालकवलित हो गये। उनका अभिधर्मकोश बहुत प्रौढ़ ग्रंथ है, मगर वह सर्वास्तिवाद दर्शनका एक सुशृंखलित विवेचन मात्र है, इसलिए हमने उसके बारेमें विशेष नहीं लिखा। वसुबंधुने अभिधर्मकोश-पर विस्तृत भाष्य लिखा है, जो सौभाग्यसे तिब्बतकी यात्राओंमें मुझे संस्कृतमें मिल गया, और प्रकाशित होनेकी प्रतीक्षामें फोटो रूपमें पड़ा है। अपने बड़े भाई असंगके विज्ञानवादपर "विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि" नामके "विंशिका" और "त्रिंशिका" नामसे बीस और तीस कारिकावाले दो प्रकरण भी मिल-कर प्रकाशित हो चुके हैं। वसुबंधु "मध्यकालीन न्याय-शास्त्र"के पिता दिग्नागके गुरु थे, और उन्होंने स्वयं भी "वादविधान" नामसे न्यायपर एक ग्रंथ लिखा था किन्तु शिष्यकी प्रतिभाके सामने गुरुकी कृतियाँ ढँक गई। वसुबंधु समुद्रगुप्तके पुत्र चंद्रगुप्त (विक्रमादित्यके) अध्यापक रह चुके थे, और इस प्रकार वह ईसवी चौथी शताब्दीके उत्तरार्धमें मौजूद थे।[1]

असंगकी जीवनीके बारेमें हम इससे अधिक नहीं जानते कि वह योगाचार दर्शनके प्रथम आचार्य थे, कई ग्रंथोंके लेखक, वसुबंधुके बड़े भाई और पेशावरके रहनेवाले थे। वह ३५०में जरूर मौजूद रहे होंगे। यह समय नागार्जुनसे पौन सदी पीछे पड़ता है। नागार्जुनके ग्रंथ भारतीय न्याय-शास्त्रके प्राचीनतम ग्रंथ हैं—जहाँ तक अभी हमारा ज्ञान जाता है—लेकिन,

---

[1] देखो मेरी "वादन्याय" और "अभिधर्मकोश"की भूमिकाएँ।

नागार्जुनको असंग-वसुबंधुसे मिलानेवाली कड़ी उसी तरह हमें मालूम नहीं है, जिस तरह यूनानी दर्शनके कितने ही वादोंको भारतीय दर्शनों तक सीधे पहुँचनेवाली कड़ियाँ अभी उपलब्ध नहीं हुई हैं। असंगको वादशास्त्र (= न्याय) का काफी परिचय था, यह हमें "योगाचार-भूमि"से पता लगता है।

२—असंगके ग्रंथ

महायानावतार ग्रंथ, सूत्रालंकार, योगाचार-भूमि-वस्तुसंग्रहणी, बोधिसत्त्व-पिटकाववाद ये पाँच ग्रंथ अभी तक हमें असंगकी दार्शनिक कृतियोंमें मालूम हैं; इनमें पिछले दोनोंका पता भी "योगाचार-भूमि"से ही लगा है। पहिले तीनों ग्रंथोंके तिब्बती या चीन अनुवादोंका पहिलेसे भी पता था।

योगाचार-भूमि—असंगका यह विशाल ग्रंथ निम्न सत्रह भूमियोंमें विभक्त है—

१. . .विज्ञान भूमि
२. मन भूमि
३. सवितर्क-सविचारा भूमि
४. अवितर्क-विचारमात्रा भूमि
५. अवितर्क-अविचारा भूमि
६. समाहिता भूमि
७. असमाहिता भूमि
८. सचित्तका भूमि
९. अचित्तका भूमि
१०. श्रुतमयी भूमि
११. चिन्तामयी भूमि
१२. भावनामयी भूमि
१३. श्रावक भूमि[1]
१४. प्रत्येकबुद्ध भूमि
१५. बोधिसत्त्व भूमि[1]
१६. सोपधिका भूमि
१७. निरुपधिका भूमि[2]

---

[1] श्रावक भूमि और बोधिसत्त्व-भूमि तिब्बतमें मिली "योगाचारभूमि" की तालपत्र पोथी (दसवीं सदी) में नहीं है। बोधिसत्त्वभूमिको प्रो० उ० वोगीहारा (जापान १९३०) प्रकाशित कर चुके हैं। असग भी मिल चुकी है।

[2] "योगाचारभूमि"में आचार्यने किन-किन विषयोंपर विस्तृत विवेचन किया है। यह निम्न विषयसूचीसे मालूम हो जायेगा।

भूमि १

§ १. (पाँच इन्द्रियोंके) विज्ञानोंकी भूमियाँ।

§ २. पाँच इन्द्रियोंके विज्ञान (=ज्ञान)

१. आँखका विज्ञान

(१) विज्ञानोंके स्वभाव

(२) उनके आश्रय (सहभू, समनन्तर, बीज)

(३) उनके आलंबन (Objects) वर्ण, संस्थान, विज्ञप्ति (=क्रिया)

(४) उनके सहाय (=सहयोगी)

(५) कर्म

(क) अपने विषयके आलंबनकी क्रिया (=विज्ञप्ति)

(ख) अपने स्वरूप (=स्वलक्षण) की विज्ञप्ति

(ग) वर्तमान कालकी विज्ञप्ति

(घ) एक क्षणकी विज्ञप्ति

(ङ) मनवाले विज्ञानकी अनुवृत्ति (=पीछे आना)

(च) भलाई बुराईकी अनुवृत्ति

२. कानका विज्ञान (स्वभाव आदिके साथ)

३. घ्राणका विज्ञान (,,)

४. जिह्वाका विज्ञान (,,)

५. काया (=त्वक् इन्द्रिय) का विज्ञान (स्वभाव आदिके साथ)

§ ३. पाँचों विज्ञानोंका उत्पन्न होना

§ ४. पाँचों विज्ञानोंके साथ संबद्ध चित्त

§ ५. पाँचों विज्ञानोंके सहाय आदिकी 'एक क़ाफ़िलेवाला' आदि होनेकी उपमा।

भूमि २

मनकी भूमि

§ १. मनके स्वभाव आदि

१. मनका स्वभाव

२. मनका आश्रय

३. मनका आलंबन (=विषय)

४. मनका सहाय (=सहयोगी)

५. मनके विशेष कर्म

(१) आलंबन विज्ञप्ति

(२) विशेष कर्म

(क) विषयकी विकल्पना

(ख) उपनिध्यान
(ग) मत्त होना
(घ) उन्मत्त होना
(ङ) सोना
(च) जागना
(छ) मूच्छित होना
(ज) मूर्च्छासे उठना
(झ) कायिक, वाचिक काम कराना
(ञ) विरक्त होना
(ट) विरागका हटना
(ठ) भली अवस्थाकी जड़का कटना
(ड) भली अवस्थाकी जड़का जुड़ना

२. मनका शरीरसे च्युति और उत्पत्ति
(१) शरीरसे च्युति (= छूटना, मृत्यु)
(२) एक शरीरसे दूसरे शरीरके बीचकी अवस्थाका सूक्ष्मकायिक मन (= अन्तराभव)

३. दूसरे शरीरमें उत्पत्ति
(१) उत्पत्तिवाले स्थानमें आनेकी अभिलाषा
(२) गर्भमें प्रवेश करना
(क) गर्भाधानमें सहायक
(ख) गर्भाधानमें बाधक
(a) योनिका दोष
(b) बीजका दोष
(c) पुरविले कर्मका दोष
(ग) अन्तराभवकी दृष्टिमें परिवर्तन
(घ) पापी और पुण्यात्माके जन्मकुल
(ङ) गर्भाशयमें आलय-विज्ञान (-प्रवाह) जुड़नेका ढंग
(च) गर्भकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ
(a) कलल-अवस्था
(b) अर्बुद-अवस्था
(c) पेशी ,,
(d) घन ,,
(e) प्रशाख ,,
(f) केश - रोम - नखकी अवस्था
(g) इन्द्रियोंका प्रकट होना
(h) स्त्री - पुरुष - लिंग प्रकट होना
(छ) शरीरमें विकार

होना
(a) रंगमें विकार
(b) चमड़ेमें विकार
(c) अंगमें विकार
(अ) गर्भके स्त्री या पुरुष होनेकी पहिचान
(३) गर्भसे निकलना
(४) शिशु-पोषण

§३. जगत्का संहार और प्रादुर्भाव
१. संहार (=संवर्तन) का क्रम
(१) देवताओंकी आयु
(२) कल्पका परिमाण
२. प्रादुर्भाव (=विवर्त्त)
(१) भिन्न-भिन्न लोकोंका प्रादुर्भाव
(क) ब्रह्मलोक आदिका प्रादुर्भाव
(ख) पृथिवीका प्रादुर्भाव
(a) सुमेरु आदि ,,
(b) नरक ,,
(c) द्वीपों ,,
(d) नागलोक ,,
(e) यक्षलोक ,,
(f) वैश्रवण आदि चारों महाराजोंका प्रादुर्भाव
(g) हिमालयकाप्रादुर्भाव
(h) अनवतप्तसर (=मानसरोवर) ,,
(i) सुमेरुके पार्श्वों ,,

§४. सत्त्वोंका प्रादुर्भाव
१. प्रथम कल्पके सत्त्व (=मानव)
(१) उनके आहार
(२) मनके विकारसे आहार-ह्रास
(३) राजाका पहिला चुनाव
२. ग्रह नक्षत्र आदिका प्रादुर्भाव
(१) सत्त्वोंके प्रकाशका लोप; सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदिका प्रादुर्भाव
(२) चन्द्रमा और सूर्यकी गतियाँ
(३) ऋतुओंमें परिवर्तन
(४) चन्द्रमाका घटना बढ़ना

§५. हजार चूड़ावाला लोक (Local Universe) (बुद्धका क्षेत्र)

§६. रूप (=जड़ तत्त्व)
१. रूपका बीज (=मूलरूप)
२. महाभूत
३. परमाणु (=अवयव)

४. द्रव्य चौदह
५. भूतोंका साथ या अलग रहना
§ ७. चित्त
§ ८. चित्त-संबंधी (=चैतस) तत्त्व
(विज्ञानकी उत्पत्ति)
१. चैतस मनस्कार आदि
(१) उनके स्वभाव
(२) उनके कर्म
§ ९. तीन काल
(जन्म, जरा आदि)
§ १०. छ प्रकारके विज्ञान
१. विज्ञानोंके चार प्रत्यय
(१) प्रत्यय
(२) प्रत्ययोंके भेद
२. आयतनोंके छ भेद
(१) इन्द्रियोंके भेद
(क) चक्षुके भेद
(ख) श्रोत्र ,,
(ग) घ्राण ,,
(घ) जिह्वा ,,
(ङ) काया ,,
(च) मन ,,
(२) आलंबनोंके छ भेद
(क) रूपके भेद
(ख) शब्द ,,
(ग) गन्ध ,,
(घ) रस के भेद
(ङ) स्पर्श ,,
(च) धर्म ,,
§ ११. नव वस्तुवाले बुद्ध-वचन

भूमि ३, ४, ५

(सवितर्क-सविचारा भूमि,
अवितर्क-विचारमात्रा भूमि,
अवितर्कअविचारा भूमि)
(सवितर्क-सविचारा भूमि)
§ १. धातुकीप्रज्ञप्तिसे
१. धातुके प्रज्ञापन द्वारा
(१) काम (=स्थूल) धातु
(=लोक)
(२) रूप धातु
(३) आरूप्य धातु
२. परिमाणके प्रज्ञापन द्वारा
(१) शरीरका परिमाण
(२) आयुका परिमाण
३. भोगके प्रज्ञापन द्वारा
(१) दुःखभोग
(i) नरक
(a) महानरक (आठ)
(b) छोटे (=सामन्त)
नरक (चार)
(c) ठंडे नरक (आठ)
(d) प्रत्येक नरक

§ ३. योनिशोमनस्कारकी प्रज्ञप्तिसे
  १. अधिष्ठान
  २. वस्तु
  ३. एषणा
  ४. परिभोग
  ५. प्रतिपत्ति

§ ४. अयोनिशोमनस्कार प्रज्ञप्तिसे
  १. दूसरोंके वाद (=मत)
    (१) सद्भाव (सांख्य)
    (२) अनभिव्यक्ति-वाद (सांख्य और व्याकरण)
    (३) द्रव्यसद्भाव (सर्वास्ति-वादी)
    (४) आत्मवाद (उपनिषद्)
    (५) शाश्वतवाद (कात्यायन)
    (६) पूर्वकृत हेतुवाद (जैन)
    (७) ईश्वरादि-कर्त्तावाद (नैयायिक)
    (८) हिंसाधर्मवाद (याज्ञिक और मीमांसक)
    (९) अन्तानन्तिकवाद
    (१०) अमराविक्षेपवाद (बेल-ट्ठिपुत्त)
    (११) अहेतुकवाद (गोशाल)
    (१२) उच्छेदवाद (लोका-यत)
    (१३) नास्तिकवाद (केश-कम्बल)
    (१४) अग्रवाद (ब्राह्मण)
    (१५) शुद्धिवाद (,,)
    (१६) ज्योतिषशकुन (=कौ-तुक-मंगल) वाद

§ ५. संक्लेश-प्रज्ञप्तिसे
  १. क्लेश (=चित्तके मल)
    (१) क्लेशोंके स्वभाव
    (२) क्लेशोंके भेद
    (३) क्लेशोंके हेतु
    (४) क्लेशोंकी अवस्था
    (५) क्लेशोंके मुख
    (६) क्लेशोंकी अतिशयता
    (७) क्लेशोंके विपर्यास
    (८) क्लेशोंके पर्याय
    (९) क्लेशोंके आदीनव
  २. कर्म
  ३. जन्म
    (१) कर्मोंके भेद
    (२) कर्मोंकी प्रवृत्ति

§ ६. प्रतीत्यसमुत्पाद

भूमि ६

(समाहिता भूमि)

§ १. ध्यान
  १. नाम-गिनाई

(१) ध्यान
(२) विमोक्ष
(३) समाधि
(४) समापत्ति

२. व्यवस्थान

§ २. विमोक्ष

§ ३. समाधि

§ ४. समापत्ति

भूमि ७

(असमाहिता भूमि)

भूमि ८, ९

अचित्तका भूमि

भूमि १०

सचित्तका भूमि

(श्रुतमयी भूमि)

पांच विद्याएं-

§ १. अध्यात्मविद्या

१. वस्तुप्रज्ञप्ति
(१) सूत्र वस्तु
(२) विनय वस्तु
(३) मातृका वस्तु

२. संज्ञाभेद प्रज्ञप्ति
(१) पद
(२) भ्रान्ति
(३) प्रपंच
(४) स्थिति
(५) तत्त्व
(६) शुभ
(७) वग
(८) प्रशम
(९) प्रकृति
(१०) युक्ति
(११) संकेत
(१२) अभिसमय

३. बुद्ध-शासनके अर्थमें प्रज्ञप्ति

४. बुद्ध-वचनके ज्ञेयोंका अधिष्ठान

§ २. चिकित्सा विद्या

§ ३. हेतु (=वाद) विद्या

१. वाद
(१) वाद
(२) प्रतिवाद
(३) विवाद
(४) अपवाद
(५) अनुवाद
(६) अववाद

२. वादके अधिकरण

३. वादके अधिष्ठान (दस)
(१) दो प्रकारके साध्य
(२) आठ प्रकारके साधन
(क) प्रतिज्ञा
(ख) हेतु

(ग) उदाहरण
(घ) सारूप्य
(a) लिंगमें सादृश्य
(b) स्वभावमें सादृश्य
(c) कर्ममें सादृश्य
(d) धर्ममें सादृश्य
(e) हेतुफल (=कार्य-कारण) में सादृश्य
(ङ) वैरूप्य
(च) प्रत्यक्ष
(a) अ-परोक्ष
(b) अनभ्यूहित अनभ्यूह्य
(c) अ-भ्रान्त
(भ्रान्तियाँ—संज्ञा, संख्या, संस्थान, वर्ण, कर्म, चित्त दृष्टिसे संबंध रखनेवाली)
(प्रत्यक्षके भेद—इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, मन-प्रत्यक्ष, लोक-प्रत्यक्ष, शुद्ध (=योगि)-प्रत्यक्ष
(छ) अनुमान
(a) लिंगमें
(b) स्वभावमें
(c) कर्ममें
(d) धर्ममें
(e) हेतु-फल (=कार्य-कारण) से
(ज) आप्तागम (=शब्द)

४. वादके अलंकार
(१) अपने और पराये वादकी अभिज्ञता
(२) वाक्-कर्म सम्पन्नता (=भाषण-पटुता)
(क) अग्राम्य भाषण
(ख) लघु (=मित)-भाषण
(ग) ओजस्वी भाषण
(घ) पूर्वापरसंबद्ध भाषण
(ङ) अच्छे अर्थोंवाला भाषण
(३) विशारद होना
(४) स्थिरता
(५) दाक्षिण्य (=उदारता)

५. वादका निग्रह
(१) कथात्याग
(२) कथासाद
(३) कथादोष
(क) बुरा वचन
(ख) संरब्ध (=कुपित) वचन
(ग) अ-गमक वचन

भूमि ११

(चिन्तामयी भूमि)

भूमि १२

(भावनामयी भूमि)

२. सद्धर्मश्रवण-संपद्

(१) ठीक उपदेश करना

(२) ठीक सुनना

(३) निर्वाण-प्रमुखता

(४) चित्त-मुक्तिको परिपक्व बनानेवाली प्रज्ञाका परिपाक

(५) प्रतिपक्ष भावना

भूमि १३

(श्रावक भूमि)

भूमि १४

(प्रत्येकबुद्ध भूमि)

§ १. गोत्र

१. मन्द-रजवाला गोत्र

२. मन्द-करुणावाला गोत्र

३. मध्य-इन्द्रियवाला गोत्र

§ २. मार्ग

§ ३. समुदागम

१. गैंडेकी सींग जैसा अकेला विहरनेवाला

२. जमातके साथ विहरनेवाला

§ ४. चार

भूमि १५

(बोधिसत्त्व भूमि)

भूमि १६

(उपाधि-सहिता भूमि)

तीन प्रज्ञप्तियोंसे

१. भूमि-प्रज्ञप्ति

२. उपशम-प्रज्ञप्ति

३. उपधि-प्रज्ञप्ति

(१) प्रज्ञप्ति उपधि

(२) परिग्रह उपधि

(३) स्थिति प्रज्ञप्ति

(४) प्रवृत्ति प्रज्ञप्ति

(५) अन्तराय प्रज्ञप्ति

(६) दुःख प्रज्ञप्ति

(७) रति प्रज्ञप्ति

(८) अन्य प्रज्ञप्ति

भूमि १७

(उपधि-रहिता भूमि)

१. भूमि-प्रज्ञप्तिसे

२. निर्वृति-प्रज्ञप्तिसे

(१) व्युपशमा निर्वृति

(२) अव्याबाध-निर्वृति

३. निर्वृति-पर्यायविज्ञप्तिसे

"योगाचार भूमि" (संस्कृत) को महामहोपाध्याय विधुशेखर भट्टाचार्य सम्पादित कर रहे हैं।

३—दार्शनिक विचार

असंग क्षणिक विज्ञानवादी थे। यह विज्ञानवाद असंगके पहिले भी "लंकावतार सूत्र", "संधिनिर्मोचन सूत्र" जैसे महायान सूत्रोंमें मौजूद था। इन सूत्रोंको बुद्धवचन कहा जाता है, मगर अधिकांश महायान-सूत्रोंकी भाँति यह बुद्धके नामपर बने पीछेके सूत्र हैं, लंकावतार सूत्रका, बुद्धने दक्षिणमें लंका (=सीलोन) द्वीपके पर्वत (समन्तकूट?)पर उपदेश दिया था। वस्तुतः उसे दक्षिण न ले जा उत्तरमें गंधारकी पर्वतावलीमें ले जाना अधिक युक्तियुक्त है। बौद्धोंका विज्ञानवाद बुद्धके "सब्बं अनिच्चं" (=सब अनित्य है) या क्षणिकवादका अफ़लातूँके (स्थिर) विज्ञान-वादके साथ मिश्रण मात्र है, और यह मिश्रण उसी गंधारमें किया गया, जहाँ यूनानियोंकी कलाके मिश्रण द्वारा गंधार मूर्तिकलाने अवतार लिया। विज्ञानवाद विज्ञानको ही परमार्थतत्त्व मानता है, यह बतला आये हैं, और यह भी कि वह पाँच इन्द्रियोंके पाँच विज्ञानों तथा छठे मन-विज्ञानके अति-रिक्त एक सातवें **आलयविज्ञान**को मानता है। यही **आलयविज्ञान** वह तरंगित समुद्र है, जिससे तरंगोंकी भाँति विश्वकी सारी जड़-चेतन वस्तुएं प्रकट और विलीन होती रहती हैं।

यहाँ हम असंगके दार्शनिक विचारोंको उनकी योगाचार-भूमिके आधार पर देते हैं। स्मरण रहे "योगाचार-भूमि" कोई सुसंबद्ध दार्शनिक ग्रंथ नहीं है, वह बुद्धघोषके "विसुद्धिमग्ग" (=विशुद्धिमार्ग)की भाँति ज्यादा-तर बौद्ध सदाचार, योग तथा धर्मतत्त्वका विस्तृत विवेचन है। असंगने अपने इस तरुण समकालीनकी भाँति बुद्धकी किसी एक गाथाको आधार बनाकर अपने ग्रंथको नहीं लिखा है। "गाथार्थ-प्रविचय"में ज़रूर १७८ गाथाएं—हीनयान महायान दोनों पिटकोंकी—एकत्रित कर दी हैं। बुद्धघोषकी भाँति असंगने भी सूत्रोंकी भाषा-शैलीका इतना अधिक अनुकरण किया है, कि

---

[1] योगाचारभूमि (श्रुतमयीभूमि १७)

बाज वक्त भ्रम होने लगता है कि, हम अभिसंस्कृत संस्कृतके कालमें न हो पिटक-कालकी किसी पुस्तकको संस्कृत-शब्दान्तरके रूपमें पढ़ रहे हैं। बुद्धघोष अपने ग्रंथको पालीमें लिख रहे थे, जिसे वसुबंधु-कालिदास-कालीन संस्कृतकी भाँति संस्कृत बननेका अभी मौका नहीं मिला था, इसलिए बुद्धघोष पालिकी भाषा-शैलीका अनुकरण करनेके लिए मजबूर थे; मगर असंगको ऐसी कोई मजबूरी न थी; न वह अपनी कृतिको बुद्धके नामसे प्रकट करनेके लिए ही इच्छुक थे। फिर उन्होंने क्यों ऐसी शैलीको स्वीकार किया, जिसमें किसी बातको संक्षेपमें कहा ही नहीं जा सकता? संभव है, सूत्रोंकी शैलीसे परिचित अपने पाठकोंके लिए आसान करनेके ख्यालसे उन्होंने ऐसा किया हो।

हम यहाँ "योगाचार भूमि"का पूरा संक्षेप नहीं देना चाहते, इसलिए उसमें आये असंगके ज्ञेय (=प्रमेय), विज्ञानवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद हेतु (=वाद) विद्या, परवाद-खंडन और द्रव्य-परमाणु-संबंधी विचारोंको देने ही पर सन्तोष करते हैं।

(१) ज्ञेय (=प्रमेय) विषय

[1]ज्ञेय कहते हैं परीक्षणीय पदार्थको। ये चार प्रकारके होते हैं, सत् या भाव रूप, दूसरा असत् या अभाव रूप—अस्तित्व और नास्तित्व।

(क) सत्—यह पाँच प्रकारका होता है: (१) स्वलक्षण (=अपने स्वरूपमें) सत्; (२) सामान्यलक्षण (=जाति आदिके रूपमें) सत्; (३) संकेतलक्षण (=संकेत किये रूपमें) सत्, (४) हेतु लक्षण (=इष्ट-अनिष्ट आदिके हेतुके रूपमें) सत्; (५) फल लक्षण (=परिणामके रूपमें) सत्।

(ख) असत्—यह भी पाँच प्रकारका है। (१) अनुत्पन्न (=जो पदार्थ उत्पन्न नहीं हुआ, अतएव) असत्; (२) निरुद्ध (=जो उत्पन्न

---

[1] **'योगाचारभूमि' (चिन्तामयी भूमि ११)**

हो कर निरुद्ध या नष्ट हो गया, अतएव) असत्; (३) अन्योन्य (=गाय घोड़ा नहीं घोड़ा गाय नहीं, इस तरह एक दूसरेके रूपमें) असत्; (४) परमार्थ (=मूलमें जानेपर) असत्; और (५) (=बंध्या-पुत्र की भाँति) अत्यन्त असत् ।

(ग) अस्तित्व—यह भी पाँच प्रकारका होता है—(१) परिनिष्पन्नलक्षण—जो अस्तित्व कि परमार्थतः है (जैसे कि असंगके मतमें विज्ञान, भौतिकवादियोंके मतमें मूल भौतिकतत्त्व); (२) परतंत्रलक्षण अस्तित्व प्रतीत्यसमुत्पाद ("अमुकके होनेके बाद अमुक अस्तित्वमें आता है") अस्तित्वको कहते हैं; (३) परिकल्पितलक्षण अस्तित्व है, संकेत (Convention) वश जिसको माना जाये; (४) विशेषलक्षण है काल, जन्म, मृत्यु आदिके संबंधमें माना जानेवाला अस्तित्व; और (५) अवक्तव्यलक्षण अस्तित्व वह है, जिसे "हाँ" या "नहीं" में दो टूक नहीं कहा जा सके (जैसे बौद्ध दर्शनमें पुद्गल=चेतनाको स्कन्धोंसे न अलग कहा जा सकता, न एक ही कहा जा सकता) ।

(घ) नास्तित्व—यह पाँच प्रकारका होता है—(१) परमार्थरूपेण नास्तित्व; (२) स्वतंत्ररूपेण नास्तित्व; (३) सर्वसर्वाकारसे नास्तित्व; (४) अविशेष रूपसे नास्तित्व और (५) अवक्तव्य रूपसे नास्तित्व ।

परमार्थतः सत्, असत्, अस्तित्व या नास्तित्वको बतलानेके लिए असंगने **परमार्थ-गाथाके** नामसे महायान-सूत्रोंकी कितनी ही गाथाएँ उद्धृत की है । इनमें (१) वस्तुओंके अपने भीतर किसी प्रकारके स्थिर तत्त्वकी सत्ताको इन्कार करते हुए, उन्हें **शून्य** (=सार-शून्य) कहा गया है, बाह्य और मानस तत्त्वोंको सार-शून्य कहते हुए उन्हें क्षणिक (=क्षण क्षण विनाशी) बतलाया गया है; और यह भी कि (३) कोई (ईश्वर आदि) जनक और नाशक नहीं है, बल्कि जगतीके सारे पदार्थ स्वरस (=स्वभावतः) भंगुर हैं । रूप (=Matter), वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धोंमें स्थिरताका भास सिर्फ भ्रममात्र है, वस्तुतः वे फेन, बुलबुले, मृगमरीचिका, कदली-गर्भ तथा मायाकी भाँति निस्सार

हैं।[1]—

"आध्यात्मिक (=मानसजगत) शून्य है, बाह्य भी शून्य है।

ऐसा कोई (आत्मा) भी नहीं है, जो शून्यताको अनुभव करता ॥३॥

अपना (कोई) आत्मा ही नहीं है, (यह आत्माकी कल्पना) उलटी कल्पना है। यहाँ कोई सत्त्व या आत्मा नहीं है, ये (सारे) धर्म (=पदार्थ) अपने ही अपने कारण हैं ॥४॥

सारे संस्कार (=उत्पन्न पदार्थ) क्षणिक हैं।....॥५॥....

उसे कोई दूसरा नहीं जन्माता और न वह स्वयं उत्पन्न होता है। प्रत्ययके होनेपर पदार्थ (=भाव) पुराने नहीं बिल्कुल नये-नये जनमते हैं ॥८॥ न दूसरा इसे नाश करता है, और न स्वयं नष्ट होता है। प्रत्यय (=पूर्वकारण)के होनेपर (ये पदार्थ) उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न हो स्वरस ही क्षणभंगुर हैं ॥६॥... **रूप** (=भौतिकतत्त्व) फेनके पिंड समान है, **वेदना** (स्कन्ध) बुद्बुद जैसी ॥१७॥ **संज्ञा** (मृग)-मरीचिका सदृशी है, **संस्कार** कदली जैसे, और **विज्ञान**को माया-समान सूर्यवंशज (=बुद्ध)ने बतलाया है ॥१८॥"

(२) विज्ञानवाद

(क) आलयविज्ञान—बाह्य-आभ्यन्तर, जड़-चेतन—जो कुछ जगत् है, सब विज्ञानका परिणाम है। विज्ञान-समष्टिको **आलयविज्ञान**, कहते हैं, इसीमें वीचि-तरंगकी भाँति जगत् तथा उसकी सारी वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं। इस विश्व-विज्ञान[2] या आलय-विज्ञानसे जैसे जड़-जगत उत्पन्न हुआ, उसी तरह, वैयक्तिक-विज्ञान (=प्रवृत्ति विज्ञान)—पाँचों इन्द्रियोंके विज्ञान और छठाँ मन पैदा हुआ।

(ख) पाँच इन्द्रिय-विज्ञान—इन्द्रियोंके आश्रयसे जो विज्ञान (=चेतना) पैदा होता है, वह इन्द्रिय-विज्ञान है। अपने आश्रयों चक्षु

---

[1] योगाचार-भूमि, (चिन्तामयी भूमि ११) [2] देखो, रोइव, पृष्ठ २४०

(=आँख) आदि पाँचों इंद्रियोंके अनुसार, इन्द्रिय-विज्ञान भी पाँच प्रकारके होते हैं।—

(a) चक्षु-विज्ञान[1] (i) स्वभाव—चक्षु (=आँख)के आश्रय (=सहारे)से जो विज्ञान प्राप्त होता है, वह चक्षु-विज्ञान है। यह है चक्षु-विज्ञानका **स्वभाव** (=स्वरूप)।

(ii) **आश्रय**—चक्षु-विज्ञानके आश्रय तीन हैं : चक्षु, जो कि साथ साथ अस्तित्वमें आता तथा विलीन होता है, अतएव **सहभू** आश्रय है; मन जो इस विज्ञान (की सन्तति)का बादमें आश्रय होता है, अतएव **समनन्तर** आश्रय है; रूप-इन्द्रिय, मन तथा सारे जगत्का बीज जिसमें मौजूद रहता है, वह **सर्वबीजक** आश्रय है **आलय-विज्ञान**। इन तीनों आश्रयोंमें चक्षु रूप (=भौतिक) होनेसे रूपी आश्रय है, और बाकी अरूपी।

(iii) **आलंबन** या विषय है—वर्ण (=रंग), **संस्थान** (=आकृति) और **विज्ञप्ति** (=क्रिया)। (a) **वर्ण** है—नील, पीत, लाल, सफेद छाया, धूप, प्रकाश, अन्धकार, मंद्र, धूम, रज, महिका और नभ। (b) संस्थान है—लम्बा, छोटा, वृत्त, परिमंडल, अणु, स्थूल, सात, विसात, उन्नत और अवनत। (c) **विज्ञप्ति** है—लेना, फेंकना सिकोड़ना, फैलाना, ठहरना, बैठना, लेटना, दौड़ना इत्यादि।

(iv) **सहाय**—चक्षु-विज्ञानके साथ पैदा होनेवाले एक ही आलंबन-के चैतसिक धर्म हैं।

(v) **कर्म**—छै हैं : (१) स्वविषय-अवलंबी, (२) स्वलक्षण, (३) वर्तमान काल; (४) एक क्षण; (५) शुद्ध (=कुशल) अशुद्ध मनके विज्ञान कर्मके उत्थान, इन दो आकारोंमें अनुवृत्ति; (६) इष्ट या अनिष्ट फलका ग्रहण।

(b-e) **श्रोत्र आदि विज्ञान**—इसी तरह श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और काया (=त्वग्) इन्द्रियोंके इन्द्रिय-विज्ञान हैं।

---

[1] योगाचार-भूमि (१)

(ग) मन-विज्ञान—यह छठा-विज्ञान है। इसके स्वभाव आदि हैं—

(a) **स्वभाव**—चित्त, मन और विज्ञान इसके स्वरूप (=स्वभाव) हैं। सारे बीजों (=मूल कारणों) वाला आश्रय स्वरूप **आलय-विज्ञान** चित्त है, (२) मन सदा अविद्या "मैं आत्मा हूँ" इस दृष्टि, अस्मिमान और तृष्णा (=आत्मस्नेहरूपी तृष्णा) इन चार क्लेशों (=चित्तमलों) से युक्त रहता है। (३) विज्ञान जो आलंबन (=विषय) क्रियामें उपस्थित होता है।

(b) **आश्रय**—मन समनन्तर-आश्रय है, अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियों-के विज्ञानोंकी उत्पत्ति हो जानेके अनन्तर वही इन विज्ञानोंका आश्रय होता है; बीज-आश्रय तो वही सारे बीजोंका रखनेवाला **आलय-विज्ञान** है।

(c) **आलम्बन**—मनका आलम्बन (=विषय) पाँचों इन्द्रियोंके पाँचों विज्ञान—जिन्हें धर्म भी कहा जाता है—है।

(d) **सहाय**—मनके सहाय (=साथी) बहुत हैं, जिनमेंसे कुछ हैं—मनस्कार, स्पर्श[1], वेदना, संज्ञा, चेतना, स्मृति, प्रज्ञा, श्रद्धा, लज्जा, निर्लज्जता, अलोभ, अद्वेष, अमोह, पराक्रम, उपेक्षा, अहिंसा, राग, सन्देह, क्रोध, ईर्ष्या, शठता, हिंसा आदि चैतसिक धर्म।

(e) **कर्म**—पहिला है अपने अपने विषयों सम्बन्धी क्रिया, जो कि क्रमशः छः आकारोंमें प्रकट होती है—(१) मनकी प्रथम क्रिया है, विषयके सामान्य स्वरूपकी विज्ञप्ति, (२) फिर उसके नाना कारणोंकी विज्ञप्ति; (३) फिर अंगोंके कर्मकी विज्ञप्ति, (४) फिर प्रवृत्ति या अनुवृत्ति शुद्ध-अशुद्ध धर्म-कर्मोंकी विज्ञप्ति, (५) फिर इष्ट-अनिष्ट फलका ग्रहण; (६) इससे विज्ञान-समुदायोंका उत्थापन। दूसरी तरहसे [illegible] मनके विशेष (=वैकल्पिक) कर्म होते हैं—(१) विषयकी विकल्पना; (२) विषयका उपनिध्यान (=चिन्तन); (३) मदमें होना; (४)

[1] Contact.

उन्मादमें होना; (५) निद्रामें जाना; (६) जागना; (७) मूर्च्छा खाना; (८) मूर्च्छासे उठना; (९) कायिक-वाचिक कर्मोंका करना; (१०) वैराग्य करना; (११) वैराग्य छोड़ना; (१२) भलाईकी जड़ोंको काटना; (१३) भलाईकी जड़ोंको जोड़ना; (१४) शरीर छोड़ना (=च्युति) और (१५) शरीरमें आना (=उत्पत्ति)।

इन कर्मोंमेंसे कुछके होनेके बारेमें असंग कहते हैं'—

पुराने कर्मोंसे अथवा शरीरधातुकी विषमता, भय, मर्म-स्थानमें चोट, और भूत-प्रेतके आवेशसे उन्माद (=पागलपन) होता है।

शरीरकी दुर्बलता, परिश्रमकी थकावट, भोजनके भारीपन आदि कारणोंसे निद्रा होती है।

वात-पित्तके बिगाड़, औषध खाना और खूनके निकलनेसे मूर्च्छा होती है।

(मनकी च्युति तथा उत्पत्ति)

बौद्ध-दर्शन क्षण-क्षण परिवर्तनशील मनसे परे किसी भी नित्य जीवात्माको नहीं मानता। मरनेका मतलब है, एक शरीर-प्रवाह (= शरीर भी क्षण-क्षण परिवर्तनशील होनेसे वस्तु नहीं बल्कि प्रवाह है)से एक मन-प्रवाह (=मन-सन्तति)का च्युत होना। उसी तरह उत्पत्तिका मतलब है, एक मन-प्रवाहका दूसरे शरीर-प्रवाहमें उत्पन्न होना।

(a) **च्युति (=मृत्यु)**—मृत्यु तीन कारणोंसे होती है—आयुका खतम हो जाना, पुण्यका खतम हो जाना और शरीरकी विषम क्रिया यानी भोजनमें न मात्राका ख्याल, न पथ्यका ख्याल, दवा सेवन न करना, अकालचारी अब्रह्मचारी होना।

मृत्युके वक्त पापियोंके शरीरका हृदयसे ऊपरी भाग पहिले ठंडा पड़ता है और पुण्यात्माओंका निचला भाग, फिर सारा शरीर।

' योगाचार-भूमि (मन-भूमि १)

(अन्तराभव)—एक शरीरके छोड़ने, दूसरे शरीरमें उत्पन्न होने तक जो बीचकी अवस्थामें मन (=जीव) रहता है, इसीको **अन्तराभव**, गन्धर्व, मनोमय कहते हैं। अन्तराभवको जैसे शरीरमें उत्पन्न होना होता है, वैसी ही उसकी आकृति होती है। वह अपने रास्तेमें सप्ताह भर तक लगा सकता है।

(b) **उत्पत्ति (=जन्म)**—मरणकालमें मन अपने भले बुरे कर्मों-का साकार देखता और वैसा ही **अन्तराभवीय** रूप धारण करता है। मनके किसी शरीरमें उत्पन्न होनेके लिए तीन बातोंकी जरूरत है—माता ऋतुमती हो, पिताका बीज मौजूद हो और गंधर्व (=अन्तराभव) उपस्थित हो, साथ ही योनि, बीज और कर्मके दोष बाधक न हों।

(गर्भमें लिंगभेद)—अन्तराभव माता-पिताकी मैथुन क्रियाको देखता है, उस समय यदि स्त्री बननेवाला होता है, तो उसकी पुरुषमें आसक्ति हो जाती है, और यदि पुरुष बननेवाला होता है, तो स्त्रीमें।

(i) **गर्भाधान**—मैथुनके पश्चात् घना बीज छूटता है, और रक्तका विन्दु भी। बीज और शोणित विन्दु दोनों माँकी योनि ही में मिश्रित हो, एक पिंड बनकर उबलकर ठंडे हो गए दूधकी भाँति स्थिर होते हैं, इसी पिंडमें सारे बीजोंको अपने भीतर रखनेवाला **आलय-विज्ञान** समा जाता है, अन्तराभव उसमें आकर जुड़ जाता है। इस गर्भकी कलल-अवस्था कहते हैं। कललके जिस स्थानमें विज्ञान जुड़ता है, वही उसका हृदय स्थान होता है। (१) कललसे आगे बढ़ते हुए गर्भ और सात अवस्थाएँ धारण करता है—(२) अर्बुद, (३) पेशी, (४) घन, (५) प्रशाख, (६) केश-रोम-नखवाली अवस्था, (७) इन्द्रिय-अवस्था, और (८) व्यंजन (=लिंगभेद)-अवस्था। इनमें अर्बुद-अवस्थामें गर्भ दही जैसा होता है, वही मांसावस्था तक न-पहुँचा अर्बुद होता है। पेशी शिथिल मांससी होती है। कुछ और घना हो जानेपर घन शाखाकी भाँति हाथ-पैर आदिका फटना प्रशाख होता है।

(ii) **रंग आदि**—बुरे कर्मोंके कारण अथवा माताके अधिक

क्षार-लवण-रसवाले अन्न-पानके सेवनसे बालकके केशोंमें नाना रंग होते हैं। बालकके केश काले-गोरे होनेमें पूर्व जन्मके अतिरिक्त निम्न कारण हैं—यदि माँ बहुत गर्मी, तथा धूप आदिका सेवन करती है, तो बच्चा काला होगा। यदि माँ बहुत ठंडे कमरेमें रहती है, तो लड़का गोरा। बहुत गर्म खाना खानेपर लड़का लाल होगा। चमड़ेमें दाद, कुष्ट आदि विकार माताके अत्यन्त मैथुन-सेवनसे होता है। माताके बहुत दौड़ने-कूदने, तैरनेसे बच्चेके अंग विकृत होते हैं।

कन्या होनेपर गर्भ माताकी कोखमें बाईं ओर होता है, और पुत्र होनेपर दाहिनी ओर। प्रसवके वक्त माताके उदरमें अगह्य कष्ट देनेवाली हवा पैदा होती है, जो गर्भके शिरको नीचे और पैरको ऊपर कर देती है।

(३) अनित्यवाद और प्रतीत्यसमुत्पाद

"इसे कोई दूसरा नहीं जनमाता और न वह स्वयं उत्पन्न होता है प्रत्ययके होनेपर भाव (=वस्तुएँ) पुराने नहीं बिल्कुल नये-नये जनमते हैं। . . . प्रत्ययके होनेपर भाव उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न हो स्वरस (=स्वतः) ही क्षणभंगुर हैं।"[1]

महायानसूत्रकी इन गाथाओं द्वारा असंगने बौद्ध-दर्शनके मूल सिद्धान्त अनित्यवाद या क्षणिकवादको बतलाया है। "क्षणिकके अर्थको लेकर **प्रतीत्य-समुत्पाद**"[2] कहते हुए उन्होंने क्षणिकवाद शब्दसे प्रतीत्य-समुत्पादको स्वीकार किया है।

प्रतीत्यसमुत्पाद—प्रतीत्य-समुत्पादका अर्थ करते हुए असंग कहते हैं[3]—प्रतिगमन करके (=खतम करके एक चीजका दूसरीकी उत्पत्ति प्रतीत्य-समुत्पाद है।) प्रत्यय अर्थात् गतिशील अत्यय (=विनाश)के साथ उत्पत्ति प्रतीत्य-समुत्पाद है, जो क्षणिकके अर्थको लेकर होता है

---

[1] देखो पृष्ठ १६ [2] यो० भू० (भूमि ३,४,५) "प्रत्ययत इत्वरात्ययसंगत उत्पाद: प्रतीत्य-समुत्पाद: क्षणिकार्थमधिकृत्य।" [3] वहीं।

अथवा प्रत्यय अर्थात् अतीत (=खतम हुई चीज)से अपने प्रवाहमें उत्पाद। 'इसके होनेके बाद यह होता है', 'इसके उत्पादसे यह उत्पन्न होता है, दूसरी जगह नहीं', पहिलीके नष्ट-विनष्ट होनेपर उत्पाद इस अर्थमें। अथवा अतीत कालमें प्रत्यय (=खतम) हो जानेपर साथ ही उसी प्रवाहमें उत्पत्ति प्रतीत्य-समुत्पाद है।

और भी[1]—

"प्रतीत्य-समुत्पाद क्या है? निःसत्व (=अन्-आत्मा)के अर्थमें ....। निःसत्त्व होनेसे अनित्य है इस अर्थमें। अनित्य होनेपर गति-शीलके अर्थमें। गतिशील होनेपर परतंत्रताके अर्थमें। परतंत्र होनेपर निरीहके अर्थमें। निरीह होनेपर कार्य-कारण (=हेतु-फल) व्यवस्थाके खंडित हो जानेके अर्थमें। (कार्य-कारण-)व्यवस्थाके खंडित होनेपर अनुकूल कार्य-कारणकी प्रवृत्तिके अर्थमें। अनुकूल कार्य-कारणकी प्रवृत्ति होनेपर कर्मके स्वभावके अर्थमें।

अनित्य, दुःख, शून्य और नैरात्म्य (=नित्य आत्माकी सत्ताको अस्वीकार करना)के अर्थमें होनेसे भगवान् (बुद्ध)ने प्रतीत्य-समुत्पादके बारेमें कहा[2] "प्रतीत्य-समुत्पाद गम्भीर है।"

"(वस्तुएँ) प्रतिक्षण नये-नये रूपमें जीवन-यात्रा (=प्रवृत्ति) करती हैं। प्रतीत्य-समुत्पाद क्षणभंगुर है।[3]

(४) हेतु विद्या

असंगने विद्या (=ज्ञान)को पाँच प्रकारकी माना है[4]—(१) अध्यात्मविद्या जिसमें बुद्धोक्त **सूत्र, विनय** और **मातृका** (=अभि-धर्म) अर्थात् त्रिपिटक तथा उसमें वर्णित विषय सम्मिलित हैं; (२) चिकित्सा-

---

[1] वहीं कुछ पहिले। [2] संयुत्तनिकाय २।६२; दीघनिकाय २।५५

[3] "प्रतिक्षणं च नव लक्षणानि प्रवर्त्तन्ते। क्षणभंगुरश्च प्रतीत्य-समुत्पादः"।

[4] यो० भू० (श्रुतमयी भूमि १०)

विद्या या वैद्यकशास्त्र; (३) हेतुविद्या या तर्कशास्त्र; (४) शब्दविद्या जिससे धर्म, अर्थ, पुद्गल (=जीव), काल, संख्या और सखिलाधिकरण (=व्याकरणशास्त्र) का ज्ञान होता है, और शिल्पकर्मस्थानविद्या (=शिल्पशास्त्र)।

हेतुविद्याको कुछ विस्तारपूर्वक समझाते हुए असंग उसे छ भागोंमें बाँटते हैं—(१) वाद, (२) वाद-अधिकरण, (३) वाद-अधिष्ठान, (४) वाद-अलंकार, (५) वाद-निग्रह और (६) वादेबहुकर (=वाद-उपयोगी) बातें।

(क) वाद—वाद बहस या संलाप छ प्रकारके होते हैं।

(a) **वाद**—जो कुछ मुहसे बोला जाये, वह वाद है।

(b) **प्रवाद**—लोकश्रुति या जनश्रुति प्रवाद है।

(c) **विवाद**—भोगोंके रखने-छीननेके सम्बन्धमें अथवा दृष्टि (=दर्शन) या विचारके संबंधमें परस्पर विरोधी वाद (=वाग्युद्ध) विवाद है।[1]

(d) **अपवाद**—निन्दा।

(e) **अनुवाद**—धर्मके बारेमें उठे सन्देहोंके दूर करनेके लिए जो बोल की जाये।

(f) **अववाद**—तत्त्वज्ञान करानेके लिए किया गया वाद।

इनमें विवाद और अपवाद त्याज्य है, और अनुवाद तथा अववाद सेवनीय।

(ख) वाद-अधिकरण—वादके उपयुक्त अधिकरण या स्थान दो

---

[1] "कामेषु तद्यथा नट-नर्त्तक-लासक-हासकाद्युपसंहितेषु वा वेश्या-जनोपसंहितेषु वा पुनः संदर्शनाय वा उपभोगाय वा. . . .विगृहीतानां . . . .नानावादः। . . . .दृष्टेर्वा पुनः आरभ्य तद्यथा सत्कायदृष्टि, उच्छेददृष्टि, विषमहेतुदृष्टि, शाश्वतदृष्टि, वार्षगण्यदृष्टि, मिथ्यादृष्टि-मिति वा. . . .नानावादः।"

हैं, राजा या योग्यकुलकी परिषद् और धर्म-अर्थमें निपुण ब्राह्मणों या श्रमणोंकी सभा।

(ग) वाद-अधिष्ठान—वादके अधिष्ठान (=मुख्य विषय) हैं दो प्रकारके साध्य और साध्यको सिद्ध करनेके लिए उपयुक्त होनेवाले आठ प्रकारके साधन। इसमें **साध्यके** सत्-असत्के स्वभाव (=स्वरूप), तथा नित्य-अनित्य, भौतिक-अभौतिक आदि विशेषको लेकर साध्यके स्वभाव और विशेष ये दो भेद होते हैं।

(आठ साधन)—साध्य वस्तुके सिद्ध करनेवाले साधन निम्न आठ प्रकारके हैं—

(a) **प्रतिज्ञा**—स्वभाव या विशेषवाले दोनों प्रकारके साध्योंको लेकर (वादी-प्रतिवादीका) जो अपने पक्षका परिग्रह (=ग्रहण) है। वही प्रतिज्ञा है। यह पक्ष-परिग्रह शास्त्र(-मत)की स्वीकृतिसे हो सकता है या अपनी प्रतिभासे, या दूसरेके तिरस्कारसे या दूसरेके शास्त्रीय मत (=अनुश्रव)से, या तत्त्व-साक्षात्कारसे, या अपने पक्षकी स्थापनासे, या पर-पक्षके दूषणसे, या दूसरेके पराजयसे, या दूसरेपर अनुकंपासे भी हो सकता है।

(b) **हेतु**—उसी प्रतिज्ञावाली बातकी सिद्धिके लिए सारूप्य (=सादृश्य) या वैरूप्य उदाहरणकी सहायतासे, अथवा प्रत्यक्ष, अनुमान या आप्त-आगम (=शब्दप्रमाण, ग्रंथ-प्रमाण)से पुष्टिका कहना हेतु है।

(c) **उदाहरण**—उसी प्रतिज्ञावाली बातकी सिद्धिके लिए लोकपर आश्रित दुनियामें उचित प्रसिद्ध वस्तुको लेकर बात करना उदाहरण है।

(d) **सारूप्य**—किसी चीजका किसीके साथ सादृश्य सारूप्य कहा जाता है। यह पाँच प्रकारका होता है।—(१) वर्तमान या परोक्ष देखे हेतुसे चिह्नको लेकर एक दूसरेका सादृश्य **लिंग-सादृश्य** है; (२) परस्पर स्वरूप (=लक्षण) सादृश्य **स्वभाव-सादृश्य** कहा जाता है; (३) परस्पर क्रिया-सादृश्यको **कर्म-सादृश्य** कहते हैं; (४) धर्मता (=गुण)

सादृश्य **धर्म-सादृश्य** कहा जाता है, जैसे अनित्यमें दुःख-धर्मताका सादृश्य दुःखमें नैरात्म्यधर्मताका, निरात्मकोंमें जन्म-धर्मताका इत्यादि; (५) **हेतुफल-सादृश्य,** परस्पर कार्य-कारण बननेका सादृश्य है।

(e) **वैरूप्य**—किसी वस्तुका किसी वस्तुके साथ अ-सदृश होना वैरूप्य है। यह भी लिंग–, स्वभाव–, कर्म–, धर्म–, और हेतुफल–वैसादृश्योंके तौरपर पाँच प्रकारका होता है।

(f) **प्रत्यक्ष**—प्रत्यक्ष उसे कहते हैं, जो कि अ-परोक्ष (=इन्द्रियसे परेका नहीं) अनभ्यूहित-अनभ्यूह्य और अ-भ्रान्त है।[1] यहाँ जो कल्पना नहीं, सिर्फ (इन्द्रियके) ग्रहण मात्रसे सिद्ध है, और जो वस्तु (=विषय) पर आधारित है,[2] उसे अनभ्यूहित-अनभ्यूह्य कहते हैं। अभ्रान्त उसे कहते हैं जो कि पाँच भ्रान्तियोंसे मुक्त है। यह पाँच भ्रान्तियाँ हैं—

(i) **संज्ञा भ्रान्ति**—जैसे मृगतृष्णावाली (मरु)-मरीचिकामें पानीकी संज्ञा (=ज्ञान)।

(ii) **संख्या-भ्रान्ति**—जैसे धुन्धवालेको एक चन्द्रमें दो चन्द्रको देखना।

(iii) **संस्थान-भ्रान्ति**—जैसे बनेठी (=अलात) में (प्रकाश-) चक्रकी भ्रान्ति संस्थान (=आकार)-संबंधी भ्रान्ति है।

(iv) **वर्ण-भ्रान्ति**—जैसे कामला रोगवाले आदमीको न-पीली चीजें भी पीली दिखलाई पड़ती हैं।

(v) **कर्म-भ्रान्ति**—जैसे कहीं मुट्ठी बाँधकर दौड़नेवालेको वृक्ष पीछे चलते जाते दीख पड़ते हैं।

---

[1] "प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तं"—धर्मकीर्त्ति, पृ० ७६५ (असंगानुज वसुबन्धुके शिष्य दिग्नागका भी यही मत)।

[2] "यो ग्रहणमात्रप्रसिद्धोपलब्ध्याश्रयो विषयः यश्च विषयप्रतिष्ठोपलब्ध्याश्रयो विषयः।" यो० भू०

चित्त-भ्रान्ति—उक्त पाँचों भ्रान्तियोंसे भ्रमपूर्ण विषयमें चित्तकी रति चित्त-भ्रान्ति है।

दृष्टि-भ्रान्ति—उक्त पाँचों भ्रान्तियोंसे भ्रमपूर्ण विषयमें जो रुचि, स्थिति, मंगल मानना, आसक्ति है, उसे दृष्टिभ्रान्ति कहते हैं।

प्रत्यक्ष चार प्रकारका होता है—रूपी (=भौतिक), इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, मन-अनुभव-प्रत्यक्ष, लोक-प्रत्यक्ष और शुद्ध-प्रत्यक्ष।[1] इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और मन-अनुभव प्रत्यक्षका ही नाम लोक-प्रत्यक्ष है, यह असंग खुद मानते हैं।[2] इस प्रकार प्रत्यक्ष तीन ही हैं, जिन्हें धर्मकीर्ति (दिग्नाग, और शायद उनके गुरु वसुबन्धु भी) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, मानस-प्रत्यक्ष और योगि-प्रत्यक्ष कहते हैं। हाँ वह लोक-प्रत्यक्षकी जगह स्वसंवेदन-प्रत्यक्षसे चारकी संख्या पूरी कर देते हैं, इस तरह प्रत्यक्षके अपरोक्ष, कल्पना-रहित (=कल्पनापोढ) अभ्रान्त इस प्रत्यक्ष-लक्षण और इन्द्रिय-, मानस-, योगि-प्रत्यक्ष इन तीन भेदोंकी परम्पराको हम बौद्धन्यायके सबसे पीछेके ग्रंथकारों ज्ञानश्री आदिसे लेकर असंग तक पाते हैं। असंगसे पौन शताब्दी पहिले नागार्जुनसे और नागार्जुनसे शताब्दी पहिले अश्वघोष तक इसे जोड़नेका हमारे पास साधन नहीं है।

(४) **अनुमान**—ऊहा (=तर्क)से अभ्यूहित (=तर्कित) और तर्कणीय जिसका विषय है वह अनुमान है। इसके पाँच भेद होते हैं—(१) **लिंग**से किया गया अनुमान, जैसे ध्वजसे रथका अनुमान, धूमसे अग्नि, राजासे राष्ट्र, पतिसे स्त्री, ककुद (=डहुला)-सींगसे बैलका अनुमान; (२) **स्वभाव**-से अनुमान यह एक देश (=अंश)से सारेका अनुमान है, जैसे एक चावलके पकनेसे सारी हाँडीके पकनेका अनुमान; (३) **कर्म**से अनुमान, जैसे हिलने, अंग-चालनसे पुरुषका अनुमान, पैरकी चालसे हाथी, शरीरकी गतिसे साँप, हिनहिनानेसे घोड़े, डेंकड़नेसे साँड़का अनुमान; देखनेसे आँख, सुननेसे

---

[1] शुद्ध-प्रत्यक्ष योगि-प्रत्यक्ष ही है "यो लोकोत्तरस्य ज्ञानस्य विषयः।"

[2] "तदुभयमेकध्यमभिसंक्षिप्य लोक-प्रत्यक्षमित्युच्यते।" यो० भू०

कान, सूँघनेसे घ्राण, चखनेसे जिह्वा, छूनेसे त्वक्, जाननेसे मनका अनुमान; पानीमें देखनेकी रुकावटसे पृथिवी, चिकने हरे होनेसे जल, दाह-भस्म देखनेसे आग, वनस्पतिके हिलनेसे हवा। (४) **धर्म** (=गुण)से अनुमान, जैसा अनित्य होनेसे दुःख होनेका अनुमान, दुःख होनेसे शून्य और अनात्मक होनेका अनुमान। (५) **कार्य-कारण** (=हेतु-फल)से अनुमान, अर्थात् कार्यसे कारणका अनुमान तथा कारणसे कार्यका अनुमान, जैसे राजाकी सेवासे महाऐश्वर्य (=महाभिसार)के लाभका अनुमान, महाऐश्वर्यके लाभसे राज-सेवाका अनुमान; बहुत भोजनसे तृप्ति, तृप्तिसे बहुत भोजन; विषम भोजनसे व्याधि, व्याधिसे विषम भोजनका अनुमान।

धर्मकीर्तिने तादात्म्य और तदुत्पत्तिसे अनुमानके जिन भेदोंको बतलाया है, वे असंगके इन भेदोंमें भी मौजूद हैं।

(h) **आप्तागम**—यही शब्द प्रमाण है।

(घ) वाद-अलंकार—वादमें भूषण रूप हैं वक्ताकी निम्न पाँच योग्यताएँ—(१) **स्व-पर-समयज्ञता**—अपने और पराये मतोंकी अभिज्ञता। (२) **वाक्कर्म-संपन्नता**—बोलनेमें निपुणता जोकि अग्राम्य, लघु (=सुबोध), ओजस्वी, सम्बद्ध (=परस्पर अविरोधी और अशिथिल) और सु-अर्थ शब्दोंके प्रयोगको कहते हैं। (३) **वैशारद्य**—सभामें अदीनता, निर्भीकता, पसीना न होने, गद्गद स्वर न होने, अदीन वचन होनेको कहते हैं। (४) **स्थैर्य**—साँस लेकर जल्दी किये बिना बोलना। (५) **दाक्षिण्य**—मित्रकी भाँति पर-चित्तके अनुकूल बात करनेका ढंग।

(ङ) वाद-निग्रह—वादमें पकड़ा जाना, जिसमें कि वादी पराजित हो जाता है। ये तीन हैं—कथा-त्याग, कथा-साद (=इधर-उधरकी बातें करने लगना) और कथा-दोष। बेठीक बोलना, अ-परिमित बोलना, अनर्थवाली बात बोलना, बेसमय बोलना, अ-स्थिर, अ-दीप्त और अ-संबद्ध बोलना ये कथा-दोष हैं।

(च) वाद-निःसरण—गुण-दोष, कौशल्य (=निपुणता) और सभाकी परीक्षा करके वादका न करना वाद-निःसरण है।

(छ) वादेबहुकर बातें—ये हैं वादकी उपयोगी बातें स्व-पर-मत-अभिज्ञता, वैशारद्य और प्रतिभान्विता।

(५) परमत-खंडन

असंगने "योगाचार-भूमिमें सोलह पर-वादों (=दूसरोंके मतों)को देकर उनका खंडन किया है। ये पर-वाद हैं—

(क) हेतु-फल-सद्वाद—हेतु (=कारण)में फल (=कार्य) सदा मौजूद रहता है, जैसा कि **वार्षगण्य** (सांख्य) मानते हैं। वे अपने इस सद्वाद (पीछे यही सत्कार्यवाद)को आगम (=ग्रंथ)पर आधारित तथा युक्ति-सम्मत मानते हैं। वे कहते हैं, जो फल (=कार्य) जिससे उत्पन्न होता वह उसका हेतु (=कारण) होता है; इसीलिए आदमी जिस फलको चाहता है, वह उसीके हेतुका उपयोग करता है, दूसरेका नहीं। यदि ऐसा न होता तो जिस किसी वस्तु (तेलके लिए तिल नहीं रेत आदि किसी भी चीज)का भी उपयोग करता।

खंडन—मगर उनका यह वाद गलत है। आप हेतु (=कारण) को फल(=कार्य)-स्वरूप मानते हैं या भिन्न स्वरूप? यदि हेतु फल-स्वरूप ही है, अर्थात् दोनों अभिन्न हैं, तो हेतु और फल, हेतुमें फल यह कहना गलत है। यदि भिन्न स्वरूप है, तो सवाल होगा—वह भिन्न स्वरूप उत्पन्न हुआ है या अनुत्पन्न? उत्पन्न माननेपर, 'हेतुमें फल है' कहना ठीक नहीं। यदि उत्पन्न मानते है, तो जो अनुत्पन्न है, वह हेतुमें "है" कैसे कहा जायेगा? इसलिए हेतुमें फलका सद्भाव नहीं होता, हेतुके होनेपर फल उत्पन्न होता है। अतएव "नित्य काल सनातनसे हेतुमें फल विद्यमान है" यह कहना ठीक नहीं है। यह वाद अयोग-विहित (=युक्ति-रहित) है।

(ख) अभिव्यक्तिवाद—अभिव्यक्ति या अभिव्यंजनावादके अनुसार पदार्थ उत्पन्न नहीं होते, बल्कि अभिव्यक्त (=प्रकाशित) होते हैं। हेतु-फल-सद्वादके माननेवाले सांख्यों और शब्द-लक्षणवादी वैयाकरणोंका

यही मत है। हेतु-फल-सद्वादके अनुसार फल(=कार्य)यदि पहिलेहीसे मौजूद है, तो प्रयत्न करनेकी क्या जरूरत ? अभिव्यक्तिके लिए प्रयत्न करना पड़ता है।

खंडन—क्या आप अनभिव्यक्तिमें आवरण करनेवाले कारणके होने-को मानते हैं या न होनेको ? "आवरण-कारणके न होनेपर" यह कह नहीं सकते। "होनेपर" भी नहीं कह सकते, क्योंकि जब वह हेतुको नहीं ढाँक सकता, जो कि सदा फल-संयुक्त है, तो फलको कैसे ढाँक सकता है ? हेतु-फल-सद्वाद वस्तुतः गलत है, वस्तुओंके अभिव्यक्त न होनेके छ कारण हैं[1]—(१) दूर होनेसे, (२) चार प्रकारके आवरणोंसे ढँके होनेसे, (३) सूक्ष्म होनेसे, (४) चित्तके विक्षेपसे, (५) इन्द्रियके उपघातसे, (६) इन्द्रिय-संबंधी ज्ञानोंके न पानेसे।

जिस तरह सांख्योंका हेतु-फल-अभिव्यक्तिवाद गलत है, वैसे ही वैया-करणों (और मीमांसकोंका भी) शब्द-अभि-व्यक्तिवाद भी गलत है। "शब्द नित्य है" यह युक्तिहीन वाद है।

(ग) भूत-भविष्यके द्रव्योंका सद्वाद—यह बौद्ध सर्वास्तिवादि-योंका मत है, अश्वघोष (५० ई०) से असंगके वक्त तक गंधार (असंगकी जन्म-भूमि) सर्वास्तिवादियोंका गढ़ चला आता था। असंगके अनुज वसुबन्धुका महान् ग्रंथ अभिधर्मकोश तथा उसपर स्वरचित-भाष्य सर्वास्तिवाद (=वैभा-षिक)के ही ग्रंथ हैं। लेकिन अब गंधार तथा सारे भारतमें इन प्राचीन (=स्थविर) बौद्ध संप्रदायोंका ह्रास होनेवाला था और उनका स्थान महायान लेने जा रहा था। सर्वास्तिवादी कहते "अतीत (=भूत) है, अनागत (=भविष्य) है, दोनों उसी तरह लक्षण-संपन्न हैं जैसे कि वर्तमान द्रव्य।"

---

[1] ईश्वरकृष्णने भी सांख्य-कारिकामें इन हेतुओंको गिनाया है। ईश्वर-कृष्णका दूसरा नाम विंध्यवासी भी था, और उनकी प्रतिद्वंद्विता असंगानुज वसुबन्धुसे थी, यह हमें चीनी लेखोंसे मालूम है।

खंडन—असंग इसका खंडन करते हुए कहते हैं—इन (अतीत-अनागत) काल-संबंधी वस्तुओं (=धर्मों) को नित्य मानते हो या अनित्य? यदि नित्य मानते हो, तो त्रिकाल-संबद्ध नहीं बल्कि कालातीत होंगे। यदि अनित्य लक्षण (=स्वरूप) मानते हो, तो "तीनों कालोंमें वैसा ही विद्यमान है" यह कहना ठीक नहीं।

(घ) आत्मवाद—आत्मा, सत्त्व, जीव, पोष या पुद्गल नामधारी एक स्थिर सत्य तत्त्वको मानना आत्मवाद है; (उपनिषदका यह प्रधान मत है)। असंग इसका खंडन करते हैं—जो दिखता है वह आत्मा है यह भी युक्ति-युक्त नहीं। आत्माकी धारणा न प्रत्यक्ष पदार्थमें होती है, न अनुमान-गम्य पदार्थमें ही। यदि चेष्टा (=शरीर-क्रिया) को बुद्धि-हेतुक मानें, तो 'आत्मा चेष्टा करता है' यह कहना ठीक नहीं। नित्य आत्मा चेष्टा कर नहीं सकता। नित्य आत्मा सुख-दुःखमें भी लिप्त नहीं हो सकता।

वस्तुतः धर्मों (=सामाजिक वस्तु-घटनाओं) में आत्मा एक कल्पना मात्र है। सारे "धर्म" अनित्य, अध्रुव, अन्-आश्वासिक, विकारी, जन्म जरा-व्याधिवाले हैं, दुःख मात्र उनका स्वरूप है। इसीलिए भगवानने कहा—'भिक्षुओ! ये धर्म (=वस्तुएं) ही आत्मा हैं। भिक्षुओ! यह मेरा आत्मा अ-ध्रुव अन्-आश्वासिक, विपरिणामी (=विकारी) है।' यह सत्त्वकी कल्पना संस्कारों (=कृत वस्तुओं, घटनाओं) में ही समझनी चाहिए, दुनियामें व्यवहारकी आसानी[1] के लिए ऐसा किया जाता है। वस्तुतः सत्त्व या आत्मा नामकी वस्तु कोई नहीं है। आत्मवाद दृष्टिजाल वाद है।

(ङ) शाश्वतवाद[2]—आत्मा और लोकको शाश्वत, अकृत, अकृत-कृत, अनिर्मित, अनिर्माणकृत, अवध्य, कूटस्थायी मानना शाश्वतवाद है। कितने ही (दूसरे दार्शनिकों) परमाणु नित्यताको माननेवाले भी शाश्वतवादी होते हैं। परमाणु नित्यतावादके बारेमें आगे कहेंगे।

---

[1] "सुख-सम्यवहारार्थम्।" [2] प्रकुध कात्यायन, पृष्ठ ५६०

(च) पूर्वकृतहेतुवाद[1]—जो कुछ आदमीको भोग भोगना पड़ रहा है, वह सभी पूर्वके किये कर्मोंके कारण है, इसे कहते हैं पूर्वकृत-हेतुवाद, यह जैनोंका मत है। दुनियामें ठीकसे काम करनेवालोंको दुःख पाते, झूठे काम करनेवालोंको हम सुख पाते देखते हैं। यदि पुरुष-प्रयत्नके आधीन होता, तो ऐसा न होता। इसलिए यह सब पूर्वकृतहेतुक, पुरिविलेका फल है।

असंग इस बातसे बिल्कुल इन्कार नहीं करते, हाँ, वह साथ ही पुरुषके आजके प्रयत्नको भी फलदायक मानते हैं।

(छ) ईश्वरादिकर्तृत्ववाद—इसके अनुसार पुरुष जो कुछ भी संवेदना (=अनुभव) करता है, वह सभी ईश्वरके करनेके कारण होता है। मनुष्य शुभ करना चाहता है, पाप कर बैठता है; स्वर्गलोकमें जानेकी कामना करता है, नरकमें चला जाता है; सुख भोगनेकी इच्छा रखते दुःख ही भोगता है। चूँकि ऐसा देखा जाता है, इससे जान पड़ता है कि भावोंका कोई कर्त्ता, स्रष्टा, निर्माता, पितामह ईश्वर है।

खंडन—ईश्वरसे जगत् बनानेकी शक्ति (जीवोंके) कर्मके कारण है, या बिना कारण ही? कर्मके कारण (=हेतु) होनेसे सहेतुक है ही, फिर ईश्वरका क्या काम? यदि कर्मके कारण नहीं, अतएव अहेतुक है, तब भी ठीक नहीं। फिर सवाल होगा—(सृष्टिकर्त्ता) ईश्वर जगत्के अन्तर्भूत है या नहीं? यदि अन्तर्भूत है, तो जगत्से समानधर्मा हो वह जगत् सृजता है, यह ठीक नहीं है; यदि अन्तर्भूत नहीं है, तो (जगत्से) मुक्त (या दूर) जगत् सृजता है, यह भी ठीक नहीं। फिर प्रश्न है—वह जगत्को सप्रयोजन सृजता है या निष्प्रयोजन? यदि सप्रयोजन तो उस प्रयोजनके प्रति अनीश्वर (=बेबस) है फिर जगदीश्वर कैसे? यदि निष्प्रयोजन सृजता है, तो यह भी ठीक नहीं (यह तो मूर्ख चेष्टित होगा)। इसी तरह, यदि ईश्वरहेतुक सृष्टि होती है तो जब ईश्वर है तब सृष्टि, जब

[1] महावीर, पृष्ठ ४६४

सृष्टि है तब ईश्वर और यह ठीक नहीं; (क्योंकि दोनों तब अनादि होंगे)। ईश्वर-इच्छाके कारण सृष्टि है, इसमें भी वही दोष है। इस प्रकार सामर्थ्य, जगत्‌में अन्तर्भूत-अनन्तर्भूत होने, सप्रयोजन-निष्प्रयोजन, और हेतु होनेकी बात लेकर विचार करनेसे पता लगा कि सृष्टिकर्त्ता ईश्वर मानना बिल्कुल अयुक्त है।

(ज) हिंसाधर्मवाद—जो यज्ञमें मंत्रविधिके अनुसार हिंसा (=प्राणातिपात) करता है, हवन करता है या जो हवन होता है (पशु), और जो इसमें सहायक होता है, सभी स्वर्ग जाते हैं—यह याज्ञिकों (और मीमांसकों)का मत हिंसाधर्मवाद है। कलियुगके आनेपर ब्राह्मणोंने पुराने ब्राह्मण-धर्मको छोड़ मांस खानेकी इच्छासे इस (हिंसाधर्म)का विधान किया।

हेतु, दृष्टान्त, व्यभिचार, फलशक्तिके अभाव, मंत्रप्रणेताके संबंधसे विचार करनेपर यह वाद अयुक्त ठहरता है।

(झ) अन्तानन्तिकवाद—लोक अन्तवान्, लोक अनन्तवान् है, इस वादको अन्तानन्तिकवाद कहते हैं। बुद्धके उपदेशोंमें भी इस वादका जिक्र आया है।[1]

(ञ) अमराविक्षेपवाद—यह वाद भी बुद्ध-वचनोंमें मिलता है, और पहिले इसके बारेमें कहा जा चुका है।[2]

(ट) अहेतुकवाद—आत्मा और लोक अहेतुक (=बिना हेतुके) ही हैं, यह अहेतुकवाद है, यह भी पीछे आ चुका है।[3] अभावके अनुस्मरण, आत्माके अनुस्मरण, बाह्य-आभ्यन्तर जगत्‌में निर्हेतुक वैचित्र्यपर विचार करनेसे यह वाद अयुक्त जान पड़ता है।

(ठ) उच्छेदवाद[4]—आत्मा रूपी, स्थूल चार महाभूतोंसे बना है, वह रोग-, गंड-, शल्य-सहित है। मरनेके बाद वह उच्छिन्न हो जाता है,

---

[1] देखो दीघनिकाय १।१ [2] देखो पीछे, पृष्ठ ४६१
[3] देखो पीछे, पृष्ठ ४८७ [4] देखो पीछे, पृष्ठ ४८५-६

नष्ट हो जाता है, फिर नहीं रहता। जिस तरह टूटे कपाल (बर्त्तनके टुकड़े) जुड़ने लायक नहीं होते, जिस तरह टूटा पत्थर अप्रतिसन्धिक होता है, वैसे ही यहाँ (आत्माके बारेमें) भी समझना चाहिए।

खंडन—यदि आत्मा (पाँच) **स्कन्ध** है, तो स्कन्ध (स्वरूपसे नाशमान होते भी) परंपरासे चलते रहते हैं, वैसे ही आत्माको भी मानना चाहिए। रूपी, औदारिक, चातुर्महाभूतिक, सराग, सगंड, सशल्य आत्मा होता, तो देवलोकोंमें वह इससे भिन्न रूपमें कैसे दीख पड़ता है?

उच्छेदवाद अर्थात् भौतिकवादके विरुद्ध बस इतनी ही युक्ति दे असंगने मौन धारण किया है।

(ड) नास्तिकवाद—दान-यज्ञ कुछ नहीं, यह लोक परलोक कुछ नहीं, सुकृत दुष्कृतका फल नहीं होता—यह नास्तिकवाद, पहिले[1] भी आ चुका है।

(ढ) अग्रवाद—ब्राह्मण ही अग्र (=उच्च श्रेष्ठ) वर्ण है, दूसरे वर्ण हीन हैं, ब्राह्मण शुक्ल वर्ण है, दूसरे वर्ण कृष्ण हैं, ब्राह्मण शुद्ध होते हैं, अब्राह्मण नहीं; ब्राह्मण ब्रह्माके औरस पुत्र मुखसे उत्पन्न ब्रह्मज, ब्रह्म-निर्गत, ब्रह्म-पार्षद हैं, जैसे कि कलियुगवाले ये ब्राह्मण।

खंडन—ब्राह्मण भी दूसरे वर्णोंकी भाँति प्रत्यक्ष मातृ-योनिसे उत्पन्न हुए देखे जाते हैं, (फिर ब्रह्माका औरस पुत्र कहना ठीक नहीं), अतः "ब्राह्मण अग्रवर्ण है" कहना ठीक नहीं। क्या योनिसे उत्पन्न होनेके ही कारण ब्राह्मण-को अग्र मानते हो, या उसमें विद्या और सदाचारको भी जरूरत समझते हो? यदि योनिसे ही मानते हो, तो यज्ञमें श्रुत-प्रधान, शील-प्रधान ब्राह्मणके लेनेकी बात क्यों करते हो? यदि श्रुत (=विद्या) और शील (=सदाचार) को मानते हो, तो 'ब्राह्मण अग्र वर्ण है' कहना ठीक नहीं।

(ण) शुद्धिवाद—जो सुन्दरिका नदीमें नहाता है, उसके सारे पाप धुल जाते हैं, इसी तरह बाहुदा, गया, सरस्वती, गंगामें नहानेसे पाप

---

[1] देखो पृष्ठ ४८५

छूटता है। कोई उदक स्नान मात्रसे शुद्धि मानते हैं। कोई कुक्कुर व्रत (=कुक्कुरकी तरह हाथ बिना लगाये मुँहसे खाना, वैसे ही हाथ पैर करके बैठना-चलना आदि), गोव्रत, तैलमसि-व्रत, नग्न-व्रत, भस्म-व्रत, काष्ठ-व्रत, विष्ठा-व्रत जैसे व्रतोंसे शुद्धि मानते हैं; इसे शुद्धिवाद कहते हैं।

खंडन—शुद्धि आध्यात्मिक बात है, फिर वह तीर्थ-स्नानसे कैसे हो सकती है ?

(त) कौतुकमंगलवाद—सूर्य-ग्रहण, चन्द्र-ग्रहण, ग्रहों-नक्षत्रोंकी विशेष स्थितिसे आदमीके मनोरथोंकी सिद्धि या असिद्धि होती है। इसलिए ऐसा विश्वास रखनेवाले (=कौतुकमंगलवादी) लोग सूर्य आदिकी पूजा करते हैं, होम, जप, तर्पण, कुम्भ, बेल (=बिल्व), शंख आदि चढ़ाते हैं, जैसा कि जोतिसी (=गाणितिक) करते हैं।

खंडन—आप सूर्य-चन्द्र-ग्रहण आदिके कारण पुरुषकी सम्पत्ति-विपत्तिको मानते हैं या उसके अपने शुभ-अशुभ कर्मोंसे ? यदि ग्रहण आदिसे तो शुभ-अशुभ कर्म फजूल, यदि शुभ-अशुभ कर्मोंसे तो ग्रहणसे कहना ठीक नहीं।

४—अन्य विचार

उन्होंने स्कंध, द्रव्य, परमाणुके बारेमें भी अपने विचार प्रकट किए हैं।

(१) स्कंध—

(क) रूप-स्कंध या द्रव्य—रूप-समुदाय (=रूपस्कंध) में चौदह द्रव्य हैं—पृथिवी-जल-अग्नि-वायु चार महाभूत, रूप-शब्द-गन्ध-रस-स्प्रष्टव्य पाँच इन्द्रिय-विषय और चक्षु-श्रोत्र-घ्राण-जिह्वा-काय (=त्वक्) पाँच इन्द्रियाँ।

ये द्रव्य कहीं-कहीं अकेले मिलते हैं, जैसे हीरा-शंख-शिला-मूँगा आदिमें

अकेला पृथिवी-द्रव्य, चश्मा-सार-तड़ाग-नदी-प्रपात आदिमें सिर्फ अकेला जल, दीपक-उल्का आदिमें अकेला अग्नि, पुरवा-पछवाँ आदिमें अकेला वायु। कहीं दो-दो द्रव्य इकट्ठा मिलते हैं, जैसे बर्फ-पत्ता-फल-फूल आदिमें और मणि आदिमें भी। कहीं-कहीं वृक्षादिके नष्ट होनेपर तीन भी। और कहीं-कहीं चार भी, जैसे शरीरके भीतरके केशसे लेकर मल-मूत्र तकमें। खक्खट (=खटखट) होना पृथिवीका सूचक है, बहना जलका, ऊपरकी ओर जलना अग्निका और ऊपरकी ओर जाना वायुका। जहाँ जो-जो मिले, वहाँ उस महाभूतको मानना चाहिए। सभी रूप-समुदायमें सारे महाभूत रहते हैं, इसलिए तो सूखे काठ (=पृथिवी)को मथनेसे आग पैदा होती है, अग्निसंतप्त लोहा-रूपा-सुवर्ण पिघल जाते हैं।

(ख) **वेदना**—वेदना अनुभव करनेको कहते हैं।

(ग) **संज्ञा**—संज्ञा संजानन, जाननेको कहते हैं।

(घ) **संस्कार**—चित्तमें संस्कारको कहते हैं।

(ङ) **विज्ञान**—विज्ञानके बारेमें पहिले कहा जा चुका है।

(२) **परमाणु**—जैनोंकी भाँति परमाणु सारे रूपी स्थूल द्रव्योंका निर्माण करते हैं, वह सूक्ष्म और नित्य होते हैं। असंग ऐसे परमाणुओंकी सत्ताका खंडन करते हैं।—

परमाणुके संचयसे रूपसमुदाय नहीं तैयार हो सकता, क्योंकि परमाणुके परिमाण, अन्त, परिच्छेदका ज्ञान बुद्धि (=कल्पना)पर निर्भर है, (प्रत्यक्षपर नहीं)। परमाणु अवयव-रहित है, फिर वह सावयव द्रव्योंका निर्माण कैसे कर सकता है? परमाणु अवयव-सहित है, यह नहीं कह सकते, क्योंकि परमाणु ही अवयव है, और अवयव द्रव्यका होता है परमाणुका नहीं।

परमाणु नित्य है, यह कहना ठीक नहीं क्योंकि इस नित्यताको परीक्षा करके किसीने सिद्ध नहीं किया। सूक्ष्म होनेसे परमाणु नित्य है, यह भी कहना ठीक नहीं, क्योंकि सूक्ष्म होनेसे तो वह अधिक दुर्बल (अतएव भंगुर) होगा।

§ २–दिग्नाग (४२५ ई०)

वसुबंधुकी तरह दिग्नागको भी छोड़कर आगे बढ़ना नहीं चाहिए, यह मैं मानता हूँ, किंतु मैं धर्मकीर्त्तिके दर्शनके बारेमें उनके प्रमाणवार्त्तिकके आधारपर सविस्तर लिखने जा रहा हूँ। प्रमाणवार्त्तिक वस्तुतः आचार्य दिग्नागके प्रधान ग्रंथ **प्रमाणसमुच्चय**की व्याख्या (वार्त्तिक) है—जिसमें धर्मकीर्त्तिने अपनी मौलिक दृष्टिको कितने ही जगह दिग्नागसे मतभेद रखते हुए भी प्रकट किया—इसलिए दिग्नागपर और लिखनेका मतलब पुनरुक्ति और ग्रंथविस्तार होगा। दिग्नागके बारेमें मैंने अन्यत्र[1] लिखा है—

"दिग्नाग (४२५ ई०) वसुबन्धुके शिष्य थे, यह तिब्बतकी परंपरासे मालूम होता है। और तिब्बतमें इस संबंधकी यह परंपराएं आठवीं शताब्दी-में भारतसे गई थीं, इसलिए उन्हें भारतीय-परंपरा ही कहना चाहिए। यद्यपि चीनी परंपरामें दिग्नागके वसुबंधुका शिष्य होनेका उल्लेख नहीं है, तो भी वहाँ उसके विरुद्ध भी कुछ नहीं पाया जाता। दिग्नागका काल वसुबंधु और कालिदासके बीचमें हो सकता है, और इस प्रकार उन्हें ४२५ ई० के आसपास माना जा सकता है। न्यायमुखके अतिरिक्त दिग्नागका मुख्य ग्रंथ **प्रमाणसमुच्चय** है, जो सिर्फ तिब्बती भाषामें ही मिलता है। उसी भाषामें प्रमाण समुच्चयपर महावैयाकरण काशिकाविवरणपंजिका (=न्यास)के कर्त्ता जिनेन्द्रबुद्धि (७०० ई०)की टीका भी मिलती है।....."

दिग्नागका जन्म तमिल प्रदेशके काञ्ची (=कांजीवरम्)के पास "सिंहवक्त्र" नामके गाँवमें एक-ब्राह्मण घरमें हुआ था। सयाना होनेपर वह वात्सीपुत्रीय[2] बौद्धसंप्रदायके एक भिक्षु नागदत्तके संपर्कमें आ भिक्षु बने। कुछ समय पढ़नेके बाद अपने गुरुसे उनका पुद्गल (=आत्मा)के बारेमें

---

[1] पुरातत्त्व-निबंधावली, पृष्ठ २१४-१५

[2] वात्सीपुत्रीय बौद्धोंके पुराने सम्प्रदायोंमें वह सम्प्रदाय है, जो अनात्मवादसे साफ इन्कार न करते भी, छिपे तौरसे एक तरहके आत्मवादका समर्थन करना चाहता था।

मतभेद हो गया, जिसके कारण उन्होंने मठको छोड़ दिया, और वह उत्तर भारतमें आ आचार्य वसुबंधुके शिष्योंमें दाखिल हो गए, और न्यायशास्त्र-का विशेषतौरसे अध्ययन किया। अध्ययनके बाद उन्होंने शास्त्रार्थोंमें प्रतिद्वंदियोंपर विजय (दिग्विजय) पाने और न्यायके थोड़ेसे किंतु गंभीर ग्रंथोंके लिखनेमें समय बिताया।

दिग्नागके प्रधान ग्रंथ प्रमाणसमुच्चयमें परिच्छेदों और श्लोकों (=कारिकाओं)की संख्या निम्न प्रकार है—

परिच्छेद	विषय	श्लोक संख्या
१	प्रत्यक्ष-परीक्षा	४८
२	स्वार्थानुमान-परीक्षा	५१
३	परार्थानुमान-परीक्षा	५०
४	दृष्टान्त-परीक्षा	२१
५	अपोह-परीक्षा	५२
६	जाति-परीक्षा	२५
		२४७

प्रमाण-समुच्चयका मूल संस्कृत अभी तक नहीं मिल सका है, मैंने अपनी चार तिब्बत-यात्राओंमें इस ग्रंथके ढूंढनेमें बहुत परिश्रम किया, किन्तु इसमें सफलता नहीं मिली; किन्तु मुझे अब भी आशा है, कि वह तिब्बतके किसी मठ, स्तूप या मूर्तिके भीतरसे जरूर कभी मिलेगा।

प्रमाणसमुच्चयके प्रथम श्लोकमें दिग्नागने ग्रंथ लिखनेका प्रयोजन इस प्रकार लिखा है[1]—

"जगत्‌के हितैषी प्रमाणभूत उपदेष्टा.... बुद्धको नमस्कार कर, जहाँ-तहाँ फैले हुए अपने मतोंको यहाँ एक जगह प्रमाणसिद्धिके लिए जमा किया जायेगा।"

---

[1] "प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने।
प्रमाणसिद्ध्यै स्वमतात् समुच्चयः करिष्यते विप्रसितादिहैककः।"

दिग्नागने अपने ग्रंथोंमें दूसरे दर्शनों और वात्स्यायनके न्यायभाष्यकी तो इतनी तर्कसंगत आलोचना की है, कि वात्स्यायनके भाष्यपर पाशुपताचार्य उद्योतकर भारद्वाजको सिर्फ उसका उत्तर देनेके लिए **न्यायवार्त्तिक** लिखना पड़ा।[1]

§ ३–धर्मकीर्त्ति (६०० ई०)

डाक्टर श्चेर्वात्स्कीके शब्दोंमें धर्मकीर्त्ति भारतीय कान्ट थे। धर्मकीर्त्तिकी प्रतिभाका लोहा उनके पुराने प्रतिद्वंदी भी मानते थे। उद्योतकर (५५० ई०)के "न्यायवार्त्तिक"को धर्मकीर्त्तिने अपने तर्कशरसे इतना छिन्न-भिन्न कर दिया था, कि वाचस्पति (८४१)ने उसपर टीका[2] करके (धर्मकीर्त्तिके) "तर्कपंकमें-मग्न उद्योतकरकी अत्यन्त बूढ़ी गायोंके उद्धार करने"का पुण्य प्राप्त करना चाहा। जयन्त भट्ट (१००० ई०)ने धर्मकीर्त्तिके ग्रंथोंके कड़े आलोचक होते हुए भी उनके "सुनिपुणबुद्धि" होने, तथा उनके प्रयत्नको "जगदभिभव-धीर" माना।[3] अपनेको अद्वितीय कवि और दार्शनिक समझनेवाले श्रीहर्ष (११९० ई०)ने धर्मकीर्त्तिके तर्कपथको "दुराबाध"[4] कहकर उनकी प्रतिभाका समर्थन किया। वस्तुतः धर्म-

---

[1] **यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद।**
कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतुः करिष्यते तस्य मया निबन्धः॥
—न्यायवार्त्तिक १।१।१

[2] **न्यायवार्त्तिक-तात्पर्यटीका १।१।१**

[3] **इति सुनिपुणबुद्धिर्लक्षणं वक्तुकामः पदयुगलमपीदं निर्ममे नानवद्यम्।**
भवतु मतिमहिम्नश्चेष्टितं दृष्टमेतज्जगदभिभवधीरं धीमतो धर्मकीर्तेः।
—न्यायमंजरी, पृ० १००

[4] **दुराबाध इव चायं धर्म्मकीर्तेः पन्था इत्यवहितेन भाव्यमिहेति॥**
—खण्डनखण्डखाद्य १

कीर्त्तिकी प्रतिभाका लोहा सबसे ज्यादा आजकी विद्वन्मंडली मान सकती है, क्योंकि आजकी दार्शनिक और वैज्ञानिक प्रगतिमें उसके मूल्यको वह ज्यादा समझ सकते हैं।

१. **जीवनी**—धर्मकीर्त्तिका जन्म चोल (=उत्तर तमिल) प्रान्तके तिरुमलै नामक ग्राममें एक ब्राह्मणके घरमें हुआ था। उनके पिताका नाम तिब्बती परंपरामें कोरुनन्द (?) मिलता है, और किसी-किसीमें यह भी कहा गया है, कि वह कुमारिलभट्टके भांजे थे। यदि यह ठीक है—जिसकी बहुत कम संभावना है—तो मामाके तर्कोंका भांजेने जिस तरह प्रमाण-वार्त्तिकमें खंडन करते हुए मार्मिक परिहास किया है, वह उन्हें सजीव हास्य-प्रिय व्यक्तिके रूपमें हमारे सामने ला रखता है। धर्मकीर्त्ति बचपनसे ही बड़े प्रतिभाशाली थे। पहिले उन्होंने ब्राह्मणोंके शास्त्रों और वेदों-वेदांगोंका अध्ययन किया। उस समय बौद्धधर्मकी ध्वजा भारतके कोने-कोनेमें फहरा रही थी, और नागार्जुन, वसुबंधु दिग्नागका बौद्धदर्शन विरोधियोंमें प्रतिष्ठा पा चुका था। धर्मकीर्त्तिको उसके बारेमें जाननेका मौका मिला और वह उससे इतने प्रभावित हुए कि तिब्बती परंपराके अनुसार उन्होंने बौद्ध गृहस्थोंके वेषमें बाहर आना जाना शुरू किया (?), जिसके कारण ब्राह्मणोंने उनका बहिष्कार किया। उस वक्त नालन्दाकी ख्याति भारतसे दूर-दूर तक फैली हुई थी। धर्मकीर्त्ति नालंदा चले आये और अपने समयके महान् विज्ञानवादी दार्शनिक तथा नालन्दाके संघ-स्थविर (=प्रधान) धर्मपालके शिष्य बन भिक्षुसंघमें सम्मिलित हुए।

धर्मकीर्त्तिकी न्यायशास्त्रके अध्ययनमें ज्यादा रुचि थी, और उसे उन्होंने दिग्नागकी शिष्य-परंपराके आचार्य ईश्वरसेनसे पढ़ा।

विद्या समाप्त करनेके बाद उन्होंने अपना जीवन ग्रंथ लिखने, शास्त्रार्थ करने और पढ़ानेमें बिताया।

(धर्मकीर्त्तिका काल ६०० ई०)[1]—चीनी पर्यटक इ-चिङने धर्म-

---

[1] मेरी "पुरातत्त्वनिबंधावली", पृष्ठ २१५-१७

कीर्त्तिका वर्णन अपने ग्रंथमें किया है, इसलिए धर्मकीर्त्ति ६७१ ई०से पहिले हुए, (इसमें संदेह नहीं)।....धर्मकीर्त्ति नालंदाके प्रधान आचार्य धर्मपालके शिष्य थे। युन्-च्वेंङके समय (६३३ ई०) धर्मपालके शिष्य शीलभद्र नालंदाके प्रधान आचार्य थे, जिनकी आयु उस समय १०६ वर्षकी थी। ऐसी अवस्थामें धर्मपालके शिष्य धर्मकीर्त्ति ६३५ ई०में बच्चे नहीं हो सकते थे।....(धर्मकीर्त्तिके बारेमें) युन्-च्वेङकी चुप्पीका कारण हो सकता है युन्-च्वेङके नालन्दा-निवासके समयसे पहिले ही धर्मकीर्त्तिका देहान्त हो चुका होना हो।....."

यह और दूसरी बातोंपर विचारते हुए धर्मकीर्त्तिका समय ६०० ई० ठीक मालूम होता है।

२. धर्मकीर्त्तिके ग्रंथ—धर्मकीर्त्तिने अपने ग्रंथ सिर्फ प्रमाण-संबद्ध बौद्धदर्शन या बौद्ध प्रमाणशास्त्रपर लिखे हैं। इनकी संख्या नौ है, जिनमें सात मूल ग्रंथ और दो अपने ही ग्रंथोंपर टीकाएँ हैं।

ग्रंथनाम	ग्रंथपरिमाण (श्लोकोंमें)	गद्य या पद्य
१. प्रमाणवार्त्तिक	१४५४½	पद्य
२. प्रमाणविनिश्चय	१३४०	गद्य-पद्य
३. न्यायबिन्दु	१७७	गद्य
४. हेतुबिन्दु	४४४	गद्य
५. संबंध-परीक्षा	२६	पद्य
६. वाद-न्याय	७९८	गद्य-पद्य
७. सन्तानान्तर-सिद्धि	७२	पद्य
	४३१४½	

टीकाएं—

१. (८) वृत्ति	३५००	गद्य	प्रमाणवार्त्तिक १ परिच्छेदपर।
२. (९) वृत्ति	१४७	गद्य	संबंधपरीक्षापर
	३६४७		

गाया धर्मकीर्त्तिने मूल और टीका मिलाकर (४३१४½ + ३६४७) ७९६१½ श्लोकोंके[1] बराबर ग्रंथ लिखे हैं। धर्मकीर्त्तिके ग्रंथ कितने महत्त्व-पूर्ण समझे जाते थे, यह इसीसे पता लगता है कि तिब्बती भाषामें अनुवादित बौद्ध न्यायके कुल संस्कृत ग्रंथोंके १७५००० श्लोकोंमें १३७००० धर्मकीर्त्तिके ग्रंथोंकी टीका-अनुटीकाओंके हैं।[2]

---

[1] श्लोकसे ३२ अक्षर समझना चाहिए।

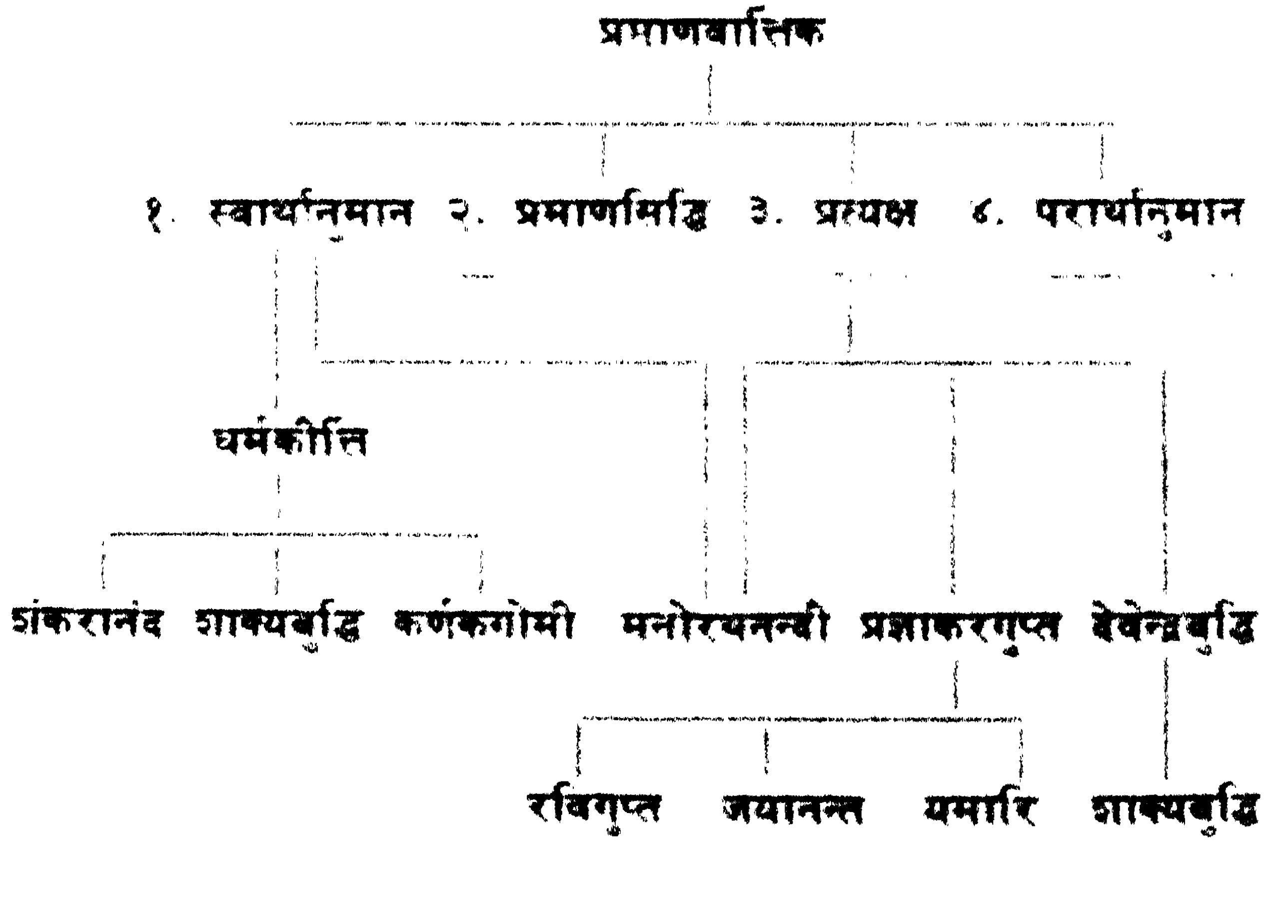
[2] टीकाएं इस प्रकार हैं—

मूल ग्रंथ	टीकाकार	किस परिच्छेदपर	ग्रंथ-परिमाण
१. प्रमाण-वार्त्तिक	१. देवेन्द्रबुद्धि (पंजिका) T	२-४	८,७४८
	२. शाक्यबुद्धि (पंजिका-टीका) T	२-४	१७,०४६
	३. प्रज्ञाकरगुप्त (भाष्य) TS	२-४	१६,२७६
	४. जयानन्त (भाष्यटीका) T	२-४	१८,१४८
	५. यमारि (भाष्यटीका) T	२-४	२६,५५२
	६. रविगुप्त (भाष्यटीका) T	२-४	७,५५२
	७. मनोरथनन्दी (वृत्ति) S	१-४	८,०००
	८. धर्मकीर्त्ति (स्ववृत्ति) TS	१	३,५००
	९. शंकरानंद (स्ववृत्ति-टीका) T (अपूर्ण)	१	७,५७८
	१०. कर्णकगोमी (स्ववृत्ति-टीका) S	१	१०,०००
	११. शाक्यबुद्धि (स्ववृत्तिटीका) T	१	...
२. प्रमाण-विनिश्चय	१. धर्मोत्तर (टीका) T	१-३	१२,४६३
	१. ज्ञानश्री (टीका) T		३,२७१
३. न्याय-बिन्दु	१. विनीतदेव (टीका) T	१-३	१,०३०
	२. धर्मोत्तर (टीका) TS	१-३	१,४७७
	३. दुर्वेकमिश्र (अनु-टीका) S	१-३	....
	४. कमलशील (टीका) T		२२१

	५. जिनमित्र (टीका) T		३१
४. हेतुबिन्दु	१. विनीतदेव (टीका) T	१-४	२,२६८
	२. अर्चट (विवरण) TS	१-४	१,७६८
	३. दुर्वेकमिश्र (अनु-टीका) T	१-४	,,
५. संबंध-परीक्षा	१. धर्मकीर्ति (वृत्ति) T		१४७
	२. विनीतदेव (टीका) T		५४८
	३. शंकरानंद (टीका) T		३८४
६. वादन्याय	१. विनीतदेव (टीका) T		६०६
	२. शान्तरक्षित (टीका) TS		२,६००
७. सन्तानान्तर-सिद्धि	१. विनीतदेव (टीका) T		४७४

I. T. तिब्बती भाषानुवाद उपलब्ध, S=संस्कृत मूल, मौजूद।

II. प्रमाणवार्त्तिकके टीकाकारोंका क्रम इस प्रकार है—



(प्रमाणवार्त्तिक)—यह कह चुके हैं, कि धर्मकीर्त्तिका प्रमाण-वार्त्तिक दिग्नागके **प्रमाणसमुच्चय**की एक स्वतंत्र व्याख्या है। प्रमाणसमुच्चयके छै परिच्छेदोंको हम बतला चुके हैं। प्रमाणवार्त्तिकके चार परिच्छेदोंके विषय प्रमाणसिद्धि, प्रत्यक्ष-स्वार्थानुमान प्रमाण, और परार्थानुमान-प्रमाण हैं; किन्तु आमतौरसे पुस्तकोंमें यह क्रम पाया जाता है—स्वार्थानुमान, प्रमाणसिद्धि, प्रत्यक्ष और परार्थानुमान। यह क्रम गलत है यह समझनेमें दिक्कत नहीं होती, जब हम देखते हैं कि प्रमाणसमुच्चयके जिस भागपर प्रमाणवार्त्तिक लिखा गया है, वह किस क्रमसे है। इसके लिए देखिए, प्रमाणसमुच्चयके भाग और उसपरके प्रमाण-वार्त्तिकको—

III. **कालके साथ धर्मकीर्त्तिकी शिष्य-परंपरा—**

६०० ई०	**धर्मकीर्त्ति**
६२५ ई०	**देवेन्द्रबुद्धि**
६५० ई०	**शाक्यबुद्धि**
६७५ ई०	**जिनेन्द्रबुद्धि प्रज्ञाकरगुप्त धर्माकरदत्त कल्याणरक्षित**
७०० ई०	**ज्ञानश्री रविगुप्त धर्मोत्तर**
७२५ ई०	**यमारि**
७५० ई०	**विनीतदेव**
७७५ ई०	**शंकरानंद**

प्रमाणसमुच्चय	परिच्छेद	प्रमाणवार्त्तिक	परिच्छेद (होना चाहिए)
मंगलाचरण[1]	१।१	प्रमाणसिद्धि	(१)
प्रत्यक्ष	१	प्रत्यक्ष	(२)
स्वार्थानुमान	२	स्वार्थानुमान	(३)
परार्थानुमान	३	परार्थानुमान	(४)

प्रमाणसमुच्चयके बाकी परिच्छेदों—दृष्टान्त-,[2] अपोह[3]-, जाति[4] (=सामान्य)-परीक्षाओं—के बारेमें अलग परिच्छेदोंमें न लिखकर धर्मकीर्त्तिने उन्हें प्रमाणवार्त्तिकके इन्हीं चार परिच्छेदोंमें प्रकरणके अनुकूल बाँट दिया है।

न्यायबिन्दु तथा धर्मकीर्त्तिके दूसरे ग्रंथोंमें भी प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान, परार्थानुमानके युक्तिसंगत क्रमको ही माना गया है, और मनोरथनन्दीने प्रमाणवार्त्तिकवृत्तिमें भी यही क्रम स्वीकार किया है; इसलिए भाष्यों, पंजिकाओं, टीकाओं या मूलपाठोंमें सर्वत्र स्वार्थानुमान, प्रमाणसिद्धि, प्रत्यक्ष, परार्थानुमानके क्रमको देखनेपर भी ग्रंथकारका क्रम यह नहीं बल्कि मनोरथनंदी द्वारा स्वीकृत क्रम ही ठीक सिद्ध होता है। क्रममें उलटफेर हो जानेका कारण धर्मकीर्त्तिकी स्वार्थानुमानपर स्वरचित वृत्ति है। उनके शिष्य देवेन्द्रबुद्धिने ग्रंथकारकी वृत्तिवाले स्वार्थानुमान परिच्छेदको छोड़कर अपनी पंजिका लिखी, जिससे आगे वृत्ति और पंजिकाको अलग-अलग रखनेके लिए प्रमाणवार्त्तिकको दो भागोंमें कर दिया गया। इस विभागको और स्थायी रूप देनेमें प्रज्ञाकरगुप्तके भाष्य तथा देवेन्द्रबुद्धिकी पंजिकावाले तीनों परिच्छेदोंके बनानेने सहायता की। इस क्रमको सर्वत्र प्रचलित देखकर मूल कारिकाकी प्रतियोंमें भी लेखकोंको यही क्रम अपनाना पड़ा।

---

[1] देखो पृ० ६६० फुटनोट ६ [2] प्र० वा० ३।३७, ३।१३६
[3] वहीं २।१६३-७३ [4] वहीं २।५-५५; २।१४५-६२; ३।५५-१६१; ४।१३३-४८; ४।१७६-८८

यद्यपि मनोरथनंदी द्वारा स्वीकृत क्रमके अनुसार उनकी वृत्तिको मैंने सम्पादित किया है, और वह उपलभ्य है; तो भी मूल प्रमाणवार्त्तिकको मैंने सर्वस्वीकृत तथा तिब्बती-अनुवाद और तालपत्रमें मिले क्रमसे सम्पादित किया है, और प्रज्ञाकर गुप्तका प्रमाणवार्त्तिक-भाष्य (वार्त्तिकालंकार) उसी क्रमसे संस्कृतमें मिला प्रकाशित होनेके लिए तैयार है, इसलिए मैंने भी यहाँ परिच्छेद और कारिका देनेमें उसी सर्वस्वीकृत क्रमको स्वीकार किया है।

धर्मकीर्त्तिके दार्शनिक विचारोंपर लिखते हुए प्रमाणवार्त्तिकमें आए मुख्य-मुख्य विषयोंपर हम आगे कहने ही वाले हैं, तो भी यहाँ परिच्छेदके क्रमसे मुख्य विषयोंको दे देते हैं—

विषय	परिच्छेद कारिका
पहिला परिच्छेद (स्वार्थानुमान)	
१. ग्रंथ का प्रयोजन	१।१
२. हेतुपर विचार	१।३
३. अभावपर विचार	१।५ (+४।१२६)
४. शब्दपर विचार	१।१८६
५. शब्द प्रमाण नहीं	१।२१४
६. अपौरुषेय वेद प्रमाण नहीं	१।२२५
दूसरा परिच्छेद (प्रमाणसिद्धि)	
१. प्रमाणका लक्षण	२।१
२. बुद्धके वचन क्यों माननीय हैं।	२।२६
तीसरा परिच्छेद (प्रत्यक्षप्रमाण)	
१. प्रमाण दो ही—प्रत्यक्ष, अनुमान	३।१
२. परमार्थ सत्य और व्यवहार सत्य	३।३
३. सामान्य कोई वस्तु नहीं	३।३ (+४।१३१)
४. अनुमान प्रमाण	३।५५
५. प्रत्यक्ष प्रमाण	३।१२३
६. प्रत्यक्षके भेद	३।१९१
७. प्रत्यक्षाभास कौन है?	३।२८८
८. प्रमाणका फल	३।३००

चौथा परिच्छेद

(परार्थानुमान)

३—धर्मकीर्त्तिका दर्शन

धर्मकीर्त्तिने सिर्फ प्रमाण (न्याय) शास्त्र ही पर सातों ग्रंथ लिखे हैं, और उन्हें दर्शनके बारेमें जो कुछ कहना था, उसे इन्हीं प्रमाणशास्त्रीय ग्रंथोंमें कह दिया। इन सात ग्रंथोंमें **प्रमाणवार्त्तिक** (१४५४½ "श्लोक") **प्रमाण-विनिश्चय** (१३४० "श्लोक"), **हेतुबिन्दु** (४४४ "श्लोक"), **न्यायबिन्दु** (१७७ "श्लोक")के प्रतिपाद्य विषय एक ही हैं, और उनमें सबसे बड़ा और संक्षेपमें अधिक बातोंपर प्रकाश डालनेवाला ग्रंथ प्रमाणवार्त्तिक है। **वादन्याय**में आचार्यने अक्षपादके अठारह निग्रहस्थानोंकी भारी भरकम सूचीको फजूल बतलाकर, उसे आधे श्लोकमें कह दिया है[1]—

"निग्रह (=पराजय) स्थान हैं (वादके लिए) अ-साधन, बातका कथन और (प्रतिवादीके) दोषका न पकड़ना।"

सम्बन्ध-परीक्षाकी २६ कारिकाओंमें धर्मकीर्त्तिने क्षणिकवादके अनुसार कार्य-कारण संबंध कैसे माना जा सकता है, इसे बतलाया है; यह विषय प्रमाणवार्त्तिकमें भी आया है।

---

[1] **"असाधनांगवचनं अदोषोद्भावनं द्वयोः।"—वादन्याय, पृष्ठ १**

सन्तानान्तरसिद्धिके ७२ सूत्रोंमें धर्मकीर्त्तिने पहिले तो इस मन-सन्तान (मन एक वस्तु नहीं बल्कि प्रतिक्षण नष्ट और नई उत्पन्न होती सन्तान=घटना है)से परे भी दूसरी-दूसरी मन-सन्तानें (सन्तानान्तर) हैं इसे सिद्ध किया है, और अन्तमें बतलाया है कि ये सब मन (=विज्ञान)-सन्तानें किस प्रकार मिलकर दृश्य जगत्को (विज्ञानवादके अनुसार) बाहर क्षेप करती हैं। विज्ञानवादकी चर्चा प्रमाणवार्त्तिकमें भी धर्मकीर्त्तिने की है।

धर्मकीर्त्तिके दर्शनको जाननेके लिए प्रमाणवार्त्तिक पर्याप्त है।

(१) तत्कालीन दार्शनिक परिस्थिति—धर्मकीर्त्ति दिग्नागकी भाँति असंगके योगाचार (विज्ञानवाद) दार्शनिक सम्प्रदायके माननेवाले थे। वसुबंधु, दिग्नाग, धर्मकीर्त्ति जैसे महान् तार्किकोंका शून्यवाद छोड़ विज्ञानवादमें संबंध होना यह भी बतलाता है, कि हेगेलकी तरह इन्हें भी अपने तर्कसम्मत दार्शनिक विचारोंके लिए विज्ञानवादकी बड़ी जरूरत थी। किन्तु धर्मकीर्त्ति शुद्ध योगाचार नहीं सौत्रांतिक (या स्वातंत्रिक) योगाचारी माने जाते हैं। सौत्रान्तिक बाहरी जगत्की सत्ताको ही मूलतत्त्व मानते हैं और योगाचारी सिर्फ विज्ञान (=चित्त, मन)को। सौत्रान्तिक (या स्वातंत्रिक) योगाचारका मतलब है, बाह्य जगत्की प्रवाह रूपी (क्षणिक) वास्तविकताको स्वीकार करते हुए विज्ञानको मूलतत्त्व मानना—ठीक हेगेलकी भाँति—जिसका अर्थ आजकी भाषामें होगा जड़ (=भौतिक)-तत्त्व विज्ञानका ही वास्तविक गुणात्मक परिवर्तन है। पुराने योगाचार दर्शनमें मूलतत्त्व विज्ञान (चित्त) का विश्लेषण करके उसे दो भागोंमें बाँटा गया था—**आलय**विज्ञान और **प्रवृत्ति**विज्ञान। प्रवृत्ति विज्ञान छै हैं—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, स्पर्श—पाँचों ज्ञान-इंद्रियोंके पाँच विज्ञान (=ज्ञान), जो कि विषय तथा इन्द्रियके संपर्क होते वक्त रंग, आकार आदिकी कल्पना उठनेसे पहिले भान होते हैं; और छठा है मनका विज्ञान। आलय-विज्ञान उक्त छओं विज्ञानोंके साथ जन्मता-मरता भी अपने प्रवाह (=सन्तान)में सारे प्रवृत्ति-विज्ञानोंका आलय (=घर) है। इसीमें पहिलेके संस्कारोंकी वासना और आगे उत्पन्न होनेवाले विज्ञानोंकी **वासना**

रहती है। यद्यपि क्षणिकताके सदा साथ रहनेसे आलय विज्ञानमें ब्रह्म या आत्माका भ्रम नहीं हो सकता था, तो भी यह एक तरहका रहस्यपूर्ण तत्व बन जाता था, जिससे विमुक्तसेन, हरिभद्र, धर्मकीर्त्ति जैसे कितने ही विचारक इसमें प्रच्छन्न आत्मतत्वकी शंका करने लगे थे, और वे आलय-विज्ञानके इस सिद्धांतको अँधेरेमें तीर चलानेकी तरह खतरनाक समझते थे।[1] धर्मकीर्त्तिने **आलय**(-विज्ञान) शब्दका प्रयोग **प्रमाणवार्त्तिक**[2]में किया है, किन्तु वह है विज्ञान साधारण—के अर्थमें, उसके पीछे वहाँ किसी अद्भुत रहस्यमयी शक्तिका ख्याल[3] नहीं है।

सन्तान रूपेण (क्षणिक या विच्छिन्नप्रवाहरूपेण) भौतिक जगत्की वास्तविकता को साफ तौरसे इन्कार तो नहीं करना चाहते थे, जैसा कि आगे मालूम होगा, किन्तु बेचारोंका था कुछ धर्मसंकट भी; यदि अपने तर्कोंमें जगह-जगह प्रयुक्त भौतिक तत्वोंकी वास्तविकताको साफ स्वीकार करते हैं, तो धर्मका नकाब गिर जाता है, और वह सीधे भौतिकवादी बन जाते हैं, इसीलिए स्वार्थिक ही सही किन्तु उन्हें विज्ञानवादी रहना जरूरी था। युरोपमें भौतिकवादको फलने-फूलनेका मौका तब मिला, जब कि सामन्तवादके गर्भसे एक होनहार जमात—व्यापारी और पूँजीपति—बाहर निकल साइंसके आविष्कारोंकी सहायतासे अपना प्रभाव

---

[1] तिब्बती नैयायिक जम्-यङ-शद-पा (मंजुघोषपाद १६४८-१७२२ ई०) अपने ग्रंथ "सप्तनिबंध-न्यायालंकार-सिद्धि" (अलंकार-सिद्धि) में लिखते हैं—"जो लोग कहते हैं कि (धर्मकीर्त्तिके) सात निबंधों (—ग्रंथों) के मन्तव्योंमें "आलय-विज्ञान" भी है, वह अन्धे हैं, अपने ही अज्ञानान्धकार-में रहनेवाले हैं।"—डाक्टर श्चेर्बात्स्कीकी Buddhist Logic Vol. II, p. 329 के फुटनोटमें उद्धृत। [2] ३।५२२

[3] "आलय" शब्द पुराने पाली सूत्रोंमें भी मिलता है। किन्तु वहाँ वह रुचि, अनुनय, या अध्यवसायके अर्थमें आता है। देखो "महाहत्थिपदोपम सुत्त" (मज्झिम-निकाय १।३।८), बुद्धचर्या, पृष्ठ १७६।

बढ़ा रही थी, और हर क्षेत्रमें पुराने विचारोंको दकियानूसी कह भौतिक जगत्की वास्तविकतापर आधारित विचारोंको प्रोत्साहन दे रही थी। छठी सदी ईसवीके भारतमें अभी यह अवस्था आनेमें १८ सदियोंकी ज़रूरत थी; किन्तु इसीको कम न समझिए कि भारतीय हेगेल् (धर्मकीर्त्ति) जर्मनीके हेगेल् (१७७०-१८३१ ई०)से बारह सदियों पहिले हुआ था।

(२) तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति—यहाँ जरा इस दर्शनके पीछेकी सामाजिक भित्तिको देखना चाहिए, क्योंकि दर्शन चाहे कितना ही हाड़-माससे नफरत करते हुए अपनेको उससे ऊपर समझे; किन्तु, है वह भी हाड़-मासकी ही उपज। वसुबंधुसे धर्मकीर्त्ति तकका समय (४००-६०० ई०) भारतीय दर्शनके (और काव्य, ज्योतिष, चित्र-मूर्त्ति, वास्तुकलाके भी)[1] चरम विकासका समय है। इस दर्शनके पीछे आप गुप्त—मौखरी—हर्षवर्द्धनके महान् तथा दृढ़ शासित साम्राज्यका हाथ भी कहना चाहेंगे; किन्तु महान् साम्राज्य कहकर हम मूल भित्तिको प्रकाशमें नहीं लाते, बल्कि उसे अन्धेरेमें छिपा देते हैं। उस कालका वह महान् साम्राज्य क्या था? कितने ही सामन्त-परिवार एक बड़े सामन्त—समुद्रगुप्त, हरिवर्मा या हर्षवर्द्धन—को अपने ऊपर मान, नये प्रदेशों नये लोगोंको अपने आधीन करने या अपने आधीन जनताको दूसरेके हाथमें न जाने देनेके लिए सैनिक शासन—युद्ध—या युद्धकी तैयारी—करते; और अपने शासनमें पहिलेसे मौजूद या नवागत जनतामें "शान्ति और व्यवस्था" कायम रखनेके लिए नागरिक शासन करते थे। किन्तु यह दोनों प्रकारका शासन "पेटपर पत्थर बाँधकर" सिर्फ परोपकार बुद्धिसे नहीं होता था। साधारण जनतासे आया सैनिक—जिसकी संख्या लड़नेवालोंमें ही नहीं मरनेवालोंमें भी सबसे ज्यादा थी—को

[1] **काव्य—कालिदास, दंडी, बाण; ज्योतिष—आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त; चित्रकला—अजन्ता और बाग; मूर्त्तिकला—गुप्तकालिक पाषाण और पीतलमूर्त्तियाँ; वास्तुकला—अजंता, एलोराकी गुहा, देव, बर्नारकके मन्दिर।**

जरूर बहुत हद तक "पेटपर पत्थर बाँधना" पड़ता था; किन्तु सेनानायक सेनापति सामन्त-खान्दानोंमें आनेके कारण पहिले हीसे बड़ी संपत्तिके मालिक थे, और अपने इस पदके कारण बड़े वेतन, लूटकी अपार धनराशि, और जागीर तथा इनामके पानेवाले होते थे—गोया समुद्रमें मूसलाधार वर्षा हो रही थी। और नागरिक शासनके बड़े-बड़े अधिकारी—उपरिक (=भुक्तिका शासक या गवर्नर), कुमारामात्य (=विषयका शासक या कमिश्नर)—आनरेरी काम करनेवाले नहीं थे, वह प्रजासे भेंट (=रिश्वत) सम्राट्से वेतन, इनाम और जागीर लेते थे।

यह निश्चित है, कि आदमी जितना अपने आहार-विहार, वस्त्र-आभूषण तथा दूसरे न-टिकाऊ कामोंपर खर्च करता है, उससे बहुत कम उन वस्तुओंपर खर्च करता है, जो कि कुछ सदियों तक कायम रह सकती हैं। और उनमें भी अधिकांश सदियोंमें गुजरने कालके ध्वंसात्मक कृत्योंसे ही नहीं बर्बर मानव के क्रूर हाथोंसे नष्ट हो जाती हैं। तो भी बोधगया, बैजनाथके मन्दिर अथवा अजन्ता, एलोराके गुहाप्रासाद जो अब भी बच रहे हैं, अथवा कालिदासकी कृतियों और बाण भट्टकी कादम्बरीमें जिन नगर-अट्टालिकाओं राजप्रासादोंका वर्णन मिलता है, उनके देखनेसे पता लगता है कि उनपर उस समयका सम्पत्तिशाली वर्ग कितना धन खर्च करता था और सब मिलाकर अपने ऊपर उनका कितना खर्च था। आज भी शौकीनी विलासकी चीजें महँगी मिलती हैं, किन्तु इस मशीनयुगमें यह चीजें मशीनसे बननेके कारण बहुत सस्ती हैं—अर्थात् उनपर आज जितने मानव हाथोंका काम करना पड़ता है, गुप्तकालमें उससे कई गुना अधिक हाथोंकी जरूरत पड़ती।

सारांश यह कि इस शासक सामन्तवर्गकी शारीरिक आवश्यकताओंके लिए ही नहीं बल्कि उनकी विलास-सामग्रीका पैदा करनेके लिए भी जनताकी एक भारी संख्याको अपना सारा श्रम देना पड़ता था। कितनी संख्या, इसका अन्दाज इसीसे लग सकता है, कि आजसे सौ वर्ष पहिले कम्पनीके शासनमें भारत जितना धन अपने, अंग्रेज शासकोंके लिए सालाना उनके

घर भेजता था, उसके उपार्जनके लिए छै करोड़ आदमियों—या सारी जनसंख्याके चौथाईसे अधिक—के श्रमकी आवश्यकता होती थी। इसके अतिरिक्त वह खर्च अलग था, जिसे अंग्रेज कर्मचारी भारतमें रहते खर्च करते थे।

यही नहीं कि जनताके आधे तिहाई भागको शासकोंके लिए इस तरहकी वस्तुओंको अपने श्रमसे जुटाना पड़ता था; बल्कि उनकी काम-वासनाकी तृप्तिके लिए लाखों स्त्रियोंको वैध या अवैधरूपसे अपना शरीर बेंचना पड़ता था; उनकी एक बड़ी संख्याको दासी बनकर बिकना पड़ता था। मनुष्यका दास-दासीके रूपमें सरेबाजार बिकना उस वक्तका एक आम नजारा था।

अर्थात् उस दर्शन—कला—साहित्यके महान् युगकी सारी भव्यता मनुष्यकी पशवत् परतन्त्रता और हृदयहीन गलामीपर आधारित थी—यह हमें नहीं भूलना चाहिए। फिर दार्शनिक दृष्टिसे क्रान्तिकारीसे क्रान्तिकारी विचारकको भी अपनी विचार-संबंधी क्रान्तिको उस सीमाके अन्दर रखना जरूरी था, जिसके बाहर जाने से शासक-वर्गके कोपका भाजन—चाहे सीधे राजदंडके रूपमें, उसकी कृपासे वंचित होनेके रूपमें, चाहे उसके स्थापित धर्म-मठ-मन्दिरमें स्थान न पानेके रूपमें—होना पड़ता। उस वक्त शान्ति और व्यवस्था की बात आजसे बहुत नर्वी थी, जिससे रचनेमें धार्मिक सहानुभूति की धारा बहुत सहायक हो सकती थी, जिसने उसको साधारण उसके जीवनका मूल्य एक पालित दासके जीवनसे अधिक नहीं था।

धर्मकीर्त्ति जिस नालन्दाके रत्न थे, उसको गांवों और नगरके रूपमें बड़े-बड़े दान देनेवाले यही सामन्त थे, जिनके ताम्रपत्रपर लिखे दानपत्र आज भी हमें काफी मिले हैं। ह्वेन्-च्वाङ्के समय (६४० ई०)में वहाँके दस हजार विद्यार्थियों और पंडितोंपर जिस तरह लाखों धन खर्च किया जाता था, यह हो नहीं सकता था कि प्रमाणवार्त्तिककी पंक्तियाँ उन हाथोंको भुलाकर उनके खाटपर तुल जातीं; इसीलिए स्थानविज (वस्तुवादी) धर्मकीर्त्ति भी दूसरोंकी तरहकी आध्यात्मिक तत्त्वसे ही कल्की छुट्टी ले लेते

है। विश्वके कारणको ईश्वर आदि छोड़ विश्वमें, उसके क्षुद्रतम तथा महत्तम अवयवोंकी क्षणिक परिवर्तनशीलता तथा गुणात्मक परिवर्तनके रूपमें ढूँढ़नेवाले धर्मकीर्ति दुःखके कारणको अलौकिक रूपमें—पुनर्जन्ममें—निहित बतलाकर साकार और वास्तविक दुःखके लिए साकार और वास्तविक कारणके पता लगानेसे मुँह मोड़ते हैं। यदि जनताके एक तिहाई उन दासों तथा संख्यामें कम-से-कम उनके बराबरके उन आदमियोंको—जो कि सूद और व्यापारके नफ़ेके रूपमें अपने श्रमको मुफ्त देते थे—दासतासे मुक्त कर, उनके श्रमको सारी जनता—जिसमें वह खुद भी शामिल थे—के हितोंमें लगाया जाता; यदि सामन्त परिवारों और वणिक्-श्रेष्ठी-परिवारोंके निठल्लेपन कामचोरपनको हटाकर उन्हें भी समाजके लिए लाभदायक काम करनेके लिए मजबूर किया जाता, तो निश्चय ही उस समयके साकार दुःखकी मात्रा बहुत हद तक कम होती। हाँ, यह ठीक है, कामचोरपनके हटानेका अभी समय नहीं था, यह स्वप्नचारिणी योजना उस वक्त असफल होती, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु यही बात तो उस वक्तकी सभी दार्शनिक उड़ानोंमें सभी धार्मिक मनोहर कल्पनाओंके बारेमें थी। सफल न होनेपर भी दार्शनिककी गलती एक सच्चे कामकी प्यार होती है, उसकी सहृदयता और निर्भीकताकी दाद दी जाती; यदि उपेक्षा और शत्रुप्रहारसे उसकी कृतियाँ नष्ट हो जातीं, तो भी खंडनके लिए उद्धृत उसकी प्रतिभाके प्रखर तीर सदियोंको चीरकर मानवताके पास पहुँचते, और उसे नया संदेश देते।

(३) विज्ञानवाद—सहृदय मस्तिष्कमें वास्तविक दुनिया (भौतिकवाद)को भुलाने-भुलवानेमें दार्शनिक विज्ञानवाद वही काम देता है, जो कि शराबकी बोतल काममें चूर मजदूरको अपने कष्टोंको भुलवानेमें; चाहे क्रूर दासताकी सहायतासे ही सही, मनुष्यका मस्तिष्क और हृदय तब तक बहुत अधिक विकसित हो चुका था, उसमें अपने साथी प्राणियोंके लिए संवेदना आना स्वाभाविक ही बात थी। आसपासके लोगोंकी दयनीय दशाको देखकर हो नहीं सकता था, कि वह उसे महसूस न करता, विकल न होता। जगतको झूठा कह उस विकलताको दूर करनेमें दार्शनिक

विज्ञानवाद कुछ सहायता जरूर करता था—आखिर अभी "दार्शनिकोंका काम जगत्‌की व्याख्या करना था, उसे बदलना नहीं।"

धर्मकीर्त्ति बाह्यजगत्—भौतिक तत्वों—को अवास्तविक बतलाते हुए विज्ञान (=चित्त)को असली तत्व साबित करते हैं—

(क) विज्ञान ही एक मात्र तत्त्व—हम किसी वस्तु (=कपड़े)को देखते हैं, तो वहाँ हमें नीला, पीला रंग तथा लंबाई, चौड़ाई-मुटाई, भारीपन-चिकनापन आदिको छोड़ केवल रूप (=भौतिक-तत्व) नहीं दिखाई पड़ता।[1] दर्शन नील आदिके तौरपर होता है, उससे रहित (वस्तु)का (प्रत्यक्ष या अनुमानमें) ग्रहण ही नहीं हो सकता और नीलादिके ग्रहणपर ही (उसका) ग्रहण होता है। इसीलिए जो कुछ दर्शन है वह नील आदिके तौरपर है, केवल बाह्यार्थ (=भौतिक तत्व)के तौरपर नहीं है।[2] जिसको हम भौतिक तत्व या बाह्यार्थ कहते हैं, वह क्या है इसका विश्लेषण करें तो वहाँ आँखसे देखे रंग-आकार, हाथसे छुए सख्त-नरम-चिकनापन, आदि ही मिलता है; फिर यह इंद्रियाँ उनके इस स्थूल रूपमें अपने निजी ज्ञान (चक्षु-विज्ञान, स्पर्श-विज्ञान, ...) द्वारा मनको कल्पना करनेके लिए नहीं प्रदान करतीं। मनका निर्णय इन्द्रिय चर्वित ज्ञानके पुनः चर्वणपर निर्भर है; इस तरह जहाँसे अन्तिम निर्णय होता है, उस मनमें तथा जिनकी दी हुई सामग्रीके आधारपर मन निर्णय करता है, उन इन्द्रियोंके विज्ञानोंमें भी, बाह्य-अर्थ (= भौतिक तत्व)का पता नहीं; निर्णायक स्थानपर हमें सिर्फ विज्ञान (=चेतना) ही विज्ञान मिलता है, इसलिए "वस्तुओं द्वारा वही (विज्ञान) सिद्ध है, जिसमें कि विचारक कहते हैं—'जैसे-जैसे अर्थों (=पदार्थों)पर चिन्तन किया जाता है, वैसे ही वैसे वह छिन्न-भिन्न हो लुप्त हो जाते हैं (—उनका भौतिक रूप नहीं सिद्ध होता)।'"[3]

(ख) चेतना और भौतिक तत्त्व विज्ञान हीके दो रूप—विज्ञान-का भीतरी आकार चित्त—सुख आदिका ग्राहक—है, यह तो स्पष्ट है; किन्तु

---

[1] प्रमाण-वार्तिक ३।२०२ [2] प्र० वा० ३।३३५ [3] प्र० वा० ३।२०९

जो बाहरी पदार्थ (=भौतिक तत्त्व घड़ा या कपड़ा) है, वह भी विज्ञानसे अलग नहीं बल्कि विज्ञानका ही एक दूसरा भाग है, और बाहरमें अवस्थित सा जान पड़ता है—इसे अभी बतला आए हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि एक ही विज्ञान भीतर (चित्तके तौरपर) ग्राहक और बाहर (विषयके तौरपर) ग्राह्य भी है।[1] "विज्ञान जब अभिन्न है, तो उसका (भीतर और बाहरके विज्ञान तथा भौतिक तत्त्वके रूपमें) भिन्न प्रतिभासित होना सत्य नहीं (भ्रम) है।[2] "ग्राह्य (बाह्य पदार्थके रूपमें मालूम पड़नेवाला विज्ञान) और ग्राहक (=भीतरी चित्तके रूपमें विज्ञान) में से एकके भी अभावमें दोनों ही नहीं रहते (ग्राहक नहीं रहेगा, तो ग्राह्य है इसका कैसे पता लगेगा ? और फिर ग्राह्यके न रहनेपर अपनी ग्राहकताको दिखलाकर ग्राहक चित्त अपनी सत्ताको कैसे सिद्ध करेगा ? इस तरह किसी एकके अभावमें दोनों नहीं रहते)। इसीलिए ज्ञानका भी तत्त्व है (ग्राह्य-ग्राहक) दो होनेका अभाव (=अभिन्नता)।[3] जो आकार-प्रकार (बाहरी पदार्थोंमें मौजूद हैं, वह) ग्राह्य और ग्राहकके आकारका झूठ (और किसी आकारमें) नहीं मिलते, (और ग्राह्य ग्राहक एक ही निराकार विज्ञानके दो अंश हैं)। इसीलिए आकार-प्रकारसे शून्य होनेसे (सारे पदार्थ) निराकार कहे गए हैं।

प्रश्न हो सकता है यदि बाह्य पदार्थोंकी वस्तुसत्ताका अस्वीकार करते हैं, तो उनकी भिन्नताको भी अस्वीकार करना पड़ेगा। फिर बाहरी अर्थोंकी भिन्नता जैसे घट है, यह कपड़ा—इस तरह ज्ञानोंका भेद कैसे होता ? उत्तर है—

"किसी (एक व्यक्ति) आकारवाले ज्ञान (या कोई (एक ज्ञान) हैं, वह कि (चित्तके) भीतरवाली वासना (=पूर्व संस्कार) का प्रबोध है, उसी (वासनाके जगने)से आती (जो भिन्नता) वह निश्चय उससे आती है, न कि बाहरी पदार्थोंके अस्तित्वसे।"[4]

---

[1] प्र० वा० ३।२१२ [2] प्र० वा० ३।२१३

[3] प्र० वा० ३।२१५ [4] प्र० वा० ३।३३६

"चूँकि बाहरी पदार्थका अनुभव हमें नहीं होता, इसलिए एक ही (विज्ञान) दो (=भीतरी ज्ञान, बाहरी विषय) रूपोंवाला (देखा जाता) है, और दोनों रूपोंमें स्मरण भी किया जाता है। इस (एक ही विज्ञानके बाह्य-अन्तर दोनों आकारोंके होने)का परिणाम है, स्व-संवेदन (अपने भीतर ज्ञानका साक्षात्कार)।"[1]

फिर प्रश्न होता है—"(वह जो बाह्य-पदार्थके रूपमें) अवभासित होनेवाला (ज्ञान है), उसका जैसे कैसे भी जो (बाहरी) पदार्थवाला रूप (भासित हो रहा है), उसे छोड़ देनेपर पदार्थ (=घड़े)का ग्रहण (=इन्द्रिय-प्रत्यक्ष आदि) कैसे होगा? (आखिर अपने स्वरूपके ज्ञानके साक्षात्कारमें ही तो पदार्थोंका अपना अपना ग्रहण है?)—(प्रश्न) ठीक है, मैं भी नहीं जानता कैसे यह होता है। ... जैसे मंत्र (हिप्नाटिज्म) आदिसे जिनकी (आँख आदि) इन्द्रियोंको बाँध दिया गया है; उन्हें मिट्टीके ढेले (रुपये आदि) दूसरे ही रूपमें दिखते हैं; यद्यपि वह (वस्तुतः) उस (रूप ...)के रूपसे रहित है।"[2]

इस तरह यद्यपि अन्तर बाहर सभी एक ही विज्ञान तत्त्व है, किन्तु "तत्त्व-अर्थ (=वास्तविकता)की ओर न ध्यान दे हाथीकी तरह आँख मूंदकर सिर्फ लोक व्यवहारका अनुसरण करते तत्त्वज्ञानियोंको (कितनी ही बार) बाहरी (पदार्थों)का चिन्तन (=वर्णन) करना पड़ता है।"[3]

(४) **क्षणिकवाद**—बुद्धके दर्शनमें "सब अनित्य है" इस सिद्धान्तपर बहुत जोर दिया गया है, यह हम बतला आए हैं। इसी अनित्यवादको पीछेके बौद्ध दार्शनिकोंने **क्षणिकवाद** कहकर उसे अभावात्मकसे भावात्मक रूप दिया। धर्मकीर्तिने इसपर और जोर देते हुए कहा—"सत्ता मात्रमें नाश (=धर्म) पाया जाता है।"[4] इस भावको पीछे ज्ञानश्री (७००

[1] प्र० वा० ३।३३७
[2] प्र० वा० ३।३५३-५५ [3] वही ३।२१९
[4] प्र० वा० १।२७२—"सत्तामात्रानुबन्धित्वात् नाशस्य"

ई०)ने कहा है—"जो (जो)सत् (=भाव रूप) है, वह क्षणिक है।"[1] "सभी संस्कार (=किए हुए पदार्थ) अनित्य हैं" इस बुद्धवचनकी ओर इशारा करते हुए धर्मकीर्त्तिने कहा है[2]—"जो कुछ उत्पन्न स्वभाववाला है, वह नाश स्वभाववाला है।" अनित्य क्या है, इसे बतलाते हुए लिखा है—"पहिले होकर जो भाव (=पदार्थ) पीछे नहीं रहता, वह **अनित्य** है।"[3]

इस प्रकार बिना किसी अपवादके क्षणिकताका नियम सारे भाव (=सत्ता) रखनेवाले पदार्थोंमें है।

(५) परमार्थ सत्की व्याख्या—अफलातूँ और उपनिषद्के दर्शनकार क्षण-क्षण परिवर्तनशील जगत् और उसके पदार्थोंके पीछे एक अपरिवर्तनशील तत्त्वको परमार्थ सत् मानते है, किन्तु बौद्ध दर्शनको ऐसे इन्द्रिय और बुद्धिकी गतिसे परे किसी तत्त्वको माननेकी जरूरत न थी, इसलिए धर्मकीर्त्तिने परमार्थ सत्की व्याख्या करते हुए कहा—

"अर्थवाली क्रियामें जो समर्थ है, वही यहाँ परमार्थ सत् है, इसके विरुद्ध जो (अर्थक्रियामें असमर्थ) है, वह संवृति (=फर्जी) सत् है।"[4] घड़ा, कपड़ा, परमार्थ सत् है, क्योंकि वह अर्थक्रिया-समर्थ है, उनसे जल-पानयन या सर्दी-गर्मीका निवारण हो सकता है; किन्तु घड़ापन, कपड़ापन जो **सामान्य** (=जाति) माने जाते है, वह संवृति (=काल्पनिक या फर्जी) सत् है। क्योंकि उनसे अर्थक्रिया नहीं हो सकती। इस तरह व्यक्ति और उनका नानापन ही परमार्थसत् है। "(वस्तुतः सारे) भाव (=पदार्थ) स्वयं भेद (=भिन्नता) रखनेवाले है, किन्तु उसी संवृति (=कल्पना)से जब उनके नानापन (=अलग-अलग घड़ों)को ढाँक दिया जाता है, तो वह किसी (घड़ापन) रूपमें अभिन्नसे मालूम होने लगते है।"[5]

---

[1] "यत् सत् तत् क्षणिकं"—क्षण भंग १।१ (ज्ञान श्री)
[2] प्र० वा० २।२८४-५ [3] वहीं ३।११० [4] वहीं ३।३
[5] प्र० वा० १।७१

(६) नाश अहेतुक होता है—क्षणिकता सारे भावों (=पदार्थों) में स्वभावसे ही है, इसलिए नाश भी स्वाभाविक है; फिर नाशके लिए किसी हेतु या हेतुओंकी जरूरत नहीं—अर्थात् नाश अहेतुक है; वस्तु की उत्पत्तिके लिए हेतु या बहुतसे हेतु (=हेतु-सामग्री) चाहिए, जिससे कि पहिले न मौजूद पदार्थ भावमें आवे। चूँकि एक मौजूद वस्तुका नाश और दूसरी ना-मौजूद वस्तुकी उत्पत्ति पास-पास होती है, इसलिए हमारी भाषामें कहनेकी यह गलत परिपाटी पड़ गई है, कि हम हेतुको उत्पन्न वस्तुसे न जोड़ नष्टसे जोड़ देते हैं। इसी तथ्यको साबित करते हुए धर्मकीर्ति कहते हैं—

(क) अभाव रूपी नाशको हेतु नहीं चाहिए—"यदि कोई कार्य (कारणोत्पन्न पदार्थ) हो, तो उसके लिए किसी (=कारण)की जरूरत हो सकती है; (नाश) जो कि (अभाव रूप होनेसे) कोई वस्तु ही नहीं है, उसके लिए कारणकी क्या जरूरत ?"[1]

"जो कार्य (=कारणसे उत्पन्न) है वह अनित्य है, जो अ-कार्य (=कारणसे नहीं उत्पन्न) है, वह अ-विनाशी (=नित्य) है। (वस्तुका विनाश नित्य अर्थात् हमेशाके लिए होता है, इसलिए वह अ-कार्य=अ-हेतुक है; फिर इस प्रकार) अहेतुक होनेसे वह (=नाश) स्वभावतः (वस्तुमात्रका) अनुसरण करता है।"[2] और इस प्रकार विनाशके लिए हेतुकी जरूरत नहीं।

(ख) नश्वर या अनश्वर दोनों अवस्थाओंमें भावके नाशके लिए हेतु नहीं चाहिए—"यदि (हम उसे अनश्वर मान लें, तब) दूसरे किसी (हेतु)से भावका नाश न मानेंगे फिर ऐसे (अनश्वर भाव)की स्थिति के लिए हेतुकी क्या जरूरत ? (—अर्थात् भावका होना अहेतुक हो जायेगा)। (यदि हम भावको नश्वर मान लें, तो) वह दूसरे (हेतुओं=कारणों) के बिना भी नष्ट होगा, (फिर उसकी) स्थितिके लिए हेतु असमर्थ होंगे।"[3]

---

[1] प्र० वा० १।२८२ [2] वही १।१९५ [3] वही २।७०

"जो स्वयं अनश्वर स्वभाववाला है, उसके लिए दूसरे स्थापककी जरूरत नहीं; जो स्वयं नश्वर स्वभाववाला है, उसके लिए भी दूसरे स्थापककी जरूरत नहीं।"[1] इस तरह विनाशको नश्वर स्वभाववाला मानें या अनश्वर स्वभाववाला, दोनों हालतोंमें उसे स्थित रखनेवाले हेतुकी जरूरत नहीं।

(a) **भावके स्वरूपसे नाश भिन्न हो या अभिन्न, दोनों अवस्थाओंमें नाश अहेतुक**—आग और लकड़ी एकत्रित होती हैं, फिर हम लकड़ीका नाश और कोयले-राखकी उत्पत्ति देखते हैं। इसीको हम व्यवहारकी भाषामें "आगने लकड़ीको जला दिया—नष्ट कर दिया" कहते हैं, किन्तु वस्तुतः कहना चाहिए "आगने कोयले-राखको उत्पन्न किया।" चूँकि लकड़ी हमारी नजरमें कोयले-राखसे अधिक उपयोगी (=मूल्यवान्) है, इसीलिए यहाँ भाषा द्वारा हम अपने लिए एक उपयोगी वस्तुके नाशपर ज्यादा जोर देते हैं। यदि कोयला-राख लकड़ीसे ज्यादा उपयोगी होते तो हम "आगने लकड़ीका नाश कर दिया" की जगह कहते "आगने कोयला-राखको बनाया।" वस्तुतः जंगलोंमें जहाँ मजदूर लकड़ीकी जगह कोयला बनाकर बेचनेमें ज्यादा लाभ देखते हैं, वहाँ "क्या काम करते हो" पूछनेपर यह नहीं कहते कि "हम लकड़ीका नाश करते हैं," बल्कि कहते हैं "हम कोयला बनाते हैं।" टाटाके कारखानेमें (लोहेवाले) पत्थरका नाश और लोहे या फौलादका उत्पादन होता है; किन्तु वहाँ नाशको स्वाभाविक (=अहेतुक) समझकर उसकी बात न कह, यही कहा जाता है, कि टाटा प्रति वर्ष इतने करोड़ मन लोहा और इतने लाख मन फौलाद बनाता है। इसी भावको हमारे दार्शनिकने समझानेकी कोशिश की है।

प्रश्न है—आग (=कारण, हेतु) क्या करती है लकड़ीका विनाश या कोयलेकी उत्पत्ति? आप कहते हैं, लकड़ीका विनाश करती है। फिर सवाल होता है विनाश लकड़ीसे भिन्न वस्तु है या अभिन्न? अभिन्न माननेपर

[1] वहीं २।७२

आग जिस विनाशको उत्पन्न करती है, वह काष्ठ ही हुआ, फिर तो "विनाश" होनेका मतलब काष्ठका होना हुआ, अर्थात् काष्ठका विनाश नहीं हुआ, फिर काष्ठके अविनाशसे काष्ठका दर्शन होना चाहिए। "यदि (कहो) वही (आगसे उत्पन्न वस्तु काष्ठका) विनाश है, (इसलिए काष्ठका दर्शन नहीं होता; तो फिर प्रश्न होगा—)"कैसे (विनाशरूपी) एक पदार्थ (काष्ठ रूपी) दूसरे (पदार्थ)का विनाश होगा ? (और यदि नाश एक भाव पदार्थ है, तो) काष्ठ क्यों नहीं दिखाई देता ?"[1]

(b) **विनाश एक भिन्न ही भावरूपी वस्तु है यह माननेसे भी काम नहीं चलता**—यदि कहो, विनाश (सिर्फ काष्ठका अभाव नहीं बल्कि) एक दूसरा ही भावरूपी पदार्थ है; और "उस (भाव रूपी विनाश नामवाले दूसरे पदार्थ)के द्वारा ढँका होनेसे (काष्ठ हमें नहीं दिखलाई देता); (तो यह भी ठीक नहीं।) उस (एक दूसरे भाव=नाश)से (काष्ठका) आवरण (=आच्छादन) नहीं हो सकता, क्योंकि (ऐसा माननेपर नाशको वस्तुका आवरण मानना पड़ेगा, फिर तो वह) विनाश ही नहीं रह जायेगा (=विनष्ट हो जायगा)"[2] और इस प्रकार आग काष्ठके विनाशको उत्पन्न करती है, कर्मके अभावमें यह कहना भी गलत है।

और यदि आग द्वारा नाशकी उत्पत्ति मानें तो "उत्पन्न होनेके कारण" उसे नाशमान मानना पड़ेगा, क्योंकि जितने उत्पत्तिमान् भाव (=पदार्थ) हैं, सभी नाशमान होते हैं।" और फिर (नाशमान होनेसे जब नष्ट हो जाता है) तो (आवरण-मुक्त होनेसे) काष्ठका दर्शन होना चाहिए।

यदि कहो—नाश रूपी भाव पदार्थ काष्ठका हन्ता है। रामने श्यामको मार डाला (=नष्ट कर दिया), फिर न्यायाधीश रामको फाँसी चढ़ा देता है; किंतु रामके फाँसी चढ़ा देने—हन्ताके नाश हो जाने—पर जैसे मृत (=नष्ट श्याम)का फिरसे अस्तित्वमें आना नहीं होता, उसी तरह यहाँ

---

[1] प्र० वा० १।२७३ [2] वहीं १।२७४

भी"[1] (नश्वर स्वभाववाले नाश पदार्थके नष्ट हो जानेपर भी काष्ठ फिरसे अस्तित्वमें नहीं आता)।

किन्तु, यह दृष्टान्त गलत है ? राम श्यामके नाशमें "हन्ता (=राम) =(श्यामका) मरण नहीं है,"[2] बल्कि श्यामका मरण है अपने प्राण, इन्द्रिय आदिका नाश होना। यदि श्यामके प्राण-इन्द्रिय आदिका नाश होना हटा दिया जाये, तो श्याम जरूर अस्तित्वमें आ जायगा। किन्तु यहाँ आप 'नाश पदार्थ=काष्ठका मरण' मानते हैं, इसलिए नाश पदार्थके नष्ट हो जानेपर काष्ठको फिरसे अस्तित्वमें आना चाहिए।

(c) 'नाश=एक अभिन्न भावरूपी वस्तु' यह माननेसे भी काम नहीं चलेगा— यदि (मानें कि) विनाश (भावरूपी वस्तु काष्ठसे) अभिन्न है, तो 'नाश=काष्ठ' है। तो (काष्ठ)=(नाश=) अ-सत्, अनश्वर (नाशके कारण) उसका हेतु नहीं हो सकता।"

"नाशको (काष्ठसे) भिन्न या अभिन्न दो छोड़ और नहीं माना जा सकता।" और हमने ऊपर देख लिया कि दोनों ही अवस्थाओंमें नाशके लिए हेतु (=कारण) की जरूरत नहीं, अतएव नाश अहेतुक होता है।

यदि कहो—'नाशके अहेतुक माननेपर (वह) नित्य होगा, फिर (काष्ठका) भाव और नाश दोनों एक साथ रहनेवाले मानने पड़ेंगे।" तो यह शंका ही गलत बुनियाद पर है, क्योंकि (नाश तो) असत् है (=अभाव) है, उसकी नित्यता कैसे होगी।" नित्य-अनित्य होना सत्तावान भाव पदार्थके लिए होता है, खरहेकी सींग—असत् पदार्थ—के लिए नहीं।

(७) कारण-समूहवाद—कार्य एकसे नहीं बल्कि अनेक कारणोंके इकट्ठा होने—कारण-सामग्री—से उत्पन्न होता है, अर्थात् अनेक कारण मिलकर एक कार्यको उत्पन्न करते हैं। इस सिद्धान्त द्वारा बौद्ध दार्शनिक जहाँ जगत्में प्रतीयमान भिन्न वस्तुस्थितिकी व्याख्या करते हैं, वहाँ किसी एक

---

[1] प्र० वा० १।२३८, २७५   [2] प्र० वा० १।२७५-२७७

ईश्वरके कर्त्तापनका भी खंडन करते हैं। साथ ही यह भी बतलाते हैं कि स्थिरवाद—चाहे वह परमाणुओंका हो या ईश्वरका—कारणोंकी **सामग्री** (=इकट्ठा होनेको) अस्तित्वमें नहीं ला सकता; यह क्षणिकवाद ही है, जो कि भावोंकी क्षणिकता—देश और कालमें गति—की वजहसे कारणोंकी सामग्री (=इकट्ठा होना) करा सकता है।

"कोई भी एक (वस्तु) एक (कारण)से नहीं उत्पन्न होती, बल्कि सामग्री (=बहुतसे कारणोंके इकट्ठा होने)से (एक या अनेक) सभी कार्योंकी उत्पत्ति होती है।"[1]

"कार्योंके स्वभावों (=स्वरूपों)में जो भेद है, वह आकस्मिक नहीं, बल्कि कारणों (=कारण-सामग्री)से उत्पन्न होता है। उनके बिना (=कारणोंके बिना, किसी दूसरेसे) उत्पन्न होना (मानें तो कार्यके) रूप (=कार्यत्व) को उस (आग)से उत्पन्न कैसे कहा जायगा?"[2]

"(चूँकि) सामग्री (=कारण-समवाय)की शक्तियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं, (अतः) इन्हींकी वजहसे वस्तुओं (=कार्यों)में भिन्न-रूपता दिखलाई पड़ती है। यदि वह (अनेक कारणोंकी सामग्री) भेद करनेवाली न होती, तो यह जगत् (विश्व-रूप नहीं) एक-रूप होता।"[3]

"मिट्टी, लकड़ी, कुम्हार अलग-अलग (किसी घट जैसे भिन्न रूपवाले) कार्यके करनेमें असमर्थ हैं, किन्तु उनके (एकत्र) होनेपर कार्य होता है; इससे मालूम होता है, कि संहत (=एकत्रित) हुई उन (=क्षणिक वस्तुओं)में हेतुपन (=कारणपन) है, ईश्वर आदिमें नहीं, क्योंकि (ईश्वर आदिमें क्षणिकता न होनेसे) अभेद (=एक-रसता) है।"[4]

(८) प्रमाणपर विचार—मानवका ज्ञान जितना ही बढ़ता गया, उतना ही उसने उसके महत्त्वको समझा, और अपने जीवनके हर क्षेत्रमें मस्तिष्कको अधिक इस्तेमाल किया। यहाँ ज्ञानकी महिमा आगे प्रयोगसिद्ध

[1] प्र० वा० ३।५३६ [3] वही ४।२४८ [4] वही ४।२४९
[2] वही २।२८

नहीं कल्पना-सिद्ध रूपमें धर्म तथा धर्म-सहायक दर्शनमें परिगणन हुई, यह हम उपनिषद्कालमें देख चुके हैं। उपनिषदके दार्शनिकोंका जितना जोर ज्ञानपर था, बुद्धका उससे भी कहीं अधिक उसपर जोर था, क्योंकि अविद्याको वह सारी बुराइयोंकी जड़ मानते थे और उसके दूर करनेके लिए आर्य-सत्य या निर्दोष ज्ञानको बहुत जरूरी समझते थे। पिछली शताब्दियोंमें जब भारतीयोंको अरस्तूके तर्कशास्त्रके संपर्कमें आनेका मौका मिला, तो ज्ञान और उसकी प्राप्तिके साधनोंकी ओर उनका ध्यान अधिक गया, यह हम नागार्जुन, कणाद, अक्षपाद आदिके वर्णनमें देख आए हैं। वसुबंधु, दिग्नाग, धर्मकीर्तिने इसी बातको अपना मुख्य विषय बनाकर अपने प्रमाण-शास्त्रकी रचना की। दिग्नागने अपने प्रधान ग्रंथका नाम "प्रमाणसमुच्चय" क्यों रखा, धर्मकीर्तिने भी उसी तरह अपने श्रेष्ठ ग्रंथका नाम प्रमाणवार्तिक क्यों घोषित किया, इसे हम उपरोक्त बातोंपर ध्यान रखते हुए अच्छी तरह समझ सकते हैं।

प्रमाण—प्रमाण क्या है? धर्मकीर्तिने उत्तर दिया[1]—"(दूसरे जरियेसे) अज्ञात अर्थके प्रकाशक, अ-विसंवादी (=वस्तु-स्थितिके विरुद्ध न जानेवाले) ज्ञानको कहते हैं।" अ-विसंवाद क्या है?[2]—"(ज्ञानका कल्पनाके ऊपर नहीं) अर्थ-क्रियाके ऊपर स्थित होना।" इसीलिए किसी ज्ञानकी "प्रमाणता व्यवहार (=प्रयोग, अर्थक्रिया)में होती है।"

(प्रमाण-संख्या)—हम देख चुके हैं, अन्य भारतीय दार्शनिक शब्द, उपमान, अर्थापत्ति आदि कितने ही और प्रमाणोंको भी मानते हैं। धर्मकीर्ति अर्थक्रिया या प्रयोगको परमार्थ सत्की कसौटी मानते थे, इसलिए वह उन्हीं प्रमाणोंको मान सकते थे, जो कि अर्थ-क्रियापर आधारित हों।

"(पदार्थ—अलग-अलग तौरपर स्व-लक्षण—शब्द आदिके प्रयोगके बिना केवल अपने रूपमें—मिलते हैं, अथवा कइयोंके बीचके सादृश्यका

---

[1] प्र० वा० २।१ [2] वहीं २।४

लेनेपर सामान्य लक्षण—अनेकोंमें उनके आकारकी समानता—में मिलते हैं; इस प्रकार) विषयके (सिर्फ) दो ही प्रकार होनेसे प्रमाण भी दो प्रकारका ही होता है। (इनमें पहिला प्रत्यक्ष है और दूसरा अनुमान। प्रत्यक्षका आधार वस्तुका स्वलक्षण—अपना निजी स्वरूप—है, और यह स्वलक्षण) अर्थक्रियामें समर्थ होता है; (अनुमानका आधार सामान्य-लक्षण—अनेक वस्तुओंमें समानरूपता—है, और यह सामान्य लक्षण अर्थक्रियामें) असमर्थ होता है।[1]

(क) प्रत्यक्ष प्रमाण—ज्ञानके साधन दो ही हैं, प्रत्यक्ष या अनुमान। प्रत्यक्ष क्या है?—[2] (इन्द्रिय, मन और विषयके संयोग होनेपर) कल्पनासे बिलकुल रहित (जो ज्ञान होता है) तथा जो (किसी दूसरे साधन द्वारा अज्ञात अर्थका प्रकाशक है वह प्रत्यक्ष है, और वह (कल्पना नहीं) सिर्फ प्रति-क्षणमें ही सिद्ध होता है।[3] इस तरह प्रत्यक्ष वह अ-विसंवादी (—अर्थ-क्रियाका अनुसरण करनेवाला), अज्ञात अर्थका प्रकाशक ज्ञान है, जो कि विषयके संपर्कमें उस पहिले क्षणमें होता है, जब कि कल्पनाने वहां दखल नहीं दिया। धर्मकीर्तिने दिग्नागकी तरह प्रत्यक्षके चार भेद माने हैं—इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, मानस-प्रत्यक्ष, स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष और योगि-प्रत्यक्ष असंगके लोक-प्रत्यक्षका पता नहीं।

(१) इंद्रिय-प्रत्यक्ष—सारी ओरसे ध्यान (=चिन्तन) को हटाकर (कल्पनासे मुक्त होनेके कारण) निश्चल (=स्तिमित) चित्तके साथ स्थित (पुरुष) रूपको देखता है, वही इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष हो जानेके पीछे (जब वह) कुछ कल्पना करता है, और वह जानता है—मेरे (मनमें) ऐसी कल्पना (—यह नाम आकार प्रकारका होनेसे घड़ा है) हुई थी; किन्तु (यह बात) पूर्वोक्त इन्द्रियसे (उत्पन्न) ज्ञानके वक्त नहीं होती। इसीलिए सार (=क्ष आदि वाले) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष (व्यक्ति-) विशेष (मात्र) के बारेमें होते हैं। विशेष (वस्तुओंका स्वरूप

---

[1] प्र० वा० ३।१ [2] वही ३।१२४ [3] वही ३।१२४

सामान्यसे मुक्त सिर्फ स्वलक्षण मात्र है, इसलिए उन)में शब्दोंका प्रयोग नहीं हो सकता।"[1] "इस (=घट वस्तु)का यह (वाचक, घट शब्द) है इस तरह (वाच्य-वाचकका जो) संबंध (है, उस)में जो दो पदार्थ प्रतिभासित हो रहे हैं, उन्हीं (वाच्य-वाचक पदार्थों)का (वह) संबंध है, (और जिस वक्त उस वाच्य-वाचक संबंधकी ओर मन कल्पना दौड़ाता है) उस वक्त (वस्तु) इन्द्रियके सामनेसे हट गई रहती है (और मन अपने संस्कारके भीतर अवस्थित ताजे और पुराने दो कल्पना-चित्रोंको मिलाकर नाम देनेकी कोशिशमें रहता है)।"[2]

"(शंकर स्वामी जैसे कुछ बौद्ध प्रमाणशास्त्री, प्रत्यक्ष-ज्ञानको) इन्द्रिय-ज. . . .होनेसे (शब्दके ज्ञानसे वंचित) छोटे बच्चेके ज्ञानकी भाँति कल्पना-रहित (ज्ञान) बतलाते हैं, और बच्चेके (ज्ञानको उस तरह) कल्पना-रहित होनेमें (वाच्य-वाचक रूपमें शब्द-अर्थ संबंधके) संकेतको कारण कहते हैं। ऐसोंके (मतमें) कल्पनाके (सर्वथा) अभावके कारण बच्चोंका (सारा ज्ञान) सिर्फ प्रत्यक्ष ही होगा; और (बच्चोंको) संकेत (जानने)के लिए कोई उपाय न होनेसे पीछे (बड़े होनेपर) भी वह (=संकेत-ज्ञान) नहीं हो सकेगा।"[3]

(b) **मानस-प्रत्यक्ष**—दिग्नागने **प्रमाणसमुच्चय**में मानस-प्रत्यक्षकी व्याख्या करते हुए कहा[4]—"पदार्थके प्रति राग आदिका जो (ज्ञान) है, वही (कल्पनारहित ज्ञान) मानस(-प्रत्यक्ष) है।" मानस प्रत्यक्ष स्वतंत्र प्रत्यक्ष नहीं रहेगा, यदि "पहिलेके इन्द्रिय द्वारा ज्ञान (अर्थ)को ही ग्रहण करे, क्योंकि ऐसी दशामें (पहिलेसे ज्ञात अर्थका प्रकाशक होनेसे अज्ञात-अर्थ-प्रकाशक नहीं अतएव वह) प्रमाण नहीं होगा। यदि (इन्द्रिय-ज्ञान द्वारा) अ-दृष्टको (मानस-प्रत्यक्ष) माना जाये, तो अंध आदिको भी

[1] प्र० वा० ३।१२५, १२७ [2] वहीं ३।१२६

[3] वहीं ३।१४१-१४२ [4] "मानसं चार्थरागादि।"

(रूप आदि) अर्थोंका दर्शन (होता है यह) मानना होगा ।"[1] इस सबका ख्याल कर धर्मकीर्ति **मानस-प्रत्यक्ष**की व्याख्या करते हैं—

"(चक्षु आदि) इन्द्रियसे जो (विषयका) विज्ञान हुआ है, उसीको अनन्तर-प्रत्यय (=तुरन्त पहिले गुजरा कारण) बना, जो मन (=चेतना) उत्पन्न हुआ है वही (मानस-प्रत्यक्ष है)। चूँकि (चक्षु आदि इन्द्रियोंसे ज्ञात रूप आदि ज्ञानसे) भिन्नको (मन प्रत्यक्षमें) ग्रहण करता है (इसलिए वह ज्ञान अर्थका प्रकाशन नहीं, साथ ही मन द्वारा प्रत्यक्ष होनेवाले रूप आदिके विज्ञान इन्द्रियसे ज्ञात उन रूप आदिकोंसे संबद्ध है, जिन्हें कि अंध आदि नहीं देख सकते, इसलिए) आँखके अंधोंको (रूप . . .) देखनेकी बात नहीं आती ।"[2]

(c) स्वसंवेदन-प्रत्यक्त—दिग्नागने इसका लक्षण करते हुए कहा—"(चक्षु-इन्द्रियसे गृहीत रूपका ज्ञान मनसे गृहीत रूप-विज्ञानका ज्ञान होनेके बाद रूप आदि) अर्थके प्रति अपने भीतर जो राग (द्वेष) आदिका संवेदन (=अनुभव) होता है, (वही) कल्पना-रहित (ज्ञान) स्वसंवेदन (-प्रत्यक्ष) है ।"[3] इसके अर्थको आगे वार्तिकसे स्पष्ट करते हुए धर्मकीर्तिने कहा—

"राग (सुख) आदिके जिस स्वरूपको (हम अनुभव करते हैं वह) किसी दूसरे (इन्द्रिय आदिसे) संबंध नहीं रखता, अतः उसके स्वरूपके प्रति (वाच्य-वाचक) संकेतका प्रयोग नहीं हो सकता (और इसीलिए) उसका जो अपने भीतर संवेदन होता है, वह (वाचक शब्दसे) प्रकट होने लायक नहीं है ।"[4] इस तरह अज्ञात अर्थका प्रकाशक, कल्पनारहित तथा अविसंवादी होनेसे राग-सुख आदिका जो अनुभव हम करते हैं, वह स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष भी इन्द्रिय-और मानस-प्रत्यक्षसे भिन्न एक प्रत्यक्ष है । इन्द्रिय-प्रत्यक्ष-

---

[1] प्र० वा० ३।२३९ [2] वही ३।२४३

[3] "अर्थरागादि स्वसंवित्तिरकल्पिका"—प्रमाण-समुच्चय ।

[4] प्र० वा० ३।२४९

में हम किसी इन्द्रियके एक विषय (=रूप, गंध)का ज्ञान प्राप्त करते हैं; मानस प्रत्यक्ष हमें उससे आगे बढ़कर इन्द्रियसे जो यह ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसका अनुभव कराता है, और इस प्रकार अब भी उसका संबंध विषयसे जुड़ा हुआ है। किन्तु, स्वसंवेदन प्रत्यक्षमें हम इन्द्रियके (रूप-)ज्ञान और उस इन्द्रिय-ज्ञानके ज्ञानसे आगे तथा बिल्कुल भिन्न राग-द्वेष, या सुख-दुख . . . .का प्रत्यक्ष करते हैं।

(d) **योगि-प्रत्यक्ष**[1]—उपरोक्त तीन प्रकारके प्रत्यक्षोंके अतिरिक्त बौद्धोंने एक चौथा प्रत्यक्ष योगि-प्रत्यक्ष माना है। अज्ञात-प्रकाशक अविसंवादी—प्रत्यक्षोंके ये विशेषण यहाँ भी लिए गए हैं, साथ ही कहा है—"उन (योगियों)का ज्ञान **भावनासे** उत्पन्न कल्पनाके जालसे रहित स्पष्ट ही भासित होता है। (स्पष्ट इसलिए कहा कि) काम, शोक, भय, उन्माद, चोर, स्वप्न आदिके कारण भ्रममें पड़े (व्यक्ति) अ-भूत (=अ-सत्) पदार्थोंको भी सामने अवस्थितकी भाँति देखते हैं, लेकिन वह स्पष्ट नहीं होते)। जिस (ज्ञान)में विकल्प (=कल्पना) मिला रहता है, वह स्पष्ट पदार्थके रूपमें भासित नहीं होता। स्वप्नमें (देखा पदार्थ) भी स्मृतिसे आता है; किन्तु वह (जागनेकी अवस्थामें) वैसे (=विकल्परहित) पदार्थके साथ नहीं स्मरणमें आता।"[2]

समाधि (=चित्तकी एकाग्रता) आदि भावनासे प्राप्त जितने ज्ञान हैं, सभी योगि-प्रत्यक्ष-प्रमाणमें नहीं आते; बल्कि "उनमें वहीं भावनासे उत्पन्न (ज्ञान) प्रत्यक्ष-प्रमाणसे अभिप्रेत है, जो कि पहिले (अज्ञात-प्रकाशक आदि) की भाँति संवादी (=अर्थक्रियाका अनुसरण करनेवाला) है; बाकी (दूसरे **भावनासे** उत्पन्न ज्ञान) भ्रम हैं।"[3]

प्रत्यक्ष ज्ञान होनेके लिए उसे कल्पना-रहित होना चाहिए, इसपर जोर दिया गया है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तक कल्पनासे रहित होना आसानीसे समझा जा सकता है, क्योंकि वहाँ हम देखते हैं कि सामने घट दिखलाई पड़ने तत्पर पड़

---

[1] Intuition. [2] प्र० वा० ३।२८१-२८३ [3] प्र० वा० ३।२८६

घड़ेके प्रतिबिंबका जो पहिला दबाव ज्ञानतंतुओं द्वारा हमारे मस्तिष्कपर पड़ता है, वह कल्पना-रहित होता है। पहिले दबावके बाद एक छाप (=प्रतिबिंब) मस्तिष्कपर पड़ता है, फिर मस्तिष्कमें संस्काररूपमें पहिलेके देखे घड़ोंके जो प्रतिबिंब (या प्रतिबिंब-संतान) मौजूद हैं, उनसे इस नए प्रतिबिंब (या लगातार पड़ रहे प्रतिबिंब-संतान) को मिलाया जाता है—अब यहाँ कल्पनाका आरम्भ हो गया। फिर जिस प्रतिबिंबसे यह नया प्रतिबिंब मिल जाता है, उसके वाचक नामका स्मरण होता है, फिर इस नए प्रतिबिंबवाले पदार्थका नामकरण किया जाता है। यहाँ कहाँ तक कल्पनारहित ज्ञान रहा, और कहाँसे कल्पना शुरू हुई, यह समझना उस प्रथम दबावके द्वारा आसान है; किन्तु जहाँ बाहरी वस्तुके दबावकी बात नहीं रहती, वहाँ कल्पनाके आरंभकी सीमा निर्धारित करना—खासकर योगिप्रत्यक्ष जैसे ज्ञानमें—बहुत कठिन है। इसीलिए **कल्पना**की व्याख्या करते हुए धर्मकीर्त्तिने लिखा—

"जिस (विषय, वस्तु) में जो (ज्ञान, दूसरेसे पृथक् करनेवाले) शब्द-अर्थ (के संबंध) को ग्रहण करनेवाला है, वह ज्ञान उस (विषय) में कल्पना है। (वस्तुका) अपना रूप शब्दार्थ (=शब्दका विषय) नहीं होता, इसलिए यहाँका सारा (ज्ञान) प्रत्यक्ष है।"[1]

इस तरह चाहे ज्ञानका विषय बाहरी वस्तु हो अथवा भीतरी **विज्ञान**; जब तक समानता असमानताको लेकर प्रयुक्त होनेवाले शब्दार्थ-को अवकाश नहीं मिल रहा है, तब तक वह प्रत्यक्षकी सीमाके भीतर रहता है।

(प्रत्यक्षाभास)—चार प्रकारके प्रत्यक्षज्ञानको बतला चुके। किन्तु ज्ञान ऐसे भी हैं, जो प्रत्यक्ष-प्रमाण नहीं हैं, और देखनेमें प्रत्यक्षसे लगते हैं; ऐसे प्रत्यक्षाभासोंका भी परिचय होना जरूरी है, जिसमें कि हम गलत रास्ते पर न चले जायें। दिग्नागने ऐसे प्रत्यक्षाभासोंकी संख्या चार बतलाई

[1] प्र० वा० ३।२८७

हैं[1]—"भ्रान्तिज्ञान, संवृतिसत्-ज्ञान, अनुमानानुमानिक-स्मार्ताभिलापिक और तैमिरि ज्ञान।" (१) भ्रान्तिज्ञान मरुभूमिकी बालुकामें जलका ज्ञान है। (२) संवृतिवाला ज्ञान फर्जी द्रव्यके गुण आदिका ज्ञान—"यह अमुक द्रव्य है, अमुक गुण है।" (३) अनुमान (=लिंग, धूम) आनुमानिक (=लिंगी आग)के संकेतवाली स्मृतिके अभिलाप (=वचनके विषय) वाला ज्ञान—"यह घड़ा है।" (४) तैमिरि ज्ञान वह ज्ञान है जो कि इन्द्रियमें किसी तरहके विकारके कारण होता है, जैसे कामला रोगवालेको सभी चीजें पीली मालूम होती हैं। इनमें पहिले "तीन प्रकारके प्रत्यक्षाभास कल्पना-युक्त ज्ञान हैं, (जो कल्पनायुक्त होनेके कारण ही प्रत्यक्षके भीतर नहीं गिने जा सकते); और एक (=तैमिरि) कल्पना-रहित है किन्तु आश्रय (=इंद्रिय)में (विकार होनेके कारण उत्पन्न होता है (इस लिए प्रत्यक्ष ज्ञानमें नहीं आसकता—ये हैं चार प्रकारके प्रत्यक्षाभास।"[2]

(ख) अनुमान-प्रमाण—अग्निका ज्ञान दो प्रकारसे हो सकता है, एक अपने स्वरूपसे, जैसा कि **प्रत्यक्ष**से देखनेपर होता है; दूसरा, दूसरेके रूपसे, जैसे धुआँ देखनेपर एक दूसरी (=रसोईघरकी) आगका रूप याद आता है, और इस प्रकार दूसरेके रूपसे इस धुएँके लिंग (=चिह्न) वाली आगका ज्ञान होता है—यह अनुमान है। चूँकि पदार्थका "स्वरूप और पर-रूप दो ही तरहसे ज्ञान होता है, अतः प्रमाणके विषय (भेद) दो ही प्रकारके होते हैं"[3]—एक प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय और दूसरा अनुमानका विषय।

किन्तु "(जो पररूपसे अनुमान ज्ञान होता) है, वह जैसी (वस्तुस्थिति) है, उसके अनुसार नहीं लिया जाता, इसलिए (यह) दूसरे तरहका (ज्ञान) भ्रान्ति है। (फिर प्रश्न होता है) यदि (वस्तुका अपने-नहीं) पर-रूपसे

---

[1] "भ्रान्तिसंवृत्तिसज्ज्ञानं अनुमानानुमानिकम्। स्मार्ताभिलापिकं चेति प्रत्यक्षाभं सतैमिरम्।"—प्रमाण-समुच्चय।

[2] प्र० वा० ३।२८८ [3] प्र० वा० ३।५४

ज्ञान होता है, तो (वह भ्रान्ति है) और भ्रान्तिको प्रमाण नहीं कह सकते (क्योंकि वह अविसंवादी नहीं होगी)। (उत्तर है—) भ्रान्तिको भी प्रमाण माना जा सकता है, यदि (उस ज्ञानका) अभिप्राय (जिस अर्थसे है, उस अर्थ) में अ-विसंवाद न हो (=उसके विरुद्ध न जाये; क्योंकि) दूसरे रूपसे पाया ज्ञान भी (अभिप्रेत अर्थका संवादी) देखा जाता है।"[1] यहाँ पहाड़में देखे धुएँवाली आगके ज्ञानको हम अपने रूपमें नहीं पा, रसोईघर वाली आगके रूपके द्वारा पाते हैं, परन्तु हमारे इस अनुमान ज्ञानसे जो अभिप्रेत अर्थ (पहाड़की आग) है, उससे उसका विरोध नहीं है।

(a) **अनुमानकी आवश्यकता**—"वस्तुका जो अपना स्वरूप (=स्वलक्षण) है, उसमें कल्पना-रहित प्रत्यक्ष प्रमाणकी जरूरत होती है (यह बतला चुके हैं)। किन्तु (अनेक वस्तुओंके भीतर जो) **सामान्य** है, उसे कल्पनाके बिना नहीं ग्रहण किया जा सकता. इसलिए इस (सामान्यके ज्ञान) में अनुमानकी जरूरत पड़ती है।"[2]

(b) **अनुमानका लक्षण**—किसी "संबंधी (पदार्थ, धूमसे संबंध रखनेवाली आग) के **धर्म** (=लिंग, धूम) से धर्मी (=धर्मवाली आग) के विषयमें (जो परोक्ष) ज्ञान होता है, वह अनुमान है।"[3]

पहाड़में हम दूरसे धुआँ देखते हैं, हमें रसोईघर या दूसरी जगह देखी आग याद आती है, और यह भी कि "जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ आग होती है" फिर धुएँको हेतु बनाकर हम जान जाते हैं कि पर्वतमें आग है। यहाँ आग परोक्ष है, इसलिए उसका ज्ञान उसके अपने स्वरूपसे हमें नहीं होता, जैसा कि प्रत्यक्ष आगमें होता है; दूसरी बात है, कि हमें यह ज्ञान सद्यः नहीं होता, बल्कि उसमें स्मृति, शब्द-अर्थ-संबंध—अर्थात् कल्पना—का आश्रय

---

[1] वहीं ३।५५, ५६ [2] प्र० वा० ३।७५

[3] वहीं ३।६२ "अटूट संबंधवाले (दो) पदार्थों (मेंसे एक) का दर्शन उस (=संबंध) के जानकारके लिए अनुमान होता है" (अनन्तरीयकार्थ-दर्शनं तद्विदोऽनुमानम्"—वसुबन्धुकी वादविधि)।

लेना पड़ता है।

(प्रमाण दो ही)—प्रमाण द्वारा ज्ञेय (=प्रमेय) पदार्थ स्वरूप और पर-रूप (=कल्पना-रहित, कल्पना-युक्त) दो ही प्रकारसे जाने जाते हैं। इनमें पहिला प्रत्यक्ष रहते जाना जाता है, दूसरा परोक्ष (अ-प्रत्यक्ष) रहते। "प्रत्यक्ष और परोक्ष छोड़ और कोई (तीसरा) प्रमेय संभव नहीं है, इसलिए प्रमेयके (सिर्फ) दो होनेके कारण प्रमाण भी दो ही होते हैं। दो तरहके प्रमेयोंके देखनेसे (प्रमाणोंकी) संख्याको (बढ़ाकर) तीन या (घटाकर) एक करना भी गलत है।"[1]

(c) अनुमानके भेद—कणाद, अक्षपादने अनुमानको एक ही माना था, इसलिए आगे पूर्ववर्ती "ऋषियों"के पदपर चलते हुए प्रशस्तपाद जैसे थोड़ेसे अपवादोंके साथ आज तक ब्राह्मण नैयायिक उसे एक ही मानते आ रहे हैं। अनुमानके स्वार्थ-अनुमान, परार्थ-अनुमान ये दो भेद पहिले-पहिल आचार्य दिग्नागने किया।[2] दो प्रकारके अनुमानोंमें स्वार्थ-अनुमान वह अनुमान है, जिसमें तीन प्रकारके हेतुओं (=लिंगों, चिह्नों, धूम आदि) से किसी प्रमेयका ज्ञान अपने लिए (=स्वार्थ) किया जाता है।[3] परार्थानुमानमें उन्हीं तीन प्रकारके हेतुओं द्वारा दूसरेके लिए (=परार्थ) प्रमेयका ज्ञान कराया जाता है।

(d) हेतु (=लिंग) धर्म—पदार्थ (=प्रमेय) के जिस धर्मको हम देख कर कल्पना द्वारा उसके अस्तित्वका अनुमान करते हैं, वह हेतु है। अथवा "पक्ष (=आग) का धर्म हेतु है जो कि पक्ष (=आग) के अंश (=धर्म, धूम) में व्याप्त है।"[4]

"हेतु सिर्फ तीन तरहके होते हैं"[5]—कार्य-हेतु, स्वभाव-हेतु, और अनुपलब्धि-हेतु। हम किसी पदार्थका अनुमान करते हैं उसके कार्यसे—"पहाड़में आग है धूआं होनेसे"। यहाँ धूआं आगका कार्य है, इस तरह

---

[1] प्र० वा० ३।६३, ६४

[2] धर्मोत्तर (न्या०बिन्दु, पृ० ४२)

[3] देखो, न्यायबिन्दु २।३

[4] प्र० वा० १।३

[5] वही

कार्यसे उसके कारण (=आग) का हम अनुमान करते हैं। इसलिए "धुआँ होनेसे" यह हेतु **कार्य-हेतु** है।

"यह सामनेकी वस्तु वृक्ष है शीशम होनेसे", यहाँ "शीशम होनेसे" हेतु दिया गया है। वृक्ष सारे शीशमोंका स्वभाव (=स्व-रूप) है, सामनेकी वस्तुको यदि हम शीशम समझते हैं, तो उसे इस **स्वभाव-हेतुके** कारण वृक्ष भी मानना पड़ेगा।

"मेजपर गिलास नहीं है", "उपलब्धि-योग्य स्वरूपवाली होनेपर भी उसकी उपलब्धि न होनेसे" यह अनुपलब्धि हेतुका उदाहरण है। गिलास ऐसी वस्तु है, जो कि वहाँ होनेपर दिखाई देगा, उसके न दिखाई देने (उपलब्धि न होने) का मतलब है, कि वह मेजपर नहीं है। गिलासकी **अनुपलब्धि** यहाँ हेतु बनकर उसके न होनेको सिद्ध करती है।

अनुमानसे किसी बातको सिद्ध करनेके लिए कार्य-, स्वभाव-, अनुपलब्धिके रूपमें तीन प्रकारके हेतु इसीलिए होते हैं, क्योंकि हेतुवाले इन धर्मोंके बिना धर्मी (=साध्य, आग) कभी नहीं होता—इस धर्मका धर्मीके साथ अ-विनाभाव संबंध है। हम जानते हैं "जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग जरूर रहती है," "जो जो शीशम है वह वृक्ष जरूर होता है," "आँखसे दिखाई पड़नेवाला गिलास होनेपर जरूर दिखाई देता है, न दिखाई देनेका मतलब है नहीं होना।"

(९) मन और शरीर (क) एक दूसरेपर आश्रित—मन और शरीर अलग हैं या एक ही हैं, इसपर भी धर्मकीर्तिने अपने विचार प्रकट किए हैं। बौद्ध-दर्शनके बारेमें लिखते हुए हम पहिले बतला चुके हैं, और आगे भी बतलायेंगे, कि बौद्ध आत्माको नहीं मानते, उसकी जगह वह चित्त, **मन और विज्ञान**को मानते हैं, जो तीनोंही पर्याय हैं। मन शरीर नहीं है, किन्तु साथ ही "मन कायाके आश्रित है।"[1] इन्द्रियाँ काया (=शरीर) में होती हैं, यह हम जानते हैं, और "यद्यपि इन्द्रियोंके बिना बुद्धि (=मन, ज्ञान)

---

[1] प्र० वा० २।४३

नहीं होता, साथ ही इन्द्रियाँ भी बुद्धिके बिना नहीं होतीं, इस तरह दोनों (=इन्द्रियाँ और बुद्धि) अन्योन्य=हेतुक (=एक दूसरेपर निर्भर हैं), और इससे (मन और काया)का अन्योन्य-हेतुक होना (सिद्ध है)"।

(ख) मन शरीर नहीं—मन और शरीरका इस तरह एक दूसरेपर आश्रित होना—दोनोंमें अविनाभाव संबंध होना—हमें इस परिणामपर पहुँचाता है, कि मन शरीरसे सर्वथा भिन्न तत्त्व नहीं है, वह शरीरका ही एक अंश है; अथवा मन और शरीर दोनों उन्हीं भौतिक तत्त्वोंके विकास हैं, अतः तत्त्वतः उनमें कोई भेद नहीं—भूतमें ही चैतन्य है, जो चैतन्य है वह भूत है। धर्मकीर्ति अन्य बौद्ध दार्शनिकोंकी भाँति भूत-चैतन्यवाद (भौतिकवाद या जड़वाद)का खंडन करते हुए कहते हैं—"प्राण=अपान (=श्वास-प्रश्वास), इन्द्रियाँ और बुद्धि (=मन)की उत्पत्ति अपनेसे समानता रखनेवाले (=सजातीय) पूर्वके कारणके बिना केवल शरीरसे ही नहीं होती। यदि इस तरहकी उत्पत्ति (=जन्मग्रहण) होती, तो (प्राण-अपान-इन्द्रिय-बुद्धिवाले शरीरसे उत्पन्न होनेका) नियम न रहता (और जिस किसी भूतसे जीवन=प्राण अपान-इन्द्रिय-बुद्धि वाला शरीर उत्पन्न होता)।"[1]

जीवनवाले बीजसे ही दूसरे जीवनकी उत्पत्ति होती है, यह भी इस बातकी दलील है, कि मन (=चेतना) केवल भूतोंकी उपज नहीं है। कहीं-कहीं जीवन-बीजके बिना भी जीवन उत्पन्न होता दिखाई देता है, जैसेकि वर्षामें क्षुद्रकीट, इसका उत्तर देते हुए धर्मकीर्ति कहते हैं—

"पृथिवी आदिका ऐसा कोई अंश नहीं है जहाँ स्वेदज आदि जन्तु न पैदा होते हों, इससे मालूम होता है, सब (भूतसे उत्पन्न होती दिखाई देनेवाली वस्तुएँ) बीजात्मक है।"[2]

"यदि अपने सजातीय (जीवनयुक्त कारण)के बिना इन्द्रिय आदिकी उत्पत्ति मानी जाय, तो जैसे एक (जगहके भूत जीवनके रूपमें) परिणत

[1] प्र० वा० २।३५ [2] वहीं २।३७

हो जाते हैं, उसी तरह सभी (भूत परिणत हो जाने चाहिए); क्योंकि (पहिले जीवन-शून्य होनेमें सभी) एकसे हैं, (लेकिन हर कंकड़ और ढलेको सजीव आदमीके रूपमें परिणत होते नहीं देखा जाता)।"[1]

"बत्ती (तेल) आदिकी भाँति (कफ, पित्त आदि) दोषों द्वारा देह विगुण (=मृत) हो जाता है—यह कहना ठीक नहीं; ऐसा होता तो मरनेके बाद भी (कफ, पित्त आदि) दोषोंका शमन हो जाता है (फिर तो दोषोंके शमनसे विगुणता हट जानेके कारण मृतकको) फिर जी जाना चाहिए।

"यदि कहो (जलानेवाली) आगके निवृत्त (=शान्त) हो जानेपर भी काष्ठके विकार (=कोयले या राख)की निवृत्ति (पहिले काष्ठके रूपमें परिणति) नहीं होती, उसी तरह (मृत शरीरकी भी कफ आदिके शान्त होनेपर भी सजीव शरीरके रूपमें) परिणति नहीं होती—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि चिकित्साके प्रयोगसे (जब दोषोंको हटाया जाता है, तो शरीर प्रकृतिस्थ हो जाता है किन्तु वह शरीरके सजीव होने ही होते)।

"(दोषोंसे होनेवाले विकारोंकी निवृत्ति या अनिवृत्ति सभी जगह एक-सी नहीं है) कोई वस्तु कहीं-कहीं न लौटने देनेवाले (=अनिवर्त्य) विकार की जनक (=उत्पादक) होती है, जैसे आग काष्ठके बारेमें (अनिवर्त्य विकारकी जनक) है; और कहीं उलटा (=निवर्त्य विकार-जनक) है, जैसे (वही आग) सुवर्णमें। पहिले (काष्ठकी आग)का थोड़ा भी विकार (=काला आदि पड़ जाना) अनिवर्त्य (=न लौटाया जानेवाला) है। (किन्तु दूसरे सोना-आगमें जो) लौटाया जा सकनेवाला (=प्रत्यानेय) विकार है, वह फिर (पूर्ववत् पिघले) ठोस सोनेकी तरह हो सकता है।

"(जो कुछ) असाध्य कहा जाता है, (वह रोगों और मृत्युके कारण कफ आदि दोषोंके) निवारक (औषधों)के दुर्लभ होनेसे अथवा आयुकी

---

[1] प्र० वा० २।३८

क्षयकी वजहसे (कहा जाता है)। यदि (भौतिकवादियोंके मतानुसार) केवल (भौतिक दोष ही मृत्युके कारण हों) तो (ऐसे दोषोंका हटाना) असाध्य नहीं हो सकता।

"(माना जाता है कि साँप काटनेपर जब तक जीवन रहता है, तब तक विष सारे शरीरमें फैलता जाता है, किन्तु शरीरके निर्जीव हो जानेपर विष काटे स्थानपर जमा हो जाता है, इस तरह तो यदि भूत ही चेतना होती, तो (शरीरके) मर जानेपर विष आदिके (शरीरके अन्य स्थानोंसे हटकर एक स्थानपर) जमा होनेसे (शरीरके बाकी स्थानों) अथवा कटे (स्थान)के काट डालनेसे (बाकी शरीरमें निर्जीवताकारी) विकारके हेतु (=विष)के हट जानेसे वह (शरीर) क्यों नहीं साँस लेने लगता? (इससे पता लगता है कि चेतना भूत ही नहीं है, बल्कि उससे भिन्न वस्तु है; यद्यपि दोनों एक दूसरेके आश्रित होनेसे अलग-अलग नहीं रह सकते)।

"(भूतसे चेतनाकी उत्पत्ति माननेपर भूत उपादान और चेतना उपादेय हुई फिर) उपादान (=शरीर)के विकारके बिना उपादेय (=चेतना)में विकार नहीं किया जा सकता, जैसे कि मिट्टीमें विकार बिना (मिट्टीके बने) कसोरे आदिमें (विकार नहीं किया जा सकता)। किसी वस्तुके विकार-युक्त हुए बिना जो पदार्थ विकारवान् होता है, वह वस्तु उस (पदार्थ)का उपादान नहीं (हो सकती); जैसे कि (एकके विकारके बिना दूसरी विकार-युक्त होनेवाली) गाय और नीलगायमें (एक दूसरेका उपादान नहीं हो सकती); इसी तरह मन और शरीरकी भी (बात है, दोनोंमेंसे एकके विकार-युक्त हुए बिना भी दूसरेमें विकार देखा जाता है)।"[1]

(ग) मनका स्वरूप—"स्वभावसे मन प्रभास्वर (=निर्विकार) है, (उसमें पाए जानेवाले) मल आगन्तुक (आकाशमें अंधकार, कुहरा आदिकी भाँति अपनेसे भिन्न) है।"[2]

---

[1] प्र० वा० २।५४-६२ [2] वहीं २।२०८

४. दूसरे दार्शनिकोंका खंडन

धर्मकीर्त्तिने अपने ग्रंथ प्रमाण-वार्त्तिकमें अपने दार्शनिक सिद्धान्तोंका समर्थन और प्रतिपादन ही नहीं किया है, बल्कि उन्होंने अपने समय तककी हिन्दू दार्शनिक प्रगतिकी आलोचना भी की है। जिन दार्शनिकोंके ग्रंथोंको सामने रखकर उन्होंने यह आलोचना की है, उनमें उद्योतकर और कुमारिल्ल जैसे प्रमुख ब्राह्मण दार्शनिक भी हैं। हमने पुनरुक्ति और ग्रंथ-विस्तारके डरसे उनके बारेमें अलग नहीं लिखा, किन्तु यहाँ धर्मकीर्त्तिकी आलोचनासे उनके विचारोंको हम जान सकते हैं।

(१) नित्यवादियोंका सामान्यरूपसे खंडन—पहिले हम उन सिद्धान्तोंको ले रहे हैं, जिन्हें एकसे अधिक दार्शनिक सम्प्रदाय मानते हैं।

(क) नित्यवादका खंडन—अनित्यवाद (=क्षणिकवाद)का घोर पक्षपाती होनेसे बौद्धदर्शन नित्यवादका जबर्दस्त विरोधी है। भारतके बाकी सारे ही दार्शनिक किसी-न-किसी रूपमें नित्यवादको मानते हैं, जैन और मीमांसक जैसे आत्मवादी ही नहीं चार्वाक जैसे भौतिकवादी भी भूतके सूक्ष्मतम अवयवको क्षणिक (=अनित्य) कहनेके लिए तैयार नहीं थे, जैसे कि पिछली सदी तकके यूरोपके यान्त्रिक भौतिकवादी विश्वकी मूल ईंटों—परमाणुओं—को क्षणिक कहनेके लिए तैयार न थे।

दिग्नाग कहते हैं—"कारण (स्वयं) विकारको प्राप्त होकर ही दूसरी (चीज)का कारण हो सकता है।"[1] धर्मकीर्त्तिने कहा—"जिसके होनेके बाद जिस (वस्तु)का जन्म होता है, अथवा (जिसके) विकारयुक्त होनेपर (दूसरी वस्तु)में विकार होता है, उसे उस (पीछेवाली वस्तु)का कारण कहते हैं।"[2]

इस प्रकार कारण वही हो सकता है जिसमें विकार हो सकता है। "नित्य (वस्तु) में यह (बात) नहीं हो सकती, अतः ईश्वर आदि (जो नित्य

---

[1] "कारणं विकृतिं गच्छज्जायतेऽन्यस्य कारणम्"।

[2] प्र० वा० २।१८१-८२

पदार्थ) हैं, उनसे (कोई वस्तु) उत्पन्न नहीं हो सकती।"[1]

"जिसे अनित्य नहीं कहा जा सकता, वह किसी (चीज)का हेतु नहीं हो सकता। (नित्यवादी) विद्वान् उसी (स्वरूप)को नित्य कहते हैं जो स्वभाव (=स्वरूप) विनष्ट नहीं होता।"[2]

यह भी बतला चुके हैं कि धर्मकीर्त्ति परमार्थ-सत् उसी वस्तुको मानते हैं, जो कि अर्थवाली (=सार्थक) क्रिया (करने) में समर्थ हो। नित्यमें विकारका सर्वथा अभाव होनेसे क्रिया हो ही नहीं सकती। आत्मा, ईश्वर, इन्द्रिय आदिसे अगोचर है, साथ ही वह नित्य होनेके कारण निष्क्रिय भी है; इतनेपर भी उनके अस्तित्वकी घोषणा करना यह साहस मात्र है।

(ख) आत्मवादका खंडन—चार्वाक और बौद्ध-दर्शनको छोड़ बाकी सारे भारतीय दर्शन आत्माको एक नित्य चेतन पदार्थ मानते हैं। बौद्ध अनात्मवादी हैं, अर्थात् आत्माको नहीं मानते। आत्माको न माननेपर भी क्षण-क्षण परिवर्तनशील चेतना-प्रवाह (=विज्ञान-संतति) एकसे दूसरे शरीरसे जुड़ता (=प्रतिसंधि ग्रहण करना) रहता है, इसे हम पहिले बतला चुके हैं। चेतना (=मन या विज्ञान) सदा कायाश्रित रहता है। जब कि एक शरीरका दूसरे शरीरसे एकदम सन्निकटका संबंध नहीं है, मरनेवाला **क** शरीर भूलोकपर है और उसके बादका सजीव बननेवाला **ख** शरीर मंगललोकमें; ऐसी अवस्थामें **क** शरीरको छोड़ **ख** शरीर तक पहुँचनेमें बीचकी एक अवस्था होगी, जिसमें विज्ञानको कायासे बिलकुल स्वतंत्र मानना पड़ेगा, फिर "मन कायाश्रित है"—कहना गलत होगा। इसका उत्तर बौद्ध कह सकते हैं, कि हम मनको एक नहीं बल्कि प्रवाह मानते हैं, प्रवाहका अर्थ निरन्तर—अ-विच्छिन्न चली जाती एक वस्तु नहीं, बल्कि, हर क्षण अपने रूपसे विच्छिन्न—सर्वथा नष्ट—होती, तथा उसके बाद उसी तरहकी किन्तु बिलकुल नई चीजका उत्पन्न होना, और इस . . . . नष्ट-उत्पत्ति-नष्ट-उत्पत्ति . . . . मे एक विच्छिन्न प्रवाहका

[1] वहीं २।१८३ [2] वहीं २।२०४

जारी रहना। चेतन-प्रवाह इसी तरहका विच्छिन्न प्रवाह है, वह जीवन-रेखा मालूम होता है, किन्तु है जीवन-बिन्दुओंकी पाँती। फिर प्रवाहको विच्छिन्न मान लेनेपर "मन कायाश्रित"का मतलब मनके हर एक "बिन्दु"को बिना कायाके नहीं रहना चाहिए। **क** शरीर—जो कि स्वयं क्षण-क्षण परिवर्तन-शील शरीर-निर्मापक मूल बिन्दुओं (=कणों)का विच्छिन्न प्रवाह है—का अन्तिम चित्त-बिन्दु नष्ट होता है, उसका उत्तराधिकारी **ख** शरीरके साथ होता है। **क** शरीर(-प्रवाह)के अन्तिम और **ख** शरीर(-प्रवाह)के आदिम चित्त-बिन्दुओं (**क**-चित्त, **ख**-चित्त)के बीच यदि किसी **ग** चित्त-बिन्दुको मानें तब न आक्षेप किया जा सकता है, कि **ग** चित्त-बिन्दु कायाके बिना है। इस तरह स्थिर (=नित्य या चिरस्थायी) नहीं बल्कि बिजलीकी चमकसे भी बहुत तेज गतिसे "आँख मिचौनी" करनेवाले चित्त-प्रवाहके (अनात्म तत्त्व)को मानते हुए भी वह एकसे अधिक शरीरों (=शरीर-प्रवाहों)में उसका जाना सिद्ध करते हैं।

(a) **नित्य आत्मा नहीं**—आत्माको नित्य माननेवाले वैसा मानना सबसे जरूरी इस बातके लिए समझते हैं, कि उसके बिना बंध—जन्म-मरणमें पड़कर दुःख भोगना और मोक्ष—दुःखोंसे छूटकर परम "सुखी" हो विचरण करना—दोनों संभव नहीं। इसपर धर्मकीर्त्ति कहते हैं—

"दुःखकी उत्पत्तिमें कारण (=कर्म) **बंध** है, (किन्तु) जो नित्य है (वह निष्क्रिय है इसलिए) वह ऐसा (कारण) कैसे हो सकता है? दुःखकी उत्पत्ति न होनेमें कारण (कर्मसे उत्पन्न बंधसे) मोक्ष (मुक्त होना) है, जो नित्य है, वह ऐसा (कारण) कैसे हो सकता है? (वस्तुतः) जिसे अ-नित्य (=क्षणिक) नहीं कहा जा सकता, वह किसी (चीज)का कारण नहीं हो सकता।...नित्य उस स्वरूपको कहते हैं, जो कि नष्ट नहीं होता। इस लज्जाजनक दृष्टि (=नित्यताके सिद्धान्त)को छोड़कर उसे (=आत्माको) (अतः) अनित्य कहो।"[1]

---

[1] प्र० वा० २।२०२-२०५

(b) नित्य आत्माका विचार (=सत्काय दृष्टि) सारी बुराइयोंकी जड़—"मैं सुखी होऊँ या दुःखी नहीं होऊँ—यह तृष्णा करते (पुरुष)को जो 'मैं' ऐसा ख्याल (=बुद्धि) होती है, वही सहज आत्मवाद (=सत्त्व-दर्शन) है। 'मैं' ऐसी धारणाके बिना कोई आत्मामें स्नेह नहीं कर सकता; और आत्मामें (इस तरहके) स्नेहके बिना सुखकी कामना करनेवाला बन (कोई गर्भस्थानकी ओर) दौड़ नहीं सकता है।"[1]

"जब तक आत्मा-संबंधी प्रेम नहीं छूटता, तब तक (पुरुष अपनेको) दुःखी मानता रहेगा और स्वस्थ (=चिन्ता-रहित) नहीं हो सकेगा। यद्यपि कोई (अपनेको) मुक्त करनेवाला नहीं है, तो भी ('मैं, मेरा', जैसे) झूठे ख्याल (=आरोप)को हटानेके लिए यत्न करना पड़ता है।"[2]

"यह (क्षणिक मन-, शरीर-प्रवाहसे) भिन्न आत्माका ख्याल है, जिससे उसमें उल्टे स्वभाव (=वस्तुकी स्थिरता आदि)में राग (=स्नेह) उत्पन्न होता है।"[3]

"आत्माका ख्याल (केवल) मोह, और वही सारी बुराइयोंकी जड़ (=दोषोंका मूल) है।"[4]

"(यह) मोह **सत्काय दृष्टि** (=नित्य आत्माकी धारणा) है; मोह-मूलक ही सारे मल (=चित्त-विकार) हैं।"[5]

धर्मके माननेवालोंके लिए भी आत्मवाद (=सत्काय-दृष्टि) बुरी चीज है, इसे बतलाते हुए कहा है—

"जो (नित्य) आत्माको मानता है, उसका "मैं" इस तरहका स्नेह (=राग) सदा बना रहता है, स्नेहसे सुखकी तृष्णा करता है, और तृष्णा दोषोंको ढाँक देती है। (दोषोंके ढँक जानेसे वहाँ वह गुणोंको देखता है, और) गुणदर्शी तृष्णा करते हुए 'मेरा' (सुख)' ऐसी (चाह करते) उस (की प्राप्ति)के लिए साधनों (=पुनर्जन्म आदि)को ग्रहण करता है।

---

[1] प्र० वा० २।२०१-२ [2] वहीं २।१६१-६२
[3] प्र० वा० १।१६५ [4] वहीं २।१६६ [5] वहीं २।२१३

इस सत्काय-दृष्टिसे जब तक आत्माकी धारणा है, तब तक वह संसार (=भवसागर)में है। आत्मा (=मेरा) जब है, तभी पराए (=मन)-का ख्याल होता है। मेरा-परायाका भेद जब (पुरुषमें) आता है, तो लेना, छोड़ना (=राग, द्वेष) होता है, इन्हीं (लेने छोड़ने)से बँधे सारे दोष (=ईर्ष्या आदि) पैदा होते हैं। जो नियमसे आत्मामें स्नेह करता है, वह आत्मीय (=सुख साधनों)में रागरहित नहीं हो सकता।"[1]

"आत्माकी धारणा सर्वथा अपने (व्यक्तित्वमें) स्नेहको दृढ़ करती है। आत्मीयोंके प्रति स्नेहका बीज (जब मौजूद है, तो वह दोषोंको) वैसा ही कायम रखेगा।"

"(वस्तुतः आत्मा नहीं नैरात्म्य ही है,) किन्तु नैरात्म्यमें जब (गलतीसे) आत्म-स्नेह आ गया, तो उसमें (=आत्मस्नेहमें कि जिसे वह आत्मीय सुख आदिकी चीज समझता है, उसमें) जितना भी लाभ हो, उसके अनुसार क्रिया-परायण होता है। (—बड़ा लाभ न होनेपर छोटे लाभको भी हासिल करनेसे बाज नहीं आता, जैसे) मत्तकामिनी (=मत्त-गजगामिनी सुन्दरी)के न मिलनेपर (कामुक पुरुष) पशुसे भी कामतृप्ति करता है।"[2]

इस प्रकार नित्य आत्मा युक्तिसे सिद्ध नहीं हो सकता है, और धर्म, परलोक, मुक्तिमें भी उसके माननेसे बाधा ही होती है।

(ग) ईश्वर-खंडन—ईश्वरवादी ईश्वरको नित्य और जगत्का कर्त्ता मानते हैं। धर्मकीर्त्ति ईश्वरके अस्तित्वका खंडन करते हुए कहते हैं—

"जैसे (स्वरूपसे) वह (ईश्वर जगत्की सृष्टिके वक्त) कारण वस्तु है, वैसे ही (स्वभावसे सृष्टि करनेसे पहिले) वह अ-कारण भी था। (आखिर स्वरूपसे एकरस होनेसे दोनों अवस्थामें उसमें भेद नहीं हो सकता, फिर) जब वह कारण (माना गया, उसी वक्त) किस (वजह)से (वैसा) माना गया (और) अ-कारण नहीं माना गया ?[3]

---

[1] प्र० वा० २।२१७-२२० [2] वहीं २।२३५, २३६ [3] वहीं २।२३३

"(कारक और अकारक दोनों अवस्थाओंमें एकरस रहनेवाला ईश्वर जब कारण कहा जाता है, तो प्रश्न होता है—) राम (के शरीर) में शस्त्रके लगनेसे घाव और औषधके लगनेसे घाव-भरना (देखा जाता है); शस्त्र और औषध क्षणिक होनेसे क्रिया कर सकते हैं, इसलिए उनके लिए यह सम्भव है; किन्तु यदि (नित्य अतएव निष्क्रिय ईश्वरको कारक मानते हो, तो क्रिया आदि) संबंध-रहित ठूँठमें ही क्यों न विश्वकी कारणता मान लेते ?

"(यदि कहो कि ईश्वरके सृष्टिके कारक होनेकी अवस्थामें अकारक अवस्थामें विशेषता होती है, तो प्रश्न होगा—ऐसा होनेसे उसके स्वरूपमें परिवर्तन हो जायगा; क्योंकि) स्वरूपमें परिवर्तन हुए बिना (वह कारक नहीं हो सकता, और नित्य होनेसे) वह कोई व्यापार (=क्रिया) नहीं कर सकता। और (साथ ही), जो नित्य है, वह तो अलग नहीं (सदा वहाँ मौजूद) है, (फिर उसकी सृष्टि-रचना-संबंधी) सामर्थ्यके बारेमें यह समझना मुश्किल है (कि सदा अपनी उसी सामर्थ्यके रहते भी वह उसे एक समय ही प्रदर्शित कर सकता है, दूसरे समय नहीं)।

"जिन (कारणों) के होनेपर ही जो (कार्य) होता है, उन (कारणों) से अन्यको उस (कार्य) का कारण माननेपर (कारण ढूँढते वक्त ईश्वर तक ही जाकर थम जाना नहीं पड़ेगा, बल्कि) सर्वत्र कारणोंका खातमा ही नहीं होगा (ईश्वरके आगे भी और तथा उससे आगे और. . . . कारण ढूँढने पड़ेंगे।)

"(कारण वही होता है, जिसके स्वरूपमें कार्यके उत्पादनके समय परिवर्तन होता है) भूमि आदि अंकुर पैदा करनेमें कारण अपने स्वरूप-परिवर्तन करते हुए होते हैं; क्योंकि उन (=भूमि आदि) के संस्कारसे अंकुरमें विशेषता देखते हैं। (ईश्वर अपने स्वरूपमें परिवर्तन किए बिना कारण नहीं बन सकता, और स्वरूप-परिवर्तन करनेपर वह नित्य नहीं रह सकता)।"[1]

---

[1] प्र० वा० २।२१-२५

ईश्वरवादी ईश्वर सिद्ध करनेके लिए इसे एक जबर्दस्त युक्ति समझते हैं—सन्निवेश (=खास आकार-प्रकार)की वस्तुको देखनेपर कर्त्ताका अनुमान होता है, जैसे सन्निवेशवाले घड़ेको देखकर उसके कर्त्ता कुम्हारका अनुमान होता है। इसका उत्तर देते हुए धर्मकीर्त्ति कहते हैं—

"किसी वस्तु (=घट)के बारेमें (पुरुषकी उपस्थितिमें सन्निवेशका होना यदि) प्रसिद्ध है, तो उसके एकसे शब्द (=सन्निवेश पुरुषपूर्वक होता है)की समानतासे (कुम्हारकी तरह ईश्वरका) अनुमान करना ठीक नहीं; जैसे कि (एक जगह कहीं) पीले रंगवाले धुएँको देखकर आपने आगका अनुमान किया, और फिर सभी जगह पीले रंगको देखकर आगका अनुमान करते चले। यदि ऐसा न मानें तब तो चूँकि कुम्हारने मिट्टीके किसी घड़े आदिको बनाया, इसलिए दीमकोंके 'टीले'को कुम्हारकी ही कृति सिद्ध करना होगा।"[1]

पहिले **सामग्रीकारणवाद**के बारेमें कहते वक्त धर्मकीर्त्ति बतला चुके हैं, कि कोई एक वस्तु कार्यको नहीं उत्पादन करती, अनेक वस्तु मिलकर अर्थात् कारण-सामग्री कार्य करनेमें समर्थ होती है।

(२) न्याय-वैशेषिक खंडन—वैशेषिक और न्याय-दर्शनमें जगत्को बाहरसे परिवर्तनशील मानते हुए, यूनानी दार्शनिकों—खासकर अरस्तूके दर्शन—का अनुसरण करते हुए, बाहरी परिवर्तनके भीतर नित्य एक रस तत्त्वों—चेतन और जड़ मूल तत्त्वोंको सिद्ध करनेकी कोशिश की गई है। बौद्धदर्शन अपवादरहित क्षणिकताके अटल सर्वव्यापी नियमको स्वीकार करते हुए किसी स्थिरता-साधक सिद्धान्तको माननेके लिए तैयार नहीं था; इसीलिए हम प्रमाणवार्त्तिकमें धर्मकीर्त्तिको मुख्यतः ऐसे सिद्धान्तोंका जबर्दस्त खंडन करते देखते हैं। वैशेषिकने स्थिरवादी सिद्धान्तके अनुसार अपने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय—छै पदार्थोंको स्वीकृत किया है, इनमें कर्म और विशेष ही हैं जिनके माननेमें बौद्धोंको आनाकानी

---

[1] वहीं २।१२, १३

नहीं हो सकती थी; क्योंकि कर्म या क्रिया क्षणिकवादका ही साकार—परमार्थसत्—स्वरूप है और **हेतु-सामग्री** तथा **अपोह** (जिसके बारेमें आगे शब्दप्रमाणपर बहस करते वक्त लिखेंगे)के सिद्धान्तोंको माननेवाले होनेसे **विशेष**को भी वह स्वीकार कर लेते थे। बाकी द्रव्य, गुण, सामान्य, समवायको वह कल्पनापर निर्भर व्यवहारसत्के तौरपर ही मान सकते थे।

(क) द्रव्य गुण आदिका खंडन—बौद्धोंकी परमार्थसत् और व्यवहारसत् की परिभाषाके बारेमें पहिले कहा जा चुका है, उसमें परमार्थ सत्की कसौटी उन्होंने—अर्थक्रिया—को रखा है। विश्वमें जो कुछ वस्तु सत् है, वह अर्थ-क्रियामें व्याप्त है, जो अर्थक्रियाकारी नहीं है, वह वस्तु सत् (=परमार्थसत्)नहीं हो सकती। विश्व और उसकी "वस्तुओं"के बारेमें ऐसा विचार रखते हुए वह वस्तुत. "वस्तु"को ही नहीं मान सकते थे; क्योंकि "वस्तु"से साधारण जनके मनमें स्थिर पदार्थका ख्याल आता है; इसीलिए बौद्ध दार्शनिकोंने वस्तुके स्थानमें "धर्म" या "भाव" शब्दका अधिक प्रयोग करना चाहा है। "धर्म"को मजहब या मजहबी स्थिर-सत्यके अर्थमें नहीं, बल्कि विच्छिन्न प्रवाहके उन विन्दुओंके अर्थमें लिया है, जो क्षण-क्षण नष्ट और उत्पन्न होते वस्तुके आकारमें हमें दिखलाई पड़ते हैं। "भाव" (=होना) को वह इसीलिए पसन्द करते हैं, क्योंकि वस्तु-स्थिति हमें "है"का नहीं बल्कि "होने"का पता देती है—विश्व स्थिर तत्त्वोंका समूह नहीं है कि हम "है"का प्रयोग करें, बल्कि वह उन घटनाओंका समूह है जो प्रतिक्षण घटित हो रही है। वैशेषिककी द्रव्य, गुणकी कल्पना **भाव**के पीछे छिपे **विच्छिन्न-प्रवाह** वाले विचारके विरुद्ध है।

वैशेषिकका कहना है—द्रव्य और गुण दो चीजें (पदार्थ) हैं, जिनमें गुण वह है जो सदा किसीके आधारपर रहता है, गंधको हमेशा हम पृथिवी (तत्त्व)के आधारपर देखते हैं, रसको जल (तत्त्व)के आधारपर। उसी तरह जहाँ-जहाँ हम द्रव्य देखते हैं, वहाँ-वहाँ उसके आधेय—गुण—भी पाए जाते हैं, जहाँ-जहाँ पृथ्वी (तत्त्व) मिलता है, वहाँ-वहाँ उसका आधेय गुण गंध भी मिलता है। इस तरह गुणके लिए कोई आधार होना चाहिए, यह

ख्याल हमें द्रव्यकी सत्ता स्वीकार करनेके लिए मजबूर करता है; और द्रव्य सदा अपने आधेय गुणके साथ रहता है, यह ख्याल हमें गुणकी सत्ताको स्वीकार करनेके लिए मजबूर करता है। बौद्धोंका कहना है—प्रकृति इस द्रव्य गुणके भेदको नहीं जानती, यह तो हम समझनेकी आसानीके लिए अलग करके कहते हैं; जिस तरह प्रकृति दस आमोंमेंसे एकको पहिला, एकको दूसरा. . . .इस तरह नंबर देकर हमारे सामने उपस्थित नहीं करती, हर एक आम एक दूसरेसे भिन्न है—बस वह इतना ही जानती है। "**भाव** प्रतिक्षण विनष्ट हो रहे हैं, **भावोंके** प्रवाहकी उस तरह की (प्रतिक्षण विनाशसे युक्त) उत्पत्तिसे (सिद्ध होता है, कि यह उत्पत्ति सदा) स-हेतुक (=कारण या पूर्ववर्त्ती **भावके** होनेपर) होती है, इससे आश्रय (=आधार है, सिर्फ इसी अर्थमें लेना चाहिए कि हर एक भावकी उत्पत्तिके पहिले भाव-प्रवाह मौजूद रहता) है, इससे भिन्न अर्थमें (आश्रय, आधार या द्रव्यका मानना) अ-युक्त है।"[1]

जैसे जलका आधार घड़ेको मानते हैं, उसी तरह गंधका आधार पृथिवी (-तत्व) है, यह कहना गलत है "जल आदिके लिए आधार (की जरूरत) हो सकती है, क्योंकि (गतिशील जलके) गमनका (घड़ेसे) प्रतिबंध होता है। गुण, **सामान्य** (=जाति) और कर्म (तो तुम्हारे मतमें गतिरहित हो द्रव्यके भीतर रहते हैं, फिर ऐसे) गतिहीनोंको आधार लेकर क्या करना है?"[2]

इस तरह आधारकी कल्पना गलत साबित होनेपर आधेय गुण आदिका पृथक् पदार्थ होना भी गलत ख्याल है। गुण सदा द्रव्यमें रहता है, अर्थात् दोनोंके बीच **समवाय** (=नित्य) संबंध है, तथा द्रव्य गुणका समवायी (=नित्य संबंध रखनेवाला) कारण है, यह समवाय और समवायी-कारणका ख्याल भी पूर्व-खंडित द्रव्य-गुणकी कल्पनापर आधारित होनेसे गलत है।

---

[1] प्र० वा० २।६७ [2] प्र० वा० २।६८

(ख) सामान्यका खंडन—गायें करोड़ों हैं, जब हम उनकी भूत, वर्तमान, भविष्यकी व्यक्तियोंपर विचार करते हैं, तो वह अनगिनत मालूम होती हैं। इन अनगिनत गाय-व्यक्तियोंमें एक बात हम सदा पाते हैं, वह है गायपन (=गोत्व), जो गाय व्यक्तियोंके मरने रहनेपर भी हर नई उत्पन्न गायमें पाया जाता है। अनेक व्यक्तियोंमें एकसा पाया जानेवाला यह पदार्थ **सामान्य** या **जाति** है, जो नित्य—सर्वकालीन—है। यह है सामान्यको सिद्ध करनेमें वैशेषिककी युक्ति, जिसके बारेमें पहिले लिख चुकनेपर भी प्रकरणके समझनेमें आसानीके लिए हमें यहाँ फिर कहना पड़ा है।

अनुमानके प्रकरणमें धर्मकीर्ति कह चुके हैं, कि **सामान्य** अनुमानका विषय है, साथ ही सामान्य वस्तु-सत् नहीं बल्कि कल्पनापर निर्भर है। इस तरह जहाँ तक व्यवहारका संबंध है, उसके माननेमें वह इन्कार नहीं करते इसीलिए वह कहते हैं—

"बाहरी अर्थ (=पदार्थ)की अपेक्षाके बिना जैसे (अर्थ, पदार्थमें) उसे वाचक मान वक्ता जिस शब्दको नियत करते हैं, वह शब्द वैसा (ही) वाचक होता है।

"(एक स्त्रीके लिए भी संस्कृतमें बहुवचन) दारा, (छ नगरोंके बहुवचनवाले अर्थके लिए संस्कृतमें एक वचन) षण्णगरी (छ नगरी) कहा जाता है, जैसे (शब्द-रूपों)में एक वचन और बहुवचनकी व्यवस्थाका क्या कारण है? अथवा (सामान्य अनेक व्यक्तियोंमें एक होता है, आकाश तो ख सिर्फ एक है फिर) खका स्वभाव खपन (=आकाशपन) यह सामान्य क्यों माना जाता है?"[1]

इसका अर्थ यही है, शब्दोंके प्रयोगमें वस्तुकी पर्वाह नहीं करके वक्ता बहुत जगह स्वतंत्रता दिखलाते हैं, गायपन आदि इसी तरहकी उनकी "स्वतंत्र" कल्पना है, जिसके ऊपर वस्तुस्थितिका फैसला करना गलत होगा।

"(सर्वथा एक दूसरेसे) भिन्नता रखनेवाले भावों (=वस्तुओं)का

---

[1] प्र० वा० १।६८, ६९

लेकर जो एक अर्थ (=गायपन) जतलानेवाली (बुद्धि=ज्ञान पैदा होती है, जिस)के द्वारा उन (भावों)का (वास्तविक) रूप ढँक (=संवृत हो) जाता है, (इसलिए ऐसे ज्ञानको) **संवृति** (=वास्तविकताको ढाँकनेवाली) कहते हैं।

"ऐसी **संवृतिसे** (भावों=गायों. . . .)का नानापन ढँक गया है, (इसीलिए) भाव (=गायें आपसमें) स्वयं भिन्नता रखते हुए (भी) किसी (कल्पित) रूपसे अभिन्नता रखनेवालेसे जान पड़ते हैं।

"उसी (संवृति या कल्पनावाली बुद्धि)के अभिप्रायको लेकर **सामान्यको** सत् कहा जाता है; क्योंकि परमार्थसे वह अ-सत् (और) उस (संवृति बुद्धि)के द्वारा कल्पित है।"[1]

गायपन एक वस्तु सत् है, जो सभी गाय-व्यक्तियोंमें है, यह ख्याल गलत है, क्योंकि—

"व्यक्तियाँ (भिन्न-भिन्न गायें एक दूसरेमें) अनुगत नहीं हैं, (और) न उन (भिन्न गाय व्यक्तियों)में (कोई) अनुगत होनेवाला (पदार्थ) दीख पड़ता है (; जो दीखती है, वह भिन्न-भिन्न गाय-व्यक्तियाँ हैं)। ज्ञानसे अभिन्न (यह सामान्य) कैसे (एकसे) दूसरे पदार्थको प्राप्त हो सकता है?

"इसलिए (अनेक) पदार्थोंमें एकरूपता (=सामान्य)का ग्रहण झूठी कल्पना है, इस (झूठी कल्पना)का मूल (व्यक्तियोंका) पारस्परिक भेद है, जिसके लिए (गोत्व आदि) संज्ञा (=शब्दका प्रयोग होता) है।"[2]

"यदि (संज्ञाओं शब्दों द्वारा पदार्थोंका) भेद (मालूम होता है, तो इतना ही तो शब्दोंका प्रयोजन है, फिर) वहाँ सामान्य या किसी दूसरी (चीजकी कल्पनासे) तुम्हें क्या (लेना) है?"[3]

वस्तुतः गायपन आदि सामान्यवाची शब्द विद्वानोंने व्यवहारके सुभीतेके लिए बनाए हैं।

---

[1] प्र० वा० १।७०-७२ [2] प्र० वा० १।७३-७४ [3] वहीं १।९९

"एक (तरहके) कार्य (करनेवाले) भावों (='वस्तुओं')में उनके कार्योंके जतलानेके लिए भेद करनेवाली संज्ञा (की जरूरत होती है, जैसे दूध तथा श्रम देना आदि क्रियाओंको करनेवाली गायोंमें उनके कार्योंके जतलानेके लिए भेद करनेवाली संज्ञाकी; किन्तु गाय-व्यक्तियोंके अनगिनत होनेसे हर व्यक्तिकी अलग-अलग संज्ञा रखनेपर नाम) बहुत बढ़ जाता, (वह) हो भी नहीं सकता था, और (प्रयास) फजूल भी होता, इसलिए (व्यवहार कुशल) वृद्धोंने उस (गायवाले) कार्यमें फर्क करनेके विचारसे एक शब्द (=गाय नाम) प्रयुक्त किया।"[1]

फिर प्रश्न होता है, सामान्य (=गायपन) जिसे नित्य कहते हो, वह एक-देशी है या सर्वव्यापी? यदि कहो वह एकदेशी अर्थात् अपनेसे संबंध रखनेवाली गाय-व्यक्तिमें ही रहता है, तो—

"(एक गायमें स्थित सामान्य उस व्यक्तिके मरने तथा दूसरी गायके उत्पन्न होनेपर एकसे दूसरेमें) न जाता है, और न उस (व्यक्तिकी उत्पत्ति वाले देश)में (पहिलेसे) था (; क्योंकि वह सिर्फ व्यक्तियोंमें ही रहता है) और (व्यक्तिकी उत्पत्तिके) पीछे (भी जरूर) है (क्योंकि सामान्यके बिना व्यक्ति हो नहीं सकती); यदि (सामान्यको) अंशवाला (मानते हो, जिससे कि उसका एक अंश—द्वार पहिली व्यक्तिसे और दूसरा पीछे उत्पन्न होनेवाली व्यक्तिसे संबद्ध हो)। और (अंशरहित माननेपर यह नहीं कह सकते कि वह) पहिलेके (उत्पन्न होकर नष्ट होते) आधारको छोड़ता है (क्योंकि ऐसा माननेपर देश-कालके अन्तरको नित्य सामान्य जब पार करेगा, उस वक्त उसे व्यक्तिसे अलग भी मानना पड़ेगा। इस प्रकार बेचारे सामान्यवादीके लिए) मुसीबतोंका अन्त नहीं।

"दूसरी जगह वर्तमान (सामान्य)का अपने स्थानसे बिना हिले उस (पहिले स्थान)से दूसरे स्थानमें जन्मनेवाले (पिंड)में मौजूद होना युक्ति-युक्त बात नहीं है।

[1] प्र० वा० १।१३९-१४०

"जिस (देश) में वह भाव (=खास गाय) वर्तमान है, उस (देश=स्थान) से (सामान्य गायपन) संबद्ध भी नहीं होता (क्योंकि तुम मानते हो कि सामान्य देशमें नहीं व्यक्तिमें रहता है), और (फिर कहते हो, देशमें रहनेपर भी उस) देशवाले (पदार्थ—गाय-व्यक्ति) में व्याप्त होता है, यह तो कोई भारी चमत्कार सा है !

"यदि सामान्यको (एक देशी नहीं) सर्वव्यापी (**सर्वत्र**) मानते हो, तो एक जगह एक गाय-व्यक्ति द्वारा व्यक्त कर दिए जानेपर उसे सर्वत्र दिखाई देना चाहिए, (क्योंकि सर्वव्यापी सामान्यमें) भेद न होने (=एक होने) से व्यक्तिकी अपेक्षा नहीं।

"(और ऊपरकी बातसे यह भी सिद्ध होता है, कि गायपन सामान्य सर्वत्र है। फिर वह दिखलाई देता क्यों नहीं, यह पूछनेपर आप कहते हैं—क्योंकि उसके लिए व्यंजक (=प्रकट करनेवाली) व्यक्ति—गाय—की जरूरत है। इसका अर्थ हुआ—।) "(पहिले) व्यंजकके ज्ञान हुए बिना व्यंग्य (=सामान्य) कोकमें नहीं प्रतीत होता। तब फिर सामान्य (=गायपन) और सामान्यवान् (=गायपनवाली गाय-व्यक्ति) के संबंधमें उलटा क्यों मानते हो।—अर्थात् गायपन-सामान्य गाय-व्यक्तिकी उत्पत्तिसे पहिले भी मौजूद था ।"[1]

अतएव सामान्य है ही नहीं—

"क्योंकि (व्यक्तिसे भिन्न) केवल जातिका दर्शन नहीं होता, और (गाय-) व्यक्तिके ग्रहणके वक्त भी उसके (नामवाची) शब्दरूप ('गाय') से भिन्न (कुछ) नहीं दिखाई देता।"[2]

"इसलिए सामान्य अ-रूप (=अ-वस्तु) है, (और वह) रूपों (=गाय-व्यक्तियों) के आधारपर नहीं कल्पित किया गया है; बल्कि (वह व्यक्तियोंकी क्रिया-संबंधी) उन-उन विशेषताओंके जतलानेके लिए शब्दों द्वारा प्रकाशित किया जाता है।

[1] प्र० वा० ३।१५४-५८ [2] प्र० वा० ३।४९

"ऐसे (सामान्य)में वास्तविकता (=रूप)का अवभास अथवा सामान्यके रूपमें अर्थ (=पदार्थ गाय-व्यक्ति)का ग्रहण भ्रान्ति (मात्र) है, (और वह भ्रान्ति) चिरकालसे (वैसे प्रयोगको) देखते रहनेके अभ्याससे पैदा हुई है।

"और पदार्थों (=विशेषों या व्यक्तियों)का यह (अपनेसे भिन्न व्यक्ति) से बिलगाव रूपी जो समानता (=सामान्य) है, और जिस (सामान्य)के विषयमें ये (शब्दार्थ-संबंधी संकेत रखनेवाले) शब्द हैं, उसका कोई भी स्व-रूप (=वास्तविक रूप) नहीं है (क्योंकि वे शब्द-व्यवहारके सुभीतेके लिए कल्पित किए गये हैं)।"[1]

(ग) अवयवीका खंडन—हम बतला आए हैं, कि कैसे अक्षपाद अवयवों (=अंगों)के भीतर किन्तु उनसे अलग एक स्वतंत्र पदार्थ—**अवयवी** (=अंगी)—को मानते हैं। धर्मकीर्ति सामान्यकी भाँति अवयवोंका व्यवहार (=संवृति)-सत् माननेके लिए तैयार हैं, किन्तु अवयवोंसे परे अवयवी एक परमार्थ सत् है, इसे वह नहीं स्वीकार करते। "बुद्धि (=ज्ञान) जिस आकारकी होती है, वही उस (=बुद्धि)का ग्राह्य कहा जाता है।"[2] हम बुद्धि (=ज्ञान)से अवयवोंके स्वरूपको ही देखते हैं, उससे हमें अवयवीका पता नहीं लगता। भिन्न-भिन्न अवयवोंके प्रत्यक्ष ज्ञानोंको एकत्रित कर कल्पनाके सहारे हम अवयवीकी मानसिक सृष्टि करते हैं, जो कि कल्पित छोड़ वास्तविक वस्तु नहीं हो सकता। यदि कहो कि अवयवीका भी ग्रहण होता है तो सवाल होगा—

"एक ही बार सारे अवयवोंके साथ कैसे अवयवीका ग्रहण हो सकता है? गलकी कमरी, (सींग) आदि (अवयवों)के न देखनेपर गाय (=अवयवी) नहीं देखी जा सकती।"[3]

जिस तरह वाक्य पढ़ते वक्त पहिलेसे एक-एक अक्षर पढ़नेके साथ वाक्यका अर्थ हमें नहीं मालूम होता जाता बल्कि एक-एक अक्षर द्वारा

---

[1] प्र० वा० २।३१, ३२ [2] प्र० वा० ३।२२४ [3] प्र० वा० ३।२२५

सामनेसे गुजरता संकेतानुसार खास छाप हमारे मस्तिष्कपर छोड़ता जाता है, इन्हीं छापोंको मिलाकर मन कल्पना द्वारा सारे वाक्यका अर्थ तैयार करता है। उसी तरह हम गायकी सींग, गलकम्बल, पूँछको बारी-बारीसे देखने जो छाप छोड़ते हैं, उनके अनुसार गाय-अवयवीकी कल्पना करते हैं; किन्तु जिस तरह सामान्य व्यक्तिसे भिन्न कोई वस्तु-सत् नहीं है, उसी तरह अवयवी भी वस्तुसे भिन्न कोई वस्तुसत् नहीं। यदि अवयवी वस्तुतः एक स्वतंत्र वास्तविक पदार्थ होता तो—

"हाथ आदि (मेंसे किसी एक)के कम्पनसे (शरीर)का कंपन होता, क्योंकि एक (ही अखंड अवयवी)में (कम्पन) कर्म (और उसके) विरोधी (अकंपन दोनों) नहीं रह सकते; ऐसा न होनेपर (कम्पनवालेसे अकम्पनवाला अवयवी) अलग सिद्ध होगा।"[1]

अवयवोंके योगसे अवयवी अलग वस्तु पैदा होती है, ऐसा माननेपर अवयवोंके योगके साथ अवयवीके भी मिल जानेसे अवयव+अवयव+अव-यव . . . =भार जितना होता है, अवयव अवयव+अवयव . . . + अवयवी=भार बहुत ज्यादा होना चाहिए। क्योंकि (यदि अवयवोंके भार और उनके अनुसार तौलनेपर तराजूका) नीचे जाना होता है, तो (अवयवोंके साथ अवयवीके भी मिल जानेपर) तराजूका नीचे जाना (और अधिक) होना चाहिए।"[2]

"अथवा (सूक्ष्म अवयवोंसे बढ़ते हुए बहुत अवयवोंसे) युक्त धूलिकी राशिमें एक समय (अलग-अलग कणों और उनसे) युक्त (राशि)के भारमें भेद होना चाहिए, और उस (गौरव)के भेदके कारण (सोनेके या चाँदी-के छोटे-छोटे टुकड़ोंको) अलग-अलग तौलने तथा (उन टुकड़ोंको गलाकर एक पिंड बना) साथ (तौलने) पर तौलके मापक (=मासा, रत्ती) आदि (से तौलनेकी) संख्यामें समानता नहीं होनी चाहिए।"[3]

---

[1] प्रा० वा० ३।२८४

[2] प्र० वा० ४।१५४

[3] प्र० वा० ४।१५७, १५८

एक मासा भर सोना अलग तोलनेपर भले ही एक मासा हो, किन्तु जब १६ मासा सोनेको गलाकर एक डला तैयार किया गया तो उसमें १६ मासेके १६ टुकड़ोंके अतिरिक्त उनसे बना अवयवी भी आ मौजूद हुआ है, इसलिए अब वजन १६ मासासे ज्यादा होना चाहिए।

(संख्या आदिका खंडन)—वैशेषिकने संख्या, संयोग, कर्म, विभाग, आदि गुणोंको वस्तुसत्के तौरपर माना है, जिन्हें कि धर्मकीर्ति व्यवहार (=संवृति)-सत् भर माननेके लिए तैयार हैं, और कहते हैं—

"संख्या, संयोग, कर्म, आदिका भी स्वरूप उनके रखनेवाले (द्रव्य) के स्वरूपसे (या) भेदके साथ कहनेसे बुद्धि (=ज्ञान)में नहीं भासित होता। (इसलिए भासित न होनेपर भी उन्हें वस्तुसत् मानना गलत है)।

"शब्दके ज्ञानमें (एक घट इत्यादि) कल्पित अर्थमें वस्तुओंके (पारमार्थिक) भेदको अनुसरण करनेवाले विकल्पके द्वारा (संख्या आदिका प्रयोग उसी तरह किया जाता है), जैसे गुण आदिमें (—चौबीसमें 'एक' कही जाती है, यहाँ एक भी गुण और कहीं भी गुण, किन्तु गुणमें गुण नहीं हो सकनेसे एक संख्याके साथ रहना परिमाणका प्रयोग नहीं होना चाहिए) अथवा नष्ट या अनागत न पैदा हुओंमें ('एक, दो, बहुत नष्ट गए') या पैदा होंगे कहना। निरूपण ही जो एक, दो... संख्या नष्ट या न पैदा-हुए-जैसे अस्तित्वहीन आकारका आश्रय—गुण—है, वह कल्पित छोड़ वास्तविक नहीं हो सकता।"[1]

(३) सांख्य दर्शनका खंडन—सांख्य-दर्शन चेतन और जड़ दो प्रकारके तत्त्वोंको मानता है। जिनमें चेतन—पुरुष—तो निष्क्रिय साक्षी मात्र है, हाँ उसके संपर्कसे जड़तत्त्व—प्रधान—सारे जगत्को अपने स्वरूप-परिवर्तन द्वारा बनाता है। सांख्य प्रधानसे भिन्नता नहीं मानता, और साथ ही सत्कार्यवाद—अर्थात् कार्यमें परिवर्तन ही पूर्वरूपेण कारणके मौजूद होने—को स्वीकार करता है। धर्मकीर्ति कहते हैं—

---

[1] प्र० वा० २।१६२

"अगर अनेक (=बीज, पानी, मिट्टी आदि) एक (**प्रधान=प्रकृति**) **स्वरूप** होते एक कार्य (अंकुर)को करते हैं तो (वही) स्वरूप (=प्रधान) एक (बीज)में (वैसे ही है, जैसे कि वह दूसरी जगह); इसलिए(दूसरे) सहकारी (कारण पानी, मिट्टी आदि) फजूल हैं।

"(पानी, मिट्टी आदि सहकारी कारणोंके न होनेपर बीजके रहनेसे) वह (**प्रधान**—मौलिक भौतिक तत्त्व तो) अ-भिन्न—(है) और (वह पानी, मिट्टी आदि बन जानेपर भी अपने पहिले) स्वरूपको नहीं छोड़ता (क्योंकि वह नित्य है; और) विशेष (=पानी, मिट्टी आदि) नाशमान हैं (किन्तु हम देखते हैं) एक (सहकारी जल या मिट्टी)के न होनेपर (भी) कार्य (=अंकुर) नहीं होता, इससे (पता लगता है कि) वह (अंकुर, प्रधानसे नहीं बल्कि विशेषों (=पानी, मिट्टी आदि)से उत्पन्न होता है।

"परमार्थवाला भाव (=पदार्थ) वही है, जो कि अर्थक्रियाको कर सकता है। (ऐसे अर्थक्रिया करनेवाले मिट्टी, पानी आदि विशेष) और वह (परस्पर भिन्न होनेसे कार्य=अंकुरमें) एक-रूप नहीं होते, और जिसे (तुम) एक रूप [illegible] (कार्यमें) [illegible] (प्रधान)से (अंकुर-) कार्यका सम्भव नहीं (; क्योंकि [illegible] साथ रहता जो जैसा अपने स्वरूपमें है, वैसा ही मिट्टी आदि अनेकोंमें भी है।)

"(और प्रधानको हम तत्त्वतः एक रूप माननेपर बीज, मिट्टी, पानी सभी प्रधान-रूप और एक रूप हैं, फिर तब बीजके रहनेसे मिट्टी, पानी आदिके न रहनेपर भी अंकुरकी उत्पत्तिमें कोई हर्ज नहीं होना चाहिए; किन्तु हम) वह स्वभाव (देखते हैं कि) उस (कारण-) स्वरूपसे (बीज, मिट्टी, पानी आदिके आपसमें) भिन्न होनेपर कोई (=बीज, मिट्टी, आदि अंकुरका) कारण होता है दूसरे (आग, सुवर्ण आदि) नहीं; यदि (बीज, मिट्टी, आग, पानी आदि **विशेषों**का) अभेद होता, तो (अंकुरका आगसे) नाश (और बीज आदिसे) उत्पत्ति (दोनों) एक साथ होती।"[1]

---

[1] प्र० वा० १।१६६-१७०

"(जो अर्थक्रिया करनेवाला[1] है) उसीको कार्य और कारण कहते हैं, वही स्व-लक्षण (=वस्तुसत्) है; (और) उसीके त्याग और प्राप्तिके लिए पुरुषोंकी (नाना कार्योंमें) प्रवृत्ति होती है।

"जैसे (सांख्य-सम्मत मूल भौतिक तत्त्व, प्रधानकी सभी भौतिक तत्त्वों—मिट्टी, बीज, पानी आगमें) अभिन्नताके एक समान होनेपर भी सभी (बीज, पानी, आग . . . .प्रधानमय तत्त्व) सभी (कार्यों—अंकुर, घड़ा आदि)के (करनेमें) साधन नहीं होते; वैसे ही, पूर्वपूर्व कारण (क्षणिक परमाणु या भौतिक तत्त्वोंकी) सभी उत्तर-उत्तर कार्यों (मिट्टी, बीज, पानी, आग आदि)में भिन्नताके एक समान होनेपर भी सभी (कारण) सभी (कार्यों)के (करनेमें) साधन नहीं होते।

"(यही नहीं, सत्कार्यवादके विरुद्ध कारणसे कार्यको) भिन्न माननेपर (सब नहीं) कोई-कोई ही (वस्तुएं) अपनी विशेषता (=धर्म)की वजहसे (किसी एक कार्यका) कारण हो सकती हैं। किन्तु (सत्कार्यवादके अनुसार कारणसे कार्यको) अभिन्न माननेपर (सभी वस्तुएं अभिन्न हैं, फिर उनमेंसे) एकका (कहीं) क्रिया (=कार्य)कर सकना और (कहीं) न कर सकना (यह दो परस्पर-) विरोधी (बातें) हैं।"[2]

इस प्रकार सांख्यका सत्कार्यवाद—मूलतः विश्व और विश्वकी वस्तुएँ कारणसे कार्य अवस्थामें कोई भेद नहीं रखतीं (प्रधान=पानी, प्रधान=आग, प्रधान=चीनी, प्रधान=मिर्च)—गलत है; और बौद्धोंका असत्-कार्यवाद ही ठीक है, जिसके अनुसार कि—कारण एक नहीं अनेक है, और हर कार्य अपने कारणसे बिलकुल भिन्न चीज, यद्यपि हर नया उत्पन्न होनेवाला कार्य अपने कारणसे सादृश्य रखता है, जिससे 'यह वही है' का

---

[1] अर्थक्रियाकारी = अर्थक्रिया-समर्थ-कार्यके उत्पादनमें समर्थ, क्रियाके उत्पादनमें समर्थ, सार्थक क्रिया करनेमें समर्थ, सफल क्रिया करनेमें समर्थ, क्रिया करनेमें योग्य, क्रिया कर सकनेवाला—आदि इसके अर्थ हैं।

[2] प्र० वा० १।१७५-१७७

भ्रम होता है।

(४) मीमांसाका खंडन—मीमांसाके सिद्धान्तोंके बारेमें हम पहिले लिख चुके हैं। मीमांसाका कहना है कि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण सामने उपस्थित पदार्थ भी वस्तुतः क्या है इसे नहीं बतला सकते, और परलोक, स्वर्ग, नर्क, आत्मा आदि जो पदार्थ इन्द्रिय-अगोचर हैं, उनका ज्ञान करानेमें तो वे बिलकुल असमर्थ हैं; इसलिए उनका सबसे ज्यादा जोर शब्द-प्रमाण—वेद—पर है, जिसे कि वह अ-पौरुषेय किसी पुरुष (=मनुष्य, देवता या ईश्वर) द्वारा नहीं बनाया अर्थात् अकृत सनातन मानते हैं। बौद्ध प्रत्यक्ष, तथा अंशतः प्रत्यक्ष अर्थात् अनुमानके सिवा किसी तीसरे प्रमाणको नहीं मानते, और प्रत्यक्ष-अनुमानकी कसौटीपर कसनेसे वेद उसके हिंसामय यज्ञ—कर्मकांड आदि ही नहीं बहुतसी दूसरी गप्पें और पुरोहितोंकी दक्षिणाके लोभसे बनाई बातें गलत साबित होतीं; ऐसी अवस्थामें सभी धर्मानुयायियोंकी भाँति वैदिक पुरोहितोंके लिए मीमांसा जैसे शास्त्रकी रचना करके शब्दप्रमाणको ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण सिद्ध करना जरूरी था। बुद्धसे लेकर नागार्जुन तक ब्राह्मण-पुरोहितोंके जबर्दस्त हथियार वेदके कर्मकाड और ज्ञानकांडपर भारी प्रहार हो रहा था। युक्तिके सहारे ज्ञानकांडके बचानेकी कोशिश अक्षपाद और उनके भाष्यकार वात्स्यायनने की, जिसपर दिग्नागके कर्कश तर्क-शरोंका प्रहार हुआ, जिससे बचानेकी कोशिश पाशुपताचार्य उद्योतकर भारद्वाज (५०० ई०)ने की, किन्तु धर्मकीर्त्तिने उद्योतकरकी ऐसी गति बनाई कि वाचस्पति मिश्रको "उद्योतकरकी बूढ़ी गायोंके उद्धार"के लिए कमर बाँधनी पड़ी।

किन्तु युक्तिवादियों (=तार्किकों)की सहायतासे वैदिक ज्ञान—और कर्म-कांडके ठीकेदारोंका काम नहीं चल सकता था, इसलिए बादरायणको ज्ञानकांड (=ब्रह्मवाद) और जैमिनिको कर्मकाडपर कलम उठानी पड़ी। उनके भाष्यकार शबर असंगके विज्ञानवादसे परिचित थे। दिग्नागने अक्षपाद और वात्स्यायनकी भाँति शबर और जैमिनिपर भी जबर्दस्त चोट की; जिसपर नैयायिक उद्योतकरकी भाँति मीमांसक कुमारिल भट्ट मैदानमें आए।

धर्मकीर्ति उद्योतकरपर जिस तरह प्रहार करते हैं, उससे भी निष्ठुर प्रहार उनका कुमारिलपर है। वेद-प्रमाणके अतिरिक्त मीमांसक प्रत्यभिज्ञाको भी एक जबर्दस्त प्रमाण मानते हैं, हम इन्हीं दोनोंके बारेमें धर्मकीर्तिके विचारोंको लिखेंगे।

(क) प्रत्यभिज्ञा-खंडन—पदार्थ (=राम) को सामने देखकर "यह वही (राम) है" ऐसी **प्रत्यभिज्ञा** (=प्रामाणिक स्मृति) स्पष्ट मालूम होनेवाली (=स्पष्टावभास) प्रत्यक्ष प्रमाण है,—मीमांसकोंकी यह प्रत्यभिज्ञा है। बौद्ध इस प्रत्यभिज्ञाको "यह वही"की कल्पनापर आश्रित होनेसे प्रत्यक्ष नहीं मानते और "स्पष्ट मालूम होनेवाली"के बारेमें धर्मकीर्ति कहते हैं—

"(काटनेपर फिरसे जमे) केशों, (मदारीके नये-नये निकाले) गोलों, तथा (क्षण-क्षण नष्ट हो नये बननेवाले) दीपों. . . .में भी ('यह वही है' यह) स्पष्ट भ्रान्ति होती है (; किन्तु क्या इससे यह कहना सही होगा कि केश—गोला—दीप वही है?)।

"जब भेद (प्रत्यक्षतः) ज्ञात है, (तो भी) वैसा (=एक होनेके भ्रमवाला अभेद-) ज्ञान कैसे प्रत्यक्ष हो सकता है? इसीलिए प्रत्यभिज्ञाके ज्ञानसे (केश आदिकी) एकताका निश्चय ठीक नहीं है।"[1]

(ख) शब्दप्रमाण-खंडन—यथार्थ ज्ञानको प्रमाण कहा जाता है, शब्दप्रमाणको माननेवाले कपिल, कणाद, अक्षपाद प्रत्यक्ष अनुमानके अतिरिक्त यथार्थवक्ता (=आप्त) पुरुषके वचन (=शब्दको) भी प्रमाण मानते हैं। मीमांसक "कौन पुरुष यथार्थवक्ता है" इसे जानना असंभव समझते हुए कहते हैं—

(१) **अपौरुषेयता फजूल**—"यह (पुरुष) ऐसा (=यथार्थवक्ता) है या नहीं है, इस प्रकार (निश्चयात्मक) प्रमाणोंके दुर्लभ होनेसे (किसी) दूसरे (पुरुष) के दोषयुक्त (=झूठे) या निर्दोष (=सच्चे, यथार्थवक्ता)

---

[1] प्र० वा० ३।५०३–५०५

होनेका जानना अतिकठिन है।"[1]

और फिर—

"(किन्हीं) वचनोंके झूठ होनेके हेतु (ये अज्ञान, राग, द्वेष आदि) दोष पुरुषमें रहनेवाले हैं, (इसलिए पुरुषवाले=पौरुषेय वचन झूठे होते हैं, और) अ-पौरुषेय सत्यार्थ....।"[2]

इसके उत्तरमें धर्मकीर्त्ति कहते हैं—

"(किन्हीं) वचनोंके सत्य होनेके हेतु (ज्ञान, अराग, अ-द्वेष आदि) गुण पुरुषमें रहनेवाले हैं, (इसलिए जो वचन पुरुषके नहीं हैं, वह सत्य कैसे हो सकते हैं, और जो) पौरुषेय (हैं, वही) सत्यार्थ (हो सकते हैं)।....[3]

"(गाय ही शब्दके) अर्थको समझानेका साधन है (गाय शब्दका अर्थ 'सींग-पूँछ-गलकम्बलवाला पिंड' ऐसा) संकेत (और वह संकेत) पुरुषके ही आश्रयमें रहता (पौरुषेय) है। इस (संकेतके पौरुषेय होने) से वचनोंके अपौरुषेय होनेपर भी उनके झूठ होनेका दोष सम्भव है।

"यदि (कहो शब्द और अर्थका) संबंध अ-पौरुषेय है, तो (आग और आँचके संबंधकी भाँति उसके स्वाभाविक होनेसे संकेतसे) अजान पुरुष को भी (सारे वेदार्थका) ज्ञान होना चाहिए। यदि (पौरुषेय) संकेतसे वह (संबंध) प्रकट होता है, तो (संकेतसे भिन्न कोई) दूसरी कल्पना (संबंधको व्यवस्थापित) नहीं कर सकती।

"यदि (वस्तुतः) वचनोंका एक अर्थमें नियत होना (प्रकृति-सिद्ध) होता, तो (एक वचनका एक छोड़) दूसरे अर्थमें प्रयोग न होता।

"यदि (कहा—एक वचनका) अनेकों अर्थों (=पदार्थों) से (वाच्य-वाचक) संबंध (स्वाभाविक) है; तो (एक ही वचनसे) विरुद्ध (अर्थों-का) सूचना होगी, (फिर 'अग्निष्टोम याग स्वर्गका साधन है' इस वचनका अर्थ 'अग्निष्टोम याग नरकका साधन है' भी हो सकता है।"[4]

---

[1] प्र० वा० १।२२२ [2] वहीं १।२२७

[3] वहीं १।२२७,२२८ [4] वहीं १।२२७–२३१

जैसे भी हो वेदको पुरुषरचित न माननेपर भी पिंड नहीं छूटता, क्योंकि, "(शब्द-अर्थके संबंधको) पुरुष(-संकेत) द्वारा न-संस्कार्य (=न प्रकट होनेवाला माननेपर वचनोंकी ही) बिलकुल निरर्थकता होगी; (क्योंकि शब्दार्थ-संबंधके संकेतको सभी लोग गुरु-शिष्य संबंधसे ही जानते हैं, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता)। यदि (पुरुष द्वारा) संस्कार (होने)को स्वीकार करते हो तो यह ठीक गजस्नान हुआ (—वेद-वचन और उसके शब्दार्थ-संबंधको तो पौरुषेय नहीं माना, किन्तु शब्दार्थ-संबंधके संकेतको पुरुष द्वारा ही संस्कार्य मानकर फिर वचनसे मिलनेवाले ज्ञानके सच-झूठ होनेमें सन्देह पैदा कर दिया)।"[1]

और वस्तुतः वेदको जैमिनि जिस तरह अपौरुषेय सिद्ध करना चाहते हैं, वह बिलकुल गलत है।—

"('चूँकि वेद-वचनोंके) कर्त्ता (पुरुष) याद नहीं इसलिए (वह) अपौरुषेय हैं'—ऐसे भी (ढीठ) बोलनेवाले हैं! धिक्कार है (जगतमें) छाये (इस जड़ताके) अन्धकारको!!"[2]

अपौरुषेयता सिद्ध करनेके लिए "कोई (कहता है—) 'जैसे यह (आज-का विद्यार्थी) दूसरे (पुरुष—अपने गुरु—से) बिना सुने इस वर्ण (=अक्षर) और पद(के) क्रम (वाले वेद)को नहीं बोल सकता, वैसे ही कोई दूसरा पुरुष (=गुरु) भी (अपने गुरु और वह अपने गुरु . . . से सुने बिना नहीं बोल सकता; और इस प्रकार गुरुओंकी परम्पराका अन्त न होनेसे वेद अनादि, अपौरुषेय सिद्ध होता है।)"[3]

(किन्तु ऐसा कहनेवाला भूल जाता है—) "(वेदसे भिन्न) दूसरे (पुरुषके) रचित (रघुवंश आदि) ग्रंथ भी (गुरु-शिष्यके) सम्प्रदायके बिना (पढ़ा) जाता नहीं देखा गया, फिर इससे तो वह (=रघुवंश) (वेदकी) तरह (अनादि) अनुमान किया जायगा।"[4]

---

[1] प्र० वा० १।२३३
[2] वहीं १।२४२, २४३
[3] वहीं १।२४२, २४३
[4] वहीं १।२४३, २४४

गुरु-शिष्य, पिता-पुत्रके संबंधसे हर एक तरहकी बात मनुष्य सीखता है, और इसीसे मीमांसक वेदको अनादि सिद्ध करते हैं, फिर "वैसा तो म्लेच्छ आदि (अ-भारतीय जातियों) के व्यवहार (अपनी माँ और बेटीसे ब्याह आदि) तथा नास्तिकोंके वचन (ग्रंथ) भी अनादि (मानने पड़ेंगे। और) अनादि होनेसे (उन्हें भी वेद) जैसे ही स्वतःप्रमाण मानना होगा।"[1]

"फिर इस तरहके अपौरुषेयत्वके सिद्ध होनेपर भी (जैमिनि और कुमारिलको) कौनसा फायदा होगा(; क्योंकि इससे तो सब धान बाईस-पंसेरी हो जावेगा)।"[2]

(b) अपौरुषेयताकी आड़में कुछ पुरुषोंका महत्त्व बढ़ाना—वस्तुतः एक दूसरे ही भावसे प्रेरित होकर जैमिनि-कुमारिल एंड-कोने अपौरुषेयताका नारा बुलंद किया है—

"(इस वेद-वचनका) 'यह अर्थ है, यह अर्थ नहीं है' यह (वेदके) शब्द (खुद) नहीं कहते। (शब्दका) यह अर्थ तो पुरुष कल्पित करते हैं, और वे रागादि-युक्त होते हैं। (उन्हीं रागादिमान् पुरुषोंके बीच जैमिनि वेदार्थका तत्त्ववेत्ता है! फिर प्रश्न होता है—) वह एक (जैमिनि.... ही) तत्त्ववेत्ता है, दूसरा नहीं, यह भेद क्यों? उस (=जैमिनि)की भाँति पुरुषत्व होने भी किसी तरह किसी (दूसरेको) ज्ञानी तुम क्यों नहीं मानते?"[3]

(c) अपौरुषेयतासे वेदके अर्थका अनर्थ—आप कहते हैं, चूँकि "(पुरुष) स्वयं रागादिवाला (है, इसलिए) वेदके अर्थको नहीं जानता, और (उसी कारण वह) दूसरे (पुरुष)से भी नहीं (जाना जा सकता; बेचारा) वेद (स्वयं तो अपने अर्थको) जतलाता नहीं, (फिर) वेदार्थकी क्या गति होगी? इस (गड़बड़ी)में तो 'स्वर्ग चाहनेवाला अग्निहोत्र होम करे' इस श्रुतिका अर्थ 'कुत्तेका मांस भक्षण करे' नहीं है इसमें क्या प्रमाण है?

---

[1] प्र० वा० १।२४८, २४६ [2] वहीं १।२४६ [3] वहीं १।३१६

"यदि (कहो,) लोगोंमें बात प्रसिद्ध है (जिससे इस तरहका अर्थ नहीं हो सकता), तो (सवाल होगा, सभी लोग तो रागादिवाले हैं) उनमें कौन (स्वर्ग जैसे) अतीन्द्रिय पदार्थका देखनेवाला है, जिसने कि अनेक-अर्थवाले शब्दोंमें 'यही अर्थ है' इसका निश्चय किया है ?

"स्वर्ग, उर्वशी आदि (कितने ही वैदिक) शब्दोंका (वेदज्ञ होनेका दावा करनेवाले मीमांसकों द्वारा किया गया लोक-)रूढ़िसे भिन्न अर्थ भी देखा जाता है (, जैसे स्वर्गका लोकसंमत अर्थ है—मनुष्यसे बहुत ऊँचे दर्जेके विशेष पुरुषोंका वासस्थान, जहाँ अ-मानुष सुख तथा उसके नाना साधन सदा सुलभ हैं; उसके विरुद्ध मीमांसक कहते हैं, कि वह दुःखसे सर्वथा रहित सर्वोत्कृष्ट सुखका नाम है, उर्वशीका लोक-सम्मत अर्थ है, स्वर्गकी अप्सरा, किन्तु उसके विरुद्ध मीमांसक वेदज्ञ उसे अरणि या पात्री (नामक यज्ञपात्रों)का शरीर बतलाते हैं)। फिर उसी तरह 'जुहुयात्'का अर्थ 'कुत्ता-मांस खाओ' [illegible] [illegible] दूसरे शब्दों ('अग्निहोत्रं जुहुयात्') [illegible] 'कुत्ता-मांस खाओ' इस अर्थकी [illegible] [illegible]।"[1]

अपौरुषेय [illegible] [illegible] व्याख्याताओंसे वैसे ही [illegible] है, जैसे कि राजगृहका मार्ग पूछनेपर कोई कहे 'यह ठूँठ खड़ा है' कि यह मार्ग है, और दूसरा (पूछने [illegible]) 'यह मार्ग है' (ऐसे) [illegible] कहता है। (अब आप) इन दोनोंके (वचनों) [illegible] [illegible] [illegible] है।"[2]

( ) वेदकी एक बात सच होनेसे सारा वेद सच नहीं— वेदका एक वाक्य है 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' (आग सर्दीकी दवा है), इसे लेकर मीमांसक कहते हैं—"जैसे 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' यह वाक्य बिल्कुल सत्य (प्रत्यक्ष-सिद्ध) है, (उसी तरह 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'—स्वर्ग चाहनेवाला अग्निहोत्र होम करे, इस) दूसरे वचनको भी (उसी) वेदका एक अंश होनेसे (प्रमाण मानना चाहिए।)"[3]

---

[1] प्र० वा० १।३२०-३२३ [2] वही १।३२८ [3] वही १।३३१

इसके उत्तरके बारेमें इतना ही कहना है—

"यदि इस तरह (एक बातकी सच्चाईसे) प्रमाण सिद्ध होता, तो फिर यहाँ अ-प्रमाण क्या है? बहुभाषी (झूठे) पुरुषकी एक बात भी सच्ची न हो, यह (तो है) नहीं।"[1]

(८) शब्द कभी प्रमाण नहीं हो सकता—"जो अर्थ (प्रत्यक्ष या अनुमानसे) सिद्ध हैं, उन (के साधन)में वेद (शास्त्र)के त्याग देनेसे (कोई) क्षति नहीं; और जो परोक्ष (=इन्द्रिय-अगोचर पदार्थ हैं), वह अभी साबित ही नहीं हो सके हैं, अतः उन)में वेद (=आगम)का (उपयोग) भी ठीक नहीं हो सकता, अतः (वहाँ इसका) ख्याल ही नहीं हो सकता। (इस प्रकार परोक्ष और अपरोक्ष दोनों बातोंमें वेद या शब्दप्रमाण की गुंजाइश नहीं।)"[2]

"जिसने यह व्यवस्था (=कानून) बनाई कि 'सभी (बातों)के बारेमें विचार करते वक्त शास्त्र (=वेद)को लेना चाहिए, (और) (वेदके) सिद्धान्तको न जाननेवालेको धर्म्य देव आग (होने की बात) न ग्रहण करनी चाहिए।

"(वेदके फंदेसे) रहित (वेद-वचनोंके) गुण या दोषको न जानने-वाले सहज प्राणी (=सीधे-सादे आदमीके मत्थे वेद आदिकी प्रमाणता लादी), ये विकराल विकट जाल किसने बाँधे?"[3]

अन्तमें धर्मकीर्तिने मीमांसकोंके प्रत्यक्ष, अनुमान जैसे प्रमाणोंको छोड़ 'अपौरुषेय वेद'के वचनपर आँख मूँदकर विश्वास करनेकी बातपर जोर देनेका जबर्दस्त खंडन एक दृष्टान्त देकर किया—कोई दुराचारिणी (स्त्री) परपुरुषके समागमके समय देखी गई, और जब पतिने उसे डाँटा, तो उसने पासकी स्त्रियोंको संबोधन करके कहा,—'देखती हो बहनो! मेरे पतिकी बेवकूफीको? मेरी जैसी धर्मपत्नीके वचन (=शब्द-प्रमाण)पर विश्वास न कर वह अपनी आँखोंके दो बुलबुलों (=प्रत्यक्ष और अनु-

[1] प्र० वा० १।३३८ [2] वहीं ४।१०६ [3] वहीं १।५३,५४

मान) पर विश्वास करता है।"[1]

(५) अ-हेतुवाद खंडन—कितने ही ईश्वरवादी और सन्देहवादी दार्शनिक विश्वमें कार्य-कारण-नियम या हेतुवादको नहीं मानते। इस्लामिक दार्शनिकोंमें अश्-अरीने कार्य-कारण नियमको ईश्वरकी सर्वशक्तिमत्तामें भारी बाधा समझा और इसे एक तरह भौतिकवादकी छिपी हिमायत समझ, बतलाया कि चीजोंके पैदा होनेमें कोई कारण पहिलेसे उपस्थित नहीं; अल्ला मियाँ हर वस्तुको हर वक्त बिल्कुल नई—असत्से सत्के रूपमें—बनाते हैं। अश्अरीके अतिरिक्त कुछ सन्देहवादी आधुनिक और प्राचीन दार्शनिक भी हैं, जो विश्वकी वस्तुओंकी रचनामें किसी प्रकारके कार्य-कारण नियमको नहीं मानते। वह कहते हैं, चीजें न किसी कारणसे बनती हैं, और न तुरन्त नष्ट हुए अपने पूर्वगामीके स्वभाव आदिसे सदृश उत्पत्ति होनेके किसी नियमका अनुसरण करती हैं। वह कहते हैं—

"(जैसे) काँटे आदिमें तीक्ष्णता आदिका (कोई) कारण नहीं, उसी तरह (जगत्में) यह सब कुछ बिना कारण (अ-हेतुक) है।"

धर्मकीर्ति उत्तर देते हैं—

"जिसके (पहिले) होनेपर जो (बादमें) जन्मे, अथवा (जिसके) विकारसे (जिसका) विकार हो, वह उसका कारण कहा जाता है, और वह इन (काँटों)में भी है।"

हर उत्पन्न होनेवाली चीजको बिल्कुल नई बौद्ध दार्शनिक भी मानते हैं, किन्तु वह उसे क्षण-विनाशी बिन्दुओंके प्रवाहका एक बिन्दु मानते हैं, और इस प्रकार कोई वस्तु-बिन्दु ऐसा नहीं, जिसका पूर्व- और पश्चाद्-गामी बिन्दु

---

[1] **प्रमाणवार्त्तिक-स्ववृत्ति १।३३७ "सा स्वामिना 'परेण संगता त्व-मि'त्युपालब्धाऽऽह—'पश्यत पुंसो वैपरीत्यं धर्मपत्न्यां प्रत्ययमकृत्वा स्वनेत्र-बुद्बुदयोः प्रत्येति'।"**

[2] **प्र० वा० २।१८०-१८१** [3] **वहीं २।१८१-१८२**

न हो। यहाँ पूर्वगामी विन्दु कारण है और पश्चाद्गामी अपने पूर्वगामी विन्दुके स्वभावसे सादृश्य रखता है; यदि यह नियम न होता, तो आम-खानेवाला आमकी गुठली रोपनेके लिए ज्यादा ध्यान न देता। एक भाव (=वस्तु)के होनेपर ही दूसरे भावका होना, तथा हर एक वस्तुकी अपने पूर्वगामीके सदृश उत्पत्ति, यह हेतुवादको साबित करता है। जबतक विश्वमें सर्वत्र देखा जानेवाला यह उत्पत्ति-प्रवाह और सदृश-उत्पत्तिका नियम विद्यमान है, तबतक अहेतुवाद बिलकुल गलत माना जायेगा।

(६) जैन अनेकान्तवादका खंडन—जैन-दर्शनके स्याद्वाद या अनेकान्तवादका जिक्र हम कर चुके हैं। इस वादके अनुसार घड़ा घड़ा भी है और कपड़ा भी, उसी तरह कपड़ा कपड़ा भी है और घड़ा भी। इसपर धर्मकीर्तिका आक्षेप है—

"यदि सब वस्तु (अपना और अन्य) दोनों रूप है, तो (दही दही ही है, ऊँट नहीं, अथवा ऊँट ऊँट ही है दही नहीं, इस तरह दहीमें) उसकी विशेषताको इन्कार करनेसे (किसीको) 'दही खा' कहनेपर (वह) क्यों ऊँटपर नहीं दौड़ता? (—आखिर ऊँटमें भी दही वैसे ही मौजूद है, जैसे दही में)।

"यदि (कहो, दहीमें) कुछ विशेषता है, जिस विशेषताके साथ (दही वर्तमान है, ऊँट नहीं; तब तो) वही विशेषता अन्यत्र भी है, यह (बात) नहीं रही, और इसीलिए (सब वस्तु) दोनों रूप नहीं (बल्कि अपना ही अपना है, और) पर ही (पर है)।"[1]

धर्मकीर्त्तिके दर्शनके इस संक्षिप्त विवरणको उनकेही एक पद्यके साथ हम समाप्त करते हैं—

"वेद (=ग्रंथ)की प्रमाणता, किसी (ईश्वर)का (सृष्टि-)कर्तापन (=कर्तृवाद), स्नान (करने)से धर्म (होने)की इच्छा रखना, जातिवाद (=छोटी बड़ी जाति-पाँत)का घमंड, और पाप दूर करनेके लिए

---

[1] प्र० वा० ११८०-१८२

(शरीरको) सन्ताप देना (=उपवास तथा शारीरिक तपस्याएं करना)—ये पाँच हैं, अकल-मारे (लोगों)की मूर्खता (=जड़ता)की निशानियाँ।"[1]

---

[1] प्रमाणवार्त्तिक-स्ववृत्ति १।३४२—
"वेदप्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
संतापारंभः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पंच लिंगानि जाड्ये ॥"

एकोनविंश अध्याय

गौडपाद और शंकर

(सामाजिक परिस्थिति)—धर्मकीर्त्तिके बाद हम शान्तरक्षित, कमलशील, ज्ञानश्री जैसे महान् बौद्ध दार्शनिकोंको पाते हैं। वैसे ही ब्राह्मणोंमें भी शंकरके अतिरिक्त और कई बातोंमें उनसे बढ़चढ़कर उदयन, गंगेश जैसे नैयायिक; तथा पार्थसारथी जैसे मीमांसक और वाचस्पति, श्रीहर्ष एवं रामानुज जैसे वेदान्ती दार्शनिक हुए हैं। इनसे भी महत्त्वपूर्ण स्थान काश्मीरके शैव दार्शनिक वसुगुप्तका है जिन्होंने बौद्धोंके विज्ञानवादको तोड़े-मरोड़े बिना, उसे स्पन्द करनेवाले (=लहरानेवाले) क्षणिक विज्ञानके रूप ही में ले लिया; और बौद्धोंके **आलय-विज्ञान** (=समष्टिरूपेण विज्ञान)को शिव नाम देकर अपने दर्शनकी नींव रखी। इन दार्शनिकोंके बारेमें लिखकर हम ग्रंथको और नहीं बढ़ाना चाहते, क्योंकि अभी ही इसके पूर्वनियत आकारको हम बढ़ा चुके हैं, और एकाध जगह ग्रंथका जरूरतसे ज्यादा विस्तार करनेमें हम इसलिए भी मजबूर थे, कि वह विषय हिन्दीमें अभी आया नहीं है। अंतमें हम अद्वैत वेदान्तके संस्थापक दार्शनिकोंके बारेमें लिखे बिना भारतीय दर्शनसे बिदाई नहीं ले सकते।

उपनिषद्के दार्शनिकों और बादरायणका क्या मत था, इसके बारेमें हम पहिले काफी लिख चुके हैं, वहाँ यह भी जिक्र आ चुका है, कि इन दार्शनिकोंके विचारोंको विशिष्टाद्वैती (भूत—चेतन-सहित-ब्रह्म-वादी) रामानुज अपेक्षाकृत अधिक ईमानदारीसे प्रकट करते हैं; हाँ, बादरायणके दोषोंको कुछ बढ़ाचढ़ाकर लेते हुए। बादरायणने खुद दूसरे दर्शनों और विशेषकर बौद्धोंके प्रहारसे उपनिषद्-दर्शनको बचानेके लिए अपना

ग्रंथ लिखा था। न्याय-वैशेषिकके **वाद**[1] चल रहे थे, उनके खिलाफ बौद्धोंका **प्रतिवाद**[2] जारी हुआ; उपनिषद्-वेदान्तका वाद चल रहा था और उसका प्रतिवाद[3] बौद्ध कर रहे थे। सदियों तक वाद-प्रतिवाद चलते रहे, और दोनोंसे प्रभावित एक तीसरा वाद—संवाद—न पैदा हो, यह हो नहीं सकता था। पुराने न्याय-वैशेषिक वादों तथा दिग्नाग धर्मकीर्त्ति के प्रतिवादोंसे मिलाकर गंगेश (१२०० ई०)को हम एक नये तर्कशास्त्र (=नव्य-न्याय, तत्त्वचिन्तामणि)के रूपमें **संवाद** उत्पन्न करते देखते हैं, जिसमें पुराने न्याय-वैशेषिककी बहुत सी कमजोर बातोंको छोड़नेका प्रयत्न किया गया है। वसुगुप्तने तो अपने शैवदर्शनमें ब्राह्मणोंके ईश्वर (=शिव) और बौद्धोंके क्षणिक विज्ञानको ले एक अलग **संवाद** तैयार किया। उपनिषद् और बादरायणकी परम्परामें भी वाद, प्रतिवाद बिना अपना प्रभाव जमाए नहीं रह सकते थे, और इसीका नतीजा था, गौडपादका बुद्धके अनुचर-दार्शनिकों नागार्जुन और असंगकी शरणमें जाना। गौडपाद असंगको न छोड़ते हुए भी नागार्जुनके शून्यवादके बहुत नजदीक हैं, और "द्विपदांवर" (मनुष्योंमें श्रेष्ठ) "संबुद्ध" के प्रति अपनी भक्ति खुले शब्दोंमें प्रकट करते हैं। उनके अनुयायी (प्रशिष्य?) शंकर असंगके नजदीक हैं, और साथ ही इस बातकी पूरी कोशिश करते हैं, कि कोई उन्हें बौद्ध न कह दे।

शंकर उस युगके थोड़े बाद पैदा हुए, जिसमें कालिदास-भवभूति-बाण जैसे कवि, दिग्नाग-उद्योतकर-कुमारिल-धर्मकीर्त्ति जैसे दार्शनिक हुए। राजनीतिक तौरसे यह उस युगका आरंभ था, जब कि भारत पतन और चिर-दासता स्वीकार करनेकी जोरसे तैयारी कर रहा था। हर्षवर्धनका केन्द्रीकृत महान् साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो चुका था, और पुराने ग्रामीण प्रजातंत्र और कबीले (=प्रान्तों)तथा जातियोंकी प्रतिद्वंद्विता में पतनी मनोवृत्ति आन्तरिक विग्रहको प्रोत्साहन तथा बाहरी आक्रमणको निमंत्रण दे रही थी। हम इस्लामिक दर्शनके प्रकरणमें बतला चुके हैं,

---

[1] Thesis. [2] Antithesis. [3] Synthesis.

कि कैसे सातवीं सदीके दूसरे पादमें दुनियाकी दो खानाबदोश पशुपालक जातियाँ—तिब्बती और अरब—अपने निर्भीक, निष्ठुर तथा बहादुर योद्धाओंको संगठित कर एक मजबूत सैनिक शक्ति बन, सभ्य किन्तु पुंस्त्व-हीन देशोंको परास्त कर उनके सर्वस्वपर अधिकार जमानेके लिए दौड़ पड़े। गौडपाद और शंकरका समय वह था, जब कि अरब और तिब्बतका पहिला जोश खतम हो गया था, और स्रोङ-चन्-गम्बो (६३० ६९८ ई०) तथा खलीफा उमर (६३४-४४ ई०)की विजयी तलवारें अपने स्थानोंमें चिर-विश्राम कर रही थीं और उनके सिंहासनोंको ठि-स्रोङ-दे-चन् (८०२-४५ ई०) तथा खलीफा मामूँन् (८१३-३३ ई०) जैसे कोमल-कला और दर्शनके प्रेमी अलंकृत कर रहे थे। मामूँन्के समय अरबी भाषाको जिस तरह समृद्ध बनाया जा रहा था, ठि-स्रङ-दे-चन्के समय उसी तरह भारतीय बौद्ध साहित्य और दर्शनके अनुवादोंसे तिब्बती भाषा मालामाल की जा रही थी। यही समय था जब कि नालंदाके दार्शनिक शान्त-रक्षित—जो कि वस्तुतः अपने समयके भारतके अद्वितीय दार्शनिक थे—आखिरी उम्रमें तिब्बतमें जा उस बर्बर जातिको दुःखवादी दर्शनके साथ सभ्यताकी मीठी घूँट देकर सुलाना चाहते थे। फर्क इतना था जरूर कि अरबोंकी तलवारको बगदादमें ठंडी पड़ते देख; उसे उठानेवाले (मराको-वासी) **बर्बर** तथा मध्य-एसियाके तुर्क, मुगल जैसी जातियाँ मिल जाती है, क्योंकि वहाँ इस्लामकी व्यवहारवादी शिक्षा तथा एक 'खास उद्देश्य'के लिए जगत्-विजय-आकांक्षा थी; लेकिन बेचारे स्रोङ-चन्की तलवारके साथ वैसा "खास उद्देश्य" न होनेसे वह किसी दूसरेको अपना भार वहन करनेके लिए तैयार नहीं कर सकी।

बगदादमें अरबी तलवारका जो शान्ति-होम किया जा रहा था, उसके पुरोहितोंमें कुछ भारतीय भी थे, जिन्होंने अरबोंको योग, गणित, ज्योतिष, वैद्यकके कितने ही पाठ पढ़ाये; किन्तु जैसा कि मैंने अभी कहा, वह शान्त नहीं हुई, उसने सिर्फ हाथ बदला और किसी अरबकी जगह महमूद गजनवी और मुहम्मद गोरी जैसे तुर्कोंके हाथमें पड़कर भारतको भी अपने पंजेमें ले दबोचा।

यह वह समय था, जब कि भारतमें तंत्र-मंत्रका जबर्दस्त प्रचार हो रहा था, और राजा धर्मपाल (७६८–८०९)के समकालीन सरहपाद (८०० ई०) जैसे तांत्रिक सिद्ध अपनी सिद्धियों और उनसे बढ़कर अपनी मोहक हिन्दी-कविताओंसे जनता और शासकवर्गका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहे थे। शताब्दियोंसे धर्म, सदाचारके नामपर "मानव"की अपनी सभी प्राकृतिक भूखों—विशेषकर यौन सुखों—के तृप्त करनेमें बाधा-पर-बाधा पहुँचाई जाती रही। ब्रह्मचर्य और इन्द्रिय-निग्रहके यशोगान, दिखावा तथा कीर्त्ति-प्रलोभन द्वारा भारी जन-संख्याको इस तरहके अप्राकृतिक जीवनको अपनानेके लिए मजबूर किया जा रहा था। इसीका नतीजा था, यह तंत्र-मार्ग, जिसने मद्य, मांस, मत्स्य, मैथुन, मुद्रा (शराबके प्याला रखने आदिके लिए हाथ द्वारा बनाए जानेवाले खास चिह्न)—इन पाँच मकारोंको मुक्तिका सर्वश्रेष्ठ उपाय बतलाना शुरू किया। लोग बाहरी सदाचारके डरसे इधर आनेमें हिचकिचाते थे, इसलिए उसने डबल (=दुहरे) सदाचारका प्रचार किया—भैरवी-चक्रमें पंच मकार ही महान् सदाचार है, और उससे बाहर वह आचार जिसे लोग मानते जा रहे हैं। एक दूसरेसे बिल्कुल उलटे इस डबल सदाचारके युगमें यदि शंकराचार्य जैसे डबल-दर्शन-सिद्धान्ती पैदा हों, तो कोई आश्चर्य नहीं।

आर्थिक तौरपर देखनेसे यह सामन्तों-महन्तों और दासों-कमियोंका समाज था। इनके बीचमें बनिया और साहूकार भी थे, जिनका स्वार्थ शासक—सामन्त-महन्त—से अलग न था; और उन्हींकी भाँति यह भी डबल सदाचारके शिकार थे। शासक और सम्पत्तिमान् वर्ग विलासके नये-नये साधनोंके आविष्कारोंमें तथा दास-कम्मी वर्गके अपने खून-पसीने एक कर उसे जुटानेमें लगा था।—एक खाते-खाते मरा जा रहा था, दूसरा भूखसे तड़फते-तड़फते; एक ओर अपार ऐश्वर्य-लक्ष्मी हँस रही थी, दूसरी ओर नंगी-भूखी जनता कराह रही थी। यह नाटक दिल रखनेवाले व्यक्तिपर चोट पहुँचाए बिना नहीं रह सकता था; और चोट खाया दिल दिमागको कुछ करनेके लिए मजबूर कर सकता था। इसलिए दिल-दिमागको बेकाबू न होने देनेके

लिए एक भूल-भुलैयाकी जरूरत थी, जिसे कि इस तरहके और समयोंमें पहिले भी पैदा किया जाता रहा और अब भी पैदा किया जा रहा है। गौडपाद तथा शंकर भी उसी भूल-भुलैयाके वाहन बने।

§ १–गौडपाद (५०० ई०)

१. जीवनी—शंकरके दर्शनके मूलको ढूँढ़नेके लिए हमें उनके पूर्व-गामी गौडपादके पास जाना होगा। शंकरका जन्म ७८८ ई० और मृत्यु ८२० ई० है। म० म० विधुशेखर भट्टाचार्यने (The Āgamaśāstra of Gaudapâda)में गौडपादका समय ईसाकी पाँचवीं सदी ठीक ही निश्चित किया है। गौडपादकी जीवनके बारेमें हमें इससे ज्यादा कुछ नहीं मालूम है, कि वह नर्मदाके किनारे रहते थे। नर्मदा मध्यप्रान्त, मालवा और गुजरात तक बहती चली गई है, इसलिए यह भी कहना आसान नहीं है, कि गौडपादका निवास कहाँपर था।

२. कृतियाँ—गौडपादकी कृतियोंमें सबसे बड़े शंकर ही हैं, जिनके दीक्षा-गुरु यद्यपि गोविन्द थे, किन्तु निर्माता निस्संदेह गौडपाद थे; किन्तु उनके अतिरिक्त गौडपादका एक दर्शन-ग्रंथ आगम शास्त्र या माण्डूक्य-कारिका है। ईश्वरकृष्णकी सांख्यकारिकापर भी गौडपादकी एक छोटीसी टीका (वृत्ति) है, किन्तु यह मामूली तथा बहुत कुछ माठर वृत्तिसे ली गई है। माण्डूक्य-कारिकामें चार अध्याय हैं, जिनमें पहिला अध्याय ही माण्डूक्य-उपनिषद्से संबंध रखता है, बाकी तीन अध्यायोंमें गौडपादने अपने दार्शनिक विचारोंको प्रकट किया है।

गौडपादका माण्डूक्य-उपनिषद्पर कारिका लिखना बतलाता है, कि वह उपनिषद्को अपने दर्शनसे संबद्ध मानते हैं, लेकिन साथ ही वह छिपाना नहीं चाहते, कि बुद्ध भी उनके लिए उतने ही श्रद्धा और सम्मानके भाजन हैं। चौथे अध्याय ("अलातशान्ति-प्रकरण" जो कि वस्तुतः बौद्ध विज्ञानवादका एक स्वतंत्र प्रकरण ग्रंथ है) की प्रारंभिक

कारिकामें ही वह कहते हैं—"मैं द्विपद्-वर[1] (=मनुष्य-श्रेष्ठ)को प्रणाम करता हूँ, जिसने अपने आकाश जैसे विस्तृत ज्ञानसे जाना (=संबुद्ध किया), कि सभी धर्म (=भाव, वस्तुएं) आकाश-समान (=गगनोपम) शून्य हैं।" इसी प्रकरणकी १९वीं कारिकामें फिर बुद्धका नाम लिया गया है।[2] इसके अतिरिक्त भी उन्होंने बुद्धके उपदेश करनेकी बात दूसरी कारिका (४।२)में की है। ४२वीं (४।४२) कारिकामें वह फिर बुद्ध और ९०वीं में "अग्रयान" (=महायान)का नाम लेते हैं। ९८वीं और ९९वीं में बुद्धका नाम ले (नागार्जुनकी भांति) कहते हैं कि सभी वस्तुयें स्वभावतः शुद्ध अनावृत हैं इसे बुद्ध और मुक्त जानते हैं। अन्तिम कारिका (४।१००) में वह फिर पर्यायसे बुद्धकी वंदना करके अपने ग्रंथको समाप्त करते हैं।

शंकरने माण्डूक्य-उपनिषद्पर भाष्य करते हुए इन स्पष्ट बौद्ध प्रभावों-का हटानेकी निष्फल चेष्टा की है।

गौडपादको मांडूक्य-उपनिषद्को ही कारिका लिखनेके लिए चुनना खास मतलबसे मालूम होता है। (१) माण्डूक्य एक बहुत छोटी सिर्फ पच्चीस पंक्तिकी उपनिषद् है, जिसमें वहां उन्हें अपने विचारोंको ज्यादा स्वतंत्रतापूर्वक प्रकट करना आसान था; (२) माण्डूक्यमें सिर्फ ओम् और उसके चारों अक्षरोंसे आत्मा (=जीव)की जाग्रत आदि चार अवस्थाओंका वर्णन किया गया है, यह ऐसा विषय था, जिसमें उनके माध्यमिक-योगाचारी विचारोंके विरुद्ध होनेकी संभावना न थी, (३) इसमें आत्माके लिए अ-दृष्ट, अ-व्यवहार्य, अ-ग्राह्य, अ-लक्षण, अ-चिन्त्य आदि जो विशेषण आए हैं, वह नागार्जुनके माध्यमिक-तत्त्वपर भी लागू होते हैं। गौडपादकी चेष्टा थी, बौद्ध दर्शनका पलड़ा भारी रखते हुए उपनिषद्से उसका संबंध जोड़ना। शून्यवादके अपनानेसे उन्हें क्षणिक

---

[1] बौद्धोंके संस्कृत-और पालि-साहित्यमें द्विपदोत्तम, या द्विपदुत्तम शब्द बुद्धके लिए आता है। देखो "आगमशास्त्र" (म० म० विधुशेखर भट्टाचार्य-संपादित, कलकत्ता १९४३) [2] "सर्वथा बुद्धैरजातिः परिदीपिता।"

अ-क्षणिकके झगड़ेमें पड़नेकी जरूरत न थी। शंकरने भी बौद्ध दार्शनिक विचारोंसे पूरा फायदा उठाया, किन्तु वह उसे मोलहो आने उपनिषद्की चीज बनाकर वैसा करना चाहते थे। हाँ, साथ ही वह उसे बुद्धिवादके पास रखना चाहते थे, इसलिए उन्हें योगाचारके विज्ञानवादको अपनाना पड़ा, किन्तु, विज्ञान (=चित्त)-तत्त्व की घोषणा करते हुए उन्हें क्षणिक, अक्षणिकमेंसे एक चुनना था, शंकरने अ-क्षणिक (=नित्य) चित्त-तत्त्व स्वीकार कर अपनेको शुद्ध ब्राह्मण दार्शनिक साबित करनेका प्रयत्न किया।

३. दार्शनिक विचार—यहाँ हमें गौड़पादके उन विचारोंमेंसे कुछके बारेमें कहना है, जिनको आधार बनाकर शंकरने अपने दर्शनकी इमारत खड़ी की।

जगत् नहीं—"कोई वस्तु न अपने से जनमती न दूसरेसे ही; (जो) कोई वस्तु विद्यमान, अविद्यमान या विद्यमान-अविद्यमान है, वह (भी) नहीं उत्पन्न होती।"[1] जो (वस्तु) न आदिमें है, न अन्तमें, वह वर्त्तमान-कालमें भी वैसी ही है; झूठेकी तरह होती वह झूठी ही दिखाई पड़ती है।"[2]

सब माया—"वस्तुयें जो जनमती कही जाती हैं, वह भ्रमसे ही न कि वस्तुतः। उनका जन्म मायारूपी है, और मायाकी कोई सत्ता नहीं।"[3] "जैसे स्वप्नमें चित्त मायासे (द्रष्टा और दृश्य) दो रूपों में गति करता है, वैसे ही जाग्रतमें भी चित्त मायासे दो रूपोंमें गति करता है।"[4]

जीव नहीं—"जैसे स्वप्नवाला या मायावाला जीव जनमता और मरता (सा दीखता है) उसी तरह से सारे जीव 'हैं' भी और 'नहीं' भी हैं।"[5]

परमतत्त्व "बाल बुद्धि (पुरुष) 'है,' 'न-है,' 'है-न है' और 'न-है-न-न है' इन (चारों कोटियों) में चल, स्थिर, चल-स्थिर, नचल-नस्थिर-के तौरपर (वास्तविकताको) छिपाते हैं। इन चारों कोटियोंकी पकड़से

[1] आगमशास्त्र ४।२२ [2] वहीं ४।३१ [3] वहीं ४।५८
[4] वहीं ४।६१ [5] वहीं ४।६८-६९

भगवान् (=परमतत्त्व) सदा ढँके उन्हें नहीं दिखाई देते। जिसने उसे देख लिया वही सर्वद्रष्टा है।"[1]

शंकरके सारे मायावादकी मौलिक सामग्री यहाँ मौजूद है। और विज्ञानवाद ?—[2]

"जैसे फिरती बनेठी सीधी या गोल आदि दीखती है, वैसे ही **विज्ञान** द्रष्टा और दृश्य जैसा दीखता है।"[2]

गौडपाद मानते हैं कि (१) एक अद्वय (विज्ञान) तत्त्व है जो शंकरके ब्रह्मकी अपेक्षा नागार्जुनके शून्यके ज्यादा नजदीक है; (२) जगत् माया और भ्रम मात्र है; (३) जीव नहीं है, जन्म, मरण, और कर्मभोग किसीको नहीं होता। ये विचार "ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या जीव ब्रह्म ही है"[3] से काफी अन्तर रखता है, और वह अन्तर बौद्ध शून्यवादके पक्षमें है।

§२–शंकराचार्य (७८८–८२० ई०)

१. जीवनी—शंकरका जन्म ७८८ ई०में मलाबार (केरल) में एक ब्राह्मण कुलमें हुआ था। अभी शंकर गर्भमें ही थे कि उनके पिता शिवगुरुका देहान्त हो गया, और उनके पालन-पोषण तथा बाल्य-शिक्षाका भार माताके ऊपर पड़ा। यह वह समय था जब कि बौद्ध, ब्राह्मण, जैन सभी धर्म अधिकसे अधिक लोगोंको साथ बनानेकी होड़ लगाए हुए थे। आठ वर्षके बालक शंकरके ऊपर किसी संन्यासी गोविन्दकी नजर पड़ी, और उन्होंने उसे चेला बनाया। जैसा कि पहिले कह चुके हैं, गोविन्दके दीक्षागुरु होनेपर भी शंकरके "शिक्षागुरु" गौडपाद बतलाये जाते हैं। एकसे अधिक शंकर-दिग्विजयोंमें शंकरके भारी भारी शास्त्रार्थों, उनकी दिव्य प्रतिभा और

---

[1] वहीं ४।८३, ८४; तुलना करो "न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्। चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका जगुः।"—सर्वदर्शन संग्रह (बौद्ध-दर्शन)। [2] आगम० ४।४७

[3] "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः"।

चमत्कारोंका जिक्र है; किन्तु हर एक धर्ममें अपने आचार्यके बारेमें ऐसी कथाएँ मिलती हैं। हम निश्चित तौरसे इतना ही कह सकते हैं, कि शंकर एक मेधावी तरुण थे, बत्तीस वर्षकी कम आयुमें मृत्युके पहिले वेदान्त और दस प्रधान उपनिषदोंपर सुन्दर और विचारपूर्ण भाष्य उनकी प्रतिभाके पक्के प्रमाण हैं। शास्त्रार्थके बारेमें हम इतनाही कह सकते हैं, कि शंकरके समकालीन शान्तरक्षित ही नहीं, उनके बादके भी कमलशील (८५० ई०), जितारि (१००० ई०) जैसे महान दार्शनिक उनके बारेमें कुछ नहीं जानते। जान पड़ता है, बौद्धोंके तर्कशस्त्रसे कुछ बाणोंको लेकर शंकरने अलग एक छोटा सा शस्त्रागार तैयार किया था, जिसका महत्त्व शायद सबसे पहिले वाचस्पति मिश्र[1] (८४१ ई०) को मालूम हुआ; किन्तु वह तब तक गुमनाम ही पड़ा रहा, जब तक कि तुर्कोंके आक्रमणसे प्राण पानेके लिए बौद्ध-दर्शनके नेताओंने भारतको छोड़ हिमालय और समुद्रपारके देशोंमें भाग जाना नहीं पसन्द किया। हाँ, इतना कह सकते हैं, कि बौद्ध भारतके अन्तिम प्रधान आचार्य या संघराज शाक्यश्रीभद्र (११२७-१२२५ ई०) के भारत छोड़ने (१२०६ ई०) से पहिले शंकरको श्रीहर्ष[2] (११९८ ई०) जैसा एक और जबर्दस्त वरदान मिल चुका था।

२. शंकरके दार्शनिक विचार—शंकरने वैसे तो अपने विचारोंकी छाप अपने सभी ग्रंथोंपर छोड़ी है; किन्तु वेदान्तसूत्रके पहिले चार सूत्रों (चतुःसूत्री) के भाष्यमें उन्होंने अधिक स्वतंत्रताके साथ काम लिया है। बौद्धोंके संवृति-सत्य और परमार्थ-सत्य को अपना मुख्य हथियार बनाकर ब्रह्मको ही एकमात्र (=अद्वैत) सत् पदार्थ मानते हुए उन्होंने व्यवहार-सत्यके तौरपर सभी बुद्धि और अ-बुद्धि-गम्य ब्राह्मण-सिद्धांतोंको स्वीकार किया।

---

[1] शंकरके वेदान्त-भाष्यकी टीका (भामती) के रचयिता।

[2] शंकरके सिद्धान्तपर, किन्तु गौडपादकी भाँति नागार्जुनके शून्यवाद-से अत्यन्त प्रभावित-ग्रंथ "खंडन-खंड-खाद्य" के रचयिता तथा कनउज-अधिपति जयचंदके सभा-पंडित।

(१) शब्द स्वतः प्रमाण—शब्द ही स्वतः प्रमाण है, दूसरे प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण शब्द (=वेद) की कृपासे ही प्रमाण रह सकते हैं—मीमांसकोंकी इस अंध-पकड़को व्यवहारमें शंकर भी उसी तरह मानते हैं; एक तार्किक किसी बातको अपने तर्कबलसे सिद्ध करता है, दूसरा अधिक तर्क-कुशल उसे गलत साबित कर दूसरी ही बातको सिद्ध कर देता है; इस तरह तर्कसे हम किसी स्थिर स्थानपर नहीं पहुँच सकते। सत्यकी प्राप्ति हमें सिर्फ उपनिषद्से ही हो सकती है। तर्क युक्तिको हम सिर्फ उपनिषद्के अभिप्रायको ठीकसे समझनेके लिए ही इस्तेमाल कर सकते हैं। शंकरके अनुसार वेदान्त-सिद्धान्तोंकी सत्यता तर्क या युक्ति (=बुद्धि) पर नहीं निर्भर करती, बल्कि वह इसपर निर्भर है कि वह उपनिषत्-प्रतिपादित है। इस प्रकार प्रमाणके बारेमें शंकरके वही विचार थे, जो कि जैमिनि और कुमारिलके और जिनके खंडनमें धर्मकीर्तिकी युक्तियोंको हम उद्धृत कर चुके हैं।

(२) ब्रह्म ही एक सत्य—अनादि कालसे चली आती अविद्या (=अज्ञान) के कारण यह नाना प्रकारका भेद प्रतीत होता है; जिससे ही यह जन्म जरा, मरण आदि सांसारिक दुःख होते हैं। इन सारे दुःखोंकी जड़ काटनेके लिए सिर्फ "एक आत्मा ही सत् है" यह ज्ञान जरूरी है। इसी आत्माकी एकता या ब्रह्म-अद्वैतके ज्ञानके प्रतिपादनको ही शंकर अपने ग्रंथका प्रयोजन बतलाते हैं।[1] वह ब्रह्म सत् (=अस्तित्व)-मात्र, चित् (=चेतना) और आनन्द-स्वरूप है। सत्-चित्-, आनन्द-स्वरूपता उसके गुण हैं और वह उनका गुणी। यह बात ठीक नहीं; क्योंकि गुण-गुणीकी कल्पना भेद—द्वैत—को लाती है; इसलिए वह किसी विशेषण—गुण—से रहित निर्विशेष चित्-मात्र है। सभी मानसिक और शारीरिक वस्तुएं विलीन, परिवर्तित होती जाती हैं, और उनके भीतर एक अपरिवर्तनीय परम-सत् बना रहता है। दूसरे सारे दर्शन प्रमाणोंकी खोजमें है, जिससे कि वे बाहरी वस्तुओंकी सत्यताका पता लगा सकें; किन्तु वेदान्त बाहरी दृश्यों (=वस्तुओं) की तहमें जो चरम

[1] शंकर वेदान्त-भाष्य १।३।१७

परम-सत्य है, उसकी खोज करना है; इसीलिए वेदान्तके सामने दूसरे शास्त्र तुच्छ हैं ।[1]

(३) जीव और अविद्या—ब्रह्म ही सिर्फ एक तत्त्व है, भेद—नानापन—का ख्याल गलत है, इसे मान लेनेपर उससे भिन्न कोई ज्ञाता—जीव—का विचार ठीक नहीं रहता । "मैं जानता हूँ"—यहाँ जाननेवाले "मैं" का जो अनुभव हमें होता है, उससे जीवका अस्तित्व सिद्ध होता है, यह कहना ठीक नहीं है । इस तरहका अनुभव तथा उससे होनेवाले जीवका ज्ञान केवल भ्रान्तिमात्र है, उसी तरह जैसे सीपमें चाँदी, रस्सीमें साँप, मृगतृष्णावाले बालूमें जलका प्रत्यक्ष-अनुभव तथा ज्ञान भ्रान्तिके सिवा कुछ नहीं । ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयके भेदोंको छोड़ सिर्फ अनुभवमात्र हम ले सकते हैं; क्योंकि भेदके आदि और अन्त भी न होनेसे, वर्तमानमें भी अस्तित्व न रखनेके कारण अनुभव मात्र ही तीनों कालोंमें एकसा रहता है; फिर अनुभवमात्र—सत्तामात्र—ब्रह्म ही है । अतएव ब्रह्मके अतिरिक्त भेद-प्रतिपादक "मैं मनुष्य हूँ" इस तरहका मनुष्यता आदिसे युक्त पिंडमें ज्ञाताका ख्याल केवल अध्यास (=भ्रम) मात्र है । ज्ञाता उसे कहते हैं, जो कि ज्ञानकी क्रिया करता है । क्रिया करनेवाला निर्विकार नहीं रह सकता, फिर ऐसे विकारी जीवकी सारे विकारोंके बिना एकरस, साक्षी, चित्-मात्र तत्त्वमें कहाँ गुंजाइश हो सकती है ? फिर ज्ञेय (=बाहरी पदार्थों) के बिना किसीको ज्ञाता नहीं कह सकते । आगे बतायेंगे कि ज्ञेय, दृश्य, जगत् सिर्फ भ्रममात्र है । "मैं जानता हूँ" यह अनुभव सब अवस्थामें नहीं होता, सुषुप्ति (=गाढ़ निद्रा) और मूर्च्छामें उसका कहीं पता नहीं रहता, किन्तु आत्माका अहं-रहित अनुभव उस वक्त भी होता है, इसलिए अहंका ख्याल तथा उससे

---

[1] **"तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा ।**
न गर्जति महाशक्तिर्यावद् वेदान्त-केसरी ।"

(तब तक ही दूसरे शास्त्र जंगलमें स्यारकी तरह गर्जते हैं, जब तक कि महाबली वेदान्त-सिंह नहीं गर्जता ।)

जीवकी कल्पना गलत है। दर्पणखंडमें मुख या चन्द्रमाका प्रतिबिंब दिख-लाई पड़ता है, किन्तु सभी जानते हैं, कि वहाँ मुख या चन्द्रमा नहीं है, वह भ्रम मात्र है; इसी तरह चिन्मात्र निर्विशेष ब्रह्ममें 'अहं' या ज्ञाताका ख्याल सिर्फ भ्रम, अविद्या है। वस्तुतः ब्रह्ममें ज्ञाता—जीव—के ख्यालकी जननी यही अविद्या है—ब्रह्मपर पड़ा अविद्याका पर्दा जीवको उत्पन्न करता है।

सवाल हो सकते हैं—ब्रह्मके अतिरिक्त किसी दूसरे तत्त्वको न स्वीकार करनेवाले अद्वैती वेदान्तियोंके यहाँ अविद्या कहाँसे आ गई? अविद्या अज्ञान-स्वरूप है, ब्रह्म ज्ञान-स्वरूप, दोनों प्रकाश और अन्धकारकी भाँति एक दूसरेके अत्यन्त विरोधी एवं एक दूसरेके साथ न रह सकनेवाले हैं; फिर ब्रह्मपर अविद्याका पर्दा डालना वैसे ही हुआ, जैसे प्रकाशपर अंधकारका पर्दा डाला जाय। वस्तुजगत्के सर्वथा अपलापसे इन और ऐसे हजारों प्रश्नोंका उत्तर अद्वैती सिर्फ यही दे सकते हैं, कि सत्य यही है, जिसे कि उपनिषद् बतलाते हैं। इसपर धर्मकीर्तिकी आँखोंके दो बल-बलेवाली बात याद आ जाती है।

(४) **जगत् मिथ्या**—प्रमाणशास्त्रकी दृष्टिसे विचार करनेपर मालूम होता है कि दृश्य जगत् है, किन्तु वर्तमानमें ही। उसकी परिव-र्तनशीलता बतलाती है, कि वह पहिले न था, न आगे रहेगा। इस तरह उसका अस्तित्व जब कालमें है, यह न मानें गलत हो जाता है—"आदी अन्ते च यत् नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा।" वस्तुतः जगत् तीनों कालमें नहीं है। "जगत् है" में जगत्की कल्पना भ्रान्तिमूलक है, और "है" (=सत्) ब्रह्मका अपना स्वरूप है। "है" (=सत्) न होना, जो जगत्का भान न होना, इसलिए जगत्की भ्रान्तिका अधिष्ठान (=भ्रम-स्थान) ब्रह्म है, उसी तरह जैसे साँपकी भ्रान्तिका अधिष्ठान रस्सी, चाँदीकी भ्रान्तिका अधिष्ठान सीप।

(५) **माया**—"आदि अन्तमें नदारद वर्तमानमें भी वैसा" के अनु-सार, यह जगत् वस्तुतः है ही नहीं, फिर यह प्रतीत (=प्रत्यक्ष अनुमानसे

ज्ञात) क्यों हो रहा है ?—यही तो माया है। मदारी ढेर-के-ढेर रुपए बनाता है, किन्तु क्या वह वास्तविक रुपए हैं, यदि ऐसा होता तो उसे तमाशा दिखलाकर एक-एक पैसा माँगनेकी जरूरत न पड़ती। वह रुपए क्या हैं ?—माया, मायाके अलावा कुछ नहीं। जगत् भी माया है। माँ भी माया, बाप भी माया, पत्नी भी माया, पति भी माया, उपकार भी माया, अपकार भी माया, गरीबकी कामसे पिसती भूखसे तिलमिलाती अँतड़ियाँ भी माया, निकम्मे अमीरकी फूली तोंद और ऐंठी मूछें भी माया, कोड़ोंसे लौ-लोहान तड़फता दास भी माया और बेकसूरपर कोड़े चलानेवाला जालिम मालिक भी माया, चोर भी माया साहु भी माया, गुलाम हिन्दुस्तान भी माया, स्वतंत्र भारत भी माया, हिटलरकी हिंसा भी माया, गांधीकी अहिंसा भी माया, स्वर्ग भी माया, नर्क भी माया, धर्म भी माया, अधर्म भी माया, बंधन भी माया, मुक्ति भी माया, ... । जगत् जादू है, माया है और कुछ नहीं।

यह है शंकरका मायावाद, जो कि समाजकी हर विषमता हर अत्याचारको अक्षुण्ण, अछूता रखनेके लिए जबर्दस्त हथियार है।

माया ब्रह्ममें कैसे लिपटती है ?—शंकर इस प्रश्नहीको गलत बतलाते हैं। लिपटना वस्तुतः है ही नहीं; कूटस्थ एक-रस ब्रह्मपर जब उसका कोई असर हो, तब तो उसे लिपटना कहेंगे। मायामें कोई वास्तविकता नहीं, यह तो अविद्याके सिवाय और कुछ नहीं, और जैसे ही सत्य (=अद्वैत-ब्रह्म)का साक्षात्कार होता है वैसे ही वह विलीन हो जाती है। माया क्या है ?—इसका उत्तर सिर्फ यह दे सकते हैं कि वह अनिर्वचनीय (=अ-कथ) है। वस्तु न होनेसे उसे सत् नहीं कह सकते; जगत् जीव, आदिके भेदोंकी प्रतीति होती है, इससे उसे बिलकुल असत् भी नहीं कह सकते; इस तरह उसे सत् और असत् दोनोंसे अ-निर्वचनीय (=अ-कथनीय) कह सकते हैं।

(६) मुक्ति—परमार्थतः पूछनेपर शंकर बंधन और मुक्तिके अस्तित्वसे इन्कार करते हैं, किन्तु इस कालके नास्तिकोंके जबर्दस्त डबल

सदाचारकी भाँति वह अपने दर्शनके डबल सिद्धान्तको बहुत सफलतासे इस्तेमाल कर सकते थे, इसीलिए व्यवहार-सत्यके रूपमें उन्हें बंधन और मुक्तिको माननेसे इन्कार नहीं। अविद्या ही बंधन है, जिसके ही कारण जीवको भ्रम होता है, यह पहिले कह आए हैं। "निर्विशेष नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, स्वप्रकाश, चिन्मात्र, ब्रह्म ही मैं हूँ" जब यह ज्ञान हो जाता है, तो अविद्या दूर हो जाती है, और बद्ध होनेका भ्रम हट जाता है, जिसे ही मुक्ति कहते हैं। ब्रह्म सत्य है जगत् मिथ्या, जीव ब्रह्म ही है दूसरा नहीं"[1]—यही ज्ञान है, जिससे अपनेको बद्ध समझनेवाला जीव मुक्त हो जाता है; आखिर बद्ध समझना एक भ्रमात्मक ज्ञान था, जो कि वास्तविक ज्ञानके होनेपर नहीं रह सकता। "मैं ब्रह्म हूँ" उपनिषद्का यह महावाक्य ही सबसे महान् सत्य है।

व्यवहारमें जब बंधनको मान लिया, तो उससे छूटनेकी इच्छा रखनेवाले (=मुमुक्षु)को साधन भी बतलाने पड़ेंगे। शंकरने यहाँ एक सच्चे द्वैतवादीके तौरपर बतलाया, कि वह साधन चार हैं—(१) नित्य और अनित्य वस्तुओंमें फर्क करना (=नित्यानित्य-वस्तुविवेक), (२) इस लोक परलोकके फल-भोगसे विराग, (३) मनका शमन, इन्द्रियोंका दमन, त्याग-भावना, कष्ट-सहिष्णुता, श्रद्धा, चित्तकी एकाग्रता (शम-दम-उपरति-तितिक्षा-श्रद्धा-समाधि); और (४) मुक्ति पानेकी बेताबी (=मुमुक्षुत्व)।

(७) **"प्रच्छन्न बौद्ध"**—शंकरके दर्शनको सरसरी नजरसे देखनेपर मालूम होगा, कि वह ब्रह्मवादको मानता है, और उपनिषद्के अध्यात्म-ज्ञानको सबसे अधिक प्रधानता देता है; किन्तु, जब उसके भीतर घुसते हैं, तो वह नागार्जुनके शून्यवादका मायावादके नामसे नामान्तर मात्र है। यह बात इससे भी स्पष्ट हो जाती है, कि उसकी आधार-शिला रखनेवाले गौड़पाद सीधे तौरसे बुद्ध और नागार्जुनके दर्शनके अनुयायी थे; और शंकरके अनुयायियोंमें सबसे बड़े अनुयायी श्रीहर्षका "खंडनखंडखाद्य" सिर्फ सौता-

---

[1] **"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः"।**

रामके मंगलाचरण तथा दो-चार मामूली बातोंके ही कारण शुद्ध माध्यमिक दर्शन (=शून्यवाद)का ग्रंथ कहे जानेसे बचाया जा सकता है। इसी लिए कोई ताज्जुब नहीं, यदि परांकुशदास "व्यास"ने कहा—

"वेदोऽनृतो बुद्धकृतागमोऽनृतः,
प्रामाण्यमेतस्य च तस्य चानृतम्।
बोद्धाऽनृतो बुद्धिफले तथाऽनृते,
यूयं च बौद्धाश्च समानसंसदः॥"[1]

"(शंकरानुयायियो! तुम्हारे लिए) वेद (परमार्थतः) अनृत (=असत्) है, (वैसे ही शून्यवादी बौद्धोंके लिए) बुद्धके दिए उपदेश अनृत हैं; (तुम्हारे लिए) इस (=वेद) का और (उनके लिए) उस (=बुद्ध-आगम) का प्रमाण होना गलत है। (तुम दोनोंके लिए) बोद्धा (=ज्ञाता, जीव) अनृत है, (उसी तरह) बुद्धि (=ज्ञान) और (उसका) फल (=मुक्ति) भी अनृत हैं; इस प्रकार तुम और बौद्ध एक ही भाई-बिरादर हो।"

इसीलिए शंकर "प्रच्छन्न बौद्ध" कहे जाते हैं।

---

[1] रामानुजके वेदान्त-भाष्यकी टीका "श्रुतप्रकाशिका"

परिशिष्ट

१—ग्रंथ-सूची

Dasgupta (S. N.)	History of Indian Philosophy, 2 Vols.
Radhakrishnan (S.)	Indian Philosophy, 2 Vols.
Vidyabhushana (S. C.)	History of Indian Logic.
Stcherbatsky (T. H.)	Buddhist Logic, 2 Vols.
Winternitz	History of Indian Literature, Vol. II.
Lewis (G. E.)	History of Philosophy.
Lewis (John)	Introduction to Philosophy, 1937.
De Boer (T. J.)	Philosophy in Islam
Thilly	History of Philosophy.
Macdougell	Modern Materialism and Emergent Evolutions 1929.
Stapledon	Philosophy and Living, 1939.
Feuerbach (L.)	Atheism.
	Essence of Christianity.
Engels (F.)	Feuerbach (Anti-Duhring)
Marx (Karl)	Capital
	Communist Manifesto
	Thesis on Feuerbach
Marx and Engels	German Ideology.

(इस्लामिक दर्शन)

गजाली	अह्याउ'ल्-उलूम
	तोहाफ़तु'ल्-फ़िलासफ़ा
इब्न-रोश्द	तोहाफतु'त्-तोहाफ़तु'ल्-फ़िलासफ़ा
इब्न-खल्दून	मुकद्दमये-तवारीख
शिब्ली नेमानी	अल-गजाली
	अल्-कलाम
मुहम्मद यूनस् अन्सारी	इब्न-रोश्द

(भारतीय दर्शन)

	ऋग्वेद
	शतपथ-ब्राह्मण
	उपनिषद् (ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंड, मांडूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छांदोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर, कौषीतकि, मैत्री)
	महाभारत
	भगवद्गीता
	परमसंहिता (पंचरात्र)
गौतम	गौतम-धर्मसूत्र
बुद्ध (गौतम)	सुत्त-पिटक (दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, अंगुत्तरनिकाय, उदान)
	विनयपिटक (पातिमोकव, महावग्ग, चुल्लवग्ग)
	लंकावतार-सूत्र
नागसेन	मिलिन्दप्रश्न
नागार्जुन	विग्रह-व्यावर्त्तनी
	माध्यमिक-कारिका
वसुबंधु	विज्ञप्तिमात्रता-सिद्धि (त्रिंशिका)
दिग्नाग	प्रमाणसमुच्चय

धर्मकीर्त्ति	न्यायबिन्दु
	प्रमाणवार्त्तिक
	वादन्याय
अक्षपाद (गौतम)	न्याय-सूत्र
कणाद	वैशेषिक-सूत्र
पतंजलि	योग-सूत्र
बादरायण	वेदान्त-सूत्र
जैमिनि	मीमांसा-सूत्र
ईश्वरकृष्ण	सांख्य-कारिका
प्रशस्तपाद	वैशेषिक-भाष्य
उद्योतकर	न्यायवार्त्तिक
जयंत भट्ट	न्यायमंजरी
गौडपाद	मांडूक्य-कारिका
शंकर	वेदान्त-भाष्य
रामानुज	,,
परांकुशदास (व्यास)	,, टीका (श्रुतप्रकाशिका)
श्रीहर्ष	खण्डन-खण्ड-खाद्य
	नैषधीयचरित
माधवाचार्य	सर्वदर्शनसंग्रह
बाण	हर्षचरित
भर्तृहरि	वैराग्यशतक
वराहमिहिर	बृहत्संहिता
राहुल सांकृत्यायन	बुद्धचर्या
	विश्वकी रूपरेखा
	मानव-समाज
	वैज्ञानिक-भौतिकवाद
	ईरान
	कुरानसार
	पुरातत्त्व-निबंधावली

२—पारिभाषिक-शब्द-सूची

अक़्ल—Nous (विज्ञान)
अख़वानुस्सफ़ा—पवित्र-संघ
अज्ञेयवाद—Agnosticism.
अतिभौतिकशास्त्र—Metaphysics.
अतिमानुष आत्माएं—अक़ूराम्-अलूइया
अद्वैत—तौहीद
अद्वैतवाद—Monism.
अध्यात्मदर्शन—Metaphysics.
अनीश्वरवाद—Atheism.
अनुभयवाद—Neutrism.
अन्तर्व्यापन—Interpenetration.
अन्तर्हित शक्ति—क़ुव्वतेदादे-क़ुवत्
अफलातूनीवाद। नवीन—neo Platonism.
अभावप्राप्त—Negated.
अरूपवाद—Nominalism.
अरेज़ीना—Eregena.
अवयवी—Whole.
अश्बीलिया—Seville.
आकृति—Form (सूरत)
आचारशास्त्र—Ethics.
आत्मकण—Monad.
आत्मकणवाद—Monadism.
आत्मसम्मोहन—Self-hypnotisation.
आत्मा—Self, soul, spirit, (नफ़्स)
आत्मा। नातिक—, रूहे-अक़्ली
आत्मानुभूति—Intuition.
आत्मिक जीवन—Spiritual life.
आधार। कार्य—, इन्फ़आल्
आसमानोंकी दुनिया—आलम्-अफ़लाक्।
ईश्वरमें समाना—हलूल्
ईसाई जहाद—Crusade.
उटोपिया—Utopia.
उपलब्धि—Perception.
एकीकरण—Concentration.
क़र्तबा—Cardova(in Spain).
कर्त्ता विज्ञान—Creative spirit.
कल्पनामय—Abstract.
कारण—Cause.
कार्य—Effect.
कार्यकारणवाद—Causality.
कार्यकारण-संबंध—Causality.

कार्यक्षमता—आदत
काव्यशास्त्र—Poetics.
किरणप्रसरण—Radiation.
क्वन्तम् सिद्धान्त—Quantum.
खगोलीय यंत्रशास्त्र—Celestial mechanics.
गरनाता—Granada (in Spain).
गुण—Quality.
गुणात्मक परिवर्तन—Qualitative change.
घटना—Event.
चिन्तन—Contemplation.
चेतनावाद—Idealism.
जगजीवन—नफ़स-आलम्
जालीनूस्—Galen.
जीव—Soul, रूह, क़ल्ब, अक्ल
जीवन—Life.
ज्ञाता—मुद्रिक्
ज्ञानकी प्रामाणिकता—Validity of knowledge.
तत्त्व—Element.
तर्कशास्त्र—Logic.
तलैतला—Tolado (in Spain).
तुफ़ैल। इब्न—, Abubacer.
तृष्णा—Will.
दर्शन—Philosophy.
दिव्य चमत्कार—मोजेजा
दिशा—Space.
देव—अफ़लाक्
देवजगत्—आलमे-अफ़लाक्
देवता—अफ़लाक्, आस्मान्, फ़रिश्ता
देवलोक—आलम्-अफ़लाक्
देवात्मा—अज्राम्-अफ़लाक्, जरम्-अफ़लाक्
देश—Space.
द्रव्य—Substance.
द्वन्द्ववाद—Dialectics.
द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद—Dialectical materialism.
द्वन्द्वात्मक विकास—Dialectical evolution.
द्वन्द्वात्मक विज्ञानवाद—Dialectical idealism.
द्वैतवाद—Dualism
धर्ममीमांसा—फ़िक़ा
धातुत्रय—मवालीद-सलासा (= धातु, वनस्पति, प्राणी)
नफ़स—nous, अक़्ल, आत्मा, ब्रह्म, विज्ञान
नातिक बुद्धि—Nautic nous.
नातिक विज्ञान—Nautic nous.
नाम—Mind.

नामवाद—Nominalism.
नास्तिकवाद—Atheism.
निमित्तकारण—Efficient Cause.
नियतिवाद—Determinism.
निराकार—Abstract.
परम—Absolute.
परमतत्त्व—Absolute.
परमशरीर—जिस्मे-मुतलक़्
परमाणुवाद—Atomism.
परमात्मतत्त्व—Absolute, Absolute self.
परिचय—अद्राक्
परिचय। ज्ञानके साथ—, अद्राक्-शऊरी
परिचय। ज्ञानके बिना—, अद्राक्-ला-शऊरी
परिमाण—Quantity.
परिवर्तन—Change.
परिवसंघ—प्रव बाद्स्नफा
पहिचान—अद्राक्
प्रकृति—Hyla, nature, भूत, माद्दा, हेवला
प्रतिषेधका प्रतिषेध—Negation of negation.
प्रतिवाद—Antithesis.
प्रतीयमान जगत्—Phenomena
प्रत्यक्ष—Perception.
प्रत्यक्षीकरण। सम्मिलित—, हिस्स-मुश्तरक्
प्रभाववाद—Pragmatism.
प्रमेय—Category.
प्रयोग—Practice.
प्रयोगवाद—Empiricism.
प्रयोजनवाद—Teleology.
प्रवाह—Continuity.
प्राकृतिक—हेवलानी, तबई
प्राकृतिक पिंड—जिस्म-तबई
प्रामाण्य—Validity of knowledge.
पैगंबर-वाक्य—हदीस्
फ़रिश्ता—फ़लक, देवता
फ़लक-अव्वल—जीव
बाजा। इब्न—, Avempace.
बाह्यजगत्—Phenomenon.
बुद्धिपूर्वक—Rational.
बुद्धिवाद—Rationalism.
ब्रह्म—अक्ल, नफ़्स
ब्रह्मलय—हलूल्
ब्रह्मलीनता—फ़नाफ़िल्लाह
ब्रह्मवाद। सर्व—, Pantheism.
भाग्यवाद—Determinism.
भाषणशास्त्र—Rhetorics.
भूत—माद्दा, Matter.

भोगवाद—Hedonism.

भौतिकतत्त्व—Matter (माद्दा)

भौतिक पिंड—जिस्म-तबई

भौतिकवाद—Materialism.

भौतिकवाद। यांत्रिक—, Mechanical materialism.

भौतिकवाद। वैज्ञानिक—, Scientific materialism.

भौतिकशास्त्र—Physics.

मन—Mind.

मनुष्यमापवाद—Pragmatism.

मनोमय—Rational.

मात्रा—Quantity.

माद्दा—प्रकृति, Hyla, matter.

मानवजीव—नफ़्स-इन्सानी

मानवता—नफ़्स-आलम

मूलतत्त्व—Element.

मूल स्वरूप—Arche-type.

यथार्थवाद—Realism.

योगिप्रत्यक्ष—Intuition.

रहस्यवाद—Mysticism.

रूप—Matter.

रोश्द। इब्न—, Averroe.

वरुण—Uranus.

वस्तु-अपने-भीतर—Thing-in itself.

वस्तुवाद—Realism.

वस्तुसार—Objective reality, Nomena, thing-in-itself.

वस्तुसारवाद—Noumenalism

वाद—Theory, Thesis, कलाम

वादशास्त्र—इल्म-कलाम

वादशास्त्री—मुत्कल्लमीन्

विकास—Evolution.

विकास। सृजनात्मक—, Creative evolution.

विचार—Idea.

विच्छिन्न प्रवाह—Discontinuous continuity.

विच्छिन्न सन्तति—Discontinuous continuity.

विच्छेदयुक्त प्रवाह—Discontinuous continuity.

विज्ञान—Idea, intelligence, mind, nous (नफ़्स), science.

विज्ञान। अधिकरण—, अक़्ल-इन्फ़आल्, नफ़्स-इन्फ़आल्

विज्ञान। अभ्यस्त—, अक़्ल-मुस्तफ़ाद

विज्ञान। एक—, वहदत्-अक़्ल्

विज्ञान। कर्त्ता—, अक़्ल-फ़आल,

नफ़्स-फ़अ्आल
विज्ञान। क्रिया—, नफ़्से-फ़अ्ली
विज्ञान। जगदात्मा,—अक़्ल-अव्वल्
विज्ञान। ज्ञाता—,अक़्ल-मुद्रिक
विज्ञान। देव—,अक़्ल-मानी
विज्ञान। देवात्मा—,अक़्लसानी
विज्ञान। नाविक्—, Nautic nous, नफ़्स-नातिक्
विज्ञान। परम—,अक़्ल-मुत्लक़
विज्ञान। प्राकृतिक—,अक़्लमाद्दी, अक़्ल-हैवलानी
विज्ञान। मानव—, नफ़्स-इन्सानी
विज्ञानकण—Monad.
विज्ञानवाद—Idealism.
विज्ञानीय शक्ति—अक़्ली क़ुव्वत
विभाजन—Differentiation.
विरस्—Virus.
विरोधि समागम—Unity of opposites.
विशेष—Particular.
विश्लेषण—Analysis.
विश्वात्मा—Logo.
वेदना—Sensation.
वैज्ञानिक भौतिकवाद—Scientific materialism, Dialectical materialism.
व्यक्ति—Particular.
शक्ति। अन्तर्हित,—इस्तेदाद-क़ूवत
शारीरक (ब्रह्म)वाद—Organism, pantheism.
शिवता—सआदत
सेविल्ली—Seville (in Spain).
संक्षेप—तल्खीस्
सन्तति—Continuity.
सन्तान—Continuity.
सन्देहवाद—Scepticism.
संपूर्ण—Whole, अवयवी
समन्वय—Harmony.
सलेबीजंग—Crusade.
संवाद—Synthesis.
साइंस—Science.
साकार—Objective, concrete.
सापेक्ष—Relative.
सापेक्षतावाद—Relativity.
सामर्थ्य—सलाहियत्
सामान्य—Universal, जाति
सिद्धान्त—Theory.
सिद्धि—मोजज़ा
सीमापारी—Transcendental.
सूरत—आकृति
सोफ़ी—Sophist.
सोफ़ीवाद—Sophism.

स्कोलास्तिक आचार्य—Scholastic doctor.
स्तनधारी—Mammal.
स्थिति—Duration.
स्पर्श—Impression.
स्मृति—हृदीस्, हिफ़्ज़
स्मृति। उच्च परिचयोंकी—, हिफ़्ज़-मआनी
स्मृति। सामूहिक—, हिफ़्ज़-मज्मुई
स्वतः उत्पन्न—*A priori*.
स्वतः सिद्ध—*A priori*. innate.
स्वभाव—Character.
स्वयंभू—*A priori*, innate.
स्वरूप—Character.
स्वलक्षण—Character.
हलूल—ईश्वरमें समाना, ब्रह्मलय
हेतु—Cause.
हेतुता—Causality.
हेतुवाद—Causality.
हेवला—Hyla, प्रकृति
हेवलानी—प्राकृतिक, माद्दी

३—दार्शनिकोंका कालक्रम

पश्चिमी	ई० पू०	ई० पू०	भारतीय
यूनानी—			
		१०००	वामदेव
		७००	प्रवाहण जैवलि
		,,	उद्दालक आरुणि
		६५०	याज्ञवल्क्य
		६००	चार्वाक
थेल्	६४०-५५०		
अनक्सिमन्दर	६१०-५४५	६००	कुत्स मांकृत्य
अनक्सिमन	५६०-५५०	५००	वर्धमान महावीर
पिथागोर	५७०-५००	,,	पूर्ण काश्यप

पश्चिमी	ई० पू०	ई० पू०	भारतीय
क्सेनोफन	५७०-४८०	५६३-४८३	बुद्ध
परमेनिद	५४०-४८३	५००	अजित[1] केशकम्बल
		,,	संजय
		,,	गोशाल
हेराक्लितु[1]	५३५-४७५		
एम्पेदोकल	४९०-३०		
सुक्रात	४६९-३९९	४००	कपिल
देमोक्रितु[1]	४६०-३७०		
अफलातूं	४२७-३४७	,,	पाणिनि
देवजेन	४१२-३२२		
अरस्तू	३८४-३२२		
(सिकन्दर)	३५६-३२३	(३२१-२९७	चंद्रगुप्त मौर्य)
		(२६९	अशोक मौर्य)
पिर्हो	३६५-२७०		
एपीकुरु[1]	३४१-२७०		
जेनो	३३६-२६४		
थ्याफ्रास्तु	२८७		
नेसुस्	१३३	१५०	नागसेन
		(१५०	पतंजलि वैयाकरण)
अन्द्रानिकुस्	८६		

सन ईसवी

(नव-अफलातूनी दर्शन)—			
फिलो युदिया	२५-५०		
अन्तियोक्	६८	१००	(विज्ञानवाद)

[1] भौतिकवादी।

पश्चिमी	ई०	ई०	भारतीय
		१००	(वैभाषिक)
		१५०	कणाद
अगस्तिन्	१६६	१७५	नागार्जुन
प्लोतिन्	२०५-७१	२५०	अक्षपाद
	२४	२५०	पतंजलि (योग)
पोर्फिरी	२३३		
मानी (ईरान)	२४५		
		३००	बादरायण
		"	जैमिनि
		"	सौत्रान्तिक
		(३४०-७५	समुद्रगुप्त, राजा)
		(३८०-४१५	चंद्रगुप्त विक्रमा- दित्य)
अगस्तिन, सन्त—	३५३-४३०		
		४००	बौधायन
		४००	उपवर्ष
		४००	वात्स्यायन
		३५०	असंग
		४००	वसुबंधु
		४००	शबर
		४००	प्रशस्तपाद
ह्यिपाशिया (वध)	४१५	४००	कालिदास
		४२५	दिग्नाग
		(४७६	आर्यभट्ट ज्योतिषी)
मज़्दक (ईरान)	४८०-५३१	५००	उद्योतकर
(ईसाइयोंद्वारा	५००		गौडपाद
दर्शन पढ़ना निषिद्ध)	५२९	५५०	कुमारिल

पश्चिमी	ई०	ई०	भारतीय
देमासियुस्	५४९	(६००	हर्षवर्धन, राजा)
इस्लामिक—			
(मुहम्मद पैगंबर)	५७०-६३२	६००	धर्मकीर्ति
		६००	सिद्धसेन (जैन)
(म्वाविया, खलीफा दमश्क)	६६१-८०		
		७००	प्रज्ञाकर-गुप्त
		७२५	धर्मोत्तर
		७२५	ज्ञानश्री
(अब्दुल अब्बास, खलीफा, बगदाद)	७४९-५४		
(मंसूर-खलीफा बगदाद)	७५४-७५		
		७५०	अकलंकदेव (जैन)
		८००	गौडपाद
मुकफ़्फा	७५७		
(हारून, खलीफा बगदाद)	७८६-८०९	८००	वसुगुप्त (कश्मीर-शैव)
		७४०-८४०	शान्तरक्षित
(मामून, खलीफा बगदाद)	८१३-३३	७८८-८२०	शंकराचार्य
अल्लाफ	८३०		
किन्दी	८३५	८४१	वाचस्पति मिश्र
नज्जाम	८४५		
इब्न-मैमून	८५०		

पश्चिमी	ई०	ई०	भारतीय
एरिगेना	८१०-७७		
जहीज़	८६६		
"अख़वानुस्सफ़ा"	९००		
अश्अरी	८७३-९३५		
किन्दी	८७०		
राज़ी	९२३		
फाराबी	८७०-९५०		
(फिर्दौसी कवि)	९४०-१०२०	९८४	उदयनाचार्य
मस्कविया	१०३०	१०००	जितारि
(अल्-बेरूनी)	९७३-१०४८	१०००	रत्नकीर्त्ति
सीना	९८०-१०३७	१०००	जयन्त भट्ट
जिब्रोल	१०२१-७०	१०२५	रत्नाकरशान्ति
ग़ज़ाली	१०५९-११११		
बाजा	११३८		
(तोमरत)	११४७		
तुफ़ैल	-११८५	१०८८-११७२	हेमचन्द्र सूरि
रोश्द	११२६-११९८,	(११९४	जयचंद राजा)
		११९०	श्रीहर्ष
इब्न-मैमून	११३५-१२०८	१२००	गंगेश
यूरोपीय दार्शनिक—		११२७-१२२५	शाक्यश्रीभद्र
[मध्यकाल—			
राजर बेकन	१२१४-९२		
तामस् अक्विना	१२२५-७४		
(फ़्रेडरिक, राजा	१२४०)		
रेमोंद लिल्ली	१२३४-१३१५		
पिदारक	१३०४-७४		

पश्चिमी	ई०	ई०	भारतीय
(इब्न-खल्दून)	१३३२-१४०६		
(ल्युनार्दो-द-विन्ची)	१४५२-१५१६		
(कस्तुन्तुनिया तुर्कोंके हाथमें)	१४५३		
आधुनिक काल—			
बेकन	१५६१-१६२६		
हॉब्स	१५८८-१६७६		
द-कार्त	१५९६-१६५०		
(क्राम्वेल्)	१५९९-१६५८	(१६२७-१६५८	शाहजहां)
स्पिनोजा	१६३२-७७	(१६२७-८०	शिवाजी)
लॉक	१६३२-१७०४	(१६५८-१७०७	औरंगजेब)
लाइप्निट्ज	१६४६-१७१६		
(चार्ल्सका-शिरच्छेद)	१६४९		
टोलेंड	१६७०-१७२१		
बर्कले	१६८५-१७५३		
वाल्तेर	१६९४-१७७८	(१७५७-६०	क्लाइव)
हार्टली	१७०४-५७		
ला मेत्री*	१७०९-५१		
ह्यूम*	१७११-७६		
रूसो	१७१२-७८		
हेलवेशिया*	१७१५-७१	(१७७२-८५	वार्न हेस्टिंग्स)
		(१७८६-९३	कार्नवालिस्)
(नेपोलियन)			
कान्ट	१७२४-१८०४		
(जेनर, चेचक टीका)	१७४९-१८२३		
दोल्बाख*	१७८९		

पश्चिमी	ई०	ई०	भारतीय
कबानिस्*	१७५७-१८०८		
फिख़्टे	१७६२-१८१४		
हेगेल्	१७७०-१८३१	(१७७४-१८२९	राममोहन राय)
शेलिङ	१७७५-१८८४		
शोपनहार	१७८८-१८६०		
फ़्वेरबाख़	१८०४-७२		
मार्क्स	१८१८-८३	(१८२४-८३	दयानंद)
स्पेन्सर (हर्वर्ट)	१८२०-१९०३		
एन्गेल्स	१८२१-९५		
(मेंडेल)	१८२२-८४		
(पास्तोर)	१८२२-९७		
बुख़्नेर*	१८२४-९९		
माख़्	जन्म १८३८		
जेम्स, (विलियम)	१८४२-१९१०		
नित्ज़्शे	१८४४-१९००		
ब्राडले	जन्म १८४६		
डेवी	जन्म १८५९		
बेर्गसाँ	१८५९-१९४१		
ह्वाइटहेड	जन्म १८६१		
लेनिन*	१८७०-१९२४		
रसल (बर्टरंड)	जन्म १८७२		

परिशिष्ट

४—नाम-सूची

परिशिष्ट

५—शब्द-सूची